॥श्री हरिः॥

श्रीमद्भागवत महापुराण की महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्य
विरचित संस्कृत टीका (हिंदी अनुवाद सहित)

श्री सुबोधिनी

द्वितीय स्कन्ध

अध्याय : १ - १०

।। श्री हरिः ।।

श्रीमद्खण्ड भूमण्डलाचार्य श्रीकृष्ण वदन विरह वैश्वानरावतार

श्रीमद्वल्लभाचार्य प्रादुर्भाविता

श्रीमच्चतुर्थ प्रस्थान श्रीमद्भागवतशास्त्र

* द्वितीय स्कन्ध सुबोधिनी *

हिन्दी अनुवाद सहित

प्रथमखण्ड—अध्याय—१ से ४

द्वितीयखण्ड-अध्याय—५ से १०

सहायक ग्रन्थ—"प्रकाश"-श्रीमद्गोस्वामी श्री पुरुषोत्तमजी महाराज

श्री भागवत गूढ़ार्थ प्रकाशन परायण ।
साकार ब्रह्म वादैकस्थापको वेद पारग ।।
श्री भागवत पीयूष समुद्र मथनक्षमः ।
तत्सार भूतरासस्त्री भावपूरित विग्रहः ।।
श्री भागवत प्रतिपद मणिवर भावांशु भूषितामूर्ति ।
श्री वल्लभामिवानस्तनोतु निजदास सौभाग्यम: ।।

राष्ट्रीय भाषानुवादक :

प. भ. त्रिपाठी श्रीमान् रामकृष्णात्मज नारायणजी शास्त्री

नाथद्वारा

प्रथमावृत्ति—१०००
शुभतिथि—दोलोत्सव वि० सं० २०४०
दि० १७ मार्च, १९८४

सादर भेंट
संस्था सदस्य महानुभाव

प्रकाशक :

श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल (पञ्जीकृत)

मानधना भवन, चौपासनी मार्ग,

जोधपुर नगर (राजस्थान) पिनकोड—३४२००३

।। श्री हरि: ।।

श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल (पञ्जीकृत)

जोधपुर (राज०)

उद्देश्य—जगद्गुरु श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा प्रतिपादित शुद्धाद्वैत दर्शन एवं पुष्टि-मार्गीय सिद्धान्तों व ग्रन्थों का राष्ट्रभाषा एवं अन्य भाषाओं में अनुवाद करवाकर जन साधारण निमित्त प्रकाशन करवाना।

संगीतकला, चित्रकला एवं अन्य ललितकलाओं से सम्बन्धित उपलब्ध साहित्य सामग्रियों का शोध करवाकर उनका प्रकाशन करवाना।

विशिष्ट सहायक सदस्य—रु० ५०००) व इससे अधिक चल अचल सम्पत्ति भेंटकर्त्ता। इनके शुभ नाम सब ग्रन्थमालाओं की सब पुस्तकों में दिये जाते हैं।

सहायक सदस्य— रु० १०००) से रु० ४९९९) तक की चल व अचल सम्पत्ति भेंटकर्त्ता इनके शुभ नाम एक ग्रन्थमाला की सब पुस्तकों में दिये जाते हैं।

सम्मानित सदस्य—रु० ५०१) से रु० ९९९) तक भेंटकर्त्ता इनके शुभ नाम केवल एक पुस्तक में प्रकाशित किये जाते हैं।

सदस्य रु० १७५) से रु० ५००) भेंटकर्त्ता-साधारण सदस्य

इस द्वितीय ग्रन्थमाला के सर्व सुमन अर्थात् श्रीमद्भागवत महापुराण के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और एकादश स्कन्ध (प्रथम पांच अध्याय) की श्री सुबोधिनी संस्कृत टीका हिन्दी अनुवाद सहित की पुस्तकें सदस्यों को भेंट की जायेगी।

संस्था स्थापक गो.वा. प.भ. श्री नन्दलालजी एवं उनकी धर्मपत्नी गो.वा प.भ. सौभाग्यवतीजी मानधना, जोधपुर — रु० १००००)

द्वितीय ग्रन्थमाला के विशिष्ट सहायक

(१) श्री हरिलाल हरिवल्लभदास धर्मादा ट्रस्ट, अहमदाबाद — रु० ५०००)
(२) प. भ. द्वारकादासजी श्यामदासजी दलाल की स्मृति में उनके सुपुत्र कृष्णदासजी दलाल, पूना — रु० ५०००)

सहायक सदस्य

(१) प. भ. लक्ष्मीदेवीजी दलाल, पूना — रु० २५००)
(२) प. भ. कस्तूरी बहन एवं उनके सुपुत्र विठ्ठलदासजी शाह, हैदराबाद — रु० २००१)
(३) प भ. सेठ नवनीतलालजी साकरलालजी द्वारा सारंगपुर पब्लिक चेरीटीबल ट्रस्ट, अहमदाबाद — रु० २०००)
(४) गो.वा. प.भ. मोहनलालजी शर्मा की स्मृति में प.भ. बंशीबाई, जतीपुरा — रु० १६०१)
(५) गो.वा. प.भ. हरगोविन्ददासजी एवं चुन्नीबहनजी की स्मृति में उनके पुत्र प.भ. चिमनलालजी, मोहनलालजी, नटवरलालजी के धर्मादा ट्रस्ट द्वारा भेंट बम्बई — रु० १५०१)
(६) प.भ. कृष्णदासजी मून्धड़ा एवं उनकी धर्मपत्नी सहोदराबाई, कलकत्ता — रु० १५०१)
(७) प. भ. लाजवन्ती बाई नन्दलालजी भाटिया, दिल्ली — रु० ११०१)

॥ श्री हरिः ॥

❋ दो शब्द ❋

पूर्व में ऐसा विचार था कि इस द्वितीय स्कन्ध के केवल १० अध्यायों की दो पुस्तकें बनाई जावें परन्तु प्रकरणों के अनुसार सामग्री न्यूनाधिक होने से अन्त में एक ही पुस्तक बनानी पड़ी।

श्रीमद्भागवत महापुराण के प्रथम स्कन्ध में वक्ता एवं श्रोता के अधिकारों पर प्रकाश डालकर अब इस द्वितीय स्कन्ध में श्रवण का विषय क्या होना चाहिये इसके सम्बन्ध में निर्णय है। प्रथम स्कन्ध की सुबोधिनीजी में सप्रमाण बताया गया है कि उत्तम वक्ता महामुनि शुकदेवजी हैं और उत्तम श्रोता महाराजा परीक्षित हैं। महाराजा ने सात दिवस में अपनी मृत्यु के शाप का स्मरण कर मुनिराज से प्रश्न किया कि इस मरणधर्मा मनुष्य को संसार बन्धनों से मुक्त होने के लिए क्या करना उचित है वह उपाय कृपा कर बताईये।

मुनिराज महाज्ञानी ही नहीं थे अपितु भगवान् कृष्ण की लीलामृत का पान करने वाले भक्त थे। उन्होंने सर्वप्रथम माया में लिप्त संसारी मनुष्यों की दशा का प्रदर्शन कर संसार बन्धन से मुक्त होने का एक मात्र उपाय भगवच्चरित्र-गुणगान, श्रवण एवं स्मरण का महत्व बताया। देवऋषि नारदजी भक्तिमार्ग के उत्तम पथिक होते हुए भी अनेक शंकाओं से पीड़ित थे। उन्होंने ब्रह्माजी को शंका निवृत्ति का उपाय आज्ञा करने के लिए निवेदन किया तब ब्रह्माजी ने कहा कि भगवान् नारायण का बताया हुआ उपाय श्रीमद्भागवत की कथा श्रवण है। व्यासजी ने १७ पुराणों की रचना की फिर भी उनका चित्त अशांत था जिसका उपाय नारदजी ने व्यासजी को श्रीमद्भागवत की चतुःश्लोकी बताई। तब व्यासजी ने सब पुराणों में मूर्धन्य श्रीमद्भागवत की रचना समाधि की स्थिति में की और शुकदेवजी को सुनाई। राजा परीक्षित को उसके प्रश्न करने पर संसार बंधनों से मुक्त होने का उपाय श्रीमद्भागवत की कथा सुनना ही बताया। इस द्वितीय स्कन्ध को श्रवणाङ्ग भी कहते हैं। श्रवण के दस अङ्ग होते हैं उनका वर्णन कर हृदय में वैराग्य धारण कर श्रीमद्भागवत कथा रस का पान करना प्रत्येक मनुष्य के लिए आवश्यक है। तीसरे से बारहवें स्कन्ध तक में भगवान् की दस लीलाओं का चरित्र है जिसे श्रीमद्भागवत का स्थूल स्वरूप कहते हैं।

मैं परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण से सादर एवं सदैन्य प्रार्थना करता हूं कि हम सब पर वे ऐसी कृपा करें कि हमारी इस कथा रस पान में उत्कृष्ट रुचि हो।

॥ इति शुभम् ॥

—गोस्वामी ब्रजभूषणलाल

॥ श्री हरिः ॥

श्री सुबोधिनी द्वितीय ग्रन्थमाला

षष्ठम् सुमन

प्रथमखण्ड

द्वितीय स्कन्ध

(सुबोधिनी सह हिन्दी अनुवाद)

अध्याय—१ से ४— प्रथमखण्ड

अध्याय—५ से १०—द्वितीयखण्ड

मुखपत्र	अ
संस्था के उद्देश्य एवं विशिष्ट आजीवन सदस्य सूची	आ
विषय सूची	इ
दो शब्द गोस्वामी श्री व्रजभूषणलालजी महाराज संस्थाध्यक्ष महोदय	ई
संरक्षक एवं द्वितीय ग्रंथमाला के आजीवन सदस्यों की सूची	(१)(२)(३)(६)
श्री सुबोधिनी पुष्पवाटिका से सौरभपूर्ण चुनी हुई कुछ कलियां (सुबोध रत्नाकर)	(४)(५)(६)
विनम्र निवेदन —नन्ददास (रामचन्द्र) मन्त्री	(७)—(६)
भूमिका	(१०)
श्री तत्वदीप निबन्ध के भागवतार्थ प्रकरण द्वितीय स्कन्ध अध्याय १ से १०	(११)—(१६)
विषय सूची—द्वितीयखण्ड—अध्याय ५ से १०	(२०)

अध्याय	शीर्षक	पृष्ठ क्रमांक
१	ध्यानविधि तथा भगवान् के विराट् स्वरूप का वर्णन	१—५४
२	भगवान् के स्थूल और सूक्ष्म रूपों की धारणा तथा क्रममुक्ति और सद्योमुक्ति का वर्णन	५५—६५
३	कामनाओं के अनुसार विभिन्न देवताओं की उपासना तथा भगवद्भक्ति के प्राधान्य का निरूपण	६६—१२२
४	राजा का सृष्टि विषयक प्रश्न और शुकदेवजी का कथारम्भ	१२३—१५८
	अनुक्रमणिका	१५६—१६०

चित्र सूची

श्री वृन्दावनेश्वर	(४)
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण महाप्रभुजी द्वारा श्री सुबोधिनी की रचना	१]

✖ श्री सुबोधिनी ✖

॥ श्री वृन्दावनेश्वर ॥

वृन्दावनेश्वर मुकुन्द मनोज्ञवेष, वंशीविभूषित कराम्बुज पद्मनेत्र ।
विश्वेश केशव व्रजोत्सव भक्तिवश्य, देवेश पाण्डवपते मम देहि दास्यम् ॥

श्री मद्वल्लभाचार्य

प्रकाशक—श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल, जोधपुर ।

॥ श्री हरि: ॥

संस्था के संरक्षक महानुभाव

तिलकायत गोस्वामी श्री गोविन्दलालजी महाराज — नाथद्वारा (राज०)
गो. श्री ब्रजरत्नलालजी महाराज — सूरत
,, श्री गोविन्दरायजी महाराज — पोरबन्दर
,, श्री रणछोड़ाचार्यजी महाराज — कोटा
,, श्री ब्रजरायजी महाराज — राजनगर (अहमदाबाद)
,, श्री घनश्यामलालजी महाराज — कामवन
,, श्री ब्रजभूषणलालजी महाराज—अध्यक्ष महोदय — चौपासनी (जोधपुर) जामनगर
,, श्री श्याम मनोहरजी महाराज — बम्बई

निम्न प्रत्येक महानुभाव से रु० १००१) की सेवा प्राप्त

प. भ. डाक्टर नटवरलालजी सी० शाह — संखेड़ा
,, ,, ठाकुरदासजी हरिदासजी श्रोफ — पूना
,, ,, रामदासजी कृष्णादासजी मांडी वाले — पूना
,, ,, श्रीमती प्रेमाबाई किशनचन्दजी भाटिया डेरे वाले — कानपुर
,, ,, रुक्मणीबाई बिन्नाणी — कलकत्ता
,, ,, मुन्नीबाई (शान्ता देवीजी) शर्मा एवं उनके सुपुत्र अशोककुमारजी सी.ए. — दिल्ली
,, ,, अमिता बहिनजी पटेल — बडोदरा
,, ,, श्रीमती लक्ष्मीदेवीजी गांधी — बीकानेर
,, ,, श्री केदारनाथजी दम्माणी — मद्रास
,, ,, श्री विजयकुमारजी दम्माणी — कलकत्ता
,, ,, श्रीमती विमलाबाई सिंगी — कलकत्ता
,, ,, श्रीमती काशीबाई बिन्नाणी — बम्बई
,, ,, श्रीमती सूरजबाई कोठारी — कलकत्ता
,, ,, श्री चत्रभुजदासजी माहेश्वरी एवं उनकी धर्मपत्नी कृष्णाबाई — मुरैना मंडी
,, ,, श्रीमती निर्मलादेवीजी अरोड़ा — इलाहाबाद
,, ,, श्रीमती चन्द्रकान्ताजी आनन्दकुमारजी कर्वा — उदयपुर
,, ,, श्रीमती गंगाबाई गोपालदासजी मोहता — आकोला
,, ,, श्रीमती रतनबाई मोहता (हरदा) एवं उनकी बहिन श्रीमती रंभाबाई राठी — कटक
,, ,, श्री दामोदरदासजी एवं उनकी धर्मपत्नी सूरजबाई मूंधड़ा — कलकत्ता
,, ,, श्री हीरालालजी एवं उनकी धर्मपत्नी शारदाबाईजी — वाराणसी
,, ,, सुमनबाई नथानी एवं कुसुमबाई भट्टड़ — कलकत्ता
,, ,, गग्गुभाईजी खुशहालभाईजी सोनी — राजकोट
,, ,, विठ्ठलदासजी वल्लभदासजी कराणी — बम्बई

प. भ. श्रीमती मोहनीबाई*	कलकत्ता
,, ,, श्रीमती राधादेवीजी लोहिया	मिरजापुर
,, ,, एक भगवदीया वैष्णव बहिन	हैदराबाद
,, ,, इन्द्रवदनजी ईश्वरलालजी शाह	अहमदाबाद
,, ,, हंसराजजी गोकुलदासजी वेद	कोल्हापुर
,, ,, जमुनाबहन पुरुषोत्तमदासजी	बम्बई
,, ,, उर्मिलादेवीजी	
,, ,, उर्मिलाबहनजी विश्वनाथजी अरोड़ा	कानपुर
,, ,, रश्मिताबहनजी पद्मनाभजो	अहमदाबाद

जिन महानुभावों से रु० ५०१) प्राप्त हुए हैं

प. भ. जमुनादासजी मोहता	कोटा
,, ,, कन्हैयालालजी गुप्ता	वृन्दावन
,, ,, मोतीबहन मुकुन्ददासजी	हैदराबाद
,, ,, गोकुलदासजो राठो	हींगनघाट
,, ,, कंचनलालजी लीमड़ी	बम्बई
,, ,, व्रजमोहनदासजी विजय	शुजालपुर मंडो
,, ,, सीताबहनजी चन्दुलालजी देसाई	दाहोद
,, ,, नारायणदासजो सोहनलालजी	इचलकरंजी
,, ,, कलाबहन मणिकांतजी गांधी	कलकत्ता
,, ,, मन्नुभाई मगनलालजी एवं उनकी धर्मपत्नी श्रीमती इन्दिरा बहनजी लीमड़ी तथा सुपुत्र शशिकांतजी एवं पुत्र-वधु शरमिष्ठा बहनजी बम्बई	सूरत
,, ,, जमुनाबहनजी लक्ष्मीदासजी ठक्कर	कलकत्ता

---

* इन ने रु० ५०१) की सेवा की थी पश्चात् रु० ५००) की सेवा और की।

निम्न प्रत्येक भेंटकर्त्ता महानुभाव से अपने स्वजन गोलोकवासी महोदय की स्मृति में रु० १००१) की आर्थिक सेवा प्राप्त हुई है

स्मृति में	भेंटकर्त्ता का शुभनाम व सम्बन्ध
नि. ली. श्रीमती कृष्णाप्रिया बेटीजी महोदया	पूजनीया अम्माजी (माताजी) काशी
प. भ. प्रेमलताबाई, बलदेवदासजी डागा	पिता उद्धवदासजी एवं माता काशीबाई मूंधड़ा कलकत्ता
प. भ. गोकुलदासजी एवं सरस्वती बहन	(सुपुत्र) पुरुषोत्तमदासजी पूना
प. भ. द्वारकादासजी श्यामदासजी	(सुपुत्र) कृष्णदासजी दलाल पूना
प. भ. दिलसुखरायजी राठी	(धर्मपत्नी) श्यामाबाईजी एवं सुपुत्र लक्ष्मी नारायणजी दिल्ली
प. भ. चन्द्रप्रकाशजी	(माता) जमुनाबाई (अनुज) आत्मप्रकाशजी दिल्ली
प. भ. राधाबाई रामनारायणजी	(सुपुत्र) नन्ददासजी (रामचन्द्रजी) पुरुषोत्तम दासजी एवं देवकीनन्दनजी वर्मा—जोधपुर
प. भ. पन्नालालजी फूमड़ा	(धर्मपत्नी) सूरजबाईजी सुपुत्र चुन्नीलालजी कलकत्ता
प. भ. घनश्यामदासजी मूंधड़ा	(सुपुत्र) श्रीदासजी एवं (पुत्र वधु) लक्ष्मीदेवीजी मद्रास
प. भ. जीवनदासजी मूंधड़ा	(सुपुत्र) ठाकुरदासजी कलकत्ता
प. भ. पारवती बाईजी जीवनदासजी	(सुपुत्र) चेतनदासजी मूंधड़ा कलकत्ता
प. भ. मुकुन्ददासजी एवं काशीबाईजी मूंधड़ा	(सुपुत्र) ब्रजगोपालदासजी, बृजमोहनदासजी और गिरधरदासजी हैदराबाद
प. भ. धन्नावती बाईजी	(पतिदेव) मूलचन्दजी कुमार इन्दौर
प. भ. हरकिशनदासजी हरलोचनदासजी शाह	(सुपुत्र) घनश्यामदासजी एवं पुत्र-वधु डाक्टर गोकुलकुमारीजी एम०ए०, पी०एच०डी० बम्बई
प. भ. रघुनाथजी त्रीकमदासजी	*प. भ. जेठालालजी जामनगर
प. भ. मंगतरायजी चावला मुल्तानी	(सुपुत्र) श्री आसकरणदासजी एवं पुत्र वधु रामप्यारीबाईजी बम्बई
प. भ. जमुनादासजी एवं शांतिदेवीजी अग्रवाल	(सुपुत्र) गिरधारीलालजी, विठ्ठलदासजी ब्रजरत्न दासजी पद्मनाभदासजी नागरीदासजी काशी
प. भ. प्रहलाददासजी एवं चन्द्रमणिजी	(सुपुत्र) कृष्णगोपालदासजी अग्रवाल काशी
प. भ. मदनमोहनदासजी मऊ वाले	(धर्मपत्नी) इन्द्रमणि देवीजी एवं सुपुत्र राधा-कृष्णदासजी अग्रवाल काशी

शेष पृष्ठ ६ पर........

* इन ने पूर्व में रु० ५०१) की सेवा की थी अब ५००) की और सेवा की।

श्री सुबोधिनी पुष्पवाटिका में से चुनी हुई कुछ सौरभपूर्ण कलियाँ

१२८	भगवान् दशविधलीलायुक्तः श्रोतव्यः ।।२-१-५।।	दस प्रकार की लीला वाले भगवान् का श्रवण करें।
१३०	महाफलत्वात्स्मरणस्य सर्वदा भगवान्स्मर्तव्यः ।।२-१-६।।	स्मरण का फल महान् होने से भगवान् का सदा स्मरण करें।
१३५	स्वस्य हि परिमित प्रयत्नः। स भगवत्सेवार्थं स्थापितो नान्यत्र विनियोगमर्हति ।।२-२-३।।	अपना प्रयत्न (क्रिया शक्ति) अल्प है। जिसे भगवान् की सेवा के लिए रखा होने से उसका उपयोग अन्यत्र नहीं करना चाहिये।
१३७	यथा भगवद्भजने भगवदीयाः षड् गुणाः स्वस्मिन्संक्रमन्ते तथा देहादिभजने तद्गताः षड् दोषाः संक्रमन्ते। उत्पत्तिर्नाशोदुःखं कर्माणि परितापो हीनत्वं च ।।२-२-७।।	जिस प्रकार भगवान् की सेवा करने से भगवान् के छ गुण हमारे में आते हैं उसी प्रकार देहादि की सेवा करने से छ प्रकार के दोष—उत्पत्ति, नाश दुःख, कर्म, परिताप और हीनता आते हैं।
१३८	सर्वाण्येव साधनानि साधनद्वये प्रविशन्ति। भगवद्भक्त ...... सङ्गसाधकत्वेन भगवति रतिसाधकत्वेन च। एतावानर्थ श्चेत्सिद्धस्तदानान्यकामना कर्तव्या ।।२-३-१२।।	सब साधनों का समावेश दो साधनों में होता है भगवान् के भक्तों का सङ्ग साधने से अथवा भगवान् में रति (प्रेम) साधने से, यदि ये सिद्ध हो जावे तो अन्य कामना न करें।
१३९	हरिकथासुरतिस्तयोः (पूर्वोक्त (१२) साधन द्वययोः) साधिका। कथारतिषु सक्तस्य कथका अपि मिलन्ति, प्रेमोऽपि भवति........।।२-३-१२।।	इन दो साधनों को जो ऊपर श्लोक १२ में कहे हैं साधक को भगवान् की कथा में प्रेम होता है। कथा के प्रेम में लगन हो तो उसे कथा कहने वाला भी मिलता है और भगवान् में प्रेम भी होता है।
१४२	गुरुवेदादिभिरेव तज्ज्ञानम् (भगवद्ज्ञानम) ।।२ ४-१२।।	गुरु वेदादि से ही उन (भगवान्) का ज्ञान होता है।
१४३	भगवतोऽवतारस्य सतां दुःखदूरीकरणमेव प्रयोजनम ।।२-४-१३।।	सत्पुरुषों का दुःख दूर करना ही भगवान् के अवतार का प्रयोजन है।
१४४	भगवानेव प्रसादं प्रार्थनीयो नान्यन्नान्योऽपि ।।२-४-१६।।	भगवान् के प्रसाद (कृपा) के लिए ही प्रार्थना करना उचित है। अन्य कुछ मांगना नहीं चाहिये। दूसरे से भी कुछ नहीं मांगना चाहिये।

१४५ पतिः प्रार्थनीय इत्यविवादम । क्रुध्यतु मा वा । तद्येषां पतिस्तैः प्रार्थनीयः ।.... प्रथमं भगवाँल्लक्ष्मीपतिः । ततो लक्ष्म्यंशैः स्त्रीभिः प्रार्थितो न क्रुध्यति । अनेन स्नेहमार्गानुवर्तिभिरन्यैरपि प्रार्थितो न क्रुध्यति ।।२-४-२०।।	स्वामी कोपे या न कोपे परन्तु उनकी प्रार्थना करनी यह निर्विवाद है इसलिए जिनके पति होय उनको प्रार्थना करनी ही चाहिये । सर्व प्रथम भगवान् लक्ष्मीपति हैं, इसलिए लक्ष्मी की अंशरूप स्त्रियां प्रार्थना करती हैं तो वे क्रोधित नहीं होते हैं । इसी प्रकार स्नेह मार्ग का अनुसरण करने वाले अन्य भी प्रार्थना करते हैं तो उन पर क्रोध नहीं करते हैं ।
यद्यपि (भगवान्) सर्वप्रमाणातीतस्तथापि सर्वत्र प्रसिद्धः । तत्र च नमनमेव कर्तव्यं नान्यदिति । नमनं च "यादृशोऽसि हरे कृष्ण तादृशाय नमो-नम" इति ।।२-६-३७।।	जो भगवान् सब प्रमाणों से अतीत हैं तो भी सर्वत्र प्रसिद्ध हैं । उनको तो नमस्कार ही करना चाहिये अन्य कुछ नहीं । हे हरि, हे श्रीकृष्ण आप जैसे भी हो आपको नमस्कार है इस प्रकार नमस्कार करे ।
अनन्तगुणं हि पात्रे दत्तं भवति ।।२-७-१४।।	पात्र को दिया हुआ दान ही अनंत गुण वाला होता है ।
देवेषु सत्यं दैत्येषु चानृतं प्रतिष्ठितम् ।।	देवताओं में सत्य और दैत्यों में असत्य रहता है ।
ईक्षणं पुष्टिः । भगवदीक्षिता एव हि पुष्टा भवन्ति ।।२-७-२३।।	ईक्षण (देखना) पुष्टि है क्योंकि भगवान् से देखा हुआ पुष्ट होता है ।
यत्र हि कार्यं तत्र साधनमवश्यं भावि । यत्र पुनः साधनव्यतिरेकेणैव साध्यमुत्पद्यते तत्परब्रह्मस्वरूपमित्ये वावगन्तव्यम । सर्व-भवनसमर्थ रूपत्वात्तस्य ।।२-७-२७।।	जहां कार्य होता है वहां साधन होना ही चाहिये परन्तु जहां साधन बिना ही कार्यसिद्धि होती है तो वह परब्रह्म का स्वरूप है ऐसे मानना चाहिये क्योंकि वह सर्वसमर्थ है ।
समर्थावलम्बन एव मर्यादात्यक्तव्या ।।२-७-३२।।	समर्थ का अवलम्बन हो तो ही मर्यादा का त्याग करे ।
सदानन्दरूपो (कृष्णः) भगवान स्वयमेव पुरुषार्थरूपो न ज्ञानादिसाधनमपेक्षते ।।२-८-५।।	सदानन्द (कृष्ण) रूप भगवान् स्वयं ही पुरुषार्थ रूप होकर ज्ञान आदि साधन की अपेक्षा नहीं रखते हैं ।
अयमेवास्मिन् शास्त्रे मुख्यः सिद्धान्तः । यो भगवत्कर्तव्यं करोति महता प्रयत्नेन स मुख्य । यस्तु भगवत्सेवां करोति स मध्यमः । यस्तु स्वार्थं भगवन्तं सेवते सोऽधम इति ।।२-६-१६।।	इस शास्त्र में यही मुख्य सिद्धांत है कि बहुत प्रयत्न से जो भगवान् का कर्त्तव्य करते हैं वे मुख्य हैं । जो भगवान् की सेवा करते हैं वे मध्यम हैं और जो स्वार्थवश भगवान् की सेवा करते हैं वे अधम हैं ।

सर्वासां (भगवतः) शक्तिनां मध्ये इच्छाशक्तिरुत्कृष्टा । सर्वमूलत्वात् । अन्यास्तु तत्साध्याः । अतस्तस्या एवायमनुभावो मम लोकस्य वैकुण्ठस्यावलोकनम् ।।२-६-२१।।	भगवान् की सब शक्तियों में इच्छा शक्ति उत्तम है क्योंकि वह सबकी मूल है अन्य तो उससे साध्य हैं इसलिए इसका ही यह प्रभाव है कि जिसमें मेरे (भगवान् के) लोक वैकुण्ठ का अवलोकन होता है ।
भगवतो हि ज्ञानं गदितमपि कृपा व्यतिरेकेण न प्राप्यते ।।२-६-३०।।	भगवान् का ज्ञान कहने में आवे तो भी कृपा के बिना वह प्राप्त नहीं होता है ।
यस्तु पुरुषोत्तमं ध्यायति स हि तस्य दशविधां लीला ज्ञातुं शक्नोति ।।२-६-४४।।	जो पुरुषोत्तम का ध्यान करते हैं वे ही उनकी दस प्रकार की लीला जानने में समर्थ होते हैं ।
यावद्दूरं गुणसम्बन्धः स त्याज्यः । भगवदाश्रये व्यभिचारापत्तेः । अनन्याश्रयभंगश्च ।।२-१०-२।।	जितनी दूर से प्राकृत गुण का सम्बन्ध हो उसको त्याग देवे क्योंकि उससे भगवान् के आश्रय में व्यभिचार दोष होता है और अनन्य आश्रय छूट जाता है । (सुबोध रत्नाकर)

*** शेष पृष्ठ ३ का ***

स्मृति में	भेंटकर्त्ता का शुभनाम व सम्बन्ध
प. भ. शक्तिदेवीजी शर्मा	सुपुत्र प. भ. गोपेशशरणजी एम.ए.बी.एड. एवं पुत्र-वधु उर्मिलादेवीजी बी.ए.बी.एड. भरतपुर
प. भ. शिवकुमारजी मोहता—हरदा	पिता श्री छगनलालजी एवं माता रतनबाई
प. भ. पीताम्बरजी एवं नवल बहन शाह	सुपुत्र *चन्द्रकान्तजी एवं पुत्र-वधु सुशीला बहन हैदराबाद
प. भ. किशोरीलालजी चांडक, बेरड़ी	भ्राता श्यामसुन्दरजी दलीपजी प्रदीपजी
प. भ. पूरणचन्द्रजी अग्रवाल, लश्कर	धर्मपत्नी धापुबाईजी सुपुत्र गिरराजकिशोरजी
प. भ. जानकीदेवीजी धर्मपत्नी श्री शिवचंदजी	सुपुत्र श्री द्वारिकादासजी लोहिया* मिरजापुर
प. भ. रामनारायणजी भाटी	सुपुत्र श्री मोहनलालजी भाटी लाडनूं
प. भ. चन्द्रवाली देवीजी भाटी	सुपुत्र पूनमचन्दजी भाटी लाडनूं
प. भ. त्रीकमदासजी आचार्य	*दौहित्र श्यामसुन्दरजी गज्जा बम्बई
प. भ. लालजीभाई नारणजी राजाणी	सुपुत्र गोकुलदासजी राजाणी* जामनगर
प. भ. वाडीलालजी पटेल	सुपुत्र श्यामलालजी अहमदाबाद
प. भ. करसनदासजी पुरुषोत्तमदासजी	सुपुत्र नटवरलालजी दावड़ा* कोल्हापुर

* इन ने पूर्व में रु० ५०१) की सेवा की थी अब रु० ५००) की और सेवा की ।

॥ श्री हरिः ॥

❋ विनम्र निवेदन ❋

पूर्व में सब सदस्य महानुभावों को ११वें स्कन्ध की एक पुस्तक और तीसरे स्कन्ध की चार पुस्तकें मिली हैं। दूसरे स्कन्ध के १० अध्यायों की यह पुस्तक है।

इस संस्था के भूतपूर्व उपाध्यक्ष पो० कण्ठमणिजी शास्त्री, कांकरोली वालों ने तिथि मार्गशीर्ष कृष्णा ४ वि.सं. २०२५ के पत्र में संस्थाध्यक्ष पू०पा०गो० ब्रजभूषणलालजी महाराज श्री को निवेदन किया कि सम्पूर्ण द्वितीय स्कन्ध के १० अध्यायों के सुबोधिनी संस्कृत टीका सहित का हिन्दी अनुवाद सद्गत देवर्षि भट्ट रमानाथजी शास्त्री, नाथद्वारा वालों ने किया है जिनमें से प्रथम ४ अध्यायों का अनुवाद मुद्रण हो चुका है और आगे के छ अध्याय ५ से १० तक के अनुवाद की पांडुलिपियां मेरे पास हैं। यह कार्य अर्थ साध्य है इसलिए पंडितजी के वंशजों में से कोई मुद्रण करा सके ऐसी आशा नहीं है। श्री सुबोधिनी प्रकाशन मंडल सम्पूर्ण सुबोधिनीजी का हिन्दी अनुवाद प्रकाशन कराने में दृढ़ संकल्प है। अतः मेरी सदैन्य आपसे प्रार्थना है कि द्वितीय स्कन्ध की सुबोधिनी टीका का हिन्दी अनुवाद आप किसी अन्य से न कराकर जो उपलब्ध १० अध्यायों की सामग्री है उसी का प्रकाशन करा देवें, इससे एक ओर सद्गत पं० रमानाथजी शास्त्री का सम्मान भी हो जावेगा और संस्था की कार्यसिद्धि भी होगी।

उपाध्यक्ष महोदय का सानुरोध आदेश होने के कारण संस्थाध्यक्ष महोदय ने इस अनुवाद के प्रकाशन की आज्ञा प्रदान की और तदनुसार प० भ० पो० कण्ठमणि शास्त्रीजी ने यह सूचित किया कि प्रथम चार अध्याय छपे हुए हैं उन्हीं की पुनरावृत्ति करा दी जावे और छ अध्यायों की प्रेस कापी जो मैंने तैयार की है वे संस्था के मन्त्री नन्ददासजी को दे रहा हूं, उसका उपयोग किया जावें।

प्रथम चार अध्याय जिनका प्रकाशन नाथद्वारा से हुआ था उनकी दो पुस्तकों में से एक पुस्तक पर यह अभिलेख था कि इस साहित्य के प्रकाशन का अधिकार लेखक के पुत्र अथवा पौत्रों से प्राप्त करने के बाद ही ये अध्याय छपाये जावें इसलिए लेखक के ज्येष्ठ पौत्र से प० भ० त्रिपाठी नारायणजी शास्त्री जो इस संस्था के प्रन्यासी भी है उन्होंने चर्चा की और कहा कि इस मुद्रण के लिए संस्था की तरफ से रु० ५००/- का पारितोषिक आपको दिलवा देंगे। उन्होंने उत्तर दिया कि जो कुछ आप आज्ञा करें वह मुझे मंजूर हैं। इसलिए प० भ० गणेशीलालजी सांचोहर एडवोकेट नाथद्वारा से अधिकार पत्र का मसविदा बनवाकर संस्था को देने के लिए उन महानुभाव को निवेदन किया गया परन्तु मसविदा लेकर भी चार मास तक उन्होंने कोई कार्यवाही नहीं की इसलिए प० भ० त्रिपाठी नारायणजी शास्त्री ने ही उन चार अध्यायों का हिन्दी अनुवाद किया।

छ अध्यायों का अनुवाद छपकर दीपमालिका के ऊपर ही तैयार हो गया था क्योंकि उस समय में शास्त्रीजी चार अध्यायों का अनुवाद कर रहे थे। इन चार अध्यायों की सामग्री लगभग १५० पृष्ठ होने के कारण उनकी जिल्द बंधाई में बाधा उपस्थित होगी। इसलिए निर्णय लिया गया कि सम्पूर्ण द्वितीय स्कन्ध की एक ही पुस्तक हो और इसलिए यह एक पुस्तक के रूप में आपको भेंट भेजी जा रही है।

संस्था की सबसे बड़ी कठिनाई मुद्रणालय से मुद्रित सामग्री न मिलने की है और इसी कारण इन १० अध्यायों में एक वर्ष से भी अधिक समय व्यतीत हो गया है जिसका हमको पूर्ण खेद है। अपनी लाचारी होने के कारण विवशता है। वैसे तो आपकी संस्था अपना निज का सुबोधिनी प्रेस लगा लेने में समर्थ है परन्तु योग्य कार्यकर्त्ता के न होने से वह कदम उठाने का साहस नहीं होता है।

अब सम्पूर्ण सुबोधिनी मिलने के लिए प्रथम स्कन्ध के १९ अध्यायों में से २ अध्याय छप चुके हैं और शेष १७ अध्यायों का मुद्रण कार्य चल रहा है। हर समय पुस्तक भेंट करने के वचन मिथ्या प्रमाणित होने के कारण निश्चित रूप से कुछ भी निवेदन नहीं कर सकते तथापि आशा है कि एक पुस्तक लगभग नौ महिने के बाद में मिलेगी और दूसरी पुस्तक उसके छ महिने बाद में मिल सके। यह सब कुछ महाप्रभुजी श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण की ही कृपा पर निर्भर है। निज का घोर प्रयत्न होने पर भी जब सफलता नहीं मिलती है तब इस दिशा में अधिक क्या प्रयत्न किया जाये?

महान् खेद है कि पुष्टिमार्ग के श्रेष्ठ प्रचारक श्री गोस्वामी माधवरायजी द्वारकेशलालजी महाराज मथुरा-पोरबन्दर ने भगवल्लीला संवरण की। कई वर्षों से 'अग्निकुमार' और 'नवप्रकाश' पत्रों के आप श्री सम्पादक थे। अनेक पुस्तकों की रचना आप श्री ने पुष्टिमार्ग समझाने के लिए की। संगीतकला, साहित्यकला के निष्णात् आप विद्वान थे। सिनेमा फिल्म द्वारा प्रचार कार्य करने में आप श्री सर्वप्रथम ही थे। आप श्री के दिनांक २२ अक्टूबर १९८३ को इस लोक त्याग से सम्प्रदाय की महान् क्षति हुई है जिसकी सूचना संतप्त हृदय द्वारा हमें देनी पड़ी है।

"जोधपुर नगर श्री सुबोधिनी प्रकाशन कार्य के कारण अपरिचित वैष्णव महानुभावों के रसना जिह्वा) का एक विषय बन गया है।" पू०पा०गो० श्री ब्रजभूषणलालजी महाराज संस्थाध्यक्ष ने एक बार प्रसन्न चित्त से यह आज्ञा की आप श्रीमद्वल्लभ वंशज गोस्वामी परिषद् के उपाध्यक्ष भी हैं। आप श्री आदर्श गोस्वामी आचार्य हैं। अ०भा०पु०मा० वैष्णव परिषद् के अध्यक्ष पद को कई वर्षों तक आपने समलंकृत किया। गत वर्ष श्री मदनमोहनलाल प्रभु के छप्पन भोग का मनोरथ जामनगर में आप श्री ने सम्पादन किया था। मरुभूमि के जोधपुर नगर का कितना सौभाग्य है कि इस वर्ष चौपासनी स्थान में श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण के सेव्य स्वरूप एवं भक्त शिरोमणि सूरदासजी के भावात्मक स्वरूप श्याम मनोहर प्रभु का विशाल "छप्पन भोग" का मनोरथ चोपासनी (जोधपुर) में शुभतिथि फाल्गुन शुक्ला १, वि० सं० २०४० रविवार दिनांक ४ मार्च १९८४ के दिन आपके द्वारा सम्पन्न हुआ। इस महान् मनोरथ में अनेक स्थानों से वैष्णव महानुभावों ने प्रवास के आधुनिक कष्टों को सहन करके भी दर्शन करने के हेतु यहां पधारकर अपनी हार्दिक श्रद्धा का प्रदर्शन किया।

"छप्पन भोग" का मनोरथ एक महान् अर्थ साध्य महोत्सव है जो अब तक पुष्टिमार्ग में लगभग अस्सी से अधिक नहीं हुए हैं । वार्षिक अनेक मनोरथों से ये मनोरथ विचित्र एवं विलक्षण हैं । छप्पन भोग के मनोरथ प्राचीन समय से चले आ रहे हैं । यद्यपि सामान्य वैष्णव छप्पन भोग नाम से ही परिचित है । इसका रहस्य बहुत ही कम संख्या में जानते हैं ।

छप्पन भोग के सम्बन्ध में ऐसी गाथा है कि जब श्री गोरधननाथ ने गिरिराज पर्वत को धरी हुई सामग्री कार्तिक शुक्ला १ को अन्नकूट में आरोगी तब ब्रजसीमन्तनियों ने आप श्री को निवेदन किया कि इस मनोरथ में पुरुषवर्ग ने सब सामग्री सिद्ध की है इसलिए हमारे अनेक मनोरथ पूर्ण न हो सके इसलिए आप कृपा करके हमको जब आज्ञा करो तब हम सब मिलकर आपको अपने मनोरथ के अनुसार सामग्री सिद्ध करके अरोगावें तब श्री गोरधननाथ ने प्रसन्न होकर आज्ञा दी कि जब भी तुम्हारो इच्छा इस मनोरथ की हो तुम अवश्य इसे करो इसलिए यह मनोरथ छप्पन मुख्य ब्रजभक्तों के द्वारा सम्पादन किया गया जिसमें अनेक प्रकार की सामग्री विशाल मात्रा में सिद्ध होती है ।

इस मनोरथ में 'छप्पन' की संख्या होने का कारण यह बताया जाता है कि भगवान् गोपीजन वल्लभ श्रीकृष्ण कमल सिंहासन पर विराजते हैं । कमल के तीन पडत होते हैं-प्रथम पडत में ८, द्वितोय में १६ और तृतीय में ३२, इस प्रकार कुल ५६ पँखड़ियाँ हैं । प्रत्येक पँखड़ी पर एक व्रज भक्त और बीच में प्रभु विराजते हैं । ये ही ५६ मुख्य सखियाँ हैं जिनने छप्पन भोग का मनोरथ हरिदास वर्य (गिरराजजी) की निकुञ्ज में किया है ।

यह भी जानकारी मिली है कि वृषभानजो ने बरसाने में अपनी आत्मजा वृषभान नन्दनी के शुभ विवाह के अवसर पर नन्दरायजी को सपरिवार सुपुत्रों सहित आमन्त्रित किया और उस समय छप्पन भोग के द्वारा उन लोगों को सम्मानित किया जिसका वर्णन भक्त शिरोमणि गदाधरदासजी ने अपने पद में किया है । जो पद प्रबोधनी एकादशी (कार्तिक शुक्ला एकादशी) के दिन विवाह के समय गाया जाता है ।

इस मनोरथ के अन्य भी कोई कारण हो सकते हैं परन्तु जितनी जानकारी मिली है उतना निवेदन किया है ।

भगवदीयचरणरजाभिलाषी
नन्ददास (रामचन्द्र)
मंत्री

।। श्री हरिः ।।

* भूमिका *

प्रथम स्कन्ध में वक्ता और श्रोता के अधिकारों का वर्णन हैं। द्वितीय स्कन्ध में श्रवणाङ्ग का वर्णन करते हैं। प्रथम दो अध्यायों में स्थूल एवं सूक्ष्म ध्यान एवं तीसरे और चौथे अध्याय में हृत्प्रसाद (श्रद्धा) का प्रतिपादन किया गया है।

इस प्रकार श्रवण और कीर्त्तन में दोनों का उत्साह हुआ तत्पश्चात् परीक्षित को विश्वास कराने के लिए शुकदेवजी ने भगवान् के स्वरूप का वर्णन करना छोड़कर ब्रह्माजी और नारदजी का इस विषय में जो संवाद हुआ था उसका वर्णन किया।

"भगवान् ही सब पदार्थ हैं और इसलिए उन्हीं का भजन करना उचित है।" यह ज्ञान श्रीमद्भागवत से ही सिद्ध होता है। पाँचवे अध्याय के प्रारम्भ में नारदजी ने ब्रह्माजी से जो प्रश्न किये हैं उनसे यह प्रतीत होता है कि सब शास्त्रों के अर्थ का निर्णय सामान्य रीति से कहा जावे तो भी श्री भागवतजी के श्रवण किये बिना अच्छे प्रकार से जानकारी नहीं मिल सकती है इसलिए नारदजो को सब प्रकार का ज्ञान होते हुए भी उनका सन्देह दूर नहीं हुआ इसलिए उन्होंने भागवतजी का श्रवण किया। जैसा कि ब्रह्माजी को नारदजी के पूछे हुए प्रश्नों से प्रतीत होता है। ब्रह्माजी से पूछे हुए प्रश्न के उत्तर से यह निर्णय होता है कि भगवान् से जगत् के सर्व पदार्थ बने हुए हैं और उनसे पृथक भी है। भगवान् से सर्व जगत् की उत्पत्ति होने से ब्रह्मरूप है ऐसा निर्णय अध्याय पाँच से सात में हुआ है।

इस प्रकार पाँचवे से सातवें तीन अध्यायों में उत्पत्ति का विचार करके आठवें से दसवें तोन अध्यायों से उपपत्ति (तर्क) से विचार करते हैं यह भी तीन प्रकार की है—

(१) शंका (२) शंका का समाधान (३) फल। जगत् के पदार्थ मात्र सब भगवद्रूप हैं। इस विषय का तर्क इस प्रकरण में कहने में आया है इसलिए यह 'उपपत्ति' विचार का प्रकरण है। नवें अध्याय में किसी प्रकार का तर्क नहीं है फिर भी जगत् की उत्पत्ति ब्रह्माजी से है। उन ब्रह्माजी का भी मूल भगवान् हरि है। सर्व जगत् की उत्पत्ति भगवान् से ही हुई है ऐसे स्वयं भगवान् की आज्ञा है। ब्रह्माजी को भी भगवान् ने अपने स्वरूप के दर्शन कराये इसलिए भगवान् सर्व के मूल हैं इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है इस प्रकरण को उपपत्ति कहने का कारण यह है कि उत्पत्ति प्रकरण में जो राजा परीक्षित ने कुछ प्रश्न किये हैं और जिनमें संदेह प्रकट किया है उनका उत्तर शुकदेवजी ने नवें अध्याय में दिया है जिससे राजा का समाधान हुआ है इसके अतिरिक्त जो राजा परीक्षित ने भगवान् के माहात्म्य को जानने के लिए प्रश्न किए हैं उनका उत्तर तीसरे से बारहवें स्कन्धों की कथा में आयेगा। दसवें अध्याय में भगवान् की दस लीलाएँ–सर्ग विसर्गादि थी। सूक्ष्म व्याख्या करके उनका विशद्‌रूप आगे के दस स्कन्धों में होगा यह बताया गया है। इस प्रकार श्रीमद्भागवत का स्वरूप बताकर यह दर्शाया है कि मरणधर्मा मनुष्य को श्रीमद्भागवत का श्रवण करना चाहिये यही मनुष्य देह धारण किये का फल है। इस प्रकार दसवें अध्याय में स्वरूप से और अर्थ से श्रीमद्भागवत का निरूपण किया गया है। स्वरूप आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक तोन प्रकार का बताया गया है जिससे स्थूल भागवत (तीसरे स्कन्ध से बारह स्कन्ध तक) की दस लीलाओं का श्रवण भली प्रकार से हो सके।

—त्रिपाठी रामकृष्णात्मज नारायण शर्मा

॥ श्री हरिः ॥

* श्रीमद्भागवत महापुराण *

श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण के द्वारा विरचित तत्वार्थ दीप निबन्ध

का

* भागवतार्थ प्रकरण *

द्वितीय स्कन्ध—अध्याय १ से १०

द्वितीय स्कन्ध में स्कन्धार्थ, प्रकरणार्थ तथा अध्यायार्थों को कहने के लिए सङ्गति हेतु प्रथम स्कन्ध में सिद्ध अर्थ का अनुवाद करते हैं—

कारिका—**उत्तमे चोत्तमश्रोतुः प्रश्न आद्ये निरूपितः ।**
अध्यायदशकैस्तत्र साङ्गं श्रवणमीर्यते ॥ १ ॥

कारिकार्थ—उत्तमवक्ता श्रीशुकदेवजी ने उत्तमश्रोता परीक्षित के प्रश्न का प्रथम स्कन्ध में निरूपण किया । अब उस प्रश्न के उत्तर में अङ्गसहित श्रवण का कथन करते हैं, अर्थात् परीक्षित ने पूछा कि अब मेरे लिये क्या कर्त्तव्य है तो श्रीशुकदेवजी ने कहा कि तुम्हें साङ्ग श्रवण करना चाहिये । श्रवण के अङ्ग दस हैं इसलिए द्वितीय स्कन्ध के दस अध्यायों में उनका निरूपण है । इसीलिए इस द्वितीय स्कन्ध का अर्थ श्रवणाङ्ग है ॥ १ ॥

सम्पूर्ण भागवत श्रवणविधि का अङ्ग है । उसमें विषयरूप से दस स्कन्ध हैं । प्रथम स्कन्ध अधिकार के लिए है और द्वितीय स्कन्ध अङ्ग निरूपण के लिए है । इस प्रकार के भाव से भागवत में श्रवण ही महावाक्य का अर्थ है और वह श्रवण क्या है इस आकांक्षा के उत्तर में कहते हैं—

कारिका—**शक्तितात्पर्यनिर्धारः श्रवणं पदवाक्ययोः ।**
तत्त्वध्यानं हृत्प्रसादो मननं चाङ्गमुच्यते ॥ २ ॥
श्रोतव्यविषयत्वेन लीला दशविधा पुनः ।
वक्तव्या वासुदेवस्य तदर्थमपरा कृतिः ॥ ३ ॥
शक्तितात्पर्यनिर्धारः सामान्येन पदादिगः ।
अङ्गोक्त्यैव सुसंसिद्धो द्वितीयोऽङ्गविनिश्चये ॥ ४ ॥
कृष्णस्य सर्वरूपत्वे निर्धारः पदवाक्ययोः ।
गुणातीत स्वरूपत्वे निर्गुणश्रुतिनिर्णयः ॥ ५ ॥

कारिकार्थ—पद में शक्ति का निर्धार एवं वाक्य में तात्पर्य का निर्धार श्रवण है । अथवा पद में शक्ति तात्पर्य का निर्धार तथा वाक्य में शक्ति तात्पर्य का निर्धार श्रवण है । श्रवण के तीन अङ्ग हैं– तत्त्वध्यान, हृत्प्रसाद और मनन । तत्त्व के स्वरूप का चिन्तन तत्त्वध्यान कहा जाता है । चित्तशुद्धि को हृत्प्रसाद कहते हैं । तीन अङ्गों के कहने से प्रकरण विभाग का भी निरूपण हो जाता है । भगवान् वासुदेव की दस प्रकार की लीलाएं सुनने योग्य हैं । इससे आगे के स्कन्धों के अर्थों का भी नाम गिना दिया है । यदि यह शंका हो कि धर्मी का श्रवण किसी भी धर्म के साथ किया जा सकता है, ऐसा कोई नियम नहीं है कि दशविध लीला से युक्त का ही श्रवण करना चाहिये । इसके लिए 'तदर्थमपराकृतिः' यह उत्तर है । यदि दस प्रकार की लीला ही श्रोतव्य है ऐसा न होता तो आगे के दस स्कन्धों में निरूपण की जाने वाली लीला व्यर्थ हो जाती । अतः अपरकृति-दशविध लीलाओं की कृति से वे ही श्रोतव्य हैं । सामान्यरूप से शक्तितात्पर्य का निर्धार पद और वाक्य से ही होता है । अङ्गों के निरूपण से ही अङ्गी का निरूपण सिद्ध हो जाता है । तात्पर्य यह है कि जब सब अङ्गों का निरूपण कर देंगे तो अङ्गी उससे अलग कैसे रहेगा । उन अङ्गों के निश्चय के लिए ही यह द्वितीय स्कन्ध है । शक्ति तात्पर्य निर्धार द्वितीय स्कन्ध में स्पष्टरूप से नहीं है इसलिए उसे स्पष्ट करने के लिए 'कृष्णस्य सर्वरूपत्वे' ऐसा कहा । अर्थात् भगवान् कृष्ण सर्वरूप हैं अतः जितने भी पद एवं वाक्य हैं वे सब भगवद्वाचक हैं । यदि शक्ति संकोच पक्ष रखेंगे तो जिस पद की जिसमें शक्ति होगी वह उसी का वाचक होगा भगवद्वाचक नहीं होगा । कदाचित् ऐसी शंका हो कि यहां दशविध लीला का सुनना कहा है और वेदों में तो 'आत्मा श्रोतव्यः' ऐसा कहा है अतः विरोध आयगा इसका उत्तर यह है कि भगवान् के दो रूप हैं-एक गुणातीत और दूसरा सगुण । वेद में गुणातीत को श्रोतव्य बताया है और पुराण में सगुण को श्रोतव्य बताया है । अतः जब वेद निर्णय से निश्चय करेंगे तो वहां गुणातीत ही श्रोतव्य होगा । क्योंकि श्रुतियां निर्गुण हैं । पुराण में तो भगवान् सगुण है अतः दशविध लीलायुक्त भगवान् ही सुनने का विषय है ।। २ ।। ३ ।। ४ ।। ५ ।।

श्रोतुर्वक्तुस्तथा श्रद्धा इस कारिका से दूसरे अङ्ग को सिद्ध करते हैं—

कारिका—**श्रोतुर्वक्तुस्तथा श्रद्धा सान्यसेवा बहिर्मुखा ।**
श्रोतुर्वक्तुः समुत्साहो नमनाद्यादरात्स्फुटः ।। ६ ।।

कारिकार्थ—श्रद्धा के अभाव में श्रवण नहीं होता अतः श्रोता तथा वक्ता में श्रद्धा भी होनी चाहिये अर्थात् प्रथम प्रकरण की तरह श्रद्धा भी अन्तरङ्ग है । जैसे दशविध लीला युक्त भगवान् से अतिरिक्त का श्रवण नहीं होता उसी तरह दशविध लीला से प्रतिपाद्य रूप से अतिरिक्त रूप में श्रद्धा नहीं होती । श्रोता की यदि अन्यत्र श्रद्धा होगी तो उसका श्रवण व्यर्थ होगा । अतः श्रोता में श्रद्धा का होना आवश्यक है । वक्ता की श्रद्धा तो नमन आदि के आदर से स्पष्ट ज्ञात होती है ।।६।।

इस तरह मध्यम प्रकरण के अर्थ को कहकर तृतीय प्रकरण में अवान्तर भेद है अतः उसके भेदक का निरूपण करते हैं—

कारिका—**उत्पत्त्या चोपपत्त्या च सर्वत्वं तस्य चिन्त्यते ।**

तथा च व्यतिरिक्तत्वं फलतस्त्वस्य निर्णयः ।। ७ ।।

कारिकार्थ—उत्पत्ति और उपपत्ति के द्वारा सब भगवान् हैं ऐसा विचार किया जाता है । 'च' का अर्थ है उत्पत्ति में उपपत्ति और उपपत्ति में उत्पत्ति आवश्यक है। सबकी उत्पत्ति भगवान् से होती है इसलिए सब भगवान् हैं ऐसा यदि निर्णय करेंगे तो उसमें शंका यह होगी कि 'वृक्षबीजन्याय' से यदि भगवान् ही सब हो जाते हैं और अलग यदि नहीं रहते हैं तो उत्पत्ति ही घटित नहीं होती अतः उत्पत्ति तथा उपपत्ति में भगवान् की अलग स्थिति माननी होगी इसका उत्तर यह है कि इसका निर्णय तो फल के द्वारा हो जायगा ।। ७ ।।

इस तरह अङ्गों का निर्णय करके उसीसे अङ्गी की सिद्धि को कहते हैं—

कारिका—**ततो लीलाः सदा वाच्याः श्रोतव्याः श्रवणेन हि ।**

म्रियमाणे विशेषेण योगो ह्यष्टाङ्ग ईर्यते ।। ८ ।।

अन्ते मतेर्गतित्वं हि मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।

पाक्षिकोऽपिहि दोषोऽत्र परिहार्यः सुसात्त्विकैः ।। ९ ।।

कारिकार्थ—भगवान् का निर्णय करके भगवान् की लीलाओं का कीर्तन करना चाहिये । अन्यथा उनमें लीलापन ही नहीं होगा और कानों से लीलाओं को सुनना चाहिये । स्मरण भी करना चाहिये और जो म्रियमाण है उसके लिए तो अष्टाङ्गयोग भी करना चाहिये । उसका कारण यह है कि मन चञ्चल है, अस्थिर है अतः अन्त में जैसी मति होती है वैसी ही गति होती है । इसलिए पाक्षिक दोष के परिहार के लिए सात्त्विकों को अष्टाङ्गयोग करना चाहिये ।।८।।९।।

अन्त में शुभ मति रहे उसके लिए साधनों को कहते हैं—

कारिका—**गृहत्यागस्तीर्थवासो योगाभ्यसनमेव च ।**

अन्तकाले त्ववश्यं हि यथा चित्तं न भिद्यते ।।१०।।

कारिकार्थ—अन्तकाल में अच्छी बुद्धि रहे इसके लिए (१) गृहत्याग (२) तीर्थ में निवास (३) योगाभ्यास ये तीन साधन हैं । श्रवण या योग इनमें किसी एक को किया जाय ऐसा विमर्श है । सब किये जाय ऐसा भी किन्हीं का कहना है । किन्हीं का ऐसा कहना है कि अधिकार के अनुसार किया जाय । कुछ ऐसा भी कहते हैं कि यह बहिर्मुख और अन्तर्मुख व्यवस्था है । शुकदेवजी ने पूर्वजन्म में वैसा किया था इसलिए उनका ऐसा अनुभव था । श्रवण को तो शुकदेवजी ने व्यासजी से जाना था । इसलिए अन्तकाल में तो श्रवण अवश्य ही करना चाहिये जिससे भगवान् से चित्त अलग न हो जाय ।।१०।।

ज्ञानमार्ग का परित्याग कर भक्तियोग किसलिए स्वीकार करते हैं—

कारिका—**श्रुतात्म ब्रह्मभावस्य नानन्दानुभवः सदा ।**
मनसश्चञ्चलात्वाद्धि स्थिरे योगेन साधिते ।।११।।
सगुणां मानसीं मूर्त्ति हरेः कृत्वाण्डरूपिणीम् ।
अन्तर्यामिस्वरूपां वा ध्याने सत्त्वमये हृदि ।।१२।।
प्रकटः परमानन्दस्तत्र स्थित्वा सुखी भवेत् ।
गुणानां प्रेरकत्वे हि स्थिरता साधने ममता ।।१३।।

कारिकार्थ—'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुतिवाक्यों से जिसने अपने को ब्रह्म समझ लिया है उसके लिए अन्य कोई कर्त्तव्य तो शेष रहता नहीं केवल उसे आनन्द का अनुभव करना है वह आनन्द उसे मिलता नहीं है अतः उसे अन्य कोई साधन ढूंढना होगा, अर्थात् जिन साधनों का फल नियत है उसमें यदि श्रुति की बात नहीं मिली तो अब साधनों का ही उपदेश करना चाहिये । इसलिए जीव साक्षात् ब्रह्म है यह नहीं किन्तु जीव में ब्रह्म का व्यपदेश (ब्रह्म सदृश) समझना चाहिये । जैसे प्रतिमा में विष्णु बुद्धि व्यपदेश पक्ष से मानते हैं । इसलिए मन की चञ्चलता को योग के द्वारा दूर करके उसे स्थिर करना चाहिये तदनन्तर हरि की सगुण मानसी मूर्त्ति का विराट्रूप में अथवा अन्तर्यामीरूप में सत्त्वमय हृदय में ध्यान करना चाहिये । तब परमानन्द प्रकट होगा उस परमानन्द में स्थित होकर सुखी हो जाय । सत्त्व आदि गुणों से यदि मन में चञ्चलता आ जाय तो साधन के द्वारा मन में स्थिरता करनी चाहिये ।। ११ ।। १२ ।। १३ ।।

यह आसन्न मृत्यु वाले के लिए नहीं कहा है किन्तु जो मृत्यु चाहता है उसके लिए कहा है । अतः जो उस तरह का है उसके लिए साधन और फल कहते हैं—

कारिका—**आमृतेस्तत्र तिष्ठेत बुद्धयावा तनुमुत्सृजेत् ।**
लिङ्गं च तत्र त्यक्तव्यमग्रे गत्वाथ वा त्यजेत् ।।१४।।
धर्मस्य वासना शेषाद्यदीच्छा पारलौकिके ।
स्थूलस्य भावनायां हि यदि मृत्युस्तदा भवेत् ।।१५।।
चतुर्मुखत्वं सूक्ष्मे तु प्रधानफलमेव हि ।
मनोमय्या अपि यतो मुक्तिदातृत्वमुच्यते ।।१६।।
स्थूलेन भाविते चित्ते भक्तिः सूक्ष्मे तदा मनः ।
भक्त्यभावे तथा रागे न सूक्ष्मे विशते मनः ।।१७।।

कारिकार्थ—योग के द्वारा आयु की वृद्धि होने पर जो शरीर छोड़ता है अथवा बुद्धिपूर्वक जो शरीर का परित्याग करता है वहां भी दो पक्ष हैं । सब प्रकार की कामना के अभाव में देहत्याग के समय में ही लिङ्ग का भी परित्याग करना चाहिये तब सद्योमुक्ति होती है और क्रम से अथवा अंश से त्याग किया जाता है तब क्रममुक्ति होती है । जब सद्योमुक्ति हो जाती है तो फिर क्रममुक्ति पक्ष किसलिए है उसका कारण यह है कि स्वर्ग आदि के साधक जो धर्म पहले किये थे वे धर्म

योग साधना के द्वारा निवृत्त हो जाते हैं किन्तु फल के विषय में वासना के बच जाने से वे धर्म रह जाते हैं तब परलोक की इच्छा होती है । ध्येय के भेद से भी फल में भेद होता है अतः यदि स्थूल विराट्) की भावना करते हुए मृत्यु हो जाती है तो लोक व्यवहार्यरूप चतुर्मुखता उसे प्राप्त होती है और सूक्ष्म यदि ध्येय का विषय होता है तो उसे प्रधान फल सद्योमुक्ति अथवा क्रममुक्ति प्राप्त होती है । इस कथन से यदि कोई यह समझ ले कि योग से ही मुक्ति होती है भक्ति से नहीं तब तो पूर्व में कहा गया श्रवणादि मार्ग व्यर्थ ही हो जायगा इसका उत्तर यह है कि अष्टाङ्गयोग में ध्यान के द्वारा मनोमयी मूर्त्ति भी जब मुक्ति दे सकती है तो श्रवणादि के द्वारा स्वाभाविक भगवान् जब प्रकट हो जाते हैं तो उस योग से भी श्रवणादि की महती विशेषता है । यदि ऐसी आशंका हो कि इस कल्पना में प्रमाण क्या है ? इसका उत्तर यह है कि स्थूल और सूक्ष्म भेद से ध्येय दो प्रकार का है अतः जब स्थूल ध्येय से चित्त भावित होता है तो भक्ति उत्पन्न होती है अतः स्थूल ध्यान भक्ति का अङ्ग हुआ और भक्तिसाध्य सूक्ष्मज्ञान फल का साधक होता है। यदि भक्ति का अभाव हो या राग हो तो सूक्ष्म में मन का प्रवेश नहीं हो सकता ।।१४।।१५।।१६।।१७।।

और भी इसमें नियामक हैं उन्हें बताते हैं—

कारिका—**सर्वस्य भक्तिशेषत्वं तद्धेतुः श्रवणादिकम् ।**
निर्वाहकं तदन्योऽन्यं तेन त्रयमुदीर्यते ।। १८ ।।

कारिकार्थ—यद्यपि श्रवण-कीर्त्तन और मनन ये तीनों ही प्रत्येक भक्ति के अङ्ग हैं, भक्ति के साधक हैं तथापि बिना श्रवण के कीर्त्तन कैसे होगा और बिना कीर्त्तन के श्रवण कैसे होगा तथा बिना श्रवण के मनन भी कैसे होगा अतः ये तीनों ही एक-दूसरे के निर्वाहक हैं अतः तीनों को यहां कहा गया है ।। १८ ।।

शंका होती है कि जब श्रवण अथवा योग इनमें से कोई एक साधन करना चाहिये तो सर्वदा श्रवण की क्या आवश्यकता है । अन्त में जब योग की साधना करनी है तो अल्पकाल साध्ययोग की ही साधना करनी चाहिये श्रवण की क्या आवश्यकता है ? इस पर कहते हैं—

कारिका—**बहुकालविलम्बे तु सुगम त्वेतदेव हि ।**
अन्यथा पापसंवृद्धौ न त्यागे विशते मनः ।। १९ ।।
अत्यागेऽपि हरिः प्रीतः स्वयं वा साधयेत्फलम् ।
एवं श्री कृष्ण भजनमध्यायद्वितयेन हि ।।२०।।
श्रवणादिभिरुक्तं हि नित्यमेतन्न चेतरत् ।।

कारिकार्थ—अन्तकाल जब सन्दिग्ध है तो यदि योग में प्रवृत्त होता है तो कालविलम्ब के कारण दुःखी होता है और श्रवण में तो सुख ही प्राप्त होती है इसलिए सुगम होने से श्रवण ही कर्त्तव्य है । श्रवण न करने से तो पाप बढ़ते जायेंगे तो त्याग के अभाव में योग में मन का प्रवेश नहीं होगा और श्रवण में तो त्याग के अभाव में भी भगवान् प्रसन्न हो जायेंगे तो स्वयं फलदान करेंगे । इसलिए श्रीकृष्ण भजन का दो अध्यायों से कथन है । उनका भजन श्रवणादि से कहा गया है अतः श्रवणादि ही नित्य है योग तो पाक्षिक है नित्य नहीं है ।।१९।।२०।।

इस तरह दो अध्यायों के अर्थ का विचारकर अब तीसरे अध्याय के अर्थ का विचार करते हैं—

कारिका—**कामेन त्वन्यभजनमस्मिन् कामोऽपि सिद्धयति ।।२१।।**
सर्वेन्द्रियाणां वैफल्यमसेवायां भविष्यति ।
निषिद्धार्थत्वसाम्येन द्वयमेकत्र चोदितम् ।।२२।।

श्रोतुरुत्साहकथने सन्देहाच्छौनिके कृतम् ।
भजने बाधानिर्धारो द्वयमेकत्र सिद्धयति ।।२३।।
यावत्प्रभोः स्वरूपं च गुणाः कर्मादयस्तथा ।
न सम्यगवगम्यन्ते तावद्भजन संशयः ।।२४।।

कारिकार्थ—यद्यपि आवश्यकता न होने से और बाधक के अभाव से भगवान् से अतिरिक्त अन्य देवताओं के भजन की आवश्यकता नहीं होती किन्तु यदि कामना हो तो उन-उन विषय के देवताओं के भजन की आवश्यकता होती है किन्तु उन देवताओं का भजन न कर भगवान् का ही यदि भजन किया जाय तो कामना की पूर्त्ति भी हो जाती है और भगवान् का भजन न करने से तो सब इन्द्रियों की निष्फलता भी हो जायगी। कामना न हो तो भी इन्द्रियां को सफल बनाने के लिए भगवान् का भजन करना चाहिये। इन्द्रियों को यदि सफल न किया गया तो उन इन्द्रियों के अभिमानी देवता भगवान् का सम्बन्ध प्राप्त न होने से दुःखी होंगे जिससे मोक्ष में अथवा ज्ञानप्राप्ति में वे बाधक बन जायेंगे। इस तीसरे अध्याय में अन्य देवताओं के भजन का निषेध जैसे किया गया है वैसे ही भगवान् के भजन का भी निषेध किया है यह कैसे? इसका उत्तर देते हैं—निषिद्धता की समानता होने से दोनों का निषेध एक ही जगह कह दिया है। इस तीसरे अध्याय में श्रोता की श्रद्धा का कथन है राजा परीक्षित तो उत्तमाधिकारी है अतः उसमें तो श्रद्धा निश्चितरूप से है किन्तु शौनक की श्रद्धा में सन्देह हो सकता है अतः श्रोता के उत्साह को बढ़ाना शौनक के ही लिए है। भजन में बाध का निर्धार तो अन्य देवताओं के भजन के लिए है किन्तु वह साधारण है। जब भगवान् का अनन्यरूप से भजन किया जाता है तो उससे अन्य देवताओं के भजन का तथा इन्द्रिय दोषों का बाध हो जायगा। इन्द्रियों में दोष होने से ही अन्य देवताओं का भजन होता है। अतः भगवान् से अतिरिक्त के भजन में इन्द्रिय दोष कारण है। जब शौनकजी को यह ज्ञान था तो उन्होंने प्रश्न क्यों किया? उसका उत्तर यह है कि जब तक प्रभु का स्वरूप, प्रभु के गुण और प्रभु के कर्म आदि ठीक तरह से समझ में नहीं आते तब तक भजन में संशय होता ही है अतः प्रश्न करना ठीक ही है।।२१-२४।।

इस तरह तीसरे अध्याय में शौनकजी के उत्साह का निरूपण करके चतुर्थ अध्याय में राजा परीक्षित के उत्साह का निरूपण करते हैं—

कारिका—**भजनार्थं समुत्साहो ममतानाशपूर्वकः ।**
त्यक्तोऽपि विषयोऽन्तःस्थो ज्ञानादेव निवर्त्तते ।।२५।।
तत्त्यागपूर्वकः प्रश्नः कृतः स्वोत्साहबोधकः ।
नमनेनैव निर्धारं सामान्येन शुको जगौ ।।२६।।

कारिकार्थ—श्रीशुकदेवजी ने राजा परीक्षित का भजन के लिए उत्साह बढ़ाया। उसके पहले उसकी ममता के नाश का निरूपण किया। ममता का नाश सामान्यरूप से श्रद्धा का प्रतिपादन करने वाला होता है। यदि किसी को यह शंका हो कि राजा ने जब प्रायोपवेश किया तो राज्य आदि में तो उसको ममता पहले ही हट चुकी थी तो फिर अब ममता के त्याग के विषय में कहना व्यर्थ है उस पर कहते हैं कि विषयों का त्याग कर भी दिया जाय किन्तु अन्तस्थ जो विषय होता है उसकी निवृत्ति तो ज्ञान से ही होती है। ज्ञान ही सम्पूर्ण रूप से ममता को दूर कर सकता है। अतः राजा ने ममतात्यागपूर्वक अपने उत्साह के विषय में प्रश्न किया और शुकदेवजी का उत्साह भगवान् के नमन और प्रार्थना से ही सिद्ध होता है यह उत्तर दिया।।२५।।२६।।

कारिका—**एवमुत्साहसंसिद्धिर्विश्वासार्थं कथावचः ।**
एतज्ज्ञानं भागवतश्रवणादेव नान्यथा ।।२७।।

इति नारदसंदेहो ब्रह्मवाक्यं तथोच्यता ।
विमर्शोऽपि ततः सिद्धयेदुत्पत्त्या सा त्रिधा मता ।।२८।।

कारिकार्थ—अब दो कारिकाओं से पूर्व प्रकरण का उपसंहार करते हैं। शुकदेवजी के द्वारा किये गये नमन तथा प्रार्थना से सभी में उत्साह की सिद्धि हुई। श्रीशुकदेवजी ने स्वतः प्रमेय के कथन को छोड़कर विश्वास के लिए ब्रह्मा और नारदजी के संवाद को कहा। उसमें भी नारदजी का प्रश्न इस बात को बताता है कि यह ज्ञान भागवत के श्रवण से ही होता है अन्य प्रकार से नहीं हो सकता है। इसीलिए सर्वज्ञ नारदजी ने प्रश्न किया और ब्रह्माजी ने भी उत्तर दिया। यदि नारदजी समझते हुए प्रश्न करते तो ब्रह्माजी उनके प्रश्न की उपेक्षा कर देते। इस तरह नारदजी और ब्रह्माजी के वचन और अनुवचन से ही विमर्श की सिद्धि होती है। उत्पत्ति से वह विद्या तीन प्रकार की है उसीको यहां कहते हैं।

कारिका—**अनित्ये जननं नित्येऽपरिच्छिन्ने समागमः ।**
नित्यापरिच्छिन्नतनौ प्राकट्यं सत्वतः स्वतः ।।२९।।
सूक्तार्थकथनं मध्ये भजनार्थं हि सर्वदा ।। २९½ ।।

कारिकार्थ—अनित्य शरीर की उत्पत्ति होती है और नित्य तथा अपरिच्छिन्न शरीर में समागम होता है। नित्य तथा अपरिच्छिन्न शरीर में प्राकट्य दो तरह से होता है- एक आवेशरूप से और दूसरा अवतार रूप से। इससे लोक में भी वस्तु की उत्पत्ति के निर्धारण से भजन का निर्धारण होता है। जैसे किसी की बनाई हुई मूर्ति उत्पत्ति वाली होती है और जिसमें प्राण प्रतिष्ठा आदि करके आवाहन किया जाता है दूसरी वह मूर्त्ति है और तीसरी मूर्ति वह है जो स्वतः ही प्रकट होती है जैसे वेङ्कटेश आदि की मूर्त्ति। उनमें भी जिनमें भगवान् की नित्यस्थिति होती है उसे अवतार कहते हैं और परिमित काल तक जिसमें भगवान् की स्थिति रहती है उसे आवेश कहते हैं। प्रथम प्रकार की मूर्त्ति का भजन लौकिक है और द्वितीय प्रकार की मूर्त्ति का भजन वैदिक है तथा तृतीय प्रकार की मूर्त्ति का भजन आन्तरानुभव सिद्ध है।

कारिका—**तन्मूल त्वाद्धि सर्वस्य तज्जे तद्रूप एव वा ।।३०।।**
मूलभक्त्यैव भजनमतः प्राकटच सङ्कथा ।
तस्यापि मूलं कृष्णस्तु विमर्शे तस्य साधनम् ।।३१।।
माहात्म्यं च स्वरूपं च द्वयं तत्रैव रूपितम् ।
अनेन फलसिद्धिर्हि बहूनामिति कीर्त्तितम् ।।३२।।
तावन्मात्रत्वकथनमन्येषां वारयत्यपि ।। ३२½ ।।

कारिकार्थ –इस तरह पञ्चम एवं षष्ठ अध्याय का अर्थ कहकर अब सप्तम अध्याय के अर्थ को कहते हैं। मध्यम भजन के दो रूप हैं–एक तो वेद में सिद्ध प्रकार से और दूसरा ब्रह्मानुभव रूप अथवा यज्ञरूप। इनमें यज्ञरूप भजन 'तज्ज' कहा जाता है। भक्तिमार्ग से जो भजन होता है वह मूलभक्ति से ही होता है इसलिए पुरुषोत्तम की भक्ति को सिद्धि के लिए सब अवतारों में प्राकट्य की कथा ही कही है। अवतारों का भी मूल है कृष्ण अतः विमर्श प्रकरण में कृष्ण की पुरुषोत्तमता सिद्ध करते हैं। यदि कृष्ण की पुरुषोत्तमता सिद्ध नहीं होती तो साधन अनुपपन्न हो जाते तथा अन्य अवतारों की तरह भगवान् कृष्ण का भी चरित्र मात्र ही कहा जाता किन्तु भगवान् कृष्ण के तो माहात्म्य तथा स्वरूप का भी निरूपण किया है 'इतरथार्जुनयोर्न भाव्यम्' से तो माहात्म्य का वर्णन है और 'सितकृष्ण केशो यस्यांश' इससे स्वरूप का निरूपण किया है। यहां कारिका के 'द्वयं' पद से माहात्म्य तथा स्वरूप का ही निरूपण है कथा का निरूपण नहीं है। यदि शंका हो कि 'ये च प्रलम्ब' इत्यादि में संक्षेप से कथा का भी तो वर्णन है उसका उत्तर यह है कि यह कथा नहीं है किन्तु अनेकों को फल की सिद्धि हुई है उसका निरूपण है अर्थात् मोक्ष भगवान् कृष्ण ही कर सकते हैं और 'ये च प्रलम्ब' में जिनकी गणना की गई है उन्हीं को मुक्ति मिली है अन्यों को नहीं।

इस तरह ५ से ७ तक के अध्यायों में उत्पत्ति के द्वारा विचार कहकर अब ८ से १० अध्यायों में उपपत्ति (युक्ति) के द्वारा विचार करते हैं—

कारिका—**उपपत्त्या विचारोऽपि त्रिधा शङ्कोत्तरे फलम् ॥३३॥**
ब्रह्मणोऽपि हरिर्मूलमुपपत्तिः कथागता ।
प्रदर्श्य कथनात्तस्य न मूलान्वेषणं मतम् ॥३४॥
उक्तेऽर्थेऽनुपपत्तिश्च शिष्टप्रश्नस्तथैव च ।
आक्षेपस्य समाधानमन्यत्स्थूलेऽति दिश्यते ॥३५॥
तस्मात्स्थूलश्रुतिः सिद्धा तत्स्वरूपमतः फलम् ।
रूपतश्चार्थतश्चैव तत्स्वरूपनिरूपणम् ॥३६॥
लक्षणोक्त्या स्वरूपस्य त्रैविध्यं चार्थतः स्फुटम् ।
आनन्त्याद्धि विशेषस्य स्थूले कथनतोऽपि च ॥३७॥

कारिकार्थ—पहले छः कारिकाओं से उत्पत्ति का विवरण करके अब साढे सात कारिकाओं से उपपत्ति के द्वारा विचार करते हैं उपपत्ति के द्वारा भी विचार तीन प्रकार से करते हैं–शंका, उत्तर और फल। आठवें अध्याय में शंका, नवम अध्याय में उत्तर और दशम अध्याय में फल। आठवें अध्याय का आक्षेपक युक्ति वाला होने से उसका उपपत्ति (युक्ति) में प्रवेश है और नवम का सिद्धान्त युक्ति वाला होने से उपपत्ति प्रकरण में प्रवेश है इसी तरह दशम का फलाख्य युक्ति वाला होने से उपपत्ति प्रकरण में प्रवेश है। तात्पर्य का निर्णायक होने से फल में भी युक्तित्व है। ब्रह्मा के मूल (उत्पत्ति स्थान) हरि हैं अर्थात् भगवान् ही ब्रह्मा के उपादान कारण हैं। इसमें कथागत युक्ति ही मूल है। यह सारा जगत् भगवद्रूप है इसे स्वयं भगवान् ही आगे कहेंगे। मैं ही सबसे पहले था 'अहमेवासमेवाग्रे' यदि कोई ऐसी शका करे कि भगवान् का कारण भी कोई होगा

उसे ढूँढना चाहिये इसका उत्तर यह है कि भगवान् ने अपने रूप को दिखाकर पीछे अपने स्वरूप को कहा। इसलिए न तो कोई सन्देह उत्पन्न होता है और न अन्य किसी मूल को ढूँढने की अपेक्षा होती है। यह प्रकरण उपपत्ति प्रकरण है इसको सिद्ध करने के लिए उक्तेर्थेऽनुपपत्तिश्च' ऐसा हेतु दिया अर्थात् जिस अर्थ का पहले उत्पत्ति से निरूपण किया था उसी को यहां पूर्वपक्ष रखा गया है और उसी की सिद्धि के लिए अन्य बातें भी पूछी गई हैं। वक्ता आक्षेप का ही समाधान करता है बातों का उत्तर नहीं देता। नहीं तो फिर कथापक्ष ही हो जायेगा। आक्षेप से अतिरिक्त का भी परम्परा से उपयोग है अतः स्थूल भागवत में उसका उत्तर है यह बात अन्य स्थूल से कही गई है। इससे उपपत्ति से जो सिद्ध है उसी का निरूपण यहाँ किया गया है। इसलिए सर्ग विसर्ग आदि दस लक्षण जिसमें है उस भागवत को सुनना चाहिये। इसलिए फलाध्याय में भागवत के स्वरूप का ही निरूपण किया गया है। सर्वदा अथवा मरने वाले को भागवत सुनना चाहिये ऐसा कहने से भागवत की फलवत्ता सिद्ध होती है। अतएव फलाध्याय में रूप से और अर्थ से भागवत के स्वरूप का निरूपण है। दस प्रकार की लीलाओं का लक्षण कहना यह ही तो भागवत का स्वरूप है। आध्यात्मिक आदि भेदों के कारण अर्थ भी तीन प्रकार का है। जब अर्थ से और स्वरूप से निरूपण कर दिया गया है तो फिर स्थूल भागवत को सुनने की क्या आवश्यकता है इस आशङ्का के लिए कहते हैं कि आध्यात्मिकादि त्रिविध भेदों के विशेष अनन्त हैं उनका निरूपण यहां नहीं है स्थूल भागवत में ही उनका निरूपण विशेष रूप से है। अत. लक्षणरूप से निरूपण यहां है और विशेष रूप से ज्ञान स्थूल भागवत में ही है।

अब दशमाध्याय में सिद्ध अर्थ का अनुवाद तीन कारिकाओं से करते हैं—

कारिका—**सार्थकं च सुरूपं च तस्माच्छ्रोतव्यता स्थिता।**
तस्यांशश्रवणे चापि निःसन्देहफलं च तत् ॥३८॥
तादृशार्थस्य संप्रश्नः कथाक्षेपार्थमुच्यते।
विघ्नसन्देहतः शीघ्रं स्वकृतार्थत्वसिद्धये ॥३९॥
शौनकस्य हि संप्रश्नः शुकोक्तिश्चापि तादृशी।
अतः सर्वोत्तममिदमिति वक्तुं तथा वचः ॥४०॥

कारिकार्थ—भागवत सार्थक एवं सुरूप है इसलिए वह सुनने योग्य है। भागवत के किसी अंश के श्रवण से भी निःसन्देह वह फल होता है। विदुरजी ने केवल दो लीलाओं का ही श्रवण किया था इतने मात्र से ही उनको सम्पूर्ण फल सिद्ध हो गया। इसीलिए शौनकजी ने विदुरजी को कथा पूछी। जिससे शीघ्र फल हो उसे ही कहिये अर्थात् शौनकजी का कथा विशेष के लिए ही प्रश्न है। शुकदेवजी भी उसी को कहने के लिए प्रवृत्त हुए इसी बात को सूतजी शीघ्रता से कहने लगे अन्यथा विलम्ब हो जाने में शौनकजी कुछ और प्रश्न पूछ लें तो अपना अभिप्रेत सिद्ध न हो। शंका होती है कि शौनकजी ने किस अभिप्राय से ऐसा प्रश्न किया उसका उत्तर यह है शौनकजी अपनी कृतार्थता चाहते हैं इसके लिए प्रश्न किया। कदाचित् सब लीलाओं का सुनना सम्भव हो सके या न हो सके। ऐसा ही अभिप्राय श्रीशुकदेवजी का भी था। सात दिन के बीच में ही राजा को उद्वेग हो जाय या श्रीशुकदेवजी के लिए कोई निमित्तान्तर की आपत्ति हो जाय तो कार्य सिद्ध न होगा इसीलिए सर्वोत्तम अंश के आक्षेप के लिए ही उन्होंने कहा। इसलिए कहा जाने वाला भागवत ही सर्वोत्तम है यह बात फलित होती है।

॥ श्री हरिः ॥

श्रीमद्खण्ड भूमण्डलाचार्य श्रीकृष्ण वदन विरह वैश्वानरावतार

श्रीमद्वल्लभाचार्य प्रादुर्भावित

श्रीमच्चतुर्थ प्रस्थान श्रीमद्भागवतशास्त्र

* द्वितीय स्कन्ध सुबोधिनी *

हिन्दी अनुवाद सहित

द्वितीयखण्ड—अध्याय—५ से १०

सहायक ग्रन्थ—"प्रकाश"—श्रीमद्गोस्वामी श्री पुरुषोत्तमजी महाराज

विषय - सूची

अध्याय	शीर्षक	पृष्ठ
५	मनन	१
६	पुरुष सूक्त में कहे गये भगवान् की विराट् देह का वर्णन	५०
७	अन्तर्यामी के अवतारों की कथा	१०८
८	राजा परीक्षित द्वारा आक्षेप	२३९
९	जीव और ब्रह्म के संदेह का निवारण	२७४
१०	भागवत के दस लक्षण और प्राकृत सर्ग का क्रम	३६५

राष्ट्रीय भाषानुवादक :

गो. वा. देवर्षि भट्ट पं० रमानाथजी शास्त्री

साहित्यरत्न, नाथद्वारा

⌘ श्री सुबोधिनी ⌘

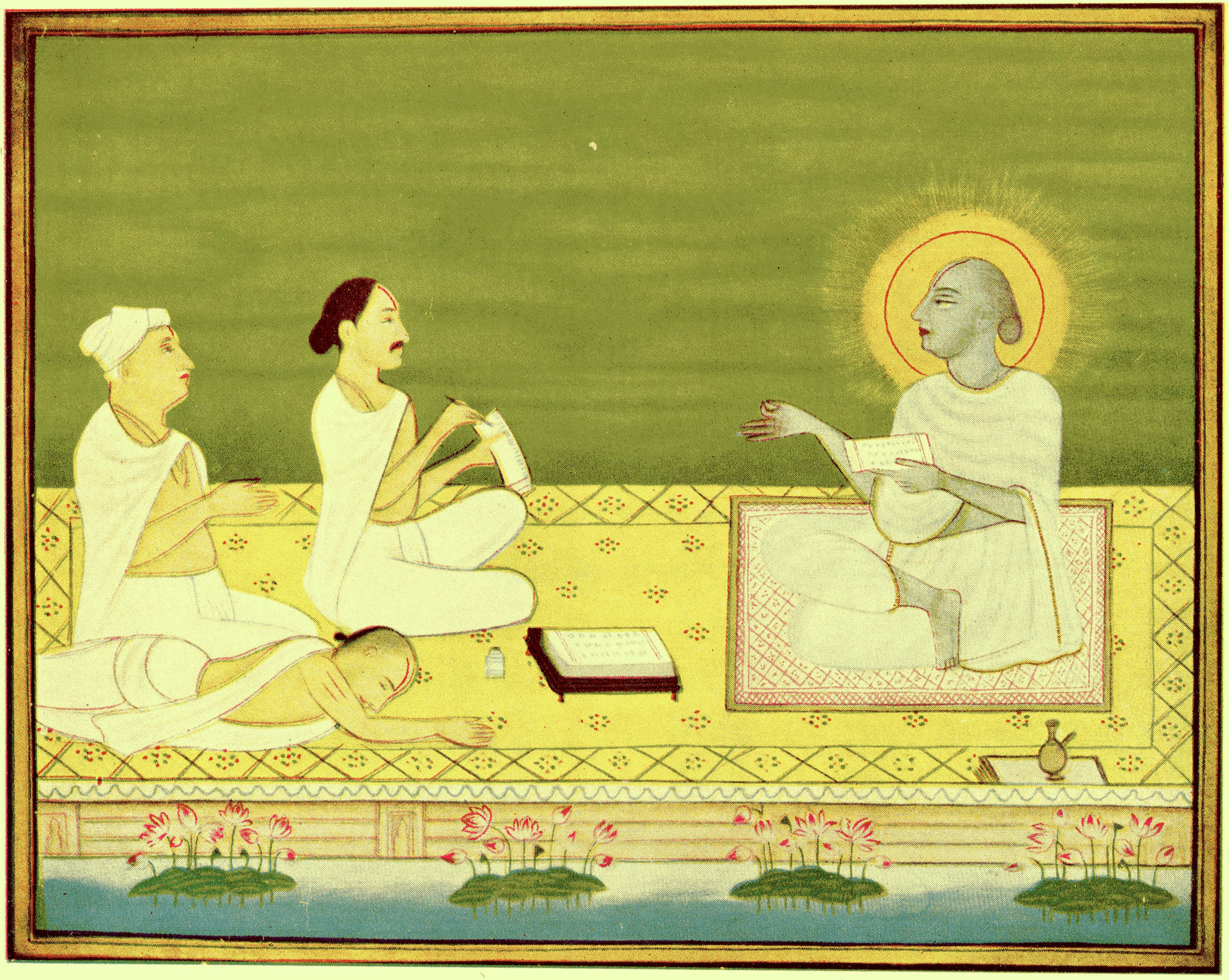

प० भ० श्रीमाधवभट्टजी काश्मीरी

प० भ० श्रीकृष्णदासजी मेघन

प० भ० श्रीदामोदर-दासजी हरसानी

अखण्ड भूमण्डलचार्य चक्र चूडामणी श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण (श्री महाप्रभुजी)

श्री मद्वल्लभाचार्य चरण (महाप्रभुजी) प. भ श्री माधवभट्टजी को सुबोधिनी लिखवा रहे हैं।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

श्रीमद् भागवत महापुराण

श्रीमद्वल्लभाचार्य–विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

द्वितीय स्कन्ध

(श्रवणाङ्ग स्कन्ध-ज्ञान लीला)

प्रथम साधन-तत्व ध्यान-प्रकरण—१

अध्याय—१

ध्यान विधि तथा भगवान् के विराट् स्वरूप का वर्णन

कारिका—स्कन्धे तु प्रथमे प्रोक्तास्त्रिविधा ह्यधिकारिणः ।
तेषां कर्त्तव्यनिर्द्धारो द्वितीये विनिरूप्यते ॥ १ ॥
तस्मिन्निर्द्धारिते पश्चात्क्रियाविषयसङ्कथा ।
अग्रे च ताँ प्रवक्ष्यामस्तृतीयादिभिरुत्तमैः ॥ २ ॥
निर्द्धारणेऽङ्गत्रितयं वस्तुनिर्द्धारणं पुरा ।
श्रद्धा चैव विमर्शश्च वस्तुनिर्द्धारणं पुनः ॥ ३ ॥
प्रमाणेन प्रमेयेण साधनेन फलेन च ।
एकत्र मानमेये हि फलं साधनमेकतः ॥ ४ ॥
अतोऽत्र वस्तुनिर्द्धारे ह्यध्यायद्वितयं मतम् ।
श्रद्धाऽपि द्विविधा लोके श्रोतृवक्तृविभेदतः ॥ ५ ॥

फलोपकार्यङ्गमेतन्नाऽधिकारे ततो विशेत् ।
विमर्शोऽपि द्विधा पूर्वमुत्पत्त्या चोपपत्तितः ।। ६ ।।
त्रिविधे द्वे ततस्तत्र षडध्यायास्ततो दश ।
तत्र तु प्रथमेऽध्याये कर्त्तव्यं विनिरूप्यते ।
वस्तुनस्तत्त्वनिर्द्धारो मानमेयविभेदतः ।। ७ ।।

कारिकार्थ— प्रथम स्कन्ध में तीन प्रकार के अधिकारी कहे गये थे । अब द्वितीय स्कन्ध में उनके कर्त्तव्य के निर्धार का निरूपण किया जाता है । जब कर्त्तव्य का निश्चय हो जाता है उसके अनन्तर ही क्रिया (लीला) के विषय की चर्चा होती है इसलिए द्वितीय स्कन्ध के आगे तृतीय आदि उत्तम स्कन्धों में उन (लीलाओं) को मैं कहूँगा । तीनों प्रकार के अधिकारियों के कर्त्तव्य के निर्धारण में तीन अङ्ग हैं । वस्तु निर्धारण पहला है फिर श्रद्धा और विमर्श है । इसके अनन्तर वस्तु निर्धार प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल से किया गया है । इसमें भी दो कोटि की गई है । प्रमाण प्रमेय की एक कोटि और फल तथा साधन की एक कोटि है । अतएव वस्तु निर्धार में दो अध्याय माने गये हैं । इसी तरह श्रद्धा भी श्रोता और वक्ता के भेद से दो प्रकार की है । श्रद्धा आनन्दानुभव रूप फल का उपकारी अङ्ग होने से अधिकार में उसकी गणना नहीं है । विमर्श भी उत्पत्ति और उपपत्ति भेद से दो प्रकार का है । इनमें प्रत्येक के तीन भेद हैं इसलिए उसके छः अध्याय हैं । इस तरह पूरे द्वितीय स्कन्ध के दस अध्याय हैं । उनमें पहले अध्याय में कर्त्तव्य का निरूपण है । प्रमाण और प्रमेय के भेद से इसमें वस्तु के तत्व का निर्धार है ।। १—७ ।।

आभास—पूर्वस्कन्धेऽधिकारनिरूपणे परीक्षितो मुख्याधिकारं निरूप्य तेन किं कर्त्तव्यमित्यपेक्षायां भगवत्कृपया सत्सङ्गे सति सर्वतत्त्वजिज्ञासार्थं प्रश्नः कर्त्तव्य इति प्रथमं प्रश्नद्वयं कृतम् । सर्वात्मना किं कर्त्तव्यं म्रियमाणैश्च किं कर्त्तव्यमिति । सर्वात्मना कर्त्तव्यं नाम यस्मिन्नकृते कोऽपि पुरुषार्थो न सिद्धयति तत्सर्वात्मना कर्त्तव्यम् । तत्राऽधिकारिणो न निर्द्धारिताः । ते चोत्तरदानसमये निर्द्धारणीयाः । म्रियमाणानां कर्त्तव्यनिर्द्धारो द्वितीयः । ये पुनः श्रोतव्यादिपञ्च पदार्थाः पृष्टास्ते यथायथमेतन्निरूपणेनैव निरूपिता भविष्यन्ति । कांश्चिदग्रे निरूपयिष्यामः । अतो द्वयं निरूपणीयम्— सर्वात्मना कर्त्तव्यं म्रियमाणैश्च कर्तव्यमिति । तदर्थं सर्वेषां वस्तूनां याथात्म्यं निरूप्यं फलमुखमङ्गं श्रद्धा निरूप्या विचारश्च निरूप्यः । एतेषामावश्यकत्वं तत्तत्प्रकरणे निरूपयिष्यामः । तत्र सर्वात्मना कर्त्तव्यनिर्द्धारं चतुर्दशश्लोकैराह—**वरीयानित्यादिभिः** । कर्त्तव्यनिरूपणात्पूर्वमभिनन्दनं कर्त्तव्यं प्रश्नस्य हेतुत्वार्थम् । यथा क्षुधितस्याऽन्नदानं तथा साकाङ्क्षस्य कर्त्तव्यकथनम् । अधिकारनिर्द्धारश्च कर्त्तव्यः । विशेषतः पूर्वं प्रश्नशेषतया अनिरूपणात् । प्रेक्षापूर्वकारिणां

प्रवर्त्तयन्फलमनिरूप्य विधिः प्रवर्त्तयितुं न शक्नोति । अतः फलनिर्द्धारार्थमधिकारो निरूपणीयः । तत्र दोषत्रयं निराकार्यम् । तदर्थं त्रयः श्लोकाः । तत्र प्रथमं प्रश्नमभिनन्दति—

आभासार्थ— पूर्व स्कन्ध (प्रथम स्कन्ध) में अधिकार के निरूपण में परीक्षित के मुख्याधिकार का निरूपण किया । अब उसे क्या करना है ? इस तरह कर्त्तव्य की जब अपेक्षा हुई तो उसे भगवान् की कृपा से सत्सङ्ग मिल गया । जब सत्सङ्ग मिल गया है तो सर्वतत्व की जिज्ञासा के लिए प्रश्न करना ही चाहिये । इसलिए परीक्षित ने सर्वतः प्रथम दो प्रश्न किये । प्रथम तो सब तरह से क्या करना चाहिये यह और दूसरा मरने वाले के लिए क्या करना चाहिये ये दो प्रश्न किये । सर्वात्मना कर्त्तव्यम् का तात्पर्य यह है कि जिसके किये बिना कोई भी पुरुषार्थ सिद्ध न हो सके । उसमें अधिकारी का निर्धार अपेक्षित नहीं है । इन सब का निर्धारण उत्तर देने के समय ही होगा । मरने वाले के कर्त्तव्य का निर्धारण द्वितीय प्रश्न है । परीक्षित ने पहले जो श्रोतव्य आदि पांच पदार्थ पूछे थे वे पांचों ही इन दो के निरूपण के अन्तर्गत हैं । अतः इन दो के निरूपण से ही उन पांचों का निरूपण हो जायगा और कुछ का निरूपण आगे करेंगे । इसलिए दो का ही निरूपण करना चाहिये । 'सब तरह से क्या करना चाहिये' और 'मरने वाले को क्या करना चाहिये' । उसके लिए सब वस्तुओं की यथार्थता का निरूपण करना पड़ेगा । फलाभिमुख अङ्ग और श्रद्धा का निरूपण करना पड़ेगा और उसके विचार का भी निरूपण करना होगा । इनकी आवश्यकता का उन-उन प्रकरणों में निरूपण करेंगे । उन दो प्रश्नों में पहले प्रश्न सर्वात्मना कर्त्तव्य का निर्धार वरीयान् इत्यादि चौदह श्लोकों से कहते हैं । कर्त्तव्य निरूपण के पहले प्रश्न का अभिनन्दन करना चाहिये । इसलिये वरीयानेष ते प्रश्नः इससे उस प्रश्न की प्रशंसा की । जिस तरह भूखे के लिए अन्नदान आवश्यक है उसी तरह आकांक्षा रखने वाले के लिए कर्त्तव्य का कहना भी आवश्यक है । अधिकार का निर्धार करना चाहिये । विशेषकर यह अधिकार निर्धार पूर्व प्रश्न का अङ्ग है, ऐसा निरूपण नहीं किया है । फल का निरूपण न कर केवल बुद्धिपूर्वक कर्म करने वाले को विधि (आज्ञा) कर्म में प्रवृत्त नहीं कर सकती । इसलिए फल निर्धार के लिए अधिकारी का निरूपण करना चाहिये । उस निरूपण में तीन दोष आते हैं उनका निराकरण करना चाहिये, उसके लिए तीन श्लोक हैं । उसमें पहले श्लोक में प्रश्न का अभिनन्दन (प्रशंसा) है—

श्रीशुक उवाच—श्लोक—**वरीयानेष ते प्रश्नः कृतो लोकहितो यतः ।**
आत्मवित्सम्मतः पुंसां श्रोतव्यादिषु यः परः ।।१।।

श्लोकार्थ— शुकदेवजी ने कहा—हे राजन्! तुमने जो मनुष्यों के हित करने वाला प्रश्न पूछा है वह आत्मज्ञानियों के लिए भी हितकारी है । वह प्रश्न श्रोतव्य आदि से भी श्रेष्ठ है ।। १ ।।

सुबोधिनी—वरीयानिति । श्रोतव्यादिषु प्रश्नेषु मध्ये यः प्रथमतः पृष्टः सर्वात्मना किं कर्त्तव्यमिति एष प्रश्नो **वरीयान्** श्रेष्ठः । उत्तमत्वे हेतुमाह । यतः स तु ते तवोपकाराय । अन्ये त्वन्येषाम् । अस्मिन्नर्थे महतां सम्मतिमाह—**आत्मवित्सम्मत इति ।** आत्मविदामप्ययं प्रश्नः सम्मतः । अनेनाऽत्र प्रश्नोत्तरे बुद्धेर्भरोदय इति सूचितम् । **किञ्च ।** पुंसां सर्वेषामेव विचारकाणां स्वतन्त्राणामयं प्रश्नः सम्मत इति सम्बन्धः । तस्मादत्रोत्तरं कथयिष्यामीति भावः ।। १ ।।

व्याख्यार्थ—श्रोतव्य आदि के प्रश्नों में जो तुमने सर्वतः प्रथम 'सर्वत्मना किं कर्त्तव्यम्' पूछा है । अत्यन्त श्रेष्ठ है । इस प्रश्न की उत्तमता का कारण यह है कि यह प्रश्न तुम्हारा उपकार करने वाला है । अन्य प्रश्न तो अन्यों का उपकार करने वाले हैं । इस विषय में महत्पुरुषों की सम्मति है यह 'आत्मवित्सम्मतः' से बताई है । यह प्रश्न आत्मज्ञानियों को भी सम्मत है । इस प्रकार के प्रश्न और उत्तर में बुद्धि की उत्तमता सूचित होती है और सभी विचारकों एवं स्वतन्त्रों के लिए भी ऐसा प्रश्न आदरणीय है । अतः इसका उत्तर अवश्य दूंगा ऐसा भाव है ।। १ ।।

आभास— इदानीं फलप्रेप्सुमधिकारिणं निर्द्धारयितुं सर्वेषामेकं कर्त्तव्यं नाऽस्तीत्याह—

आभासार्थ—इस समय फल को चाहने वाला अधिकारी कैसा है इसका निश्चय करना है क्योंकि सबका कर्त्तव्य एकसा नहीं होता—

श्लोक—**श्रोतव्यादीनि राजेन्द्र नृणां सन्ति सहस्रशः ।**
अपश्यतामात्मतत्त्वं गृहेषु गृहमेधिनाम् ।। २ ।।

श्लोकार्थ—हे राजेन्द्र! आत्मतत्त्व को जानने वाले और घरों में ही गृह कार्यों में लिप्त मनुष्यों के लिए सुनने आदि के विषय तो हजारों ही हैं ।। २ ।।

सुबोधिनी—श्रोतव्यादीनिति । अग्रिमप्रश्नानामनभिनन्दनाद्गौणता सूचितैव । तथापि यदि राज्ञस्तत्राऽऽकांक्षा दृढा भवेत्तदा प्रथमोत्तरमुच्यमानं न सम्यगवम्येत । अतोऽधिकारनिरूपणप्रस्तावे श्रोतव्यादीन्यपि निराकरोति । राजेन्द्रेति सम्बोधनात्—बहुविधाः पुरुषास्त्वयैव दृष्टा बहूनि च शास्त्राणि, तत्र तव तेषां वा न कोऽपि पुरुषार्थः सिद्ध इति तदनुभवस्य सम्मतिः प्रदर्शिता । प्रश्ने नृभिरिति वचनात्तज्ज्ञापनायोत्तरेऽप्याह । तर्हि तानि कुतो न वक्तव्यानि ? तत्राऽऽह—**सन्ति सहस्रश इति ।** मत्कथनात्पूर्वमेव मत्कथनमनपेक्ष्य सहस्रशः सन्ति । सामान्येषु स्वाभिप्रेतानामप्रवेशार्थमाह—**अपश्यतामात्मतत्त्वमिति ।** आत्मनस्तत्त्वमनारोपितं रूपम् । तच्छास्त्राभावादपश्यताम् । लोकव्यवहारेणाऽऽत्मा आरोपित एव दृश्यते देहादिरूपः संवलितो वा । ननु कथमुपाये विद्यमाने ते आत्मतत्त्वं न जानन्ति ? तत्राऽऽह—**गृहेषु गृहमेधिनामिति ।** तैर्विविक्तात्मस्वरूपं ज्ञात्वा किं कर्त्तव्यम् । ते हि गृहमेधिनः गृह एव पर्यवसितमतयः । तेषां गृहोपयोगि यद्भवेत्तदेव ज्ञातव्यम् । विविक्तात्मता तु गृहस्य बाधकः ।

अतो न ज्ञातव्यः । **गृहेष्विति** निमित्तसप्तमी तेषां गृहेषु बुद्धिरस्ति गृहैकनिष्ठा भविष्याम इति । अतो गृहाः प्राप्तव्याः । तस्माद्ययैव बुद्धया गृहसिद्धिस्तामेव बुद्धिं सम्पादयन्ति । सा च लोकसिद्धग्रन्थैरेव पुष्टा नाऽस्मद्वाक्यमपेक्षते । **अतस्त**द्विषयकस्तव प्रश्नो न साधुः । अनेन म्रियमाणविषयको यः प्रश्नः स न स्तुतो न वा निन्दित इति तदुत्तरमग्रे वक्ष्यतीति सम्भाव्यते ।। २ ।।

व्याख्यार्थ—आगे के प्रश्नों का अभिनन्दन श्री शुकदेवजी ने नहीं किया इसलिए वे प्रश्न गौण हैं यह सूचित होता है । तथापि राजा की आकांक्षा यदि उन गौण प्रश्नों के उत्तर सुनने की दृढ हो गई हो तो मुख्य प्रश्न का दिया हुआ उत्तर भी राजा ठीक तरह से नहीं समझ सकेगा । इसलिए अधिकार का जहां निरूपण किया है वहां श्रोतव्य आदि का निराकरण करते हैं । परीक्षित के लिए राजेन्द्र सम्बोधन दिया है उसका तात्पर्य यह है कि तुमने बहुत से पुरुष देखे हैं और बहुत से शास्त्र भी देखे हैं परन्तु उनसे तुम्हारा कोई पुरुषार्थ सिद्ध हुआ नहीं है । इसका अनुभव तुम्हें हो चुका है इस बात को प्रदर्शित करने के लिए है । मनुष्यों के लिए सुनने योग्य हजारों हैं इस वचन के कारण ही उत्तर मे भी उसी 'नृणां' का अनुवाद किया है । तो फिर जो प्रश्न पहले किये हैं उनका उत्तर क्यों नहीं दिया गया इसके उत्तर में सन्ति सहस्रशः ऐसा कहा अर्थात् मेरे कहने के पहले ही इस विषय के प्रश्नोत्तर हजारों हो चुके हैं । अतः उनका उत्तर देने की आवश्यकता मैं नहीं समझता । सामान्य प्रश्नों में अपने चाहे हुए प्रश्न नहीं है इसके लिए अपश्यतामात्मतत्त्वम् ऐसा कहा है । आत्मतत्त्व अनारोपित रूप होता है । उस अनारोपित रूप आत्मतत्त्व के समझाने वाले शास्त्रों का अभाव होने से आत्मतत्त्व का ज्ञान नहीं सकता । लोक व्यवहार में भी आत्मा आरोपित हो दिखाई देता है अथवा देह आदि रूप से संवलित (युक्त) ही प्रतीत होता है । जैसे 'मैं' से आत्मा लिया जाय तो वह मैं देह इन्द्रिय आदि रूपों से हो प्रतीत होता है । मैं गौरवर्ण हूं, श्यामवर्ण हूं,लंगड़ा हूँ यहां आरोपित रूप से ही है । आत्मा की प्रतीति शुद्ध रूप से हो रही है । यदि कोई यह शंका करे कि उपाय जब विद्यमान है तो लोग आत्मतत्त्व को क्यों नहीं जानते ? उसका उत्तर 'गृहेषु गृहमेधिनाम्' इससे दिया है । उन लोगों को अलग से आत्मतत्त्व को जानकर क्या करना है ? वे तो गृहमेधी है अर्थात् उनकी बुद्धि में तो घर ही सब कुछ है इसलिए उनको तो केवल घर के उपयोगी जो हो उसे ही जानना है । यदि वे आत्मा को सबसे अलग समझने लग जांय तो उनका घर ही समाप्त हो जायगा, घर से कोई प्रयोजन ही नहीं रहेगा । इसलिये वे आत्मा को नहीं जानना चाहते । गृहेषु में जो सप्तमी है वह निमित्तार्थक सप्तमी है, उनकी बुद्धि तो गृह (घर) निमित्तक ही है । अतः वे तो यह चाहते हैं कि हम केवल गृहनिष्ठ हो हों । अतः हमें घर प्राप्त करना चाहिये । इसलिए जिस बुद्धि से गृहसिद्धि (घर की प्राप्ति)हो वैसी ही बुद्धि का सम्पादन करते हैं । वैसो बुद्धि तो लौकिक ग्रन्थों से ही प्राप्त हो जाती है उसके लिए हमारे वचनों की अपेक्षा नहीं है । इसलिए उस विषय का तुम्हारा प्रश्न तो ठीक नहीं है । इससे मरने वालों को क्या करना चाहिये इस प्रश्न की श्री शुकदेवजी ने न तो प्रशंसा की और न निन्दा की इसलिए उस का उत्तर आगे कहेंगे ऐसी सम्भावना है ।। २ ।।

आभास—ननु केवलं गृहार्थे कथं तेषां बुद्धिः ? सद्बुद्धिसाधनानां विद्यमानत्वात् । तत्राऽऽह—

आभासार्थ—शंका होती है कि उनकी बुद्धि केवल घर के लिए ही क्यों है जबकि सद्बुद्धि के साधन विद्यमान हैं उस पर कहते हैं –

श्लोक—**निद्रया ह्रियते नक्तं व्यवायेन च वा वयः ।**
दिवा चाऽर्थेहया राजन् कुटुम्बभरणेन वा ।। ३ ।।

श्लोकार्थ—हे राजन् रात्रि की आयु तो नींद में अथवा स्त्री संग में समाप्त हो जाती है और दिन की आयु धनोपार्जन करने में अथवा कुटुम्ब के पोषण में बीत जाती है ।। ३ ।।

सुबोधिनी—**निद्रया ह्रियते नक्तमिति** । सत्सङ्गसाधनीभूतः समय एव वा तेषां नास्ति । तत्समयस्याऽन्यैरेवाऽपहारात् । तदाह । निद्रा चेष्टा चाऽर्द्धंश आयुर्हृतवत्यौ । तत्र निद्रया नक्तं वयो ह्रियते । रात्रिसम्बन्ध्यायुरज्ञानेन गच्छति । दिवा च दिनसम्बन्ध्यायुरर्थेहया गच्छति । अज्ञानादन्यथा ज्ञानाच्च सर्वमायुर्गच्छतीत्युक्तं भवति । ननु न सर्वा रात्रिर्निद्रया गच्छति ? तत्राऽऽह– **व्यवायेन च वेति ।** चकारात्तत्साधनेन । **वेति** प्रकारद्वयं परित्यज्य नाऽन्यः पक्षस्तेषु सम्भावितः । वय शब्देन पुरुषार्थसाधनीभूतमायुस्तारुण्यमेव । तच्चेद्गतं जरठः किं नु साधयेत् । बालो वा । **अर्थेहया ।** गृहस्य मूलं धनम् । चकारान्निदया । अर्थार्थं प्रयत्नेन सिद्धेऽर्थे कुटुम्बभरणेन वा । ३ ।।

व्याख्यार्थ– 'निद्रया ह्रियते नक्तम् । यदि मनुष्यों के पास समय हो तो वे सत्संग कर सकें किन्तु उनके पास कोई समय ही नहीं है । उनकी आयु का जो समय है उसे तो दूसरे ही छीन लेते हैं । उसी को कहते हैं । आयु को हरण करने वाले दो हैं । नींद और चेष्टा इन दोनों ही ने आधी-आधी आयु को छीन ली है । उनमें रात्रि की आधी आयु को नींद हर लेती है अर्थात् रात्रि सम्बन्धी आयु तो अज्ञान में ही चली जाती है और दिन सम्बन्धी आयु धन कमाने में चली जाती है । इस तरह रात्रि सम्बन्धी आयु अज्ञान में और दिन सम्बन्धी आयु विपरीत ज्ञान में बीत जाती इसलिए सारी ही आयु जब इन दो में बीत जाती है तो सत्सङ्ग के लिए कौनसा समय रहता हे ? यदि कोई शंका करे कि सारी रात्रि में कहां नींद बीतती है? इसका उत्तर यह है कि नींद में न सही स्त्रीसंग में बीतती है । अथवा स्त्रीसंग रूपी साधनों में बीत जाती है यह 'च' से द्योतित होता है । वा का अर्थ यह है कि इन दो प्रकारों को छोड़कर अन्य किसी पक्ष की संभावना नहीं है । वयः शब्द से यहां युवावस्था ही ली जाती है क्योंकि चारों प्रकार के पुरुषार्थों की सिद्धि का साधन यह ही आयु है । वह यदि नींद में और धन कमाने में घर के कामकाज में बीत गई तो फिर बुढ़ापे में क्या सिद्धि प्राप्त करेगा । बचपन में भी क्या कर सकता है । घर का मूलधन है इसलिए अर्थोपार्जन के लिए चेष्टा करनी ही पड़ती है । दिवा के आगे वाले 'च' से निद्रा का ग्रहण करना चाहिये । जब धन कमाने का प्रयत्न करता है उससे जब अर्थ प्राप्ति होती है तो फिर कुटुम्ब के पोषण में समय यापन करता है ।। ३ ।।

आभास—ननु वैराग्यसाधनानां जायमानत्वात्कथं तेषां गृहे विचिकित्सा न जायते ? तत्राऽऽह—

आभासार्थ—शंका होती है कि वैराग्य के साधन जब उपस्थित होते हैं तो फिर उन्हें घर से वैराग्य क्यों नहीं होता इस पर कहते हैं—

श्लोक—**देहापत्यकलत्रादिष्वात्मसैन्येष्वसत्स्वपि ।**
तेषां प्रमत्तो निधनं पश्यन्नपि न पश्यति ।। ४ ।।

श्लोकार्थ—देह, पुत्र, स्त्री आदि अपनी आत्मा के सहायक नहीं हैं फिर भी उनको अपने सहायक मानकर उनकी आसक्ति के कारण उनसे होने वाले अपने विनाश को देखते हुए भी नहीं देखता ।। ४ ।।

सुबोधिनी देहापत्येति । त्रयो गृहे मुख्याः। देहः पुत्रो भार्या च । तन्मूलका अन्ये । ते च स्वभावतो गुणतश्च दुष्टाः । यत आत्मनाशकाः। ये हि यस्य परिकरा भवन्ति ते तं पोषयन्ति । एत आत्मसैन्यान्यात्मानमेव शत्रुभिर्घातयन्ति । अतोऽसन्तः । ननु किमतो यद्येवम् ? एवमेतदित्याह । ते ह्यात्मघातदोषेण धनेन पोषिता निधनं प्राप्नुवन्ति । तदा दुष्टानां नाशादात्मनिष्ठो भवेत् । तदन्तःस्थदोषान्न जायत इत्याह—**प्रमत्त इति ।** यथा अत्यन्तं मदिरामत्तो गतमपि वस्त्रं स्पृशन्नपि देहं वस्त्रागमनं नाऽनुसन्धत्ते तथाऽयमपि मृतानपि तान् पश्यन् जीवत इव तदर्थं प्रयतते । तस्माद्बाह्यान्तरदोषव्याप्तत्वादायुषो वृथा क्षयाद्गृह एव पर्यवसितबुद्धित्वात्तेषां श्रोतव्यादि न प्रष्टव्यमित्यर्थः । **बुद्धिश्चाऽऽयुश्च दोषाणामभावः कारणं यतः । यस्य नैते भविष्यन्ति तस्य नाऽस्त्यधिकारिता ।। ४ ।।**

व्याख्यार्थ—घर में तीन मुख्य हैं-देह, पुत्र और स्त्री इन्हीं के सम्बन्ध से अन्य भी सम्बन्धी बनते हैं परन्तु वे सब स्वभाव से और गुणों से भी दुष्ट हैं क्योंकि ये आत्मा का विनाश करने वाले हैं । जो जिसके सेवक होते हैं वे उसका पोषण करते हैं । परन्तु ये तो आत्मा की सेना होते हुए भी कामक्रोधादि शत्रुओं के द्वारा आत्मा का विनाश करवाते हैं । अतः देह-अपत्य-स्त्री आदि दुष्ट हैं । यदि ये ऐसे हैं तो इससे क्या ऐसा प्रश्न हो तो उसका उत्तर यह है कि वे धन से पोषित होते हुए भी आत्मघात दोष से नष्ट हो जाते हैं । उस समय दुष्टों के नाश से उसको आत्मनिष्ठ होने का अवसर है । परन्तु अन्दर रहने वाले दोषों से वैसा हो नहीं सकता उसे कहते हैं 'प्रमत्तः' जैसे मदिरा के मद से भान भूला हुआ पुरुष शरीर से गिरे हुए वस्त्र को जानता ही नहीं । शरीर का स्पर्श करते हुए भी शरीर से गिरे हुए वस्त्र का अनुसन्धान नहीं करता । उसी तरह यह जीव भी आत्मघात दोष से भरे हुए उनको देखते हुए भी ये जीवित ही है । इस तरह उनके लिए प्रयत्न करता है । इसलिये बाह्य और आभ्यन्तर दोषों से व्याप्त होने के कारण उनको आयु का क्षय (विनाश) व्यर्थ ही होता है । वे तो घर में ही फंसे रहते हैं । अतः उनके लिए तो तुम्हें श्रोतव्य आदि का प्रश्न नहीं पूछना चाहिये । 'बुद्धि, आयु और दोषों का अभाव, ये तीन आत्मा का उद्धार कराने वाले हैं । यदि ये तीन जिसमें न हो तो वह आत्मोद्धार का अधिकारी नहीं हो सकता'।।४।।

आभास—एवं प्रश्नमभिनन्द्य साधरण्यं परिहृत्याऽभयमिच्छतामुपायमाह —

आभासार्थ—इस तरह परीक्षित के प्रश्न का अभिनन्दन करके और यह तुम्हारा प्रश्न साधारण नहीं है यह बताकर जो निर्भय होना चाहता है उसके लिए उपाय बताते हैं—

श्लोक—**तस्माद्भारत सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः ।**
श्रोतव्यः कीर्त्तितव्यश्च स्मर्त्तव्यश्चेच्छताऽभयम् ।। ५ ।।

श्लोकार्थ—इसलिए हे भारत! जो अभय होना चाहता है, उसे सबकी आत्मा, सबके दुःख को हरण करने वाले ऐश्वर्यगुणसम्पन्न भगवान् का श्रवण, कीर्त्तन और स्मरण करना चाहिये ।। ५ ।।

सुबोधिनी—तस्मादिति । यस्मादाद्य एव पक्षः समीचीन. यस्मादन्यविषयकश्चाऽसमीचीनस्तस्माद्येषां संसाराद्भयमस्ति तद्भयनिवृत्त्यर्थं च यतन्ते तेषामभयमिच्छतां भगवाञ्छ्रोतव्यः । यद्यप्यत्र युक्तिर्वक्तव्या तथापि बहिर्मुखस्य बुद्धिर्युक्तिमपि न गृह्णातीति स्वभावतोऽधिकारी वक्तव्यः । तदाह । **भारतेति** विशिष्टाधिकारद्योतकमुक्तविश्वासाय । **"दौष्यन्तिरत्यगान्मायामि"**ति भरतस्य मायामोहाभावात्तद्धर्मपुरस्सरं तद्वंशोत्पन्नानामपि म यामोहाभावादुक्तविश्वासः। ननु वैदिकविधिबोधितानामग्निहोत्रादीनामात्मजिज्ञासाया वा कथनं परित्यज्य कथ भगवच्छ्रवण विधीयते ? अवैदिकत्वात् । तत्राऽऽह—**सर्वात्मेति** । प्रमाणबलात्प्रमेयबलं महदित्यग्रे वक्ष्यते प्रमेये च युक्तिर्बलिष्ठा । तत्रैषा युक्तिः अभयप्रेप्सवस्त्रैवर्णिका एव भवन्तीति नाऽस्ति नियमः । अन्येषामपि कृतपुण्यपुञ्जानामभयेच्छासम्भवात् । अतस्तेषामुपायो वेदे नोक्त इति तदर्थं वक्तव्ये साधने तेनैव साधनेन त्रैवर्णिकानामपि पुरुषार्थसिद्धावावश्यकत्वाल्लाघवाच्च सर्वोपयोग्येक एवोपायो वक्तव्यः । स च सर्वात्मत्वाद्भगवतस्तद्विषय एव कश्चिद्वक्तव्यः । न हि स्वस्याऽऽत्मा कस्यचिन्न श्रोतव्यः। **"आत्मा वा अरे श्रोतव्यः" 'आत्मलाभान्न परं विद्यते" "तरति शोकमात्मविदि"** ति श्रुतेः । तत्र स्वस्वात्मश्रवणे बोध्यमाने बोधकस्य वाक्यापर्यवसानमेव स्यात् । आत्मसु प्रकृतिविकृतिभावाभावाच्च । तस्मात्सर्वेषामेको य आत्मा भवति स एव श्रोतव्यः । अतः श्रुतावप्यात्मपदं सर्वात्मपरम् । न च जातिवाचकत्वमात्मपदस्य । तथा सति व्यक्तिरूपस्य स्वस्य गौणत्वेनाऽश्रौतत्वात्क्रियावज्ज्ञानेऽनुपपत्त्यभावाच्च नाऽऽत्मनः कार्यं सिद्ध्येत् । सङ्घातेऽप्यात्मज्ञानस्य विद्यमानत्वाच्छ्रुतौ प्रकारविशेषस्याऽनुक्तत्वाज्ज्ञानार्थं प्रयासो व्यर्थं स्यात् । श्रुतिश्चोपचरिता भवेत् । अतः सर्वात्मैव श्रोतव्यः । तस्य शारीरस्य च भेदाभावान्न स्वस्य गौणता । किञ्च । **"फलमत उपपत्तेरि"**ति न्यायेन न केवलं ज्ञानमात्रेण फलम् । किन्तु श्रवणादिभिर्ज्ञाते ब्रह्मणि तत्फलं प्रयच्छति । तच्चेन्निर्द्धर्मकं शारीररूपं वा स्यात् फलदाने असमर्थमेव स्यात्। अतः फलदानसमर्थरूप एवाऽऽत्मा श्रोतव्य इत्याह— **भगवानिति** । षड्गुणैश्वर्यसम्पन्नो न तु भ्रान्तशास्त्रैः प्रतिपन्नः । वेदार्थोऽप्ययमेवेत्यवादिष्म । किञ्च । फलं दुःखाभावः सुखञ्च । तत्र प्रथमं दुःखाभावो मृग्यः । बुद्धेस्तत्रैव प्रथमं प्रवृत्तेः। तत्र श्रवणस्य तत्साध्यज्ञानस्य वैकफलत्वे सर्वफलत्वे वा आहारपृथक्त्वेन सर्वफलत्वनिर्द्धारात्प्रथमं जाते साक्षात्कारे दुःखनिवृत्तौ परमानन्दो न स्यात् । परमानन्दे वा स्वर्गादिसुखदुःखनिवृत्तिर्न स्यात्। सन्नियोगशिष्टत्वेऽपि फलदातृत्वाद्भगवतो द्वयं न प्रयच्छेत् । अन्यथा आहारपथक्त्वन्यायो भज्येत्।

अतः श्रवण एव तादृग्विषयो वक्तव्यः । यस्तूभयरूपो भवति । तदाह— **हरिरीश्वर इति** । हरित्वेन सर्वदुःखहर्तृत्वेनेश्वरत्वेन सर्वफलदातृत्वेन च श्रोतव्यः । "**तं यथा यथोपासत**" इति श्रुतेः । अतो धर्मचतुष्टययुक्तत्वेन गुणोपसंहारन्यायेन तादृशः श्रोतव्य इति विषयं व्यावर्त्तकधर्मैः परिच्छिद्य तत्र कर्त्तव्यमाह श्रोतव्यादित्रयम् । नन्वस्य शास्त्रस्य भक्तिफलकत्वाच्छ्रवणादिकं न धर्मरूपम् । उत्तमवक्तृकथनाच्च । अतो नवविधा भक्तिः कर्त्तव्यत्वेन वक्तव्या । तत्कथं त्रयमेवोच्यत इति चेत्? सत्यम् । नवविधभक्तेर्वक्तव्यत्वेऽपि प्रेमानन्तरभावित्वादन्येषां त्रयमेवोक्तम् । त्रिभिः स्नेहे जाते अन्येषां कर्त्तव्यता अनुक्तसिद्धैव । ननु भगवाञ्छ्रोतव्य इति कोऽर्थः । तद्वाचकाः शब्दाः श्रोत्रेण ग्राह्यास्तेषामर्थो वा ज्ञातव्यः । अभिप्रायो वा । सर्वेषां वा केषाञ्चिदेव वा । आद्ये विधिर्व्यर्थः । प्रमाणवस्तुपरतन्त्रत्वेन ज्ञानस्य श्रोत्रेन्द्रियवतो यतः कुतश्चिच्छब्द उच्चारिते ज्ञानं भविष्यत्येव गृहीतसङ्केतस्य तु पुनरर्थज्ञानमपि भविष्यति । न च तत्सम्पादने यत्नः कर्त्तव्य इति । दैवगत्या यत्नं विनाऽपि सर्वेषां तत्सम्भवात् । अथ सर्वदा? अशक्त्याऽसम्भवात् । जीवनानुपपत्तिश्च । किञ्च । भगवद्वाचकानां सर्वेषां पदवाक्यानामेकेनोपस्थापयितुमशक्यत्वाद्यत्किञ्चित्पदवाक्यमात्रस्य सर्वजनीनत्वादवक्तव्यत्वम् । अथ शक्तितात्पर्यनिर्द्धारः पदवाक्ययोः श्रवणम्। तथैव कीर्त्तन स्मरणं चेति चेन्न । सर्वेषां पदवाक्यानामनुपस्थितौ तन्निर्द्धारस्याऽशक्यत्वात् । यत्किञ्चित्पदवाक्यमात्रस्य तु शक्तितात्पर्यनिर्द्धारः सर्वजनीन इति नोपदेशो युक्त इति ? मैवम् । **श्रोतव्यविषयत्वेन लीला दशविधा पुनः। उक्तैव वासुदेवस्य तदर्थमपरा कृतिः । शक्तितात्पर्यनिर्द्धारः सामान्येन पदादिगः। क्रियते स्कन्ध एवाऽत्र तेन नाऽत्रोक्तदूषणम्** । भगवान् दशविधलीलायुक्तः श्रोतव्यः । अन्यथा विषयवाचकपदचतुष्टयेनैव श्रवणसिद्धेर्विधेर्वैयर्थ्य ? स्यात् । तृतीयादिदशस्कन्धकृतिवैयर्थ्यं च । तावता शक्तितात्पर्यनिर्द्धारः सामान्यन्यायेन व्याकरणवन्मीमांसावच्चाऽत्रैव क्रियते । तस्मान्न कोऽपि दोषः । एते हि चत्वारो गुणा अधिकारिफलनिरूपकत्वेनोक्ताः । न तु श्रोतव्यत्वेन । अवच्छेदकत्वेनैव तदुपयोगात् । गुणानामानन्त्येऽपि यथा दशलीलासु सर्वप्रवेशस्तथोत्तरत्र वक्ष्यते । अनुप्रवेशेऽपि यथाऽऽनन्त्यं तथाऽपि वक्ष्यते । अथाऽत्र त्रयं न विधातव्यम् । एकेनैव प्रेमद्वारा अभयसिद्धेः । न च मिलितानां त्रयाणां साधकत्वम् । परीक्षिति तदभावेनाऽभयाभावप्रसङ्गात्। श्रवणस्याऽऽवश्यकत्वाच्च न विकल्पेनाऽनेकविधानमिति वाच्यम् । अत्रोच्यते । त्रयाणामन्योन्यनिर्वाहकत्वेन विधानम् । तथाहि । कीर्त्तनाविधाने श्रवणमेव न निर्वहेत् । न चाऽध्ययनविधिवदेकविधानेनाऽन्यप्राप्तिरिति वाच्यम् । अध्यापनस्य सांसारिककर्त्तव्यत्वेन विधिं विनाऽपि वृत्तित्वेन प्राप्तत्वात् । न चाऽत्र तथा । श्रवणेन कृतार्थस्य कीर्त्तने प्रवृत्त्यनुपपत्तेः । तर्हि कीर्त्तनमेव विधीयताम्। श्रवणं त्वर्थादेव भविष्यतीति । न परीक्षिति तदभावात् । अभये वैलक्षण्याभावाच्च । तस्माच्छुकादीनामतिनिरपेक्षाणामपि कीर्त्तने प्रवृत्तिसिद्ध्यर्थं कीर्त्तनविधानम् । तदैव श्रवणसिद्धिः । फलं तु प्रत्येकमेव । अभयं तु भगवत्प्रवेशरूपम् । तदैव सर्वभयनिवृत्तेः । तर्हि स्मरणं न विधातव्यम् । न च श्रवणानन्तरस्मरणे विस्मरणात्कीर्त्तनानुपपत्तिरिति वाच्यम्। अन्यलभ्यत्वेन विध्यनुपपत्तेरिति चेन्न । सकृत्कृतकीर्त्तनस्याऽपि विस्मरणसम्भवान्न कीर्त्तनशेषत्वेन स्मरणमायाति । विहिते तु स्मरणे श्रवणकीर्त्तने सदा भवतः । दोषान्तराप्रवेशश्च । किञ्च । त्रयाणां देहपातपर्यन्तमावृत्तानामेवाऽभयसाधकत्वम् । उत्तरावधिर्देहपात एव । पूर्वावधिः संसारभयज्ञानम् । "**आवृत्तिरसकृदुपदेशादि**" ति न्यायेन स्मरणान्तरव्यावृत्त्यर्थम् । यद्यपि स्नेहे जाते आवृत्तिर्न विधातव्या । स्वत एव तत्सम्भवात् । अथाऽपि भरतव-

त्कदाचिदन्यासक्तिर्भवेत् । न च तथा सत्यधिकाराभावादेव विधिर्व्यर्थ इति वाच्यम् । तदभावार्थमेव विधानात् । तस्माद्यथासम्भवं देहपातपर्यन्तं त्रयाणामावृत्तिः कर्त्तव्या । ननु मनननिदिध्यासने कुतो न विहिते । ज्ञानं च साध्यत्वेन कुतो नोक्तम् । **"ज्ञानादेव तु कैवल्यमि"**ति श्रुतिविरोधश्च । न च ज्ञानस्याऽर्थात्सिद्धिः । तथा सति ज्ञानस्य व्यापारत्वं स्यात् । अत्र स्नेहस्य तथात्वेन विवक्षितत्वाच्चेति चेन्न । मनननिदिध्यासनयोरङ्गत्वेन श्रवणमध्यपातात्। तदत्रैवोत्तरत्र वक्ष्यते । ज्ञानं तु शाब्दं सिद्धमेव । प्रेम्णा क्रियमाणैस्त्रिभिर्भगवत्साक्षात्कारोऽपि सम्भवति । तथापि श्रवणादीनामेव कारणत्वम् । अन्तिमसाक्षात्कारस्य तु फलनान्तरीयकत्वात्फलमध्यपातः । न चाऽऽध्यात्मिकश्रवणवच्छ्रवणाद्याहितसंस्कारसध्रीचीनेन मनसा शारीरात्मसाक्षात्कारवद्भगवत्साक्षात्कारो वक्तुं शक्यः । **"नाऽहं वेदैरि"** ति वाक्यात् । न च शारीरसाक्षात्कार एव फलम् । सञ्जातादुद्गतस्य कैवल्यं प्राप्तस्य भगवच्छ्रवणे मुख्याधिकारात् **"एतावदरे खल्वमृतत्वमि"** ति ब्रह्मप्रकरणस्थत्वाद्ब्रह्मात्मविषयकमेव । भगवतश्च स्वतन्त्रत्वान्नाऽन्येन प्रकारेणाऽऽविर्भावः सम्भवति । यत्तु वाक्यात्स्वप्नवद्ब्रह्मात्मभावस्फूर्तिस्तेन वा सर्वाविद्यानिवृत्तिः स्वचरितार्थता वोच्यते । तज्ज्ञानदुर्बलानां मनोरथमात्रमेव । शुकसनकादीनामद्याऽपि परिभ्रमणात् । तस्मात्सायुज्य एव सर्वभयनिवृत्तिः । **"ब्रह्मैव सन्ब्रह्माऽप्येती"**ति श्रुतिश्च तमेवाऽऽर्थं वक्ति । न चोपनिषदां वैयर्थ्यम्। अस्यैवाऽर्थस्याऽधिकारिभेदेन प्रकारभेदेन विधानात् । फलं त्वेकमेव **"ते प्राप्नुवन्ति मामेवे"**ति वाक्यात् । **"वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य"** इति च । **"सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति"** **"तद्विष्णोः परमं पदमि"** ति च । **"तदेव ब्रह्म परमं कवीनामि"** ति च । तस्माद्वैदिकप्रकारेण भागवतप्रकारेण वा भगवति प्रवेशस्त्रैवर्णिकानाम् । अन्येषां तु भागवतप्रकारेणैव । न च व्यवस्थितविकल्पः । **"किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या"** इति वाक्यात् । **"क्लेशोऽधिकतरस्तेषामि"** ति च । अत एव श्रुतिविप्रतिषेधोऽपि नास्ति । शाण्डिल्यस्य तथा वचनं पूर्वं चित्तशुद्धिस्तथा न जातेति नोपनिषद्भिः फलोदयः । चित्तशोधकानां वैदिकमार्गे क्लेशसाध्यत्वात् । अतः स्वपक्षस्थापनामात्रपरत्वादितरपक्षनिन्दावचनानां न तावता श्रुतिविरोधः सम्भवति । तस्मात्सूत्रविचारानुसारिवैदिकमार्गेण भगवन्मार्गेण वा यथाधिकारं सर्वेषां परमपुरुषार्थप्राप्तेः सर्वमनवद्यम् । विधिविशेषविचारस्तु न कर्त्तव्यः । तव्यप्रत्ययस्य विधावविधानात्। लिङ्लोट्पञ्चमलकाराणामेव विधौ विधानात् । लोकवेदप्रसिद्धत्वाच्च । भगवतो नाऽत्र विधिः सम्भवति । भक्तिशास्त्रत्वाच्च । फलसाधनता तु तादर्थ्येन विधानात्समभिव्याहारादेव लभ्यते । वाक्यार्थस्याऽपूर्वत्वाद्भावनापक्षश्च पूर्वमीमांसाभाष्य एव निराकृतः । अयं च तव्यप्रत्यय आवश्यके विहितः— **"कृत्याश्चे"**ति सूत्रेण । प्रश्नानुगुणश्चाऽयम् । तस्माद्भगवत्प्रवेशार्थं यावज्जीवं यथासम्भवं त्रयाणामावृत्तिः कर्त्तव्येति सिद्धम् । श्रोतव्यः कीर्त्तितव्यश्च । कीर्त्तितव्यः श्रोतव्यश्च । स्मर्त्तव्यः पूर्वोक्तश्च । एवं प्रतिपादनार्थं च त्रयम् । **इच्छतेति** पदाच्छ्रवणाद्यकरणे अभयमेव न भविष्यति न तु तदकरणकृतः प्रत्यवायोऽपीति सूचितम् ।।५।।

व्याख्यार्थ— सर्वात्मना जो कर्त्तव्य है यह पक्ष ही ठीक है । अन्यविषयक पक्ष ठीक नहीं है इसलिए जिनको संसार से भय लगता है और जो भय की निवृत्ति के लिए यत्न करते हैं अभय चाहने वाले उनको भगवान् का श्रवण करना चाहिये । यद्यपि यहां युक्ति कहनी चाहिये परन्तु जो बहिर्मुख हैं उनकी बुद्धि तो युक्ति को भी नहीं मानती इसलिए स्वभाव से जो अधिकारी है उसे

बताना चाहिये इसलिये हे भारत! ऐसा पद दिया है। विशिष्ट अधिकार का बताने वाला 'हे भारत!' यह सम्बोधन है। मैंने जो कहा है उस पर तुम्हारा विश्वास है। 'दौष्यन्तिरत्यगान्मायाम्' इससे भरत में माया मोह नहीं था उसी प्रकार के धर्मपुरःसर उन्हीं भरत के वंश में उत्पन्न होने वालों में भी माया मोह का अभाव होने से तुम्हें मेरे कथन पर विश्वास होगा। शंका हो कि वैदिक विधि बोधित अग्निहोत्रादिकों के एवं आत्म जिज्ञासा के कथन को छोड़कर कैसे भगवान् के श्रवण का विधान किया जाता है। क्योंकि यह तो अवैदिक है। उस पर कहते हैं कि सर्वात्मा प्रमाण बल से प्रमेय बल महान् होता है ऐसा आगे कहेंगे। प्रमेय बल में युक्ति बलवती होती है। उसमें युक्ति यह है कि निर्भय होने वालों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ही हों ऐसा कोई नियम नहीं है। त्रैवर्णिकों से अन्य जिन्होंने पुण्य का संचय किया है उनमें भी निर्भय होने की इच्छा का उदय हो सकता है। वेद में तो केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन्हीं के लिए अभय होने का उपाय है अन्य के लिए उनमें उपाय नहीं कहा गया है तो फिर उनके लिए भी कोई साधन बताना पड़ेगा ही तो फिर उसी साधन से त्रैवर्णिकों का भी पुरुषार्थ सिद्ध हो जायगा तो लाघव होने से सभी के लिए उपयोगी एक ही उपाय कहना चाहिये। वह उपाय जब सब के लिए उपयोगी है तो वैसा ही कोई उपाय आपको कहना चाहिये। ऐसा तो कोई होगा नहीं कि जो अपने आत्मा के विषय में कुछ सुनना न चाहे। श्रुति में कहा है 'आत्मा का श्रवण करना चाहिये' 'आत्म लाभ से उत्कृष्ट और कोई वस्तु नहीं है' 'आत्मज्ञानी शोक से मुक्त हो जाता है'। वहां यदि यह मान लिया जाय कि अपनी-अपनी आत्मा का ही श्रवण किया जाय तो इतने से इस तरह की समझ कराने वाले का वाक्य अपूर्ण ही रहेगा। आत्माओं में प्रकृति और विकृति भाव नहीं होता इसलिए ऐसा मानना पड़ेगा कि सब की जो एक आत्मा होती है उसी को सुनना चाहिये। इसलिये श्रुति में भी जहां आत्मपद है उस जगह सबका जो एक आत्मा है वह लिया जाता है। यदि कोई कहे कि आत्मा शब्द जाति वाचक भी हो सकता है। जैसे कोई कहे कि तुम गाय की पूजा किया करो तो वहां केवल कोई एक ही गाय नहीं ली जाती किन्तु वहां जैसे गौ जाति का ग्रहण है उसी तरह यहां भी अपनी-अपनी आत्मा का श्रवण मान लिया जाय तो क्या हानि है? इसका उत्तर यह है कि व्यक्ति रूप जो अपना आत्मा है वह तो गौण है इसलिये श्रुति उस आत्मा के विषय में नहीं कहती है। जितने भी आत्मा है उन सब का ज्ञान किसी को हो नहीं सकता इसलिये आत्मा का कार्य सिद्ध नहीं होगा। सङ्घात (शरीर) में भी आत्मज्ञान विद्यमान है और श्रुति में आत्मज्ञान का कोई प्रकार कहा नहीं है तो फिर आत्मज्ञान के लिए किया जाने वाला प्रयास व्यर्थ होगा। श्रुति भी औपचारिक (गौण) हो जायगी। इसलिए सर्वात्मा(भगवान्) ही सुनने योग्य है। अलग-अलग शरीर की आत्माओं का उस आत्मा के साथ कोई भेद न होने से उसकी गौणता भी नहीं होगी। 'फलमत उपपत्तेः'। इस सूत्र से केवल ज्ञान मात्र से फल नहीं होता। किन्तु श्रवण आदि के द्वारा ब्रह्म का ज्ञान होने पर ही आत्मा (भगवान्)

फल देता है। यदि फल देने वाला आत्मा निर्धर्मक हो या शरीररूप हो तो वह फल देने में असमर्थ ही होगा। इसलिए फल देने में समर्थ रूप हो आत्मा श्रोतव्य है। अतः वह आत्मा षड्गुण ऐश्वर्य से सम्पन्न भगवान् है। आन्तशास्त्रों में स्वीकृत आत्मा जैसा आत्मा नहीं है। वेद का अर्थ भी यही है ऐसा हमने पहले कह दिया है। एक बात और यह है कि दुःखों का न होना और सुख की प्राप्ति होना ये ही तो आत्मज्ञान का फल हैं। उसमें पहले हमें दुःख का अभाव खोजना चाहिये। क्योंकि सबसे पहले बुद्धि यह चाहती है कि इससे दुःख की निवृत्ति होती है या नहीं। उसमें श्रवण और श्रवणसाध्य ब्रह्मज्ञान इन दोनों का एक ही फल अथवा सब फल है। आहार पृथक्त्व न्याय से सर्व फल निर्धार से पहले साक्षात्कार होने पर दुःख की निवृत्ति तो हो जायगी क्योंकि भगवान् हरिः हैं, सबके दुःखों को मिटाने वाले हैं परन्तु परमानन्द की प्राप्ति नहीं होगी। अथवा परमानन्द हो भी गया तो स्वर्गादि सुख-दुःख की निवृत्ति नहीं होगी। यदि कहो कि 'सन्नियोग शिष्टानां सदैव प्रवृत्तिः सदैव निवृत्तिः' इस परिभाषा से यदि होंगे तो दुःख निवृत्ति और सुख प्राप्ति ये दोनों ही होंगे और यदि नहीं होंगे तो दोनों ही नहीं होंगे ऐसा इस परिभाषा का आशय है परन्तु फल देने वाले भगवान् दो नहीं देते। अन्यथा आहार पृथक्त्व न्याय का भंग हो जायगा। इसलिये श्रवण को ही वैसा कहना चाहिये। जो उभयरूप हो अर्थात् दुःख का अभाव और सुख की प्राप्ति कराता हो ऐसा तो आत्मा (भगवान्) है। उसको 'हरिरीश्वरः' से बताया है। सब दुःख का हरण करने वाला होने से भगवान् को हरि कहा है और ईश्वर होने से सर्वफलदातृता है (सब फल का दान करने वाले हैं) इसलिए उनका श्रवण आवश्यक है। यह 'तं यथा यथोपासते' इस श्रुति से बताया है। इसलिए भगवान् जो सबकी आत्मा है, जो सबके दुःखों को दूर करता है और जो षड्गुण ऐश्वर्य से युक्त है, सब फलों को देने में समर्थ है ऐसे चार धर्मों से युक्त हैं। उन भगवान् का गुणोपसंहार न्याय से श्रवण करना चाहिये। इस तरह जो श्रोतव्य श्रवण करने योग्य विषय (भगवान्) है उसे विशेषणों द्वारा अलग करके उसके लिये क्या करना चाहिये उसे बताते हैं श्रोतव्यः कीर्त्तितव्यः स्मर्त्तव्यः श्रवण, कीर्त्तन और स्मरण करना चाहिये। यहां यह शंका हो सकती है कि इस भागवतशास्त्र का फल तो भक्ति है तो श्रवण, कीर्त्तन और स्मरण धर्मरूप नहीं हो सकते क्योंकि इस भागवत का फल भक्ति है ऐसा उत्तम वक्ता श्री शुकदेवजी ने कहा है। इसलिए नौ प्रकार की भक्ति करना चाहिये ऐसा कहना उचित है तो फिर श्रवण, कीर्त्तन और स्मरण इन तीन के करने का ही क्यों कहा इस शंका का उत्तर देते हैं। यह कहना ठीक है कि नवधा भक्ति करना चाहिये परन्तु भक्ति के श्रवण, कीर्त्तन और स्मरण के आगे के प्रकार प्रेम होने के अनन्तर ही होते हैं। अतः पहले इन तीनों के द्वारा जब स्नेह उत्पन्न हो जायगा तो भक्ति के आगे के प्रकार बिना कहे ही आ जायेंगे। यदि प्रश्न हो कि भगवान् सुनने योग्य है इसका क्या अर्थ है ? क्या भगवान् के वाचक शब्दों को कान से सुनना अथवा उनका अर्थ जानना यद्वा अभिप्राय समझना। इन सब को करना अथवा

किसी एक को,यदि केवल भगवान् के वाचक शब्दों को सुनना इतना ही अर्थ लिया जाय तो विधि व्यर्थ हो जायगी। ज्ञान(समझ) प्रमाण और वस्तु के अधीन है इसलिए जिसके कान है उसको कहीं से भी शब्द का उच्चारण होते ही ज्ञान होगा ही। जिसको वस्तु के संकेत का ज्ञान है उसे तो अर्थज्ञान भी हो जायगा। जैसे घड़ा रूप वस्तु में इस प्रकार की आकृति वाले को घड़ा कहा जाता है ऐसा संकेत ज्ञान है उसे घड़ा शब्द सुनते ही उस वस्तु का ज्ञान भी हो जायगा। यदि कहो कि जब ज्ञान हो जायगा तो उसकी प्राप्ति के लिए यत्न भी करना चाहिये। यत्न के बिना भी देवगति से सबके लिए श्रवण की प्राप्ति की सम्भावना हो सकती है। तो क्या श्रवण सर्वदा करना चाहिये ? नहीं अशक्ति के कारण सर्वदा श्रवण हो नहीं सकता। यदि कोई दिन-रात श्रवण ही करता रहेगा तो फिर उसे भोजनादि कहां से मिलेंगे और उसका जीवन निर्वाह कैसे होगा ? एक बात यह भी है कि भगवान् को कहने वाले जितने भी पद अथवा वाक्य हैं उन सबको तो एक ही पुरुष उपस्थित नहीं कर सकता तो कहना पड़ेगा कि थोड़े-बहुत जो भगवद्वाचक पद हैं उनको तो उपस्थित कर सकता है तब यत्किंचित् पद वाक्यों को उपस्थापित करना तो सभी में हो सकता है तब फिर श्रोतव्य: ऐसा कहना कहां तक उचित है ? शक्ति तात्पर्य निर्धार जैसे शब्द मात्र के सुनने से हो जाता है उसी तरह कीर्तन और स्मरण का निर्धार भी पदवाक्य के श्रवण से हो जायगा ऐसा कहना ठीक नहीं। सभी पद और वाक्यों की उपस्थिति होगी नहीं तो उनका निर्धारण भी अशक्य होगा और यदि कहा जाय कि यत्किञ्चित् पदवाक्य मात्र का निर्धार होना चाहिये तब तो इस तरह का शक्ति तात्पर्य निर्धार तो सभी को होता है फिर उसके लिए उपदेश उचित नहीं होगा ऐसा कहना ठीक नहीं। 'भगवान् वासुदेव की दस प्रकार की लीलाएं सुनने योग्य हैं। ये दस प्रकार की लीलाएं तृतीय स्कंध से द्वादश स्कंध तक हैं। इस द्वितीय स्कन्ध में तो सामान्य रीति से केवल इतना ही निर्णय किया गया है कि सब पद और वाक्य भगवद्वाचक हैं और विशेष लीलाओं का वर्णन तथा शक्ति तात्पर्य निर्धार अन्य स्कन्धों में किया गया है। अत: श्रवण का उपदेश उचित ही है। दशविधलीलायुक्त भगवान् श्रोतव्य हैं अन्यथा विषय वाचक पदचतुष्टय से हो श्रवण की सिद्धि हो जायगी। फिर उसके लिए श्रोतव्य: यह विधि व्यर्थ हो जायगी। तृतीय स्कन्ध से द्वादश स्कंधों की कृति व्यर्थ हो जायगी। इसलिए तात्पर्य का निर्धार सामान्य न्याय से व्याकरण एवं मीमांसा की तरह इस द्वितीय स्कंध में ही किया जा रहा है। अत: कोई दोष नहीं है। ये चार गुण अधिकारी के फलनिरूपण के लिए कहे गये हैं। श्रोतव्य रूप से नहीं कहे हैं। असाधारण धर्म के रूप में ही उनका उपयोग होता है। यद्यपि भगवान् के गुण अनन्त हैं परन्तु उन सबका समावेश दस प्रकार की लीलाओं में ही हो जाता है यह आगे कहा जायगा। समावेश हो जाने पर भी उन गुणों में अनन्तता रहती है यह भी आगे कहा जायगा। यहां श्रवण कीर्तन और स्मरण इन तीन का विधान नहीं करना चाहिये। केवल एक प्रेम के द्वारा ही अभय की सिद्धि हो जायगी। यदि कहो

कि ये श्रवणादिक तीन मिलकर ही अभय की सिद्धि करते हैं तो परीक्षित ने तो केवल श्रवण ही किया था इसलिए उसे अभय प्राप्ति नहीं होगी। उसे तो अभय प्राप्ति हुई थी। कीर्त्तन और स्मरण के पूर्व तो श्रवण की ही आवश्यकता है। अतः श्रवण का ही विधान आवश्यक है। श्रवण करो या कीर्त्तन करो अथवा स्मरण करो इस तरह विकल्प से अनेक का विधान ठीक नहीं है इस पर कहते हैं कि श्रवणादि तीनों ही एक-दूसरे के निर्वाहक हैं इसलिये तीनों का विधान उचित है। इसे इस तरह से समझिये कि यदि कीर्त्तन का विधान करें तो श्रवण का निर्वाह ही कैसे होगा? यदि कहो कि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इसमें केवल स्वाध्याय के विधान से ही विचार अध्यापन आदि अन्य की प्राप्ति हो जाती है उसी तरह यहां भी श्रवण के विधान से ही कीर्त्तन स्मरण की प्राप्ति हो जायगी ऐसा कहना ठीक नहीं। अध्यापन संसारी कर्त्तव्य है इसलिये विधि के बिना भी वृत्ति के बल से विचार और अध्ययन भी लिये जाते हैं। यहां तो वैसा है नहीं। जो केवल श्रवण से ही कृतार्थ हो जाता है उसकी कीर्त्तन में भी प्रवृत्ति हो इसमें कोई युक्ति दीखती नहीं तो फिर कीर्त्तन का ही विधान कर दीजिये, श्रवण तो अपने आप ही हो जायेगा। ऐसा कहना भी ठीक नहीं। परीक्षित ने तो श्रवण ही किया था कीर्त्तन कहां किया था। फिर भी उसे अभय की प्राप्ति हुई थी। अत्यन्त निरपेक्ष श्री शुकदेवजी की कीर्त्तन में प्रवृत्ति की सिद्धि के लिए कीर्त्तन का विधान किया है। यदि शुकदेवजी भागवत नहीं कहते तो परीक्षित का श्रवण कैसे सिद्ध होता? फल तो कीर्त्तन करने वाले शुकदेवजी को और श्रवण करने वाले परीक्षित को भी मिला। भगवान् में प्रवेश हो जाना इसे ही अभय कहते हैं। भगवान् में प्रविष्ट होने पर ही सब भय की निवृत्ति होती है। तो ठीक है श्रवण और कीर्त्तन दोनों की विधि तो आवश्यक है परन्तु स्मरण का विधान नहीं करना चाहिये। यदि कहो कि श्रवण के अनन्तर यदि स्मरण नहीं किया जायगा तो श्रवण की हुई बात को भूल जायगा तो फिर कीर्त्तन (कथन) कैसे करेगा ऐसा कहना ठीक नहीं है। भूल जाने पर भी जो पहले श्रवण किया है उसके द्वारा उसका स्मरण हो जायगा उसके लिए विधि की आवश्यकता नहीं है। यदि ऐसा कहा जाय तो उचित नहीं। एक बार कीर्त्तन (बोलने) से भी उसे भूल सकते हैं इसलिये स्मरण कीर्त्तन का अङ्ग है ऐसा नहीं कह सकते। जब स्मरण के लिए विधि हो तो स्मरण और कीर्त्तन सदा होते रहेंगे और अन्य किसी दोष का प्रवेश भी नहीं होगा और एक बात यह भी है कि श्रवण, कीर्त्तन और स्मरण इन तीनों की आवृत्ति मृत्यु पर्यन्त की जाय तो अवश्य ही ये अभय के साधक होंगे। संसार से भय होना यह पूर्व अवधि है और उत्तरावधि है। देहपात अर्थात् संसार में आने से लेकर मृत्यु पर्यन्त श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण आवश्यक है इसलिए ब्रह्मसूत्र में कहा है— 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' बार-बार उपदेश देने के लिए एक की ही अनेक बार आवृत्ति की जाती है। जैसे 'तत्वमसि श्वेतकेतो' इसकी उपदेश के लिए नौ बार आवृत्ति की है। यद्यपि स्नेह जब हो जाता है तब उसकी आवृत्ति नहीं करनी चाहिये क्योंकि आवृत्ति उसकी अपने आप ही होती रहती

है। भरतजी की जैसे हरिण में आसक्ति हो गई थी उसी तरह यदि भगवान् के अतिरिक्त अन्य में आसक्ति हो जाय तो और यदि कहो कि उनको जो हरिण में आसक्ति हुई थी वह तो अधिकार के अभाव के कारण हुई थी तब तो फिर यदि अधिकार नहीं है तो श्रवण, कीर्त्तन और स्मरण की विधि भी व्यर्थ हो जायगी ? ऐसा कहना ठीक नहीं। अधिकार बराबर बना रहे इसी के लिए तो श्रवण आदि की विधि है। इसलिए जहां तक सम्भव हो देहपात पर्यन्त श्रवण, स्मरण और कीर्त्तन की आवृत्ति करते रहना चाहिये। एक शंका यह होती है कि जिस तरह श्रवण आदि तीन के लिए विधि है उसी तरह मनन और निदिध्यासन के लिए विधि क्यों नहीं है साथ-साथ ज्ञान की भी विधि होनी चाहिये क्योंकि ज्ञान के बिना मनन और निदिध्यासन नहीं हो सकते। ज्ञान के लिए विधि न होने से 'ज्ञानादेवतु कैवल्यम' इस श्रुति का भी विरोध होगा। यदि ऐसा कहा जाय कि ज्ञान तो बिना विधि के ही ले लिया जायगा। यदि विधि के बिना ज्ञान का ग्रहण हो जायगा तो फिर ज्ञान में व्यापारता आ जायगी। यहां तो स्नेह में व्यापारता कही जा रही है ज्ञान तो फलरूप है। ऐसा कहना ठीक नहीं। ये मनन और निदिध्यासन श्रवण के अन्दर ही आ जाते हैं। अतः उनके लिए अलग से विधि की आवश्यकता नहीं है। ये बात आगे कही जायगी और ज्ञान तो शब्द के द्वारा होता है। अतः श्रवण से ज्ञान तो अपने आप ही सिद्ध है। प्रेम से किये जाने वाले श्रवण, कीर्त्तन और स्मरण से भगवान् का साक्षात्कार भी हो जायगा। तो भी उसमें कारण तो श्रवणादि ही हैं। अन्तिम साक्षात्कार तो फल से अलग नहीं है इसलिए उसका तो फल में ही समावेश हो जायगा। यदि कोई कहे कि आध्यात्मिक श्रवण की तरह श्रवणादि से शुद्ध संस्कार वाले मन से शारीर आत्मा के साक्षात्कार की तरह भगवान् का साक्षात्कार होता है ऐसा कहना चाहिये ऐसा नहीं कह सकते। 'नाहं वैदौर्न तपसा' इस गीता वाक्य से जो भगवत्प्राप्ति का निषेध किया है वह तो वेदोक्त श्रवणादि के द्वारा जिनका अधिकार नहीं है उनके लिए है। यदि कहो कि श्रवण का मुख्य फल शरीर सम्बन्धी आत्म साक्षात्कार है तो यह ठीक नहीं संघात (देह) से मुक्त होकर अक्षर ब्रह्मता को प्राप्त ही भगवान् श्रवण का मुख्य अधिकारी होता है। यह 'एतावदरे खल्वमृतत्वम्' इस ब्रह्म प्रकरण में पठित श्रुति से सबकी आत्मा जो भगवान् है उन्हीं का श्रवण के द्वारा साक्षात्कार होना फल बताया है। भगवान् स्वतन्त्र हैं इसलिए अन्य किसी साधन (वैदिक साधन) के द्वारा उनका आविर्भाव सम्भव नहीं। भक्तिमार्गीय श्रवण के द्वारा ही उनका साक्षात्कार हो सकता है और जो ऐसा कहते हैं कि 'तत्त्वमसि' वह तू है इस वाक्य के श्रवण से जगने के बाद जैसे स्वप्न की निवृत्ति हो जाती है उसी तरह तत्त्वमसि कहने से अपने में ब्रह्मात्म भाव की स्फूर्त्ति हो जायगी अथवा इस वाक्य से सब अविद्या की निवृत्ति हो जायगी और आत्मा की कृतकृत्यता हो जाती है। ऐसा कहने वाले ज्ञानदुर्बल हैं ये केवल उनका मनोरथ मात्र ही है। यदि केवल वह ब्रह्म तू है इतना सुनने मात्र से ही भगवत्प्राप्ति हो जाती हो तो शुकदेवजी जैसे और सनकादि जैसे आज तक भ्रमण

न करते वे अभी तक भगवत्साक्षात्कार के लिए घूम रहे हैं। अतः भगवत् सायुज्य से ही सब भय की निवृत्ति होती है। ब्रह्म होने पर ही ब्रह्म को प्राप्त होता है "ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्नोति' यह श्रुति भी इसी अर्थ को बता रही है। यदि भक्तिमार्गीय श्रवण से ही भगवत्साक्षात्कार होता है वैदिक मार्ग से नहीं होता है तब तो उपनिषद् सब व्यर्थ हो जायेंगे। यह बात नहीं है। इसी अर्थ को अधिकारी के भेद से और प्रकार भेद से वेदों में बताया है। फल तो दोनों का एक ही है। इसलिए गीता में स्पष्ट कहा है 'ते प्राप्नुवन्ति मामेव' वे सब मुझे ही प्राप्त होते हैं। 'वेदैश्च सर्वैरहमेववेद्यः' सब वेदों के द्वारा मैं ही जानने योग्य हूं और भी 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' 'तद्विष्णोः परमं पदम्' 'तदेव ब्रह्म परमं कवीनाम्' इत्यादि वचनों से सब के लिए एक ही को प्राप्तव्य बताया है। इसलिए इन सब का सार यह हुआ कि जो त्रैवर्णिक (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) हैं उनका भगवान् में प्रवेश वैदिक प्रकार से अथवा भागवत प्रकार से होता है और त्रैवर्णिक से अतिरिक्तों का भगवान् में प्रवेश केवल भागवत प्रकार से ही होता है। त्रैवर्णिकों से अतिरिक्तों का भागवत प्रकार से भगवान् प्रवेश होगा। त्रैवर्णिकों का भागवत प्रकार से भगवान् प्रवेश नहीं हो सकेगा ऐसा व्यवस्थित विकल्प यहां नहीं है त्रैवर्णिकों का भी भागवत मार्ग से भगवान् में प्रवेश हो सकता है इसमें गीता वाक्य प्रमाण है 'किं पुन ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा' 'क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् इत्यादि। इसलिए श्रुति विरोध भी नहीं है। शाण्डिल्य का जो वचन है उसका तात्पर्य तो यह है कि उसकी चित्त शुद्धि वैसी नहीं हुई थी इसलिए उसे पहले उपनिषदों के द्वारा फल प्राप्त नहीं हुआ था। कारण उसका यह है कि वैदिक मार्ग में जो साधन, चित्त के शोधक हैं, वे क्लेश साध्य हैं। अपने पक्ष का स्थापन करने वाले वाक्यों का तात्पर्य केवल अपने पक्ष को स्थापित करना मात्र ही है इसीलिए वे दूसरे पक्ष की निन्दा भी करते हैं उनके ऐसा कहने मात्र से कभी श्रुति विरोध सम्भव नहीं हो सकता। इसलिए ब्रह्मसूत्र के विचारानुसारी वैदिक मार्ग से अथवा भगवन्मार्ग से अपने-अपने अधिकार के अनुसार सभी को परम पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है इसमें कोई विरोध नहीं है। विधि विशेष का विचार तो नहीं करना चाहिये। क्योंकि श्रोतव्य आदि में जो तव्य प्रत्यय है उसका विधान विधि में नहीं है। केवल विधिलिङ्, लोट् और लेट्लकार का ही विधि में विधान है। भगवान् तो लोक और वेद में प्रसिद्ध है उनके लिए विधि की सम्भावना ही कैसे सम्भव हो सकती है। विधि तो अपूर्व बात को बताने में होती है और विधि तो वेद में होती है। भक्तिशास्त्र में विधि कैसी ? श्रवण, कीर्त्तन और स्मरण में जो फल साधनता है वह तो इसलिए है कि इनको उसी के लिए (भगवान् के ही लिए) किया जाता है। अतः समभिव्याहार से ही प्राप्त हो जाता है। वाक्यार्थ के अपूर्व होने से भावनापक्ष का निराकरण पूर्व मीमांसा भाष्य में ही कर दिया है। श्रोतव्यादि में जो तव्य प्रत्यय हुआ है वह विधि में नहीं है किन्तु कृत्याश्च' इस सूत्र से आवश्यक अर्थ में है और यह आवश्यकता प्रश्न के अनुगुण है। इसलिए भगवत्प्रवेशार्थ

जब तक जीवित रहे तब तक जितनी भी हो सके उतनी श्रवण, कीर्त्तन और स्मरण इन तीन की आवृत्ति करनी चाहिये ऐसा सिद्ध हुआ। अर्थात् सुनना और सुनाना, सुनाना और सुनना इसी तरह श्रवण और कीर्त्तन का स्मरण करना। इस बात का प्रतिपादन करने के लिए दो 'च' दिये हैं। इच्छता इस पद के कहने का तात्पर्य यह है कि श्रवण आदि के किये बिना निर्भता होगी ही नहीं। उसके न करने पर कोई पाप नहीं है यह बात भी इससे सूचित होती है ।। ५ ।।

आभास—श्रवणस्याऽङ्गत्वे श्रुतेः संवादित्वात्स्मरणकीर्त्तनयोः फलहेतुत्वं साधनीयं वादिविप्रतिपत्तिनिराकरणाय । तत्र प्रथममितरासापेक्षत्वात्स्मरणस्य फलसाधकत्वं साधयति—

आभासार्थ—श्रवण तो भगवान् के साक्षात्कार का अङ्ग है यह तो श्रुति से भी प्रमाणित हो गया किन्तु भगवत्साक्षात्काररूप फल में स्मरण और कीर्त्तन भी हेतु है इसे सिद्ध करना है क्योंकि इस विषय में भी वादी का विरोध दूर करना है। उसमें पहले जिसमें किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं है ऐसे स्मरण की फलसाधकता को सिद्ध करते हैं—

श्लोक—**एतावान्साङ्ख्ययोगाभ्यां स्वधर्मपरिनिष्ठया ।**
जन्मलाभः परः पुंसामन्ते नारायणस्मृतिः ।। ६ ।।

श्लोकार्थ—सांख्य योग और वर्णाश्रयादि धर्मों में निष्ठा होने पर भी पुरुषों के जन्म लाभ का श्रेष्ठ फल तो यही है कि अन्त में भगवान् नारायण की स्मृति होना ।। ६ ।।

सुबोधिनी—एतावानिति। पञ्च सिद्धान्ताः स्वतन्त्रतया विहिताः। तत्र श्रुतिवैष्णवौ समप्रधानत्वेनोक्तौ पशुपतिमतस्य कल्पभेदेन तामसपरत्वेनोत्कर्षजननद्वारा परम्परया यथायथमुपयोगः। क्रममुक्तिहेतुत्वेन वा। अतः परं साङ्ख्ययोगौ धर्मशास्त्रं च सर्वाङ्गत्वेन प्रतिपादितम्। स्वतन्त्रतया ब्रह्ममीमांसायां निन्दितत्वादन्यत्र प्रवेशमलभमानाः स्मरणशेषा भवन्तीत्याह। एतावान्पुरुषार्थ इत्यर्थः। बुद्धिस्थमेतच्छब्दार्थं विवृणोति—**अन्ते नारायणस्मृतिरिति**। अयमेव परो जन्मलाभः। स्वधर्मस्य पञ्चाग्निविद्याप्रकारेणोत्तमदेहजननं फलम्। तथा योगस्याऽपि। **"शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायत"** इत्यारभ्य **"अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्"** इत्युपसंहाराद्योगेनाऽप्यन्तिमो देहः साध्यते। साङ्ख्येऽपि—**"बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यत"** इति वाक्यात् **"ज्ञानिभ्योऽप्यधिको मत"** इति योगप्रशंसावाक्याच्चाऽन्तिमजन्मसाधकत्वमेव। भगवद्धर्माणामपि व्रतोपवासादीनां भगवदीयदेहसाधकत्वम्। अतोऽन्तिमदेहे सर्वे उपक्षीणाः। न च सोऽपि देहः स्वरूपभूतः सन्फलसाधकः। किन्तु **"अन्ते या मतिः सा गतिरि"**ति न्यायात् **"यं यं वाऽपि स्मरन्भावमि"**ति भगवद्वाक्याच्चाऽन्ते भगवत्स्मरणहेतुत्वेन तदुपयोगः। स चेदस्मदुक्तप्रकारेण यस्मिन्कस्मिंश्चिदपि देहे अन्ते भगवत्स्मरणं भवेत् तदा **"पूर्वात्परबलीयस्त्वमि"**ति न्यायेन स एव देहोऽनन्तिमोऽप्यन्तिमत्वमापद्यमानो लाभत्वेन सम्पद्यते। योगादयश्च स्वस्वमार्गेण दूरफलाः सन्तोऽत्रैव

प्रविशन्ति । अतो देहसाधकानां योगादीनां देहस्य चाऽयमेव लाभो यदन्ते नारायणस्मृतिरिति । अतोऽस्य साक्षाद्भगवत्प्रवेशहेतुत्वान्नाऽत्र विधिशेषतया श्रुतिसंवादोऽपेक्षितः । यद्यपि भगवदीयत्वमपि जन्मलाभस्तथापि ततोऽप्ययं परः । ननु **"अपवर्गमात्यन्तिकं परमपुरुषार्थमपि स्वयमासादितं नो एवाऽऽद्रियन्ते भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्था"** इति वाक्यविरोध इति चेत् ? तत्राऽऽह—**पुंसामिति** । भगवदीयत्वं हि साक्षाद्भगवदनुगृहीतानां पुष्टिमार्गीयाणां जन्मलाभरूपमित्युच्यते । इदं तूक्तसाङ्ख्यादिमार्गाणां प्रावाहिकमर्यादामार्गरूपत्वात्तन्निष्ठानामपि तथात्वादन्ते या मतिरिति न्यायेनाऽन्ते भगवत्स्मृतौ तत्प्राप्तिर्भवतीति तस्यास्तथात्वमुच्यत इति नोक्तविरोधः । **पुंसामिति** । साधारणानामपीत्यर्थः । अतो महाफलत्वात्स्मरणस्य सर्वदा भगवान्स्मर्त्तव्य इति सिद्धम् ।। ६ ।।

व्याख्यार्थ—स्वतन्त्र रूप से पांच सिद्धान्तों का विधान है । उनमें वेदमार्ग और पाञ्चरात्र ये दोनों इन पांचों में मुख्य है और श्रुतिमार्ग तथा पाञ्चरात्र दोनों ही समान हैं । तीसरा पशुपति मत है वह तामसों के लिए है और कल्पभेद से तामसों में उत्कृष्टता तो उत्पन्न करके परम्परा से वैदिक अथवा वैष्णव मत में वह उपयोगी होता है अथवा यह मत क्रम मुक्ति का कारण है । इसके आगे है सांख्ययोग और धर्मशास्त्र इनका प्रतिपादन तो वैदिक और वैष्णव मार्ग के अङ्गरूप से किया जा चुका है । स्वतन्त्र रूप से ब्रह्ममीमांसा में निन्दित होने के कारण इनका प्रवेश हो नहीं सकता है इसलिए ये केवल स्मरण का अङ्ग बन सकते हैं । अर्थात् अन्त में भगवान् नारायण का स्मरण करा देना इतना पुरुषार्थ इनके द्वारा हो जाता है । बुद्धिस्थ एतत् शब्द का विवरण करते हैं—'अन्ते नारायण स्मृतिः' अन्त में नारायण का स्मरण हो जाना ये ही तो जन्म लेने का परम लाभ है । पञ्चाग्निविद्या के प्रकार से उत्तम देह को जन्म देना ये स्वधर्म का फल है । योग का फल भी यही है । भगवद्गीता में 'शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते' यहां से लेकर 'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्' इस उपसंहार से योग के द्वारा भी अन्तिम देह सिद्ध किया जाता है । सांख्य में भी बहुत जन्मों के अन्त में ज्ञानी मुझे प्राप्त होता है 'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते' इस वाक्य से और ज्ञानी से भी अधिक योगी है 'ज्ञानिभ्योऽप्यधिको मतः' योग की प्रशंसा करने वाले इस वाक्य से भी योग अन्तिम जन्म का साधक होता है यह बताया है । व्रत उपवास आदि जो भगवद्धर्म हैं वे भी भगवदीय देह के साधक होते हैं । इसलिए अन्तिम देह जब प्राप्त हो जाता है तब ये सब अनुपयोगी हो जाते हैं । यह बात भी नहीं है कि वह देह स्वरूपभूत होता हुआ फलसाधक बन जायगा किन्तु अन्त में जैसी बुद्धि होती है वैसी हो गति होती है 'अन्ते मतिः सा गतिः' इस न्याय से और 'यं यं वापि स्मरन्भावम्' इस गीतावाक्य से अन्तिम देह का उपयोग अन्तिम में भगवान् के स्मरण में होता है और वह देह हमारे बताये गये प्रकार से जिस किसी देह में अन्त में भगवान् का स्मरण होता है तब पूर्व से पर में बलिष्ठता रहती है 'पूर्वात्परबलीयस्त्वम्' इस न्याय से वह देह ही अन्तिम न होते हुए भी अन्तिमता को प्राप्त होता हुआ लाभरूप से सम्पन्न हो जायगा । योग सांख्य आदि भी अपने-अपने मार्ग के अनुसार फलप्राप्ति कराने में दूर होते हुए भी उनका प्रवेश भी इसी में हो जायगा । इसलिए देह के साधक जो योग आदि हैं उनसे सिद्ध हुए देह के लिए भी अन्त में नारायण की स्मृति होना ही लाभ है । इस तरह के जन्मलाभ को जो साक्षात् भगवत्प्रवेश का हेतु हो उसे यह विधि का अंगभूत है इस प्रकार की श्रुति की संमति अपेक्षित नहीं है । यद्यपि भगवदीय होना भी जन्मलाभ कहलाता है तथापि उससे भी श्रेष्ठ तो ये ही है कि जिस

जन्म में अन्त में भगवान् की स्मृति हो। मोक्षरूप अतिश्रेष्ठ परम पुरुषार्थ जो स्वतः प्राप्त होता है भगवदीय उसका भी आदर नहीं करते क्योंकि भगवदीय होने में ही वे अपने लिये सब पुरुषार्थों की सिद्धि मान लेते हैं 'अपवर्गमात्यन्तिकं परम पुरुषार्थमपि स्वयमासादितं नो एवाद्रियन्ते भगवदीयत्वे नैव परिसमाप्त सर्वार्थाः' इस वाक्य का विरोध होगा। ऐसी शंका न उठाना क्योंकि यहां 'पुंसां' ऐसा पद दिया है। उसका तात्पर्य यह है कि जिनके ऊपर भगवान् का अनुग्रह है ऐसे पुष्टिमार्गीय जीवों का भगवदीयत्व जन्मलाभ रूप है ऐसा कहा गया है। परन्तु यह तो ऊपर कहे गये सांख्यादि मार्गों का जो कि प्रावाहिक मर्यादा मार्गरूप है उनमें जिनकी निष्ठा है उनके लिए वैसा होने से अन्त में जैसी बुद्धि होती है वैसी गति होती है इस न्याय से अन्त में भगवान् की स्मृति होने पर भगवत्प्राप्ति होती है यह इनके लिए कहा गया है। अतः पूर्वोक्त विरोध यहां नहीं आ सकता। पुंसाम् से साधारण पुरुषों का लेना। इसलिए भगवत्स्मृति महान् फल को देने वाली होने से सर्वदा भगवान् का स्मरण करना चाहिये यह बात सिद्ध होती है ॥ ७ ॥

आभास—इदानीं कीर्त्तनस्य तथात्वं साधयति—

आभासार्थ—कीर्त्तन भी स्मरण की तरह ही है इसे अब सिद्ध करते हैं—

श्लोक—**प्रायेण मुनयो राजन्निवृत्ता विधिषेधतः।**
नैर्गुण्यस्था रमन्ते स्म गुणानुकथने हरेः ॥ ७ ॥

श्लोकार्थ—हे राजन्! प्रायः जो मुनि विधि निषेध से निवृत्त हो चुके हैं और निर्गुण भगवान् में ही रमण करते हैं वे भी भगवान् के गुणों के कथन में तो आनन्दानुभव करते हैं ॥ ७ ॥

सुबोधिनी—**प्रायेणेति**। कीर्त्तनं तु ततोऽप्यधिकम्। येषामन्तिमं जन्म जातं ये च जीवन्मुक्ताः केवलं गुणातीत एव व्यवसिताः पुनरावृत्तिसम्भावनारहितास्तेऽपि हरेर्गुणानुकथने श्रवणानन्तरभाविनि कीर्त्तने परमानन्दरसमुपलभमानाः साधनदशायामेवैवं सुखमेतत्साध्यफलदशायां कीदृशं सुखं भविष्यतीति मन्यमाना रमन्ते। स्मेति प्रसिद्धे। केचन पुनर्मनन एव पर्यवसितमतयः असम्प्रज्ञातसमाधयो वा तस्मिन्नेव सुखे स्थिताः। तेऽपि उत्थानाभावान्न रमन्ते। तद्व्यावृत्त्यर्थं प्रायग्रहणम्। **राजन्निति** सम्बोधनं तथाभूतशमीकस्मरणाय। अत्र विषयरसादेव तथा रमणम्। न तु कृतेर्धर्महेतुत्वेन। ते हि कृतिगुणदोषसम्बधरहिताः। तदाह—**निवृत्ता विधिषेधत इति**। विधिसहितान्निषेधान्निवृत्ताः। "**द्वयं तथा ब्रह्मणि कर्म नर्च्छती**" ति न्यायेन ब्रह्मभूता अपि। "**दोषबुद्ध्योभयातीत**" इति वाक्यात्। विधिसहितनिषेधकथनेन चैतज्ज्ञापयति "**बुधो बालकवत्क्रीडेदि**" त्यादिवाक्यानि यद्यपि विधिरूपाणि तथाप्यस्याऽग्रे निषेधाभावान्न तेषां ग्रहणमिति। नैर्गुण्ये गुणत्रयातीते स्वस्मिन्नेव स्थिताः। विरोधाभासबोधनार्थं गुणग्रहणम्। तस्मात्स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वात्कीर्त्तने शङ्काऽपि न कर्त्तव्या ॥ ७ ॥

व्याख्यार्थ—कीर्त्तन तो स्मरण से भी अधिक है। जिनका अन्तिम जन्म हो गया है और जो जीवनमुक्त हो चुके हैं और गुणातीत ब्रह्म में ही जिनकी बुद्धि निश्चित हो चुकी है जिनकी पुनरावृत्ति की संभावना भी नहीं है वे भी श्रवण के अनन्तर होने वाले भगवान् के गुणों के कीर्त्तन में परम आनन्द को प्राप्त होते हुए साधनदशा में ही जब भगवान् के गुणों के वर्णन में इतना सुख होता है तो साध्य की फलदशा में कैसा सुख होगा ऐसा मानते हुए आनन्द का अनुभव करते हैं। यह बात प्रसिद्ध है इसको बताने के लिए स्म पद दिया है और कुछ तो मनन ही को अन्तिम फल मान लेते हैं अथवा असंप्रज्ञात समाधि में स्थित होकर उसी सुख में लीन हो जाते हैं। वे उस स्थिति से अलग ही नहीं हो सकते इसलिए भगवान् के गुणानुवर्णन का आनन्द नहीं ले सकते। अतः उनके अतिरिक्त जो मुनि हैं वे ही भगवान् के गुणानुवाद के श्रवण में आनन्द लेते हैं इसको सूचित करने के लिए प्रायः ऐसा पद दिया है। राजन् यह सम्बोधन इस बात को बताता है कि इसका (असंप्रज्ञात समाधि का) अनुभव तुमने शमीक ऋषि से जान ही लिया था इसका स्मरण कराने के लिए दिया है। भगवान् के गुण ही ऐसे हैं कि उनके कथन में अनुराग के कारण वे उनके कथन में आनन्दानुभव करते हैं। न कि अपनी कृति के धर्म के कारण ऐसा करते हैं। वे मुनि तो कृति के गुणों और दोषों के सम्बन्ध रहित हैं उसको निवृत्ता विधिषेधतः से बताया है। अर्थात् विधि सहित निषेध से वे परे हो चुके हैं 'द्वयं तथा ब्रह्मणि कर्म नर्च्छति' इस न्याय से ब्रह्मभूत होते हुए भी 'दोषबुद्ध्योभयातीत.' इत्यादि वाक्य से विधिनिषेध से परे होते हुए भी भगवान् के गुणानुकथन में रमण करते हैं। जिस तरह बालक किसी भी विधि या निषेध को जानता नहीं है उसी तरह विधि निषेध से परे जो मुनि हैं वे 'बुधो बालकवत् क्रीडेत्' की स्थिति में रहते हैं। यद्यपि कुछ लोग क्रीडेत् पद को देखकर इसे भी विधिरूप कहेंगे परन्तु इसका आगे कहीं निषेध बताया नहीं है अतः इसे विधि रूप से नहीं लिया जा सकता। ये मुनि तो गुणत्रयातीत स्वयं अपनी आत्मा में ही स्थित हैं। यह विरोध जैसा लगता है परन्तु यह तो विरोधाभास है इसको समझाने के लिए गुण का ग्रहण किया है। इसलिए कीर्त्तन जो स्वतन्त्र पुरुषार्थ रूप है उसके विषय में कोई शंका नहीं करनी चाहिये ।। ७ ।।

आभास—एवं युक्त्या द्वयं समर्थयित्वा त्रयस्याऽपि पुरुषार्थसाधकत्वे साधिते युक्तिमूलकमिदमप्रामाणिकमिति शङ्का स्यात्। तन्निवृत्त्यर्थमाह—

आभासार्थ—इस तरह युक्ति से दोनों का समर्थन करके तीनों ही पुरुषार्थ के साधक हैं ऐसा सिद्ध कर देने पर भी यह शंका हो सकती है कि यह सब तो युक्ति से सिद्ध किया गया है इसलिए अप्रामाणिक है इस शंका को दूर करने के लिए कहते हैं—

श्लोक—**इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम्।**
अधीतवान्द्वापरादौ पितुर्द्वैपायनादहम् ।। ८ ।।

श्लोकार्थ—यह भागवत पुराण वेद के समान है। मैंने अपने पिता द्वैपायन से द्वापर के आदि में इसे पढ़ा था ।। ८ ।।

सुबोधिनी—**इदमिति** । **पुराणमिति** प्रमाणम् । **भागवतं नामेति** तदवान्तरभेदः । यौगिकश्चाऽयम् । तेन भगवता प्रोक्तं भगवत्प्रतिपादकं भगवत्फलकं चेति । अस्य दुर्बलत्वं वारयति । ब्रह्मणा वेदेन सम्मितम् । परब्रह्म वा सम्यङ्भितं ज्ञातंयत्र । गुरुपरम्परामाह—**पितुर्द्वैपायनादिति** । तदानीन्तनकालस्य प्राणिबुद्धिनाशकत्वयाऽऽह—**द्वापरादाविति** । द्वापरस्याऽऽदौ । तदानीमपि द्विपरा बुद्धिर्न जाता । **अधीतवानिति** वेदवन्नियमेनाऽर्थावबोधपूर्वकमध्ययनमुक्तम् । **पितुरिति** । "**पितैवोपनयेत्पुत्रम**" ति न्यायेन उपनयनाध्यापनयोरेककर्त्तृकत्वादध्ययनप्रकारः सर्वोऽपि सुसम्पन्न इति सूचितम् ।। ८ ।।

व्याख्यार्थ—यह भागवत पुराण है इसलिए प्रमाणरूप है । पुराणों में यह भागवत नाम वाला पुराण है । भागवत शब्द यौगिक है भगवता प्रोक्तं भगवान् ने जिसे कहा या भगवान् का प्रतिपादन करने वाला अथवा भगवान् ही जिसका फल है । यह दुर्बल हो ऐसा नहीं है । वेद के बराबर है । अथवा परब्रह्म का ज्ञान जिसमें है । इसकी गुरु परम्परा को कहते हैं मेरे पिता द्वैपायन ही मेरे गुरु थे । जिस समय मैंने भागवत पुराण का अध्ययन किया था उस समय का काल प्राणियों की बुद्धि का नाशक था उसे बताते हैं । द्वपरादौ द्वापर के आदि में । उस समय में मनुष्यों की बुद्धि द्विपरक (सन्देहजनक) नहीं हुई थी । अधीतवान् का अर्थ है कि मैंने भागवत को वेद की तरह नियम से और अर्थ को समझकर पढ़ा था ।

पितुः यह पद इस बात का द्योतक है कि पिता ही पुत्र का उपनयन (यज्ञोपवीत) करे । इस न्याय से उपनयन भी पिता ने किया और पढ़ाया भी उन्हीं ने इसलिए सारा का सारा अध्ययन प्रकार सुसम्पन्न हुआ ऐसा सूचित होता है ।। ८ ।।

आभास—नन्वस्याऽध्ययनस्य वेदवत्सामग्रीश्रवणादिदमपि विचार्यमेव । अतो नाऽनेन केवलेन निर्द्धारितार्थः प्रतिपत्तुं शक्य इत्याशङ्क्याऽऽह—

आभासार्थ—यदि कहो कि भागवत के अध्ययन की सामग्री भी वेद की तरह ही है तो उसका भी विचार करना ही चाहिये । इसलिये केवल भागवत के अध्ययन से निर्धारित अर्थ की समझ नहीं हो सकती इस आशंका का उत्तर देते हैं—

श्लोक—**परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्य उत्तमश्लोकलीलया ।**
गृहीतचेता राजर्षे आख्यानं यदधीतवान् ।। ९ ।।

श्लोकार्थ—हे राजर्षे ! मैं निर्गुण ब्रह्म में निष्ठा वाला होते हुए भी उत्तम श्लोक भगवान् (श्रीकृष्ण) की लीलाओं की ओर मेरा मन खिंच गया जिससे इस भागवत को मैंने पढ़ा ।। ९ ।।

सुबोधिनी—परिनिष्ठितोऽपीति । ममाऽऽध्ययनं न बालवत् । किन्तु विचारपूर्वकम् । प्रथमोऽधिकार एव मया विचारितः । ममेदं कर्त्तव्यं नवेति । तत्र सर्वस्याऽप्यध्ययनस्य— **"आत्मलाभान्न परं विद्यत"** इत्यादिश्रुतिभिरात्मपर्यवसानाद्गुणातीतसमाधिरूपे नित्यं स्थितः सन्। भागवतस्य च रसमनुभूय तस्याऽप्राकृतत्वं ज्ञात्वा यथा ब्रह्मणि लीनो न समाध्यवस्थां भजते तथा ब्रह्मरसादप्यधिकरसत्वाद्गुणैर्गृहीतचेताः आख्यानमधीतवान् । आकरस्थो यो रसः स स्वस्थाने स्थितः स्वस्मिन्नागतान्प्रति न स्वात्मानं तथा प्रकाशयति । किन्तु केवलधर्मरूपेण प्रकटः। नृत्ये पात्रस्थपेयजले च दर्शनात् । यदा भगवांल्लीलारूपेण प्रकटो जातस्तदा तस्यां लीलायां यो रसः स एव रसो ब्रह्मणि परं नाऽभिव्यक्त इति निश्चित्य किमर्थं तदाशया स्थीयते तदपेक्षयाऽपीदानीमेव रसः कथं न पीयत इति विचारसहितलीलया गृहीतचित्तत्वम् । इममर्थमाह—**उत्तमश्लोकेति** । उत्तमैः श्लोक्यत इति भगवानुत्तमश्लोकः। गुणकरणादेव भगवतः स्तोत्रमपि जनैः सह सम्बन्धोऽपि । तस्माद्यः कश्चन भगवत्स्वरूपात्मको रसो निरतिशयत्वेऽपि सातिशयः स्वाऽभिव्यक्त्या भोक्तव्य इति येषामिच्छा तैर्लीला श्रोतव्येति निर्द्धार्य मया श्रोतव्यरसाभिज्ञेन आख्यानमधीतमित्यर्थः । **राजर्ष इति** सम्बोधनं यथा ऋषिदशायां राजत्वरसस्फूर्त्तिरधिका ज्ञानमिश्रत्वान्मान्यताधिक्याच्च तथेदमपीति युक्तौ सम्मतिरुक्ता । अनेन मर्यादात्वेऽपि पुष्टिरूपमिदमित्युक्तम् ।। ९ ।।

व्याख्यार्थ—मेरा पढ़ना कोई बच्चों को तरह पढ़ना नहीं था किन्तु विचारपूर्वक मैंने पढ़ा। पहले तो मैंने अधिकार का हो विचार किया। मुझे इस भागवत का अध्ययन करना चाहिये या नहीं इस पर 'आत्मलाभान्न परं विद्यते' आत्मज्ञान से उत्कृष्ट और कोई नहीं है इत्यादि श्रुतियों से सारे ही अध्ययन का उपयोग आत्मलाभ पर्यन्त होना चाहिये। अतः मैं गुणातीत समाधिरूप में स्थित होते हुए भो भागवत के रस का अनुभव करके उसकी अप्राकृतता को जानकर जैसे ब्रह्म में लीन योगी फिर समाधि अवस्था का सेवन नहीं करता उसी तरह मैंने भी ब्रह्म रस से भी अधिक रस वाली भगवल्लीलाओं के गुणों से आकृष्ट चित्त होकर इस भागवत का अध्ययन किया। जो रस अपने आश्रय में अपने स्थान में अपने में ही स्थित रहता है वह रस अपने पास आये हुओं को वह अपने रस का प्रकाश नहीं करता। अपने आश्रय में तो वह धर्मरूप से ही प्रकट रहता है। इसके दृष्टान्त नृत्य और पात्र में स्थित पोने का जल। जब भगवान् लीलारूप से प्रकट होते हैं तब उस लीला में जो रस है वह ही रस ब्रह्म में है परन्तु वह रस प्रकट नहीं है ऐसा निश्चय करके मैंने (श्री शुकदेवजी ने) यह विचार किया जो प्रकट नहीं है उस रस के प्रकट होने की आशा में कब तक बैठा रहा जाय इसलिए उस ब्रह्म रस की प्राप्ति की अपेक्षा तो इसी समय मिल रहे रस को क्यों न पिया जाय। इस प्रकार के विचार के साथ ही भगवान् की लीला ने मेरे चित्त को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। इसी को उत्तम श्लोक पद से कहा है। उत्तम जो नारदादि हैं उनसे भगवान् प्रशंसनीय है इसलिए भगवान् को उत्तम श्लोक कहते हैं। भगवान् के गुण करण (असाधारण कारण) होने से भगवान् की स्तुति भी होती है और मानवों के साथ भगवान् का सम्बन्ध भी। इसीलिए जो कोई भगवत्स्वरूपात्मक रस है वह ब्रह्म में समान रूप से है परन्तु यह लीला रस उस से भी अधिक है इस रस का उपभोग अपनी अभिव्यक्ति से करना चाहिये इस तरह की जिनकी इच्छा है उनको यह लीला सुननी चाहिये ऐसा निश्चय करके श्रोतव्य रस के जानने वाले मैंने इस

आख्यान (भागवत) को पढ़ा। राजर्षे यह सम्बोधन इस बात को सूचित करता है कि जैसे ऋषि दशा में राजत्व रस की स्फूर्त्ति का होना अधिक है ज्ञान के साथ मिल जाने से उसकी मान्यता अधिक बढ़ जाती है उसी तरह यह लीला रस भी है इस तरह युक्ति भी इसमें कही गई है। इस सम्बोधन से मर्यादा के साथ-साथ तुम्हारे में पुष्टि रूपता भी है यह भी कहा गया है ॥ ९ ॥

आभास—अतस्तादृशैरेव श्रोतव्यमिति कीर्त्तनरसास्वादनार्थं परिभ्रमता मया तादृशो भवानुपलब्धः। अतस्तदहं तेऽभिधास्यामीत्याह—

आभासार्थ—इसलिए वैसे ही श्रोताओं के यह सुनने योग्य है। कीर्त्तन रस का आस्वादन प्राप्त करने के लिए पृथ्वी पर घूमते हुए मुझे उस प्रकार के श्रोता तुम मिले हो। अतः उसको मैं तुम्हें कहूंगा—

श्लोक—**तदहं तेऽभिधास्यामि महापौरुषिको भवान्।**
यस्य श्रद्दधतामाशु स्यान्मुकुन्दे मतिः सती ॥ १० ॥

श्लोकार्थ—मैं उस भगवल्लीला रस को तुम्हें कहूंगा। क्योंकि आप उन महापुरुष के सम्बन्धी हो। जिस भगवल्लीला में श्रद्धा रखने वालों की शीघ्र ही मुकुन्द में सद्बुद्धि हो जाती है ॥ १० ॥

सुबोधिनी—तदहमिति। तत्पूर्वोक्तमुद्भूतब्रह्मामृतरसभूतमहं कीर्त्तनरसप्रेप्सुस्ते तादृशाय तुभ्यमभिधास्यामि कथयिष्यामि। अथवा। ते त्वत्सम्बन्धिभूतं तत्त्वयि स्थापयित्वाऽहमेवाऽभितः सर्वतो धास्यामि पास्यामीत्यर्थः। पीतस्य पुना रसास्वादनं निष्काश्याऽन्यत्र स्थापयित्वा पुनः पाने भवति। इदं तु गजेषूपलब्धम्। अभितश्च पानं सेचनादिरूपम्। द्वैपायनपदस्याऽप्येतत्सूचकत्वम्। द्विर्गता आपो यत्रेति तद्भवत्वादन्तर्बहिः पाता उक्तः। अन्तःस्थबहिःस्थयोश्च गुणयोः। अतः सूक्ष्मरूपभागवतद्वयं बहिः स्थितं भगवता ब्रह्मणा च प्रकटितमन्तः प्रवेश्य पुनः प्रकटितवान्। अत एवोत्पत्त्या चोपपत्त्या च भगवद्गुणानां स्वरूपविचारे तदुभयमुदाहृतम्। अन्यथा ब्रह्मणाऽनुभूयमानो भगवान् किमति स्वगुणप्रकाशकं भागवतं वदेत्। सोऽपि नारदाय कथं वदेत्। अत उपपत्त्या भगवदपेक्षया गुणा अधिका निरूपिताः। उत्पत्तौ च अन्तः प्रविष्टा अपि ते गुणाः पुनर्बहिः कृताः। अतस्तेऽभिधास्यामीति सिद्धम्। ननु कथमहमत्राऽधिकारीत्याकांक्षायामाह—**महापौरुषिको भवानिति**। महापुरुषस्य सम्बन्धी महापौरुषिकः। महापुरुषो हि कीर्त्या। कीर्त्तिश्च गुणात्। तदीयत्वं च गुणास्वादनयोग्यतयैव। अन्यथा तादृशधर्मवत. सम्बन्धी न स्यात्। **भवानिति**। नाऽत्र तिरोहितमिव। एवं भगवद्गुणानामाधिक्यमुक्त्वा तेषां फलमाह—**यस्येति**। यस्याऽऽख्यानस्य सम्बन्धिनी या श्रद्धा तद्युक्तानां मोक्षदातरि स्वानन्ददायके सती पतिव्रतारूपा तदेकरसास्वादिनी मतिर्भवति ॥ १० ॥

व्याख्यार्थ—पूर्वकथित उस उद्भूत (प्रकट) ब्रह्मामृतरसभूत भगवच्चरित को कीर्त्तन रस का ग्रास्वादन लेने वाला मैं ब्रह्मामृतरस को चाहने वाले तुम्हें कहूँगा । ग्रथवा ते का यह ग्रर्थ है कि उस रस का सम्बन्ध मै तुम्हारे को कराकर फिर मैं उस रस का सब तरह से पान करूंगा । जिस रस का पान स्वयं ने किया है उस रस का ग्रास्वादन यदि पुन: करना है तो उसे निकालकर दूसरे में उसे स्थापित करके फिर वह पिया जा सकता है । इस तरह की प्रक्रिया हाथियों में देखने को मिलती है । ग्रमित: पान तो उस रस से जब उसे नहला दिया जाय तब होता है । द्वैपायन शब्द इसी बात को सूचित करता है । जसे द्वीप के दोनों ग्रोर जल होता है इसलिए वह द्वीप बाहर से ग्रौर भीतर से जल पीता है उसी तरह द्वीप में होने के कारण द्वैपायन (व्यासजी) ने भी इस रस का बाह्य रूप से ग्रांतर रूप से पान किया । ग्रर्थात् भागवत के ग्रन्तस्थ गुणों का ग्रौर बहिस्थ गुणों का भी व्यासजी ने ग्रनुभव किया । इसलिए सूक्ष्म रूप भागवत के दो रूप हुए । एक तो ग्रन्त:स्थित गुणों वाली सूक्ष्म भागवत जिसे भगवान् ने प्रकट किया ग्रौर दूसरा भागवत बाहर स्थित गुणों वाला था उसे ब्रह्माजी ने प्रकट किया उन दोनों को व्यास ने ग्रन्दर प्रवेश करके पुन: बाहर प्रकट किया है । इसलिए उत्पत्ति के विचार से ग्रौर युक्ति से भगवान् के गुणों का स्वरूप विचार कर उन दोनों को यहां कहा । यदि ऐसा न होता तो भगवान् ग्रपने गुणों के प्रकाशक भागवत को जिसका ब्रह्मा ने ग्रनुभव किया उसे भगवान् क्यों कहते । वह भी नारद के लिए कैसे कहते । इसलिए युक्ति से तो भगवान् की ग्रपेक्षा भगवान् के गुण ग्रधिक हैं ऐसा निरूपण हुग्रा ग्रौर उत्पत्ति में भगवान् के ग्रन्दर रहने वाले गुणों को बाहर किया इसीलिए तुम्हें कहूंगा ऐसा कहना सिद्ध होता है । यदि परीक्षित को ऐसा विचार हो कि इस प्रकार के रस के ग्रनुभव का ग्रधिकारी मैं कैसे हो सकता हूं इसके लिए कहा है कि 'महापौरुषिको भवान्' तुम महापुरुष भगवान् के सम्बन्धी होने से महापौरुषिक हो । कीर्त्ति के कारण भगवान् को महापुरुष कहते हैं ग्रौर कीर्त्ति होती है गुणों से ग्रौर उन गुणों के रसानुभव की योग्यता तुम में है इसलिए कि तुम भगवदीपय हो । नहीं तो इस तरह के धर्म वाले भगवान् के तुम सम्बन्धी नहीं होते । भवान् इसलिए कहा है कि इसमें कुछ छिपा नहीं है । इस तरह भगवान् के गुणों की ग्रधिकता कहकर उनका फल कहते हैं । यस्य का ग्रर्थ है कि जिस ग्राख्यान के सम्बन्ध वाली जो श्रद्धा है उस श्रद्धा से युक्तों के लिए मोक्ष देने वाले ग्रपने ग्रानन्द के देने वाल भगवान् में सती ग्रर्थात् पतिव्रता रूप उन भगवान् के ही केवल रस का ग्रास्वादन करने वाली बुद्धि होती है ।। १० ।।

ग्राभास—एवं स्वरूपं फलं चोक्त्वा तत्र स्वमात्रविचारतां दूरीकर्त्तुं सर्वेषामेव विचाकराणां सम्मतिमाह—

ग्राभासार्थ—इस तरह भगवान् के गुणों का स्वरूप ग्रौर फल कहकर उसमें केवल मेरा ही ऐसा विचार है ऐसा नहीं है किन्तु सभी विचारकों की इसमें सम्मति है ।

श्लोक—**एतन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतोभयम् ।**
योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्त्तनम् ।। ११ ।।

श्लोकार्थ—हे राजन् ! जो संसार से विरक्त होना चाहते हैं और जो भय से मुक्त होना चाहते हैं उन योगियों के लिए यह निश्चित है कि वे भगवान् के नाम और गुणों का श्रवण कीर्त्तन करे ।। ११ ।।

सुबोधिनी—**एतदिति** । अत्र सर्वैरेवैतन्निर्णीतम् । एतत् भगवद्गुणानुकथनरूपम् । निर्विद्यमानानां विरक्तोच्छूनां विरक्तिं वाऽभ्यसताम् । अकुतोभयं ब्रह्मानन्दमिच्छताम् । तदर्थं योगादिकं च कुर्वताम् । एतन्निर्णीतं यद्धरेर्नामानुकीर्त्तनम् । तैर्वा तेषामर्थं वा । प्रथमतो विरक्ता ब्रह्मानन्दप्रेप्सवस्तद्रसञ्च योगेनाऽनुभवन्तस्तादृश रसं तत्राऽननुभूय तत्प्रकटस्थानं भगवन्नाम । हरित्वात्पूर्वक्लेश दूरीकुर्वन्नेव तद्रसं पाययतीति । तन्नाम्नां पूर्वोक्तप्रकारेण तद्रसाभिव्यक्तियुक्तानां प्रथमं पानं कृत्वा पश्चादनुकीर्त्तनं कर्त्तव्यमिति शास्त्रार्थनिर्द्धारः । अतो भगवानहं च महारसे पतितावित्युभयोरुत्तमाधिकारिणोः परमोत्साहः सूचितः ।। ११ ।।

व्याख्यार्थ—संसार से विरक्त सब पुरुषों ने ये ही निर्णय किया है कि जो संसार से विरक्त हो उन्हें भगवान् के गुणों का श्रवण तथा कीर्त्तन करना चाहिये । जिनको संसार से वैराग्य हो गया है या विरक्त होना चाहते हैं अथवा वैराग्य का आभास कर रहे है और जो अकुतोभय (जिस को किसी का भय न हो) ब्रह्मानन्द को चाहते हों उस ब्रह्मानन्द की प्राप्ति के लिए योग आदि का अनुष्ठान करते हों उन सबके लिए ये ही निर्णय है कि उन्हें भगवान् के नाम का अनुकीर्त्तन करना चाहिये । उन्हें अथवा उनके लिए हरिनाम का अनुकथन करना चाहिये । जो विरक्त हैं और ब्रह्मानन्द को प्राप्त करना चाहते हैं वे पहले योग के द्वारा उस ब्रह्मानन्द का अनुभव करते थे परन्तु ब्रह्मानन्द के जैसे रस का अनुभव उन्हें योगादि से नहीं मिला । अतः उस प्रकट ब्रह्मानन्द का स्थान तो भगवन्नाम ही है । भगवान् का नाम हरि है इसलिए वे पहले तो पूर्व के क्लेश को दूर करते हुए ही उस ब्रह्मानन्द रस का पान कराते हैं । भगवन्नामों का पूर्वोक्त प्रकार से जो उस रस को प्रकट करने वाले हैं उनका पहले पान करना चाहिये पीछे उनका अनुकीर्त्तन करना चाहिये ये ही शास्त्रों का निर्णय है । इसलिए आप (परीक्षित) और मैं (श्री शुकदेवजी) दोनों ही उस महारस में मग्न हो गये हैं इसलिए दोनों ही उत्तमाधिकारियों का परम उत्साह सूचित हुआ ।। ११ ।।

आभास—एवं गुणकथनश्रवणरसं श्रुत्वा स्वस्य शापेन शीघ्रमरणमनुस्मृत्य तादृशरसास्वादनाभावाद्विषीदन्तं राजानं प्रत्याह—

आभासार्थ—इस तरह भगवान् के गुणों का कीर्त्तन एवं श्रवण को सुनकर शाप के द्वारा सात ही दिन में अपने मरने को याद करके जैसा रसास्वादन आपने बताया है वह तो मुझे मिलेगा नहीं इस तरह से दुःख मनाते हुए राजा से श्री शुकदेवजी ने कहा—

श्लोक—**किं प्रमत्तस्य बहुभिः परोक्षैर्हायनैरिह ।**
वरं मुहूर्त्तं विदितं घटेत श्रेयसे यतः ।। १२ ।।

श्लोकार्थ—इस जगत् में मनुष्य को बिना जानी हुई अनेक वर्षों की आयु से क्या लाभ है ? इससे तो जानी हुई एक मुहूर्त्त की आयु भी अपना कल्याण करने में साधन बन जाती है ।। १२ ।।

सुबोधिनी—किं प्रमत्तस्येति । साधनीभूतमायुर्नाऽस्तीति विषादो न कर्त्तव्यः । यथा साकांक्षस्याऽधिकारिणो रसाभिव्यक्तिस्तथा जीवनेयत्तापरिज्ञानरहितस्याऽनधिकारिणो नाऽभिव्यक्तिः । अतो जीवनेयत्ताज्ञापकः शाप उत्तम एव । अल्पता चोत्तमा । उत्तरावधेर्नैकट्यात् । आस्वाद्य परमरसं तस्मिन् रसे प्रवेशान्न पश्चात्तापः । अतः प्रमत्तस्य स्वार्थेऽनवहितस्य बहुभिरपि हायनैर्वर्षैरज्ञातैर्न किञ्चित्फलं । ज्ञातं तु मुहूर्त्तमपि वरं पुरुषार्थसाधकम् । यतो ज्ञानात्तेनाऽपि क्षणेन पुरुषार्थसाधनाय घटेत् ।। १२ ।।

व्याख्यार्थ—तुम्हें इस बात का दुःख नहीं करना चाहिये कि श्रवण और कीर्त्तन करने की साधन तो आयु है वह तो मेरी केवल सात ही दिन की है । आकांक्षा वाले अधिकारी को जिस तरह रस की अभिव्यक्ति होती है वैसी । मेरा जीवन इतना ही है इसका जिसको पता नहीं है ऐसे अनधिकारी को रसाभिव्यक्ति नहीं हो सकती इसलिए मेरा जीवन इतना ही है इसको बताने वाला शाप तो उत्तम ही है । जीवन की अल्पता तो उत्तम है क्योंकि इसमें उत्तर की अवधि निकट है । परम रस का आस्वादन करके और उस रस में प्रवेश हो जाने से पश्चात्ताप नहीं होता । इसलिए जो अपने स्वार्थ के विषय में असावधान है उसके आयु के बिना जाने हुए बहुत से वर्ष भी निष्फल ही है । अपनी आयु का जाना हुआ तो एक मुहूर्त्त (दो घड़ी) भी पुरुषार्थ को सिद्ध करने में उत्तम होती है । क्योंकि उसे अपनी आयु का ज्ञान है इसलिए उतने ही समय में वह पुरुषार्थ को सिद्ध करने में यत्न करता है ।। १२ ।।

आभास—अतः शत्रूणामायुरिवाऽज्ञातं स्वायुर्न प्रयोजकं किन्तु ज्ञातमेवेत्यत्र दृष्टान्तमाह—

आभासार्थ—इसलिए नहीं जानी हुई शत्रुओं की आयु की तरह नहीं जानी हुई अपनी आयु भी उपयुक्त नहीं होती किन्तु जानी हुई आयु ही उपयोगी होती है इसको दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं—

श्लोक—**खट्वाङ्गो नाम राजर्षिर्ज्ञात्वेयत्तामिहाऽऽयुषः ।**
मुहूर्त्तात्सर्वमुत्सृज्य गतवानभयं हरिम् ।। १३ ।।

श्लोकार्थ—खट्वाङ्ग नाम के राजर्षि ने मेरी आयु इतनी ही है इसको जानकर एक मुहूर्त्त (दो घड़ी ४८ मिनट) में ही सारे राज्य कुटुम्ब आदि का परित्याग कर अभय रूप हरि को प्राप्त कर लिया ।। १३ ।।

सुबोधिनी—खट्वाङ्गो नामेति । खट्वाङ्ग-नामा दिलीपो देवपक्षपाती भूत्वा दैत्यान् हत्वा देवैर्वरं ब्रूहीत्युक्त आयुषः परिमाणं ज्ञात्वा तदनुसारेण वरं प्रार्थयिष्यामीति विचिन्त्याऽऽयुःपरिमाणं पृष्टवान् । ततस्तद्वचनान्मुहूर्त्तमात्रं ज्ञात्वा भूमौ समागत्याऽग्रे पालत्वेन हरेरुक्तत्वात्तदतिरिक्तं सर्वं परित्यज्य अभयरूपं हरिं स्मरणेन गतः सन् तं प्राप्तवानित्यर्थः । तस्मात्कालभूयस्त्वं नाऽपेक्ष्यत इति भावः ।। १३ ।।

व्याख्यार्थ - खट्वाङ्ग नाम के दीलीप राजा ने देवों के पक्षपाती होकर दैत्यों को मारा था तब देवों ने उसे वर मांगने को कहा इस पर राजा ने देवों से कहा कि पहले मैं यह जान लूं कि मेरी आयु कितनी है उसे जानकर ही उसके अनुसार मैं वर के लिए प्रार्थना करूंगा ऐसा सोचकर उसने आयु का प्रश्न किया । तब खट्वाङ्ग ने देवों के वचन से एक मुहूर्त्त की आयु जानकर स्वर्ग से पुनः पृथ्वी पर आ गये । भगवान् ने पहले इस राजा से कहा था कि मैं तेरी रक्षा करूंगा इसलिए इसने हरि के अतिरिक्त अन्य सब का परित्याग करके अभयरूप हरि का स्मरण करते हुए उन्हें प्राप्त कर लिया । इसलिए काल की अधिकता की कोई अपेक्षा नहीं है यह इसका भाव है ।। १३ ।।

आभास—तव तु मुहूर्त्तानां शतद्वयमधिकं चाऽस्ति । एकेनाऽपि मुहूर्त्तेन कार्यं सेत्स्यति । तथापि पूर्वमस्माभिरुक्तं श्रवणं यावद्दशविधलीलायुक्तभगवद्विषयकमुपकल्पयेत्याह—

आभासार्थ—तेरी आयु के तो दो सौ से भी अधिक मुहूर्त्त हैं (२१० मुहूर्त्त) एक मुहूर्त्त से ही कार्य सिद्ध हो जायगा । तथापि पहले हमारे द्वारा कही गयी दस प्रकार की भगवल्लीलाओं का श्रवण करो—

श्लोक—**तवाऽप्येतर्हि कौरव्य सप्ताहं जीवितावधिः ।**
उपकल्पय तत्सर्वं तावद्यत्साम्परायिकम् ।। १४ ।।

श्लोकार्थ—हे कौरव्य! (परीक्षित) राजर्षि खट्वाङ्ग की तरह तुम्हारी तो अभी सात दिन जीवन की अवधि है । इसलिए मरने वाले के लिए जो करना चाहिये उसका सम्पादन कर लो ।। १४ ।।

सुबोधिनी—तवाऽपीति । यथा तस्य ज्ञातमायुरेवं तवाऽपीति । एतर्हि इदानीमपि । जीवितावधिः सप्ताहम् । सप्तदिनमात्रं जीवितस्याऽवधिः । अतस्तावत्पर्यन्तं सर्वमेव परलोकसाधनमुपकल्प्य सम्पादय । सर्वं परित्यज्य भगवत्कथां शृण्वित्यर्थः । केचनाऽग्रे वक्ष्यमाणमाहुः । तत्प्रमेयविरोधादुपेक्ष्यम् ।। १४ ।।

व्याख्यार्थ—जिस तरह राजा खट्वाङ्ग को अपनी आयु का ज्ञान था उसी तरह तुम्हें भी अपनी आयु का ज्ञान है। एतर्हि का अर्थ है इस समय भी ज्ञान है, जीवन की अवधि सात दिन की है। केवल सात दिन ही जीवन की अवधि है। इसलिए इन सात दिन में जितना भी परलोक के लिए साधन है उसका सम्पादन कर लो। अर्थात् सब का परित्याग करके भगवत्कथा को सुनो। कुछ टीकाकारों ने लिखा है कि आगे कहे जाने वाले साधन करो परन्तु उनका ऐसा कहना प्रमेय के विरुद्ध है ।। १४ ।।

आभास—एवं सपरिकरं प्रथमप्रश्नोत्तमुक्तं सर्वात्मना किं कर्त्तव्यमित्यस्य (?)। **"अन्ते नारायणस्मृतिरि"**ति च **"गतवानभयं हरिमि"**ति च वाक्याभ्यां **"सर्वमुपकल्पये"**त्ययेन चाऽन्तकालकर्त्तव्यमुपदिष्टमेव। सर्वात्मना सर्वसमये तदेव कर्त्तव्यं यतः। तथापि राज्ञश्चेद्धृदये तस्योत्तरं देयमित्याकाङ्क्षा स्यात्तदाऽस्माभिरुच्यमानं श्रवणं न सम्यग्हृदये भासेतेति विशेषेणाऽन्तकालकर्त्तव्यं वदन् पूर्वोक्तस्य श्रवणस्य फलोपकार्युत्तराङ्गे मनननिदिध्यासने निरूपयति—

आभासार्थ—राजा ने जो पूछा था कि सर्वात्मना कर्त्तव्य क्या है इस पहले प्रश्न का सपरिकर उत्तर 'अन्ते नारायण स्मृतिः' 'गतवानभयं हरिम्' इन दो वाक्यों से दे दिया। अन्त में भगवान् की स्मृति होना ही अन्तिम जन्मलाभ का फल है। अभयरूप भगवान् हरि स्मरण से प्राप्त होता है और 'उपकल्पय तत्सर्वम्' इससे अन्तकाल के कर्त्तव्य का उपदेश दिया ही है। सर्वात्म रूप से हर समय वही कर्त्तव्य है। तथापि राजा के हृदय में यह हो कि जो मैंने पूछा उसका उत्तर तो दिया नहीं। यदि उसका उत्तर न दिया जाय तो हमारे द्वारा कहा जाने वाला श्रवण भी उसके हृदय में ठीक तरह से भासित नहीं होगा इसलिए विशेष रूप से अन्तकाल के कर्त्तव्य को कहते हुए पूर्वोक्त श्रवण फल के उपकारक मनन और निदिध्यासन है उनका यहां निरूपण करते हैं—

श्लोक—**अन्तकाले तु पुरुष आगते गतसाध्वसः।**
छिन्द्यादसङ्गशस्त्रेण स्पृहां देहेऽनु ये च तम् ।। १५ ।।
गृहात्प्रव्रजितो धीरः पुण्यतीर्थजलाप्लुतः।
शुचौ विविक्त आसीनो विधिवत्कल्पितासने ।। १६ ।।
अभ्यसेन्मनसा शुद्धं त्रिवृद्ब्रह्माक्षरं परम्।
मनो यच्छेज्जित श्वासो ब्रह्मबीजमनुस्मरन् ।। १७ ।।

श्लोकार्थ—जब पुरुष का अन्तकाल आ जाय उस समय उसको घबराना नहीं चाहिये। किन्तु अनासक्ति रूप शस्त्र से देह में और देह से जिनका सम्बन्ध है उनसे आसक्ति को काट डाले। घर से सन्यास लेकर धैर्यपूर्वक पवित्र तीर्थ जलों में स्नान करें। पवित्र एकान्त स्थान में शास्त्रों में बताये गये पवित्र आसन पर बैठकर मन से

पवित्र और सर्वश्रेष्ठ ओंकार रूप ब्रह्माक्षर का अभ्यास (जप) करे । प्राणायाम के द्वारा श्वास को जीतकर ब्रह्मबीज ओंकार का स्मरण करते हुए मन को जीते ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥

सुबोधिनी—अन्तकाल इति । मननं नाम युक्तिभिरनुचिन्तनम् । तत्र भगवाञ्छ्रोतव्य इत्युक्तम् । तत्र को भगवानित्याकांक्षायां सर्वात्मेत्यादिपदैः सर्वपुरुषार्थरूपः सर्वफलसाधकः सर्वमेव भगवानित्युक्तं भवति । तत्र कथं सर्वं भगवानित्याकांक्षायां **"आत्मैवेदं सर्वम्"** **"ब्रह्मैवेदं सर्वम्" "अहं हरिः सर्वमिदं जनार्दन"** इति वाक्यानां प्रमाणानां विद्यमानत्वेऽपि लौकिकयुक्त्यपेक्षायां सर्वस्यापि जगतो भगवच्छरीरे सन्निवेश उच्यते । पुरुषश्च भगवानित्यविवादम् । **"पुरुषो ह वै नारायणोऽकामयते"**ति श्रुतेः । **"पुरुष एवेदꣳ सर्वमि"**ति च । तत्र सर्वस्यापि यावत् पुरुषशरीरे निवेशनं न क्रियते तावत् सर्वत्वं पुरुषस्य न मन्येत । अतः पुरुषशरीरे निवेशनं कथयति । किञ्च । पुरुषस्य शरीरे सर्वं वचनेन निवेशितमपि यद्यनुभवेन विसंवादि स्यात्तदापि न मन्येत । अस्तद्ध्यानरूपेण वदति । ध्यायमानस्य कदाचित्साक्षात्कारो भवेत्तदा तस्य शरीरे सर्वं पश्यन्निःसंदिग्धो भवेदिति मननं निदिध्यासनावधि साक्षात्कारफलकं तत्त्वनिरूपणार्थमुपदिशन् **"पाक्षिकोऽपि दोषः परिहरणीय"** इति न्यायेन कोऽवेदान्तकाले स्मरणे क्रियमाणे व्यासङ्गान्तरमपि भवेत्तदा तदेव भवेदिति तद्दोषपरिहारार्थं चित्तवृत्तिनिरोधरूपं योगं वदन् तदङ्गभूतध्यानविषयत्वेन भगवत्स्वरूपमपि वदन्नन्तकालकर्त्तव्यप्रश्नोत्तरमप्याह । तुशब्दस्तवैतत्कर्त्तव्यमिति पक्षं व्यावर्त्तयति । पूर्वपक्षसङ्गतमेव किञ्चिदुच्यत इति वा पक्षं व्यावर्त्तयति । अन्तकालो मरणकालः । कालस्यान्तो वा वयोरूपस्य । राजदन्तादिवत्परनिपातः । अन्तकस्य वा कालः । समागत इति ज्ञाते प्रथमसाधनं गतसाध्वस इति तदर्थं पूर्वोक्तं कर्त्तव्यम् । तदनु असङ्गशस्त्रेण वैराग्यशस्त्रेण देहे तमनु ये देहानुवर्त्तिनो गृहादयस्तेषु च स्पृहामभिलाषं ममैते भवन्तु तत्कृतोपकारा वेति छिन्द्यात् अन्तःकरणे तेषामपेक्षां त्यजेत् । इदं द्वितीयम् । ततो गृहात्प्रव्रजेत् । संन्यासं गृहीत्वा गच्छेत् । तृतीयम् । ततः शीतादिबाधायां धैर्यं चतुर्थम् । एते यमा उक्ताः । नियममाह—**पुण्यतीर्थजलाप्लुत इति** । पुण्यं जलमुद्धृतमपि भवतीति तीर्थपदम् । पुण्यपदेन काम्यतीर्थपरित्यागः । पुण्यरूपं तीर्थं गङ्गा वा । तीर्थपदेन घट्टो वा । **"तीर्थे हि ते तां प्रावेशयन्नि"**ति श्रुतेः । आप्लुतः सम्यक् स्नातः । आसनमाह । शुचौ पवित्रे । विविक्ते एकान्ते । विधिवतः । चैलाजिनकुशोत्तरप्रकारेण कल्पिते आसने आसीनः । अभ्यसेदिति सम्बन्धः । प्राणायाममाह—**अभ्यसेदिति** । सबीजप्राणायामे शीघ्रं वायुः स्थिरो भवति । पापेन च वायोश्चलनम् । अतस्त्रिवृद्ब्रह्माक्षरं अकारोकारमकारैर्वृतं सङ्कृतिं वर्णत्रयात्मकमेकं ब्रह्मवाचकं निर्विघ्नार्थं मङ्गलरूपञ्च । परम् । परापश्यन्तीमध्यमावैखरीप्रकारेषु प्रथमम् । अवर्णात्मकं वा । तदभ्यसेत् । तेन वायुजयो भवति । ततः प्रत्याहारमाह—**मनो यच्छेदिति** । जितश्वासस्यैव मनोनियमनम् । श्वासजयश्च ब्रह्माक्षरेण । अतो ब्रह्मबीजमनुस्मरञ्जितश्वासो मनो यच्छेदिति सम्बन्धः ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥

व्याख्यार्थ—युक्तियों से बार-बार विचार करने को मनन कहते हैं । भगवान् का श्रवण करना चाहिये ऐसा जो कहा है उसमें भगवान् कौन है ऐसी जिज्ञासा होती है उसके लिए सर्वात्मा आदि पदों से सर्वपुरुषार्थरूप, सर्वफलसाधक सब का सब भगवान् है ऐसा कहा जायगा । सब भगवान् कैसे है इस आकांक्षा में यह सब आत्मरूप है, यह सब ब्रह्मरूप है, मैं हरि हूँ यह सब भगवद्रूप है इसमें 'आत्मै वेदं सर्वं' 'ब्रह्मै वेदं सर्वम्' 'अहं हरिः सर्वमिदं जनार्दनः' इत्यादि वाक्य प्रमाण रूप में विद्यमान हैं तथापि लौकिक युक्ति की अपेक्षा हो तो उसके लिए सारे ही जगत् का भगवान् के शरीर में सन्निवेश कहा जाता है । पुरुष तो भगवान् है इसमें तो किसी का विरोध है नहीं । यह पुरुष ही नारायण है इसने कामना की । यह सारा जगत् पुरुष ही है । "पुरुषो ह वै नारायणोऽकामयत" 'पुरुष एवेदऀ् सर्वम्' इत्यादि श्रुति इसमें प्रमाण हैं । जब तक सारे ही जगत् का पुरुष शरीर में निवेश नहीं किया जाता तब तक पुरुष सर्वरूप है ऐसा कोई मान नहीं सकता । इसलिए पुरुषशरीर में सम्पूर्ण जगत् का निवेश कहते हैं । और एक बात यह भी है कि वचन मात्र से ही पुरुषशरीर में सबका निवेशन कर भी दिया जाय किन्तु यदि अनुभव से वह सिद्ध न हो तो भी उसे कोई नहीं मानेगा । अतः उसका निवेशन ध्यान रूप से कहते हैं । जब भगवान् का ध्यान किया जायगा तो उन का कभी साक्षात्कार भी हो जायगा तब उन भगवान् के शरीर में सारे जगत् को देखते हुए निःसंदिग्ध हो जायगा इसके लिए मनन निदिध्यासन पर्यन्त साक्षात्कार जिसका फल है उन तत्त्वों के निरूपण के लिए उपदेश देते हुए 'पाक्षिक दोष का भी परिहार करना चाहिये' इस न्याय के अनुसार कौन जान सकता है कि अन्तकाल में स्मरण करते हुए किसी अन्य का स्मरण हो जाय तो फिर वहीं हो होना पड़े उस दोष को दूर करने के लिए चित्त की वृत्तियों के निरोध रूप योग को कहते हुए उसी योग के अङ्गभूत ध्यान को कहते हुए ध्यान के विषय रूप से भगवान् के स्वरूप को भी कहते हुए अन्तकाल में क्या करना चाहिये इस प्रश्न का उत्तर भी कहते हैं । यहां जो 'तु' शब्द दिया है उसका आशय यह है कि तुम्हें योग की साधना करनी चाहिये और उसके अङ्ग रूप से भगवान् का ध्यान करना चाहिये यह तेरे लिए आवश्यक नहीं है । अर्थात् तुम्हें योग साधन की आवश्यकता नहीं है । अथवा तु शब्द से पूर्व पक्ष से सङ्गत ही कुछ कह दिया वह तुम्हारे लिए आवश्यक नहीं है । अन्तकाल का अर्थ है मरण समय अथवा अवस्था रूप जो समय है उसका अन्त । यहां 'कालस्य अन्तः तस्मिन्' इस समास में 'राजदन्तादिषुपरम्' इसकी तरह काल शब्द का पर निपात हो गया है । अथवा अन्तक (यमराज) काल अन्तकाल समझना । आगते का अर्थ है जान लेने पर सबसे पहला साधन करना है । घबराना नहीं उसके बाद वैराग्य शस्त्र से देह में और उसके अनन्तर देह से सम्बन्ध रखने वाले घर कुटुम्ब आदि में जो अनुराग है कि ये सब मेरे हों अथवा ये मेरे लिए उपकार करें इस तरह की इच्छा को वैराग्य से काट डालें । अर्थात् अन्तःकरण में उनकी अपेक्षा का परित्याग करे । अन्तकाल आने पर पहला कर्त्तव्य तो घबराना नहीं और दूसरा कर्त्तव्य यह है देह, घर कुटुम्ब आदि की ममता का परित्याग । अब तीसरे साधन को बताते हैं । घर से निकल जाय, सन्यास लेकर चला जाय । फिर चौथा साधन है शीत आदि की बाधा होने पर धैर्य रखे । ये यम कहे गये हैं । अब नियम बताते हैं । 'पुण्यतीर्थजलाप्लुतः' पवित्र तीर्थों के जल में स्नान करे । तीर्थ शब्द इसलिए दिया है कि उन तीर्थों का जल मंगवाकर उस जल से स्नान न कर स्वयं ही तीर्थ में जाकर स्नान करे । इसमें पुण्य पद इसलिए है कि कामनाओं के पूर्ण करने वाले तीर्थों में स्नान न करे । अथवा पुण्य रूप तीर्थ गङ्गाजी में स्नान करे । अथवा तीर्थ पद से लेना गङ्गा के

घाट पर स्नान करे। क्योंकि घाट को भी तीर्थ कहते हैं इसमें प्रमाण श्रुति है 'तीर्थ हि ते तां प्रावेशयन्' आप्लुतः का अर्थ है ठीक तरह से स्नान करे। अब आसन बताते हैं पवित्र देश में एकान्त में विधिवत् पहले नीचे कुश का आसन उसके ऊपर मृगचर्म का फिर उसके ऊपर वस्त्र का इस तरह के आसन पर बैठकर अभ्यास करे। प्राणायाम को बताते हैं अभ्यसेत् बीजसहित प्राणायाम करने से वायु शीघ्र ही स्थिर हो जाता है। वायु का इधर-उधर चलना पाप से होता है। अतः त्रिवृद्ब्रह्माक्षर अकार उकार मकार इन तीन वर्णों से संघट्टित (निर्मित) तीन वर्णों वाला एक ही ब्रह्मवाचक ओम् जो निर्विघ्नता को करता है और मङ्गलरूप है। अर्थात् यह ओम् वायु के चलनरूप विघ्न को दूर कर मङ्गल करता है। वाणी चार प्रकार की है परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी इनमें से प्रथम प्रकार से अथवा वर्ण का उच्चारण न हो इस तरह ओम् का जप करते हुए प्राणायाम करे। इससे वायु का जय होता है। प्राणायाम के अनन्तर प्रत्याहार को कहते हैं 'मनोयच्छेत्' जब श्वास पर विजय हो जाता है तब मन का नियन्त्रण होता है और श्वास पर विजय ब्रह्माक्षर (ओम्) से होता है। इसलिए ब्रह्मबीज (ओम्) का अनुस्मरण करते हुए श्वास को जीतकर मन को नियन्त्रित करे इस तरह का यहां सम्बन्ध समझना ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥

आभास—प्रत्याहारे मनश्चेन्द्रियाणामन्योन्यहेतुहेतुमद्भावेन भेदं निरूपयति—

आभासार्थ—प्रत्याहार में मन और इन्द्रियों के जय में हेतु, हेतुमद्भाव से भेद का निरूपण करते हैं—

श्लोक—**नियच्छेद्विषयेभ्योऽक्षान्मनसा बुद्धिसारथिः।**
मनः कर्मभिराक्षिप्तं शुभार्थे धारयेद्धिया ॥ १८ ॥

श्लोकार्थ—पहले तो बुद्धि का सहारा लेकर विषयों की ओर जाने वाली इन्द्रियों को मन के द्वारा रोके तदनन्तर कर्मों से इधर-उधर आक्षिप्त मन को भी बुद्धि से भगवान् की मूर्त्ति में स्थिर कर दे ॥ १८ ॥

सुबोधिनी—नियच्छेदिति। मनसा इन्द्रियाणि विषयेभ्यो नियच्छेत्। विषयाणां दुष्टत्वबुद्धिर्मनसेन्द्रियनियमने सारथिः सहायः। पूर्वं मनसः क्रिया निवारिता प्राणायामेन। अधुना कर्मभिराक्षिप्तं प्रत्याहाररूपैः कर्मभिराक्षिप्तं आ समन्ताद्विषयेभ्यो दूरीभूतम्। विषयज्ञानानुकूलमिति यावत्। तादृशं मनः शुभरूपे अर्थे धिया सर्वावयवव्यापिकया बुद्ध्या मानसीं मूर्त्तिं परिकल्प्य तत्र सर्वावयवस्थितं मनो धारणारूपं कुर्यात्। सर्वावयवे मनसः स्थापनं धारणा। एकावयवे मनोधारणं ध्यानमिति भेदः ॥१८॥

व्याख्यार्थ—इन्द्रियों को मन के द्वारा विषयों से हटावे। विषयों में दोष बुद्धि मन से इन्द्रियों का नियमन करने पर ही होती है इसलिये मन उसमें सारथी सहायक है प्राणायाम के द्वारा मन की क्रिया का निवारण होता है यह कहा जा चुका है। अब कर्मों से आक्षिप्त मन को प्रत्याहार रूप कर्मों से आक्षिप्त किया अर्थात् सब प्रकार के विषयों से वह दूर हो गया। मन विषय

ज्ञान के अनुकूल न रहा। ऐसे मन को शुभ रूप अर्थ में सर्वावयव व्यापिका बुद्धि से मानसिक मूर्त्ति की परिकल्पना करके उस मूर्त्ति के सभी अवयवों में मन को धारण रूप करे। सभी अवयवों में मन को स्थापन करना धारणा है और एक अवयव में मन का धारण ध्यान है। इस तरह का ध्यान और धारणा में भेद है।। १८ ।।

आभास—ध्यानमाह—

आभासार्थ—ध्यान को कहते हैं—

श्लोक—**तत्रैकावयवं ध्यायेदव्युच्छिन्नेन चेतसा ।**
मनो निर्विषयं युक्त्वा ततः किञ्चिन्न संस्मरेत् ।। १९ ।।

श्लोकार्थ—उस भगवन्मूर्त्ति के एक-एक अवयव का ध्यान करे। किन्तु मन से देखे हुए अंगों को उनके साथ मिलाते हुए ध्यान करे। फिर मन को निर्विषय बना कर उसके अनन्तर किसी का भी चिन्तन न करे ।। १९ ।।

सुबोधिनी—**तत्रैकावयवमिति** । तत्र मनोगृहीतमूर्त्तावेकमवयवं ध्यायेत् । अव्युच्छिन्नेन पूर्वध्यातावयवसंश्लिष्टेन । अनेन खण्डशो ध्यानं निवारितम् । एकमप्यवयवमितरावयवैर्यथायोग्यं संश्लिष्टमेव ध्यायेत् । एवं ध्याने क्रियमाणे यदा मनो विषयवासनां त्यजति तदा इममपि विषयं त्याजयित्वा सर्वथा निर्विषयं युक्त्वा योगसहितं कृत्वा । सर्ववृत्तिनिरोधं कृत्वेत्यर्थः । ततः किमपि न संस्मरेत् । योगसाधितप्रयत्नेन चित्तं निरुद्धय तिष्ठेत् ।। १९ ।।

व्याख्यार्थ—मन से ग्रहण में आयी हुई उस मूर्त्ति में एक ही अवयव (अङ्ग) का ध्यान करे। परन्तु जब दूसरे अवयव का ध्यान करने लगें तब उस पहले के ध्यान किये हुए अंग को भी उसके साथ मिलाकर ध्यान करे। इससे खण्डशः ध्यान के लिए निषेध किया है। एक अवयव का भी ध्यान दूसरे अवयव के साथ योग्यतानुसार मिलाकर ही करना चाहिये। इस तरह ध्यान करने पर जब मन विषय वासनाओं का परित्याग कर देता है तब इस विषय को भी मन से अलग करके सर्वथा विषय रहित करके योग से सहित करके। अर्थात् सर्ववृत्तियों का निरोध करके। तब किसी भी पदार्थ को याद न करे। योगसाधित प्रयत्न से चित्त को निरुद्ध कर के रहे ।। १९ ।।

आभास—ततो यद्भवति तदाह—

आभासार्थ—तदनन्तर जो होता है उसे कहते हैं—

श्लोक—**पदं तत्परमं विष्णोर्मनो यत्र प्रसीदति ।**
रजस्तमोभ्यामाक्षिप्तं विमूढं मन आत्मनः ।
यच्छेद्धारणया धीरो हन्ति या तत्कृतं मलम् ।। २० ।।

श्लोकार्थ—मन जहां ध्यानाकार से परिणमित हो जाता है निर्मल हो जाता है वह विष्णु का परम पद है। रजोगुण के आक्षिप्त और तमोगुण के द्वारा विमूढ (बेभान) मन को धीरपुरुष धारणा के द्वारा एकाग्र कर ले। जिससे धारणा गुणकृत मैल को नष्ट कर देती है ।। २० ।।

सुबोधिनी—पदमिति। एवं चित्तनिरोधे क्रियमाणे तच्चित्तं स्वयमेव प्रसीदति ध्यानाकारेण परिणमति। तस्य परिणामस्य य आधारस्तद्विष्णोः परमं पदम्। अन्यथा स्थलान्तरे निरुद्धं तदभिव्यक्तिं कुर्याद्विषीदेद्वा। अतो यत्र निरुद्धं प्रसीदति तदाधारसामर्थ्यादेव प्रसीदतीति प्रसादाधारो भगवत्पदमेव। चित्तप्रसादे यत्प्रकाशते तज्जीवात्मस्वरूप पुरुषोत्तमस्य स्थानम्। **"तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थित"**इति श्रुतेर्वह्निशिखात्वेनाऽप्युच्यमाना जीवकलैव। अथवा। अक्षरस्य भगवत्पदत्वात्तदंशो जीवोऽपि भगवत्पदम्। एवं यावत्कालं प्रसन्नं मनस्तिष्ठति तावत्तथैव स्थातव्यम्। **"रजः सत्त्वं तमश्चैवे"**ति न्यायेन कारणीभूतं रजस्तमो वा कालप्रेरितं सत् मनो विक्षिपति विमूढं वा करोति। तदा योगबलेनाऽन्येषामपि मनांसि भगवत्पदे भासन्ते। सर्वेषां जीवानां तत्रैकीभावात्। तत्राऽन्यमनोविक्षेपे न किञ्चित्कुर्यात्। यदा त्वात्मनो मनः कर्मणि क्षिपेद्रजो मूढं वा कुर्यात्तमस्तदा तद्दोषपरिहारार्थं पुनर्धारणया मनो यच्छेत्। तत्र नियमनसमये वासनया रजो विषयानुपस्थापयति। तमश्च निद्रादिकम्। तत्रोभयत्राऽपि धीरो भवेत्। तादृशी च धारणा कर्त्तव्या यया रजोदोषस्तमोदोषश्च दूरीक्रियते। चण्डिकाशिवादिधारणाव्यावृत्त्यर्थमुक्तम्—**हन्ति या तत्कृतं मलमिति** ।। २० ।।

व्याख्यार्थ—इस तरह चित्त निरोध किया जायेगा तो वह चित्त स्वयं ही स्वच्छ हो जाता है ध्यानाकार से परिणत हो जाता है। वह मन ध्यानरूप हो जाता है। उस परिणाम का जो आधार है वह विष्णु का परम (श्रेष्ठ) पद है। यदि विष्णुपद से अतिरिक्त स्थल में वह निरुद्ध होगा तो उस स्थल की अभिव्यक्ति करेगा या दुःखी होगा। अतः जहां निरुद्ध होने से वह प्रसन्न होता है उस प्रसन्नता में कारण आधार का सामर्थ्य है वह प्रसाद का आधार भगवान् का पद ही है। चित्त की निर्मलता में जो प्रकाशित होता है वह जीवात्म स्वरूप पुरुषोत्तम का ही स्थान है। श्रुति में भी अग्नि की शिखारूप से जिसको कहा गया है वह भी जीव की कला ही है। 'तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः' अथवा अक्षर भगवान् का पद (स्थान) है तो उसका अंश जीव भी भगवान् का पद है। इसलिए जितने समय तक मन प्रसन्न रहता है तब तक उसी तरह रहना चाहिये। 'रजसत्त्वं तमश्चैव' इस न्याय से मन के कारणभूत रजोगुण और तमोगुण ये काल से प्रेरित होता हुआ रजोगुण मन को विक्षिप्त करता है और तमोगुण विमूढ (ज्ञानरहित) कर देता है। तब योग बल से दूसरों के भी मन भगवत्पद में भासित होते हैं। क्योंकि सभी जीव भगवत्पद में ही इकट्ठे हो जाते हैं। वहां अन्य के मन के विक्षेप में कुछ न करे परन्तु जब रजोगुण अपने मन को कर्म में प्रवृत्त करना चाहे या तमोगुण जब मन को मूढ करे तब उसके दोष को दूर करने के लिए धारणा के द्वारा फिर मन को रोके। उस रोकने के समय रजो गुण वासना से विषयों को उपस्थित करता

है और तमोगुण निद्रा, आलस्य आदि को करता है। अतः उस समय धैर्य रक्खें। उसको ऐसी धारणा करनी चाहिये जिससे तमोगुण और रजोगुण के दोष दूर किये जा सकें। चण्डिका या शिव की धारणा न करे किन्तु जो धारणा मन के मैल को दूर कर सके वैसी धारणा करे ॥२०॥

आभास—किञ्च। तादृशी धारणा कर्त्तव्या यया धारणया योगः सिद्ध्येत्। सन्ति च बह्वो योगाश्चित्तनिरोधकाः कर्मादयः। तत्रापि भक्तिलक्षणो योगो यया सम्पद्यते तां धारणां कुर्यादित्याह—

आभासार्थ—धारणा वैसी करनी चाहिये जिससे योग की सिद्धि हो सके। चित्त को निरुद्ध करने वाले बहुत कर्मादि योग हैं। परन्तु उनमें भक्तिलक्षण योग जिससे सम्पन्न होता है उस धारणा को करना चाहिये—

श्लोक—**यत्र सन्ध्यार्य्यमाणायां योगिनो भक्तिलक्षणः।**
आशु सम्पद्यते योग आश्रयं भद्रमीक्षतः ॥ २१ ॥

श्लोकार्थ—जिस धारणा में योगी को मङ्गलमय भगवान् के दर्शन करते हुए भक्ति रूप योग शीघ्र ही सिद्ध हो जाता है ॥ २१ ॥

सुबोधिनी—यत्रेति। यत्र विषये सर्वावयवसंस्थितायां चित्तवृत्त्यां सत्याम्। योगिनश्चित्तनिरोधकस्य। भक्तिरेव लक्षणं यस्य गोसास्नादिवत्कदाऽपि भक्तिर्न व्यभिचरति, भक्त्यैव च तत्प्रसिद्धिस्तादृशो योगः सम्पद्यते। ननु योगस्य कस्माद्भक्तिलक्षणत्वम्? तत्राऽऽह—**आश्रयं भद्रमीक्षत इति**। भद्रं मनोहरम्। आश्रयं धारणायाः। भगवद्रूपमिति यावत्। तदीक्षतस्तद्ध्यायतः। भगवद्ध्याने भक्तिलक्षणो योगः सम्पद्यत इत्यर्थः ॥ २१ ॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ही जिस धारणा का विषय है उन भगवान् के सभी अवयवों (श्रीअंगों) में जब चित्तवृत्ति स्थिर हो जाती है तब चित्तवृत्ति का निरोध करने वाले योगी के लिए भक्ति ही जिसका लक्षण है ऐसा भक्तियोग उसके लिए सम्पन्न हो जाता है। जिस तरह शृङ्गसास्नादिमत्व गाय का लक्षण गाय ही में रहता है उसी तरह उस योग से भक्ति अलग नहीं रहती अर्थात् वह योग भक्ति के नाम से प्रसिद्ध रहता है। यदि शंका हो कि उस योग का लक्षण भक्ति क्यों है उसका उत्तर यह है कि उस योग में जो धारणा का विषय है वह भगवान् का रूप है जो अत्यन्त ही मनोहर है और उसी का वह ध्यान करता है। अतएव भगवद्ध्यान के कारण वह योग भक्ति लक्षण योग हो जाता है ॥ २१ ॥

आभास—तत्र राजा विशेषं पृच्छति—

आभासार्थ—उस धारणा के विषय में राजा विशेष प्रश्न करता है—

राजोवाच—श्लोक—**यथा सन्धार्य्यते ब्रह्मन् धारणा यत्र सम्मता ।
यादृशी वा हरेदाशु पुरुषस्य मनोमलम् ।। २२ ।।**

श्लोकार्थ—हे ब्रह्मन् ! जिस तरह धारणा की जाती है और जिसमें आपको धारणा सम्मत है एवं जिस प्रकार की धारणा पुरुष के मन के मैल को शीघ्र दूर कर देती है उसे कहिये ।। २२ ।।

सुबोधिनी—**यथेति** । इयं धारणा कथं सन्धार्या । किं मानसीं मूर्त्तिं कृत्वा तत्र मनः स्थापनीयम् । आहोस्विच्छ्रुतां भगवन्मूर्त्तिं स्मृत्वा । किञ्च । यत्र सम्मता यस्यां मूर्त्तौ सम्मता । अनन्तमूर्त्तित्वाद्भगवतो यस्यामेव मूर्त्तौ सर्वेषामेव योगिनां सम्मतिरस्ति । किञ्च । यादृशी वा । यादृक्प्रकारा । रूपप्राधान्येन धर्मप्राधान्येन वा । स्थूला सूक्ष्मा वा । निराकारा साकारा वा । शान्ता वा साग्रहा वा । तत्र यादृशी पुरुषस्य मनोमलं हन्ति तत्कथयेत्यर्थादुक्तं भवति । गुरोः सन्निधाने नियोगोऽनुचित इत्यभिप्रायबोधकवाक्यशेषमुक्त्वा नियोगांश नोक्तवान् ।। २२ ।।

व्याख्यार्थ—यह धारणा कैसे की जाती है ? क्या मन के अन्दर भगवान् की मूर्त्ति की कल्पना करके उसमें मन को स्थापित करना चाहिये ? अथवा शास्त्रों में जैसी भगवान् की मूर्त्ति को सुना है उसका स्मरण करके उसको मन में स्थापन करना चाहिये ? एक बात यह भी है कि जिस मूर्त्ति में मन को स्थापन करना सम्मत है वह बताइये क्योंकि भगवान् की मूर्त्ति तो अनन्त है इसलिए जिस भगवान् की मूर्त्ति में मन को स्थापित करना सभी योगियों की सम्मत हो वह कहिये । वह मूर्त्ति जैसी है, जिस प्रकार की है, वह रूपप्राधान्य है या धर्मप्राधान्य है? स्थूल है या सूक्ष्म है? निराकार है या साकार है ? शान्त है या आग्रह वाली है ? इन सब में ऐसी मूर्त्ति आप बताइये जो पुरुष के मन के मैल को नष्ट कर दे । यद्यपि यहां कथन कहिये ऐसा नहीं कहा है परन्तु वह अर्थ के द्वारा ही प्रतीत होता है । गुरु के सन्निधान में कथय (कहो) इस तरह नियोग (आदेश) अनुचित है इस अभिप्राय की बोधित करने के लिए वाक्य शेष को कहकर नियोगांश (कहो) इसको नहीं कहा ।। २२ ।।

आभास—तत्रोत्तरमाह—

आभासार्थ—वह मूर्त्ति कैसी है इसका उत्तर देते हैं—

श्रीशुक उवाच—श्लोक—**जितासनो जितश्वासो जितसङ्गो जितेन्द्रियः ।
स्थूले भगवतो रूपे मनः सन्धारयेद्धिया ।। २३ ।।**

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा—आसन, श्वास, सङ्ग और इन्द्रियों को जीत कर बुद्धि के द्वारा भगवान् के स्थल रूप में मन की धारणा करे ।। २३ ।।

सुबोधिनी—जितासन इति । यादृशीत्यस्योत्तरम् । आसनादिजयसहिता सा मनोमलं हन्ति । **जितसङ्गः** । जितो विषयसङ्गो येन । अनेन मनोनियमनमुक्तम् । यत्र सम्मतेत्यस्योत्तरमाह—**स्थूल इति** । धिया निश्चयात्मिकया बुद्धया ।। २३ ।।

व्याख्यार्थ—जिस तरह की धारणा करनी चाहिये उसका उत्तर देते हैं। आसन-श्वास-सङ्ग इन्द्रियां इनके जय के सहित जो धारणा है वह मन के मैल को नष्ट करती है । विषय के सङ्ग को जिसने जीत लिया है उसे जितसङ्ग कहते हैं। इससे मन का निग्रह कहा गया है । आपकी धारणा जिसमें सम्मत हो वह कहिये का उत्तर स्थूल आदि से दिया है । निश्चयात्मक बुद्धि से भगवान् के स्थूल रूप में धारणा करनी चाहिये ।। २३ ।।

आभास—ननु भगवतः कथं स्थूलं रूपम् । व्यापकन्तु फलरूपं न धारणामर्हति । अन्यानि मत्स्यादिरूपाण्यनिर्द्धारितपरिमाणानि । अतः स्थूलं किमित्याकांक्षायामाह—

आभासार्थ—यहां यह प्रश्न हो सकता है कि भगवान् का स्थूल रूप कैसा ? व्यापक स्थूल रूप तो फलरूप है वह तो धारणा के योग्य हो नहीं सकता और अन्य जो मत्स्य आदि रूप हैं उनके परिमाण का तो निर्धारण है ही नहीं । अतः स्थूल रूप क्या इस पर कहते हैं—

श्लोक—**विशेषस्तस्य देहोऽयं स्थविष्ठश्च स्थवीयसाम् ।**
यत्रेदं दृश्यते विश्वं भूतं भव्यं भवच्च सत् ।। २४ ।।

श्लोकार्थ—स्थूलों में भी स्थूल यह पृथ्वीरूप विशेष उस विराट् भगवान् का देह है । जिस भगवान् के देह में भूत, भविष्यत् और वर्तमान सारा विश्व दिखाई देता है ।। २४ ।।

सुबोधिनी—विशेषस्तस्य देहोऽयमिति । विशेषः पृथिवी । सर्वे विशेषास्तद्रूपा इति । "**अतो विशेष**" इति वाक्यात् । विशिष्टः शिष्टो यत्रेति वा । वेः कालस्य शेषो वा । अत्रत्यानां स्वेच्छया कालग्रासात् । अत एव भगवतो देहो विशेषः । कालस्य भगवच्चेष्टात्वात्तदाधारो देहो भवत्येव । देहात्मनोः संयोगः सम्बन्ध इति साङ्ख्याः । तदेकदेशिनो योगिनश्चाऽध्यास इति । आवेश इत्यपरे । अग्न्ययोगोलकवत् । अहङ्कारेणाऽहमिति स्वीकार इत्यपरे । ते चत्वारोऽपि पक्षा भगवतो देहस्य च सम्बन्धप्रतिपादका न भवन्ति । किन्तु स्वस्वामिसम्बन्ध इति षष्ठ्या सम्बोधयति—**तस्येति** । "**दिह उपचय**" इति धातोरच्प्रत्यये कृते देह इति भवति । भगवतोऽयमुपचय इत्यर्थः । स्वरूपस्थितेनैव यद्यपि सर्वं कर्तुं शक्यते तथापि सर्वेषां पोषार्थं स्वरूपादप्यधिकसुखदानार्थमुपचितः सन् पुष्टः सन् सर्वं करोतीति तदेव रूपं भगवतो धारणाविषयो भवतीति सर्वेषां सम्मतिः । अयमित्यपरोक्षविषयः । यद्यप्येकदेश एव तथा तथापि तेनेतरानुमानं सुकरमिति इतरावयवज्ञानसहकृता प्रत्यक्षसामग्र्येव विशिष्टज्ञानं जनयतीत्ययमित्युक्तम् । **स्थविष्ठश्च स्थवीयसामिति** । प्रथनात्पृथिवी स्थविष्ठा स्थूला

वा । अत्र शास्त्रे विरलावयवाः सूक्ष्माः । संहतावयवाः स्थूलाः । अत एवाऽऽकाशादयः सूक्ष्मास्तथा व्यवहारागोचराः । पृथिवी तु सर्वव्यवहारगोचरा स्थूला । संहतैरुपचितैरवयवैर्गुप्तोऽवयवी प्रकटीक्रियते । तथा देहेनाऽपि भगवान्प्रकटीक्रियत इति ध्यानविषयतायां भगवानपि प्रकटो भवतीति तस्य स्थूलत्वनिरूपणम् । बुद्धौ प्रविष्टो वा बुद्धिमपि विशदयतीति पश्चात्स्थूला बुद्धिः सूक्ष्मान्विषयान्न ग्रहीष्यति । तेन मनसो रजस्तमःकृतो दोषो निवर्त्तितो भवति । चकारात्सुन्दरश्च । सर्वविशेषसमवायात् । तेन तत्र बुद्धिः स्थिरा भवति । स्थवीयसामाकाशादीनां मध्ये । उपचितावयवत्वादिति । अत एव **"आकाशशरीरं ब्रह्म"** ति **"वायुरात्मे"** ति **"ज्योतिषां ज्योतिरि"** ति **"तोयात्मने नम"** इति वाक्यैः सर्वाण्येव भूतानि भगवच्छरीरत्वेनोक्तानि । तथाप्यस्मादेव विशेषादस्य धारणाविषयत्वम् । किञ्च । सर्वाणि रूपाण्यत्र सम्भवन्ति । इदं तु नाऽन्यत्र सम्भवतीत्यस्य ध्यानास्पदत्वम् । तदाह—**यत्रेति** । सर्वमेव विश्वमत्र व्यज्यते समुद्राः सूर्यो वायुरथकाशश्च । अन्येषामपि सूक्ष्माणामेतदवान्तरभूतानामहङ्कारादीनाञ्च स्वयमेवाऽत्र निवेशं वक्ष्यति— **"पातालमि"** त्यादिना । किञ्च । कालोऽप्यत्र निविशते कार्यद्वारेति तदाह— **भूतं भव्यं भवच्चेति** । अनुदयास्तमयरूपस्य कालस्य भूतत्वादिसाधकत्वम् । केनचिन्निमित्तेनाऽतीतत्वादिधर्मसम्बन्धात् । तत्रोत्पत्तिस्थितिविनाशलक्षणगुणत्रयप्रेरणात्तथात्वम् । अतः स्वकार्यसहितः कालो भगवच्चेष्टारूपोऽत्र स्पष्टतया प्रकाशत इति सर्वमेव भगवत्कार्यमत्र स्पष्टतया ज्ञातं भवति । भूतं जातम् । भव्यम् भाव्यम् । भवत् वर्त्तमानरूपम् । चकारात्कालत्रयसम्बन्धरहितमपि प्राणजीवादिस्वरूपमत्र दृश्यत इत्यर्थः । यदिति प्रसिद्धम् । नाऽत्र तिरोहितमिव किञ्चित् । अतो विशेषतः प्रमाणं न वक्तव्यमिति भावः ।। २४ ।।

व्याख्यार्थ—पृथ्वी विशेष रूप है क्योंकि सभी विशेष पृथ्वीरूप हैं । इसीलिए 'अतो विशेषो भावनं भूमावेवोपलक्ष्यते' ऐसा कहा है । विः का अर्थ है विशिष्ट भगवान् । वह जिसमें शिष्ट बाकी रहता है इसलिए पृथ्वी को विशेष कहा है । अथवा 'वेः शेषः विशेषः' वि का अर्थ है काल उसका जो शेष । इस पृथ्वी पर रहने वाले सब का अपनी इच्छा से काल के द्वारा ग्रास हो जाता है इसीलिए भगवान् का देह विशेष है । काल भगवान् का चेष्टा रूप है और चेष्टा का आधार देह होता ही है । साङ्ख्यशास्त्र देह और आत्मा का परस्पर संयोग सम्बन्ध है ऐसा मानते हैं । सांख्य के एक देशी और योगी देह का अध्यास मानते हैं । अन्य मत वाले भगवान् का आवेश मानते हैं । जैसे लोहे के गोले में अग्नि का आवेश होता है । अन्यों का कहना है कि अहङ्कार से मैं हूँ ऐसा स्वीकार करना ही देह है । वे चारों ही पक्ष भगवान् के और देह के सम्बन्ध का प्रतिपादन करने वाले नहीं होते हैं परन्तु भगवान् का देह के साथ स्वस्वाभिभाव सम्बन्ध होने से षष्ठी से उसे बताया है । अर्थात् देहादि सब पदार्थ स्व(भोग्य) हैं और भगवान् सब का स्वामी भोक्ता है । इसे तस्य से बताया है । दिह उपचये धातु से अच् प्रत्यय करने पर देह शब्द की सिद्धि होती है । यह पृथ्वी भगवान् का उपचय रूप (देह) है । यद्यपि स्वरूप में स्थित रहते हुए भी भगवान् सब कुछ कर सकते हैं फिर भी सब का पोषण करने के लिए, अपने स्वरूप से भी अधिक सुख देने के लिए उपचित (वृद्धि को प्राप्त) होते हुए अर्थात् पुष्ट होते हुए सब कुछ करते हैं वह भगवान् का रूप ही धारणा का विषय होता है इसमें सबकी सम्मति है । 'अयम्' यह शब्द इस बात को बताता है कि

यह सबके सामने है प्रत्यक्ष है। यद्यपि भगवान् का सारा रूप सामने नहीं है उसका एक देश ही सामने हैं तथापि इससे इतर का अनुमान करना सहज है इसलिए इतर अवय के ज्ञान से सहंकृत प्रत्यक्ष सामग्री ही विशिष्ट ज्ञान को उत्पन्न करती है इसको समझाने के लिए 'अयम्' ऐसा कहा है। पृथिवी बहुत बड़ी है अथवा बहुत मोटी है इसलिए उसे स्थविष्ठ कहते हैं। इस भागवत शास्त्र में विरल अवयवों को सूक्ष्म कहा जाता है और घने अवयवों को स्थूल कहा जाता है। इसलिए आकाश आदि सूक्ष्म कहे जाते हैं और सूक्ष्म होने के कारण व्यवहार में उपयुक्त नहीं होते। पृथिवो तो सबके व्यवहार में आती है इसलिए यह स्थूल है। संहत-घट्ट अवयवों से उपचित अवयवी प्रकट किया जाता है। इसी तरह देह (पृथ्वी) के द्वारा भगवान् प्रकट किये जाते हैं। अतः जब भगवान् ध्यान के विषय होते हैं तो प्रकट हो जाते हैं इसलिए भगवान् का निरूपण स्थूल रूप से किया है। अथवा बुद्धि में प्रविष्ट भगवान् बुद्धि को भी विशद कर देते हैं। अतः वह स्थूल बुद्धि सूक्ष्म विषयों का ग्रहण नहीं करेगी। इस कारण सूक्ष्म मन के रजोगुण और तमोगुण के दोषों से वह बुद्धि अलग रहेगी उनका ग्रहण नहीं करेगी। च इस बात को बताता है कि भगवान् का देह सुन्दर भी है क्योंकि उसमें सब विषय का समवाय सम्बन्ध है। अतः बुद्धि उसमें स्थिर होती है। उपचित (घट्ट) अवयवों के कारण स्थवीयस् (विरलावयव) आकाशादि से भी यह स्थविष्ठ है। इसीलिए आकाश जिसका शरीर है, वायु आत्मा है, ज्योति का वह ज्योत्ति है और जो जलात्मा है 'आकाशशरीरं ब्रह्म' 'वायुरात्मा' 'ज्योतिषां ज्योतिः' 'तोयात्मने नमः' इन वाक्यों से सभी भूतों को भगवान् का शरीर बताया है। फिर भी इसी विशेष से इन भगवान् को धारण का विषय बताया है। एक बात यह भी है कि सभी रूप इस पृथ्वी में ही सम्भव है यह पृथ्वी अन्य में सम्भव नहीं है इसलिए भगवान् का देह रूप पृथ्वी ही ध्यान का विषय है। सारा ही विश्व इस पृथ्वी में व्यञ्जित (प्रकाशित) होता है। जैसे समुद्र, सूर्य, वायु, अवकाश (आकाश) और भी जो सूक्ष्म अवान्तर भूत जो अहङ्कारादि हैं उनका भी इसी में समावेश है उसको 'पातालमेतस्य' इत्यादि से कहेंगे। यहां तक कि भूत, भविष्यत् और वर्तमान कार्यों के द्वारा काल का भी इसमें समावेश हो जाता है। अनुदय और अस्तमय काल ही भूत भविष्यत् आदि का साधक है। किसी निमित्त से काल में अतीत आदि धर्म का सम्बन्ध होने से उसमें उत्पत्ति, स्थिति और विनाश है लक्षण जिनका ऐसे सत्त्वादि गुणत्रयों की प्रेरणा से उत्पत्ति स्थिति विनाश होते हैं। इसलिए अपने कार्य के सहित काल जो भगवान् की चेष्टा रूप है वह यहां (पथिवो में) स्पष्ट रूप से प्रकाशित होता है। अतः सारा ही भगवत्कार्य इस पृथिवी पर स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है। भूत जो बीत चुका उसे कहते हैं, भव्य होने वाला और भवत् वर्तमान रूप है। च से भूत, भविष्यत् और वर्तमान कालत्रय सम्बन्ध से रहित भी लिया जाता है। अर्थात् प्राणजीव आदि स्वरूप भी इस पृथ्वी में दीखते हैं। यत् का अर्थ है यह प्रसिद्ध है। इसमें कुछ छिपा नहीं है। अतः इसके लिए विशेष रूप से प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है ॥ २४ ॥

आभास—ननु जडस्य कथं ध्येयत्वम्। ध्यातस्य फलदानावश्यम्भावात्। क्रियान्तरवद्ध्यानस्य नाऽदृष्टद्वारा फलजनकत्वम्। ध्येयसाक्षात्कारस्यैव दृष्टत्वात्। भगवत्सम्बन्धाद्ध्येयत्वेऽपि **"गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्यय"**इति न्यायेन भगवानेव कथं न ध्यानविषयीक्रियते। तत्राऽऽह—

आभासार्थ—शंका हो सकती है कि जड़ पदार्थ ध्यान का विषय कैसे हो सकता है क्योंकि जिसका ध्यान करते हैं वह फल देने वाला भी अवश्य होना चाहिये । जड़ पदार्थ तो फल दे नहीं सकता । यदि कहें कि अन्य क्रिया (यज्ञादि) जड़ होते हुए भी अदृष्ट के द्वारा फल देते हैं उसी तरह ध्यान भी अदृष्ट द्वारा फलदान कर सकेगा ऐसा भी नहीं कह सकते । यहां ध्येय का साक्षात्कार ही दृष्ट है अदृष्ट कोई है नहीं । यदि कहें कि भगवत्सम्बन्ध होने से जड़ ध्येय है तो यह भी ठीक नहीं । "गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः' इस न्याय से मुख्य भगवान् ही ध्यान के विषय होने चाहिये जड़ पदार्थ ध्यान का विषय नहीं होना चाहिये उस पर कहते हैं—

श्लोक—**आण्डकोशे शरीरेऽस्मिन्सप्तावरणसंयुते ।**
वैराजः पुरुषो योऽसौ भगवान्धारणाश्रयः ।। २५ ।।

श्लोकार्थ—सात आवरणों से युक्त ब्रह्माण्डरूप इस शरीर में जो विराट् पुरुष भगवान् है वही धारणा का विषय है ।। २५ ।।

सुबोधिनी—आण्डकोश इति । नेदं ध्यानविषयत्वेन निरूपितं किन्तु तदाश्रयत्वेन । अनेन **"यथा सन्धार्यत"** इत्यपि निरूपितं भवति । भगवान् साक्षाद्विषयत्वेन आण्डकोशस्तु तदाधारत्वेन । यद्यपि स्वात्मन एव जीवस्याऽऽधारत्वं युक्तं तदप्यग्रिमाध्याये मतान्तरत्वेन वक्ष्यते । तथापि बहिः स्थितो भगवानन्तः प्रवेशनीय इति स्नेहाधिक्यसिद्धयर्थमात्मनो महत्त्वसिद्धयर्थं च प्रयत्नसाफल्याय च स्वात्मनि सिद्धभगवद्रूपापेक्षया सिद्धसाधनत्वदोषाभावात्स्मरणमात्रविषयत्वाच्च ध्यानसिद्धयर्थं ब्रह्माण्डाधार एव भगवान्विषयत्वेन निरूप्यते । अण्डसम्बन्धी आण्डः । स एव कोशो मुकुलितकमलरूपः । स एव शरीरम् । **"भूतैर्यदा पञ्चभिरात्मसृष्टैरि"**ति वाक्यात्स्वार्थं भगवाञ्छरीरमिदं कृतवान् । अतोऽत्र कृतं तस्य भोगाय भवति । भोगायतनत्वाच्छरीरस्य । अत आत्मापेक्षयाऽप्ययमेवाऽऽधारत्वेन ध्येय इति भावः । कोशरूपत्वादस्येतरदेहवत्सच्छिद्रता निवारिता । तत्रैव मकरन्दपानञ्च । अस्य शरीरस्य सुरक्षिततत्वं कथयन्भगवद्व्यतिरिक्तस्यैव सर्वस्य तत्त्वसमूहस्याऽत्र निवेशमाह—**सप्तावरणसंयुत इति** । सप्त यान्यावरणानि तैः संयुक्तं । संयुक्तपदान्मध्ये शून्यं स्थानं निवारितम् । जलादिप्रकृत्यन्तानि सप्ताऽऽवरणरूपाणि । तत्र यो वैराजः पुरुषो द्वितीयपुरुषरूपो यः सर्वत्र शास्त्रे प्रसिद्धः असावित्यनुभवसिद्धश्च स एव वैराजो विराट्शरीरे प्रविष्टः । न तु जीवविशेषः कश्चित् तदाह—**भगवानिति** । यो वैराजः पुरुष उक्तः स एव भगवान् योगिप्रत्यक्षसिद्धः । अत एव प्रचुरतराभ्यासादसाविति प्रत्यक्षतया निर्देशः । स तु धारणाया आश्रयः । तस्याऽऽश्रयः कोशः । यथा अयोगोलकस्थो वन्हिः । यथा वा कमलस्थितो भ्रमरः । यथा वा प्रासादस्थितो राजा । आश्रयपदेन धारणायाः फलं स्वशरणमागतायाः सर्वथा दास्यतीति सूचितम् ।। २५ ।।

व्याख्यार्थ—यहां इस जड़ पदार्थ को ध्यान का विषय नहीं कहा है किन्तु यह भगवान् का आश्रय होने से इसे ध्येय कहा है । इससे 'यथा सन्धार्यं ते ब्रह्मन्' इसका भी निरूपण हो जाता है । साक्षात् ध्यान का विषय तो भगवान् ही है । ब्रह्माण्ड तो उस भगवान् का आधार होने से ध्यान का

विषय है। यद्यपि यहां यह शंका हो सकती है कि स्वयं का ही आत्मारूप जीव भी ब्रह्म का आधार होने से ध्येय हो सकता है ? उसका उत्तर आगे के अध्याय में मतान्तर रूप से दिया जायगा। परन्तु बहिःस्थित भगवान् को अन्तः प्रविष्ट करने में स्नेह की अधिकता होती है उसकी सिद्धि के लिए और स्वयं की आत्मा जो अणु है उसमें महत्व की सिद्धि के लिए और अपने प्रयत्न की सफलता के लिए अपने अन्दर सिद्ध भगवद्रूप आत्मा की अपेक्षा से तो जो सिद्ध नहीं है जो केवल स्मरण मात्र का ही विषय है उसके ध्यान की सिद्धि के लिए ब्रह्माण्ड जिसका आधार है उस भगवान् को यहां ध्यान का विषय बताया है इससे सिद्ध साधनता दोष भी नहीं होता। आण्डकोशे का विग्रह इस प्रकार है-अण्ड सम्बन्धी आण्डः आण्ड एव कोशः आण्डकोशः तस्मिन् आण्डकोशे अर्थात् अण्डसम्बन्धी मुकुलित (कलिरूप) कमलरूप ही जिसका शरीर है । 'भूतैर्यदा पञ्चभिरात्मसृष्टैः' इस वाक्य से भगवान् ने ही अपने लिए इस ब्रह्माण्ड को अपना शरीर किया है । जब भगवान् ने ब्रह्माण्ड को अपना शरीर किया है तो इसके द्वारा किये जाने वाले भोग को भगवान् करते हैं। सब प्रकार के भोगों का आधार शरीर होता है इसलिए आत्मा की अपेक्षा भी भगवान् के आधार रूप से इसी का ध्यान करना चाहिये। आण्डकोश में कोश शब्द का आशय यह है कि भगवान् के अन्य देहों में तो छिद्र है किन्तु यह कोश (कली) रूप होते हैं इसमें कोई छिद्र नहीं है। उस कोश में से ही मकरन्द का पान होता है । यह भगवान् का शरीर अत्यन्त सुरक्षित है इसको कहते हुए भगवान् के सिवा अन्य सब तत्व समूह इसमें संनिविष्ट हैं इसे कहते हैं 'सप्तावरण सयुते' यह आण्डकोश भगवच्छरीर सात आवरणों से संयुक्त है। संयुक्त पद देने का तात्पर्य यह है कि मध्य का स्थान शून्य नहीं है। जल से लेकर प्रकृति पर्यन्त सात आवरण रूप हैं । उन सात आवरणों वाले आण्डकोश शरीर में जो वैराज पुरुष है यह द्वितीय पुरुष रूप है और सब जगह शास्त्रों में प्रसिद्ध है। असौ पद इसलिए दिया है कि जो शास्त्रों में प्रसिद्ध है वह ही अनुभवसिद्ध वैराज विराट् के शरीर में प्रविष्ट है। यह वैराज कोई जीव विशेष नहीं है। अतः इस वैराज को भगवान् कहा है। वह वैराज भगवान् ही योगियों के प्रत्यक्ष से सिद्ध है। इसीलिए प्रचुरतर अभ्यास से असौ (यह) इस तरह से प्रत्यक्ष रूप से उसका निर्देश किया है। वह वैराज पुरुष ही धारणा का आश्रय है और उसका आश्रय है कोश जैसे लोहे के गोले में अग्नि रहती है। अथवा कमल में स्थित जैसे भ्रमर होता है। यद्वा महल में जैसे राजा रहता है। आश्रय पद से अपने शरण में आए हुए के लिए धारणा का फल सब प्रकार से देंगे हो ऐसा सूचित होता है ।। २५ ।।

आभास—इदानीं सर्वेषामेव सूक्ष्माणां साधाराणां तत्र निवेशनं वक्तुं भारत्वाभावायाऽऽधाराणामवयवत्वं निरूपयति **पातालमित्यादिभिः**—

आभासार्थ—अब भगवान् के शरीर में सभी सूक्ष्मों का और साधारणों का सन्निवेश कहने के लिए और जितने भी आधार हैं वे सब भगवान् के शरीर के अंग होने से भगवान् को उनका भार नहीं है इसका निरूपण करते हैं—

श्लोक—**पातालमेतस्य हि पादमूलं पठन्ति पार्ष्णिप्रपदे रसातलम् ।**
महातलं विश्वसृजोऽथ गुल्फौ तलातलं वै पुरुषस्य जङ्घे ।। २६ ।।

द्वे जानुनी सुतलं विश्वमूर्त्तेरूरुद्वयं वितलञ्चाऽतलञ्च ।
महीतलं तज्जघनं महीपतेर्नभस्तलं नाभिसरो गृणन्ति ॥ २७ ॥
उरःस्थलं ज्योतिरनीकमस्य ग्रीवा महर्वदनं वै जनोऽस्य ।
तपो रराटीं विदुरादिपुंसः सत्यं तु शीर्षाणि सहस्रशीर्ष्णः ॥ २८ ॥

श्लोकार्थ—इस विराट् भगवान् का पादतल पाताल है । एड़ी और पैर के आगे का भाग रसातल है और विश्व की सृष्टि करने वाले महापुरुष के टखने महातल है। पुरुष की दोनों पिंडरियें तलातल है। दोनों ही घेटूं सुतल हैं । विश्वमूर्त्ति भगवान् की दोनों जांघें वितल और अतल हैं । भूपति भगवान् का पेडू महीतल है। नाभि को नभस्तल कहते हैं और भगवान् का उरःस्थल ज्योतिश्चक्र है। ग्रीवा महर्लोक है और मुख जनलोक है । आदिपुरुष भगवान् का ललाट तपोलोक है। सहस्रशीर्षा भगवान् का मस्तक सत्यलोक है ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥

सुबोधिनी—चतुर्दश लोकाश्चतुर्दशभेदेनाऽवयवविन्यासत्वमापन्ना ध्यानविषयत्वमापद्यन्ते । न तु भगवदवयवा लोकत्वमापन्नाः । तथा सत्युत्तमस्य हीनभावादध्येयत्वमेव स्यात् । तदाह । पातालं सर्वाधोलोकः। पादमूलं पादारक्तस्थानम्। तथा सति वासुकिप्रभृतीनां रेखात्वमुपपद्यते । अत्र प्रमाणमाह—**पठन्तीति** । वेदवदनादिसिद्धेयं प्रसिद्धिः । एतस्य शरीरस्य । भगवत्पक्षे साकारब्रह्मणस्तत्र व्याप्तत्वात्तद्भावमापन्नमिति । पार्ष्णिश्चरणपश्चाद्भागः । प्रपदं पादाग्रम् । प्रत्याहारेण तन्मध्यभागश्च । रसातलं तदुपरितनो लोकः । गुल्फौ पादग्रन्थिरूपौ । महातलं रसातलादुपरितनो लोकः । एवमग्रेऽपि पूर्वनिरूपितस्योपरितनो लोकः पश्चान्निरूप्य इति । महातलस्य महत्पदप्रयोगे हेतुमाह— **विश्वसृज इति** । तत आरभ्य सृष्टेराधिक्यात् । तस्य भिन्नखण्डत्वनिरूपणायाऽथशब्दः । एतावता पञ्चात्मकः पुरुष इति निरूपितो भवति । तत्र लोकद्वयमेकः खण्डः । अथ भिन्नप्रकारेण । गुल्फौ । त्रयाणामपि गुणानां पञ्च भेदा अप्युक्ता भवन्ति । केवल तमः, रजस्तमः, रजः, रजःसत्वम्, सत्वमिति । तत्र केवलं तमो निरूपितम् । महातलादिसुतलपर्यंतं द्वितीयः खण्डः । तत्र जङ्घे तलातलम् । **पुरुषस्येति** लोमशत्वम् । जङ्घे जङ्घाद्वयम् । उभयावयवत्वान्नाम्नि पदद्वयप्रयोगः । आधारत्वेन वा । सुतलं द्वे जानुनी । जानुनीपदेनैव जानुद्वये प्राप्ते पुनर्द्विपदं तस्य लोकस्य द्विरूपताज्ञापनार्थम् । अत एवाऽग्रे सुतलं शुद्धमिति वक्ष्यति । साधारणस्थानं स्वस्थितिस्थानञ्च । यत्र बलिस्तिष्ठति तच्छुद्धम् । अत एव तस्य प्रदर्शितं विश्वरूपमनुस्मारयति—**विश्वमूर्त्तेरिति** । वितलमतलञ्च उरुद्वयम् । एकमतलम् । एकं वितलम् । केचनाऽग्रपश्चाद्भावभेदेन द्वयमपि द्वयमाहुः । तल्लौकिकपुरुषन्यायेन तथा सम्भवेऽपि पञ्चमे ततोऽवस्तादित्यभावाच्चिन्त्यम् । अत्र चकारद्वयस्य विद्यमानत्वात्तथात्वं वा । तत्राऽप्यवान्तरभेदो वा । महादेवक्रीडास्थानं मयपुत्रस्थानञ्च स्वर्गापररूपम् । महीतलं पृथिवी । तस्य भगवतो जघनम् । उत्थितपुरुषस्यैवं व्यवस्था । ऊर्ध्वगोलस्य च । ध्येयस्तु स एव । **महीपतेरिति** राजरूपेणाऽत्र भगवत्स्थितिरुक्ता । **नभस्तल-**

मन्तरिक्षम् । नाभिसर इत्यन्तरिक्षे जलस्थिति-रुक्ता । प्रत्यक्षविरोधेऽपि वेदप्रमाणसिद्धमित्याह—**गृणन्तीति । "सलिलं वा इदमन्तरासीद्यदतरन्त-त्तारकाणां तारकात्वमि"** ति श्रुतेः । अत्र भगवन्मूर्त्तेरभावाद्द्रालयत्वाच्च नाभिकमलो-द्भवसम्भवाच्च सरस्त्वेनैव निरूपणम् । उरः वक्षस्थलम् । ज्योतिरनीकमादित्यादिध्रुवान्तं ज्योतिश्चक्रम् । तदस्य । तत्र नाऽन्यस्तिष्ठती-त्युक्तं भवति । शिशुमारस्य भगवत्त्वात् । हृदये च जीवस्थानं भवति । अतो ज्योतिरनीके शिशु-मारे भगवान् ध्येयः । ग्रीवा महर्लोकः । वदनं जनलोकश्चिबुकादिभ्रूपर्यन्तम् । अयमपि केवलं भगवतः । नित्यसुखस्थानत्वात् । तदग्रे वक्ष्यामः । तपोलोको रराटी ललाटं शून्यस्थानम् । आपद-प्रयोगः शृंगाराधारत्वख्यापनार्थः । **आदिपुंस इति** । तपसा तत्प्राप्यत इति । सत्यं तु शीर्षाणि । शिरसां बहुत्वे हेतुः— **सहस्रशीर्ष्ण इति । "सहस्रशीर्षे"** ति तस्य श्रौतत्वज्ञापनाय । तत्र ब्रह्मादीनां बहूनां लोकभेदात्सर्वेषां मूर्धन्य-तासिद्धचै मूर्द्धानं यन्तीति शीर्ष्णां बहु-वचनम् ।। २६ ।। २७ ।। २८ ।।

व्याख्यार्थ—चौदह लोक चौदह भेद से भगवान् के अङ्ग विभाग को प्राप्त होकर ध्यान का विषय बन जाते हैं । परन्तु ऐसा न समझें कि भगवान् के अवयव लोकरूपता को प्राप्त हो गये हैं । यदि ऐसा होता तो उत्तम जो भगवान् के अङ्ग हैं उनमें हीन भावना हो जायगी जिससे वे भगवान् के अवयव ध्येय ध्यान का विषय नहीं हो सकेंगे । उन्हीं को कहते हैं । सबसे नीचे का लोक पाताल है । पादमूल का अर्थ है पाद (चरण) का आरक्त स्थान वैसा होने पर वासुकि प्रभृति नाग (सर्प) रेखारूप हो गये । इसमें प्रमाण भी बताते हैं—'पठन्ति' अर्थात् इस शरीर को वेद की तरह यह अनादि सिद्ध प्रसिद्धि है । भगवान् के पक्ष में साकार ब्रह्म वहां व्याप्त है इसलिए उस लोक भाव को प्राप्त हो गये हैं । पार्ष्णि का अर्थ है चरण के पीछे का भाग (एड़ी) और प्रपद से पैर का आगे का भाग इस तरह आगे और पीछे दोनों के निर्देश से प्रत्याहार न्याय से पैर के मध्य भाग का भी ग्रहण हो जाता है । रसातल पाताल के ऊपर के लोक को कहते हैं । गुल्फ पैरों की गांठरूप(टखने) को कहते हैं । महातल रसातल के ऊपर का लोक कहलाता है । इसी तरह आगे भी पूर्व जिसका निरूपण किया है उसके पीछे के लोक का निरूपण किया जायगा । महातल में जो महत् पद का प्रयोग किया है उसमें हेतु बताने के लिए 'विश्वसृजः' ऐसा पद दिया है । यहां से ही सृष्टि की अधिकता हुई है । यह खण्ड भिन्न हैं इसका निरूपण करने के लिए अथ शब्द का प्रयोग किया है । इससे यह सिद्ध होता है कि पुरुष पञ्चात्मक है । उनमें दो लोक एक खण्ड है । इसके अनन्तर भिन्न प्रकार से दोनों का वर्णन है । गुल्फों (टखनों) तीन गुणों के भी पांच भेदों का यहां कथन है । (१) केवल तम (२) रजस्तम (३) रज (४) रजःसत्त्व और (५) सत्त्व इस तरह से । इनमें केवल तम का निरूपण किया । महातल से लेकर सुतल पर्यन्त द्वितीय खण्ड है । उनमें दोनों पिंडरियां तलातल है । 'पुरुषस्य' यह पद लोमशत्व का द्योतक है । 'लोमशः पुरुषस्मृत ऊरू' इस द्विवचन से दोनों पिंडलियें लेना । ये अवयव दो हैं इसलिए द्विवचन का प्रयोग किया है । अथवा ये दोनों आधार हैं इसलिए द्विवचन का प्रयोग है । दोनों घुटने सुतल हैं । जब 'जानुनी' ऐसा द्विवचन का प्रयोग कर दिया है फिर 'द्वेजानुनी' में द्वि शब्द का प्रयोग क्यों किया ? इसका तात्पर्य यह है कि यह सुतल शुद्ध और अशुद्ध भेद से दो प्रकार का है इसीलिए आगे 'सुतलं शुद्धं' ऐसा कहेंगे । एक तो उसमें साधारण स्थान है और दूसरा भगवान् की स्थिति का स्थान है । जहां बलि रहता है वह शुद्ध सुतल है इसीलिए 'विश्वमूर्त्तेः' इस पद से भगवान् के द्वारा प्रदर्शित विश्वरूप को याद

दिखाई है। वितल और अतल ये दोनों भगवान् की दोनों जांघें हैं एक जांघ अतल और दूसरी वितल। कुछ टीकाकारों का कहना है कि दोनों जांघों के आगे का भाग वितल और दोनों के पीछे का भाग अतल है। ऐसा कहना लौकिक पुरुष न्याय से हो सकता है परन्तु पंचम स्कन्ध में उसके अधस्तात् (नीचे)ऐसा पद नहीं हैं। अतः ऐसा मानना विचारणीय है ठीक नहीं। अथवा यहां दो च विद्यमान हैं इसलिए वैसा हो भी सकता है। यद्वा उनमें भी अवान्तर भेद है। महादेवजी की क्रीड़ा का स्थान और मयपुत्र का स्थान जो स्वर्ग का दूसरा रूप है। महीतल का अर्थ पृथ्वी है। उसको भगवान् का जघन कहा है। खड़े हुए पुरुष की इस प्रकार की व्यवस्थिति होती है। ऊर्ध्व गोल में भी इसी तरह की व्यवस्था समझना। ध्येय तो ऊर्ध्व गोल ही है। 'महीपतेः' पद से राज-रूप से यहां भगवान् को स्थिति बताई गई है। नभस्तल से अन्तरिक्ष (आकाश) लेना। 'नाभिसरः' का तात्पर्य यह है कि अन्तरिक्ष में जल की स्थिति है। अर्थात् भगवान् को नाभि में जल की स्थिति है। यद्यपि भगवान् की नाभि में जल है यह प्रत्यक्ष विरुद्ध है किन्तु वेद के प्रमाण से ऐसा सिद्ध है। उसे 'गृणन्ति' से कहा है 'सलिलं वा इदमन्तरासीद्यदतरन्तत्तारकाणां तारकात्वम्' ऐसा श्रुति में कहा है। यहां भगवन्मूर्त्ति का अभाव होने से और रुद्र का स्थान होने से तथा नाभि कमल की उत्पत्ति का सम्भव होने से नाभिका सरोवर रूप से निरूपण किया है। उरः वक्षस्थल को कहते हैं। 'ज्योतिरनीकम्' से सूर्य से लेकर ध्रुव पर्यन्त पूरे ज्योतिश्चक्र का निरूपण है। वह ज्योतिश्चक्र भगवान् का स्थान है उसमें अन्य किसी की स्थिति नहीं है। क्योंकि यह शिशुमार भगवद्रूप है। हृदय में जीव का स्थान होता है। इसलिए ज्योतिःपुंज शिशुमार में भगवान् का ध्यान किया जाता है। ग्रीवा महर्लोक है। ठोडो से लेकर भ्रू पर्यन्त मुख कहलाता है वह मुख जन लोक है। यह भी केवल भगवान् का ही स्थान है क्योंकि महर्लोक नित्यसुख का स्थान है यह आगे कहा जायगा। रराटी-ललाट तपोलोक है यह शून्य स्थान है। रराटी (ललाट) में स्त्रीलिङ्ग पद का प्रयोग किया है इससे यह स्थान शृंगार का आधार है ऐसा बताने के लिए है। 'आदिपुंसः' कहने का आशय यह है कि वह पुरुष तप से ही प्राप्त हो सकता है। मस्तक सत्यलोक है। भगवान् के मस्तक हजारों हैं इसलिए 'शीर्षाणि' ऐसा बहुवचन पद दिया है। 'सहस्रशीर्ष्णः' से 'सहस्रशीर्षाः' आदि श्रुति उस भगवान् की ज्ञापिका है यह बताने के लिए है। सत्यलोक में ब्रह्मा आदि के बहुत से लोकों का भेद होने से वह लोक (सत्यलोक) सबका मूर्द्धन्य है इसकी सिद्धि के लिए शिरस् शब्द में बहुवचन दिया है ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥

आभास—एवं लोकानां सन्निवेशमुक्त्वा तत्रत्यानां जीवानां सन्निवेशमाह **इन्द्रादय इत्यादिना—**

आभासार्थ—इस तरह भगवान् के श्री अंग में लोकों का सन्निवेश कहकर अब उन लोकों में रहने वाले जीवों का सन्निवेश इन्द्रादय आदि से कहते हैं—

श्लोक—**इन्द्रादयो बाहव आहुरुस्राः कर्णौ दिशः श्रोत्रममुष्य शब्दः ।**

नासत्यदस्रौ परमस्य नासे घ्राणञ्च गन्धो मुखमग्निरिद्धः ॥ २९ ॥

द्यौरक्षिणी चक्षुरभूत्पतङ्गः पक्ष्माणि विष्णोरहनी उभे च ।
तद्भ्रूविजृम्भः परमेष्ठिधिष्ण्यमापोऽस्य तालू रस एव जिह्वा ॥३०॥
छन्दांस्यनन्तस्य यशो गृणन्ति दंष्ट्रा यमः स्नेहकला द्विजानि ।
हासो जनोन्मादकरी च माया दुरन्तसर्गो यदपाङ्गमोक्षः ॥३१॥
व्रीडोत्तरोष्ठोऽधर एव लोभो धर्मः स्तनोऽधर्मपथश्च पृष्ठः ।
कस्तस्य मेढ्रं वृषणौ च मित्रौ कुक्षिः समुद्रा गिरयोऽस्थिसङ्घाः॥३२॥
नद्योऽस्य नाड्योऽथ तनूरुहाणि महीरुहा विश्वतनोर्नृपेन्द्र ।
अनन्तवीर्यश्वसितं मातरिश्वा गतिर्वयः कर्म गुणप्रवाहः ॥३३॥
ईशस्य केशान्विदुरम्बुवाहान्वासस्तु सन्ध्ये कुरुवर्य भूम्नः ।
अव्यक्तमाहुर्हृदयं मनश्च स चन्द्रमाः सर्वविकारकोषः ॥३४॥
विज्ञानशक्तिं महिमामनन्ति सर्वात्मनोऽन्तःकरणं गिरित्रम् ।
अश्वाश्वतर्युष्ट्रगजा नखानि सर्वे मृगाः पशवः श्रोणिदेशे ॥३५॥
वयांसि तद्व्याकरणं विचित्रं मनुर्मनीषा मनुजो निवासः ।
गन्धर्वविद्याधरचारणाप्सरः स्वरः स्मृतीरसुरानीकवर्यः ॥३६॥
ब्रह्माननं क्षत्रभुजो महात्मा विड्रुरङ्घ्रिः श्रितकृष्णवर्णः ।
नानाभिधाभीज्यगणोपपन्नो द्रव्यात्मकः कर्म वितानयोगः ॥३७॥

श्लोकार्थ— इन्द्र आदि देवता भगवान् को बाहु हैं, दिशाएं कान हैं और शब्द ही भगवान् की कर्णेन्द्रिय हैं । दोनों ही अश्विनीकुमार इसकी नासिका है, गन्ध घ्राणेन्द्रिय है, प्रज्वलित अग्नि ही इसका मुख है । स्वर्गलोक इसकी आँखें हैं, सूर्य चक्षुरिन्द्रिय है । विष्णु की आंखों की पलकें रात दिन हैं । उन भगवान् के भ्रू की चेष्टा ब्रह्मा का लोक है, जल तालुरूप है, रस ही जीभ है । सात प्रकार के छन्द भगवान् के यश का गान करते हैं, भगवान् की दाढ यम है, स्नेहकला ही विराट् के दांत हैं । विराट् का हास ही मनुष्यों को उन्माद करने वाली माया है, विराट् भगवान् का कटाक्ष ही नित्यप्रवाहरूप सृष्टि है । ऊपर का ओठ लज्जारूप है और नीचे का ओठ लोभरुप है, धर्म उस विराट् का स्तन है, अधर्म मार्ग उस विराट् की पीठ है । उस विराट् का उपस्थ ब्रह्मा है और वृषण मित्र देवता हैं, विराट् का पेट समुद्र है और भगवान् की अस्थियां पर्वत हैं । इस विराट् पुरुष की नाड़ियां नदियां है और हे

राजेन्द्र इन विश्वतनु की रोमावली वृक्ष हैं । अनन्त पराक्रमी भगवान् का श्वास वायु है, भगवान् की गति ही काल है, भगवान् में गुणों का प्रवाह ही कर्म है । भगवान् के केशों को मेघ जानते हैं, दोनों ही सन्ध्यायें भगवान् के वस्त्र हैं, हे ! कुरुवर्य उस भूमा पुरुष का हृदय ही प्रकृति है, सब विकारों का कोष चन्द्रमा भगवान् का मन है। भगवान् की महिमा को विज्ञान शक्ति कहते हैं, सर्वात्मा भगवान् का अन्तःकरण ही महादेव हैं । भगवान् के नख घोड़े, खच्चर, ऊंट, हाथी आदि हैं । भगवान् के कुल्हे में ही मृग आदि सब पशु हैं । पक्षी भगवान् की विचित्र चित्रकारी है, मनु भगवान् की इच्छा है, मनुष्य् वासस्थान है, गन्धर्व-विद्याधर-चारण-अप्सराएं भगवान् का स्वर है, असुरों में श्रेष्ठ प्रल्हाद भगवान् की स्मृति है । ब्राह्मण मुख है, क्षत्रिय भुजा है, वैश्य जांघ और काले वर्ण वाले (शूद्र) चरण हैं । अनेक प्रकार के नाम वाले प्रधान गौण देवगणो से युक्त और व्रीहि यव आदि द्रव्यात्मक जो यज्ञ कर्म है वह सब भगवान् का अङ्ग है ।। २९–३७ ।।

सुबोधिनी—यद्यपि येषां यत्स्थानं ते तत्र निविष्टा इत्यर्थादुक्तं भवति तथाप्यनियतस्थानजीवानां स्थानं निरूप्यते । यतो देवाः सर्वेषु लोकेषु परिभ्रमन्ति । अथवा । भगवदिन्द्रियाणामाधारत्वं न भविष्यतीति तन्निरूपणार्थं पृथङ्निरूपणम् । आधिदैविकास्ते देवाः । अन्येऽपि तत्प्रकरणे निरूपितास्तद्रूपा एव । इन्द्रादयो देवा उस्राः कर्मफलदातारः । भारवहनसमर्था उस्रा उच्यन्ते । उत् ऊर्ध्वं सरन्तीति । **"उस्रावेतं धूरुषाहावि"** त्यत्र तथा निरूपणात् । भगवद्वाहवश्च फलदातारः । भगवतः कर्णौ ब्रह्माण्डे दिशः । यस्तु शब्दः स भगवतः श्रोत्रमिन्द्रियम् । नासत्यदस्रौ अश्विनौ । नासे परमस्य । नासिकाद्वयं परमस्य यज्ञस्य । यज्ञ एव तत्कृतोपकारात् । अस्मदिन्द्रियाद्यधिष्ठातारो भगवदिन्द्रियगोलकानि । विषयस्त्विन्द्रियम् । गन्धोऽस्य घ्राणम् । इद्धो ज्वलन्नग्निः। अतो भगवन्मुखे यद्देयं तज्ज्वलदग्नौ देयम् । द्यौः स्वर्गलोकः शिशुमारस्थानभूतः । अक्षिणी गोलके । चक्षुरिन्द्रियं पतङ्गः सूर्यः । पतद्गच्छतीति । चक्षुरपि भगवदीयं स्वस्मिन्पतच्चलत्वित्येदर्थम् । पक्ष्माणि चत्वारि नेत्रोन्मीलननिमीलनकर्तृणि । **विष्णोरिति** । कालरूपस्य यज्ञस्वरूपस्य वा । अहनो रात्र्यहनी । उभे चेति देवमनुष्यभेदेन । चकारात्पितृब्रह्मणोरपि । परमेष्ठिधिष्ण्यं ब्रह्मस्थानं । सत्यलोकस्थित तस्य भगवतो भ्रूविजृम्भः । यं प्रति भ्रुवोर्विजृम्भण सन्तोषेण प्रसारणं करोति तं ब्रह्मासने उपवेशयति । आपो जलानि वरुणपत्नीरूपाणि । अस्य तालुर्गोलकरूपा जिह्वा । जिह्वा इन्द्रियम् । एवकारेण रसवद्द्रव्यं निवारितम् । छन्दांसि गायत्र्यादीनि । परःसहस्रं छन्दांसि । तत्र सप्त मुख्यानि । यशः कीर्त्तिः । **गृणन्तीति** पूर्ववत्प्रमाणकथनम् । भगवद्दंष्ट्रा यमः । स्नेहकला मोहादयो द्विजानि दन्ताः । हासः हास्यं प्राणिनामुन्मादकर्त्री मायैव । चकारादनुन्मादकारी भक्तिरूपा च । माया पूर्वमुक्ता । दुरन्तसर्गः नित्यप्रवाहरूपा सृष्टिः । अपाङ्गमोक्षः कटाक्षमोक्षः । व्रीडा लज्जा । ब्राह्मणानामुपरि भवति । अधरः अधरोष्ठः ।

अधस्तनानामेव लोभो भवति । एवकारेणो-परितनानां लोभाभाव: सूचित: । धर्मो ब्रह्म-सुतो नरनारायणपिता । चतुष्पाद्धर्मो वा । एकस्तनो दक्षिण: । वामस्त्वधर्म: । अधर्म-मार्गश्च भगवत: पृष्ठभाग: । क: प्रजापति: । मेण्ढ्ं (?) अर्थ: (?) इन्द्रियमिति यावत् । मित्रौ मित्रावरुणौ । मित्रद्वयं वा । कुक्षिरुदरम्। सर्वेऽपि समुद्रा भगवत्कुक्षि: । गिरय: पर्वता: । अस्थिसमूहा वङ्क्रय: । नद्यो गङ्गाद्या: । अस्य भगवतो नाड्य: । तनूरुहाणि लोमानि । अथेत्यचेतनप्रायसृष्टिसन्निवेशार्थम् । राजसानां वा लोकास्तामसा: । देवादय एतदन्ता: सात्त्विका: । महीरुहा वृक्षा: । षड्विधा अपि भगवतो लोमानि । विश्वतनोरिति । विश्वं तनौ यस्य । अनेन तेषां विश्वरूपत्वं निरूपितम्। अन्नाच्छादनरूपत्वात् । नृपेन्द्रेति सम्बोधनं महाराजस्य राज्ये एकस्मिन्नपि वृक्षे छिन्ने लोमच्छेदनवत्क्लेशो भवतीत्यनुभवस्य संवादा-र्थम् । अनन्तवीर्यस्य भगवत: श्वसितं नासापुट-स्थवायु: । मातरिश्वा अयं वायु: । भगवतो गतिर्वय: काल: । कर्म भगवतो गुणप्रवाह: सत्त्वरजस्तमसां देवतिर्यङ्मनुष्यादिसृष्टिरूप । ईशस्य ईश्वररूपस्य । अम्बुवाहा मेघा: । विदुरिति पूर्ववत्प्रमाणम् । वास: पीताम्बरम् । सन्ध्ये सन्ध्याद्वयम् । तुशब्देन मायापक्षव्या-वृत्ति: । भूम्न इति । कालस्य कुरुवर्येति सम्बो-धनं भगवतो महत्त्वज्ञापनार्थम् । अव्यक्तं प्रकृतिर्भगवतो हृदयम् । आहुरिति पूर्ववत् । स चन्द्रमा आधिदैविकरूप: सर्वविकाराणां कोष-रूपं भगवन्मन: । तद्विकासे सर्वे विकारा उत्पद्यन्त इति । विज्ञानशक्ति ज्ञानशक्तिम् । महिं महत्तत्त्वम् । अन्त:करणमहङ्कारम् । गिरित्रं महादेवम् । सर्वात्मन इत्यहङ्कारस्य सर्वत्र स्थितिरुक्ता । अश्वादयश्चत्वारोऽश्वयवच-तुष्टयनखानि । तत्राऽऽद्यौ हस्तयो: । वामहस्तन-खानां क्षीषूपयोग इत्यश्वतरी । सर्वे मृगा: पश-वश्च भगवतोऽवयवत्वाभावेऽपि श्रोणिदेशे श्रोणिस्थाने भवन्ति । अथवा । मृगा: पशवश्च श्रोणिस्थानद्वयम् । वयांसि पक्षिणस्तस्य भगवतो व्याकरणम् । "मयूराश्चित्रिता येने" ति वाक्यात् । मनु: स्वायम्भुवादि: । मनीषा इच्छा । मनुजो मनुष्य: । निवासो गृहम् । गन्धर्वादयोऽप्सरोन्ता एकवद्भावं प्राप्ता: । स्वरो भगवत्कर्त्तृको रागविशेष: । असुरानीकवर्य: प्रह्लाद: स्मृति: स्मृती: स्मृतय: । पाठान्तरे अप्सरोन्ता: प्रह्लादश्च स्वरस्मृती । आद्य: स्वर: । द्वितीय: स्मृति: वीर्य इति पाठे पूर्वोक्ता एव स्वरस्मृतय: । असुरानीकं वीर्यं यस्य । समास एव उद्देश्यविधेयभाव: । ब्रह्मभाव: कश्चिद्धर्म: । यस्मिन् विद्यमाने ब्राह्मणशब्द-वाच्यो भवति पुरुष: । ब्राह्मण्यापरनाम । ब्राह्मण्यं न जाति: । व्यक्तिसद्भावेऽपि तस्याऽप-गमात् । "ब्राह्मण्यादेव हीयत" इति वाक्यानु-रोधात् । वृत्त्यन्तरकल्पनायां प्रमाणाभावात् । नियतव्यञ्जकाभावाच्च । ब्राह्मण्यं ब्राह्मणा-ज्जातत्वं चतुर्मुखे तत्पुत्रेषु मानसेषु च अव्या-पकम् । ऋषभपुत्रेष्वेकाशीतिर्ब्राह्मणा बभूवुरिति वाक्याच्च । तस्माच्छास्त्रे बहुवाक्यविरोधाद्-ब्राह्मण्यं काचिद्देवता । सा यस्मिन्नेव देहेऽभि-व्यक्ता भवति ते ब्राह्मणा इत्युच्यन्ते । अत एव शापादिना शूद्रत्वं चण्डालत्वमनुग्रहेण ब्रह्मत्व-मिति । सा चोपनयनेन देहे समायाति । तदा बहूनि वाक्यानि सङ्गच्छन्ते । एवं क्षत्रम् । अत एव परशुरामे उभयनिवेश: । ब्रह्म आननं यस्य । क्षत्रं भुजो यस्य । पूर्वमिद्धोऽग्निर्मुखत्वेनोक्तो वाक्यप्रकाशार्थम् । अतो वागिन्द्रियदेवताऽग्नि:। इन्द्रादयश्च भोक्तारो बाहव: पूर्वमुक्ता: । अत्र तु रसाधिष्ठात्री देवता वरुण: । रसभोक्तृ ब्राह्मण्यम् । तथा रक्षाकर्त्तृ क्षत्रमिति । विट् ऊरू यस्य । वितलातलरूपस्याऽप्यूरुणो (?) वैश्यत्वम् । स्थितिसाधकत्वेन पूर्वबद्विश: । वृत्तेश्चतुर्विधत्वाद्बहुवचनम् । विश ऊरू

यस्येति । एवमङ्घ्रिः श्रितकृष्णवर्णः । श्रितः कृष्णवर्णो यम् । कृष्णवर्णः शूद्रत्वम् । वेदरहिता विद्या च । कर्म द्विविधम् । स्वाभाविकं वैशेषिकञ्च स्वार्थं परार्थमिति यावत् । तत्र परार्थं पूर्वमुक्तं कर्म गुणप्रवाह इति । अत्र तु स्वार्थं कर्म । वितानयोगो यज्ञविस्तारः । वितानाः सप्ततन्तुवितानाः । तेषां योगो यत्र सत्रा (?) हीनेषु स भगवत्कर्म । तस्य द्वयङ्गतामाह । नानाभिधाः नानानामान इज्यगणा देवगणाः पूज्यगणास्तत्राऽभ्यभितः प्रधानगुणभावेन तेनोपपन्नः । द्रव्यात्मकश्च व्रीहियवादिसाध्यपुरोडाशादिः । देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागो यागः । तत्र देवता द्रव्यञ्चाऽङ्गम् ॥२९–३७॥

व्याख्यार्थ—यद्यपि जिनका जहां स्थान है वहां वे बिना कहे ही रहते हैं यह तो अपने आप आ जाता है परन्तु जिन जीवों का स्थान नियत नहीं है उन जीवों के स्थान का निरूपण किया जाता है । क्योंकि देवता सब लोकों में घूमते रहते हैं । अतः उनका नियत स्थान बताना आवश्यक है । अथवा भगवान् की इन्द्रिया उनका आधार नहीं होगी उसके निरूपण के लिए भी अलग से निरूपण किया गया है । वे देवता आधिदैविक हैं । दूसरे भी देवता जिनका निरूपण उस प्रकरण में किया है वे भी आधिदैविक हैं । इन्द्रादि देवता उस्र हैं कर्मफल के देने वाले हैं । जो भार को सहन करने में समर्थ होते हैं वे उस्र कहलाते हैं । 'उत्–ऊर्ध्वं सरन्ति' इस तरह उस्र की व्युत्पत्ति है । इस विषय में 'उस्रावेतं धूरुषाहावि' यह श्रुति प्रमाण है । भगवान् के बाहु ही फल देने वाले हैं । इस ब्रह्माण्ड में भगवान् के कान दिशा हैं । जो शब्द है वह तो भगवान् की श्रोत्रेन्द्रिय है । नासत्य दस्र दोनों अश्विनीकुमार है इस विराट् की नासिका है । परम उत्कृष्ट यज्ञरूप के दो नासिका है । यज्ञ में ही उनका उपकार प्रसिद्ध है । भगवान् के इन्द्रिय गोलक हमारी इन्द्रियों के अधिष्ठाता है और भगवान् का विषय हमारी इन्द्रिय है । गन्ध इस विराट् की घ्राणेन्द्रिय है । प्रज्वलित अग्नि भगवान् का मुख है इसलिए भगवान् के मुख में जिसको अर्पण करना हो,उसे प्रज्वलित अग्नि में देना चाहिये । शिशुमार का स्थानभूत स्वर्गलोक द्यौः कहलाता है वह नेत्र है । अक्षिणी से आंखों के गोले लिये जाते हैं । सूर्य चक्षुरिन्द्रिय है । पतङ्ग का अर्थ है पतत्—गिरता हुआ जो चले, जिस तरह सूर्य अपने प्रकाश को हमारे ऊपर डालता हुआ चलता है उसी तरह भगवान् भी अपनी दृष्टि भी हमारे ऊपर गिरती हुई चले इस आशय से यहां सूर्य को पतङ्ग कहा है । पलकें चार हैं वे आंखों को खोलती हैं और बन्द करती हैं । 'विष्णोः' का अर्थ है कालरूप या यज्ञस्वरूप । अहनी इस द्विवचन से रात और दिन का ग्रहण होता है । देवता और मनुष्य इन दोनों का ग्रहण कराने के लिए 'उभे च' यह पद दिया है । च से पितरों का और ब्रह्मा का ग्रहण करना चाहिये । सत्यलोक में स्थित ब्रह्मा का स्थान उस भगवान् का भ्रूविजृम्भ है । जिसके ऊपर भगवान् की संतोष की दृष्टि होती है उसे ब्रह्मासन पर बिठा देते हैं । भगवान् का तालु वरुणपत्नीरूप जल है । रस ही गोलकरूप जिह्वा है । जिह्वा से जिह्वा इन्द्रिय ली जाती है । रस वाला द्रव्य जिह्वा नहीं है इसको सूचित करने के लिए रस के साथ एव का प्रयोग किया है । छन्दांसि से गायत्री आदि छन्दों का ग्रहण करना यद्यपि छन्द तो हजारों हैं परन्तु उनमें मुख्य सात ही छन्द हैं । वे छन्द भगवान् की कीर्ति का वर्णन करते हैं इसमें वेद प्रमाण हैं इसलिए 'गृणन्ति' पद दिया है । भगवान् की दाढ यम है । भगवान् के दांत मोहरूप हैं । भगवान् का हास्य प्राणियों को उन्मादित करने वाली माया ही है । च से भक्तिरूप भी माया है । वह उन्माद नहीं करती है । माया तो पहले कह ही दी है ।

नित्य प्रवाहरूपा सृष्टि दुरन्त सर्ग है। अपाङ्गमोक्ष का अर्थ है कटाक्ष। व्रीडा—लज्जा। यह ब्राह्मणों के हीन कर्म करने पर होती है यह लज्जा भगवान् का ऊपर का ओष्ठ है। नीचे का ओठ लोभ रूप है जो तामस होते हैं उन्हें ही लोभ होता है। 'अधरे एव लोभ:' यहां एव शब्द इस बात को सूचित करता है कि जो उपरितन (सात्त्विक) हैं उन्हें लोभ नहीं होता। ब्रह्मपुत्र धर्म नरनारायण का पिता दक्षिण स्तन है। अथवा चतुष्पाद धर्म दक्षिण स्तन है। अधर्म वामस्तन है। भगवान् की पीठ का भाग अधर्म मार्ग है। प्रजापति भगवान् का मेढ़ नीचे की इन्द्रिय है। मित्रावरुण भगवान् के अण्डकोष हैं। सब समुद्र भगवान् का उदर है। पर्वत भगवान् का अस्थि समूह तथा पसलियां हैं। गङ्गा आदि नदियां इन भगवान् की नसें हैं। वृक्ष भगवान् के रोम हैं। अचेतन प्राय सृष्टि के समावेश के लिए अथ शब्द दिया है। जो राजस हैं हीन कर्म करते हैं उन्हें तामस लोक प्राप्त होते हैं। देवताओं से लेकर और राजसों से पूर्व के सब सात्त्विक हैं। महीरुहा से वृक्ष लिये जाते हैं। इस तरह इस छ: प्रकार की सृष्टि को भगवान् के रोम कहे हैं। सारा विश्व है शरीर में जिसके ऐसा होने से भगवान् को विश्वतनु कहते हैं। वृक्षादि अन्नाच्छादन रूप होने से उसकी विश्व रूपता बताई है। हे नृपेन्द्र ! ऐसा सम्बोधन इस बात का सूचक है कि महाराज के राज्य में एक वृक्ष के काटने पर महाराज को अपने बालों के छेदन के समान क्लेश होता है इसका तुम्हें अनुभव है। अनन्त पराक्रमी भगवान् के नासापुट में स्थित श्वास ही यह वायु है। भगवान् को गति कालरूप है। सत्त्व, रज और तमोगुण की सृष्टिरूप देवता, मनुष्य और पशु पक्षी यह भगवान् का कर्म है ईश्वर रूप भगवान् के ये मेघ सिर के बाल हैं। इनमें पूर्ववत् प्रामाणिकता है इसे 'विदु:' से बताया है। दोनों ही सन्ध्या कालरूप भगवान् का पीताम्बर (धोती उपरना) है। यहां सन्ध्या मायारूप नहीं है इसके लिए तु शब्द दिया है। भगवान् के महत्व को तुम जानते हैं इसको बताने के लिए परीक्षित् के लिए कुरुवर्य ! ऐसा सम्बोधन दिया है। प्रकृति भगवान् का हृदय है। इनमें भी पूर्ववत् प्रामाणिकता है यह बताने के लिए आहुः कहा है। जो सब विकारों का खजाना रूप आधिदैविक चन्द्रमा है वह भगवान् का मन है। भगवान् के मनरूप चन्द्रमा का जब विकास होता है तब सारे विकार उत्पन्न होते हैं। महत्तत्त्व ही भगवान् की ज्ञान शक्ति है। सर्वात्मा भगवान् का अन्तःकरण (अहङ्कार) ही महादेव है। 'सर्वात्मन:' इसका तात्पर्य यह है कि अहङ्कार की स्थिति सर्वत्र है। घोड़े, खच्चरी और ऊंट तथा हाथी ये चारों चारों अवयवों के नख हैं। उनमें पहले घोड़े और खच्चरी हाथों के नख हैं। बायें हाथ के नखों का उपयोग स्त्रियों में होता है इसलिए यहां अश्वतरी इस स्त्रीलिङ्ग शब्द का प्रयोग किया गया है। सब मृग पशु भगवान् का श्रोणि देश है। यद्यपि श्रोणि भगवान् का अङ्ग नहीं है स्त्रियों के नितम्ब को ही श्रोणि कहते हैं परन्तु यहां श्रोणि से श्रोणिस्थान में होते हैं। अथवा मृग और पशु भगवान् के दोनों श्रोणि स्थान है। पक्षी उस भगवान् की विवेक रूप कृति है इसी को बताने वाला 'मयुराश्चित्रिता येन' ऐसा वाक्य है। स्वायम्भुवमनु आदि भगवान् की इच्छा है। मनुष्य भगवान् का निवास का घर है। गन्धर्व, विद्याधर, चारण और अप्सराएं ये भगवान् के द्वारा किया गया राग विशेष है। प्रल्हाद भगवान् की स्मृति है। यदि स्वर स्मृती ऐसा पाठ हो तो गन्धर्व, विद्याधर, चारण और अप्सराएं भगवान् का स्वर है और प्रल्हाद स्मृति है। जहां असुरानीक वीर्य: ऐसा पाठ हो तो भी पूर्वोक्त ही अर्थ होगा किन्तु प्रल्हाद भगवान् का पराक्रम है ऐसा अर्थ हो जायगा। उद्देश्य विधेय भाव समास में ही समझना।

ब्राह्मण भगवान् का मुख है । ब्राह्मण में ब्रह्मभाव कोई धर्म विशेष होता है । उस (ब्रह्मभाव) के रहने पर ही पुरुष ब्राह्मण शब्द से कहा जाता है । ब्रह्मभाव का ही दूसरा नाम ब्राह्मण्य है । ब्राह्मण जाति नहीं है यदि जाति होती तो व्यक्ति के रहने पर भी वह ब्राह्मण-पन कैसे चला जाता ? जैसे कहा है—'शूद्रां शयनमारोप्य ब्राह्मणो यात्यधो गतिम्' 'तस्यां तनयमुत्पाद्य ब्राह्मण्यादेव हीयते' इस वाक्य के अनुरोध से ब्राह्मणपन चला जाता है । अर्थात् जो ब्राह्मण शूद्रा का सहवास करता है वह अधोगति को प्राप्त होता है और यदि शूद्रा में सन्तान उत्पन्न कर देता है तो ब्राह्मणपन से हीन हो जाता है, लक्षणा की कल्पना करने में कोई प्रमाण नहीं है । इसमें नियत व्यञ्जक का अभाव है । यदि ऐसा कहो कि ब्राह्मणी में जो ब्राह्मण से उत्पन्न हो वह ब्राह्मण होता है तो ब्रह्माजी में तथा ब्रह्माजी के मानस पुत्रों में यह लक्षण घटित न होने से ब्रह्माजी और ब्रह्माजी के पुत्र ब्राह्मण नहीं कहलायेंगे । ऋषभदेवजी क्षत्रिय थे और उनके इक्यासी पुत्र ब्राह्मण कैसे हो गये ? इसलिए शास्त्र के बहुत से वाक्यों का विरोध होने से ब्राह्मण्य नाम की कोई देवता है वह देवता जिनके शरीर में अभिव्यक्त हो जाती है वे ब्राह्मण होते हैं । इसीलिए तो शाप से शूद्रता और चाण्डालता होती है और अनुग्रह से ब्राह्मणता हो जाती है । वह ब्राह्मण्य देवता यज्ञोपवीत के द्वारा देह में आती है । बहुत से वाक्य तभी सङ्गत होते हैं । इसी तरह क्षत्रियों में क्षत्र नाम की देवता के अभिव्यक्त होने से क्षत्रिय होता है । इसीलिए परशुरामजी में ब्राह्मण्य और क्षात्र दोनों ही का समावेश था । ब्राह्मण जिस भगवान् का मुख है और क्षत्रिय भुजा है । प्रज्वलित अग्नि को पहले भगवान् का मुख बताया है । यहां ब्राह्मण को भगवान् का मुख कहा है उसका तात्पर्य यह है कि वाणी का प्रकाशन मुख के द्वारा होता है । अतः वाणी के प्रकाशक ब्राह्मण को मुख कहा है । अतः वाग् इन्द्रिय का देवता अग्नि है । इसी तरह भोक्ता इन्द्रादि देवताओं को पहले भगवान् की भुजा बताई है । यहां तो रस की अधिष्ठात्री देवता वरुण है । रस भोक्तृत्व ब्राह्मण्य देवता में है और रक्षा कर्तृत्व क्षत्र में है । वैश्य को भगवान् की जांघें बताया है । वितल अतल रूप जांघों को भी वैश्यरूपता है । वितल अतल स्थितिसाधक देवता हैं । उनकी वृत्ति चार प्रकार की है अतः बहुवचन है । कृष्णवर्ण शूद्र भगवान् के चरण है 'श्रितकृष्ण वर्ण.' का विग्रह श्रितः कृष्ण वर्णो यम् इस तरह है । वेद रहित विद्या और कृष्णवर्ण में शूद्रत्व है । कर्म दो प्रकार का है—स्वाभाविक और वैशेषिक । जो अपने लिए किया जाता है वह स्वार्थ कर्म है और जो दूसरों के लिए किया जाता है वह वैशेषिक कर्म है । उनमें परार्थ कर्म का गुणप्रवाहः से वर्णन पहले किया जा चुका है । यहां स्वार्थ कर्म का निरूपण है । यह कर्म यज्ञों का विस्तार है । यज्ञ अनेक प्रकार के हैं । उन यज्ञों का योग जहां है । सत्र अहीन आदि में भगवत्कर्म आदि प्रकाशित होते हैं । इन यज्ञों के दो अङ्ग हैं । देवता और द्रव्य उनमें अनेक नाम वाले देवता हैं उनमें भी प्रधान देवता और गौण देवता होते हैं उनसे सम्पन्न होने वाले यज्ञ । तथा द्रव्यात्मक यज्ञ भी व्रीहि, यव, पुरोडाश आदि हैं । देवता के उद्देश से द्रव्यत्याग को यज्ञ कहते हैं इसलिए देवता और द्रव्य यज्ञ का अङ्ग है ॥ २९–३७ ॥

आभास—एवं सर्वपदार्थानां भगवत्स्वरूपत्वायोद्देशप्रकारेण भगवच्छरीरे समावेशनमुक्त्वोपसंहरति—

आभासार्थ—इस तरह सभी पदार्थ भगवद्रूप हैं इसके लिए उद्देश प्रकार से भगवान् के शरीर में उनका समावेश कहकर अब उपसंहार करते हैं—

श्लोक—**इयानसावीश्वरविग्रहस्य यः सन्निवेशः कथितो मया ते ।**
सन्धार्यतेऽस्मिन्वपुषि स्थविष्ठे मनः स्वबुद्धया न यतोऽस्ति किञ्चित् ३८

श्लोकार्थ—इस तरह यह भगवान् के विग्रह (शरीर) का इतना विस्तार मैंने तुम्हें कहा । इस स्थिर भगवान् के शरीर में मन की धारणा की जाती है । मन के साथ बुद्धि से भी धारणा करे इससे अधिक और करने का कुछ नहीं है ।। ३८ ।।

सुबोधिनी—इयानसाविति । ईश्वरविग्रहस्य विराड्देहस्य सन्निवेशः अवयवविन्यासप्रकारः इयानेतावानेव । नाऽधिको विन्यासोऽस्तीत्यर्थः । असौ अयमेव विन्यासो न त्वन्योऽपि विन्यासोऽस्ति । अथवा । असौ प्रकृतरूपो विन्यास इयानेतावान् । आनन्दमयस्य त्वन्यः। स उत्तरत्र वक्ष्यते । अत्र पदार्थानां विनिवेशस्योद्देशप्रकरणत्वान्नाऽस्माभिर्विवरणमुक्तम् । अग्रे विमर्शे वक्तव्यत्वात् । एवं निवेशकथनस्य प्रयोजनमाह—**सन्धार्यत इति** । अस्मिन्नेव वपुषि सर्वैर्योगिभिर्मनः सन्धार्यते । योगाङ्गधारणाविषयोऽयमेव क्रियते । स्थविष्ठ इति पूर्ववत् । वं सुखं पुष्णातीति वपुर्देहापरपर्यायः । तुल्यार्थत्वादस्याऽप्यर्थस्तत्रैवोक्तः । स्वबुद्धया आत्मबुद्धया आत्मरूपत्वेन । अन्यथा सर्वप्रवेशो न स्यात् । परमभक्तिराकांक्षाभावश्च न भवेत् । फलञ्च । भोगोऽतिक्रमश्च न भवेत् । एतस्मिन् धारणाविषये जाते कुत्र धारणा कर्त्तव्या कुत्र नेत्यादिसन्देहा गच्छेयुः । यतो—**न यतोऽस्ति किञ्चित्** । यस्माद्रूपादन्यद्भिन्नं किमपि नास्ति ।। ३८ ।।

व्याख्यार्थ—विराट् देह के अवयवों का सन्निवेश प्रकार इतना ही है । इससे अधिक विन्यास नहीं है । असौ का अर्थ है कि ये ही विन्यास है अन्य विन्यास नहीं है । अथवा प्रकृतरूप विन्यास इतना है । आनन्दमय का विन्यास तो अन्य है वह आगे कहा जायगा । यहां पदार्थों के विनिवेश के नामों का ही प्रकरण है इसलिए हमने उन्हों का विवरण (व्याख्या) नहीं कहा । आगे विमर्श प्रकरण में विवरण किया जायगा । इस प्रकार के विनिवेश के कहने का प्रयोजन 'सन्धार्यते' पद से कहा गया है । इसी भगवान् के अङ्ग में सब योगी अपने मन की धारणा करते हैं । योग की अङ्गरूप धारणा का विषय यह ही रूप है । स्थविष्ठः इसका अर्थ पूर्ववत् समझना । देह का पर्यायवाची यहां वपु शब्द रखा है उसका अर्थ है (वं सुखं पुष्णाति) जो सुख का पोषण (वृद्धि) करता है । तुल्यार्थ होने से इसका अर्थ भी वहीं विमशाध्याय में कहा है । यदि भगवान् में मन को लगाते समय पदार्थों में आत्मबुद्धि नहीं रखी जायगी तो सर्वप्रवेश नहीं होगा और परम भक्ति तथा आकांक्षा का अभाव भी नहीं होगा । सायुज्य फल और सब पदार्थों का यथार्थ भोग एवं चण्डिकादिधारणा का अतिक्रम भी न होगा । विराट् प्रभु ही जब धारणा का विषय हो जाता है तब धारणा कहां करनी चाहिये कहां नहीं करनी चाहिये ये सब सन्देह निवृत हो जायेंगे । इस विराट् रूप से भिन्न (अलग) और कोई रूप है ही नहीं यह 'न यतोऽस्ति किञ्चित्' से कहा गया है ।। ३८ ।।

आभास—साधारणानां पञ्चप्रश्नेषु कर्त्तव्यमध्य एव श्रोतव्यस्मर्त्तव्ययोरनुप्रवेशान्नामानुकीर्त्तनेनैव जपस्योक्तत्वात्कर्त्तव्यमध्य एव कर्त्तव्यस्य प्रवेशाद्वैकल्पिकपक्षत्वाच्चाऽन्येषां भजनीयप्रश्नोऽवशिष्यते । तमाह—

आभासार्थ—राजा ने सात प्रश्न किये थे उनमें दो प्रश्नों का उत्तर तो शुकदेवजी ने युक्ति युक्त दे दिया । अब जो साधारण पांच प्रश्न रहे उनमें जो कर्त्तव्य है उनका अनुप्रवेश श्रोतव्य और स्मर्त्तव्य में ही हो जाता है और जप का समावेश नामानुकीर्त्तन में हो जाता है । इस तरह कर्त्तव्य के अन्दर ही कर्त्तव्य का प्रवेश हो जाने से और वैकल्पिक पक्ष होने से अन्यों का भजनीय पक्ष बाकी रहता है उसे यहां बताते हैं—

श्लोक—**स सर्वधीवृत्त्यनुभूतसर्व आत्मा यथा स्वप्नजनेक्षितैकः ।**
तं सत्यमानन्दनिधिं भजेत नाऽन्यत्र सज्जेद्यत आत्मपातः ।। ३९ ।।

श्लोकार्थ— जिस तरह स्वप्न में देखे गये पुरुषों का देखने वाला आत्मा एक है उसी तरह सबकी बुद्धिवृत्ति द्वारा सबका भोग करने वाला एक है । उस सत्यस्वरूप आनन्दनिधि भगवान् का भजन करना चाहिये । अन्यत्र आसक्ति रखने पर उसकी आत्मा का पतन हो जाता है ।। ३९ ।।

सुबोधिनी—**स सर्वधीवृत्त्यनुभूतसर्व इति** । योऽत्र धारणाविषयत्वेनोक्तः सर्वात्मपदेन च श्रोतव्यविषयतावच्छेदकवाचकेन निरूपितो यस्य विवरणार्थमयं सन्निवेशो निरूपितः स एव श्रवणादिना भजनीयः । श्रवणादिना भगवत्सन्निधाने गत्वा तत्सायुज्यं वा प्राप्य साक्षात्तमेव भजेत । अन्यत्र फले साधनान्तरेणाऽनेन वा साधनेनाऽऽसक्तः स्वस्थानादपि पतेत् । यस्यामवस्थायां तिष्ठति ततोऽपि पतेत् । अनेन प्रथमं फलाथ भवतु पश्चात्तदर्थमपीत्यपि पक्षो निवारितः । नन्वस्य फलत्वं भजनीयत्वं वा कथम् ? तत्राऽऽह—**आनन्दनिधिमिति** । भजनीयं फलमेव । साधनस्य पुरुषशेषत्वात् । यद्यपि फलमपि पुरुषशेषः । पुरुषानुभवविषयत्वादनुभवरूपत्वाद्वा । तथापि रसत्वेन रसप्रधानत्वेनैव भोगे रसिकता भवतीति फलं सेव्यम् । तच्च परमानन्दः । सोऽपि न गणनया प्राप्तो ब्रह्मणि स्थितः परिमितत्वात् । किन्त्वानन्दनिधिः । आनन्दो नितरां धीयतेऽस्मिन्निति पूर्णानन्दो भगवानेव सेव्यः । आनन्दपोषस्योक्तत्वात्तस्य तिरोभावमाशङ्कयाऽऽह—**सत्यमिति** । ननु फलान्तरविषये चित्तसद्भावे किं विधेयम् । **"उद्यतस्य हि कामस्य प्रतिवादो न शक्यत"** इति न्यायात् । तत्राऽऽह—**सर्वधीवृत्त्यनुभूतसर्व इति** । सर्वधीवृत्तिभिः सर्वेषां सर्वज्ञानजनकेन्द्रियवृत्तिभिरनुभूतं सर्वं येन । यत्किञ्चित्फलं येन केनचिदुपभोग्यं तत् तदिन्द्रियद्वारा अनेनैवोपभोग्यम् । अतः स्वरूपतोऽस्माद्यथा अन्यन्नाऽवशिष्यते तथा फलमपि । एतदनुभोग्यं फलञ्च नाऽवशिष्यते । ननु कथमस्य भोक्तृत्वम् । तत्तदधिष्ठातृणां विद्यमानत्वात् । तत्राऽऽह—**आत्मा यथेति** । तत्तदिन्द्रियाधिष्ठातृणां दिगादीनां विद्यमानत्वेऽपि यथा आत्मा सर्वेन्द्रियानुभूतसर्व एवं भगवानपि तमप्येकदेशाभिमानिनमविगणय्य तेना-

ऽधिष्ठितैरेवेन्द्रियैः सर्वमनुभवतीत्यर्थः । नन्वात्मन इन्द्रियाधिष्ठातृणामप्रतीतत्वादात्मीयत्वेनेन्द्रियाणां ग्रहणात्तस्य स्वगृहीतमात्रानुभवो भवतु नाम । भगवतस्तु समष्टिरूपस्य व्यष्टिषु देहस्थितकीटेष्विव प्रतीत्यभावादात्मीयत्वाभावाच्च तदिन्द्रियाणां कथं सर्वधीवृत्तिभिर्भगवाननुभवति ? तत्राऽऽह— स्वप्नजनेक्षितैक इति । स्वप्नजनानामीक्षिता द्रष्टा यथैकः । स्वप्नस्य मायिकत्वेऽपि ज्ञानं न मायिकम् । तस्याऽऽत्मरूपत्वात् । तत्र स्वप्नदृष्टाः पुरुषाः स ° पश्यन्तीति प्रतीतिरस्ति । तत्र पुरुषदेहानां मायिकत्वं न्यायसिद्धम् । तथापि तन्निष्ठा या प्रतीतिः सा न मायिकी । तत्र चैतन्यान्तराभावाद्भगवतो वा जीवस्य वा चैतन्यं भवति । स्वस्याऽपि द्रष्टृत्वाभावादिन्द्रियाणां गोलकाभावेन प्रदर्शनसामर्थ्याद्गोलकस्य च स्वाप्नस्य च मिथ्यात्वाद्भगवानेव पश्यतीति युक्त्याऽध्यवसीयते । निद्रावशाच्च तेन सह भेदो न स्फुरति । तथाऽन्यत्राऽपि स एव पश्यतीत्यध्यवसीयते स्वप्नदृष्टान्तेन । ततस्तेषु देहेषु जीवसद्भावे असद्भावे वा भगवानेव द्रष्टेति निश्चीयते । तस्य चाऽस्मदिन्द्रियगोलकापेक्षा नास्ति । देवतानामेव गोलकत्वात् । विषयस्य चेन्द्रियत्वात् । विषये चाऽस्मदादीन्द्रियलयात् । कारणलयपक्षेऽपि वासनाया तत्र विषयसद्भावात् । कारणस्याऽलये लीनानामपि प्रकाशसम्भवाल्लयाङ्गीकारे गौरवाच्च विषय एव लयोऽङ्गीकर्त्तव्यः । अन्यथा निद्राया अव्यवधायकत्वात्पुनरुद्बोधः कथं क्रियेत । अहङ्कारस्त्वात्माध्यासरूप इन्द्रियवल्लीयते । न त्विन्द्रियकारणभूतः । तथा सति पुनः सृष्ट्यभावान्नोत्पद्येरन् । अतो विषयलीनानीन्द्रियाणि भगवदिन्द्रियलीनानि भवन्ति । अतः स्वप्नद्रष्टृविचारे क्रियमाणे यथा सर्वं व्याप्य सर्वेषामात्मा भूत्वा सर्वं पश्यतीति निश्चयः । एवं जागरणावस्थायामपि तत्तद्विषये प्रविष्टानीन्द्रियाणि भगवदिन्द्रियप्रवेशाद्भगवज्ज्ञानसाधकानि भवन्ति । अन्यथा भगवत इन्द्रियातिरिक्तस्य विषयस्याऽभावात्किं गृह्णीयात् । तत्रेन्द्रिये सम्बद्धमात्मानं गृह्णन्नपि वेद्यत्वाकांक्षायामात्मनोऽवेद्यत्वात्परेन्द्रियवेद्यत्वेनेन्द्रियस्यैव वेद्यत्वं सम्भवति । अतोऽप्यस्मदिन्द्रियापेक्षा । स च सर्वत्रैकः । भेदकप्रमाणाभावात्स्वप्नदृष्टान्तेन व्यावर्त्तकानामव्यावर्त्तकत्वात् । अतस्तेनैव सर्वभोगसिद्धौ पुनर्यत्नान्तरेण भोगो न साधनीयः । आत्मनः पातसम्भवाच्च । देहस्थितकीटेषु तु स्वस्य सर्वात्मभावतिरोभावाज्जीवत्वाद्वा न स्फुरणमिति सर्वमविवादम् ।। ३९ ।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षित-विरचितायां द्वितीयस्कन्धे प्रथमोऽध्यायः ।। १ ।।

व्याख्यार्थ—जिसको यहां धारणा का विषय कहा और सर्वात्म पद से जिसे श्रोतव्य के योग्य निरूपित किया और जिसके विवरण के लिए इस ब्रह्माण्ड के सन्निवेश का निरूपण किया वह ही श्रवणादि के द्वारा भजनीय है । श्रवण आदि के द्वारा भगवान् के सन्निधान में जाकर अथवा भगवत्सायुज्य प्राप्त कर साक्षात् उन्हीं का भजन करे । स्वर्गादि अन्य फल में या अन्य साधन में आसक्ति होने पर स्वस्थान से भी पतित हो जाता है । अर्थात् जिस अवस्था में है उस स्थिति से भी पतित हो जाता है । इससे भगवत्प्रेम प्राप्ति के पूर्व भगवान् को फल मानकर उनका भजन करता है । फिर भगवान् में आसक्ति होने पर भगवत्फल की भी आकांक्षा न रखे । यदि यह शंका हो कि फलरूप भगवान् है अथवा भजनीय भगवान् है यह कैसे हो सकता है इसके लिए कहा है वह आनन्द निधि है । भजनीय फल ही है क्योंकि साधन पुरुष का अङ्ग है । पुरुष के अनुभव का विषय होने से

अथवा अनुभवरूप होने से यद्यपि फल भी पुरुष का अङ्ग है। तथापि वह रसरूप है इसलिए रस प्रधानता से ही भोग में रसिकता होती है इसलिए फल सेव्य है और वह फल है परमानन्द। परन्तु वह भी गणना से प्राप्त ब्रह्म में स्थित परिमित होने से नहीं लिया जाता है किन्तु आनन्दनिधि ही लिया जाता है। 'आनन्दनिधिः' का अर्थ है आनन्द की निरन्तर रूप से जिसमें स्थिति हो अर्थात् पूर्णानन्द भगवान्। वह ही सेव्य है। वह आनन्दनिधि आनन्द का पोषक है ऐसा पहले कहा गया था इसलिए कदाचित् उसका (आनन्द का) तिरोभाव होगा ऐसी आशंका न हो इसलिए सत्यं ऐसा कहा है अर्थात् उसमें आनन्द का तिरोभाव कभी होता ही नहीं। वह सदा आनन्द से पूर्ण ही रहता है। ऐसा न्याय है कि 'उद्यतस्य हि कामस्य प्रतिवादो न शक्यते' जब काम का उदय हो जाता है तो उसका प्रतिवाद अशक्य हो जाता है। इसलिए यदि अन्यफल की ओर चित्त चला जाय तो क्या करना उसके लिए कहते हैं कि 'सर्वधीवृत्यनुभूतसर्व' सब जीवों की जितनी भी बुद्धि की वृत्तियां है उनसे सब ज्ञान जनक इन्द्रियों की वृत्तियों से सारा अनुभव वह भगवान् ही करता है। जो भी कोई फल है वह जिस किसी इन्द्रिय से उपभोग्य है उसका उस-उस इन्द्रिय द्वारा उपभोग यह (भगवान्) ही करता है। अतः जिस तरह विराट् स्वरूप से अलग अन्य कोई नहीं है उसी तरह फल भी किसी अतिरिक्त से भोग्य नहीं है। अर्थात् इस विराट् से अनुपभोग्य फल कोई है ही नहीं। यदि कहो कि यह भोक्ता कैसे है क्योंकि भोगने वाले तो उन-उनके अधिष्ठाता विद्यमान है उस पर कहते हैं कि 'आत्मा यथा' उन-उन इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवता दिशा आदि विद्यमान रहते हैं परन्तु फिर भी उनका अनुभव जैसे आत्मा करता है उसी तरह भगवान् भी एकदेशाभिमानी उस अनुभव करने वाले आत्मा की कोई परवाह न करके उस आत्मा के द्वारा अधिष्ठित इन्द्रियों से ही सबका अनुभव करता है। यदि कहो कि इन्द्रियों के अधिष्ठाता आत्मा प्रत्यक्षरूप से प्रतीत नहीं है इसलिये स्वयं इन्द्रियां ही विषयों को आत्मीयरूप से ग्रहण करती है उस अप्रतीत आत्मा को यह सब मेरे द्वारा गृहीत है ऐसा अनुभव भले ही हो। परन्तु भगवान् तो समष्टिरूप है उनका व्यष्टिरूप आत्माओं में देह में स्थित कीड़ों की तरह प्रतीति का अभाव होने से आत्मीयता का भी अभाव होगा इसलिये उन इन्द्रियों की सर्वधीवृत्तियों से उनका भगवान् अनुभव कैसे कर सकते हैं। इसके समाधान के लिये कहते हैं 'स्वप्नजनेक्षितैकः' स्वप्नजनों का देखने वाला जसे एक ही है। स्वप्न यद्यपि मायिक है परन्तु उस स्वप्न का ज्ञान मायिक नहीं है। क्योंकि वह ज्ञान आत्मरूप है। उस स्वप्न में देखे गये पुरुष सब देखते हैं ऐसी प्रतीति भी है। उसमें पुरुष देहों का मायिकत्व न्यायसिद्ध है तथापि उनमें रहने वाली जो प्रतीति है वह मायिक नहीं है। वहां अन्यचैतन्य का अभाव होने से भगवान् की अथवा जीव की चेतनता होती है। उस स्वप्न का द्रष्टा जीव तो हो नहीं सकता क्योंकि जिन इन्द्रियों के द्वारा वह (जीव) देखता है वे इन्द्रियां तो स्वप्न में है नहीं तब जीव का वह देखना मिथ्या है तब उसका देखने वाला भगवान् है इस युक्ति से यह निश्चित होता है। नींद के कारण वह भेद ज्ञात नहीं होता। इस स्वप्न के दृष्टांत से ही और जगह भी भगवान् देखता है ऐसा निश्चय होता है। इससे देहों में जीव हो या जीव न हो भगवान् ही द्रष्टा है ऐसा निश्चय होता है। उस भगवान् को देखने आदि में हमारी इन्द्रियों की आवश्यकता नहीं है। इन्द्रियों के देवता ही भगवान् के इन्द्रिय गोलक हैं (इन्द्रियां हैं) विषय ही इन्द्रियां हैं। विषयों में हमारी इन्द्रियों का लय हो जाता है। कारण में लय होता है इस पक्ष में भी उनमें विषय की सत्ता रहती है। जब तक कारण का लय नहीं होता तब तक कारण में लीन इन्द्रियों का प्रकाश

सम्भव रहता है और यदि लय का अङ्गीकार किया जाय तो गौरव होगा इसलिए इन्द्रियों का लय विषय में ही स्वीकार करना होगा। अन्यथा निद्रा तो उसमें व्यवधान करने वाली नहीं है तो फिर उसका उद्‌बोध कैसे किया जायगा। अहङ्कार तो आत्माध्यासरूप है इसलिए इन्द्रियों की तरह लीन होता है। इन्द्रियों का कारणभूत होकर लीन नहीं होता। वैसा होने पर तो पुनः सृष्टि का अभाव होने से उसकी उत्पत्ति नहीं होगी। इसलिए विषय में लीन इन्द्रियां भगवान् की इन्द्रियों में लीन हो जाती है। इसलिए स्वप्न के देखने वाले का जब विचार किया जाता है उसमें जैसे यह विराट् सबको व्याप्त करके सब की आत्मा होकर सबको देखता है यह निश्चय है उसी तरह जागरण अवस्था में भी उन-उन विषयों में प्रविष्ट इन्द्रियां भगवान् की इन्द्रियों में प्रविष्ट होने से भगवान् के लिए वे ज्ञान का साधन करने वाली हो जाती है। यदि ऐसा न हो तो भगवान् की इन्द्रियों से अलग विषय ही नहीं है तो फिर वे इन्द्रियां किसका ग्रहण करेंगी। वहां इन्द्रियों में सम्बन्ध आत्मा का ग्रहण करते हुए भी वेद्य (जानने योग्य) की आकांक्षा रहती है। आत्मा तो वेद्य है नहीं इसलिए परेन्द्रिय (ईश्वरेन्द्रिय) के लिए आत्मा की इन्द्रियां वेद्य हो सकती हैं। इसलिए उसको हमारी इन्द्रियों की अपेक्षा है और वह विराट् सर्वत्र एक ही है। भेदक (विशेषण) में प्रमाण का अभाव है अतः स्वप्न के दृष्टान्त से जितने भी व्यावर्त्तक (विशेषण) हैं वे अव्यावर्त्तक हो जाते हैं। इस दृष्टान्त से ही उस भगवान् में सर्व भोगों की सिद्धि हो जाती है अतः उसके लिए अन्य किसी यत्न से भोग की सिद्धि न करें। ऐसा करने से पतन की सम्भावना होती है। देह में स्थित कीड़ों का जो दृष्टान्त दिया था उसमें तो देह कीटों में सर्वात्म भाव का तिरोभाव है इससे अथवा जीव होने से उनमें स्फूर्त्ति का अभाव है अतः अब यहां किसी प्रकार की कोई शंका नहीं है ॥ ३९ ॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण द्वितीय स्कन्ध की अखण्ड भूमण्डलाचार्य श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) के तत्व ध्यान प्रकरण का प्रथम अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण

।। श्रीकृष्णाय नमः ।।

।। श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ।।

।। श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ।।

● श्रीमद् भागवत महापुराण ●

श्रीमद्वल्लभाचार्य–विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

द्वितीय स्कन्ध

(श्रवणाङ्ग स्कन्ध-ज्ञान लीला)

तत्व ध्यान-प्रकरण—१

(सूक्ष्म ध्यान)

अध्याय—२

भगवान् के स्थूल और सूक्ष्म रूपों की धारणा तथा क्रममुक्ति और सद्योमुक्ति का वर्णन

कारिका—**मानमेयविनिर्द्धारस्तत्त्वार्थं विनिरूपितः ।**
फलसाधननिर्द्धारो द्वितीये विनिरूप्यते ।। १ ।।
द्विविधस्तत्त्वनिर्देशो बाह्याभ्यन्तरभेदतः ।
बाह्यो निरूपितस्तत्र मानमेयपुरस्सरम् ।। २ ।।
आन्तरं भिन्नमार्गेण फलसाधनबोधतः ।
अतः साधननिर्द्धारः प्रथमं क्रियते स्फुटः ।
पश्चात्फलस्य निर्द्धारस्ततस्तत्त्वं फलिष्यति ।। ३ ।।

कारिकार्थ—प्रमाण और प्रमेय के द्वारा वस्तु तत्वों का निर्द्धार प्रथम अध्याय में किया गया। अब फल और साधन के द्वारा वस्तु तत्वों का निर्द्धार द्वितीय अध्याय में किया जा रहा है। बाह्य और आभ्यान्तर भेद से वस्तुओं के तत्वों का निरूपण

दो प्रकार का है। बाह्य तत्व का निरूपण तो प्रमाण और प्रमेय के द्वारा प्रथम अध्याय में किया जा चुका है। अब आन्तर तत्व का निरूपण फल और साधन ज्ञान के द्वारा भिन्न मार्ग से किया जायगा। अतः प्रथम स्पष्ट रूप से साधन का निर्द्धार किया जाता है। तदनन्तर फल का निर्द्धार होगा जिससे वस्तु तत्व का ज्ञान हो जायगा ।। १ ।। २ ।। ३ ।।

आभास—एवं पूर्वाध्याये सर्वेषां वस्तूनां प्रमाणतः प्रमेयतश्च तत्वं निर्द्धारितम्। भिन्नतया प्रतीतानामपि भगवति प्रवेशाद्भगवतो द्रष्टृत्वाच्च प्रसङ्गाद्भगवतः साधनत्वं फलत्वं चोक्तम्। तथापि बाह्यत्वान्न तयोस्तत्त्वनिर्द्धारः। इदानीं सर्वेषां केन रूपेण साधनता केन रूपेण च फलतेति विचार्यते। तत्र त्यागविषयत्वेन साधनता अवान्तर-फलत्वेन च फलतेति सर्वपरित्यागेन जीवस्वरूपस्य साधनत्वं ब्रह्मस्वरूपस्य च फलत्वं निर्द्धारितं भविष्यति। तत्र पूर्वोक्तफलस्य साधनस्य वा प्रकृतोपयोगं वक्तुं वैराग्यशेष-त्वेन तदुपयोगमाह—

आभासार्थ—इस तरह प्रथम अध्याय में सब वस्तुओं के तत्व का निर्धार प्रमाण और प्रमेय के द्वारा हो चुका है। भिन्न रूप से प्रतीत होने वाली वस्तुओं का भी प्रवेश भगवान् में ही है। सब के अन्तःकरण में स्थित होने से सबके द्रष्टा भी भगवान् हैं इसलिए भगवान् ही साधन हैं और भगवान् ही फल हैं ऐसा कहा। तथापि बाह्य होने से साधन और फल के तत्व का निर्द्धार नहीं हो सका। अब इस अध्याय में भगवद्रूप वस्तुओं की साधनता किस रूप से है और फलता किस रूप से है इसका विचार किया जाता है। उनमें त्याग का विषय होने से देहादि में या ब्रह्माण्ड में साधनता है और अक्षररूप अवान्तर फल से फलता है। इसलिए सर्व परित्याग से जीवरूप की साधनता का और ब्रह्मस्वरूप की फलता का निर्धारण हो जायगा। उनमें पूर्वोक्त फल अथवा साधन का प्रकृत में उपयोग कहने के लिए वैराग्य के अङ्गरूप से उसका उपयोग कहते हैं—

श्रीशुक उवाच—श्लोक—एवं पुरा धारणयाऽऽत्मयोनिर्नष्टां स्मृतिं प्रत्यवरुद्ध्य तुष्टात्।
तथा ससर्जेदममोघदृष्टिर्यथाऽप्ययात्प्राग्व्यवसायबुद्धिः ।।१।।

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी बोले—सृष्टि के पूर्व इस तरह ब्रह्मधारणा के द्वारा प्रसन्न हुए पर ब्रह्म से नष्ट हुई अपनी स्मृति को प्राप्त कर अमोघ दृष्टि ब्रह्मा ने इस जगत् की सृष्टि की वह सृष्टि जगत् के प्रलय के पूर्व जैसी थी वैसी ही की और ब्रह्माजी पहले की तरह ही निश्चित बुद्धि वाले रहे ।। १ ।।

सुबोधिनी—एवं पुरेति । तथा सामर्थ्यं फलमिति केचित् । तद्ब्रह्मणः स्वतःसिद्धत्वान्नष्टस्मृतेः प्रत्यवरोधवचनाच्च विचारणीयम् । नष्टपदेन च सर्वथा नाशे पुनस्तुष्टेन भगवता तत्सम्पादने तोषहेतुत्वमेव भवेत् । न तु सामर्थ्यहेतुत्वमपि । अन्यथा सिद्धत्वात् । अत्र तु पूर्वविस्मृतोद्बोधहेतुत्वे दृढवैराग्यहेतुत्वं भगवत्तोषे वा सर्वहेतुत्वमिति प्रथमं तदेवोच्यते । पुरा दैनन्दिनप्रलयानन्तरम् । एवं धारणया पूर्वकल्पे या स्मृतिः पदार्थनिर्माणज्ञानं तत्प्रत्यवरुद्धय पुनः ससर्जेति सम्बन्धः । **तुष्टादिति** हेतौ पञ्चमी । तुष्टाद्भगवतः सकाशाद्भगवतो हेतुभावाद्वा । यथा पूर्वं तथा ससर्ज । तोषे पूर्वज्ञानमेव हेतुः । यथा कश्चित्कञ्चन पदार्थं सङ्गोप्य बालके व्यामोहिते स चेदुपायेन तज्जानीयात्तदा सन्तुष्टो भवेत् पितृत्वात् । तथा स्वस्याऽपि सृष्टेः पूर्वं भगवन्निकटे स्थितत्वाद्भौमभोगार्थमागतस्य तद्विस्मरणादुपायेन तत्स्मरणे सन्तुष्टः सखा स्वरूपं प्रापयेदिति मुख्यं साधनं पूर्वोक्तधारणैव । तोषसाधनपक्षेऽपि **"तुष्टे तु तत्र किमलभ्यमि"** ति न्यायेनाऽन्यत्सर्वं सुगमं भविष्यतीति तदवश्यं साधनं कर्त्तव्यम् । सृष्टिसामर्थ्यं त्वप्रयोजकम् । परमविकारित्वेन प्रतिबन्धकम् । आत्मयोनिर्ब्रह्मा । नष्टां विस्मृताम् । स्मृतिं पदार्थज्ञानम् । सृष्टेरनादित्वात्पूर्वमपि स्मरणेनैव कृतम् । अतः संस्कारनाशो नोक्तः । तुष्टाद्भगवतः सकाशात् । इदं सर्वं भगवत्येव लीनं स्थितम् । पुनस्तथैव यथाऽप्ययात् प्रलयात् प्राक् । पूर्वं यथेयं सृष्टिर्यथा वा व्यवसायात्मिका बुद्धिर्यस्य तथाभूतः सन् तथा ससर्जेत्यर्थः ।। १ ।।

व्याख्यार्थ—यहां किसी व्याख्याकार ने धारणा का फल सामर्थ्य किया है किन्तु सामर्थ्य तो ब्रह्मा में स्वतः सिद्ध थी उसके लिए धारणा को साधन मानने की आवश्यकता नहीं है यहां जब 'नष्टां स्मृतिं प्रत्यवरुद्धय' ऐसा कहा है तो धारणा का फल नष्ट हुई स्मृति को पुनः प्राप्त करना ही है । नष्ट पद से यह सूचित होता है कि ब्रह्मा की स्मृति सर्वथा नष्ट हो गई थी उसे प्रसन्न हुए भगवान् से सम्पादित की इसलिए स्मृति के प्राप्त करने में प्रसन्नता ही हेतु है । प्रसन्नता सामर्थ्य का हेतु नहीं है । सामर्थ्य तो ब्रह्माजी में स्वतः सिद्ध है । यहां तो पहले जिसे भूल गये थे उसको याद दिलाने में ही प्रसन्नता को हेतु बताया है इसलिए वह दृढ़ वैराग्य का हेतु है अथवा भगवत्तोष सभी का हेतु है यह पहले कहा जा चुका है । उसी को यहां कहा जा रहा है । पुरा का अर्थ है दैनन्दिन प्रलय के अनन्तर । इस तरह धारणा से पूर्वकल्प में जो स्मृति थी तथा पदार्थ निर्माण का जो ज्ञान था उसे प्राप्त कर पुनः सृष्टि की इस तरह सम्बन्ध समझना । तुष्टात् में पञ्चमी हेतु में है । प्रसन्न हुए भगवान् के द्वारा अथवा भगवद हेतुक जैसे पहले सृष्टि की थी उसी तरह सृष्टि की । भगवान् की प्रसन्नता में पहले का ज्ञान ही कारण है । जैसे कोई पिता किसी पदार्थ को छिपाकर बच्चे को भुलावे में डालकर उसकी परीक्षा लेता है और वह बच्चा यदि उस पदार्थ को उपाय से जान लेता है तब वह पदार्थ को छिपाने वाला पिता प्रसन्न होता है । उसी तरह ब्रह्मा भी सृष्टि के पहले भगवान् के निकट में थे पश्चात् पृथ्वी के भोगों को भोगने के लिए आए तो सृष्टि करना भूल गये थे तब उपाय (धारणा) के द्वारा उसकी याद आ गई तो भगवान् ने प्रसन्न होकर ब्रह्मा को अपना सखा बना दिया । मुख्य साधन तो पूर्वोक्त धारणा ही है । प्रसन्नता को जब साधन मानते हैं तो इस पक्ष में भी भगवान् के प्रसन्न हो जाने पर कोई अलभ्य नहीं रहता । 'तुष्टे तु तत्र किमलभ्यम्' इस न्याय से और सब सुगम हो जायगा इसलिए प्रसन्न करने के लिए साधन अवश्य करना चाहिये । सृष्टि करने की सामर्थ्य इसमें प्रयोजक नहीं है । वह तो और भी अविकारी होने से इसमें रुकावट डालने वाला है । आत्मयोनि का अर्थ है ब्रह्मा । नष्ट अर्थात् भूली हुई । स्मृति—पदार्थ ज्ञान । सृष्टि

तो अनादि है इसलिए पहले भी पदार्थ ज्ञान स्मरण से हो हुआ था। इसलिए यहां संसार नाश नहीं कहा। प्रसन्न हुए भगवान् के द्वारा। यह सारा ही विश्व भगवान् में लीन होकर स्थित था। पुनः उसी तरह सृष्टि की जैसी प्रलय के पहले थी। अर्थात् पहले जिस तरह की यह सृष्टि थी अथवा जिस तरह की व्यवसायात्मिका बुद्धि थी उसी तरह वैसी सृष्टि की ।। १ ।।

आभास—इदानीमिहामुत्रार्थफलभोगवैराग्यं सर्वविषयत्यागार्थं साधनान्तरमाह—

आभासार्थ—अब ऐहिक तथा पारलौकिक फल भोग के वैराग्य तथा सर्वविषय के त्याग के लिए अन्य साधन कहते हैं—

श्लोक—**शाब्दस्य हि ब्रह्मण एष पन्था यन्नामभिर्ध्यायति धीरपार्थैः ।**
परिभ्रमंस्तत्र न विन्दतेऽर्थान्मायामये वासनया शयानः ।। २ ।।
अतः कविर्नामसु यावदर्थः स्यादप्रमत्तो व्यवसायबुद्धिः ।
सिद्धेऽन्यथाऽर्थे न यतेत तत्तत्परिश्रमं तत्र समीक्षमाणः ।। ३ ।।

श्लोकार्थ—शब्दब्रह्म वेद का मोहक ऐसा मार्ग है कि दो अर्थों वाले नामों से साधक कुछ का कुछ ध्यान करने लग जाता है। जिससे वास्तविक पदार्थों को न समझकर भ्रम में पड़ जाता है और वह वासना के कारण मायामय संसार में सो जाता है भ्रम में ही पड़ा रहता है। इसलिए समझदार उन द्वयर्थक नामों में से अपने वास्तविक अर्थ को निकालने में सावधान और निश्चित बुद्धि वाला रहे। जब वास्तविक अर्थ समझ में आ जाय तो फिर अन्य अर्थ को निकालने के लिए व्यर्थ का परिश्रम न करे ।। २ ।। ३ ।।

सुबोधिनी— **शाब्दस्य हीति**। सर्वे विषयास्त्यक्तव्याः। तत्र महतां लौकिकबाधाभावेऽपि परित्यागे वैदिकं बाधकं भवेत्। "**यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः प्रजाकामः पशुकाम**" इति। तत्र यावज्जीवाधिकारस्य नित्याङ्गत्वेन प्रजाकामनादीनां वा नित्यत्वे वैराग्यमकर्त्तव्यमेव स्यात्। कर्त्तव्यत्वे वा आन्तरमेव कर्त्तव्यं स्यात्। आत्मन्यग्निसमारोपणं वा कृत्वा अग्निहोत्रं कुर्वाण एव प्रव्रजेद्वा। जरामर्याग्निहोत्रं वा कुर्यात्। सर्वेषां पदार्थानां श्रुतिमूलकत्वेन तद्विरोधेन पदार्थकल्पनाया अशक्यत्वात्। तस्माद्यथोक्ता एव पदार्थाः फले साधने चाऽवगन्तव्याः। तस्माद्वैराग्यं पूर्वोक्तप्रकारेण शास्त्रार्थनिर्द्धारो वा न सम्भवतीत्याशङ्क्य सर्वस्याऽपि वेदस्याऽर्थमाह। यथा परब्रह्म भगवानर्थरूपः। एवं वेदोऽपि शब्दराशिभूतं ब्रह्म। अम्बुराशिवत्। यथा ब्रह्मणि सर्वत्राऽऽनन्दः पूर्ण एवं शब्दब्रह्मण्यपि सर्वत्र फलमुच्यते स्वस्य ब्रह्मत्वख्यापनाय। शब्दप्रस्थानत्वाच्च शब्दमात्रम्। अर्थस्तु परब्रह्मरूपमिति फलं तद्गतम्। अन्यथा एकस्मिन् कर्मणि प्रतिसाधनं धर्मधर्मिभेदेन क्रियाभेदेन चोच्यमानानि फलान्यप्रामाण्य-

मन्यानर्थक्यं वा सम्पादयेयुः। यथा "**स्वर्गाय वा एतानि लोकाय हूयन्त**" इत्युपक्रम्य दाक्षिणहोमे आहुतिचतुष्टये नैमित्तिके दक्षिणासंस्कारत्वेन क्रियमाणे गार्हपत्ये आहुतिद्वयम्। आग्नीध्र उत्तरवेद्यां चैकैकाहुतिः। तत्र प्रतिकर्म सङ्ख्यादीनामपि माहात्म्यं वेदेन बोध्यते। "**द्वाभ्यां गार्हपत्ये जुहोति द्विपाद्यजमानः प्रतिष्ठित्या**" इति। यद्येतदाहुतिद्वय एव यजमानः प्रतिष्ठितस्तदा अन्यानर्थक्यमेव स्यात्। विरोधेनाऽप्रामाण्यं वा स्यात्। विकल्पस्तु न भवति। एककर्मत्वात्। किञ्च। "**आग्नीध्रे जुहोत्यन्तरिक्ष एवाऽऽक्रमत**" इति। यद्याग्नीध्रहोममात्रेणैव अन्तरिक्षाक्रमणसामर्थ्यं स्यात्तदा श्रुतिः प्रमाणं स्यात्। तत्प्रत्यक्षविरोधादसम्भावितम्। "**आहवनीये जुहोति स्वर्गमेवैनं लोकं गमयती**"ति तदानीमेव यजमानस्य स्वर्गप्रापणमनिष्टमिति प्रवृत्तिप्रतिबन्धकता च स्यात्। किञ्च। आहुतिद्वयसङ्ख्यया यजमानस्याऽत्र प्रतिष्ठितत्वमुक्त्वा "**सौरीभ्यामृगभ्यां गार्हपत्ये जुहोत्यमुमेवैनं लोकं समारोहयतो**"ति होमसाधनऋचोः सूर्यप्रकाशकत्वेन धर्मेण स्वर्गाक्रमणलक्षणं फलमुक्तम्। तच्च सङ्ख्याफलेन विरुद्ध्यते। एवं सर्वत्र बहुफलत्वमन्योन्यविरुद्धफलत्वं बाधितफलत्वं च कर्मणां वददप्रामाणिकमेव स्यात्। अतः प्रामाण्यार्थं किञ्चित्तात्पर्यं वर्णनीयम्। यथा च शब्दार्थो बाधितो न भवेत्तथा च वर्णनीयम्। तत्र षोडशर्त्विग्रूपस्य यजमानात्मकस्य यज्ञस्य सर्वलोकान्तःपातिनो भगवद्रूपस्य लीला सर्वत्र वर्ण्यते। यतः स भगवानेकत्रैव सर्वरसानां विद्यमानत्वात्सर्वत्र सर्वपूर्णोऽपि यथा यत्र येन भोगेन लीलां कृतवान् तथा वेदो वदतीति निश्चीयते। ततश्च काण्डद्वयेऽप्ययमेव भगवान् विराड्रूपो यज्ञापरनामा प्रतिपाद्यत इति यदस्माभिः स्थूलधारणोक्ता वेदेनाऽपि तदेवोक्तेति शाब्दस्य ब्रह्मणोऽस्मदुक्त एव पन्थाः। किन्तु लोको भ्राम्यति। वाक्यार्थापरिज्ञानात्। यतो यत्र स्थितैर्नामभिर्वाक्यार्थसम्बन्धरहितैरेव पदार्थं विनिश्चित्य खण्डशः साधनतां ज्ञात्वा तत्तदिच्छां करोति। ततस्तमेवाऽर्थं ध्यायति। न हि पदानां वाक्यार्थबोधने पदार्थेष्वपि बोधकत्वम्। युगपद्वृत्तिद्वयविरोधात्। अतः स्वार्थे अपार्थैरपि नामभिर्लोको भ्राम्यति। ततः स्वबुद्ध्या वेदार्थं मत्वा तत्र तत्र बुद्ध्या परिभ्रमंस्तदर्थं कर्म वा कुर्वन्नर्थान् फलत्वेनोक्तान्न विन्दते। किन्तु वासनया कामनादार्ढ्येन तमेवाऽर्थं विचारयन् शयानो भवति। महामोहे निमग्नो भवतीत्यर्थः। तस्मादस्मदुक्ते वेदोक्ते च भेदाभावान्न प्रामाण्यसन्देहः कर्त्तव्य इति भावः। ननु यदि वेदो भिन्नप्रकारेण कमप्यर्थ प्रतिपादयेत्तदा कोऽपि पुरुषार्थो न सिद्ध्येत। सर्वकरणासामर्थ्यात्। तस्मान्नैवं निर्णयो युक्त इत्याशङ्क्य यत्र सिद्धार्थानुवादकत्वेन महावाक्योपयोगार्थमवान्तरफलान्यनुवदति तानि लोकसिद्धत्वाद्युक्तियुक्तानि साधनानि तादृशफलार्थं कर्त्तव्यानि। यथा—"**धन्वन्निव प्रपा असि**"। अग्नेः स्तुतौ लोकसिद्धा प्रपा दृष्टान्तीक्रियते। तथा— "**कारीर्या वृष्टिकामो यजेत**" "**श्येनेनाऽभिचरन् यजेते**"ति फलानि प्रत्यक्षसंवादीनि भगवल्लीलार्थमेव प्रतिपादितानि महावाक्यार्थोपयोगीनि। श्रुतेस्तात्पर्यं लोकदृष्टान्तरूपमवगन्तुं निपुणो भूत्वा येष्वनुवादफलेषु ससाधनेषु स्वस्य कार्यं सिद्ध्यति तावन्मात्रपरः स्यात्। "**शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुरि**"ति शमादिकमुपक्रम्य "**आत्मन्येवाऽऽत्मानं पश्येत्**" "**स वै सर्वमिदं जगत्**" "**स स भूतं स भव्यमि**"त्युक्त्वा "**ज्ञात्वा तमेवं मनसा हृदा च भूयो न मृत्युमुपयाति विद्वानि**"ति। "**अम्भस्य पार**"इत्युपक्रम्य "**य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ती**"त्युपसंहाररूपम्। यथा यस्य यत्राऽधिकारस्तावन्मात्रो भवेत्। तत्राऽप्यप्रमत्तः। न ह्येवंज्ञानमात्रेणाऽग्रिमकृतिनिरपेक्षेण कार्यं सिद्ध्यति। नन्वेवं गोधूमराशिपतितयवोद्धारणवद्व्रतिनश्चक्षुरालोकादिबलाभावादशक्यमेव स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—**व्यवसायबुद्धिरिति**। व्यवसायात्मिका

बुद्धिर्यस्य। अतिविचारेण सर्वमालोड्य स्वार्थमुद्धृत्य निश्चित्य तत्साधनकरणार्थं दृढो भवेदित्यर्थः। तत्र किं कर्त्तव्यमित्याकांक्षायां प्रथमतो लोकप्राप्तं देहादिनिर्वाहार्थं कार्यं न कर्त्तव्यमित्याह—**सिद्धेऽन्यथाऽर्थे इति**। अन्यथैव कालेन भगवता वा स्वभावेन कर्मणा लोकैर्वा देहनिर्वाहे सिद्धे स्वयं तत्र प्रयत्नं न कुर्यात्। स्वस्य हि परिमितः प्रयत्नः। स भगवत्सेवार्थं स्थापितो नाऽन्यत्र विनियोगमर्हति। किञ्च। **तत्तत्परिश्रमं तत्र समीक्षमाणः।** न केवलमन्यथासिद्धत्वमात्रं दूषणम्। तत्र देहनिर्वाहे तत्तत्परिश्रमं तेषां तेषां परिश्रममेकैकस्मिन् शय्यादिपदार्थे देहेन्द्रियबुद्ध्यादीनां परिश्रमं समीक्षमाणो न यतेतेति सम्बन्धः॥ २॥ ३॥

व्याख्यार्थ—रूप रसादि सभी विषय त्याग करने योग्य हैं। यद्यपि उत्तमाधिकारियों के लिए लौकिक विषय बाधा नहीं पहुंचा सकते परन्तु परित्याग में वैदिक विषय बाधक होंगे। जैसे स्वर्ग की कामना वाले, प्रजा कामना वाले, पशु की कामना वाले को जीवन पर्यन्त अग्निहोत्र करना चाहिये। 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः प्रजाकामः पशुकामश्च' इस विधि का परोक्ष अर्थ न समझकर जब तक जीता रहे तब तक अग्निहोत्र को नित्याङ्ग समझकर या प्रजा कामना आदि को नित्याङ्ग मानकर अनुष्ठान करता रहेगा तो उसके लिए वैराग्य अकर्त्तव्य हो जायगा। यदि कर्त्तव्य होगा तो भी कामना त्याग रूप से ही होगा। अथवा होम से अतिरिक्त समय में कर्त्तव्य होगा। अथवा 'यदहरेव विरजेत्त दहरेव प्रव्रजेत्' में प्रव्रजन (सन्यास का यह अर्थ है कि अपने आत्मा में अग्नि का समारोपण करके सन्यास ले ले और अग्नि होत्र भी करता रहे। अथवा विद्वत्सन्यास का यह वचन है। इनमें पहला तो प्राणाग्नि होत्रोप निषदुक्त प्राणाग्नि होत्र इत्यादि से कहा है और दूसरा नवम स्कन्ध में 'विरक्तो न्यासमास्थितः सदैवाग्नि भिरात्मानं युयोज परमात्मनि इस सौभर्युपाख्यान में कहा गया है जरा मर्याग्नि होत्रं करे। तीसरा है 'अम्भस्मपारे' इत्यादि तैत्तिरोय बृहन्नारायणोपनिषद् की समाप्ति में 'तस्यैवं विदुषः' इस अनुवाक में कथित है ये सब प्रमाण सिद्ध है फिर भी जो प्रव्राज के लिए अन्धपङ्गु वाद्यधिकार स्वीकार करते हैं। उनके लिए कहा जाता है कि सभी पदार्थ श्रुतिमूलक हैं इसलिए श्रुति विरोध से पदार्थों की कल्पना अनुचित है। इसलिए जिस तरह पदार्थ कहे गये हैं उसी तरह वे पदार्थ फल में और साधन में जानने चाहिये। अतः वैराग्य और पूर्वोक्त प्रकार से शास्त्रार्थ का निर्धार सम्भव नहीं हो सकता ऐसी आशका करके सम्पूर्ण वेद के अर्थ को कहते हैं। जिस तरह परब्रह्म भगवान् अर्थरूप है उसी तरह वेद भी शब्दराशिभूत ब्रह्म है। जल राशि की तरह। जिस तरह ब्रह्म में सर्वत्र आनन्दपूर्ण है उसी तरह शब्दब्रह्म (वेद) में भी फल (आनन्द) कहा जाता है क्योंकि शब्दब्रह्म भी ब्रह्म हो है। वेद में शब्द का ही प्रकृष्ट स्थान है अतएव वह शब्द मात्र है। अर्थ तो परब्रह्म रूप है। इसलिए फल परब्रह्म रूप है। अन्यथा वाक्यों का साध्यार्थत्व अङ्गीकार करके फल को पुरुष का अङ्ग मानने पर एक ही कर्म में साधन के अनुसार धर्म धर्मी के भेद से क्रिया भेद से कहे जाने वाले फल अप्रमाण होंगे अर्थात् वाक्यों में अप्रामाणिकता होगी अथवा कर्मान्तरार्थकता होगी। उसको उदाहरण से बताते हैं 'स्वर्गाय वा एतानि लोकाय हूयन्ते' ऐसा उपक्रम करके दाक्षिण होम में नैमित्तिक चार आहुति में दाक्षिणा संस्कार रूप से किये जाने वाले गार्हपत्य होम में दो आहुति है। आग्नीध्र उत्तर वेदी पर एक-एक आहुति है। उनमें प्रत्येक कर्म में संख्या आदि का माहात्म्य भी वेद में बताया है "जो यजमान गार्हपत्य हवन में दो आहुति देता है वह प्रतिष्ठित होता है" "द्वाभ्यां गार्हपत्ये जुहोति द्विपाद्यजमानः प्रतिष्ठायै'

यदि इन दो आहुतियों में ही यजमान प्रतिष्ठा लाभ करता है तो अन्य आहुति निरर्थक होंगी? अथवा विरोध होने से अप्रामाणिक होंगी। एक ही कर्म होने से विकल्प भी नहीं हो सकता। और भी आग्नीध्र में हवन करता है वह अन्तरिक्ष का आक्रमण करता है। 'आग्नीध्रे जुहोत्यन्तरिक्ष एवाऽऽक्रमते' यहां आग्नीध्र होम मात्र से ही जब अन्तरिक्ष (आकाश) में आक्रमण का सामर्थ्य प्राप्त हो जाता है तब तो श्रुति प्रमाण मानी जायगी परन्तु प्रत्यक्ष में वैसा होता नहीं इसलिए इस श्रुति को प्रमाण नहीं माना जायगा। इसी तरह 'आहवनीये जुहोति स्वर्गमेवैनं लोकं गमयति' आहवनीय अग्नि में हवन करने पर वह यजमान को स्वर्गलोक को ले जाती है। 'आहवनीय जुहोति स्वर्गमेवैनं लोकं गमयति' इस श्रुति में यजमान के लिए उसी समय स्वर्ग प्राप्ति कही है वह स्वर्ग प्राप्ति (मृत्युरूप) तो अनिष्ट रूप है इसलिए ऐसे यज्ञ को कौन करेगा। और भी दो आहुतियों से यजमान की यहां प्रतिष्ठा कहकर फिर 'सौरीभ्यां मृगभ्यां गार्हपत्ये जुहोत्यमुमेवैनं लोकं समारोहयति' इन होम साधन दो ऋचाओं से सूर्य के समान प्रकाशित होता है इस धर्म से स्वर्गाक्रमण लक्षण फल कहा। वह संख्या फल से विरुद्ध है। इस तरह कर्मों की अनेक फलता तथा अन्योन्य विरुद्ध फलता एवं बाधित फलता को बताने वाला वेद अप्रमाण हो जायगा। अतः वेद में अप्रामाणिकता न आवे इसके लिए उसका कुछ तात्पर्य अवश्य बताना चाहिये। जिससे शब्दार्थ में कोई बाधा न हो वैसा उसका तात्पर्य कहना चाहिये। अर्थात् यदि वेद की ऋचाओं में परस्पर विरोध होता हो या प्रत्यक्ष विरोध दिखाई देता हो फिर शब्द और अर्थ में बाधा हो जायगी तो तात्पर्य का निश्चय न हो सकेगा। इसलिए दोनों ही प्रकार के दोष जिस तरह न हो उस तरह उस वेद के शब्दार्थों का वर्णन करना चाहिये। वह वर्णन किस तरह किया जाय ऐसी आकांक्षा होने पर वेद के सिद्धार्थत्व का अनुसन्धान करके और फल का ब्रह्म गतत्व अनुसन्धान कर वर्णन करना चाहिये। उसका प्रकार इस तरह है 'यज्ञो वै विष्णुः' यज्ञ विष्णु है इस श्रुति से यज्ञरूप क्रिया में प्रविष्ट सोलह ऋत्विज् और यजमानात्मक यज्ञ भगवद्रूप है और सर्वलोकान्तः पाती भगवद्रूप की लीला का ही सर्वत्र वर्णन है। क्योंकि वह भगवान् एक ही जगह सब रसों के विद्यमान होने से सर्वत्र सर्वपूर्ण होते हुए भी जैसे जहां जिस भोग से लीला की वेद उसका उसी तरह वर्णन करता है ऐसा निश्चय होता है। अतः काण्डद्वयात्मक वेद में इसी विराट् रूप भगवान् का जिसका एक नाम यज्ञ भी है उस (यज्ञ) का प्रतिपादन किया जाता है। जिसे हमने स्थूल धारणा कही वेद ने भी उसी को कहा इसलिए शब्दब्रह्म वेद का और हमारा (भागवत का) एक ही मार्ग है। किन्तु वाक्य के अर्थ का ज्ञान न होने से लोग भ्रम में पड़ जाते हैं। क्योंकि यज्ञादि के प्रकरण में स्थित नामों से जिनका वाक्यार्थ से कोई सम्बन्ध ही नहीं है उनसे पदार्थ का निश्चय करके उनको खण्डशः साधनता को जानकर उन-उन की इच्छा करता है और इच्छा के अनुसार ही ध्यान करता है। वाक्यार्थ बोधन में पदों की बोधकता नहीं है और पदार्थों के बोधन में भी बोधकता नहीं है। एक साथ दो वृत्तियां नहीं रहती। इसलिए अपने अर्थ के बोधन में वे शब्द असमर्थ हैं फिर भी लोग नाम भ्रम से भ्रमित हो जाते हैं। तब वे अपनी बुद्धि के अनुसार वेद के अर्थ को समझकर उस-उस बुद्धि से भ्रमित होकर अथवा उसके लिए कर्म करते हुए जिनको फलरूप बताया है उन्हें वे प्राप्त नहीं करते। किन्तु वासना की दृढ़ता से उसी अर्थ का विचार करते हुए सन्देह में पड़ जाते हैं। अर्थात महामोह में डूब जाते हैं। इसलिए हमने जैसा कहा और वेद ने जैसा कहा उसमें कोई भेद न होने से प्रामाण्य में किसी प्रकार का सन्देह नहीं करना चाहिये। शंका करते हैं कि यदि वेद भिन्न

प्रकार से किसी अर्थ का प्रतिपादन करता हो तो तब कोई पुरुषार्थ सिद्ध न होगा। क्योंकि भगवान् की तरह सब कर्म करने का सामर्थ्य अन्य में नहीं है। इसलिए ऐसा निर्णय करना उचित नहीं इस आशंका पर कहते हैं। जहां महावाक्य के उपयोग के लिए सिद्ध अर्थ के अनुवादक रूप से अवान्तर फलों का अनुवाद करती है वे फल लोक सिद्ध होने से युक्तियुक्त हैं और उस प्रकार के फलों के लिए साधन करने चाहिये। जैसे 'तुम मरु भूमि में प्याऊ'। 'धन्वन्निव प्रपा असि' यहां अग्नि की स्तुति वाक्य में अग्नि किस तरह अत्यन्त प्रिय है इसके लिए लोकसिद्ध प्रपा प्यायु को दृष्टान्त बनाया है। उसी तरह वृष्टि कामना वाला कारीरी याग करे। 'कारीर्या वृष्टिकामो यजेत्' इसी तरह आभिचारिक क्रिया के लिए श्येन याग करे। 'श्येनेनाभिचरन् यजेते' ये फल प्रत्यक्ष संवादी हैं और इनका प्रतिपादन भगवल्लीला के लिए ही है और ये मुक्तिरूप महावाक्यार्थ के उपयोगी है। श्रुति के तात्पर्य को लोक दृष्टान्त रूप से जानने में निपुण होकर साधन सहित जिन अनुवाद फलों में अपना कार्य सिद्ध होता है उतना ही उसका तात्पर्य समझें। 'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः' इससे शम दम आदि का उपक्रम करके आत्मा में ही अपनी आत्मा को देखे। 'आत्मन्येवात्मानं पश्येत्' वह भगवान् (आत्मा) यह सारा जगत् है। 'स स भूत ँ स भव्यम्' ऐसा कहकर 'ज्ञात्वातमेवं मनसा हृदा च भूयो न मृत्युमुपयाति विद्वान्' जो समझदार इस तरह उस भगवान् को मन और हृदय से जान लेता है वह मुक्त हो जाता है। और भी 'अम्भस्यपारः' ऐसा उपक्रम करके 'जो इसको जानते हैं वे मुक्त हो जाते हैं' 'य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति' इसलिए जैसे जिसका जहां अधिकार होता है उसको वैसा ही होना चाहिये। परन्तु उसमें भी सावधानी आवश्यक है। केवल इस तरह के ज्ञानमात्र से हो और अग्रिम कृति में निरपेक्ष होने से कार्य को सिद्धि नहीं होती। शंका करते हैं कि सदा सावधान रहने वाले के लिए भी जैसे गेहूँ की ढेरी में पड़े हुए यव (जौ का निकालना अप्रमत्त के लिए भी यदि नेत्र की ज्योति अत्यन्त तेज न हो और प्रकाश भी न हो तो कठिन हो जाता है। इस आशंका पर कहते हैं कि उसे व्यवसाय बुद्धि होना चाहिये। अत्यन्त विचार के साथ सम्पूर्ण शास्त्र का पूर्ण ज्ञान करके अपने स्वार्थ की बात का निश्चय करके उसके लिए साधन करने में दृढ़ हो जाय। उसमें क्या करना चाहिये इस आकांक्षा के लिए सबसे पहले तो लोक प्राप्त देहादि निर्वाह के कार्य नहीं करना चाहिये। क्योंकि देह निर्वाह तो समयानुसार अथवा भगवान् से हो जायगा अथवा देह निर्वाह स्वभाव से, कर्म से अथवा लोगों से अपने आप हो जायगा। अतः उसके लिए प्रयत्न न करे क्योंकि अपना प्रयत्न तो परिमित है और उस परिमित प्रयत्न को भगवान् ने हममें भगवान् की सेवा के लिए स्थापित किया है इसलिए उस प्रयत्न का विनियोग अन्यत्र नहीं होना चाहिये। केवल इतनी ही बात नहीं है कि देहादि का निर्वाह तो अन्य प्रकार से ही सिद्ध है किन्तु देहादि के निर्वाह के लिए यदि प्रयत्न करता है तो शैय्या वस्त्र आदि एक-एक वस्तु के लिए देह-इन्द्रिय-बुद्धि आदि को कितना परिश्रम करना पड़ता है इसका विचार कर देहादि के निर्वाहार्थ प्रयत्न न करे ऐसा यहां सम्बन्ध है ॥ २ ॥ ३ ॥

आभास—अन्यथासिद्धिं क्लेशं च बोधयति—

आभासार्थ—देह निर्वाह तो बिना ही प्रयत्न के सिद्ध है यदि उसके निर्वाह के लिए प्रयत्न किया जाता है तो बहुत क्लेश होता है इसे समझाते हैं—

श्लोक—**सत्यां क्षितौ किं कशिपोः प्रयासैर्बाहौ स्वसिद्धे ह्युपबर्हणैः किम् ।**
सत्यञ्जलौ किं पुरुधाऽन्नपात्र्या दिग्वल्कलादौ सति किं दुकलैः ।।४।।

चीराणि किं पथि न सन्ति दिशन्ति भिक्षां
नैवाऽङ्घ्रिपाः परभृतः सरितोऽप्यशुष्यन् ।
रुद्धा गुहाः किमजितोऽवति नोपपन्नान्
कस्माद्भजन्ति कवयो धनदुर्मदान्धान् ।। ५ ।।

श्लोकार्थ—जब अपने ही आप सोने के लिए पृथ्वी मिल रही है तो पलंग आदि के लिए प्रयत्न क्यों किया जाय । अपना ही बाहु जब अपने पास है तो तकिये के लिए प्रयास क्यों किया जाय । जब हाथ की अंजलि है तो फिर अनेक प्रकार की भोजन थालियों के लिए प्रयत्न किसलिए । दिशा और वृक्षों की छाल जब विद्यमान है तो फिर वस्त्रों के लिए प्रयत्न किसलिए किया जाय । फटे चिथड़े क्या रास्ते में पड़े हुए नहीं मिलते हैं उनको पहिन ले । क्या वृक्ष हमें फल आदि की भिक्षा नहीं देते हैं । पानी पीना है तो नदियों से पी ले नदियां सूख तो नहीं गई हैं । रहना है तो गुफाओं में रह जाय क्या गुफाएं किसी ने बन्द कर दी हैं । अति समर्थ किसी से भी पराजित न होने वाला भगवान् जब रक्षा कर रहा है तो फिर अन्य रक्षक की क्या आवश्यकता है । इसलिए ज्ञानी भक्तों को किसलिए धन के दुष्टमद से अन्धे धनिकों की सेवा करनी चाहिये ।। ४ ।। ५ ।।

सुबोधिनी—सत्यां क्षिताविति । क्षितौ विस्तीर्णतया प्रसारितशय्यारूपायां वालुकादौ कोमलरूपायां वोपार्जनक्लेशव्यतिरेकेणैव सत्यां सिद्धायां कशिपोस्तूलिकाया वस्त्रकार्पाससीवन धूननास्तरणप्रयासैः किं फलम् । साधनसुखस्य तुल्यत्वेऽप्यत्र दुःखाधिक्यात् । किञ्च । स्वतः-सिद्धे बाहौ । महापुरुषस्येन्द्रियवैकल्यशङ्का-भावादेवमुक्तम् । उपबर्हणैः शिरस्युच्चतासाधन-भूतैर्गल्लयोः पादयोश्च सतूलवस्त्रपुटैः किं प्रयोजनम् । भिन्नं वाक्यम् । अतस्तात्पर्येणैक-वाक्यता । करपात्रेणाऽपि भिक्षानिर्वाहे अनेकविधान्नपात्र्या ताम्रादिमय्या किम् । स तत्र प्रयासानुसन्धानं कर्त्तव्यम् । उष्णकाले दिशः । शीतकाले वल्कलादीनि । आदिशब्देन चीरपत्रा-दीनि । दुकूलैः पट्टवस्त्रैः किम् । **किञ्च । महा-**विरक्तस्य जनैरपि किम् । लोका अपि सर्वे त्यक्तव्या इत्यर्थः । ननु सर्वेव सर्वे पदार्था अन्य-दीयाः साधनेनैव सिद्धचन्ति । क्षितिरपि कस्यचिद्भवति । अतस्तदाज्ञया स्थातव्यं तदनु-रोधेन च । देहश्च । पराधीनः । वल्कलादिक-मपि साधनसाध्यम् । अतः सर्वदा सर्वैनैरपेक्ष्य-स्य ऽशक्यत्वात्किञ्चित्सापेक्षतायां कर्त्तव्यायां **"मानश्चेत्पातालं विशेदि"** ति न्यायेन सर्वथा सापेक्षतैवाऽस्तु । तत्राऽऽह— **चीराणि किं पथि न सन्तीति** । चीराणि वस्त्रखण्डाः । **पथीति** तत्सम्पादनार्थमप्यन्यत्र न गन्तव्यमिति सूचि-

तम् । अङ्घ्रिपा वृक्षाः । परभृतः परानेव बिभ्रति न तु तत्फलैस्तेषामुपकारः कश्चन । ते हि पक्वं फलं स्वत एव त्यजन्ति । ईषत्पक्वं तु चालनेन । ते तु देवतारूपा वैष्णवाश्च । भगवज्जीवार्थं जगतः सृष्टत्वादेकपरित्यागेऽन्यदीयं तद्भवति । अतश्चीराण्यपि भगवदीयानि । मार्गाश्च भगवदीयाः । गतिसाधनत्वात् । अतस्तेऽपि किं वस्त्राणि न प्रयच्छन्तीति योजनीयम्। पादसम्बन्धात्तद्दानं लक्ष्यते । गतमात्रे च क्षणविलम्बाद्वा फलदानाद्भिक्षादातृत्वम् । तेषां हस्तस्याऽशुद्धत्वं च निवारितम्— **अङ्घ्रिपा इति** । जलातिरिक्तं च न भक्षयन्ति जलं चाऽङ्घ्रिभिरेव पिबन्ति ! आतपादिभिश्च शाखाः शुद्धाः । वनस्थाः सहिष्णवश्च परार्थैकान्तजीविनश्च । अतस्तेष्वेव माधुकरी कर्त्तव्या । जलार्थमपि न लौकिकापेक्षेत्याह— **सरितोऽप्यशुष्यन्निति** । तदा हि कूपाद्यपेक्षा भवति । सरितां बहुत्वं महत्त्वं च सर्वप्रसिद्धम् । शीतवातातपवर्षानिवारणार्थमपि नाऽन्यापेक्षा कर्त्तव्येत्याह—**रुद्धा गुहा इति** । तासां निरोधस्याऽश्रवणात् । ननु कदाचित्सर्वाभावे गुहासु च व्याघ्रादिभये किं कर्त्तव्यम् ? तत्राऽऽह—**किमजितोऽवतीति** । केनाऽपि न जितः । अतिसमर्थः। उपपन्नान् शरणागतान् । किं नाऽवति । आग्रहेण सर्वत्र कथनं तथाऽधिकारिणोऽपि तथा न कुर्वन्तीति । एवं सर्वकार्येष्वपि सिद्धेषु ये अधिकारिणोऽपि भूत्वा धनदुर्मदान्धान् भजन्ति धनेन यो दुष्टो मदो गर्वस्तेन अन्धान् आगतस्वरूपानभिज्ञान् कस्माद्धेतोर्भजन्तीति न जानीमः ।। ४ ।। ५ ।।

व्याख्यार्थ—विस्तृत बिछाई हुई और बालुका (रेती) आदि से कोमल भूमि बिना किसी क्लेश के मिल जाती है तो फिर पलंग और उसके ऊपर बिछाने के लिए गादले को जिसमें कपड़ा रुई सिलाई धुनाई और बिछाना इतने प्रयास का क्या फल है । साधन और सुख तो पृथ्वी और शय्या में बराबर है किन्तु शय्या के लिए दुःख की अधिकता है । बाहु जब स्वतः सिद्ध है ऐसा इसलिए कहा कि महापुरुषों में इन्द्रियो की विकलता की सम्भावना ही नहीं है इसलिए ऐसा कहा । उपबर्हणैः ऐसा बहुवचन इसलिए है कि रुई जिनमें भरी हुई है ऐसे तकिये अनेक हैं । सिर को ऊंचा रखने के लिए तथा दोनों गालों के लिए तथा दोनों पैरों के नीचे रखने के इनका प्रयोजन ही क्या है । शंका हो कि भिन्न वाक्य होने से उपदेशक्य कैसा होगा तो इनकी एक वाक्यता से तात्पर्य हो जायगी । हाथ रूप पात्र में ही भिक्षा ली जा सकती है तो फिर अनेक प्रकार के ताम्र आदि पात्रों की क्या आवश्यकता है । अन्यथा पलंग, तकिये, अन्नपात्र आदि का सम्पादन करने में तो प्रयास होगा ही । उष्णकाल में दिशा ही वस्त्र हैं और शीतकाल में वृक्षों की छाल वस्त्र की जगह उपयुक्त हो सकती है । आदि शब्द से फटे चिथड़े एवं पत्र भी वस्त्र के स्थान में ग्रहण किये जा सकते हैं तो फिर दूकुल पट्ट वस्त्रों की क्या आवश्यकता है । और जो महान् वैरागी हैं उन्हें मनुष्यों से क्या प्रयोजन है । उन्हें तो सब लोगों को भी छोड़ना चाहिये । यदि शंका हो कि सर्वत्र सब पदार्थ तो अन्य लोगों के अधिकार में है उनकी प्राप्ति तो साधन करने से ही होगी । पृथ्वी भी किसी के अधिकार में होती है अतः उस पृथ्वी पर उस पृथ्वी के स्वामी की आज्ञा से या उसके आग्रह पर रहा जा सकता है । देह भी पराधीन है 'यह शरीर किसकी सम्पत्ति है अन्न देकर पालने वाले की या गर्भाधान कराने वाले पिता की अथवा माता की जिसने उसे अपने पेट में रखा अथवा माता को भी जन्म देने वाले नाना की या बलपूर्वक इससे काम कराने वाले की या जिसने इसे खरीदा है या अग्नि एवं कुत्तों आदि की' 'देहः किमन्नदातुः स्वं निषेक्तुर्मातुरेव च' । 'मातुः पितुर्वा बलिनः क्रेतुरग्नेः शुनोऽपि वा' वक्कल आदि भी तो साधन करने पर ही प्राप्त हो सकते हैं । अतः सर्वदा

किसी की भी अपेक्षा न रखे ऐसा कैसे हो सकता है और यदि यह कहें कि कुछ अपेक्षा रखी जाय तब तो फिर 'यदि डूबता ही है तो पाताल में ही प्रवेश करे' 'मग्नश्चेत्पातालं विशेत्' इस न्याय से कुछ अपेक्षा रखने की बजाय तो पूर्ण अपेक्षा रखना ही अच्छा है । इस पर कहते हैं—क्या फटे चिथड़े रास्ते में पड़े नहीं मिलते उनके प्राप्त करने में तो कहीं जाना भी नहीं पड़ता । वृक्ष जो सदा अपने फलों आदि से दूसरों का ही पोषण करते हैं उन फलों से उनका कोई स्वार्थ सिद्ध नहीं होता । वे वृक्ष पके हुए फलों को स्वतः ही पृथ्वी पर गिरा देते हैं और अधपके फल हिलाने से नीचे गिर जाते हैं । वे वृक्ष देवतारूप है और वैष्णव है । भगवान् के जीवों के लिए ही भगवान् ने सृष्टि की है अतः एक जिस वस्तु का त्याग कर देता है वह वस्तु दूसरे की हो जाती है । इसी तरह चीर (फटे कपड़े) भी भगवत्सम्बन्धी हैं और मार्ग भी भगवान् के क्योंकि रास्ते ही सर्वत्र जाया जाता है । तो क्या वे मार्ग फटे चिथड़े नहीं देंगे ? अवश्य देंगे । यदि शंका हो कि दान (देना) तो चेतन धर्म है मार्ग अचेतन हैं वे कैसे चीर देंगे 'सर्वेषामध्वनां पादावेकायनम्' इस श्रुति के अनुसार पाद सम्बन्ध से उनका दान लक्षित होता है । यदि कहो कि लक्षणां नैव वक्ष्यामि' इस प्रतिज्ञा का विरोध होगा तो इसका उत्तर यह है कि लक्षणा परोक्षवाद से अतिरिक्त नहीं करनी चाहिये यहां तो परोक्षवाद है यह इस श्लोक के चतुर्थ चरण से स्पष्ट है इसीलिए नद्योऽशुद्धचन् गुहा रुद्धा इनमें विपरीत लक्षणा है । वृक्षों के पास जाने वालों को तुरन्त ही या कुछ क्षण के विलम्ब से वृक्ष फल देते हैं अतः उनमें भी चेतनता है । अङ्घ्रिपाः पद से ऐसा सूचित होता है कि वे पैरों से ही जल पीते हैं इसलिए उनके हाथ अशुद्ध नहीं है । वृक्ष केवल जल ही पीते हैं और कुछ नहीं खाते तथा जल भी पैरों से ही पीते हैं । धूप के कारण उनकी शाखायें शुद्ध हैं और भी उनमें ये विशेषता है कि वे वन में ही रहते हैं, सहिष्णु-सहनशील हैं और उनका जीवन केवल परोपकार के ही लिये है । इसलिए उन्हीं माधुकरी (भिक्षा) करनी चाहिये । जल के लिए भी किसी अन्य की आवश्यकता नहीं है क्योंकि नदियां सूखी नहीं है यदि नदियां सूख जाय तो कुए आदि की आवश्यकता होती है नदियां तो बहुत है और बहुत बड़ी होती हैं इसे सब जानते ही हैं । शीत, वात, धूप, वर्षा इनके निवारण के लिए भी अन्य किसी की आवश्यकता नहीं है क्योंकि गुफायें रुक नहीं गई हैं । क्योंकि गुफाओं का रुकना कहीं सुना नहीं है । यदि शंका हो कि कदाचित् सबका अभाव हो गुफाओं में भी बाघ आदि का भय हो तो क्या किया जाय ? इसका उत्तर 'किमजितोऽवति नोपसन्नान्' से दिया है जिसको कोई जीत नहीं सकता ऐसे सर्वसमर्थ प्रभु शरणागत की क्या रक्षा नहीं करेंगे ? आग्रह पूर्वक सर्वत्र ऐसा कथन इसलिए किया है कि वैसे अधिकारी भी वैसा नहीं करते हैं । इस तरह सब कार्यों की सिद्धि जब अनायास ही सिद्ध हो जाती है तो फिर अधिकारी होते हुए भी धन के मद से जो अन्धे हैं उनका सेवन क्यों करते हैं ? धन के मद से जो अन्धा होता है वह अपने पास आने वाले के स्वरूप को पहचान नहीं सकता तो फिर उसके पास जाने से लाभ ही क्या है ।।४।।५।।

आभास—एवं प्रसङ्गादन्यानुपदिश्य तादृशेन निरपेक्षेण यत्कर्त्तव्यं तदाह—

आभासार्थ—इस तरह प्रसंग से अन्यों को उपदेश देकर और उस तरह के जो निरपेक्ष हैं उन्हें जो करना चाहिये उसे कहते हैं—

श्लोक—**एवं स्वचित्ते स्वत एव सिद्ध आत्मा प्रियोऽर्थो भगवाननन्तः ।
तं निर्वृतो नियतार्थो भजेत संसारहेतूपरमश्च यत्र ।। ६ ।।**

श्लोकार्थ—इस तरह अपने चित्त में स्वतः ही अपना आत्मा प्रिय पुरुषार्थ और अनन्त भगवान् जब सिद्ध (विद्यमान) है तो फिर आनन्दयुक्त होकर उसका भजन करे। जिससे संसार के कारण अज्ञान का उपराम (समाप्त) हो जाता है ।। ६ ।।

सुबोधिनी—एवं स्वचित्त इति । भजनीयोपार्जनक्लेशाभावायाऽऽह–**एवं स्वचित्त इति ।** एवं सर्वप्रकारेण सर्वनैरपेक्ष्यं योऽन्तःकरणप्रेरणया साधयति सोऽन्तःकरणे तिष्ठतीत्यविवादम् । अत एवमस्माद्धेतोरेवम्प्रकारेण वा स्वचित्ते स्वाधीने चित्ते स्वत एव यत्नव्यतिरेकेणैव सिद्धे सति सिद्धौ वा तं भजेतेति सम्बन्धः। तादृशस्य भगवतो भजनीयं रूपं वक्तुं सर्वपुरुषार्थहेतुभूतपञ्चधर्मवत्त्वमाह— **आत्मेत्यादिपदैः ।** आत्मत्वात्प्रियत्वम्, प्रियत्वादर्थत्वम्, अर्थत्वाद्भगवत्त्वम्, भगवत्त्वादनन्तत्वमिति हेतुहेतुमद्भावोऽपि विशेषणानाम् । प्राणिनां सेवौपयिकरूपाणि पञ्च । स्वात्मा देहो धनमीश्वरो नित्यकर्म च । तत्र भगवान् पञ्चरूपोऽपीत्याह । प्रथमतस्तेषामात्मा । वस्तुतोऽधिकारिणं प्रति तत्त्वेन प्रकाशमानोऽपि । तस्मादवश्यं सेव्यः। उपपत्त्या सेवनमुक्तम् । रुच्या सेवनमाह–**प्रिय इति ।** यथा प्राणो यथा वा देहः प्राणिनां प्रीतिविषयो भवति । आत्मत्वेन प्रीतिविषयत्वे प्राप्तेऽपि पुनर्यत्प्रीतिविषयकथनं प्रीतेः परिच्छिन्नत्वज्ञापनार्थम् । अतः सा प्रीतिरेकत्र विनियुक्ता नाऽन्यं तथात्वेन गृह्णाति । अतः सर्वरूपे एकस्मिन्नेव प्रीतिः कर्त्तव्या । अन्यथा खण्डश एकस्मिन्नेकरूपे वा क्रियमाणा न सर्वपुरुषार्थं साधयेत् । प्रीतिस्तु भगवद्धर्मः । भगवान् सर्वेभ्यो जीवेभ्यस्तं खण्डशो दत्तवान् सुखार्थम् । अतो यत्रैव प्रीयते तत एवं सुखं भवति । ततः स्वसुखमेव स्वस्य भवतीत्युक्तं भवति । तद्यत्र विषयोऽपि सुखरूपो भवति तत्र तद्दाने महत्सुखं भवेत् । अतो देहादिभ्यः प्रीतिमाच्छिद्य भगवति स्थापयन्त्विति भावः । अर्थो धनरूपः। यावत्कार्यं तेन भविष्यति तत्सर्वं भगवता भविष्यतीति । अर्थशब्दस्य पञ्चार्थवाचकत्वात्पञ्चरूपोऽपि भगवान् । सर्ववेदार्थः सर्वधनरूपः सर्ववस्तुरूपश्च सर्वनिवृत्तिरूपेण सर्वनिवर्त्तकश्च । भजने चैते धर्मा भजनीयविषयतावच्छेदकत्वेन गुणोपसंहारन्यायेन ग्राह्याः । तथा सति सर्वात्मकतया भजनं भवति । किञ्च । भगवान् षड्गुणैश्वर्यसम्पन्नः । ऐश्वर्याद्यर्थमपि स्वस्य सेवनं भवति । आशब्देनाऽत्र शोभा ग्राह्या । किञ्च । अनन्तो देशकालापरिच्छिन्नो नित्यः । एतावता पञ्चविंशति तत्त्वानि षड्विंशकश्च महाविष्णुः । षड्विंशतिप्रकारेण सेवितव्यः । तत्राऽऽत्मा द्विविधो जीवब्रह्मभेदेन । प्रिय एकादशविधः । एकादशेन्द्रियभोग्यत्वात् । अर्थः पञ्चविध उक्त । भगवान् षड्विधः। अनन्तो द्विविधश्च । एवं सर्वप्रकारेण सेवितव्य इत्यर्थः । सेवकस्याऽधिकारिविशेषणभूतधर्मद्वयमाह– **तं निर्वृत्तो नियतार्थ इति ।** एकमन्यनिवृत्त्यर्थम् । एकं च भगवति दाढर्चार्थम् । इमौ च धर्मावावश्यकौ । अन्यथा सर्वप्रकारेण सेवितोऽपि न पुरुषार्थो भवति । सर्वतो निवृत्तः । अन्यथा ब्रह्मास्त्रन्यायो भवेत् । नियतो भगवत्येवाऽर्थः पुरुषार्थो यस्य । भगवान् वा । अन्यथा **"संशयात्मा विनश्यति"** । यद्यपि भगवानेव फलं न चाऽन्यदपेक्ष्यते तथाप्यानुषङ्गिकं फलं संसारहेतोरज्ञानस्य भगवद्वैमुख्यस्य वा निवृत्तिर्भवति । चकारात्सायुज्यादि ।। ६ ।।

व्याख्यार्थ—भजनीय के उपार्जन में कोई क्लेश नहीं है उसे कहते हैं। इस तरह सब प्रकार से किसी की भी अपेक्षा न रखते हुए जिसे अन्तःकरण की प्रेरणा से साधा जाता है वह अन्तःकरण में रहता है यह निर्विवाद है। अतएव इस हेतु से अथवा इस प्रकार से अपने अधीन चित्त में बिना ही यत्न के जो सिद्ध है उसे अथवा उसकी सिद्धि के लिए उसका भजन करे ऐसा सम्बन्ध समझें। उस प्रकार के भजनीय भगवान् के रूप को कहने के लिए सब पुरुषार्थों का कारणभूत वह भगवान् पांच धर्मों वाला है। उसके पांच धर्म (१) आत्मा (२) प्रिय (३) अर्थ (४) भगवान् और (५) अनन्त ये पांचों ही विशेषण परस्पर एक-दूसरे के हेतु भी हैं। आत्मा होने से प्रिय है, प्रिय होने से अर्थरूप है, भगवान् होने से अनन्त है। प्राणियों के सेवा में पांच रूप उपयुक्त हैं। (१) अपनी आत्मा (२) देह (३) धन (४) ईश्वर (५) नित्यकर्म। वहां भगवान् पांच रूपों वाला भी है उसे कहते हैं। सर्वतः प्रथम तो भगवान् उनकी आत्मा है वास्तव में अधिकारी के प्रति तत्त्वरूप से प्रकाशमान भी है इसलिए वह अवश्य सेव्य है। इस तरह युक्ति से उसकी सेवा करना कहा। अब रुचि से भी उसकी सेवा होती है उसे कहते हैं प्रियः जिस तरह अपना प्राण अथवा देह प्राणियों के प्रीति का विषय होता है भगवान् भी उसी तरह प्रिय है। भगवान् को जब आत्मा कहा है तो आत्मा तो सबको प्यारा होता ही है फिर प्रियः ऐसा जो कहा है उसका आशय यह है कि आत्मा की प्रियता परिच्छिन्न (परिमित) है। उस प्रीति का विनियोग जब एक में हो जाता है तो अन्य में वह प्रीति नहीं होती है इसलिए सर्वरूप एक ही भगवान् जब हैं तो उस एक ही भगवान् में प्रीति करनी चाहिये। यदि शंका हो कि दक्षिण में अनेक महिलाओं के साथ समान अनुराग देखा जाता है तो फिर ऊपर का कथन ठीक नहीं है इसका उत्तर यह है कि यदि दक्षिण के दृष्टान्त से प्रीति को सर्व विषयता से स्वीकार करते हैं तो खण्डशः एक में अथवा एकरूप में की जाने वाली प्रीति सब पुरुषार्थों को सिद्ध नहीं कर सकती। प्रीति जो भगवद्धर्म है भगवान् ने सब जीवों के लिए उस प्रीतिरूप धर्म को खण्डशः जीवों को सुख के लिए दिया है। इसलिए जहां ही प्रीति होती है उससे ही सुख होता है। इसलिए देह आदि में जो प्रीति है उसको वहां से हटाकर भगवान् में ही प्रीति करनी चाहिये यह इसका तात्पर्य है। अर्थ धनरूप है जितना कार्य उस अर्थ से होगा वह सब भगवान् से होगा। अर्थ शब्द के पांच अर्थ है उन पांचों ही अर्थ वाला अर्थ भी भगवान् है। (१) सर्ववेदार्थ (२) सर्वधनरूप (३) सर्ववस्तुरूप (४) सर्वनिवृत्तिरूप (५) सर्वनिवर्त्तक भजन में ये पांचों धर्म भजनीय भगवान् को सबसे पृथक् करने वाले हैं इसलिए गुणोपसंहार न्याय से इनका ग्रहण करना चाहिये। वैसा होने पर ही भगवान् में सर्वात्मकता तथा भजन होता है। भगवान् षड्गुणैश्वर्य सम्पन्न है इसलिए ऐश्वर्यादि के लिए भी अपना सेवन होता है। श्री शब्द से यहां शोभा का ग्रहण है। भगवान् अनन्त हैं अर्थात् देशकाल इनसे उसका परिच्छेद नहीं होता। अतः नित्य है। इससे यह समझना चाहिये कि पच्चीस तत्त्व और छब्बीसवां महाविष्णु इन छब्बीस प्रकार से उनकी सेवा करनी चाहिये। उनमें जीवात्मा और परमात्मा इस तरह आत्मा के दो भेद हैं। ग्यारह इन्द्रियों से भोग्य होने के कारण प्रिय ग्यारह प्रकार का है। अर्थ पांच प्रकार का है, भगवान् छः प्रकार का है। अनन्त भी दो प्रकार का है। इस तरह सब प्रकार से भगवान् सेवा करने योग्य है। सेवक के भी अधिकारी के विशेषणभूत दो धर्म हैं उन्हें निर्वृत्तः और नियतार्थः से बताया है। निर्वृत्तः से तो अन्याश्रय को निवृत्ति बताई और नियतार्थः से भगवान् में दृढ़ता बताई। ये दोनों ही धर्म आवश्यक हैं। अन्यथा सब प्रकार से सेवा करने पर भी

पुरुषार्थ सिद्धि नहीं होगी। सर्वतः निवृत्त (अन्याश्रय रहित) न होगा तो ब्रह्मास्त्र न्याय से भगवान् उसका त्याग कर देंगे। दूसरा धर्म है नियतार्थ नियत अर्थात् भगवान् में ही जिसका पुरुषार्थ है अथवा जिसके लिए भगवान् ही पुरुषार्थ है। दृढ़ता यदि नहीं हुई तो 'संशयात्मा का विनाश होता है' 'संशयात्मा विनश्यति' यद्यपि भगवान् ही फल है। भगवान् के अतिरिक्त अन्य किसी की अपेक्षा नहीं है फिर भी संसार का कारण अज्ञान अथवा भगवान् को विमुखता उसकी निवृत्ति भी उसका आनुषङ्गिक फल है च से सायुज्य प्राप्ति आदि भी आनुषङ्गिक फल प्राप्त हो जाते हैं ।। ६ ।।

आभास—एवं भजनस्य सर्वोत्तमत्वं प्रतिपाद्य तादृशस्याऽकर्त्तॄन् शोचन्नाह—

आभासार्थ—इस तरह भजन की सर्वोत्तमता का प्रतिपादन करके उस प्रकार के उत्तम भजन को नहीं करने वालों के लिए शोक प्रदर्शित करते हुए कहते हैं—

श्लोक—**कस्तां त्वनादृत्य परानुचिन्तामृते पशूनसतीं नाम युञ्ज्यात् ।**
पश्यन् जनं पतितं वैतरिण्यां स्वकर्मजान्परितापान् जुषाणम् ।।७।।

श्लोकार्थ—भगवान् के चिन्तन को छोड़कर स्वयं का ही नाश करने वाली सांसारिक चिन्ता को पशुओं के सिवा कौन अपने साथ लगायेगा। सांसारिक ध्यान के कारण अपने कर्मजन्य परितापों को भोगते हुए वैतरणी में पड़े हुओं को देखता हुआ भी सांसारिक ध्यान करता है तो वह शोचनीय है ।। ७ ।।

सुबोधिनी—कस्तामिति। ता भगवतः परामनुचिन्तां ध्यानेन रूपचिन्तनाम्। ऋते पशून् विना पशून। अनादृत्य अकृत्वा। असतीं चिन्तकनाशिकां देहादिचिन्ताम्। **नामेति** प्रसिद्धे। युञ्ज्यात् स्त्रियमिव **योजयेत्**। अज्ञानाद्भवतु नाम योजनम्। तत्कृतमपकारं ज्ञात्वा कस्तां युञ्ज्यात्। अपकारं गणयति—**पश्यन् जनमिति**। यथा भगवद्भजने भगवदीयाः षड् गुणाः **स्वस्मिन् संक्रमन्ते** तथा देहादिभजने तद्गताः षड् दोषाः संक्रमन्ते। उत्पत्तिर्नाशो दुःखं कर्माणि परितापो हीनत्वं च। तदाह। जनमुत्पद्यमानम्। पतितं स्वस्थानाच्च्युतम्। मृतमिति यावत्। वैतरिण्यां यमद्वारस्थितनद्याम्। अनेनाऽसतीपरिग्रहे मृतो वैतरिण्यां पततीति सूचितम्। स्वकृतविविधकर्मफलं च सेवमानम्। परितापाः शोकादयः। अतः को वा अमृतं विहाय विषं भक्षयतीति प्ररोचनार्थं न बहु वक्तव्यमिति भावः ।। ७ ।।

व्याख्यार्थ—इस तरह ध्यान से भगवान् के रूप चिन्तन का अनादर करके (नहीं करके) चिन्तक का ही विनाश करने वाली देह आदि की चिन्ता पशुओं के सिवाय और कौन कर सकता है। ऐसा प्रसिद्ध है। युञ्ज्यात् का अर्थ है स्त्री की तरह उसे कौन योजित करता है लगाता है। अज्ञान से भले ही देहादि के चिन्तन में चित्त को योजित करे किन्तु उसके द्वारा किये जाने वाले अपकार को जब जान लेता है तो फिर चित्त को कोई उसमें नहीं लगायगा। अपकार को पश्यन्-जनं आदि से गिनाते हैं। जिस तरह भगवान् के भजन से भगवान् के छः गुणों का अपने में संक्रमण होता है उसी तरह देहादि के भजन से देहादि में रहने वाले छः दोषों का संक्रमण होता है। वे छः

दोष ये हैं (१) उत्पत्ति (२) नाश (३) दुःख (४) कर्म (५) परिताप और (६) हीनता । उसे बताते हैं—जनं का अर्थ है उत्पन्न, पतित का अर्थ है अपने स्थान से गिरना अर्थात् मर जाना । यमराज के द्वार पर स्थित नदी को वैतरणी कहते हैं इसका तात्पर्य यह हुआ कि जो असतो (देहादि की चिन्ता) का परिग्रह करता है वह मरकर वैतरणी नदी में पड़ता है और अपने द्वारा किये गये विविध कर्मों के फलों को भोगता है । परिताप से शोक आदि का ग्रहण किया गया है । अतः ऐसा कौन होगा जो अमृत को छोड़कर विष खाता है । अब अधिक विस्तार करना उचित नहीं ॥ ७ ॥

श्लोक—**केचित्स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम् ।**
चतुर्भुजं कञ्जरथाङ्गशङ्खगदाधरं धारणया स्मरन्ति ॥ ८ ॥

प्रसन्नवक्त्रं नलिनायतेक्षणं कदम्बकिञ्जल्कपिशङ्गवाससम् ।
लसन्महारत्नहिरण्मयाङ्गदं स्फुरन्महारत्नकिरीटकुण्डलम् ॥ ९ ॥

उन्निद्रहृत्पङ्कजकर्णिकालये योगेश्वरास्थापितपादपल्लवम् ।
श्रीलक्ष्मणं कौस्तुभरत्नकन्धरमम्लानलक्ष्म्या वनमालयाऽञ्चितम् ॥१०॥

विभूषितं मेखलयाऽङ्गुलीयकैर्महाधनैर्नूपुरकङ्कणादिभिः ।
स्निग्धामलैः कुञ्चितनीलकुन्तलैर्विरोचमानाननहासपेशलम् ॥ ११ ॥

अदीनलीलाहसितेक्षणोल्लसद्भ्रूभङ्गसंसूचितभूर्यनुग्रहम् ।
ईक्षेत चिन्तामयमेनमीश्वरं यावन्मनो धारणयाऽवतिष्ठते ॥ १२ ॥

एकैकशोऽङ्गानि धियाऽनुभावयेत्पादादि यावद्धसितं गदाभृतः ।
जितं जितं स्थानमपोह्य धारयेत्परं परं शुद्धयति धीर्यथा यथा ॥ १३ ॥

श्लोकार्थ—कितने ही अपने देह के अन्दर हृदयाकाश में निवास करने वाले प्रादेश मात्र पुरुष जिनके चार भुजाएँ हैं उनमें पद्म, चक्र, शङ्ख और गदा धारण कर रखी है । उसका धारणा से स्मरण करते हैं । जिनका प्रसन्नमुख है, कमल के समान बड़े जिनके नेत्र हैं. कदम्ब की केसराओं के समान जिनका पीताम्बर है, जिनके स्वर्णमय रत्नजड़ित बाजूबन्ध शोभित हैं और जिनके किरीट और कुण्डलों में रत्न चमक रहे हैं । योगियों ने अपने प्रफुल्ल हृदयकमल की कर्णिका में जिनके चरणारविन्दों को स्थापित कर रखा है, जिनके वक्षस्थल में श्रीवास का चिह्न है, गले में कौस्तुभमणि को धारण किये हैं जो कभी कुम्हलातीं नहीं ऐसी वनमाला को धारण किये हैं,

कटि में मेखला, अंगुलियों में मुद्रिका और बहुमूल्य नूपुर तथा कङ्कण आदि से शोभित, चिकने स्वच्छ घुंघराले नीले बालों से शोभायमान मुस्कराहट से युक्त मुखारविन्द जिनका, उदार लीलायुक्त हास्य सहित देखने से उल्लसित जो भ्रूभङ्ग उससे पूर्ण अनुग्रह का सूचन करते हुए, चिन्तनमय इन भगवान् का धारणा के द्वारा जब तक मन उनमें स्थिर नहीं होता तब तक हृदय में उनका दर्शन करे । यदि ऐसा न हो सके तो भगवान् का चरणारविन्द से लेकर हास्य पर्यन्त एक-एक अङ्ग का बुद्धि से अनुभव करे। जो-जो स्थान (अङ्ग) अपनी बुद्धि में उस स्थान को हृदय में रखते हुए आगे के अवयवों का ध्यान करे जिससे बुद्धि शुद्ध होती रहे ।। ८—१३ ।।

सुबोधिनी–एवं सर्वार्थनिश्चयपूर्वकं भक्तिमार्गानुसारेण भगवद्विषयकं श्रवणादिकं साधनं कर्त्तव्यमिति सिद्धम्। अत्र केषाञ्चिन्मते सर्वनिर्द्धारो व्यर्थः मुख्यभगवद्रूपं चतुर्भुजादि आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिरूपं ज्ञात्वा भजनं कर्त्तव्यमिति धारणायां स्थूलस्थाने भजनीय भगवत आनन्दरूपं योजयन्ति । **केचिदिति** वचनान्नाऽत्र सर्वसम्मतिः। अनेन ह्यानन्दाविर्भाव एव क्रियते न तु दोषनिवृत्तिः । यद्यपि नान्तरीयकपापादिनिवृत्तिः क्रियते तथापि सर्वभावत्वसम्पादकत्वाभावान्न रागादिनिवृत्तिः । भगवतो रूपाणि चत्वारि ध्येयानि । अङ्गुष्ठमात्रं, प्रादेशमात्रं पुरुषमात्रं, पूर्वोक्तञ्च । तत्र स्वनैकस्थ्यं प्रादेशमात्रस्यैवेति । वैश्वानरविद्यायां च सिद्धत्वात् शुद्धे च स्वहृदये मातुं शक्यत्वात् । अथवा । "**अत्यतिष्ठद्दशांगुलं**म" ति पुरुषादतिरिक्तं रूपमतिरेकार्थं भजन्ते । अतिरिक्तमपि पुरुषाकारम् । वसन्तं तृतीयं पुरुषम् । तस्य स्थूलरूपं वर्णयति—**चतुर्भुजमिति** । कञ्जं कमलम् । रथाङ्गं चक्रम् । हस्तचतुष्टयेऽप्यायुधधारिणम् । अनेन सर्वतो रक्षा सूचिता । प्रवेशेऽपि तत्त्वानि तत्र स्थापयित्वा स्वयं प्रविशेदिति । धारणया पूर्वोक्तया । स्मरन्तीति विद्यमानत्वान्नाऽन्तर्मनसा कल्पनमपेक्ष्यते । किञ्च । प्रसन्नवक्त्रम् । प्रसन्नं भक्तेभ्यः फलदानार्थं वक्त्रं यस्य । नलिनवत् आयते दीर्घे ईक्षणे यस्य । कदम्बकिञ्जल्कवदर्धपीतारक्तमन्तभागे चाऽन्ते मुक्ताफलसहितं रेखाकारञ्च । कदम्बकिञ्जल्कवत्सुवर्णदण्डाकारसूत्रनद्धमुक्ताव्याप्तं कृतार्थीकृताशेषजीवयुक्तवेदरूपम् । एतादृशं भगवतः पीताम्बरम् । लसन्ति महारत्नानि यस्मिन् हिरण्मये अङ्गदे । अङ्गदं बाह्वाभरणम् । स्फुरन्ति महारत्नानि किरीटे कुण्डलयोश्च यस्य । उन्निद्रे विकसिते हृदयरूपे पङ्कजे या कर्णिका तस्मिन् यदालयं गृहं सूर्येन्दुवाय्वग्न्यगमं तस्मिन्नालये योगेश्वरैरा समन्तात्स्थापितं पादपल्लवं यस्य । श्रीः लक्ष्म चिह्नं यस्य । कौस्तुभरत्नं कन्धरायां यस्य । अम्लाना लक्ष्मीर्यस्याः । सर्वदा प्रत्यग्रविकसितपुष्पयुक्ता । तादृश्या वनमालया अञ्चितं पूजितम् । मेखलया कटिदोरकरूपया । अङ्गुलीयकैश्च महाधनैः अमूल्यरत्नादियुक्तैः । उभयत्र विशेषणम् । नूपुरमेकं महाराजचिह्नरूपम् । आदिशब्देन वलयादि । स्निग्धाश्च तेऽमलाश्च । कुञ्चिता नीलाः कुन्तलाः । तैर्विरोचमानं यदाननं तेन यो हासस्तेन सुन्दरम्। अदीनं यल्लीलाहसितम् । सर्वेभ्यो याचकेभ्यः सर्वफलदानेऽप्यसङ्कोचयुक्तमदीनम् । लीलाहसितेन युक्तं यदीक्षणं तेन उल्लसन्त्यौ ये भ्रुवौ तयोर्भङ्गस्तेन संसूचितः भूरि अधिकः अनुग्रहो येन । एतादृशं चिन्तया प्रकटीभूतं

राजाधिराजरूपमीश्वरमीक्षेत । यावत् मनः धारणया सर्वाङ्गस्थितया अवतिष्ठते चाञ्चल्यं न प्राप्नोति । सर्वाङ्गास्फुरणे पुनरेकैकशोऽङ्गानि धारयेत् । एक धृत्वा तस्य स्वाधीनतायां जातायां द्वितीयं धारयेदिति **धियेत्युक्तम्** । अत्र धारणायां क्रमो विवक्षितः । तदाह—**पादादि यावद्धसितमिति** । तृतीयस्कन्धे स्पष्टं भविष्यति । **गदाभृत इति** प्राणनिश्चलता सूचिता । जितं जितं स्थानं स्वाधीनं स्वाधीनं स्थानं पादाद्यपोह्य ग्राहकबुद्धचग्रभागात्त्याजयित्वा तेनाऽग्रेणाऽन्यद्ग्राह्यम् । अन्यग्रहणे तथा भगवदवयवस्य अधिका गुणाः स्मर्त्तव्या यथा बुद्धिदोषा अपगच्छेयुः । तदपगमे बुद्धिर्विशदा भवति । तदा अवयवान्तरमपि माति । एवमुत्तरत्राऽपि । यथा यथा बुद्धिः शुद्धचति तथा तथा परं धारयेदित्यर्थः ॥८–१३॥

व्याख्यार्थ—इस तरह सर्वार्थनिश्चयपूर्वक भक्तिमार्ग के अनुसार भगवद्विषयक श्रवणादि साधन करने चाहिये यह सिद्ध हो गया । यहां किन्हीं के मत में सर्वनिर्द्धार व्यर्थ है । चतुर्भुज आदि जो मुख्य भगवान् का रूप है और वह भगवान् आनन्दमात्र कर-पाद-मुख-उदर आदि रूप है ऐसा जान कर उसका भजन करे इसलिए धारणा में स्थूलस्थान में भगवान् का आनन्दरूप ही भजनीय है ऐसी योजना करते हैं । मूल में उनका निर्देश केचित् पद से किया गया है जिसका तात्पर्य यह है कि यह मत सर्वसम्मत नहीं है । इस प्रकार का ध्यान केवल आनन्द का आविर्भाव करेगा दोषनिवृत्ति नहीं करेगा । यद्यपि नान्तरीयक पापादि की निवृत्ति होती है तथापि उसमें सर्वभावत्व सम्पादकता का अभाव होने से रागादि की निवृत्ति नहीं हो सकती । ध्यान करने के योग्य भगवान् के चार रूप हैं (१) अंगुष्ठ मात्र (२) प्रादेशमात्र (३) पुरुषमात्र और (४) विराट् रूप । उनमें प्रादेशमात्र की ही निकटता अपने में है । वैश्वानर विद्या में यह सिद्ध है और प्रादेशमात्र अपने हृदय में यह समा सकता है । अथवा 'अत्यतिष्ठद्दशांगुलम्' इस श्रुति के अनुसार पुरुष से अतिरिक्त रूप को अतिरेकार्थ-व्यापता के लिए भजते हैं । वह अतिरिक्त भी पुरुषाकार ही है । वसन्त का अर्थ है उस तृतीय (अन्तर्यामी) पुरुष का उसके स्थूलरूप का वर्णन चतुर्भुजम् से किया है और चारों भुजाओं में कञ्ज (कमल)-(रथाङ्ग)-चक्र-शङ्ख और गदा धारण किये हुए हैं । इससे वे सर्वतः रक्षा करते हैं ऐसा सूचित होता है । जीव जब भगवान् में प्रवेश करे तो उस समय उन आयुधों में तत्वों को स्थापित करके प्रवेश करे । धारणा जिसका वर्णन पहले किया जा चुका है उससे स्मरण करते हैं । वह विद्यमान है अतः उसके लिए मानसिक कल्पना की अपेक्षा नहीं है । भक्तों के लिए फलदानार्थ जिनका मुख प्रसन्न है, कमल के समान लम्बे जिनके नेत्र हैं । कदम्ब की केसराओं को तरह आधा पीला और अन्तभाग में रक्त और अन्त में मुक्ताफल सहित रेखाकार अर्थात् भगवान् का पीताम्बर कदम्ब की केसराओं की तरह स्वर्ण के दण्डाकार सूत में पिरोये हुए मोतियों से युक्त है जिसने सम्पूर्ण जीवों को कृतार्थ किया है ऐसे वेदरूप पीताम्बर को धारण किये हैं भगवान् का पीताम्बर इस तरह का है । सोने के बाजूबन्द हैं जिनमें जड़ित महारत्न शोभित हो रहे हैं । अङ्गद भुजाओं के आभरण हैं । किरीट और दोनों कुण्डलों में चमकते हुए महारत्न हैं । विकसित हृदय रूप कमल में जो कर्णिका है उसमें जहां सूर्य-चन्द्र-वायु और अग्नि का भी प्रवेश नहीं है उस हृदय रूप घर में योगेश्वरों ने जिन भगवान् के चरणारविन्द को स्थापित कर रखा है । जिनके लक्ष्मी ही चिह्न हैं । कौस्तुभरत्न गले में धारण किये हुए हैं । जिसकी शोभा कभी कम नहीं होती जिसके पुष्प सदा ही नवीन बने रहते हैं कभी मुरझाते नहीं ऐसी वनमाला को धारण किये हुये । कमर के

ऊपर डोरे के समान मेखला से, अमूल्य रत्न आदि से युक्त अंगुठियों से शोभित । महाधनैः यह विशेषण करधनी तथा अंगूठी दोनों ही के लिये है । एक नूपुर का धारण महाराज का चिन्ह है । आदि शब्द से कड़े आदि भी ग्रहण होता है । स्निग्ध-चिकने और स्वच्छ नील अलकों से शोभायमान मुख पर जो हास है उससे सुन्दर सभी याचकों के लिए सब प्रकार के फलों के दान में निःसंकोच युक्त जो अदीन लीला है उस तरह के हास से युक्त जो देखना उससे उल्लास को प्राप्त जो भ्रू उनके इशारे से सूचित किया है अधिक अनुग्रह जिन ने, इस तरह चिन्तन (धारणा) से प्रकट हुए राजाधिराजरूप ईश्वर के दर्शन करे । जब तक सर्वाङ्गस्थित धारणा से मन स्थिर रहे चञ्चलता को प्राप्त न हो तब तक सर्वाङ्ग धारणा करे । इस तरह जब सर्वाङ्ग की स्फूर्त्ति हो जाय तब धारणा के द्वारा मन में एक-एक अंग को धारणा करे । पहले एक अंग का ध्यान करे और जब वह अंग अपने अधीन हो जाय तब दूसरे अंग की धारणा करे । यह धिया पद से स्पष्ट है । यहां एक-एक अंग की धारणा में धारणा का क्रम बताते हैं । 'पादादि यावद् हसितम्' पैर से प्रारम्भ करके हास्य पर्यन्त इस क्रम से धारणा करे तृतीय स्कन्ध में यह स्पष्ट हो जायगा । गदाभृतः इस पद से प्राणों की निश्चलता सूचित होती है । भगवान् का जो जो श्री अङ्ग अपने स्वाधीन हो चुका है उस अङ्ग को पैरों के क्रम से ग्राहक बुद्धि के अग्रभाग से हटाकर फिर उस भाग से आगे के भाग को ग्रहण करे । अन्य अंग के ग्रहण करने के समय उस प्रकार के भगवान् के अङ्गों के अधिक गुणों का स्मरण करना चाहिये जिससे बुद्धि के दोष हट जाय । दोषों के हट जाने से बुद्धि स्वच्छ हो जाती है तब उस स्वच्छ बुद्धि में अन्य अवयव का भी समावेश हो जाता है । इसी तरह उत्तरोत्तर अवयवों के ध्यान में भी करना । जिस जिस प्रकार से बुद्धि शुद्ध हो उस उस प्रकार से आगे के अङ्ग की धारणा करे ॥८—१३॥

आभास—इयं च धारणा सञ्जातभक्तेर्भवति । यावत्पुनर्भक्तिर्न जायते तावत्पूर्वैव धारणा कर्त्तव्येत्याह—

आभासार्थ—जिसमें भक्ति हो जाती है उसी में ऐसी धारणा होती है । जब तक भक्ति उत्पन्न न हो तब तक पूर्व (स्थूल) धारणा ही करनी चाहिये—

श्लोक—**यावन्न जायेत परावरेऽस्मिन् विश्वेश्वरे द्रष्टरि भक्तियोगः ।**
तावत्स्थवीयः पुरुषस्य रूपं क्रियावसाने प्रयतः स्मरेत ॥ १४ ॥

श्लोकार्थ—सर्वश्रेष्ठ, विश्वेश्वर तथा सबके साक्षी इस भगवान् में जब तक भक्तियोग न हो तब तक अपने नित्यकर्म करने के अनन्तर उस पुरुष के स्थूल रूप का सावधान रहकर स्मरण करता रहे ॥ १४ ॥

सुबोधिनी—यावदिति । परेऽवरे यस्मात् । परावरत्वस्फुरणमपि सर्वोत्तमत्वरूपं प्रेमभक्तेरङ्गं माहात्म्यज्ञानापरपर्यायम् । **अस्मिन्निति** स्वयं भक्त्या तं पश्यन्नाह । द्रष्टरि सर्वसाक्षिणि पूर्वोक्तन्यायेन सर्ववस्तुषु चैतन्यरूपेण वा प्रत्यग्रूपेण वा प्रकाशमाने । योगपदेन स्वसाधनं साधनभूतं भक्तेः स्थिरं रूपमुक्तम् । तावत् स्थवीयः स्थूलम् । पुरुषस्य पूर्वोक्तस्य ।

क्रियावसाने अग्निहोत्रादिकं कृत्वा अव्यग्रशुद्धावस्थायाम् । संन्यास गृहीत्वेति केचित् । तदा निरन्तरं स्मरणं भवति । परं क्रियाया हेतुत्वं न स्यात्। प्रतिबन्धकत्वकल्पनापेक्षया साधकत्वकल्पनाया उत्कृष्टत्वात् । **"पुण्यतीर्थजलाप्लुत"** इति नियमानामुक्तत्वाच्च । प्रयतः सावधानो भूत्वा । नियमेऽपि धर्मः । अन्यभावनापरित्यागार्थं वा ।। १४ ।।

व्याख्यार्थ—जिन्हें हम पर (उत्कृष्ट) मानते हैं वे सब जिस भगवान् से अवर (हलके) हैं। पर और अवर को स्फूर्त्ति होना ही सर्वोत्तमतारूप प्रेम भक्ति का अङ्ग है उसी का दूसरा पर्याय माहात्म्य ज्ञान है। अस्मिन् यह इदम् शब्द की सप्तमी का रूप है जो सामने होता है उसी के लिए इदम् शब्द का प्रयोग होता है इसलिए श्री शुकदेवजी उन भगवान् को भक्ति के द्वारा प्रत्यक्ष देखते हुए कह रहे हैं। यहां द्रष्टा का अर्थ सर्वसाक्षी है 'स्वप्नजनेक्षितैकः' इस पूर्वोक्त न्याय से सब वस्तुओं में अथवा चैतन्यरूप से यद्वा अन्तःप्रकाशरूप से प्रकाशमान में। भक्तियोगः में भक्ति के साथ जो योगपद रखा है उससे अपने द्वारा किया गया चित्तनिरोधरूप साधन भक्ति का साधनभूत स्थिररूप कहा गया है। अर्थात् असाधारण भक्ति का निरूपक कहा गया है। अपने में भक्तिलक्षण योग कहा है यह इसका तात्पर्य है। पूर्वोक्त पुरुष के तब तक स्थवीय-स्थूलरूप का क्रिया के अवसान में अग्निहोत्र आदि करने के अनन्तर अव्यग्र शुद्ध अवस्था में ध्यान करे। कुछ टीकाकारों के मत में क्रियावसाने का अर्थ संन्यास ग्रहण करके ऐसा है। तब निरन्तर स्मरण होता है। परन्तु ऐसा अर्थ करना उचित नहीं है क्योंकि यहां जो क्रियावसाने कहा है उसका अर्थ तो यह है कि क्रिया चित्त शुद्धि में हेतु है वह यहां नहीं हो सकती संन्यासी के लिए तो सब क्रियाओं का त्याग कहा है। शुद्धि के प्रतिबन्धक सन्यास की कल्पना की अपेक्षा तो साधकत्व कल्पना करना ही श्रेष्ठ है। भगवद्ध्यान करने वाले के लिए पवित्र तीर्थों के जल में स्नान करने का नियम भी कहा है। 'पुण्यतीर्थजलाप्लुतः'। प्रयतः का अर्थ है सावधान होकर। नियम से रहने में भी धर्म है। यदि किसी फल का अभिसन्धान न हो तो धर्म का प्रयोजन ही क्या है। उसके लिए अन्य भावना परित्यागार्थ ऐसा कहा है। अर्थात् अन्य भावना न आ जाय इसके लिए सावधान रहना चाहिये ।।१४।।

आभास—एवमन्तकाले पाक्षिकदोषपरिहारार्थं योगं साधयित्वा तस्य दृष्टोपायत्वज्ञापनाय बुद्धिपूर्वकं मरणप्रकारमाह **स्थिरमित्यादिना**—

आभासार्थ—इस तरह अन्तकाल में पाक्षिक दोष के परिहार के लिए योग की साधना कह कर यह योग दृष्टोपाय भी है इसको बताने के लिए मरण का प्रकार बताते हैं—

श्लोक—**स्थिरं सुखञ्चाऽऽसनमास्थितो यतिर्यदा जिहासुरिममङ्ग लोकम् ।**
देशे च काले च मनो न सज्जयेत् प्राणान्नियच्छन्मनसा जितासुः ।।१५।।

मनः स्वबुद्धयाऽमलया नियम्य क्षेत्रज्ञ एनां निनयेत्तमात्मनि ।
आत्मानमात्मन्यवरुध्य धीरो लब्धोपशान्तिर्विरमेत कृत्यात् ।। १६ ।।

श्लोकार्थ—योगी जिस समय इस मर्त्यलोक का परित्याग करना चाहे तब जो सुखकर स्थिर आसन है उसे लगाकर बैठे। और उत्तरायणकाल हो या बदरिकाश्रम देश हो इस प्रकार की मन में आसक्ति न रखे। प्राणों को मन के द्वारा रोके फिर जितासु होने पर व्यवसायात्मिका बुद्धि से मन को रोककर उस बुद्धि को क्षेत्रज्ञ (जीव) में ले जावे उस जीव को भी आत्मा में ले जाय व्यष्टि आत्मा को समष्टि आत्मा में रोक कर धीर पुरुष शान्ति प्राप्त कर कर्म करने से विराम प्राप्त करे ॥१५॥१६॥

सुबोधिनी—फलमुखमेतदङ्गं सन्निहितम्। उत्तराङ्गमिति केचित्। अवान्तरव्यापार इत्यपरे स्थिरमचञ्चलम्। सुखं कोमलम्। पद्मासनादिरूपं वृष्यादिरूपं वा। आ समन्तात् स्थितः। मनसाऽप्यन्यत्र गमनं निवारितम्। अतः परं संन्यासो नित्यः। तदा वा संन्यासः कर्त्तव्य इत्याह—**यतिरिति।** प्राणायामं कृत्वा पञ्चाक्षरं संन्यासमन्त्रं त्रिर्जपित्वा **"अभयमभयं भूतेभ्य"** इति भूताभयदानमुक्त्वा ब्रह्मणस्त्रिविधनिर्देशमुक्त्वा **"वसुरण्वो विभूरसी"** ति महोपनिषदर्थं भावयित्वा ब्रह्मणि प्रणवेन जीवयोजनं यतित्वम्। एवं भूत्वा तदा अन्यदा वा यदा जिहासुर्भवति। इमं लोकं देहम्। तदा देशकालापेक्षा न कर्त्तव्येत्याह— **देशे च काले चेति।** देशे बदरिकाश्रमादिपुण्यस्थाने। काले उत्तरायणे। चकारादुभयाङ्गधर्मेषु मनो नाऽऽसक्तं कुर्यात्। विशेषणभूत एव देशादौ चित्तं व्यापृतं मा भवेदिति तदा केवलं भगवन्निष्ठं मनः कृत्वा यद्देशादिर्भिर्भविष्यति तद्भगवतैव भविष्यतीति मनःस्थैर्यं विधाय प्राणान्नियच्छेत्। मूलाधारादपानं सङ्कोच्य तत्र प्राणं निधाय कुण्डलिनीप्रबोधनेन प्रबुद्धां तां प्राणापानसहितां सुषुम्णारन्ध्रे निवेश्य वायुमूर्ध्वं नयेदित्यर्थः। मनसा बुद्धिसहितेन देहचालनादिकमकृत्वा। एतत्सामर्थ्यं जितासोरेव भवतीति तदवसरे स्मारयति— **जितासुरिति।** एवङ्कृते वा जितासुर्भवति। यदा कश्चित्स्वग्रामान्निष्काश्यते तदा जयः सिद्धो भवति। तदनन्तरं मनः स्वबुद्ध्या आत्मबुद्ध्या सङ्घातव्यतिरिक्तरूपया। अमलया भक्त्यादिभिः शुद्धया। नियम्य स्थिरं कृत्वा प्रयत्नं त्याजयित्वा। दण्डवत्त्यक्त्वेति यावत्। स्वस्मिन् वा स्थापयित्वा बुद्ध्या वा संयोज्य। तां बुद्धिं मन.समाहितां वा। क्षेत्रज्ञे शारीरे आत्मनि। यः क्षेत्रं देहादि अहमिति ममेदमिति वा अभिमन्यते तस्मिन् प्रवेशयेत्। तञ्च क्षेत्रज्ञं भगवतो रूपविशेषे सर्वजीवसमूहरूपे आत्मनि **"अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थित"** इति वाक्यनिरूपिते भगवद्विभूतिरूपे। तमात्मानं भगवति तस्मिन्नेव भगवद्रूपे। अवरुध्य एकीकृत्य पुनर्देहानुसन्धानार्थमिच्छामकृत्वा धीरो भूत्वा तत्राऽऽत्मनि लब्धोपशान्तिः कृत्यात् कोटिजन्मभिः कृतात् कर्त्तव्यात् सर्वेभ्य एव प्रयत्नेभ्य उपरतो भवेत्। समाधाविव स्थित्वा पुनर्नाऽऽगच्छेदित्यर्थः। अत्रैव मुक्तिरित्येकः पक्षः। एवं स्थिते देहः स्वयमेव स्वकारणलयाद्गच्छति। परं तन्नाऽनुसन्धत्ते। एतत्तृतीये वक्ष्यते ॥१५॥१६॥

व्याख्यार्थ—यह बुद्धिपूर्वक मरण स्मरण का अङ्ग है सहकारी है। कोई इस बुद्धिपूर्वक मरण को उत्तराङ्ग बताते हैं अर्थात् यह फलजनन दशा में सहकारी है। अन्यों का कहना है कि यह बुद्धिपूर्वक मरण अवान्तर व्यापार है। स्थिर का अर्थ है अचञ्चल और सुखम् का अर्थ है कोमल।

इस तरह का आसन पद्मासन या व्यादिरूप आसन हो उसमें अच्छी तरह से स्थित हो जाय। अर्थात् मन से भी अन्यत्र गमन निषिद्ध है। इसके आगे संन्यास नित्य है। अथवा तब संन्यास करना चाहिये यह यति पद से बताया है। प्राणायाम करके पञ्चाक्षर संन्यासमन्त्र 'अहं ब्रह्मास्मि' का तीन बार जप करके फिर 'अभयमभयभूतेभ्य:' इस प्रकार सब प्राणियों के लिए अभय देकर फिर ब्रह्म का 'ॐतत्सत्' जो तीन प्रकार का निर्देश है उसे कहकर 'वसुरण्वो विभूरसि' इस महोपनिषद् के अर्थ की भावना करके प्रणव (ॐ) से ब्रह्म में जीव का योजन करना ही यतित्व है। ऐसा यति जब हो जाय तब उसी समय अथवा अन्य समय जब भी देह का त्याग करना चाहे तब देश या काल की अपेक्षा न करे। मेरे देहत्याग के लिए बदरिकाश्रम आदि पुण्य स्थान हो या उत्तरायण काल हो च से उन देशकाल के अङ्गधर्मों में भी मन को आसक्त न करे। विशेषणभूत देशकाल आदि में चित्त न लग जाय इसके लिए मन को केवल भगवान् ही में लगाकर ऐसा समझे कि जो देश आदि से होगा वह भगवान से ही हो जायगा इस तरह मन को स्थिर करके प्राणायाम करे मूलाधार (गुदा) से ही अपान वायु को संकुचित करके उस अपान वायु में प्राणवायु मिलाकर कुण्डलिनी का प्रबोधन करे इस प्रकार प्रबुद्ध उस कुण्डलिनी को जो कि प्राणापान के सहित है उसे सुषुम्णा रन्ध्र में स्थापित कर वायु को ऊपर ले जाय। ऐसा सामर्थ्य जितासु को हो होता है इस तरह उस समय में उसे याद दिलाते हैं कि जितासु में ही ऐसा सामर्थ्य होता है। अथवा ऐसा करने पर जितासु होता है। जब किसी को उसके गाम से निकाल दिया जाता है तभी निकालने वाले के जप की सिद्धि होती है। जितासु हो जाने के अनन्तर फिर सङ्घात (देह) से अलग रूप वाली बुद्धि से जो कि भक्ति आदि से शुद्ध हो चुकी है उससे मन का नियमन करे मन के प्रयत्नों को छुड़ाकर स्थिर कर ले। घड़े के बन जाने के अनन्तर दण्ड के त्याग की तरह उसका परित्याग कर दे। अथवा मन को अपने अपनपे में स्थापित करके अथवा बुद्धि से संयुक्त करके फिर उस बुद्धि को जो मनःसमाहित है क्षेत्रज्ञ शारीर आत्मा में प्रविष्ट कर दे जो क्षेत्रज्ञ देहादि क्षेत्र को ही यह मैं हूँ, यह मेरा है ऐसा मानता है उस देहाभिमानी क्षेत्रज्ञ में मनःसमाहित आत्मा का प्रवेश कर दे। तदनन्तर उस क्षेत्रज्ञ को भगवान् के रूपविशेष सर्वजीव समूहरूप आत्मा जो भगवद्विभूतिरूप है उसमें प्रविष्ट कर दें जिसका वर्णन गीता में 'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशय स्थितः' वाक्य से किया है। फिर उस भगवद्विभूतिरूप उसी आत्मा को उसी भगवान् के रूप में निरोध करके एकाकार करके पुनः देह के अनुसन्धान की इच्छा न करता हुआ धीर होकर उस आत्मा में शान्तिलाभ करके करोड़ों जन्मों में किये हुए कार्यों से और सब प्रयत्नों से उपराम करे। समाधि में स्थित की तरह स्थित होकर पुनः इस मनुष्यलोक में न आवे। यहीं पर उसकी मुक्ति हो जाती है ऐसा एक पक्ष हैं अर्थात् इस हृदयाकाश में ही मुक्त हो जाता है। ऐसा होने पर यह देह अपने कारणों अविद्या, काम, कर्मों के विलीन होने से स्वयं ही चला जाता है। परन्तु उस देह के जाने का अनुसन्धान नहीं होता। इसे स्पष्ट रूप से देवहूति की संसिद्धि में तृतीय स्कन्ध में कहेंगे ॥१५॥१६॥

आभास—तस्य मुक्तित्वं वदति—

आभासार्थ—पूर्व श्लोक में बताई गई अवस्था को ही मुक्ति कहते हैं—

श्लोक—**न यत्र कालोऽनिमिषां परः प्रभुः कुतो नु देवा जगतां य ईशिरे।**
न यत्र सत्त्वं न रजस्तमश्च न वै विकारो न महान्प्रधानम् ॥ १७ ॥

श्लोकार्थ—जहां पहुंचने पर देवताओं का नियामक काल भी कुछ नहीं कर सकता तो फिर जगत् के ईश्वर देवता तो कर ही क्या सकते हैं। जहां सत्त्व, रज, तम और विकार महत्तत्त्व एवं प्रकृति भी कुछ नहीं कर सकती ॥ १७ ॥

सुबोधिनी—न यत्रेति । यत्राऽऽत्मनि कालो न प्रभुः । अनिमिषां देवानां परः उत्कृष्टः मुख्याधिकारी प्रभुः तेषामपि नियन्ता । अनेनाऽधिकारः सामर्थ्यं चोक्तम् । तथापि भगवति स्थितत्वान्न प्रभुः । कुतो नु देवा इन्द्रियाधिष्ठातारः । ते हि सर्वदा समाधिस्थितं निष्काशयन्ति । तेषामितो निष्काशने सामर्थ्यं कैमुतिकन्यायेन निवारितम् । तेषां सामर्थ्यमाह—**जगतां य ईशिर इति** । सर्वजगति ये प्रभवः । अतः कालस्य कालनियम्यानां वा न तत्र सामर्थ्यमित्युक्तम् । यद्यपि कालप्रेरणव्यतिरेकेण गुणा न क्षुभ्यन्ति । अक्षुब्धाश्च स्वरूपान्न प्रच्यावयन्ति । तथापि क्षोभणे कालो गुणाधीन इति तेषां पृथङ्निराकरणमाह— **न यत्रेति** । चकारात्प्रकृतिगुणा अहङ्कारगुणाश्च । वै निश्चयेन । अहङ्कारोऽपि । स तु सर्वदा स्वरूपच्यावकः । अतो वैशब्दः । महान् महत्तत्वम् । प्रधानं प्रकृतिः । तत्र स्थितं कोऽपि न चालयतीत्यर्थः ॥१७॥

व्याख्यार्थ—जिस परमात्मा में पहुँचने पर उस मुक्त पर काल का भी कोई प्रभुत्व नहीं होता। जो काल देवताओं से भी उत्कृष्ट है भगवान् का मुख्य अधिकारी है। यह काल देवताओं को नियम में रखने वाला है। इससे काल का अधिकार एवं काल का सामर्थ्य बताया। तथापि भगवान् में स्थित होने से मुक्त पर उसका प्रभुत्व नहीं चलता। तो फिर उस मुक्त पर इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवताओं का तो प्रभाव कर ही क्या सकता है। देवता सदा समाधि में स्थित योगी को वहां से निकाल सकते हैं किन्तु उस मुक्त के निकालने में उनका सामर्थ्य कैमुतिक न्याय से निवारित किया गया है। देवताओं का सामर्थ्य जगतां य ईशिरे से बताते हैं सारे जगत् के वे ईश (स्वामी) है। अतः काल का या काल के नियन्त्रण में रहने वालों का सामर्थ्य बताया। यद्यपि काल की प्रेरणा के बिना गुणों में क्षोभ (चलन) नहीं होता और बिना क्षोभ के गुण किसी को अपने स्वरूप से च्युत (हटा) नहीं कर सकते। तथापि गुणों को क्षुभित करने में काल गुणों के अधीन रहता है इसलिए न यत्र सत्त्वं न रजस्तमश्च इससे उनका निराकरण अलग से किया है। च से प्रकृति के गुण और अहङ्कार के गुणों का भी ग्रहण किया गया है। वै का अर्थ निश्चय है। अहङ्कार भी मुक्त को च्युत नहीं कर सकता है। अहङ्कार तो सदा ही स्वरूप च्युत करने (गिराने) वाला है। इसीलिए इसके लिए वै निश्चयवाचक पद दिया है। महान् से महत्तत्व और प्रधान से प्रकृति ये सब परमात्मा में स्थित मुक्त को चालित नहीं कर सकते ॥१७॥

आभास—नन्वेवं तस्य स्थानस्य कथं माहात्म्यम् । तदाह—

आभासार्थ—उस स्थान का ऐसा माहात्म्य कैसे है इस शंका पर कहते हैं—

श्लोक—**परं पदं वैष्णवमामनन्ति तत् यन्नेति नेतीत्यतदुत्सिसृक्षवः ।**
विसृज्य दौरात्म्यमनन्यसौहृदा हृदोपगूह्याऽर्हपदं पदे पदे ॥ १८ ॥

श्लोकार्थ—परमात्मा के अतिरिक्त देहादि अन्य पदार्थ का 'वह परमात्मा इस तरह का नहीं है' ऐसा समझ कर परित्याग करते हैं और देहादि में आत्मभाव भी नहीं रखते। केवल प्रभु से ही प्रेम करते हैं। ऐसे निर्दोष मुक्त उस पुरुषोत्तम के चरणरूप स्थान को प्रतिक्षण हृदय से आलिङ्गन करते हैं और उसे ही सर्वोत्कृष्ट वैष्णव स्थान कहते हैं ।। १८ ।।

सुबोधिनी—परं पदमिति। तत्सर्वेभ्य: पदेभ्य: स्थानेभ्य उत्कृष्टं पदमक्षररूपं पुरुषोत्तमपादरूपम्। अत एव वैष्णवम्। यत् वैष्णवं परं पदमामनन्तीति योजना **यदित्युद्देश्यम्**। **आमनन्तीति** तत्र प्रमाणम्। केवलश्रुते: प्रमाणत्वे उपचरितार्थत्वं वा कल्प्येत। अत आह—**नेति नेतीत्यतदुत्सिसृक्षव इति**। अतत् आत्मव्यतिरिक्तमस्मिन् सङ्घाते ये उत्सिसृक्षवो भवन्ति ते तद्वैष्णवं पदमिति वदन्ति। तदेकं ग्राह्यमन्यत्त्याज्यमिति विवेक:। न च तेषामुत्तमाधिकारादेव स्फुरणं भविष्यतीत्याशङ्क्य तेषामधिकारमाह—**विसृज्येति**। तेषामपेक्षितं गुणत्रयं वर्त्तते। सर्वथा देहादावात्मस्फूर्त्तित्याग: सर्वदोषाभावरूप: न विद्यते अन्यस्मिन् सौहृदं येषाम्। अनेन पुर्वोक्तन्यायेन भगवति परमा प्रीतिरुक्ता। साधनञ्चाऽऽह। अर्हपदं भगवच्चरणारविन्दम्। पदे पदे क्षणे क्षणे मनस: स्थापनस्थाने वा। उपगूह्य आलिङ्ग्य। आमनन्तीति सम्बन्ध:। एतादृशैरुक्तं नाऽन्यथा भवतीत्यर्थः ।। १८ ।।

व्याख्यार्थ—श्री पुरुषोत्तम का चरणरूप अक्षर ब्रह्मरूप स्थान सब स्थानों से उत्कृष्ट स्थान है। अतएव उसे वैष्णव पद (स्थान) कहते हैं। अर्थात् जिस वैष्णव स्थान को परमपद कहते हैं ऐसी यहां योजना है। यत् शब्द से उद्देश्य लिया जाता है और आमनन्ति से उसमें प्रमाण बताते हैं। केवल श्रुति को ही प्रमाणरूप में उपस्थित करने पर उसे उपचरित (लाक्षणिक या स्तुतिरूप) है ऐसी कल्पना कर लेते। अतः 'नेति नेत्यतदुत्सिसृक्षव:' ऐसा कहा। आत्मा से अतिरिक्त इस सङ्घात देह को जो छोड़ना चाहते हैं वे उस अक्षर ब्रह्मरूप स्थान को जिसे वैष्णव पद कहते हैं। अर्थात् केवल वैष्णव पद ही ग्राह्य है अन्य सब त्याज्य हैं। यहां यह शंका होती है कि वे उत्तमाधिकारी हैं अतः उन्हें ऐसी स्फूर्त्ति स्वत: हो जायगी उसके उत्तर में कहते हैं कि 'विसृज्य दौरात्म्यम्' जो उत्तमाधिकारी हैं उन्हों को भी तीनों गुणों की सत्त्व रज एवं तम की अपेक्षा रहती है। तथापि उनमें सर्वथा देह आदि में आत्मभाव का त्याग रहता है, यह ही सब दोषों का अभावरूप है तथा भगवान् से अतिरिक्त में उनका प्रेम नहीं है। स सर्वधीवृत्त्यनुभूतसर्व: इस न्याय से उनकी भगवान् में परम प्रीति होती है। उनका साधन बताते हैं 'अर्हपदम्' भगवान् के चरणारविन्द का क्षण क्षण में अथवा मन के स्थापन स्थान में आलिङ्गन करते हैं और अन्य लोगों को भी इस साधन का उपदेश देते हैं अत: उनका कथन कभी अन्यथा नहीं होता ।। १८ ।।

श्लोक—**इत्थं मुनिस्तूपरमेद्व्यवस्थितो विज्ञानदृग्वीर्यसुरन्धिताशय:।**
स्वपार्ष्णिनाऽऽपीड्य गुदं ततोऽनिलं स्थानेषु षट्सून्नमयेज्जितक्लम:।। १९।।

नाभ्यां स्थितं हृद्यधिरोप्य तस्मादुदानगत्योरसि तं नयेन्मुनिः।
ततोऽनुसन्धाय धिया मनस्वी स्वतालुमूलं शनकैर्नयेत ॥२०॥
तस्माद्भ्रुवोरन्तरमुन्नयेत निरुद्धसप्तास्वयनोऽनपेक्षः।
स्थित्वा मुहूर्त्तार्द्धमकुण्ठदृष्टिर्निर्भिद्य मूर्द्धन् विसृजेत्परं गतः ॥२१॥

श्लोकार्थ—इस तरह मुक्ति पक्ष का निरूपण किया। अब यदि मुनि हो तो वह उस पक्ष को छोड़कर अपने विज्ञान दृष्टि के पराक्रम से राग द्वेष आदि को दूर करके अपनी एडी से गुदा को खूब जोर से दबाकर वहां की वायु को ऊपर उठाकर षट्चक्र का भेदन कर ऊपर ले जाय। पहले नाभि में स्थित वायु को हृदय में रोपित करे वहां से उदान गति से छाती में ले जाय। फिर बुद्धिमान् बुद्धि से विचारकर उस वायु को धीरे-धीरे अपने तालु मूल में ले जाय। फिर वहां से वायु को दोनों भ्रुवों के मध्य में ले जाय। फिर किसी फल की अपेक्षा न रखते हुए निरुद्ध (रोके गये) प्राणों के सातों स्थानों में आधे मुहूर्त्त (एक घड़ी २४ मिनट) तक स्थित होकर सावधानी से मस्तक के रन्ध्र (ब्रह्मरन्ध्र) को भेदन कर परमात्मा को प्राप्त हुआ मुनि प्राणसहित इन्द्रियों का परित्याग कर दे ॥१९॥२०॥२१॥

सुबोधिनी—इत्थमित्युपसंहारः। एवं स्थिते देहादिः स्वयमेव गमिष्यतीति भावः। पक्षान्तरमाह—**मुनिरित्थवति**। यदि तत्र स्थितो न भवेत् मननवत्साधनान्तपरो भवेत्। भिन्नतया तत्स्वरूपं भासयते चेत्तदा तस्मादुपरमेत्। प्रकारान्तरेण पुरुषार्थः साधनीय इति। तमेव प्रकारान्तरमाह—**व्यवस्थित इति**। विशेषाकारेण तस्मिन्नेव पदे मनः स्थिरीकृत्य आत्मानं योजयित्वा भगवत्साक्षात्कारं ब्रह्मात्मभावं वा बहुकालमनुभूय तस्य विज्ञानस्य बलं प्राप्य विज्ञानमेव या दृक् अनुभवरूपं यज्ज्ञानं तस्य वीर्येण सामर्थ्येन सर्वाज्ञाननिवर्त्तकरूपेण सुष्ठु रन्धितः शोधितः रागादिनिराकरणेन शुद्धः कृतः आशयो यस्य तादृशो भवेत्। सम्यक् चित्तशोधनं कुर्यादित्यर्थः। तदा शुद्धे चित्ते देहत्यागार्थं यत्नं कुर्यादिति तत्त्यागोपायमाह—**स्वपार्ष्णिनाऽऽपीड्येति**। मूलाधारस्य पीडनं पार्ष्णिना कर्त्तव्यम्। एकवचनेन पार्ष्णिद्वयपक्षो निवारितः। गुदं मूलाधारस्थानम्। ततः कुण्डलिनीप्रबोधात्ततो मूलाधारादनिलमुत्थाप्य षट्चक्रभेदनेनोर्ध्वं नयेत्। तत्र वायोः स्थानभूतानि षट् चक्राणि मूलाधारस्वाधिष्ठानमणिपूरकानाहतविशुद्धि(?) आज्ञारूपाणि गुदे गुह्यस्थाने नाभौ हृदये तालुमूले भ्रूमध्ये च स्थितानि। तानि स्थानानि पद्मत्वेनोक्तानि चतुर्दलं, षड्दलं, अष्टदलं, द्वादशदलं, षोडशदलं, द्विदलमिति। तेषु वायोरूर्ध्वनयनमार्जनेव न भवतीत्यन्यत्र गमनशङ्कया साधनमाह—**जितक्लम इति**। वाय्वाकर्षणे जितः क्लमो येन। नाभिपर्यन्तमार्जवमग्रे वक्रता। अतो नाभ्यां स्थितं महता प्रयत्नेन हृद्यधिरोपणीयम्। तत्र हृत्पुण्डरीकमूर्ध्वनालमधोमुखम्। तद्वायुवशादूर्ध्वमुखं कर्त्तव्यम्। ततः प्रयत्नाधिक्यान्नाभ्यां स्थितमित्यनूद्य हृद्यधिरोपणमुक्तम्। तस्मादप्यग्रे नयनं दुर्घटं तालुमूल-

स्थाने । उरस्युदानवायुरेव तिष्ठति । अन्योऽपि यो गच्छेत्तत्र स तद्भावमापन्न एव गच्छेत् । अत आह— **उदानगत्योरसि तं नयेदिति** । पूर्वाधिकारे हृदयपर्यन्तमेव वायोरानयनम् । अस्य त्वग्रे नयनमिति पूर्ववदाह— **मुनिरिति** । तत्र समावस्थितिभावं प्राप्तस्याऽग्रे गमनार्थं तद्भावं त्यक्त्वा पूर्वभावमनुसन्धाय ततो महत्या बुद्ध्या ग्रहणस्थापनसमर्थया मनस्वी महाबुद्धिमान् स्वतालुमूलं तस्यैवाऽग्रिमस्थानं शीघ्रं नीतस्य मुखादिद्वारेण निर्गमनशङ्कया शनकैर्नयेत् । तत्र बुद्धेः सूक्ष्मता विधेया स्थापनार्थं नयनार्थं चेत्याह- **सुधीरिति** । एवं तालुमूले स्थिरीकृतं मुखादिच्छिद्रद्वारा निर्गमनशङ्कया निरुद्धसप्तास्वयनः निरुद्धानि सप्त असोः प्राणस्य अयनानि द्वाराणि येन तादृशो भूत्वा तस्मात्पूर्वस्थानाद्भ्रुवोरन्तरमूर्ध्वं नयेत् । तत्राऽऽज्ञाचक्रे तं वायुं स्थिरीकृत्य अन्तःकरणशुद्धेः पूर्वं निरूपितत्वात्सर्वापेक्षारहितो भूत्वा तत्र **भगवद्ध्यानेन** भगवदाविर्भावे जाते तत्राऽकुण्ठदृष्टिर्मुहूर्तार्द्धं स्थित्वा परं भगवन्तं गतः सायुज्यं प्राप्तः । पूर्वमेव वायोर्बहिर्निर्गमनार्थं प्रयत्नस्य कृतत्वात् । मूर्द्धानं ब्रह्मरन्ध्रं निर्भिद्य विसृजेत् । इन्द्रियाणि विसृजेत् । प्राणानामपि निस्सारणं केचिदिच्छन्ति । अग्रे तेषामप्युपयोगात् । केचित् **"इहैव समवनीयन्त"** इति वाक्यानुरोधात्प्राणानामत्रैवाऽऽत्मनि स्वमूलभूतासन्यरूपेण स्थितिमिच्छन्ति । प्राणस्य भोगासाधकत्वञ्च । **"तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामती"**त्यमुक्तिविषयम्। उत्क्रान्तिचरणविचारेणाऽपि **"वाङ् मनसि सम्पद्यत"** इत्यादिभिः प्राणशब्देनेन्द्रियाण्युच्यन्ते । गमने वा आयुषो भावात् **"मुख्ये कार्यसम्प्रत्यय"** इति न्यायेन मुख्यानुरोधिप्राणानामिह लयः । तस्मादिन्द्रियाणि तत्सम्बद्धः प्राणश्च बहिर्निस्सारित इत्यर्थः ॥१९–२१॥

व्याख्यार्थ—पूर्वपक्ष के उपसंहार को बताने के लिए इत्थं यह पद दिया है । अर्थात् ऐसी स्थिति होने पर देह आदि स्वयं ही चले जायेंगे ऐसा यहां तात्पर्य है । अब पक्षान्तर को (द्वितीय पक्ष को)कहते हैं । यदि उसमें स्थित न हो सके तो मनन वाला जो द्वितीय पक्ष है उसका अवलम्बन करे । यदि उसका स्वरूप भिन्न रूप से भासित हो तो उसका परित्याग कर दे । अन्य प्रकार से पुरुषार्थ की सिद्धि करे । उसी अन्य प्रकार को व्यवस्थितः आदि से कहते हैं । विशेषाकार से उसी वैष्णव पद में मन को स्थिर करके आत्मा को भगवान् में मिलाकर भगवत्साक्षात्कार अथवा ब्रह्मात्मभाव का बहुत काल तक अनुभव करके फिर उस विज्ञान के बल को प्राप्त कर विज्ञान ही अनुभवरूप जो सब अज्ञानों को मिटाने वाला है उसके सामर्थ्य से बल से जब रागादि दूर हो जाते हैं तब उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है अर्थात् उसको अपने अनुभवरूप ज्ञान से रागादि दोषों को दूर कर ठीक तरह से अन्तःकरण को शुद्ध करना चाहिये । जब चित्त शुद्ध हो जाय तब देह त्याग के लिए प्रयत्न करे । अब देह त्याग का उपाय स्वपार्ष्णिनाऽऽपीड्य आदि से कहते हैं । मूलाधार (गुदा) को अपनी एड़ी से अच्छी तरह से दबावे । स्वपार्ष्णिना में जो एकवचन है उसका तात्पर्य यह है कि दोनों एडियों से मूलाधार को नहीं दबाना चाहिये । मूलाधार स्थान गुदा है । वहां से कुण्डलिनी का प्रबोध होता है इस हेतु से उस मूलाधार से वायु को ऊपर ले जाकर षट्चक्र भेदन से ऊपर ले जाय । वहां वायु के स्थानभूत छः चक्र हैं मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्धि और आज्ञारूप इन छहों चक्रों की स्थिति क्रमशः (१) गुदा (२) गुह्य स्थान (३) नाभि (४) हृदय (५) तालुमूल और (६) भ्रू मध्य में है । इन स्थानों को कमलाकार बताया है वे क्रमशः (१) चतुर्दल (२) षड्दल (३) अष्टदल (४) द्वादशदल (५) षोडशदल तथा

(६) द्विदलरूप है। इन छः चक्रों से वायु को ऊपर ले जाना सरलता से सम्भव नहीं है क्योंकि जिसका अभ्यास नहीं है वह यदि वायु को ऊपर ले जाना चाहेगा तो वह वायु नियत स्थान में न जाकर अन्यत्र चला जायगा। अतः उसके लिए साधन बताते हैं जितक्रमः वायु के आकषरण में जितना भी कष्ट है उसको जिसने सहन किया हो। नाभिपर्यन्त तो वायु को ले जाने में सीधा मार्ग है आगे टेढापन है। अतः नाभि में स्थित वायु को अत्यधिक प्रयत्न से हृदय में आरूढ करना चाहिये। वहां हृदय कमल ऊपर की ओर तो उसकी डण्डी है और नीचे की ओर कमल है। उस कमल को उस वायु के द्वारा अधोमुख को ऊर्ध्वमुख (ऊपर की ओर मुख वाला) करना चाहिये। इसके अनन्तर अधिक प्रयत्न करना पड़ता है इसलिए नाभ्यां स्थितं ऐसा अनुवाद करके फिर उ। वायु को हृदय में आरोपित करना चाहिये ऐसा कहा। उससे आगे वायु का ले जाना बहुत कठिन है क्योंकि तालुमूल स्थान में ले जाने के लिए छाती में उदान वायु ही रहती है इसलिए जो भी वायु वहां से जायगी वह उदान भाव को प्राप्त होकर ही जा सकती है। इसीलिए कहा है उदान गति मे उस वायु को छाती तक ले जाय उदानगत्योरसि तं नयेत्' पूर्वाधिकार में हृदयपर्यन्त ही वायु का लाना लिखा है। हृदय के आगे तो लाने की जगह ले जाना यह लिखा है 'नयेन्मुनि.' छाती म उदान के साथ समानरूप से स्थिति को प्राप्त वायु को आगे जाने में उस समान भाव का परित्याग करके उदान के साथ में मिलने के पूर्व का जो भाव उसका अनुसन्धान करके फिर अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धि से जो बुद्धि उस उदान वायु को तो वहीं छोड़ दे और उसी पूर्व वायु को आगे बढ़ाने में समर्थ हो उस बुद्धि से महाबुद्धिमान् उस वायु को छाती से अग्रिम स्थान जो तालुमूल है वहां ले जाय। तालुमूल में ले जाते समय शीघ्रता न करे। शीघ्रता करने से वह वायु मुख आदि के द्वार से निकल सकती है इसीलिए उसको धीरे-धीरे ले जाने का कहा है। इस तरह तालुमूल में स्थिर की हुई वायु का मुख आदि छिद्रों के द्वारा निकलना सम्भव है इस आशंका से ही 'निरुद्धसप्तास्वयनः' प्राणवायु के जाने के सात द्वार है उन सबको रोककर तालुमूल में स्थिरीकृत वायु को तालुमूल से भ्रू के ऊपर ले जाय। वहां आज्ञाचक्र है उसमें वायु को स्थिर करे। अन्तःकरण की शुद्धि तो पहले से ही होनी चाहिये यह तो पहले ही कह चुके हैं। अतः सब प्रकार की अपेक्षा से रहित होकर वहां (भ्रू के उपरिस्थान में) भगवान् के ध्यान से भगवान् के आविर्भूत (प्रकट) होने पर वहां एक घड़ी तक अकुण्ठ दृष्टि से स्थित हो जाय जिससे उसी जगह उसको भगवान् का सायुज्य प्राप्त हो जायगा। वायु के बाहर न निकलने का प्रयत्न तो पहले ही किया जा चुका है अतः उस वायु को ब्रह्मरन्ध्र में ले जाकर ब्रह्मरन्ध्र का भेदन कर विसर्जित कर दे। इन्द्रियों का भी विसर्जन कर दे। विशेष प्रकार के योगियों का ऐसा कहना है कि क्रममुक्ति के अधिकारी प्राणों को भी ब्रह्मरन्ध्र से निकाले। आगे उनका भी उपयोग होता है। अन्य योगियों का कथन ऐसा है कि "इहैव समवनी-यन्ते' इस वाक्य के अनुरोध से प्राणों की यहां ही आत्मा में अपने मूलभूत आसन्यरूप से स्थिति रहती है। प्राण भोग का साधक नहीं है यह भी कहते हैं। 'तमुत्क्रामन्त प्राणोऽनूत्क्रामति' यह श्रुति तो अमुक्ति विषयक है इसलिए इससे कोई विरोध नहीं आता। शका करते हैं कि 'अस्य सौम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ् मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायां स य एषोणिमा' इस छांदोग्य श्रुति के अनुसार वाणी, मन, प्राण और तेज इन चारों का ही लय मुक्ति एवं अमुक्ति विषय में कहा गया है इसलिए इन्द्रिय त्याग या इन्द्रिय विसर्जन श्रुति विरुद्ध आभासित होता है। इसका उत्तर यह है कि 'प्राणामुत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा उत्क्रामन्ति' इस शारीरक ब्राह्मणोक्त श्रुति से प्राणों की जो उत्कान्ति और 'त एतस्यैव रूपमभवंस्तस्मादेत एतेनाख्यायन्ते प्राणा इति' इस सप्तान्न

ब्राह्मणोक्त जो प्राणव्रत चरण है इन दोनों का विचार करने से 'वाङ् मनसि सम्पद्यते' इत्यादि श्रुति में भी प्राणशब्द से इन्द्रियां ही ली जाती है इसलिए वहां भी सर्वेन्द्रिय लय ही कहा गया है। इसलिए प्राणों के आगमन में भी इन्द्रियत्याग श्रुतिविरुद्ध नहीं है और गमन में आयु का अभाव होता है। 'मुख्ये कार्य सम्प्रत्ययः' इस न्याय से मुख्यानुरोधित प्राणों का यहां लय होता है। इसलिए इन्द्रियां और इन्द्रियों से सम्बद्ध प्राण का बाहर निःसारण किया ऐसा समझना ॥१६-२१॥

आभास—एवं सद्यो मुक्तिर्द्विधा निरूपिता। उत्तममध्यमभेदात्। आद्यस्य वासनाया अक्षीणत्वाद्भोगेनैव तत्क्षयं मत्वा तं प्रति क्रममुक्तिं वदन्निन्द्रियादीनां स्वसङ्गे नयनमाह—

आभासार्थ—इस तरह उत्तम और मध्यम भेद से दो प्रकार की सद्योमुक्ति का निरूपण किया। पहली जो उत्तम सद्योमुक्ति है उसमें वासना का क्षय न होने से और वासना का क्षय भोग से होता है ऐसा मानकर उसके लिए क्रममुक्ति का कथन करते हुए वह सद्योमुक्त इन्द्रियादिकों को अपने साथ ही ले जाता है उसे कहते हैं—

श्लोक—**यदि प्रयास्यन् नृप पारमेष्ठ्यं वैहायसानामुत यद्विहारम्।**
अष्टाधिपत्यं गुणसन्निवाये सहैव गच्छेन्मनसेन्द्रियैश्च ॥२२॥

श्लोकार्थ—हे राजन्! यदि अक्षीण वासना वाला जीव ब्रह्मा के स्थान में, देवताओं के विहार स्थान में, अष्टलोकपतियों के ऐश्वर्य स्थान में अथवा ब्रह्माण्ड के ऊपर अथवा नीचे कहीं भी जाना चाहे तो मन और इन्द्रियादिकों के साथ ही जावे ॥ २२ ॥

सुबोधिनी—यदीति। यदि प्रयास्यन् भवति तदा मनसा इन्द्रियैश्च सहैवोपगच्छेदिति सम्बन्धः। **नृपेति** सम्बोधनं सर्वपुरुषार्थसिद्धावपि यथा पारध्यादिगमनमक्षीणवासनत्वाद्राज्ञां तथेदमपीति सम्मत्यर्थम्। यदेव स्थानं प्रयास्यन्भवति तद्गणयति। पारमेष्ठ्यं ब्रह्मस्थानम्। वैहायसानां विमानमधिरुह्य स्त्रीभिः सह सर्वत्राऽन्तरिक्षे परिभ्रमतां यद्विहारस्थानं तत्र वा। उताऽप्यष्टाधिपत्यमष्टगुणैश्वर्यम्। किम्बहुना। गुणसन्निवाये ब्रह्माण्डे अधः उपरि मध्ये वा प्रयास्यन्भवति तत्रैव सह गच्छेत्। चकाराद्वासनाभिः प्राणैर्वा ॥२२॥

व्याख्यार्थ—यदि जाना चाहता है तो मन और इन्द्रियों के साथ ही जाय ऐसा सम्बन्ध जानना। नृप यह सम्बोधन इस बात को बताता है कि तुम्हारे सभी पुरुषार्थ सिद्ध हो चुके थे परन्तु वासना का क्षय न होने से तुम भी शिकार खेलने गये थे। इसी तरह जिनकी वासना का क्षय नहीं हुआ है वे जिस स्थान में जाना चाहे उन स्थानों को गिनाते हैं। ब्रह्मा का स्थान, विमान में बैठकर स्त्रियों के साथ सर्वत्र अन्तरिक्ष में घूमने वालों के जो विहार स्थान हैं वहां अथवा आठ लोकपालों के अष्टगुणैश्वर्य स्थान। अधिक क्या कहें गुणों के समूहरूप ब्रह्माण्ड के नीचे, ऊपर तथा

मध्य में जाना चाहे तो मन और इन्द्रियों के साथ ही जावे । च से वासना और प्राणों का भी संग्रह होता है । अर्थात् वासना को भी साथ में रखे अथवा प्राणों को भी साथ ले जाय ।।२२।।

आभास—नन्वेवं सामर्थ्यं कथं जीवस्येत्याशङ्क्याऽऽह—

आभासार्थ—जीव का ऐसा सामर्थ्य कैसे होता है इस पर कहते हैं—

श्लोक—**योगेश्वराणां गतिमाहुरन्तर्बहिस्त्रिलोक्याः पवनान्तरात्मनाम् ।**
न कर्मभिस्तां गतिमाप्नुवन्ति विद्यातपोयोगसमाधिभाजाम् ।।२३।।

श्लोकार्थ—पवन के अन्दर जिनका लिङ्गशरीर रहता है उन योगेश्वरों की गति त्रिलोकी के भीतर और बाहर सर्वत्र हो जाती है । उपासना, कृच्छ्रादि तप और अष्टाङ्गयोग तथा समाधियुक्त भक्ति को करने वाले कर्म के द्वारा उस गति को प्राप्त नहीं कर सकते ।। २३ ।।

सुबोधिनी—**योगेश्वराणामिति** । येषां स्वाधीनो योगः । यद्यपि स्वतो गमनसामर्थ्यं न भवति तथापि योगेन तद्भवतीति सर्वा गतय उच्यन्ते । **त्रिलोक्याः अन्तर्बहिश्चेति** । बहिः स्थिता अपि अन्तरायान्ति । अन्तः स्थिता अपि बहिर्गच्छन्ति । तत्र हेतुः-**पवनान्तरात्मनामिति** । पवनस्याऽन्तः आत्मा लिङ्गशरीरं येषाम् । अत्र त्रिलोकीति न ब्रह्माण्डाभिप्रायम् । किन्तु लोकत्रयमेव । यद्यपि कर्मभिरपि सर्वत्र ब्रह्माण्डे गमनमस्ति तथापि न तेषां स्वेच्छया गमनमित्याह—**तामिति** । या स्वच्छन्दा योगिनां सा न कर्मिणामित्यर्थः। ननूपायस्य तुल्यत्वेऽपि योगस्य कथं गौणता कथं कर्मणां मुख्यत्वमिति । तत्राऽऽह— **विद्यातपोयोगसमाधिभाजामिति** । कर्म तु स्वतन्त्रमसहायं जीवं स्वाधीनं करोति । योगे तु विद्यादयोऽन्येऽपि चत्वारः सन्ति । तत्सर्वेष्टितं जीवं योगः स्वाधीनं कर्तुं न शक्नोति । एवमन्येऽपि । ततश्च जीव एव स्वतन्त्रः । अन्ये तु गुणभूताः स्वेच्छया गमने सहायभूता भवन्ति । विद्या उपासना मन्त्रप्रकारेण । तपः कृच्छ्रादि । ज्ञानं वा । योगोऽष्टाङ्गः। समाधिः समाधिस्थितभगवद्दर्शनेन तज्जनितभक्तिसहितपरमधर्म उच्यते । एतेषु करणदशायामपि पुरुषस्य स्वातन्त्र्यम् । कर्ममार्गे तु विध्यधीनतेति ।। २३ ।।

व्याख्यार्थ—योग जिनके अधीन रहता है वे योगेश्वर कहलाते हैं । यद्यपि गमन का सामर्थ्य इनमें स्वतः नहीं होता किन्तु योग के द्वारा उनमें सब प्रकार की गतियां हो जाती है । तीनों लोकों के अन्दर बाहर और भीतर भी उनकी गति होती है । बाहर स्थित होते हुए भी वे अन्दर आ जाते हैं और अन्दर रहते हुए भी बाहर चले जाते हैं । उसका कारण यह है कि जिनका आत्मा (लिङ्ग शरीर) पवन के अन्दर रहता है वे योगी ऐसा कर सकते हैं । यहां त्रिलोकी से ब्रह्माण्ड न समझना किन्तु तीनों लोक ही समझना । यद्यपि कर्मों से भी सर्वत्र ब्रह्माण्ड में गमन हो सकता है तथापि कर्मों के द्वारा होने वाले गमन में स्वतन्त्रता नहीं होती है । जो स्वच्छन्द गति योगियों में

होती है वह कर्म करने वालों में नहीं होती। उनकी गति तो कर्माधीन है स्वच्छन्द नहीं है। यहां यह शंका होती है कि उपाय तो दोनों में तुल्य है फिर योग गति में गौणता और कर्मों की (यज्ञ से) गति में मुख्यता क्यों है। उसका उत्तर यह है कि कर्म तो स्वतन्त्र है वह असहाय जीव को अपने अधीन कर लेता है और योग में तो विद्या, तप, योग और समाधि ये चार उस जीव के सहायक होते हैं। इन्हीं चारों सहायकों से युक्त जीव को योग स्वाधीन नहीं कर सकता। इसी तरह अन्य भी इस जीव को स्वाधीन नहीं कर सकते। इसलिए जीव ही स्वतन्त्र रहता है। जीव के इच्छानुसार गमन में दूसरे विद्या, तप आदि गौण है और वे उसके गमन में सहायक बनते हैं। मन्त्र प्रकार से की जाने वाली उपासना विद्या कहलाती है। तप से कृच्छ्र आदि का ग्रहण है। अथवा तप ज्ञान है। योग जिसके आठ अङ्ग है उसका यहां ग्रहण है। यहां समाधि से समाधि में स्थित भगवान् के दर्शन से उत्पन्न होने वाली भक्ति के सहित परम धर्म कहा गया है। इन विद्या आदि की करणदशा में भी पुरुष की स्वतन्त्रता रहती है और कर्ममार्ग में तो विधि की अधीनता रहती है ॥२३॥

आभास—एवं पुरुषस्य स्वाधीनतां निरूप्य गमनप्रकारमाह **वैश्वानरं यातीत्यादिना**—

आभासार्थ—इस तरह पुरुष की स्वाधीनता का निरूपण करके अब पुरुष के गमन का प्रकार कहते हैं—

श्लोक—**वैश्वानरं याति विहायसा गतः सुषुम्णया ब्रह्मपथेन शोचिषा।**
विधूतकल्कोऽथ हरेरुदस्तात्प्रयाति चक्रं नृप शैशुमारम् ॥२४॥

तद् विश्वनाभिं त्वतिवर्त्य विष्णोरणीयसा विरजेनाऽऽत्मनैकः।
नमस्कृतं ब्रह्मविदामुपैति कल्पायुषो विबुधा यद्रमन्ते ॥२५॥

अथो अनन्तस्य मुखानलेन दन्दह्यमानं स निरीक्ष्य विश्वम्।
निर्याति सिद्धेश्वरजुष्टधिष्ण्यं यद्‌द्वैपरार्ध्यं तदु पारमेष्ठ्यम् ॥२६॥

श्लोकार्थ—हे राजन्! यह योगी आकाश मार्ग से होता हुआ अग्निलोक में जाता है। सुषुम्णा नाड़ी से वायुरूप होकर ब्रह्मपथ से उस लोक में जाता है। अग्नि लोक में होकर जाने से उसकी अपव्यंकता सूख जाती है। फिर वह तेजोमय शरीर से शिशुमार चक्र में जाता है। रजोरूप से रहित यह जीव विश्व की नाभिरूप शिशुमार चक्र का भेदन करके शुद्ध शरीर से महर्लोक में जाता है। यह लोक ज्ञानिगम्य है। इस लोक में एक कल्प की आयु वाले ज्ञानी भृगु आदि महर्षि रहते हैं। इसके बाद जब सङ्कर्षण के मुख की अग्नि से यह विश्व (त्रैलोक्य) जल जाता है तब यह

योगी उन महर्षियों के साथ उससे ऊपर के जनलोक, तपोलोक और सत्यलोक में जाता है। यह सत्यलोक ब्रह्मा का स्थान है। वहां भी यह सिद्धेश्वरों के साथ निवास करता है ॥२४॥२५॥२६॥

सुबोधिनी—यावदवसाने आनन्दमयस्तावद्यातीति सम्बन्धः। वैश्वानरमग्न्यधिष्ठातृदेवतालोकम्। "**अग्निर्ज्योतिरहः शुक्ल**" इति वाक्यप्रकारेण गमनम्। ननु तस्य लोकस्य दूरे विद्यमानत्वाद्बहुकालव्यवधानेन अन्तरा भोगाभावाद्भोगाभिनिवेशस्य विद्यमानत्वात्पुनरागमनं स्यात्। तदर्थमाह- **विहायसा गत इति**। आकाशमार्गेण गतः। पूर्वमेव "**पवनान्तरात्मनाभि**" त्युक्तत्वाद्यथा वायोर्गमनं तथा तेषामपीत्यर्थः। ननु वायोरितस्ततो गमनसम्भवात्तद्वदस्याऽपि न ऋजुमार्गेण वैश्वानरे गमनं सम्भवति? तत्राऽऽह—**सुषुम्णयेति**। सुषुम्णामार्गेण गच्छतीति नाऽन्यत्र गमनम्। ननु सुषुम्णाऽपि कथं नाऽन्यत्र गच्छति? तत्राऽऽह—**ब्रह्मपथेनेति**। ब्रह्मणः पन्थाः। ब्रह्ममार्गत्वाद्व्यापिवैकुण्ठ एव गच्छति। ननु सुषुम्णाया नाडीरूपत्वात्कथं देहाद्बहिर्निर्गमनम्? तत्राऽऽह—**शोचिषेति**। तेजोरूपया। एवं तेन मार्गेण वैश्वानरलोकं गतस्य पूर्वमद्भिः सम्परिष्वक्तस्य गमनात्कामनाबाहुल्येन वा सकल्कत्वात् तत्र भोगे अग्निमध्यभोगात्कल्कशोषः। अतस्तदनन्तरं ज्योतिस्स्थानगमने आदित्यादि ध्रुवपर्यन्तं गमने विधूतकल्को भूत्वा, अथ भिन्नप्रक्रमेण तेजोमयशरीरेण हरेर्भगवतः स्वरूपभूतं शिशुमाररूपं चक्रमुपयाति। यद्यपि शिशुमारचक्रस्य भूमेः परितो विद्यमानत्वात्सर्वत्र गमनमायाति, तथाप्युदस्तादूर्ध्वमेव गच्छति। **नृपेति** सम्बोधनं शुद्धसत्त्वात्मकस्योर्ध्वगमनस्य संवादबोधकम्। यथा नरपालकस्य नृभिरूर्ध्वं नयनमिति। शिशुमारस्वरूपमग्र वक्ष्यते। तत्र ध्रुवस्थान शिशुमारस्याऽन्ते भवति। तद्ब्रह्माण्डस्य नाभिस्थानीयम्। ततोऽग्रे लोकचतुष्टयम्। तत्र तुशब्देन पूर्वरूपाद्रूपान्तरकरणमुक्तम्। ततो द्वितीयं ध्रुवे। **विष्णोरि**त्युभयत्र सम्बध्यते। तत्र गमनयोग्यं शरीरं वर्णयति—**अणीयसा विरजेनाऽऽत्मनेति**। पूर्वापेक्षया तदणीयः। वायुप्रधानत्वात्। प्रशिथिलावयव इत्यर्थः। तत्रापि विरजः वायोरपि लोकत्रय एव रजःसम्बन्धः। अथवा पूर्वशरीरं तामसं स्थितं तद्वैश्वानरलोके त्यक्तम्। ततो द्वितीयं ध्रुवे त्यक्तम्। तृतीयमिदमिति तमोरजसोरभावाद्विरजेनेत्युक्तम्। केवलसत्त्वमयेन सत्त्वमिश्रेण वा। केवलसत्त्वेन ब्रह्माण्डभेदस्य वक्ष्यमाणत्वात्। आत्मना पूर्ववदात्मत्वेन गृहीतेन देहेन। **एक इति**। तत्र वैमानिकानां गमनाभावादसहायत्वेनैकाकित्वम्। ब्रह्मविदां स्थानं अन्यैर्नमस्कृतं केवलं ज्ञानिनामेव स्थितियोग्यं महर्लोकम्। यत्र महर्लोके। कल्पायुषः ब्रह्मकल्पपर्यन्तमायुर्येषाम्। विशेषेण बुधा ज्ञानिनो भृग्वादयो रमन्ते भगवद्गुणानुस्मरणैः ज्ञानेन वा समाधिरूपेण। अयमपि तत्र गतो ब्रह्मकल्पपर्यन्तं तिष्ठति। ततो भगवच्छयने जाते अनन्तस्य सङ्कर्षणस्य मुखाग्निना त्रैलोक्यमत्यन्तं दह्यमानं निरीक्ष्य ततो निर्याति भृग्वादिभिः सह। गमनस्य बहुकालव्यवधानत्वात् अथो इत्युक्तम्। सिद्धेश्वरैर्जुष्टानि धिष्ण्यानि यत्र जनस्तपोलोके। पारमेष्ठ्यं सत्यलोकस्थानम्। तदपि पूर्ववत्सिद्धेश्वरसेवितमित्यर्थः ॥२४। २५॥२६॥

व्याख्यार्थ—आनन्दमय भगवान् की जहां प्राप्ति होती है वहां तक यह जीव चला जाता है ऐसा सम्बन्ध है। वैश्वानर से अग्नि के अधिष्ठाता देवता का लोक लिया गया है। 'अग्निर्ज्योतिरहः

शुक्ल: षण्मासा उत्तरायणम्' इस भगवद्गीता के वाक्य के प्रकार से गमन होता है। शंका होती है कि वह लोक बहुत दूर है। वहां तक पहुंचने में तो बहुत समय लगेगा इसलिए जब तक वहां नहीं पहुंचेगा उसके बीच में जीव को कोई भोग प्राप्त होंगे नहीं और भोग का आग्रह उसमें विद्यमान है इसलिए बीच में से ही पीछा लौट आयगा इसका उत्तर देते हैं 'विहायसा गत:' वह आकाशमार्ग से जाता है। पूर्वश्लोक में 'पवनान्तरात्मनाम्' ऐसा कहा ही है। जैसे वायु का गमन होता है उसी तरह उन जीवों की भी गति होती है। यदि ऐसी आशंका हो कि वायु की गति इधर-उधर भी हो सकती है सीधी ही गति हो ऐसा तो कोई नियम नहीं है इस पर कहते हैं कि सुषुम्णया वह सुषुम्णा मार्ग से ही जाता है अत: उसकी गति इधर-उधर नहीं होगी सीधी गति से ही वैश्वानर लोक में जाता है। शंका तो फिर हो सकती है कि सुषुम्णा मार्ग इधर-उधर क्यों नहीं जाता उसके लिए कहते हैं कि सुषुम्णा मार्ग ब्रह्म का मार्ग है। ब्रह्म का मार्ग होने से वह व्यापिवैकुण्ठ में ही जाता है। सुषुम्णा तो नाड़ीरूप है देह से बाहर उसका गमन कैसे होगा इसके लिए कहा है कि शोचिषा वह सुषुम्णा नाड़ी तेजोरूपा है इसलिए इसका देह की तरह ब्रह्माण्ड में भी होना सम्भव है। इस तरह तेजोरूप सुषुम्णा मार्ग से वैश्वानर लोक में जाने पर पहले जल के सम्पर्क के साथ गमन होने से अथवा कामनाओं को बहुलता के साथ गति होने से वह सकल्क रहता था। वैद्यक के अनुसार जल के साथ मिश्रित पदार्थ को कल्क कहते हैं और अनिष्ट कर कर्म भी कल्क शब्द से कहे जाते हैं। अत: वहां वैश्वानर लोक में पहुँचने पर उस अग्निमध्य भोग से कल्क का शोष हो जायगा। इसलिए उसके अनन्तर ज्योति:स्थान में जाने में आदित्यादि ध्रुवपर्यन्त गमन में विधूतकल्क होकर तेजोमय शरीर से ही भगवान् के स्वरूपभूत शिशुमाररूप चक्र में पहुंचता है। यद्यपि शिशुमार चक्र पृथ्वी के चारों ओर विद्यमान है इसलिए टेढ़ी, सीधी, ऊपर और नीचे भी गति हो सकती है तथापि वह जीव ऊपर ही जाता है। नृप यह सम्बोधन शुद्ध सत्त्वात्मक जीव की गति ऊपर की ओर ही होती है इसे तुम जानते हो। जो मनुष्यों की रक्षा करता है उसे मनुष्य अपने से ऊपर ही रखते हैं। शिशुमार चक्र का स्वरूप आगे पञ्चमस्कन्ध में कहा जायगा। वहां ध्रुव का स्थान शिशुमार चक्र के अन्त में होता है। वह शिशुमार चक्र ब्रह्माण्ड का नाभिस्थान है उसके आगे चार लोक हैं। वहां तु शब्द से जीव को पूर्व की तरह रूपांतर करना होता है। उससे दूसरा रूप ध्रुव स्थान में होता है। विष्णो: इस पद का सम्बन्ध दोनों के साथ होता है। अर्थात् ध्रुवस्थान और महर्लोक आदि दोनों ही विष्णु के स्थान हैं। उन लोकों में जिस तरह के शरीर से जाया जाता है उसका वर्णन करते हैं 'अणीयसा विरजेनात्मना' वह शरीर पूर्व शरीर की अपेक्षा बहुत छोटा होता है। उसमें प्रधान रूप से वायु ही रहती है अर्थात् उसके अवयव बहुत शिथिल होते हैं मजबूत नहीं होते। उसमें रजोगुण का सम्बन्ध नहीं रहता। वायु का रजोगुण के साथ सम्बन्ध तीन लोक में ही रहता है आगे नहीं रहता। अथवा पूर्वशरीर तो तामस था उसे जीव ने वैश्वानर लोक में त्याग दिया। और जो दूसरा था उसे भी ध्रुव स्थान में छोड़ दिया। अब जो यह तीसरा शरीर तमोगुण और रजोगुण से रहित है इसको विरज कहते हैं। केवल सत्त्वमय अथवा सत्त्वमिश्र यह होता है इस विरज शरीर से केवल सत्त्वमय से ब्रह्माण्ड का भेदन करता है यह आगे कहा जायगा। आत्मना का अर्थ है पूर्व में जिस शरीर को आत्मा के रूप में ग्रहण किया था। आगे जाने में वैमानिकों (देवताओं) की सहायता नहीं रहती है उसको ही केवल जाना पड़ता है इसलिए 'एक:' ऐसा कहा। महर्लोक ब्रह्मवेताओं का स्थान है अत: उसमें केवल ब्रह्म ज्ञानी लोग ही रह सकते हैं। अन्य लोग तो

उस स्थान को केवल नमस्कार ही कर सकते हैं। उस महर्लोक में तो जिनकी कल्पपर्यन्त की आयु है ऐसे भृगु आदि ज्ञानी ही विशेषरूप से भगवद्‌गुणों के स्मरण से अथवा समाधिरूप ज्ञान से उस महर्लोक मे आनन्दमग्न रहते हैं। यह जीव भी वहां जाकर ब्रह्मकल्प पर्यन्त वहां निवास करता है उसके बाद जब भगवान् का शयन होता है तब अनन्त भगवान् सङ्कर्षण के मुख को अग्नि से तीनों लोकों को अत्यन्त जलता हुआ देखकर भृगु आदि ऋषियों के साथ ही वह जीव महर्लोक से निकल जाता है। अथो पद का तात्पर्य यह है कि उसके इस तरह जाने में काल का बहुत ही व्यवधान हो जाता है। यहां अथो शब्द के अर्थ कथन से यहां वह जीव वायवीय शरीर का परित्याग कर देता है यह सूचित होता है। फिर वह जनलोक और तपोलोक में जाता है जहां सिद्धेश्वरों के स्थान हैं तदनन्तर पारमेष्ठ्य सत्यलोक है उस सत्यलोक में भी सिद्धेश्वरों के स्थान हैं।।२४।।२५।।२६।।

आभास—तत्र मुक्तिवत्सुखमाह—

आभासार्थ—उस सत्यलोक में उसे मुक्ति की तरह सुख प्राप्त होता है—

श्लोक—**न यत्र शोको न जरा न मृत्युर्नाऽऽधिर्न चोद्वेग ऋते कुतश्चित्।**
यच्चित्ततोऽदः कृपयाऽनिदंविदां दुरन्तदुःखप्रभवानुदर्शनात्॥ २७॥

श्लोकार्थ—उस ब्रह्मलोक में किसी अन्य की ओर से शोक, जरा (बुढापा) मृत्यु, मनश्चिन्ता, उद्वेग आदि कोई दुःख नहीं है। परन्तु संसार के दुःखों को न जानने वाले संसारी लोगों को अनन्तकाल तक दुःख भोगते हुए देखकर दया के कारण उनके चित्त में दुःख हुआ करता है॥ २७॥

सुबोधिनी—**न यत्रेति**। यत्र ब्रह्मलोके शोकः अज्ञानकार्यं नास्ति। न वा जरा देहधर्मः। न वा मृत्युः मृत्युग्रासः। नाऽऽधिः मनःपीडा अपि न। अन्तःकरणधर्माभावः। मृत्योः प्राणग्राहकत्वात्तधर्म इति केचित्। उद्वेगः बुद्धेः। असहिष्णुता वा। यद्यप्यसहिष्णुता उद्वेगश्च तत्राप्यस्ति, तथाप्यन्यतो न किन्तु स्वत एव। तदाह—**ऋते कुतश्चिदिति**। अन्यस्मादृते, किन्तु स्वत एव। स्वतस्त्वं विशदयति—**यच्चित्ततोऽद इति**। अदः प्रसिद्धं चित्ततः चित्ताद्धेतोः यत् तत्स्वानुभवगम्यमतो विशेषतो न वक्तुं शक्यमिति तथोक्तम्। तत्र विषयमाह— **अनिदंविदां दुरन्तदुःखप्रभवानुदर्शनादिति**। इदं स्थानमेतत्साधनं ज्ञानं मार्गप्रकारं वा न विदन्तीति तथा। दुरन्तं यद्दुःखं तस्य प्रभवो यत्र संसारे तस्य अनु पश्चाद्दर्शनम्। एकवारमुत्पन्ना अपि विवेकिनोऽपि पुनस्तत्रैव गच्छन्तीति तथा।२७।

व्याख्यार्थ—जिस ब्रह्मलोक में अज्ञान के कारण होने वाला शोक नहीं है। जरा (बुढापा) जो देह का धर्म है वह भी नहीं है। वहां किसी की मृत्यु नहीं होती। वहां अन्तःकरण के धर्म के अभाव से मन में पीड़ा नहीं होती। कुछ टीकाकारों का मत है कि प्राणग्राहक होने से अन्तःकरण का धर्म मृत्यु है। वहां बुद्धि का धर्म घबराहट भी नहीं है। अथवा उद्वेग का अर्थ असहिष्णुता

समझना । यद्यपि असहिष्णुता और उद्वेग वहां भी है परन्तु अन्य के द्वारा नहीं है किन्तु उनमें असहिष्णुता और उद्वेग स्वतः है । स्वतः क्यों है उसे स्पष्ट रूप से बताते हैं उनके अन्दर जो चित्त की विद्यमानता रहती है इस कारण से उनको जो दुःख होता है उस दुःख का अनुभव वे ही करते हैं वह दुःख कहने योग्य नहीं है 'अनिदंविदां दुरन्तदुःखप्रभवानुदर्शनात्' यह स्थान और यह साधन ज्ञान अथवा मार्ग के प्रकार इनको ये नहीं जानते अतः जिन दुःखों का कभी अन्त नहीं होता वैसे दुःखों को संसार में बाद में देखते हैं अर्थात् तात्पर्य यह है वे संसारी जीवों को देखते हैं कि वे एक बार उत्पन्न होकर समझदार होते हुए भी संसार के दुःखों को जानते हुए भी फिर उसी संसार में जाते हैं इसका दुःख उनके चित्त में होता है ।।२७।।

आभास—ततः स्वेच्छया ब्रह्माण्डभेदनमाह—

आभासार्थ—ब्रह्मलोक में पहुँचने के बाद वे मुक्त अपनी इच्छा से ब्रह्माण्ड का भेदन करते हैं—

श्लोक—**ततो विशेषं प्रतिपद्य निर्भयस्तेनाऽऽत्मनाऽपोऽनलमूर्त्तिरत्वरन् ।**
ज्योतिर्मयो वायुमुपेत्य काले वाय्वात्मना खं बृहदात्मलिङ्गम् ।।२८।।

श्लोकार्थ—इसके बाद पृथ्वी के आवरण को प्राप्त कर फिर जलावरण में जलरूप होता हुआ फिर अग्नि के आवरण में अग्निमय होता हुआ वायु के आवरण में वायुरूप होकर अक्षरब्रह्म के शरीर आकाशावरण में आकाशरूप होकर मिल जाता है ।। २८ ।।

सुबोधिनी—ततो विशेषमिति । अश्वमेधयाजिनोऽपि तत्र गच्छन्ति । तथा हिरण्यगर्भोपासकाः पूर्वोक्ताश्च । तत्र "**आ ब्रह्मभुवनाल्लोका**" इति वाक्यात्कर्मिणां पुनरावृत्तिः । हिरण्यगर्भोपासकानां ब्रह्मणा सह या ब्रह्मणो गतिः सा गतिः । पूर्वोक्तस्त्वण्डं भित्वा गच्छतीत्याह । ततः सत्यलोकाद्विशेषं पृथिव्यावरणरूपं प्रतिपद्य पृथिवीरूपो भूत्वा तत्र प्रविष्टः पृथिव्यावरणातिक्रमे आवरणरूपपृथिवासायुज्यं प्राप्य तामतिक्रम्य पुनर्जलरूपेण जलसायुज्यं प्राप्य तदतिक्रम्येत्येवमग्रेऽपि । आकाशातिक्रमपर्यन्तं गच्छति । सर्वत्र तेनाऽऽत्मनेति ज्ञातव्यम्। **अत्वरन्निति** तत्र तत्र गन्धादिभोगान्भुञ्जान एव विलम्ब्य । काले भोगेच्छावसाने उत्तरत्र गमनमिति सर्वत्र । खमाकाशम् । तत् बृहत् अनन्तमेव । शब्दब्रह्मरूपं वा । नादात्मकं वा । तस्य बृहत्त्वे हेतुः । आत्मनः भगवतो लिङ्गं शरीरम्। '**आकाशशरीरं ब्रह्म**" ति श्रुतेः । भगवतो व्यापकत्वं अन्तर्बहिर्व्यवहारहेतुत्वं परिच्छेदापरिच्छेदौ शब्दब्रह्माश्रयत्वमित्यादिधर्मबोधकम् ।। २८ ।।

व्याख्यार्थ—अश्वमेध यज्ञ करने वाले भी ब्रह्मलोक में जाते हैं । उसी तरह हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) की उपासना करने वाले एवं योगाभ्यासी भगवद्भक्त भी वहां (ब्रह्मलोक में) जाते हैं ।

उनमें कर्मठ लोगों की तो पुनरावृत्ति हो जाती है। ऐसा गीता में बताया है 'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन' जो हिरण्य गर्भ के उपासक हैं उनको तो ब्रह्मा के साथ ही ब्रह्मा की जो गति होती है वह गति ही उनकी होती है और पूर्वोक्त जीव तो ब्रह्माण्ड के सात आवरणों का भेदन करके चला जाता है उसकी गति को बताते हैं। वह सत्यलोक से विशेष जो पृथिवी का आवरण रूप है उसमें जाता है वहां वह पृथिवीरूप होकर प्रविष्ट हो जाता है जब पृथिवी के आवरण का अतिक्रमण करता है तब आवरणरूप पृथिवी का सायुज्य प्राप्त कर उस आवरण का अतिक्रमण करके जलरूप से जल का सायुज्य प्राप्त करता है। उस जलावरण का अतिक्रमण करने पर क्रमशः अग्नि वायु के आवरणों का अतिक्रमण करके आकाश के अतिक्रम पर्यन्त जाता है। सर्वत्र वह आवरणरूप बनकर ही जाता है। अत्वरन् का आशय यह है उन-उन आवरणों में गन्ध आदि भोगों का भोग करता हुआ ही नियत समय तक वहां रहता है। जब समय हो जाता है भोगेच्छा का अवसान हो जाता है तब वह आगे-आगे चलता रहता है। 'खं का अर्थ आकाश है वह तो बहुत बड़ा है और अनन्त है अथवा शब्दरूप है या नादात्मक है। आकाश के बड़े होने का कारण तो यह है कि वह भगवान् का लिङ्गशरीर है जैसा कि श्रुति से बताया है 'आकाशशरीरं ब्रह्म' यह आकाश ब्रह्म के व्यापकत्व, अन्तः और बहिर्व्यवहार हेतुत्व परिच्छेद और अपरिच्छेद, शब्दब्रह्माश्रयत्व आदि धर्मों का बोधन कराता है। अर्थात् आकाश के धर्म ब्रह्म के धर्मों के समान है ॥२८॥

आभास—एवमाकाशान्तपरित्यागे महाभूतांशाः परित्यक्ताः विषयातिक्रमे इन्द्रियातिक्रममाह—

आभासार्थ—इस तरह आकाशपर्यन्त महाभूतांशों का परित्याग हो जाता है तब विषयों (पंचमहाभूतों) के अतिक्रमण के अनन्तर इन्द्रियों का अतिक्रमण बताते हैं—

श्लोक—**घ्राणेन गन्धं रसनेन वै रसं रूपञ्च दृष्ट्या श्वसनं त्वचैव ।**
श्रोत्रेण चोपेत्य नभोगुणत्वं प्राणेन चाऽऽकूतिमुपैति योगी ॥२९॥

श्लोकार्थ—पञ्चमहाभूतों के परित्याग के अनन्तर वह योगी घ्राण के साथ ही गन्ध का, रसन इन्द्रिय के साथ ही रस का, दृष्टि के साथ ही रूप का, त्वचा के साथ ही श्वसन का, श्रोत्र के साथ ही शब्दगुणता को प्राप्त करके प्राण के द्वारा कर्मेन्द्रियों का भी परित्याग कर देता है ॥२८॥

सुबोधिनी—**घ्राणेनेति** । प्राणेनेति पाठेऽपि स एवाऽर्थः । सर्वत्र तत्तदुपेत्य तद्भोगानन्तरं तत्तदतिक्रम्येति ज्ञातव्यम् । नभोगुणत्वं शब्दत्वम् । प्राणेन कर्मेन्द्रियसहितेन । तद्रूपेण वा । आकूतिं क्रियापञ्चकमपि । उपैति त्यजतीति पूर्ववत् । योगीति योगसामर्थ्यविस्मरणम् ॥२९॥

व्याख्यार्थ—घ्राणेन की जगह कहीं प्राणेन ऐसा भी पाठ है परन्तु अर्थ दोनों का एक ही है। सब जगह पहले उस-उस रूप को प्राप्त करके उन-उन भोगों के अनन्तर उनका अतिक्रम करके जानना चाहिये। नभोगुणत्व का अर्थ है शब्दत्व। कर्मेन्द्रियों के साथ प्राण से। अथवा कर्मेन्द्रियरूप प्राण से। आकूति से आदान, गति, विसर्ग, वाक् और निवृत्ति इन पांच क्रियाओं का ग्रहण करना। उपैति का अर्थ छोड़ना है। योगी शब्द इसलिए कहा है कि योग सामर्थ्य को भूलना नहीं चाहिये ॥ २९ ॥

आभास—अहङ्काराद्यतिक्रममाह—

आभासार्थ—अहङ्कार आदि के अतिक्रम को कहते हैं—

श्लोक—**स भूतसूक्ष्मेन्द्रियसन्निकर्षं मनोमयं देवमयं विकार्यम् ।**
सम्प्राप्य गत्या सह तेन याति विज्ञानतत्त्वं गुणसन्निरोधम् ॥ ३० ॥

तेनाऽऽत्मनाऽऽत्मानमुपैति शान्तमानन्दमानन्दमयोऽवसाने ।
एतां गतिं भागवतीं गतो यः स वै पुनर्नेह विषज्जतेऽङ्ग ॥ ३१ ॥

श्लोकार्थ—वह योगी तामस, राजस और देवमय अहङ्कार को तद्रूप होकर परित्याग करता है और फिर उसी के साथ-साथ शुद्ध तत्त्व तथा सत्त्वादि गुणों की समान अवस्था गुण प्रकृति में तद्रूप होकर उसका भोग करने के अनन्तर उसका भी परित्याग कर देता है। फिर अपनी आत्मा से आत्मा (अक्षरब्रह्म) को प्राप्त कर फिर आनन्दमय होकर आनन्दमय पुरुषोत्तम को प्राप्त करता है। जो योगी इस भागवती गति को प्राप्त कर लेता है वह फिर इस संसार में नहीं आता है और न इस संसार में फंसता है ॥ ३० ॥ ३१ ॥

सुबोधिनी—स एव योगी । भूतानां सूक्ष्माणामिन्द्रियाणां च सन्निकर्षमुत्पत्तिस्थानं तामसं राजसं चाऽहङ्कारं मनोमयं देवमयमिति सात्त्विकं विकार्यं मूलाहङ्कारम् । तेन रूपेण गत्या सह याति । क्रियामहङ्कारं च त्यजतीत्यर्थः । विज्ञानतत्त्वं महत्तत्त्वम् । गुणसन्निरोधं प्रकृतिम् । सर्वत्र तेनाऽऽत्मनेति । अग्रे पुरुषावरणम् । तत्रापि तेनाऽऽत्मना आत्मानमुपैति । ततः शान्तं अक्षरम् । तत आनन्दं पुरुषोत्तमम् । स्वयमप्यानन्दमयो भूत्वोपैति । **अवसाने** । अतः परं गमनं नास्ति । "**मामुपेत्य तु कौन्तेये**" ति वाक्यमेतादृशपरमित्याह— **एतां गतिमिति** । ब्रह्माण्डमध्ये हृदयमध्ये ब्रह्माण्डात्परतो वा यत्रैवाऽऽनन्दमयो भूत्वा आनन्दरूपं भगवन्तं प्रविशति स नैवेह पुनः संसारं प्रविशति ॥३०॥३१॥

व्याख्यार्थ—वही योगी महाभूतों और पञ्चतन्मात्राओं के उत्पत्तिस्थान तामस और राजस अहङ्कार को तथा मनोमय देवमय सात्त्विक विकार्य मूलाहङ्कार को उस-उस रूप को प्राप्त होकर

उसका परित्याग करता है । अर्थात् क्रिया और अहङ्कार का परित्याग कर देता है । विज्ञानतत्व का अर्थ है महत्तत्त्व और गुणसन्निरोध का अर्थ प्रकृति है । सब जगह वह उसी आत्मा से गति करता है । आगे पुरुषावरण है । उसमें भी उसी आत्मा से आत्मा को प्राप्त करता है । तदनन्तर शान्त अक्षरब्रह्म को प्राप्त करता है । उसके बाद स्वयं आनन्दमय होकर आनन्दस्वरूप पुरुषोत्तम को प्राप्त करता है । बस इसके आगे कोई गति नहीं है । भगवान् ने गीता में कहा है कि "हे अर्जुन ! मुझे (पुरुषोत्तम को) प्राप्त करके फिर वह जन्म नहीं लेता" 'मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते' ब्रह्माण्ड के मध्य में ही हृदय के मध्य में अथवा ब्रह्माण्ड से परे जहां भी आनन्दमय होकर आनन्द रूप भगबान् में प्रवेश करता है वह फिर कदापि इस संसार में प्रवेश नहीं करता ।। ३० ।। ३१ ।।

आभास—एवमपुनरावृत्तिमार्गद्वयमुक्त्वा सद्योमुक्तिक्रममुक्तिरूपमुपसंहरति—

आभासार्थ—इस तरह सद्योमुक्ति और क्रममुक्ति दो मार्ग कहे गये जिनसे पुनः इस संसार में नहीं आना पड़ता अब इसका उपसंहार करते है—

श्लोक—**एते सृती ते नृपदेव गीते त्वयाऽभिपृष्टे च सनातने च ।**
ये वै पुरा ब्रह्मण आह पृष्ट आराधितो भगवान् वासुदेवः ।। ३२ ।।

श्लोकार्थ—हे नृपदेव ! जिन दो मार्गों के विषय में तुमने प्रश्न किया था और जो मार्ग सनातन हैं उन दोनों मार्गों का वर्णन मैंने कर दिया । पहले ब्रह्माजी ने भी भगवान् वासुदेव की आराधना करके यही प्रश्न पूछा था तब भगवान् वासुदेव ने इन्हीं मार्गों का उपदेश ब्रह्माजी को दिया था ।। ३२ ।।

सुबोधिनी एते सृती इति । एतेषां सर्वेषां पदार्थानामध्यायद्वयोक्तानां भगवत्स्वरूपत्वेनैव ज्ञानार्थमुक्तानां यथानिवेशं यथोपयोगं युक्तिभिर्विमर्शे स्वरूपं स्पष्टं भविष्यति । अत्र तूद्देशमात्रं कृतम् । तत्र स्पष्टमेव विवरिष्यामः । ते तुभ्यम् । हे नृपदेव । गीते राजत्वात्त्वत्सुखार्थं स्वरूपेण कीर्त्तिते । तत्रापि त्वया अभिपृष्टे । साधनस्य फलपर्यवसानात्साधनप्रश्नेनैव तत्प्रश्न उक्तो भवति । **सनातने च** । न ह्रीदम्प्रथमतया कश्चिदस्मिन्मार्गे गच्छति किन्त्वनादिसिद्धे । अत्र गन्ता अग्रे स्पष्टो भविष्यति । अनादित्वे प्रमाणमाह—**ये वै पुरेति** । ब्रह्मणैवं पृष्टे ब्रह्मणे आह भगवानपि पृष्टः सन् । कथने हेतुः—**आराधित इति** । एवं कथने हेतुमाह—**वासुदेव इति** । मोक्षदातृत्वेनैवमुक्तवानित्यर्थः ।।३२।।

व्याख्यार्थ—इन दो अध्यायों में जितने भी पदार्थ कहे हैं उन सब को भगवत्स्वरूप से ही जानना चाहिये इसलिए उन सब पदार्थों का सन्निवेश उपयोग के अनुसार कर लेना चाहिये । युक्तियों से विचार करने पर स्वरूप स्पष्ट हो जायगा । यहां तो केवल उनका नाममात्र कर दिया है । उनका स्पष्ट विवेचन तो आगे विमर्शाध्याय में करेंगे । वह विवेचन तुम्हारे ही लिए होगा । हे नृपदेव ! यह सम्बोधन इस बात का द्योतक है कि तुम राजा हो अतः तुम्हारे सुख के लिए इनका स्वरूप कह दिया है । वह भी तुमने पूछा था इसलिए कहा । तुमने यद्यपि साधन का प्रश्न किया

था परन्तु साधन तो फल प्राप्ति के लिए ही किया जाता है अतः साधन के साथ फल का प्रश्न भी आ जाता है। ये सद्योमुक्ति और क्रममुक्ति मार्ग सनातन है। यह नहीं है कि इन मार्गों से प्रथम ही प्रथम कोई जाता है किन्तु ये मार्ग तो अनादि सिद्ध हैं। इनमें जाने वाला कौन है यह आगे स्पष्ट हो जायगा। ये वै पुरा से इनको अनादिता में प्रमाण कहा है। ब्रह्माजी के पूछने पर भगवान् ने ब्रह्माजी को कहा बिना पूछे भगवान् ने भी नहीं कहा। ब्रह्माजी ने जब भगवान् की आराधना की तब ये मार्ग भगवान् ने कहे। कहना आवश्यक इसलिए था कि भगवान् वासुदेव हैं मोक्षदाता हैं ।। ३२ ।।

आभास—एवं फलं निरूप्योपसंहृत्यैतन्मार्गप्रवेशे कियन्त उपायाः सन्तीत्याकांक्षायामाह—

आभासार्थ—इस तरह फल का निरूपण करके इसका उपसंहार करते हैं। इस मार्ग के प्रवेश में कितने उपाय हैं इस जिज्ञासा पर कहते हैं—

श्लोक—**न ह्यतोऽन्यः शिवः पन्था विशतां संसृताविह।**
वासुदेवे भगवति भक्तियोगो यतो भवेत् ।। ३३ ।।

श्लोकार्थ—जो लोग इस संसार में प्रवेश करते हैं उनके कल्याण का इसके अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है। क्योंकि इस मार्ग में वासुदेव भगवान् में भक्ति-योग हो जाता है ।। ३३ ।।

सुबोधिनी—न ह्यतोऽन्य इति। अस्मात्पूर्वोक्तादन्यः शिवः कल्याणरूपः साधनदशायामपि सुखकरः पन्था आदौ तत्र निविष्टस्य पुनर्भ्रमाभावार्थं मार्गरूपः कोऽपि नास्ति। बहूनां च गतियोग्यः। एतदज्ञानेन इह संसारे विशतां, न तु निविष्टानां संसार्येकस्वभावानाम्। तं मार्गं पुनः स्मारयति—**वासुदेवे भगवति भक्तियोगो यतो भवेदिति।** मोक्षदानार्थमागते भगवति साक्षात्परब्रह्मरूपे सत्त्वाकारेण परिणतान्तःकरणे सत्त्वासने षड्गुणैश्वर्यरूपेणाऽऽविर्भूते येनैवोपायेन परमा प्रीतिर्भवति स एवोपाय इत्यर्थः। श्रवणादिभिः स्नेहः। ततो मनननिदिध्यासनरूपेण ध्यानेन सर्वभावस्नेहो द्वितीयः। ततोऽपि सूक्ष्मध्यानेन हृदि भगवति समागते तत्र यः परमस्नेहः साक्षाद्भगवत्प्रवेशहेतुः स फलरूपोऽपि साधनरूपोऽपि अवान्तरव्यापाररूपोऽपीति तद्धेतुर्मार्गः गृहान्निर्गतस्येष्टदेशप्रवेशपर्यन्तं विततः। तत्र पूर्वभागः साधनरूपो मध्यभागोऽवान्तरव्यापाररूपोऽग्रिमो भगवत्सम्बद्धफलरूपः। तत्र श्रवणादि ध्यानद्वयं च क्रमाद्वितता भूमिः। प्रीतिः पादौ। सा चेत्प्रीतिस्तन्मार्गेण तावत्पर्यन्तं गच्छति तदा भगवन्तं प्रापयति नाऽन्यथेति ।।३३।

व्याख्यार्थ—इस पूर्वोक्त मार्ग से अन्य कोई कल्याणकारी मार्ग नहीं है। साधनदशा में भी जो सुखकर हो। जो इस मार्ग में प्रथम ही प्रविष्ट होता है उसे भी किसी प्रकार का भ्रम नहीं हो सकता ऐसा सन्मार्ग कोई नहीं है। यह मार्ग बहुत लोगों को गति देने में योग्य है। यह मार्ग तो

बेसमझो से जो इस संसार में प्रवेश कर रहे हैं उनके लिए है। जो संसार्येक स्वभाव वाले एवं जो संसार में प्रविष्ट हो गये हैं उनके लिए नहीं है। वासुदेवे भगवति भक्तियोगो यतो भवेत् इससे उस मार्ग का पुन: स्मरण दिलाते हैं। मोक्ष देने के लिए आये हुए साक्षात्परब्रह्मरूप भगवान् में सत्त्वाकार से परिणत अन्त:करण में षड्गुणैश्वर्यरूप से सत्त्वासन में आविर्भूत भगवान् में जिस किसी उपाय से परम प्रीति हो वह उपाय करना चाहिये। भगवल्लीलाओं के सुनने से भगवान् में स्नेह होता है और सुनी हुई भगवल्लीलाओं का मनन एवं निदिध्यासन रूप से जब ध्यान किया जाता है तब सर्वभावस्नेह होता है यह स्नेह की द्वितीय कोटि है। इसके बाद सूक्ष्म ध्यान से हृदय में भगवान् के आ जाने पर उनमें जो परम स्नेह है वह ही साक्षात् भगवत्प्रवेश का कारण है वह परम स्नेह फलरूप भी है, साधनरूप भी है और अवान्तर व्यापार रूप भी है इन सबका कारणभूत यह मार्ग घर से निकले हुए के लिए अपने इष्टदेश में प्रवेशपर्यन्त विस्तृत है। उसमें इसका प्रथम भाग साधनरूप है मध्यभाग अवान्तर व्यापाररूप है और अग्रिम भाग भगवान् से सम्बन्ध रखने वाला होने से फलरूप है। उसमें श्रवणादि और मनन निदिध्यासनरूप दोनों ध्यान क्रमश: फैली हुई भूमि के समान हैं और प्रेम दोनों चरण हैं यदि वह प्रीति उस मार्ग से तब तक गति करे तो वह प्रीति भगवान् को प्राप्त करा सकती है अन्यथा नहीं ॥ ३३ ॥

आभास— फलसाधननिर्धार: पूर्वमेव जात इत्याह—

आभासार्थ—फल और साधन का निर्धार तो पहले ही हो चुका है—

श्लोक—**भगवान् ब्रह्म कात्स्न्र्येन त्रिरन्वीक्ष्य मनीषया।**
तदध्यवस्यत्कूटस्थो रतिरात्मन्यतो भवेत् ॥ ३४ ॥

श्लोकार्थ—भगवान् ब्रह्मा ने वेद को अपनी बुद्धि से पूरी तरह तीन बार विचारा और तब यह निश्चय किया कि जिस उपाय से परब्रह्म में अपना अनुराग हो वह उपाय ही श्रेष्ठ है ॥ ३४ ॥

सुबोधिनी—भगवानिति। प्रमेयबलेन स्वयमुक्त्वाऽपि प्रमाणबलेनाऽपि तद्वक्तव्यमिति पूर्वोक्तमनादिसिद्धं राशीभूतवेदं मनीषया विचारकबुद्ध्या आलोड्य फलत्वेनाऽऽत्मानं विनिश्चित्य साधनविचारे क्रियमाणे **"यमेवैष वृणुते"** इत्यादिवाक्यै: प्रीतिमेवाऽवान्तरव्यापारं ज्ञात्वा **"भक्त्यैव तुष्टिमभ्येती"** ति विचार्य मुख्यं साधनं भक्तिं ज्ञात्वा तत्साधकत्वेनाऽन्यदित्यध्यवस्यत्। तत्रापि कूटस्थो निश्चल:॥३४॥

व्याख्यार्थ—श्री शुकदेवजी ने प्रमेय बल से यद्यपि राजा को कह दिया परन्तु प्रमाण बल से भी उसे कहना चाहिये इसलिए पूर्वोक्त अनादिसिद्ध राशिभूत वेद को ब्रह्माजी ने अपनी विचारक बुद्धि से आलोडन करके फलरूप से आत्मा का निश्चय करके फिर साधन का विचार करने लगे तो "यमेवैष वृणुते तेन लभ्य:' भगवान् जिसे स्वीकार करे वह ही भगवान् को प्राप्त करता है। इत्यादि वाक्यों से भगवान् का स्वीकार करना ही साधन है और प्रेम ही अवान्तर व्यापार है ऐसा जानकर

और "भवत्यैव तुष्टिमभ्येति" इसका विचार कर मुख्य साधन भक्ति है यह जानकर और भक्ति का साधक यज्ञ आदि है ऐसा निश्चय किया। उसमें भी कूटस्थ निश्चल है ।। ३४ ।।

आभास—एवं प्रमाणेन युक्त्या च भक्तिमार्गं स्थिरीकृत्य अन्येषां मार्गाणां परम्परोपयोगं वक्तुमाह—

आभासार्थ—इस तरह प्रमाण और युक्ति से भक्तिमार्ग को स्थिर करके अन्य मार्गों का भक्तिमार्ग में परम्परा से उपयोग है इसको कहने के लिए कहते हैं—

श्लोक—**भगवान् सर्वभूतेषु लक्षितः स्वात्मना हरिः ।**
दृश्यैर्बुद्ध्यादिभिर्द्रष्टा लक्षणैरनुमापकैः ।। ३५ ।।

श्लोकार्थ—सब का द्रष्टा हरि भगवान् सब प्राणियों में अपनी आत्मा (अंश) रूप से जाना जा सकता है। उसका अनुमान दृश्य बुद्धि आदि लक्षणों से हो सकता है ।। ३५ ।।

सुबोधिनी—भगवानिति । प्रतिपुरुषं प्रतिविषयं शास्त्राणि प्रसृतानि । तानि न सर्वथा बाधितविषयाणि । परम्परोपयोगात् । भगवांस्तैः सर्वैरेव सर्वभूतेषु लक्षितः लक्षणया ज्ञापितः । नैयायिकैः कर्तृत्वेन, मीमांसकैः क्रियात्वेन, वेदान्तैरात्मत्वेन, साङ्ख्यादिभिः करणत्वेन । अन्यैश्च तद्भेदैर्ज्ञानत्वेन ज्ञातृत्वेन चाऽन्यैः । ज्ञानाधिष्ठातृत्वेन च । सर्वैरेव भगवानेकदेशे लक्षितः । अन्धहस्तिवत् । अनुभवेन युक्त्या च । स्वात्मना अनुभवेन । दृश्यैः । द्रष्टा । बुद्ध्यादिभिश्च लक्षणैरसाधारणचिन्हैः जीवेषु प्रवेशमलभमानैः क्रियादिभिः । अत एवाऽनुमापकैः तर्कसहकृतैः परोक्षज्ञानजनकैर्लक्षित इति सम्बन्धः । लक्षणया ज्ञापित इत्यर्थः ।। ३५ ।।

व्याख्यार्थ—प्रत्येक पुरुष और प्रत्येक के विषय में शास्त्र का विस्तार है। वे शास्त्र किसी भी तरह से बाधित नहीं हो सकते। परम्परा से उनका उपयोग होता आया है। भगवान् उन्हीं सब शास्त्रों से सब प्राणियों में लक्षणा से लक्षित हैं। उसको नैयायिक कर्त्तारूप से जानते हैं। मीमांसक क्रियारूप से। वेदान्त आत्मरूप से और सांख्य आदि करणरूप से जानते हैं। अन्य लोग उन भेदों से ज्ञानत्व से और कोई ज्ञातृत्व से उसे जानते हैं कोई उन भगवान् को ज्ञान के अधिष्ठाता मानते हैं। इस तरह सबने भगवान् के एक देश को ही लक्षित किया है। एक अन्धहस्ति न्याय है। अनेक अन्धों को इकट्ठा करके हाथी दिखाया जाय तो उनके आंखें तो होती नहीं है केवल स्पर्श से ही अनुभव और युक्ति के द्वारा उसका वर्णन करते हैं। जिसने हाथी के पैर को पकड़ा वह हाथी खम्भे जैसा है। जिसने पीठ का स्पर्श किया वह चबूतरे जैसा है। जिसने पूंछ पकड़ी वह रस्से जैसा है। ऐसा अनुमान करते हैं परन्तु इन अन्धों के कहे हुए आकार वाला हाथी नहीं है। हां हाथी का एक-एक हिस्सा उनके कथनानुसार है। इसी तरह भगवान् केवल कर्त्ता या केवल क्रिया या करण आदि

नहीं है किन्तु वह कर्त्ता, क्रिया, आत्मा, करण, ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञानाधिष्ठान आदि सब कुछ है । द्रष्टा वह भगवान् दृश्यों से बुद्धि आदि लक्षणों से असाधारण चिन्हों से जो जीव में नहीं हो सकते उनसे तथा क्रिया आदि से उनका अनुमान कर सकते हैं । अर्थात् परोक्षज्ञान को उत्पन्न करने वाले तर्क सहकृत अनुमापकों से ही लक्षित होता है, लक्षणा से जनाया जाता है ।। ३५ ।।

आभास—तस्मात्सर्वेषामेव दर्शनानामप्रयोजकत्वात्पूर्वोक्तप्रकारेणैव कर्त्तव्यमित्युपसंहरति—

आभासार्थ—अतः न्याय आदि सभी दर्शन ब्रह्म का ज्ञान कराने में अनुपयुक्त है । इसलिए पूर्वोक्त प्रकार से ही उस भगवान् का श्रवण, स्मरण और कीर्त्तन करना चाहिये—

श्लोक—**तस्मात्सर्वात्मना राजन् हरिः सर्वत्र सर्वदा ।**
श्रोतव्यः कीर्त्तितव्यश्च स्मर्त्तव्यो भगवान्नृणाम् ।।३६।।

श्लोकार्थ—इसलिए हे राजन् ! सब जगह, हर समय भगवान् का श्रवण, कीर्त्तन और स्मरण करना चाहिये ।। ३६ ।।

सुबोधिनी—**तस्मादिति** । **सर्वात्मनेति** उत्तराङ्गसाहित्येन । **राजन्नित्यवधारणसामर्थ्यमुक्तम्** । **हरिरिति** साधनदशायां जातदुःखदूरीकरणार्थम् । **सर्वत्र सर्वदेति** । देशकालविचारो न कर्त्तव्यः । पूर्ववच्छ्रोतव्यादिफलार्थम्—**भगवानिति** । **नृणामिति** । मनुष्यमात्राधिकारित्वम् ।।३६।।

व्याख्यार्थ—सर्वात्मना का अर्थ है स्थिरचित्त के साथ, राजन् यह सम्बोधन राजा को विचार करने के लिए दिया है । हरि का अर्थ है भगवान् साधनदशा में भी दुःख को दूर करने वाले हैं । सर्वत्र सर्वदा ये दो पद इस बात को सूचित करते हैं कि श्रवणादि में देश काल का विचार नहीं करना चाहिये । भगवान् होने से पूर्ववत् श्रोतव्य आदि का फल देने में समर्थ हैं । श्रवणादि में मनुष्य मात्र का अधिकार है इसके लिए नृणाम् पद दिया है ।।३६ ।।

आभास—एवं मार्गं वस्तुतत्त्वं चोक्त्वा प्रकरणस्य समाप्तत्वात्साधारणश्रवणस्याऽपि शुद्धिद्वारा भगवत्प्रापकत्वमाह—

आभासार्थ—इस तरह मार्ग को और वस्तुतत्त्व को कहकर अब प्रकरण समाप्त हो रहा है इसलिए साधारण श्रवण भी चित्त आदि की शुद्धि के द्वारा भगवान् को प्राप्त कराता है—

श्लोक—**पिबन्ति ये भगवत आत्मनः सतां कथामृतं श्रवणपुटेषु सम्भृतम् ।**
पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं व्रजन्ति तच्चरणसरोरुहान्तिकम् ।।३७।।

श्लोकार्थ—जो सन्तों आत्मा भगवान् श्रीकृष्ण के चरितरूप अमृत को कानों में भरकर पीते हैं व विषयों से दूषित अपने अन्तःकरण को पवित्र करते हैं और अन्त में भगवान् के चरणारविन्द को प्राप्त करते हैं ।। ३७ ।।

सुबोधिनी—पिबन्ति ये भगवत इति । बहिः स्थितस्याऽन्तः प्रवेशनं पानम् । **भगवत आत्मनः सतामिति** । सर्वेषामेव भगवत्त्वेन भगवान् स्फुरति । सतां त्वात्मत्वेनाऽपि । सर्वे सकामाः सन्तः प्रेमला इति विभागः । कथैवाऽमृतम् । श्रवणपुटेषु उत्तम्भितकर्णपुटेषु पूर्णम् । विषयैर्विदूषितमाशयं पुनन्ति । यथाऽन्तरसाध्यरोगव्याप्तो वैद्यैरमृतरसेन सिद्धः क्रियते, तथाऽन्तःकरणमपि विषयसहितैर्विशेषेण दूषितं सर्वथा सन्मार्गानर्हं तादृशमपि पुनन्ति । क्रमात्तच्चरणसरोरुहान्तिकं वैकुण्ठं भक्तं वा प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ।। ३७ ।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां द्वितीयस्कन्धे द्वितीयोऽध्यायः ।। २ ।।

व्याख्यार्थ—बाहर की स्थित वस्तु को अन्दर प्रविष्ट करना पीना कहलाता है । सभी में भगवान् भगवत्स्वरूप से स्फुरित होते हैं । सज्जनों के लिए तो भगवान् आत्मत्व रूप से भी स्फुरित होते हैं । यद्यपि सभी लोग सकाम होते हैं किन्तु सज्जन लोग तो प्रेमला होते हैं, प्रेम को ग्रहण करने वाले होते हैं । भगवान् की कथा ही अमृत है इस अमृत को कानों में भर लिया जाता है तो यह अमृत विषयों से विशेषरूप से दूषित अन्तःकरण वालों को पवित्र कर देता है । जैसे रोगी अन्दर के असाध्य रोगों से व्याप्त हो तो उसे वैद्य अमृत रस से ठीक करते हैं उसी तरह जब अन्तःकरण भी विषय सहित विशेष से दूषित हो जाता है और किसी भी तरह सन्मार्ग के योग्य नहीं रहता उसे भी यह कथामृत पवित्र करता है । क्रमशः वह कथामृत चरण कमल के निकट वैकुण्ठ को अथवा भक्त को प्राप्त करा देती है ।।३७।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण द्वितीय स्कन्ध की अखण्ड भूमण्डलाचार्य श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) के सूक्ष्म तत्व विचार का द्वितीय अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद् भागवत महापुराण ●

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

द्वितीय स्कन्ध

(श्रवणाङ्ग स्कन्ध-ज्ञान लीला)

द्वितीय साधन-हृत्प्रसाद-(श्रद्धा)-चित्तशुद्धि प्रकरण-२

(श्रोता का हृत्प्रसाद)

अध्याय—३

कामनाओं के अनुसार विभिन्न देवताओं की उपासना तथा भगवद्भक्ति के प्राधान्य का निरूपण

कारिका—श्रोतव्यविषयत्वेन तत्त्वमेवं निरूपितम् ।
उद्देशेनाऽस्य निपुणं साधनं विनिरूप्यते ॥ १ ॥

अदृष्टं साधनं वाच्यं दृष्टं चाऽप्यत्र सम्मतम् ।
अन्यथा क्रियमाणस्तु विमर्शो व्यर्थतां व्रजेत् ॥ २ ॥

इन्द्रियाणामदुष्टत्वे ह्यनुकूले तथेश्वरे ।
साध्यं सम्पद्यते पूर्णमतोऽत्र द्वयमीर्यते ॥ ३ ॥

श्रद्धाऽपि तदभिप्रायाच्छ्रोतुर्वक्तुश्च गम्यते ।
तस्मात्साधनसंयुक्तः शृणुयान्नेतरो वृथा ॥ ४ ॥

कारिकार्थ—पूर्व के अध्यायों में उद्देशरूप से श्रोतव्य विषयत्व से इस तरह वस्तु तत्त्व का निरूपण कर दिया अब इसके फलोपकारी साधन का निरूपण किया जाता है। यहां अदृष्ट और दृष्ट साधन दोनों ही कहने चाहिये अन्यथा किया जाने वाला विमर्श व्यर्थ हो जायगा। जब इन्द्रियां निर्दोष हों और ईश्वर अनुकूल हो तब श्रवण कीर्त्तनरूप साध्य पूर्ण होता है। अतः यहां पर अदृष्ट और दृष्ट साधन दोनों ही कहे जाते हैं। इसी अभिप्राय का अनुसन्धान करके श्रोता तथा वक्ता की श्रद्धा भी होनी चाहिये यह भी जाना जाता है। इसलिए जो साधन से संयुक्त है वह ही इसका श्रवण करे साधन रहित का श्रवण वृथा है ।। १—४ ।।

आभास—एवमध्यायद्वयेन श्रवणं सविषयं निरूप्य, महाफले श्रवणे सर्वेषामप्रवृत्तिं दृष्ट्वा, किञ्चिदस्ति निमित्तं यतः सर्वे न प्रवर्त्तन्त इत्याकांक्षायां विषयस्य निर्दुष्टत्वात्करणदोषो वा तदधिष्ठातृदोषो वा भवेदित्याशङ्क्य, तयोरप्यधिष्ठातुर्बलिष्ठत्वात्तत्प्रतिबन्धादेव श्रवणादिष्वप्रवृत्तिरिति विनिश्चित्य, देवताना भजने तत्प्रतिबन्धो गमिष्यतीति पूर्वं देवतान्तरभजनं साधनीयं तत इन्द्रियाणां च शोधनमित्याशङ्क्य, देवतान्तरभजने पुनर्बहिर्मुखत्वात्तेषां नियतफलजनकत्वाच्च प्रतिबन्धाभावार्थं क्रियमाणे भजने दोषान्तरमापद्येतेति तेषां फलानां नियतत्वं प्रतिपादयितुं प्रथमं पूर्वेण संश्लेषं निवारयितुं पूर्वोक्तमुपसंहरति—

आभासार्थ—इस तरह दो अध्यायों से सविषय श्रवण का निरूपण करके, महाफल वाले श्रवण में सभी की प्रवृत्ति नहीं देखकर विचारा कि इसमें कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिये जिससे सब लोग इसमें प्रवृत्त नहीं होते हैं ऐसी आशंका करके विषय (भगवल्लीला) तो इसमें निदुष्ट है अतः या तो करण (इन्द्रियों) का दोष हो या इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवताओं का दोष हो ऐसी आशंका करके विचारा कि इन दोनों में भी अधिष्ठाता ही बलवान् हैं अतः वे ही इसमें रुकावट डालने वाले हैं इसीलिए श्रवणादि में प्रवृत्ति नहीं हो रही है ऐसा निश्चय करके इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवताओं का भजन करना चाहिये जिससे श्रवणादि में आने वाला प्रतिबन्ध मिट जायगा अतः पहले तो अन्य देवताओं का भजन करना चाहिये और उसके अनन्तर इन्द्रियों का शोधन करना चाहिये ऐसी आशंका करके उसका उत्तर देते हैं यदि अन्य देवताओं का भजन किया जायगा तो फिर बहिर्मुखता आ जायगी और वे देवता तो नियत फल ही दे सकेंगे इसलिए प्रतिबन्धक के मिटाने के लिए किया गया भजन दोषान्तर रूप बन जायगा। अतः उन फलों की नियतता का प्रतिपादन करने के लिए पहले पूर्व के तत्त्व विचार के साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं है इसको बताने के लिए पूर्व प्रसंग का यहां उपसंहार कर देते हैं—

श्रीशुक उवाच—श्लोक—**एवमेतन्निगदितं पृष्टवान् यद्भवान्मम ।**
नृणां यन्म्रियमाणानां मनुष्येषु मनीषिणाम् ।।१।।

श्लोकार्थ—हे राजन् ! तुमने जो मरने वाले मनुष्यों के लिए और समझदारों के कर्त्तव्य के लिए प्रश्न किये थे उनका उत्तर मैंने दे दिया ।।१।।

सुबोधिनी—एवमेतदिति । मम मां प्रति । नृणां मध्ये ये म्रियमाणास्तेषामप्युक्तं मनुष्याणामपि मध्ये ये मनीषिणस्तेषामप्यर्थे श्रवणादिकमुक्तमित्यर्थः ।। १ ।।

व्याख्यार्थ—तुमने जो मुझसे पूछा था । मनुष्यों में जो मरने वाले हैं उनके लिए तथा मनुष्यों में जो समझदार हैं उन दोनों ही के लिए श्रवणादिक तुम्हें कह दिये ।। १ ।।

श्लोक—**ब्रह्मवर्चसकामस्तु यजेत ब्रह्मणस्पतिम् ।**
इन्द्रमिन्द्रियकामस्तु प्रजाकामः प्रजापतीन् ।।२।।

देवीं मायां तु श्रीकामस्तेजस्कामो विभावसुम् ।
वसुकामो वसून्रुद्रान् वीर्यकामोऽथ वीर्यवान् ।।३।।

अन्नाद्यकामस्त्वदितिं स्वर्गकामोऽदितेः सुतान् ।
विश्वान्देवान् राज्यकामः साध्यान् संसाधको विशाम् ।।४।।

आयुःकामोऽश्विनौ देवौ पुष्टिकाम इलां यजेत् ।
प्रतिष्ठाकामः पुरुषो रोदसी लोकमातरौ ।।५।।

रूपाभिकामो गन्धर्वान् स्त्रीकामोऽप्सरउर्वशीम् ।
आधिपत्यकामः सर्वेषां यजेत परमेष्ठिनम् ।।६।।

यज्ञं यजेद्यशस्कामः कोशकामः प्रचेतसम् ।
विद्याकामस्तु गिरिशं दाम्पत्यार्थमुमां सतीम् ।।७।।

धर्मार्थमुत्तमश्लोकं तन्तुं तन्वन्पितॄन्यजेत् ।
रक्षाकामः पुण्यजनानोजस्कामो मरुद्गणान् ।।८।।

राज्यकामो मनून् देवान्निर्ऋतिं त्वभिचरन् यजेत् ।
कामकामो यजेत्सोममकामः पुरुषं परम् ।।९।।

श्लोकार्थ—ब्रह्मतेज की इच्छा वाला ब्रह्मणस्पति को उपासना करे । इन्द्रियों की कामना वाला इन्द्र की उपासना करे । सन्तान की कामना वाला प्रजापति की उपासना करे। सम्पत्तिरूप धन की कामना वाला तमोधिष्ठात्री देवी माया की उपासना करे। तेज की इच्छा वाला अग्नि की उपासना करे । केवल धन मात्र की इच्छा वाला द्रोण आदि आठ वसुओं की उपासना करे। पराक्रम को कामना वाला वाम आदि ग्यारह रुद्रों की उपासना करे तो वह वीर्यवान् हो जाता है । अन्न आदि की कामना वाला अदिति की आराधना करे। स्वर्ग की कामना वाला द्वादश आदित्यों की उपासना करे । राज्य की इच्छा वाला विश्वदेवों की, प्रजाओं को अपने अधीन करने की इच्छा वाला साध्यों की, आयु की कामना वाला अश्विनीकुमारों की, पुष्टि की इच्छा वाला पृथिवी की, प्रतिष्ठा की इच्छा रखने वाला लोक के माता-पिता रूप आकाश और पृथिवी दोनों की उपासना करे। रूप की कामना वाला गन्धर्वों की, स्त्री की कामना वाला उर्वशी अप्सरा की, सबके ऊपर आधिपत्य चाहने वाला परमेष्ठी की, यश की कामना वाला यज्ञ को, कोषकी कामना वाला वरुण की, विद्या की कामना वाला महादेव की, दाम्पत्य सुख की चाह वाला सती पार्वती की, धर्म की इच्छा रखने वाला भगवान् की, सन्तति के विस्तार की इच्छा रखने वाला पितरों की, राज्य की कामना वाला देव मनुओं की, अभिचारिक क्रिया (किसी को मारने) की इच्छा हो तो मृत्यु की आराधना करे । काम की कामना वाला चन्द्रमा की और निष्काम (कामना रहित) हो तो पर पुरुष पुरुषोत्तम की आराधना करे।। २—६ ।।

सुबोधिनी—पूर्वोक्तमुपसंहृत्य देवतान्तरभजननिराकरणार्थं स्वमते अष्टाविंशतिदेवास्तत्त्वरूपाः, वेदे च ये त्रयस्त्रिंशद्देवा वसवो रुद्रा आदित्या इन्द्रः प्रजापतिश्चेति तेऽप्यत्रोक्तास्तत्त्वरूपेण किं बहुना। सर्वे तत्त्वेष्वन्तर्भूताः। ते त्वष्टाविंशतिः। "एते देवाः कला विष्णोरि"ति वाक्यात्। ते च प्रजापतिप्रभृतिसोमान्ताः। तत्र प्रथमं रजोगुणाभिमानिनो देवता ब्रह्मणस्पतिः। वेदादिकर्त्ता जगन्निर्माता चेत्यर्थः। तद्भजने ब्रह्मतेजो भवतीति ब्रह्मवर्चसकाम एव तं भजेदित्यर्थः। ततः सत्त्वाभिमानिनी इन्द्रो देवता यज्ञादिरूपः। तद्भजने इन्द्रियसिद्धिर्भवतीति इन्द्रियकामस्तं भजेत। एवमुत्तरत्रापि। प्रजाकामः पुत्रकामः। प्रजापतीन् मरीच्यादीन्। तमोधिष्ठात्री देवता। देवीं मायाम्। प्रकृत्यधिष्ठात्री देवता। श्रीकामः धनकामः। सम्पत्तिरूपं धनम्। तेजस्कामः। स्वस्मिन्नधृष्यं तेजः। दुर्द्धर्षत्वमिति यावत्। विभावसुरग्निः। वसुकामः धनमात्रकामः। वसून् द्रोणादीन्। रुद्रान् वामादीन्। वीर्यकामः पराक्रमकामः। अत्र फले विशेषमाह—**अथ वीर्यवानिति**। तदनन्तरमेव वीर्यवान् भवति। वागभिमानिनो देवता अग्निः। गन्धाभिमानिनो देवता वसवः। रुद्रा आकाशस्य। अदितिर्भूमेः। अन्नाद्यकामः

अन्नभोजनकामः । अन्नभक्षणसामर्थ्यमन्नसमृद्धिर्वा । स्वर्गकामः स्वर्गलोककामः । अदितेः सुतान् द्वादशाऽऽदित्यान् । तेजोऽभिमानिनी । विश्वेदेवाः विश्वायाः पुत्राः । राज्यकामः राजत्वकामः । साध्यान् साध्यायाः पुत्रान् । विशां देशस्थप्रजानां संसाधकः स्वाधीनकरणेच्छुः । विश्वेदेवा जलस्य । साध्या वायोः आयुःकामः आयुष्याभिवृद्धिकामः । अश्विनौ अश्विनीकुमारौ । घ्राणदेवता । पुष्टिकामः स्थूलत्वकामः । सर्वान् पोषान् वा कामयते । इला भूमिः । शब्दाधिष्ठात्री देवता । प्रतिष्ठाकामः लोके सन्माननाकामः । **पुरुष इति** । योग्यस्यैवैषा कामना । एवमन्यत्राऽपि ज्ञातव्यम् । रोदसी द्यावापृथिव्यौ । लोकानां मातरौ । लोकमातृत्वं गुणः । मातृकापूजायां विहिते वा । हस्ताभिमानिनो । रूपाभिकामः सौन्दर्यकामः । गन्धर्वान् विश्वावसुप्रभृतीन् । एता राष्ट्रभृतो देवताः । **"एते वै गन्धर्वाप्सरसो यद्राष्ट्रभृत"** इति श्रुतेः । स्त्रीकामः सुन्दरस्त्रीप्राप्तिकामः । अप्सरोरूपामुर्वशीम् । अधरारणिदेवताम् । देवपत्नीमध्ये वा । गन्धर्वा रूपस्य । अप्सरसो रसस्य । आधिपत्यकामः सर्वेषामहमधिपतिर्भविष्यामीति । परमेष्ठिनं गुह्याधिष्ठातारम् । यज्ञ यज्ञपुरुषम् । चरणाधिष्ठात्री । यशस्कामः कीर्त्तिकामः । कोशकाम. भाण्डारकामः । कोशो धनसञ्चयः । प्रचेतसं वरुणम् । रसनेन्द्रियाधिष्ठातारम् । विद्याकामः । ब्रह्मविद्यादिविद्याः । गिरिशं महादेवम् । अहङ्काराधिष्ठातारम् । दाम्पत्यार्थं दम्पत्योः प्रीत्यर्थम् । उमां सतीम् । जन्मद्वयव्यापिनीं महादेवभार्याम् । धर्मार्थं धर्मसिद्ध्यर्थम् । उत्तमश्लोकं वेदवेद्यम् । तन्तुं तन्वन् सन्ततिं विस्तारयन् । पितॄन् अग्निष्वात्तादीन् । रक्षाकामः भूतादिभ्यः शत्रुभ्यो रक्षामिच्छन् पुण्यजनान् यक्षादीन् । ओजस्कामः इन्द्रियबलकामः। मरुद्गणान् दितिपुत्रान् । राज्यकामः राज्याधिपत्यकामः । मनून् देवान् स्वायम्भुवादीन् तन्मन्वन्तरदेवताश्च । निरृतिं मृत्युम् । अभिचरन् शत्रुमरणमिच्छन् । कामकामः कन्दर्पवृद्धिमिच्छन् । सोमम् । अकामः सर्वकामरहितस्तु परं पुरुषं पुरुषोत्तमम् । अयमेकोनत्रिंशत् सर्वतत्त्वपतिः । सोमो मनसः । निरृतिः पायोः । मनवो देवाश्चक्षुषः । मरुद्गणास्त्वचः । पुण्यजना जलस्य । पितरो महत्तत्त्वस्य । उत्तमश्लोकः पुरुषस्य । उमा श्रोत्रस्य । एवं कामनाभेदेन प्रकृतोपयोगिसर्वबलसिद्ध्यर्थं तत्तद्देवताभजनं कर्त्तव्यमित्युक्तम् । वैराग्यार्थं च भगवान् । तत्र कामना ब्रह्मवर्चसादिविषयाः । इयं कामनाभेदेन भक्तिः साक्षात्परब्रह्मणो वासुदेवस्याऽसाधारणो धर्मः स्नेहात्मा । स तदैव प्रकाशते यदा तत्र वर्चस्तेजः प्रकाशकं भवति । वेदेन ब्रह्ममात्रं प्रकाशयितुं शक्यं न तु ब्रह्मधर्मः साक्षात् । नाऽपि प्रत्यक्षतया । प्रत्यक्षसमवेता अप्यभिव्यञ्जकाभावे न प्रकाशन्ते । अतो ब्रह्मणि भगवति यद्वर्चस्तच्चेत्स्वस्मिन्नागच्छेद्दीपहस्त इव सर्वं पश्येत् । अतः प्रथमं ब्रह्मवर्चसकामना कर्त्तव्या । वेदस्थं वा प्रकाशनसामर्थ्यम् । न हि चक्षुर्व्यतिरेकेण स्फीतालोकमध्यवर्त्यपि घटः प्रकाशते । तद्ब्रह्मगतं वेदगतं वा को वा दातुं शक्त इति विचारे यो ब्रह्मणः पतिः वेदस्य वेदार्थस्य वा नियामकः येन वा तत्सामर्थ्यं तत्र निहितं भवति तेनैव दातुं शक्यत इति ब्रह्मधर्मान् सर्वान् गृहीत्वा जगति प्रकटनार्थं या रजोगुणदेवता सैवोपास्या । प्रकटनार्थमेव तत्प्रवृत्तेः । नाऽपि कूटस्थम् । तदर्थमप्रवृत्तत्वात् । एवमुत्तरत्राऽपि । इन्द्रियव्यतिरेकेण स्वतो जीवात्मा प्रकाशकेऽपि ब्रह्मवर्चसे करणाभावान्न ज्ञातुं शक्त इतोन्द्रियमपेक्ष्यम् । इन्द्रियवानेव भगवच्छास्त्रेऽधिकारो । **"को नु राजन्निन्द्रियवान"** ति वाक्यात् । तच्चेन्द्रियं स्वतो विद्यमानमपि ज्ञानक्रियारूपं कार्यं जनयदपि परमार्थवस्तुबोधकस्वरूपत्वाभावादपेक्षितेन्द्रियाद्भिन्नम् । **"इन्द्रस्य वृत्रं जघ्नुष इन्द्रियं वीर्याम"**

त्यादिश्रुतौ तदिन्द्रियं प्रसिद्धम् । अन्यथा वृत्रहननं प्रजापत्युपधावनं च न स्यात् । अतोऽलौकिकपदार्थज्ञानकरणेन्द्रियप्राप्त्यर्थमिन्द्र उपास्यः। तेन हि तदुपायेन प्राप्तम् । यद्यपि प्रजापतिः प्रयोजकस्तथापि तत्पदार्थरसानभिज्ञत्वाद्गवामपि तथात्वादिन्द्र एव सेव्यः । अन्यथेन्द्रस्य पुनःपुनरुपधावनं न भवेत् । अतो धिनोत्यन्तं तस्य रसमिन्द्र एव जानातीति स एव सेव्यः। ऋणत्रयापाकरणाथ सहायार्थं वा प्रजा पुत्रादिरूपा अपेक्ष्यते। अन्यथा भगवद्भजने नैश्चिन्त्यं न स्यात् तत्र स्वतो जायमानाः प्रजाः स्वापेक्षितं न कुर्वन्तीति स्वापेक्षितप्रजालाभार्थं मरीच्यादय एव सेव्याः। ते हि ब्रह्मणोऽभिप्रेतं कृतवन्त इति । इदानीं भगवद्भजने लक्ष्मीरूपा सम्पत्तिरपेक्ष्यते। सैव भगवन्निष्ठा तत्र विनियोगमर्हति । अन्यां भगवानपि न गृह्णीयात् । अतो भजनौपयिकां सम्पत्तिमिच्छन्मायामेव भजेत । तत्रैका माया व्यामोहिका। एका जगत्करणभूता । ते उभे न सेव्ये । अन्यत्राऽधिकृतत्वात् । देवतारूपा सात्त्विकी मोक्षदातुर्वासुदेवस्य मोक्षदानार्थमेव तादृशं रूपं गृहीतवत: तदुपयोगिसाधनसम्पादनार्थं लक्ष्मीरेव **"विष्णोर्देहानुरूपां वै करोत्येषाऽऽत्मनस्तनुमि"**ति वाक्यात्तद्भार्यारूपेण मायारूपं गृहीतवती। मया सहाऽऽगन्तव्यमिति नियोगकरणान्मायेत्यभिधानम् । **"इत्थं विचिन्त्य परमः स तु वासुदेवनामा बभूव निजकारणमुक्तिदाता । तस्याऽऽज्ञयैव नियताऽथ रमाऽपि रूपं वव्रे द्वितीयमिव यत्प्रवदन्ति मायामि"**ति वाक्यात् । अत एव तुशब्देनाऽन्ये निवारिते । किञ्च । इन्द्रियेण सम्पत्त्या सहायेन प्रकाशेन च भगवद्धर्मेषु समानीतेषु स्वस्य धारणासामर्थ्यसिद्धचर्थं स्वस्मिन् तेजः अपेक्ष्यते । अन्यथा ते समागतास्तत्र न निविशेयुः। निविष्टा वा तदाश्रयं दहेयुः। अतः स्वयोग्यतासिद्धचर्थं तेजः अपेक्षितम् । तद्धि सर्वाभिभावकं सर्वमेव रूपं स्वसमानं करोति।

तद्भगवन्निष्ठमेव वन्हिना प्राप्तम् । विशेषेण भा दीप्तिः वसु धनं यस्येति विभावसुशब्दनिर्वचनात् । अतस्तेजस्कामो विभावसुमेव सेवेत । एवं धनस्याऽपि भगवद्भक्तेष्वानत्यर्थं (?) श्रवणादिसिद्धचर्थमुपदेशनार्थं वा देय(?)मपेक्ष्यते। साधनरूपश्रवणादिकं तादृशैरेव भवतीति । शुककर्तृकं तु फलरूपम् । दृष्टरूपत्वाच्च तदपेक्ष्यत एव । तत्तन्नाम्ना वसुष्वेव प्रतिष्ठितम्। **"त इमं लोकमयजन्नि"**ति श्रुतेः । एवं वीर्यस्य बलस्याऽपि भगवत्सेवौपयिकत्वाद्बलाधिष्ठानदेवताया वायोः स्थानभूतस्याऽन्तरिक्षस्य रुद्राः प्रभव इति देवताऽपि तदधीनेति वीर्यकामो रुद्रानेव भजेत । **"तेऽन्तरिक्षमजयन्नि"**ति श्रुतेः। एवमन्नादेरपि अन्नभक्षणस्य वा । **"यद्यदिष्टतमं लोके यच्चाऽतिप्रियमात्मनः"** इति वाक्यादन्नाद्यमपि काम्यम् । तत्राऽदितिरियमेव भूम्यधिष्ठात्री देवता । **"साऽदितिरब्रवीद्वरं वृणा अथ मयाऽभिगृह्णीष्वमि"**त्युपाख्याने तस्यास्तादृशत्वप्रसिद्धेः। भूमौ भगवद्भजनं कृत्वा दिव्यानां पदार्थानामभावात्स्वर्गे कर्त्तव्यमिति स्वर्गकामना भवति । तत्राऽऽदित्याः प्रभवः । **"तेऽमुं लोकमजयन्नि"**ति श्रुतेः। विश्वेदेवास्तु राज्येऽधिकारिणः। सर्वदेवताधिष्ठातृदेवतारूपत्वात् । राजा च सर्वदेवतामयः। अतोऽत्र सर्वसम्पत्त्या भजनसिद्धचर्थं राजत्वमपेक्षितम् । भक्तिमार्गस्त्वलौकिक इत्यसाध्यसाधकपदार्थसिद्धचर्थं तदधिकारिणः साध्यान् भजेत् । सर्वाश्चेत्प्रजाः स्वाधीना भवेयुस्तदा सर्वत्र भक्तिप्रचारो भवेदिति भक्तिप्रसरणार्थं तत्साधकत्वमपेक्ष्यते । आयुषस्तु भक्तसङ्गाद्यर्थमुपयोगः स्पष्ट एव । तत्राऽश्विनौ आयुषः प्रभू इति तदुपाधावनम् । एवं पुष्टिरपि लोकातीता भगवत्कार्यसाधिकेति सर्वपोषकर्त्रीं भूमिं भजेत् । यतो भूमिष्ठा एव सर्वे वर्द्धन्ते अंकुरादयः। प्रतिष्ठाया अपि तद्वृत्तानुवृत्त्या प्रचयार्थमपेक्षा भवति । प्रतिष्ठा च माहात्म्याद्वैचित्र्याद्वा । तत् द्यावापृथिव्योरेवोभयं प्रसिद्धमिति।

भगवदधिष्ठानेषु रूपाभिव्यक्तिसामर्थ्यार्थं **"रूपमिति गन्धर्वा"** इति श्रुतेस्ते सेव्याः । नृत्यादिना भगवद्भजनार्थं तादृशस्त्रीकामनाया-मनेकरूपकरणसमर्थोर्वशी सेव्या । नारायणोत्पन्नत्वात् दृषिमातृत्वात् वैराग्यबोधनेन मुक्तिदातृत्वाच्च । पूर्वचित्त्यादयस्तु नैवंरूपाः । आज्ञापनसामर्थ्यसिद्ध्यर्थं तथाभूतः परमेष्ठो चतुर्मुखः सेव्यः । स हि सर्वानाज्ञापयतीति । आज्ञापनस्य च भक्तिकारणता स्पष्टा । तथा यशसोऽपि । कीर्त्या हि सर्वे समायान्ति, पश्चात्तद्वृत्तमनुतिष्ठन्ते । यज्ञो हि यशः प्राप्तवान् । **"देवा वै सत्रमासतर्द्धिपरिमितं यशस्कामा"** इत्यत्र यज्ञेनैव यशसः प्राप्तत्वात्स सेव्यः। प्रचेता निधिपतिः । अलौकिकार्थदाने हि भगवद्रुत्सवादिर्भवति । विद्यायास्तु साक्षादुपयोगात् । **"ईश्वराज्ज्ञानमन्विच्छेदि"** ति वाक्यात् । **"प्रतिकूले गृहं त्यजेदि"** ति दाम्पत्यं भगवद्भजनार्थमपेक्षितम् । तत्र परमभक्तायाः परमभक्तस्वपतिनिष्ठतया बहुजन्मसिद्धत्वादुमा सेव्या । धर्मेण च भक्तिर्भवतीति पूर्वं साधितम् । उत्तमैश्च लोके वेदे धर्मप्रतिपादक एव सेव्यते । भक्तिमार्गस्य परम्परासिद्ध्यर्थं सन्तत्यपेक्षायां पितरो हि तदाशंसका इति तेषां भजनम् । रक्षायां क्रूराणामपेक्षितत्वाद्यक्षभजनम् । ओजस इन्द्रियशक्तेश्च नेत्रश्रोत्रपाटवरूपत्वात् । मरुद्गणाश्च पटवो भवन्ति । बहुधा च्छिन्ना अपि न मृता इति । महापुरुषपूजया सिद्धा इति । परित्यक्तदोषा इति ते सेव्याः । अधिकारिणः सर्वविनियोगसामर्थ्यात्स्पष्टं मन्वन्तराधिपतयः सेव्याः । प्रतिबन्धकनिवृत्तेरपेक्षितत्वान्निर्ऋतिः सेव्यः । कामनया सर्वं भवतीति भगवद्विषयककामनोत्पत्त्यर्थं रासप्रकरणे निरूपितस्य सोमस्य भजनं कर्त्तव्यम् । तेन हि भगवतोऽपि कामः पूरित इति । तादृशकामपितामहत्वाच्च ।२–६।

व्याख्यार्थ– पूर्व के कहे गये का उपसंहार करके अन्य देवताओं का भजन नहीं करना चाहिये इसके लिए अपने मत में तत्त्वरूप २८ देवता हैं । वेद में जो ३३ देवता वसु (८) रुद्र (११) आदित्य (१२) इन्द्र (१) और प्रजापति (१) वे भी यहां तत्त्वरूप से कहे गये हैं । अधिक क्या कहें ये सभी तत्त्व के अन्दर ही आ जाते हैं । वे तत्त्व तो २८ हैं । ये सब देवता विष्णु की कला हैं 'एते देवाः कला विष्णोः' वे देवता प्रजापति से लेकर सोम पर्यन्त हैं । उनमें सर्वप्रथम रजोगुणाभिमानिनी देवता ब्रह्मणस्पति है । जिसने वेद आदि का निर्माण किया तथा जगत् का निर्माण किया । उसके भजन में ब्रह्मतेज होता है इसलिए ब्रह्मवर्चस की कामना वाला उसका भजन करे । इसके बाद सत्त्वाभिमानिनी देवता इन्द्र है वह यज्ञादिरूप है उसके भजन से इन्द्रियों की सिद्धि होती है इसलिए इन्द्रियों की सिद्धि की कामना वाला इन्द्र का भजन करे । इसी तरह आगे भी समझना । पुत्र की कामना वाला मरीचि आदि प्रजापति का भजन करे । ये तमोधिष्ठात्री देवता है । देवी माया जो प्रकृति की अधिष्ठात्री है धन की कामना वाले को उसका भजन करना चाहिये । यहां सम्पत्तिरूप धन लेना । अपने अन्दर दुर्धर्ष तेज हो ऐसी जिसकी इच्छा हो वह अग्नि की उपासना करे । जिसे केवल धन की ही कामना हो वह द्रोण आदि आठ वसुओं की उपासना करे । पराक्रम की कामना जिसे हो वह वाम आदि ग्यारह रुद्रों की उपासना करे । उस उपासना का विशेष फल यह है कि वह वीर्यवान् होता है । वाणी की अभिमानिनी देवता अग्नि है । गन्ध की अभिमानिनी देवता वसु है । रुद्र आकाश की अभिमानिनी देवता है । अदिति भूमि की अभिमानिनी देवता है । जो अन्न-भोजन की कामना रखता है अथवा अन्नभक्षण का सामर्थ्य या अन्न समृद्धि चाहता है वह अदिति की उपासना करे । जिसे स्वर्गलोक के प्राप्ति की इच्छा हो वह अदिति के पुत्र

बारह आदित्यों की उपासना करे। ये आदित्य तेजोभिमानिनो देवता हैं। विश्वा के पुत्र विश्वेदेव है राज्य की कामना वाले को इनकी उपासना करनी चाहिये। साध्या के पुत्र साध्य हैं। देश में रहने वाली प्रजा को अपने अधीन करने की इच्छा हो वह इन साध्यों की आराधना करे। विश्वेदेव जलाभिमानिनी देवता हैं और साध्य वायु की अभिमानिनी देवता है। आयु की वृद्धि चाहने वाले को अश्विनीकुमारों की आराधना करनी चाहिये। ये अश्विनीकुमार घ्राणाभिमानिनी देवता हैं। जिसको पुष्टि की इच्छा हो, मेरा शरीर हृष्टपुष्ट हो जाय या मुझे पोषक पदार्थ मिले ऐसी जिसकी कामना हो वह भूमि की उपासना करे। यह भूमि शब्दाधिष्ठात्री देवता है। जिसे लोक में सम्मान प्राप्त करने की इच्छा हो, ऐसी इच्छा योग्य पुरुष में ही होती है अतः 'पुरुषः' ऐसा पद दिया है। अन्य कामनाओं में भी योग्य पुरुष का ही ग्रहण करना चाहिये। सम्मान की कामना वाले को आकाश पृथ्वी की आराधना करनी चाहिये। ये लोक की माता हैं इनमें लोकमातृत्व गुण है अथवा जिनका मातृका पूजन में विधान है 'गौरी पद्मा शची मेधा' आदि उनका यहां ग्रहण है। ये हस्ताभिमानिनी देवता हैं। सौन्दर्य की कामना वाले को विश्वावसु आदि गन्धर्वों की उपासना करनी चाहिये। ये राष्ट्रभृत देवता हैं। ऐसा श्रुति में कहा है 'एते वै गन्धर्वाप्सरसो यद्राष्ट्रभृतः'। जिसे सुन्दर स्त्री प्राप्ति की कामना हो वह उर्वशी अप्सरा की आराधना करे। ये अधरारणि देवता हैं। अथवा इसकी गणना देवपत्नी के अन्दर की गई है। गन्धर्व रूप के अभिमानी देवता हैं। अप्सराएं रस की अभिमानी देवता हैं। जिसे आधिपत्य की कामना हो, मैं सबका अधिपति हो जाऊं उसे परमेष्ठी की जो गुह्य के अधिष्ठाता हैं उनकी उपासना करनी चाहिये। यज्ञ का अर्थ है यज्ञ पुरुष। ये चरणाधिष्ठात्री देवता हैं। जिन्हें कीर्त्ति की इच्छा हो वे इन यज्ञ पुरुष की आराधना करे। मुझे कोश (खजाना) प्राप्त हो उसे प्रचेता-वरुण की उपासना करनी चाहिये। ये वरुण रसनेन्द्रिय के अधिष्ठाता देवता है। ब्रह्मविद्या आदि जो विद्या है उसकी जिसे कामना हो वह महादेव की उपासना करें। ये अहङ्कार के अधिष्ठाता देवता है। दम्पती स्त्री-पुरुष का आपस में प्रेम रहे इसकी जिसे कामना हो वह उमा-सती की उपासना करे जो दोनों ही जन्म में महादेवजी की भार्या हुई थी। धर्मसिद्धि की यदि कामना हो तो वेदों से वेद्य ऐसे उत्तमश्लोक भगवान् की आराधना करे। अपनी सन्तति का विस्तार चाहे तो अग्निष्वात्त आदि पितरों की आराधना करे। भूतादिकों से या शत्रुओं से अपनी रक्षा चाहता हो उसे यक्षों की उपासना करनी चाहिये। मेरी इन्द्रियां बलवान् हो ऐसी जिसकी कामना हो वह दिति के पुत्र मरुद्गणों की उपासना करे। जिसे राज्य के आधिपत्य की कामना हो वह स्वायम्भुव आदि मनुओं की उपासना करे ये मन्वन्तर के देवता हैं। यदि शत्रुओं को मारने की इच्छा हो तो उसे निर्ऋति (मृत्यु) की उपासना करनी चाहिये। जिसे कामवृद्धि की इच्छा हो उसे सोम की उपासना करनी चाहिये। जो सब प्रकार की कामनाओं की इच्छा न रखता हो उसे तो पर पुरुष पुरुषोत्तम की उपासना करनी चाहिये। ये उन्तीस (२६) देवता सब तत्वों के अधिपति हैं। सोम मन का अधिष्ठाता देवता है। निर्ऋति पायु का अधिष्ठाता देवता है। मनुदेव चक्षु के अधिष्ठाता देवता है। मरुद्गण त्वचा के अधिष्ठाता देवता है। पुण्यजन जल के, पितर महत्तत्व के, उत्तमश्लोक पुरुष के, उमा श्रोत्र की अधिष्ठाता देवता है। इस तरह कामना के अनुसार प्रकृत में उपयोगी सब बलों की सिद्धि के लिये उन उन देवताओं का भजन करना चाहिये यह बताया, वैराग्य के लिये तो भगवान् का भजन करे। ब्रह्म वर्चस आदि विषय कामना शब्द से कहे जाते हैं। कामना भेद से की गई यह भक्ति साक्षात्

परब्रह्म वासुदेवकी ही है। जिन परब्रह्म वासुदेव का असाधारण धर्म है स्नेहात्मता। वह असाधारण धर्म आनन्द तभी प्रकाश में आता है जबकि उसमें वह वचस् प्रकाशक होता है। वेद तो केवल ब्रह्म मात्र का ही प्रकाशन कर सकता है किन्तु साक्षात् ब्रह्मधर्मों का प्रकाशन वेद नहीं कर सकता। और प्रत्यक्ष रूप से ब्रह्म का प्रकाशन भी वेद नहीं कर सकता। प्रत्यक्ष में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले भी अभिव्यञ्जक के अभाव में प्रकाश में नहीं आते। इसलिए ब्रह्म भगवान् में जो वर्चस् है वह यदि अपने में आवे तब दीपहस्त की तरह सबको देखेगा। इसलिए सर्वप्रथम तो ब्रह्मवर्चस् की कामना करना चाहिये। अथवा वेद में स्थित प्रकाशन का सामर्थ्य सम्पादन करना चाहिये। अत्यधिक प्रकाश में रखा हुआ भी घड़ा नेत्रों के बिना दिखाई नहीं देता। ब्रह्म में स्थित अथवा वेद में स्थित पदार्थों को देने में कौन समर्थ है जब इसका विचार करते हैं तो जो ब्रह्मा का पति है वेद और वेदार्थ का नियामक है और जिसके द्वारा वह सामर्थ्य उसमें स्थापित है वह ही वैसा सामर्थ्य दे सकता है इसलिए सभी ब्रह्मधर्मों को ग्रहण करके और जगत् में उसके प्रकट करने के लिए रजोगुण की अभिमानिनी देवता की ही उपासना करनी चाहिये। क्योंकि ब्रह्मधर्मों को प्रकट करने के लिए ही ब्रह्मणस्पति की प्रवृत्ति है। कूटस्थ की उपासना से भी यह कार्य नहीं हो सकता। क्योंकि कूटस्थ की प्रवृत्ति इसके लिए नहीं है। इसी तरह आगे भी समझना। प्रकाशक ब्रह्मवर्चस् के होते हुए भी स्वत: जीवात्मा इन्द्रियों के अभाव में उसका ज्ञान करने में असमर्थ है इसलिए इन्द्रियों की आवश्यकता है। जो इन्द्रियों वाला है वह ही भगवत् शास्त्र में अधिकारी है अत: इन्द्रियों की कामना वाले के लिए इन्द्र की उपासना कही गई है। वे इन्द्रियां स्वत: विद्यमान ज्ञान क्रियारूप कार्य को जना सकती हैं परन्तु उन इन्द्रियों में परमार्थ वस्तु बोधक स्वरूप का अभाव होने से अपेक्षित इन्द्रियों से ये विद्यमान इन्द्रियां भिन्न हैं। इसको 'को नु राजन्निन्द्रियवान्' इस वाक्य से बताया है। जिस तरह की इन्द्रियों की अपेक्षा है उसके लिए 'इन्द्रस्य वृत्रं जघ्नुष इन्द्रियं वीर्यम्' इत्यादि श्रुतियों में वर्णन है। अन्यथा वृत्र का हनन और प्रजापति की शरण में जाना नहीं होता। इसलिए अलौकिक पदार्थ का ज्ञान कराने में सहायक इन्द्रियों की प्राप्ति के लिए इन्द्र की उपासना करनी चाहिये। इन्द्र की उपासना से ही इन्द्रिय प्राप्त होती है। यद्यपि प्रजापति ही उसमें प्रयोजक है तथापि प्रजापति उन पदार्थों के रस का अभिज्ञ नहीं है। केवल इन्द्रियां भी रसाभिज्ञ नहीं है इसलिए रसास्वादन के लिए इन्द्र ही सेव्य है। यदि इन्द्रिय रसाभिज्ञ न होता तो वह बार-बार प्रजापति का शरण ग्रहण क्यों करता। इसलिए तृप्ति पर्यन्त उस पदार्थ के रस को इन्द्र ही जानता है इसलिए वह ही सेव्य है। देवऋषि और पितृऋण से मुक्त होने के लिए अथवा सहायता के लिए पुत्रादि की अपेक्षा होती है। अन्यथा भगवान् के भजन में निश्चिन्तता नहीं होती। उनमें भी अपने आप होने वाली सन्तान अपनी अपेक्षित बात का पालन नहीं करती इसलिए अपना अभीष्ट जिससे हो सके ऐसी सन्तान प्राप्ति के लिए मरीचि आदि प्रजापति की उपासना करनी चाहिये। क्योंकि मरीचि आदि ने ब्रह्माजी की आज्ञानुसार कार्य किया था इसलिए उनकी उपासना से आज्ञाकारी पुत्र की प्राप्ति होती है। इस समय भगवान् के भजन में लक्ष्मीरूप सम्पत्ति की अपेक्षा रहती है। वह लक्ष्मी ही भगवन्निष्ठ है उसी का विनियोग भगवान् के लिए किया जा सकता है। अन्य सम्पत्ति को भगवान् स्वीकार नहीं करते। इसलिए सेवा में उपयोग में आने वाली सम्पत्ति की इच्छा रखने वाले को माया का ही भजन करना चाहिए। माया एक तो व्यामोहिका है और एक जगत् की कारणरूपा है। उन दोनों की तो उपासना नहीं करनी चाहिये। क्योंकि उस माया को

अन्य अधिकार सौंप रखा है । अतः जो देवतारूपा, सात्त्विकी माया है उसकी उपासना करे । मोक्षदाता वासुदेव ने मोक्ष देने के लिए ही वैसा रूप ग्रहण किया है उनके उपयोगी साधनों का सम्पादन करने वाली जो माया है वह माया लक्ष्मी ही है । यह लक्ष्मी भगवान् विष्णु की देहानुरूप है अतः उसे भगवान् अपने शरीररूप से ही ग्रहण करते हैं । 'विष्णोर्देहानुरूपां वै करोत्येषाऽऽत्मनस्तनुम्' इस वाक्य से भगवान् की भार्यारूप से जिसने मायारूप को ग्रहण किया है उस माया की उपासना करनी चाहिये । भगवान् ने लक्ष्मी को आज्ञा दी कि तुम मेरे साथ आओ इसलिए लक्ष्मी को माया कहा जाता है । 'मया सह याहीति माया' इसमें निम्नलिखित वाक्य भी प्रमाण है— 'इत्थ विचिन्त्य परमः स तु वासुदेवनामा बभूव निजकारणमुक्तिदाता । तस्याऽऽज्ञयैव नियताऽथ रमाऽपि रूपं वव्रे द्वितीयमिव यत्प्रवदन्ति मायाम्' ऐसा विचार करके परब्रह्म वासुदेव जिनका नाम है ज्ञान ही जिसका कारण है उस मुक्ति के देने वाले हैं । उन्हीं की आज्ञा से ही उनके लिए नियत रमा (लक्ष्मी) ने भी रूप का वरण किया वह भगवान् का ही दूसरा रूप है जिसे माया कहते हैं । अतएव तु शब्द से मोहिका और जगत्कारणभूता माया का ग्रहण नहीं करना । इन्द्रिय, सम्पत्ति, सहायक और प्रकाश से भगवद्धर्मों के उपस्थित होने पर अपने अन्दर धारणा सामर्थ्य की सिद्धि के लिए अपने में तेज की अपेक्षा रहती हैं । अन्यथा उपस्थित वे भगवद्धर्म उसमें प्रवेश नहीं करेंगे । अथवा प्रवेश करने पर भी सामर्थ्य के अभाव में अपने आश्रय को ही वे जला देंगे । इसलिए अपने में योग्यता सिद्धि के लिए तेज की अपेक्षा है । वह तेज सब तेजों को दबा देने वाला होने से सभी रू० को अपने समान कर देता है । वह तेज भगवन्निष्ठ वन्हि से प्राप्त हुआ है । विशेषरूप से दीप्ति ही जिसका धन है उसे विभावसु कहते हैं 'विशेषेण भा दीप्तिः वसु धन यस्य स विभावसुः' अतः तेज की कामना वाले को विभावसु की सेवा करनी चाहिये । इसी तरह धन भी भगवद्भक्तों के उपयोग के लिए, श्रवणादि की सिद्धि के लिए अथवा उपदेश के लिए देयरूप से अपेक्षित है । साधनरूप श्रवणादि वैसे ही धन से हो सकते हैं । शुकदेवजी के द्वारा होने वाला श्रवण तो साधन रूप नहीं हैं वह तो फलरूप है अतः उसमें वसु की अपेक्षा नहीं है । साधनरूप श्रवणादिक तो दृष्टरूप है अतः उनमें धन की अपेक्षा है ही । वह वसु (धन) उन-उन नाम वाले वसुओं में ही प्रतिष्ठित है। अतएव 'त इमं लोकमयजन्' इस श्रुति में भी इसका कथन है । इसी तरह वीर्य (बल) भी भगवत्सेवा में उपयोगी होने से बल की अधिष्ठान देवता वायु है उस वायु का स्थान है अन्तरिक्ष और उस अन्तरिक्ष के प्रभु रुद्र हैं इसलिए उसकी अधिष्ठाता देवता भी रुद्र के ही अधीन है अतः बल की कामना वालों को रुद्र का भजन करना चाहिये । श्रुति में कहा है 'तेऽन्तरिक्षमजयन्' इसी तरह अन्नादि की कामना वाले को या अन्नभक्षण की कामना वाले को भूमि की अधिष्ठात्री देवता अदिति की उपासना करनी चाहिये । लोक में जो इष्टतम हो या जो अपने को अतिप्रिय हो 'यद्यदिष्टतमं लोके यच्चाऽतिप्रियमात्मनः' इस गीतावाक्य से अन्नादि भी काम्य है । यह अन्न भूमि से प्राप्त होता है उस भूमि की अधिष्ठात्री देवता अदिति है यह 'साऽदितिरब्रवीद्वरं वृणा अथ मयाऽभिगृह्णीध्वम्' इस उपाख्यान में स्पष्ट है । पृथ्वी पर भगवान् का भजन करके फिर ऐसी इच्छा हो कि पृथ्वी पर तो दिव्य पदार्थ नहीं है इसलिए स्वर्ग में दिव्य पदार्थों से भगवान् की सेवा करनी चाहिये इसके लिए यदि स्वर्ग की कामना हो तो स्वर्ग के प्रभु आदित्य हैं 'तेऽमुं लोकमयजन्' ऐसी श्रुति यह बताती है । राज्य के अधिकारी विश्वेदेव हैं ये विश्वेदेव सब देवताओं के अधिष्ठातृदेवता रूप है । राजा सर्वदेवतामय है । इसलिए सर्वसम्पत्ति से भजन की सिद्धि के लिए राजत्व भी अपे-

क्षित है। भक्तिमार्ग तो अलौकिक है इसलिए असाध्य साधक पदार्थों की सिद्धि के लिए उनके अधिकारी साध्यों का भजन करना चाहिये। सभी प्रजा यदि स्वाधीन (मेरे अधीन) हो तो सब जगह भक्ति का प्रचार होगा इसलिए भक्ति के प्रसार के लिए उसके साधक की अपेक्षा रहती है। आयु का भी भक्तों के सङ्ग के लिए उपयोग होता है यह तो स्पष्ट ही है। उस आयु के प्रभु अश्विनी कुमार है इसलिए आयु की कामना के लिए अश्विनीकुमारों की सेवा करनी चाहिये। इसी तरह पुष्टता भी लोकातीत है और भगवान् की सेवा में उपयोगी है अतः सबका पोषण करने वाली पृथ्वी का उसे भजन करना चाहिये। क्योंकि पृथ्वी पर स्थित पदार्थ ही सब अंकुर आदि से बढ़ते हैं। भगवद्भक्त के लिए प्रतिष्ठा की भी आवश्यकता होती है क्योंकि उसी के आचरण का लोग अनुसरण करते हैं अतः प्रचार के लिए प्रतिष्ठा की भी आवश्यकता है। माहात्म्य से अथवा विचित्रता से प्रतिष्ठा होती है उस प्रतिष्ठा की यदि कामना है तो द्यावा पृथिवी की उपासना करे क्योंकि द्यावा पृथिवी में ही माहात्म्य और वैचित्र्य इन दोनों में ही प्रसिद्ध है। भगवान् के अधिष्ठानों में रूप की अभिव्यक्ति का सामर्थ्य चाहने वाले को गन्धर्वों की सेवा करनी चाहिये 'रूपमिति गन्धर्वाः' ऐसा श्रुति ने कहा है। नृत्य आदि से जो भगवान् की आराधना करना चाहे अथवा नृत्योपयोगी स्त्री की कामना हो तो अनेक प्रकार के रूप बनाने में समर्थ उर्वशी की सेवा करनी चाहिये। उर्वशी भगवान् नारायण से उत्पन्न हुई है ऋषि की माता होने से वैराग्य का बोधन करके मुक्तिदान करती है। पूर्वचित्ति आदि अप्सराएं इस तरह की नहीं है। आज्ञा देने का सामर्थ्य यदि प्राप्त करना हो तो सबको आज्ञा देने वाले परमेष्ठी चतुर्मुख ब्रह्मा की सेवा करनी चाहिये। वे ब्रह्माजी सबको आज्ञा देने वाले हैं। आज्ञा के द्वारा भक्ति करवाना भी स्पष्ट है। इसी तरह यश भी भगवत्सेवा में उपयोगी है लोग कीर्त्ति सुनकर ही उसके पास आते हैं और उसके आचरण के अनुसार अपना आचरण बनाते हैं। यज्ञ ने यश प्राप्त किया था। 'देवा वै सत्रमासतर्द्धिपरिमितं यशस्कामाः' इसमें यज्ञ से ही देवताओं ने यश प्राप्त किया था अथवा यश (कीर्त्ति) की कामना रखने वाले को यज्ञ करना चाहिये। प्रचेता (वरुण) निधिपति हैं उनकी उपासना अलौकिक अर्थप्राप्ति के लिए करनी चाहिये क्योंकि उस अर्थ से भगवान् के उत्सव आदि होते हैं। विद्या का उपयोग तो साक्षात् ही भगवान् के लिए है। ज्ञान की इच्छा वाले को शिव की उपासना करनी चाहिये। 'ईश्वराज्ज्ञानमिच्छेत्' ऐसा वाक्य है। भगवत्सेवा के लिए पति-पत्नी का परस्पर प्रेम आवश्यक है नहीं तो फिर पत्नी के प्रतिकूल होने पर घर का ही त्याग करना लिखा है 'प्रतिकूले गृहं त्यजेत्' यदि दाम्पत्य प्रेम और अनुकूलता अपेक्षित है तो परमपतिभक्त परमभक्त जो अपने पति शिव उनमें निष्ठा रखने वाली अनेक जन्मसिद्ध उमा की सेवा करनी चाहिये। धर्म से ही भक्ति होती है यह पहले ही सिद्ध किया जा चुका है। उत्तम लोग लोक में अथवा वेद में धर्म का प्रतिपादन करने वाले की ही सेवा करते हैं। भक्तिमार्ग की परम्परा बराबर चलती रहे इसके लिए सन्तति की अपेक्षा रहती है यदि ऐसी अपेक्षा हो तो पितर जो सदा हमारा वंश चलता रहे ऐसी अपेक्षा रखते हैं उन पितरों का भजन करना चाहिए। रक्षा के लिए क्रूर लोगों की आवश्यकता होती हैं अतः रक्षा की कामना के लिए यक्षों का भजन करना चाहिये। आंखों में देखने की, कानों में सुनने आदि की जो शक्ति है उसे ओज कहते हैं। उस ओज की अर्थात् इन्द्रियों में इन्द्रिय शक्ति यदि चाहे तो वह मरुद्गणों की उपासना करे वे ही इस प्रकार का सामर्थ्य देने में पटु हैं। क्योंकि इन मरुद्गणों के कितने ही टुकड़े इन्द्र ने किये तथापि वे मरे नहीं। वे महापुरुष की पूजा से सिद्ध रहे। परन्तु

निर्दोष मरुद्गणों की ही आराधना करनी चाहिये। जिन्हें राज्य की कामना हो उन्हें सबका विनियोग जिनने भगवान् के लिए ही किया ऐसे सामर्थ्यशाली मन्वन्तरों के अधिपतियों की सेवा करनी चाहिये। यदि सेवा में किसी प्रकार की रुकावट न आवे ऐसी कामना हो तो निर्ऋति की सेवा करे। कामना से सब होता है इसलिए भगवद्विषयक कामना की उत्पत्ति के लिए रासप्रकरण में निरूपित सोम की उपासना करनी चाहिये। उस सोम ने भगवान् की कामना को भी पूर्ण किया था। ऐसे काम के पितामह सोम की उपासना करनी चाहिये ॥२—९॥

आभास—एवं भगवदंशानां तत्तत्साधकत्वमुक्त्वा ससाधनभक्तिसिद्ध्यर्थमपि भगवानेव सेव्य इत्याह—

आभासार्थ—इस तरह ऊपर बताये गये भगवद् अंशों से उस-उस कार्य के साधकों का वर्णन किया अब साधन सहित भक्ति की सिद्धि के लिए भी भगवान् की ही आराधना करनी चाहिये इसे कहते हैं—

श्लोक—**अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।**
तीव्रेण भक्तियोगेन भजेत पुरुषं परम् ॥१०॥

श्लोकार्थ—जिसे किसी प्रकार की कामना न हो, अथवा जिसे सब प्रकार की कामना हो या उदार बुद्धि जो मोक्ष की ही कामना वाला हो उसे तीव्र भक्तियोग से परम पुरुष की सेवा करनी चाहिये ॥ १० ॥

सुबोधिनी—अकाम इति । वैराग्यकामः। पूर्वाध्यायोक्तन्यायेन स्वतन्त्रया निष्कामो वा। सर्वकामः एतदध्यायोक्तकामः। मोक्षकामो वा। उदारा धीर्यस्येति स्वतन्त्रो वा। तीव्रेण शीघ्रं भगवत्प्रापकेण। पूर्वोक्तमेव परं पुरुषं भजेत। भगवतैव ससाधनं साध्यं सेत्स्यतीति ॥१०॥

व्याख्यार्थ—वैराग्य ही जिसे अभिलषित हो, या पूर्व अध्याय में बताये अनुसार स्वतन्त्र रूप से निष्काम हो यद्वा इस अध्याय में बताई गई कामनाएं हो अथवा मोक्ष की जिसे कामना हो ऐसा उदार बुद्धि या स्वतन्त्र पुरुष शीघ्र भगवान् को प्राप्त कराने वाले भक्तियोग से प्रथम बताये गये परम पुरुष का भजन करे। उसका साधन सहित साध्य भगवान् के द्वारा ही सिद्ध होगा ॥१०॥

आभास—ननु भजनमेव कथं सिध्येत् कामनाभावे बकबन्धप्रयासवदित्याशङ्क्य कामनया तत्साधनेऽप्यन्तरङ्गसाधनसाधकमेव सेव्यमित्यभिप्रायेणाऽऽह—

आभासार्थ—यदि कामना ही नहीं हो तो फिर बकबन्ध प्रयास (बगुले की तरह ध्यानमग्न होने से) से भजन की सिद्धि ही क्या होगी इस आशंका पर कहते हैं कि यदि कामना को जाय और उसके लिए साधन की सिद्धि की जाय तो फिर अन्तरङ्ग साधन को सिद्ध करने वाले की ही सेवा की जाय इस अभिप्राय से कहते हैं—

श्लोक—**एतावानेव यजतामिह निःश्रेयसोदयः ।**
भगवत्यचलो भावो यद्भागवतसङ्गमः ।।११।।

श्लोकार्थ—आराधना करने वालों के लिए इस लोक में परम कल्याण का उदय यही है कि भगवद्भक्तों के संग से भगवान् में अचल भाव हो जाय ।।११।।

सुबोधिनी—**एतावानेवेति** । सर्वाण्येव साधनानि साधनद्वये प्रविशन्ति । भगवद्भक्तसङ्गसाधकत्वेन भगवति रतिसाधकत्वेन च । एतावानर्थश्चेत्सिद्धस्तदा नाऽन्यकामना कर्त्तव्या । अतएव यजतां मध्ये इह अस्मिन्भक्तिमार्गे श्रेयसः परम उदय एतावानेव । द्वयमेव तदुक्तम् ।। ११ ।।

व्याख्यार्थ—सब साधनों का समावेश दो साधनों में हो जाता है । भगवद्भक्तों के संग को सिद्ध करने वाले साधन से या भगवान् में अनुराग सिद्ध करने वाले साधन से । यदि इतना प्रयोजन सिद्ध हो जाता है तो फिर अन्य कामना करने की आवश्यकता नहीं है । इसलिए आराधना करने वालों के लिए इस भक्तिमार्ग में परम कल्याण का उदय इतना ही है कि या तो भगवद्भक्तों का संग हो जाय या भगवान् में अनुराग हो जाय ।। ११ ।।

आभास—तयोरप्येकं साधनं, येन तौ भवत एव । तदाह—

आभासार्थ—भगवद्भक्तों का संग या भगवान् में अनुराग इन दोनों साधनों से भी बढ़कर एक साधन ऐसा है जिसके हो जाने पर भी दोनों ही हो जाते हैं उसे कहते हैं—

श्लोक—**ज्ञानं यदाऽऽप्रतिनिवृत्तगुणोर्मिचक्रमात्मप्रसाद उभयत्र गुणेष्वसङ्गः ।**
कैवल्यसम्मतपथस्त्वथ भक्तियोगः को निर्वृतो हरिकथासु रतिं न कुर्यात् ।

श्लोकार्थ—जब हरिकथा श्रवण कीर्त्तन से सत्त्वादि गुणों की ऊर्मियों (लहरों) का भंवर एकदम निवृत्त हो जाता है और आत्मा में प्रसन्नता का अनुभव होने लगता है तथा ऐहिक और पारलौकिक विषयों से विरक्ति हो जाती है एवं मोक्षमार्ग सम्मत भक्तियोग भी हो जाता है तब ऐसा कौन सुख चाहने वाला होगा जो भगवान् की कथा में अनुराग नहीं करेगा ।। १२ ।।

सुबोधिनी—**ज्ञानमिति** । हरिकथासु रतिस्तयोः साधिका । कथारतिषु सक्तस्य कथका अपि मिलन्ति, प्रेमाऽपि भवतीति । आनुषङ्गिकं चाऽन्यद्बह्वेव भवतीत्याह । यासु कथासु आ समन्तात्प्रतिनिवृत्तं गुणोर्मीणामुत्पत्त्यादीनां चक्रं रागादिधर्मसमुदायो येन । सर्वाऽविद्यानिवर्त्तकमिति यावत् । तादृशं ज्ञानं भवति । तत्साधनमन्तःकरणप्रसादोऽपि भवति । तस्याऽपि साधनमैहिकामुष्मिकगुणेषु वैराग्यम् । एवं ससाधनं ज्ञानमपि सिद्धचति । सोपायो मार्गोऽ-

यम् । कैवल्ये सम्मतस्तु मार्गो भक्तियोगः । अथेति भिन्नप्रक्रमे । स्वतन्त्रो न ज्ञानसाधनम् । न वा तत्सहायः । किन्तु पूर्वोक्तकामनया सिद्ध-साधनसाध्यः । यत्राऽऽनुषङ्गिकं ज्ञानं भक्तिश्च भवति । भगवति प्रेम भक्तसङ्गश्च मुख्यतया भवति । तादृशीषु कथासु सन्मार्गवर्ती को वा रतिं न कुर्यादित्यर्थः । तत्राऽपि निर्वृतः अप्रवृत्तिमार्गपरः ।।१२।।

व्याख्यार्थ—भगवान् की कथाओं में अनुराग होने से ही भगवद्भक्तों का संग एवं भगवान् में अनुराग सिद्ध हो जाता है । कथा में अनुराग होने से उस कथा को कहने वाले भी मिल जायेंगे और कथा सुनने से भगवान् में प्रेम भी हो जाता है और भी बहुत से कार्य अनायास ही हो जाते हैं । जिन हरिकथाओं के सुनने में गुणों की ऊर्मीरूप उत्पत्ति आदि का चक्र रागादि समुदाय पूर्ण रूप से नष्ट हो जाय ऐसा ज्ञान प्राप्त हो जाता है वह ज्ञान सब प्रकार की अविद्याओं को दूर कर देने वाला होता है । ऐसा ज्ञान हरिकथाओं के सुनने से होता है । ऐसे ज्ञान की साधिका जो अन्तःकरण की शुद्धि है वह भी हो जाती है। अर्थात् ऐसा ज्ञान अन्तःकरण के शुद्ध होने पर ही होता है किन्तु उस ज्ञान से अन्तःकरण की शुद्धि भी हो जाती है । इस लोक और परलोक के पदार्थों में वैराग्य होना यह उसका भी साधन है । इस तरह हरिकथा से साधन सहित ज्ञान भी सिद्ध होता है । इस तरह यह मार्ग उपाययुक्त है । अब यहां से क्रम बदलता है इसे बताने के लिए अथ शब्द दिया है । मोक्ष में संमत मार्ग तो भक्तियोग है । यह भक्तियोग स्वतन्त्र है ज्ञान का साधनरूप नहीं है और न ज्ञान का सहायक है । किन्तु पूर्वोक्त कामना से सिद्ध साधन साध्य है । जिसमें अनायास ही ज्ञान और भक्ति हो जाती है । भगवान् में प्रेम और भक्तों का संग मुख्य रूप से होता है । ऐसी भगवान् की कथाओं में जो सन्मार्ग का अनुगामी है वह ऐसा कौन होगा जो अनुराग न करेगा और उसमें भी फिर जो निवृत्ति मार्ग का अनुसरण करने वाला हरिकथा में कैसे प्रेम न करेगा ।। १२ ।।

आभास—एवं ससाधनं भक्तिमार्गमुपदिश्य तस्य विशेषाकांक्षायामन्यद्वक्तव्यमिति तूष्णींभूतः । तथा सूतोऽपि । अयमर्थो गुप्ततया निरूपित इति शौनकादीनां हृदये समागतो नवेति सन्दिह्य तूष्णींस्थिते स्वाभिप्रायं शौनकः प्रकटयन् गुप्ततयोक्तमर्थं प्रकटयितुमाह— **इत्यभिव्याहृत इति यावदध्यायसमाप्ति** । इदमेव हि तस्य परिज्ञानं यद्भक्त्यसाधकानां विद्यमानानां वैयर्थ्यज्ञानम् । तदा हि तत्साधनेषु प्रवृत्तिर्भवति । यस्तु सिद्धसाधनः स भगवत्सङ्गेऽपि सिद्धे कथायामपि रतौ सत्यां भगवति स्नेहार्थमेव यत्नोऽवशिष्यत इत्यस्मदपेक्षया राजा महान् । अतस्तत्पृष्टानुसारेणैव भक्त्युपाये ज्ञाते तत्कर्त्तव्यमित्यभिप्रायेण प्रथमं प्रश्नं पृच्छति—**इत्यभिव्याहृत इति चतुर्भिः ।**

आभासार्थ—इस तरह साधन सहित भक्तिमार्ग का उपदेश देकर उसकी विशेषता के विषय में आकांक्षा होने से अब और भी कुछ कहेंगे इसलिए राजा चुप हो गया । इसी तरह सूत भी शौनकादिकों की विशेष जिज्ञासा है या नहीं इसलिए सूत भी चुप हो गये । अर्थात् सूत ने यह जाना कि यह बात मैने गुप्त रूप से कही है यह शौनकादिकों के हृदय में आ गई है या नहीं ऐसे सन्देह से चुप हो जाने से शौनक इसको प्रकट करते हुए गुप्त रूप से कही हुई को प्रकट करने के लिए कहते

हैं। इसे इत्यभिव्याहृत: से लेकर जब तक यह तीसरा अध्याय पूरा नहीं होगा तब तक कहा जायगा। शौनक इतना ही समझे कि मेरे विद्यमान साधन भक्ति के साधक नहीं है इसलिए ये व्यर्थ हैं। ऐसा समझने से ही तो फिर और साधनों में प्रवृत्ति हो रही है। जो सिद्ध साधन है ऐसा राजा परीक्षित् भगवत्सङ्ग के सिद्ध होने पर और कथा में अनुराग होने पर भी भगवान् में स्नेह होने के लिए अभी प्रयत्न बाकी है ऐसा जानता है इसलिए हमारी अपेक्षा राजा महान् है। अतः उसके पूछे हुए के अनुसार ही भक्ति का उपाय जानकर उसे हम करेंगे इस अभिप्राय से शौनक प्रश्न पूछता है—

शौनक उवाच—श्लोक—**इत्यभिव्याहृतो राजा निशम्य भरतर्षभः।**
किमन्यत्पृष्टवान् भूयो वैयासकिमृषिं कविम् ॥१३॥

श्लोकार्थ—भरतवंश में श्रेष्ठ राजा परीक्षित ने शुकदेवजी से कहे हुए को सुनकर फिर व्यासपुत्र विद्वान् ऋषि से और क्या पूछा ? ॥१३॥

सुबोधिनी—अभितो व्याहृतः। उपदिष्ट इत्यर्थः। निशम्य तदभिप्रायं ज्ञात्वा। भरतर्षभत्वान्न व्यामोहः। अतः पूर्वोक्तमेव न पृष्टमित्यर्थः। अन्यदेव पृष्टवान्। यद्यपि सर्वमुत्तरितं तथापि प्रकारान्तरेण तदुपपादकरूपेण वा किं भूयः पृष्टवानित्यर्थः। शुकस्य विरक्तत्वाद्बहुकालस्थित्यभावेन न किञ्चित्पृष्टं भविष्यतीत्याशङ्कयाऽऽह—**वैयासकिमिति**। सर्वविस्तारकर्तुः पुत्रोऽपि तादृश इति। तत्राऽपि भागवतलक्षणं मन्त्राधिष्ठातृभगवदभिप्रायं जानातीति सर्वथा कथयिष्यतीति कीर्त्यभिप्रायेण ऋषिपदम्। विशेषकथनसामर्थ्यार्थं कविपदम् ॥१३॥

व्याख्यार्थ—शुकदेवजी से उपदेश प्राप्त कर उसका अभिप्राय भी समझ लिया तथा भरतवंश में श्रेष्ठ होने के कारण उसे किसी प्रकार का व्यामोह भी नहीं हुआ। इसलिए राजा ने पूर्वोक्त बात ही नहीं पूछी, किन्तु उसने अन्य प्रश्न किया। यद्यपि शुकदेवजी ने राजा के सब प्रश्नों का उत्तर दे दिया था। फिर भी राजा ने प्रकारान्तर से अथवा उसके उपपादक रूप से पुनः क्या प्रश्न किया ? यह शौनक का अभिप्राय है। यहां यह आशंका होती है कि शुकदेवजी विरक्त हैं इसलिए अधिक समय तक ठहर नहीं सकते अतः राजा ने कुछ पूछा ही नहीं होगा ? इस पर शौनक कहते हैं कि वैयासकि सबका विस्तार से वर्णन करने वाले व्यास के वे पुत्र हैं अतः वे भी व्यासजी के समान ही विस्तारपूर्वक कहने वाले हैं। और उसमें भी भक्तों के लक्षण तथा मन्त्र के अधिष्ठाता भगवान् के अभिप्राय को जानते हैं अतः सब कहेंगे इसलिए कीर्ति के अभिप्राव से ऋषि पद दिया है। विशेष रूप से कहने का सामर्थ्य भी उनमें हैं इसके लिए कवि पद दिया है ॥१३॥

आभास—तेन किं भवतामित्यपेक्षायामाह—

आभासार्थ—उसके सुनने से आपको क्या प्रयोजन ? इस अपेक्षा पर कहते हैं—

श्लोक—**एतच्छुश्रूषतां विद्वन् सूत नोऽर्हसि भाषितुम् ।**
कथा हरिकथोदर्काः सतां स्युः सदसि ध्रुवम् ।। १४ ।।

श्लोकार्थ—हे विद्वन् सूत ! सुनने की इच्छा वाले हमारे लिए यह आप कहिये । यह बात निश्चित है कि सत्पुरुषों की सभा में जो भी कथा होगी वह भगवान् से सम्बन्ध रखने वाली ही होगी ।।१४।।

सुबोधिनी—एतदिति । एतच्छ्रवणेऽस्माकं महतीच्छा । त्वं च जानासि । सर्वत्र कथने च तवाऽधिकार एवेति सम्बोधनद्वयम्— **विद्वन्, सूतेति** । अतो नोऽस्मभ्यं भाषितुमर्हसि । श्रोतृवक्तृपरत्वव्यावृत्यर्थमाह— **कथा हरिकथोदर्का इति** । अन्या अपि कथाः सतां सदसि हरिकथोदर्का एव भवन्ति हरिकथैव उदर्क उत्तरफलं यासु । **ध्रुवमिति** नाऽत्र सन्देहः ।। १४ ।।

व्याख्यार्थ—शुकदेवजी ने जो कहा उसके सुनने की हमारी उत्कण्ट इच्छा है । तुम उसे जानते हो । सब जगह कहने का वैसा अधिकार भी तुम्हें है । इस बात को बताने के लिए विद्वन् और सूत ये दो सम्बोधन दिये हैं । इसलिए तुम हमारे लिए कह सकते हो । कथा पद से श्रोता और वक्ता में ऊच्च-नीच भाव नहीं है यह बताया । सज्जनों की सभा में अन्य कथा भो भगवत्कथा ही होती है । अर्थात् वह कथा अन्त में जाकर भगवत्कथा के रूप में परिणत हो जाती है । ध्रुवम् से यह बताया कि इसमें कोई सन्देह नहीं ।। १४ ।।

आभास—सत्सभायामेवैवं भवति । सुतरामपूर्वसत्सङ्गे । तत्रोभयोः सत्त्वमुक्त्वा तत्सङ्गे कथाऽऽवश्यकत्वं वक्तव्यम् । तत्र प्रथमं समागतस्य पृच्छकाधीनत्वात् पृच्छकस्य भगवद्भक्तत्वमाह—

आभासार्थ—सज्जनों की सभा में ही ऐसी कथा होती है । और जहां अपूर्व सत्सङ्ग हो वहां तो निश्चित रूप से हरिकथा ही होती है । उस सभा में श्रोता और वक्ता दोनों ही सज्जन है अतः उनके मिलन में सत्कथा को होना आवश्यक है । उस सभा में आने वाले से प्रथम प्रश्न करना पूछने वाले के अधीन है और उस सभा में पूछने वाला भगवद्भक्त परीक्षित् है उसे कहते हैं—

श्लोक—स वै भागवतो राजा पाण्डवेयो महारथः ।
बालक्रीडनकैः क्रीडन् कृष्णक्रीडां य आददे ।।१५।।

श्लोकार्थ—वह पाण्डव वंश में उत्पन्न महारथी परीक्षित् भगवद्भक्त था । जो बचपन में ही बाल खेल में ही कृष्णलीला का अभिनय करता या ।।१५।।

सुबोधिनी—स वै भागवत इति। निश्चयेन राजाऽपि स भागवत एव। अथवा। राजा हि बहु पृच्छति। भागवतश्च भगवदीयम्। तस्योभयरूपत्वाद्भगवदीयं बहु पृच्छतीत्यर्थः। तस्य भगवदीयत्वे साधनभूतं हेतुद्वयमाह—पाण्डवेयो महारथ इति। भगवदीयवंशे अवतीर्णत्वात्स्वधर्मनिष्ठत्वाच्च। फलमुखमन्तरङ्गं साधनं तस्य चित्तस्वभावो भगवत्पर इत्याह। यस्तु बाल्ये बालक्रीडनकैः क्रीडन्नेकं भगवन्तं स्थापयित्वा तत्सेवकत्वेन राजलीलामिव क्रीडति। वृन्दावनस्थां भगवत्क्रीडां वा अभिनयेनाऽनुकरोति ॥१५॥

व्याख्यार्थ—वह राजा भी निश्चितरूप से भगवद्भक्त था। अथवा राजा ही बहुत पूछता है। भागवत का अर्थ है भगवदीय। वह परीक्षित् राजा भी था और भगवद्भक्त भी था। इसलिए बहुत पूछता है। उसके भगवदीय होने में साधनभूत दो कारण हैं। एक तो वह भगवदीय पाण्डवों के वंश में उत्पन्न हुआ था और दूसरा कारण स्वयं भी भगवद्धर्मनिष्ठ था। उसके चित्त का स्वभाव भगवत्पर था यह उसका फलमुख अन्तरङ्ग साधन था। जो बचपन में बालखेल में भी एक को भगवान् बनाकर या भगवान् की मूर्ति स्थापित कर उसका सेवक बनकर राजलीला की तरह खेलता था। अथवा वृन्दावन में भगवान् ने जो जो लीलाएं की थीं अभिनय के द्वारा उनकी नकल करता था ॥१५॥

आभास—शुकोऽपि भगवद्भक्त इत्याह—

आभासार्थ—जिस तरह राजा भगवान् का भक्त था उसी तरह शुकदेवजी भी भगवान् के भक्त थे इसे कहते हैं—

श्लोक—वैयासकिश्च भगवान् वासुदेवपरायणः ।
उरुगायगुणोदाराः सतां स्युर्हि समागमे ॥१६॥

श्लोकार्थ—व्यासनन्दन भगवान् शुकदेवजी भी भगवान् में तत्पर हैं। सज्जनों के समागम में भगवान् के उदार गुणों का ही वर्णन होता है ॥१६॥

सुबोधिनी—वैयासकिश्चेति। श्रोता तु भगवदीयानां वंशजो भगवदीयः। शुकस्तु भगवतः पुत्रो भगवान्। तथाभूतः सन् वासुदेवपरायणः। चकारादन्येऽपि तादृशाः। अतः सर्वेऽपि सन्तः। तेषां च नूतनः समागमः। तादृशे कथाः सर्वभक्तानां सम्मताः। सर्वपुरुषार्थाना स्वतन्त्रतया साधनाभावेऽपि दातारो ये भगवद्गुणास्ते यासु। अतस्ताः कथयेति पूर्वेणैव सम्बन्धः ॥१६॥

व्याख्यार्थ—श्रोता परीक्षित् तो भगवदीय पाण्डवों के वंश में उत्पन्न होने से भगवदीय है ही। और शुकदेवजी भगवान् व्यासजी के पुत्र होने से भगवान्। भगवान् होते हुए भी भगवान् में तत्पर है। च से और दूसरे भी सभासद वैसे ही थे। इसलिये सभी सज्जन थे। उनका नया हो नया समागम हुआ था। वैसे सम्मेलन में सब भक्तों के लिये कथा ही सम्मत होती है। साधनों के अभाव में भी स्वतन्त्र रूप से सब पुरुषार्थों के देने वाले जो भगवद्गुण हैं वे कथाओं में ही है। इस लिये उन कथाओं को कहिये ऐसा सम्बन्ध है ॥१६॥

आभास—इदानीं विद्यमानानां भक्त्यसाधकत्वे वैफल्यं वक्तुं भक्तिसाधकत्वे सफलत्वं कैमुतिकन्यायेनाऽऽह—

आभासार्थ—इस समय विद्यमान जितने भी साधन हैं वे भक्ति के साधक न होने से निष्फल है ऐसा कहा इससे कैमुतिकन्याय (बिना कहे ही) से जो भक्ति के साधक हैं वे सफल है इसे कहते हैं—

श्लोक—आयुर्हरति वै पुंसामुद्यन्नस्तं च यन्नसौ ।
तस्यर्ते यः क्षणो नीत उत्तमश्लोकवार्तया ।।१७।।

श्लोकार्थ—मनुष्य की आयु को यह उदय अस्त को प्राप्त होता हुआ सूर्य हर लेता है । परन्तु भगवान् की कथा में जिसने एक क्षण भी बिताया है उसकी आयु को छोड़कर अन्य की आयु का हरण करता है ।।१७।।

सुबोधिनी—आयुर्हरतीति । 'योऽसौ तपन्नुदेति स सर्वेषां भूतानां प्राणानादायोदेति, मा मे प्रजाया मा पशूनां मा मम प्राणानादायोदगाः असौ योऽस्तमेति स सर्वेषां भूतानां प्राणानादायाऽस्तमेति । मा मे प्रजाया मा पशूनामि''त्यादि श्रुतिवाक्ये, असौ सूर्यः सर्वेषां प्राणिनामुद्यन्नस्तं च यन् सर्वेषामायुर्हरतीत्युक्तम् । तत्र मा मे प्रजाया इति कथानात्कस्यचिदायुर्न हरतीति ज्ञायते । तत्र को वेत्यपेक्षायामायुर्हरणार्थं स्थापितस्य सूर्यस्याऽधिकारिणः (१) लोकन्यायेनाऽधिकारदातुरन्तरङ्गस्य न हरतीति ज्ञायते । हृतं चाऽऽयुर्भगवदीयेभ्य एव प्रयच्छति । विनियोगस्याऽऽवश्यकत्वात् । यद्यपि वाक्ये प्रार्थकस्यैवाऽऽयुषो न हरणं, तथापि हरणस्याऽनित्यत्वज्ञापनेन तथाऽवसीयते । तस्य आयुः ऋते । "शतायुर्वै पुरुष" इति पुरुषस्य शतमायूंषि भवन्ति । एकेन वत्सरेण सर्वब्रह्माण्डपरिभ्रमणेनैकमायुर्हरति । तत्र तस्याऽऽयुर्ऋत इति यस्मिन्नायुषि स क्षणो भवेत् । य उत्तमश्लोकवार्तया भगवत्समीपं नीतस्तदायुर्न गृह्णातीत्यर्थः । यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात्तच्छब्देन क्षण एवोच्यते । सम्बन्धित्वं च स्वरूपत एवेति स यस्मिन्नायुषि भवतीति सिद्धयति । वर्षमध्ये एकोऽपि क्षण उत्तमश्लोकवार्तया स्वार्थं भगवदर्थं वा नीतश्चेत्, स्वकार्यं वार्त्तयैव कृतमिति शिष्टमपि सैव हरिष्यतीति स्वयं न हरतीति भावः ।।१७।।

व्याख्यार्थ—"योऽसौ तपन्नुदेति स सर्वेषां भूतानां प्राणानादायोदेति, मा मे प्रजाया मा पशूनां मा मम प्राणानादायोदगाः । असौ योऽस्तमेति स सर्वेषां भूतानां प्राणानादायास्तमेति । मा मे प्रजाया मा पशूनामि" इस श्रुति वाक्य में कहा है कि 'जो यह सूर्य उदय हो रहा है वह सब प्राणियों के प्राणों को लेकर उदय को प्राप्त हो रहा है । परन्तु यह मेरी प्रजा के, मेरे पशुओं के और मेरे प्राणों को लेकर उदय को प्राप्त न हो । और जो यह सूर्य अस्त हो रहा है वह सब प्राणियों के प्राणों को लेकर अस्त हो रहा है । परन्तु मेरी प्रजा मेरे पशुओं के प्राणों को लेकर अस्त न हो । इसी श्रुति वाक्य के अनुसार यहां श्लोक में सूर्य उदय एवं अस्त को प्राप्त होता हुआ सब प्राणियों की आयु का हरण करता है ऐसा कहा । इसी श्रुति में 'मा मे प्रजाया' ऐसा कहने से

किसी की आयु का हरण नहीं भी करता है ऐसा जाना जाता है। ऐसा कौन है जिसकी आयु का यह सूर्य हरण नहीं करता ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जिस भगवान् ने आयु के हरण करने के लिये इसे स्थापित किया है वह आयु हरण करने का अधिकारी सूर्य लोकन्याय से अधिकार देने वाले के जो अन्तरङ्ग (भक्त)हैं उनकी आयु को नहीं हरता है ऐसा जाना जाता है। और साथ ही यह भी करता है कि जिनकी आयु का हरण किया है उनकी आयु भी भगवदीयों को ही दे देता है। क्योंकि हरण की हुई आयु का उपयोग करना भी आवश्यक है । यद्यपि श्रुतिवाक्य में प्रार्थना करने वाले की आयु के हरण न करने की ही बात है तथापि आयु हरण की अनित्यता के ज्ञापन से वैसा निश्चय होता है उसकी आयु के बिना ।'शतायुर्वै पुरुषः' इस कथन से पुरुष को सौ आयु होती हैं। एक वर्ष से सर्व ब्रह्माण्ड के परिभ्रमण से एक आयु को हरता है। परन्तु जिस आयु में उसका उत्तमश्लोक की वार्ता का क्षण होता है उस आयु का हरण नहीं करता है। तात्पर्य यह है कि जो उत्तमश्लोक भगवान् की वार्ता से भगवान् के समीप में ले जाया जाता है उस आयु को वह ग्रहण नहीं करता है। यत् और तत् का नित्य सम्बन्ध है इसलिए तत् शब्द से क्षण ही यहां कहा गया है। सम्बन्धीपन स्वरूप से ही हुआ करता है इसलिए जिस आयु (वर्ष) में वह क्षण होता है ऐसा सिद्ध होता है। पूरे वर्ष के अन्दर एक क्षण भी उत्तमश्लोक भगवान् की वार्ता से अपने लिए अथवा भगवान् के लिए यदि बिताते हैं तो उसका अपना कार्य भी वार्ता के ही द्वारा किया गया है इसलिए बची हुई आयु को भी वह वार्ता ही हरण करेगी सूर्य उसका हरण नहीं करता है । यह इसका भाव है ॥१७॥

आभास—एवं क्षणमात्रेऽपि भगवत्कथासम्बन्धे आयुषः कृतार्थतेत्युपलक्षणविधया सर्वेषां कृतार्थत्वं निरूप्य तदभावे बह्वप्यायुः प्रार्थनयाऽऽहृतमपि व्यर्थमितिसदृष्टान्तमाह—

आभासार्थ—इस तरह क्षणमात्र में भी भगवत्कथा का सम्बन्ध होने पर आयु को कृतार्थता है इस दृष्टान्त की विधि से सब की कृतार्थता का निरूपण करके उसके अभाव में अधिक आयु भी प्रार्थना से प्राप्त की गई भी व्यर्थ है इसे दृष्टान्त से बताते हैं—

श्लोक—तरवः किं न जीवन्ति भस्त्राः किं न श्वसन्त्युत ।
न खादन्ति न मेहन्ति किं ग्रामपशवोऽपरे ॥१८॥

श्लोकार्थ—क्या वृक्ष अधिक समय नहीं जीते हैं ? लोहार की धोंकनी क्या श्वास नहीं लेती ? मनुष्यों के अतिरिक्त क्या गांव के पशु खाते या मैथुन नहीं करते हैं ?॥१८॥

सुबोधिनी—तरव इति । वृक्षाः किं बहुकालं न जीवन्ति । न तेषां स्वार्थे कश्चनोपयोगः । मुक्ताश्च न भवन्ति । अतो बहुकालजीवनं प्रार्थनयाऽपि प्राप्तं व्यर्थमित्यर्थः । ननु तेषामायुः प्राणं धृत्वा न तिष्ठतीति प्राणधारकत्वेन तदुपयोगो भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—भस्त्राः किं न श्वसन्त्युतेति । पूर्वमपि नासा चर्मपुटरूपैव, तन्मार्गेण वायुरागच्छति गच्छति च । भस्त्राया-

मप्येवमिति न प्राणधारणेन कोऽप्युपयोगः सिद्धयति । नन्वत्र स्वपरोपकाराणां सिद्धत्वान्न दृष्टान्ततुल्यतेत्याशङ्क्याऽऽह—उतेति । पुनस्थता कृत्वाऽपि व्यर्थ इत्यर्थः । यथा इङ्गाला भस्त्राश्वासेन तप्ता भवन्त्यन्येऽपि तत्संबंधाल्लोहादयः । तप्तानामाघातश्च भवति । अतः परोपतापाद्युपद्रवकर्तृत्वम् । तथा जीवनस्याऽपीति न कोऽपि विशेष इति भावः । पुरुषार्थसिद्धयभावस्तूभयत्र तुल्यः । ननु भोगोऽस्तीति चेत् ? तत्राऽऽह—लोकानां भोगभ्रमोऽन्नादिभक्षणे । वस्तुतस्त्वेकत्र प्रविष्टोऽन्यत्र निर्गच्छति । यथा स्वशरीरान्निर्गतं शूकरमुखे प्रविश्य पुनर्निर्गच्छति,तथा भूमिवृक्षादेर्निर्गतं स्वस्याऽपि मुखे प्रविश्य विनिर्गच्छतीति न शूकरादिभ्यः कश्चन विशेषः । तुल्यत्वं यस्य न स्फुरति तं प्रत्येतदापादनमनिष्टम्, न ब्रह्मविदं प्रति । स हि प्राकृतः स्वात्मानं बहुमन्यते । अपरे इत्यनेनाऽयमप्येकः पशुः । "तस्मात्त्रयः पशूनां हस्तादाना" इति श्रुतेः । परं ग्रामपशुत्वेन निन्द्यत्वम् ॥१८॥

व्याख्यार्थ—वृक्ष क्या बहुत काल तक जीवित नहीं रहते ? परन्तु उन वृक्षों का अपने लिए क्या उपयोग है । और वे मुक्त भी नहीं होते । इसलिए बहुत काल का जोवन प्रार्थना से प्राप्त हुआ भी व्यर्थ ही है । यदि कहो कि उनकी आयु प्राण को धारण करके नहीं रहती है तो लौहार की धोंकनी श्वास नहीं लेती । मनुष्यों की नाक भी चमड़े की धोंकनी के समान ही है उसमें भी उसी मार्ग से वायु आती है जाती है । धोंकनो में भी यही है इसलिए प्राणधारण से भी कोई उपयोग सिद्ध नहीं होता । यदि कहो कि मनुष्य के द्वारा तो अपना और अन्यों का उपकार होता है इसलिए धोंकनी का दृष्टान्त बराबर नहीं है इसका उत्तर इससे देते हैं । मनुष्य का वैसा करना भी व्यर्थ है जैसे कोयले धोंकनी के श्वास से तपते हैं उसी तरह उन कोयलों से सम्बन्ध रखने वाले लोह आदि भी धोंकनी के श्वास से तपते हैं । और तपे हुए लोह आदि को आघात (चोट) सहनी पड़ती है अतः जैसे उस धोंकनी का श्वास उपद्रवकारी है उसी तरह मनुष्य जीवन का भी उपयोग समझना चाहिये धोंकनी में और मनुष्य जीवन में कोई अन्तर नहीं है । पुरुषार्थ सिद्धि तो दोनों ही में समान है । यदि कहो कि मनुष्य जीवन से तो भोग होता है धोंकनी से तो कोई भोग नहीं होता इसका उत्तर यह है कि लोगों को अन्न आदि के खाने में ही भोग का भ्रम होता है परन्तु देखा जाय तो वास्तव में इसे भोग नहीं कहते एक रास्ते से अन्न आदि का प्रवेश होता है और दूसरे रास्ते से निकल जाता है । जिस तरह अपने शरीर से निकला हुआ ग्राम सूकर के मुख में प्रवेश करके फिर निकल जाता है कोई विशेषता नहीं है । जिनको ग्राम पशु की समानता का आभास नहीं होता उन के लिये यह दृष्टान्त है ब्रह्मवेत्ता के लिये यह दृष्टान्त नहीं है । क्योंकि सामान्य मनुष्य प्राकृत होते हुए भी अपने को बहुत मानता है । अपरे का अर्थ है यह मानव भी एक प्रकार का पशु है । श्रुति में कहा भी है 'तस्मात्त्रयः पशूनां हस्तादानाः' पशुओं में ये तीन आपस में सहायक है वे तीन कौन इस पर इसी श्रुति का वाक्य शेष 'पुरुषो हस्ती मर्कटः' है । परन्तु ग्राम पशु होने से उसमें निन्दनीयता है ।१८॥

आभास—एवं नीचैः सह तुल्यतामापाद्य ततोऽपि नीचतामाह—

आभासार्थ—इस तरह पुरुष की नीचों के साथ समानता बताकर अब उनसे भी और नीचता का प्रतिपादन करते हैं—

श्लोक—श्वविड्वराहोष्ट्रखरैः संस्तुतः पुरुषः पशुः ।
न यत्कर्णपथोपेतो जातु नाम गदाग्रजः ।।१९।।

श्लोकार्थ— जिसके कान में गदाग्रज भगवान् के गुणनामादि नहीं पड़े वह तो मनुष्य नहीं है किन्तु कुत्ते, ग्राम सूअर, ऊंट, गधे इनसे भी गया बीता है ।।१९।।

सुबोधिनी—श्वविड्वराहोष्ट्रखरैरिति । एते चत्वारः पशवः सर्वलोकेषु निन्दिताः । तेषां स्तुतिं कोऽपि न करोति । भगवद्विमुखे पुरुषे च दृष्टे लोकास्तानेव स्तुवन्तीति तैरयं स्तुतः । भगवद्विमुखे दृष्टे एतस्माच्छ्वादयः समीचीना इति लोकाः स्तुवन्तीत्येते जानन्त्यस्मानयं स्तावयति समीचीन इत्येवं तैरयं स्तुतो भवतीति भावः । यद्यपि श्वा पुच्छचालनादिना ग्रासमात्रेऽपि स्वलालसतां ज्ञापयति तथाऽयमपि गृहस्थः । परं स स्वामिहितो भवति । अल्पसन्तोषी च । प्राकृतस्तु तद्विपरीतः । एवं विड्वराहोऽपि कुत्सितविषयासक्तो विण्मूत्रस्थाने रमते । तथाऽयमपि । तथापि सर्वानुपयुक्तमुपजीवति, न तत्र केऽपि भागिनः । अयं तु सर्वेषां भागं स्वयमश्नाति । यद्यप्युष्ट्राः कण्टकाद्यतिपरुषविषयभोक्तारस्तथापि स्वामिभारवाहकाः । अयं तु तद्विपरीतो न भगवतः कार्यं किञ्चित्करोति । यद्यपि खरः खरीपादताडितोऽपगच्छति पुरुषतुल्यस्तथापि न वक्रो न स्वामिकार्ये हठं करोति । अस्य तु तदीया दोषा एव न गुणाः सन्तीति ततोऽपि निन्दित इत्यर्थः । नैतत्पुरुषमात्रसाधारणम् । येषां पुनरन्नभक्षण उपयोगोऽस्ति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह । "मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः । अन्नं न प्राणाः । अन्नात्प्राणा भवन्ती" ति च वैयर्थ्यं ज्ञानभक्त्युपयोगौ चाऽन्नस्य निरूपितौ । तत्र वैयर्थ्यपक्षे तुल्यता । पक्षद्वये तु पुरुषार्थपर्यवसानान्नेति तद्वैपरीत्यमाह—न यत्कर्णमथोपेत इति । यस्य कर्णमार्गे कदापि गदाग्रजः कृष्णः केवलं भक्तिप्रकाशनार्थं प्रकटो यस्य कर्णमार्गं न गतः । "स्वानामि" ति वाक्यात् । अयं च तदीयो न भवतीति निश्चितम् । अतो भक्तिमार्गज्ञाने निवारिते । गदस्तु मातापित्रोर्दुःखदूरीकरणानन्तरमुत्पन्न इति यत्र भगवत्कृतदुःखदूरीकरणमभिप्रेतं तत्र गदाग्रज इत्युच्यते ।।१९।।

व्याख्यार्थ—कुत्ता, ग्रामसूकर, ऊंट और गधा ये चार पशु सब लोकों में निन्दित हैं । उनकी स्तुति कोई नहीं करता परन्तु भगवद्विमुख पुरुष को जब देखते हैं तो इन चार पशुओं की ही लोग स्तुति करते हैं । इसलिए ये पशु भगवद्विमुख की स्तुति करते हैं आशय इसका यह है कि ये कुत्ते आदि जानते हैं कि भगवद् विमुख पुरुष को देखकर ही तो लोग उससे हमको अच्छा बताते हैं अतः हमारी स्तुति कराने वाला तो यह भगवद् विमुख पुरुष है अतः वे कुत्ते आदि पशु उस भगवद्विमुख पुरुष की स्तुति करते हैं । यद्यपि कुत्ते तो पूंछ को हिलाकर ग्रासमात्र के लिये भी अपनी लालसा को जता देते हैं उसी तरह यह भगवद्विमुख पुरुष भी अपनी लालसा को समझा देता है । यद्यपि कुत्ता तो स्वामी का हित करता है और थोड़े से सन्तोष करता है परन्तु यह प्राकृत पुरुष तो स्वामी का हित भी नहीं करता और न थोड़े से सन्तोष करता है । इसी तरह विड्वराह (ग्रामसूकर) भी गन्दी वस्तुओं में आसक्त रहता है मलमूत्र के स्थान में मस्त रहता है उसी तरह यह प्राकृत पुरुष भी रहता है । तथापि यह सूअर तो जो वस्तु किसी के काम नहीं आती ऐसी वस्तु से अपना जीवन निर्वाह करता है उस वस्तु में उससे हिस्सा बटाने वाले कोई नहीं है परन्तु यह प्राकृत पुरुष

तो सबके भाग को स्वयं खा जाता है । यद्यपि ऊंट कांटे आदि अत्यन्त कठोर पदार्थों का उपयोग करता है और फिर भी स्वामी का बोझा ढोता है परन्तु यह प्राकृत पुरुष तो उस ऊंट से भी गया बीता है यह भगवान् का तो कोई कार्य करता नहीं है और इसे अच्छा-अच्छा खाने को चाहिये । यद्यपि गधा गधी की लात खाकर चला जाता है इसलिए वह पुरुष के समान ही है परन्तु वह गधा गधी से कभी विरुद्ध नहीं चलता न वह कभी मालिक के काम में हठ करता है । इस प्राकृत पुरुष में गधे के दोष तो हैं परन्तु गधे के गुण इसमें नहीं है अतः इसकी लोग निन्दा करते हैं कि यह गधे से भी गया बीता है । यह बात पुरुषमात्र में है ऐसा कोई नियम नहीं है । जिनके अन्नभक्षण का उपयोग ज्ञान भक्ति में होता है उनको इसमें नहीं लिया है । श्रुति में कहा भी है 'मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः । अन्नं न प्राणाः । अन्नात्प्राणा भवन्ति' जो भगवद्विमुख पुरुष है वह व्यर्थ ही अन्न खाता है वह न देवों का उपकार करता है और न अपना हित करता है न मित्रों का हित करता है । वह तो केवल पाप का भार बढ़ाता है । इस तरह जो पुरुष केवल अपने स्त्री पुत्रों का पेट भरता है और अपना पेट भरता है उसकी निन्दा की है । क्योंकि अन्न का उपयोग ज्ञान या भक्ति में होना चाहिए अर्थात् अन्न से प्राण लाभ होता है और प्राणो की स्थिति होने पर वह ज्ञान प्राप्ति या भक्ति कर सकता है । परन्तु यदि उस अन्न का उपयोग ज्ञान या भक्ति में न हो तो उसमें और पशु में कोई अन्तर नहीं है । यदि ज्ञान भक्ति में अन्न का उपयोग होता है तो उससे पुरुषार्थ की सिद्धि होती है अतः उसमें पशु तुल्यता नहीं होती । उसी को 'न यत्कर्णपथोपेतः' से बताते हैं । जिसके कानों में गदाग्रज भगवान् का नाम नहीं पड़ा जो भगवान् केवल भक्ति का प्रकाशन करने के लिए प्रकट हुए हैं तो उसका जीवन व्यर्थ है कहा भी है 'स्वानां भावसरोरुहम्' इसलिए जो भगवान् के गुणों को नहीं सुनता वह भगवदीय नहीं होता यह निश्चित् है । और उसे भक्तिमार्ग या ज्ञान प्राप्त नहीं होता । भगवान् को गदाग्रज इसलिए बताया है कि माता-पिता के दुःखों को दूर करने के अनन्तर ही गद उत्पन्न हुआ था अतः जहां भगवान् ने दुःखों को दूर किया ऐसा कहना होता है बहां भगवान् को गदाग्रज नाम से कहते हैं ।।१९।।

आभास—एवमायुषो देहस्य च भोगायतनस्य वैफल्यमुक्त्वा इन्द्रियाणां वैफल्यमाह—

आभासार्थ—इस तरह भगवद्विमुखों की आयु और भोग का स्थान देह व्यर्थ हैं इसे कह कर अब उसकी इन्द्रियां भी निष्फल है यह कहते हैं—

श्लोक—**बिले बतोरुक्रमविक्रमान् ये न शृण्वतः कर्णपुटे नरस्य ।**
जिह्वाऽसती दार्दुरिकेव सूत न चोपगायत्युरुगायगाथाः ।।२०।।

भारः परं पट्टकिरीटजुष्टमप्युत्तमाङ्गं न नमेन्मुकुन्दम् ।
शावौ करौ नो कुरुतः सपर्यां हरेर्लसत्काञ्चनकङ्कणौ वा ।।२१।।

बर्हायिते ते नयने नराणां लिङ्गानि विष्णोर्न निरीक्षतो ये ।
पादौ नृणां तौ द्रुमजन्मभाजौ क्षेत्राणि नाऽनुव्रजतो हरेर्यौ ।।२२।।

जीवञ्छवो भागवताऽङ्घ्रिरेणून्न जातु मर्त्योऽभिलभेत यस्तु ।
श्रीविष्णुपद्या मनुजस्तुलस्याः श्वसञ्छवो यस्तु न वेद गन्धम् ।।२३।।

श्लोकार्थ—जिस मनुष्य के कर्णपुट भगवान् के पराक्रमों का श्रवण नहीं करते वे कान नहीं है वे सांप के बिल हैं। हे सूत ! जिनकी जीभ भगवान् के चरित्रों का गान नहीं करती उसे मेंढक की जीभ समझना चाहिये तथा वह जीभ असती है। पट्ट किरीट से शोभित मस्तक यदि भगवान् के चरणों में नमता नहीं है तो वह सिर भार रूप है। दोनों हाथ भले ही सोने के कङ्कणों से युक्त हो परन्तु वे हाथ यदि भगवान् की सेवा नहीं करते तो वे शव (मुर्दे) के हाथ है। जिन नेत्रों ने भगवान् के स्वरूपों का दर्शन नहीं किया वे नेत्र नेत्र नहीं है किन्तु मोरपंख हैं । जो पैर भगवान् के मन्दिरों में अथवा भगवत्तीर्थों में नहीं जाते उन पैरों को वृक्ष में उनका जन्म हुआ है ऐसा समझना। जो पुरुष भगवान् के चरणारविन्द की रेणु को प्राप्त नहीं करता वह जीता हुआ भी मुर्दा है। जिस पुरुष ने भगवान् के चरणारविन्द में निवास करने वाली तुलसी की गन्ध को कभी नहीं सूंघा वह तो श्वास लेते हुए भी मुर्दा है।

।२०।२१।२२।२३।।

सुबोधिनी—बिले इति। बतेति खेदे। उरुक्रमस्य अतिविचित्रचरित्रस्य विक्रमान्न शृण्वतः पुरुषस्य ये कर्णपुटे ते बिले इत्यर्थः। तत्र स्वाभिप्रेतेन्द्रियाभावादपकारिसर्पप्राकृतेन्द्रियस्य विद्यमानत्वाच्छरीररूपगृहे अपकारिच्छिद्रे । यथा गृहे तादृशे बिले प्रविष्टः सर्पो गृहपतिं खादति, तथा प्राकृत्यः कथा एतत्कर्णं प्रविष्टा एनं सर्वतो नाशयन्तीत्यर्थः। 'तांस्तान्क्षिपन्त्यशरणेषु तमस्सु हन्ते' ति वाक्यात्। जिह्वा चाऽसती। भगवता हि सर्वेन्द्रियेभ्यो विरलेयं कृता रक्षिता च। सर्वदा च दन्तेभ्यो रक्षां करोति। एवमपि सा न भगवत्परा, किन्तु व्यभिचारिणीवाऽन्यस्तोत्रकरणादन्यगामिनी। तत्राऽपि विशेषमाह। दार्दुरिकेव भेकजिह्वेव। तस्याःजिह्वा न भगवता पथक्कृता। न रक्षकत्वेन दन्ता दत्ताः। सा स्वत एव परुषा कीटादीन् भक्षयति । तथाऽस्याऽपि जिह्वा नियामकरहिता स्वत एव क्रूरा परघातार्थं प्रवृत्तेत्यर्थः। एवमपि दुष्टा विषयार्थमप्युरुगायगाथाश्चेद्गायति तदपि न काचिच्चिन्तता। तदपि नास्तीत्याह—न चोपगायतीति। पट्टाभिषिक्तस्य शिरः कुत्राऽपि न नमते। तादृशमपि पट्टकिरीट जुष्टं पट्टकिरोटाभ्यां प्रीत्यत्यासेवित,मोक्षदातारं चेन्न नमेत्तदा उत्तमाङ्गमपि भार एव। सामान्योपयोगस्याऽप्यसिद्धत्वात्। भोगजीवने तु पूर्वमेव निषिद्धे। अतिभारवाहकोऽपि हि न नमति शावौ शवसम्बन्धिनौ अन्तःप्राणरहितौ। तथाऽन्तर्भगवत्सेवारहितौ। उपरिशोभाऽपि तत्रापि शवालङ्करणैः क्रियते। अत्राऽपि काञ्चनकङ्कणौ

वेत्यनादरे। नयने पुनः मुखशोभां कुर्वती प्रयोजनान्तराभावान्मयूरपिच्छनेत्रवद्भगवतो वैचित्र्यं ज्ञापयतः। नतु तत्र चैतन्यम्। भगवतो हि द्विविधा सृष्टिः। चेतना, अचेतना च भगवत्कार्य रहिता। चैतन्यस्य भगवद्रूपत्वात्। बर्हवदाचरतीति बर्हायितम्। लिङ्गानीति। भक्ता अधिष्ठानानि च। ये न निरीक्षतः न पश्यतः। पादावपि जङ्गमस्था अपि द्रुमजन्मैव भजतः। द्रुमे जन्म द्रुमजन्म। यद्यपि पानसाधनं न भवतस्तथापि भूमिस्थितिमात्रे तदुपयोगात्तत्तुल्यता स्वावयविनमुच्चतया स्थापयतः। जीवन् शवः। शवो हि द्विविधः। अर्द्धजले पतितो द्विविधस्तिष्ठति मुमूर्षम्र्तश्च। तत्रभागवताङ्घ्रिरेणुं यो न लभेत आतिथ्येन तत्पूजां न कुर्यात्, यस्य वा गृहे ते कदापि नायान्ति, स तु केवलं मरणार्थमेव जीवतीत्यर्थः। यस्तु भगवत्प्रसादं न प्राप्नोति केनाऽपि प्रकारेण तस्य तु जीवनमपि नास्ति। जीवनरूपस्य भगवदीयरसस्याऽभावात्। परं श्वसिति। यथाऽर्द्धजले चेतनारहितः केवलं श्वसिति। अन्येषामपि कार्यं रुणद्धि। तथा श्रीविष्णुपदैकनिष्ठत्वेनैव या प्रसिद्धा तुलसी तस्या गन्धं कदापि नाऽऽघ्रातवान् भगवच्चरणारविन्दप्रसादत्वेन न गृहीतवान्। घ्राणस्य गन्धग्राहकत्वात्। तुलस्यां गन्धस्य च विद्यमानत्वात् सर्पपुच्छच्छेदने चलनवदिन्द्रियतदधिष्ठातृदेवतापगमात्केवलं क्रियामात्रमस्तीत्याह—श्रीविष्णुपद्या इति ॥२०॥२१॥२२॥२३॥

व्याख्यार्थ—बत का अर्थ है खेद। अत्यन्त विचित्र जिनके चरित्र हैं उन भगवान् के चरित्रों को जिस पुरुष ने नहीं सुना उसके कर्णपुट तो बिल हैं। उन कानों में अपनो चाही हुई इन्द्रिय का अभाव होने से अपना अपकार करने वाले सर्परूप प्राकृत इन्द्रिय के रहने से शरीररूप घर में अपकार करने वाले के छेद हैं। जैसे घर में वैसे बिल में प्रविष्ट सर्प घर के स्वामी को खा जाता है। इसी तरह सांसारिक कथा इसके कानरूप बिल में घुसकर इसका सर्वनाश कर देती है। यह 'तांस्तान्क्षिपन्त्यशरणेषु तमस्सु हन्त' इस वाक्य से कही गई है। यह जीभ भी असती असाध्वो है। भगवान् ने इस जिह्वा इन्द्रिय को सबसेविरल ही बनाया है और इसकी रक्षाभी की है। इसकी दांतों से हमेशा रक्षा करते हैं इतना उपकार करने पर भी यह भगवत्पर नहीं है किन्तु व्यभिचारिणी स्त्री की तरह दूसरों की प्रशंसा (स्तुति) करती है। भगवान् की नहीं। अतः अन्यगामिनी होने से असती है। उसमें भी फिर विशेष बताते हैं कि वह जीभ मेंढ़क की जीभ की तरह है। मेंढ़क की जीभ को भगवान् ने अलग नहीं बनाई है और न उसकी जीभ की रक्षा के लिए भगवान् ने दांत दिये हैं। वह जीभ स्वतः ही कठोर है और कीड़े आदि को खाती है। उसी तरह इस पुरुष की जीभ भी नियामक से रहित है और स्वतः ही क्रूर है और दूसरे के घात में लगी रहती है। इतना होने पर भी यह दुष्ट जीभ विषयों के लिए भी यदि भगवद् गाथा को गाती हो तो भी कोई चिन्ता नहीं परन्तु इस जीभ में यह भी तो नहीं है। जिस राजा का पट्टाभिषेक हो जाता है उसका सिर किसी के लिए झुकता नहीं। वह सिर भी जो पट्ट और किरीट से प्रीति से सेवित मोक्ष देने वाले (मुकुन्द) के लिए यदि नहीं झुकता है तो वह उत्तमाङ्ग सिर भी भार ही है। उस सिर का अन्य कोई सामान्य उपयोग भी तो नहीं है। भोग का और जीवन का तो पहले ही निषेध किया जा चुका है। उत्तमाङ्ग सिर को भार इसलिये कहा कि भार को वहन करने वाला झुक नहीं सकता। भगवत्सेवा में अनुपयुक्त हाथ अन्तःप्राण रहित शव के हाथ को तरह है जैसे शव के हाथ अन्तःप्राण रहित है उसी तरह भगवत्सेवा रहित हाथ भी अन्तःप्राण रहित हैं। हाथों के ऊपर की शोभा भी मरे हुए के हाथ में पहनाये गये कंकणों की तरह है। यदि भगवत्सेवा से विमुख है तो ऐसे हाथों में पहने हुए

सोने के कङ्कण भी उसी तरह समझना ऐसे हाथ आदर के पात्र नहीं है यह वा से सूचित होता है। नेत्र मनुष्य के मुख की शोभा को करते हैं इसके अतिरिक्त उनका और कोई प्रयोजन नहीं है किन्तु मोरपंख की आंख जैसी होने से भगवान् के वे नेत्र विचित्रता को बताते हैं। अर्थात् वे नेत्र भी मोरपंख की तरह अचेतन है। भगवान् की सृष्टि दो प्रकार की होती है चेतन और अचेतन। उनमें अचेतन सृष्टि भगवान् का कार्य नहीं करती। और चैतन्य सृष्टि तो भगवद्रूप है। बर्हायितम् का अर्थ मोरपंख की तरह। लिङ्ग का अर्थ भगवान् के भक्त और भगवान् के विराजने का स्थान इनको जो नहीं देखते वे नेत्र मोरपंख के समान है। यद्यपि पैर चलने फिरने वाले के हैं परन्तु वे पैर यदि भगवत् क्षेत्रों में गमन नहीं करते तो उन्हें द्रुम जन्मभागी समझना अर्थात् उनका जन्म पेड़ों में हुआ है। यद्यपि वृक्ष तो अपने पैरों (मूल) से जल पीते हैं परन्तु इनसे पैरों से जल नहीं पिया जाता तथापि पृथ्वी पर ये वृक्ष भी रहते हैं और मनुष्य के पैर भी रहते हैं इसलिए पृथ्वी पर स्थिति मात्र से ही इनकी उपयोगिता समान रूप से है। ये पैर अपने अवयवी शरीर को उच्चरूप से रखते हैं। जीता हुआ भी मुर्दा होता है उसे जीवन् शवः कहते है। शव दो प्रकार का होता है। एक तो मरने वाला और एक मरा हुआ अर्द्धजल में पड़ा हुआ दोनों ही प्रकार से रहता है। इनमें जो भगवद्भक्तों की चरण रज को प्राप्त नहीं करता है आतिथ्य से उनकी पूजा नहीं करता है अथवा जिसके घर में वे भक्त कभी आते नहीं ऐसा पुरुष तो मरने के लिए जी रहा है। और जो भगवत् कृपा को किसी भी प्रकार से प्राप्त नहीं करता उसका तो जीवन भी नहीं है अर्थात् वह तो मरा हुआ ही है। क्योंकि उसके लिए जीवनरूप भगवदीय रस प्राप्त नहीं होता है। केवल श्वास ही लेता है। जैसे अर्द्धजल में चेतना रहित केवल श्वास ही लेता है। दूसरों के भी काम को रोक देता है तथा भगवान् के चरणारविन्द में ही जिसकी एक निष्ठा है और इसी रूप से प्रसिद्ध तुलसी गन्ध जिसने कभी सूंघी नहीं भगवान् के चरणारविन्द के प्रसाद रूप से उसे ग्रहण नहीं किया। गन्ध को ग्रहण करने वाला नाक मौजूद है और तुलसी में भी गन्ध विद्यमान है फिर भी उस तुलसी की गन्ध कभी नहीं ली। श्वसन् शवः का अर्थ है श्वास लेते हुए भी मरा हुआ। जैसे सांप की पूंछ काट देने पर वह पूंछ हिलती रहती है परन्तु अब उसमें इन्द्रिय और इन्द्रियाधिष्ठात् देवता तो चला गया है केवल अब तो इसमें क्रियामात्र ही है इसी को श्रीविष्णुपद्या आदि से कहा है॥ २०—२३॥

आभास—अन्तःकरणवैफल्यमाह—

आभासार्थ—अब अन्तःकरण की निष्फलता को कहते हैं—

श्लोक—**तदश्मसारं हृदयं बतेदं यद्गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः।**
न विक्रियेताऽथ यदा विकारो नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः॥२४॥

श्लोकार्थ—खेद है कि उस मनुष्य का यह हृदय लोहसार का (फौलाद का) बना है। भगवान् के नामों के लेने पर उसमें किसी प्रकार का विकार नहीं होता। जब विकार हो तो आंखों में आंसू आवे एवं शरीर में रोमाञ्च हों परन्तु ये कुछ भी उसमें नहीं होते॥ २४॥

सुबोधिनी—तदश्मसारमिति। बतेति खेदे। यद्यपि धैर्यं गुणः। भगवच्चरित्रमपि श्रुत्वा धीर एव वर्त्तते। तथापि लोहवत्तस्य धैर्यम्। अश्मनां सारभूतमिदमिति भक्त्यावेशात्स्वकीयमेव निन्दति। अनेन तत्र भगवच्चरणारविन्दस्थापनसम्भावना निवारिता। अतस्तत्प्रक्षालनं व्यर्थमिति भावः। यद्धृदयं गृह्यमाणैः स्वयमन्येन वा दुःखाभिनिवेशव्यावृत्त्यर्थं हरेर्नामधेयैर्वाचकैः पदैर्यदा विकारं न प्राप्नोति। यस्य हि गृहे भगवदागमनं सम्भावितं, तत्र हि मार्जननिषेचनाद्यलङ्कारा भवन्ति। यत्र तु सम्भावनैव नास्ति चाण्डालगृहवत्तत्र विक्रिया नोत्पद्यते। अथ विकारा निरूप्यन्ते परिज्ञानार्थम्। यदा विकारोऽन्तःकरणे भवेत्तदा द्वयं ज्ञापकं भवेत्। नेत्रे जलं रोमाञ्चश्च। विकारो हि भगवदीयत्वेन परिणामः। तदा तदीयानां वैष्णवत्वम्। तत्र रोम्णां वृक्षत्वादुन्नतिर्वैष्णवत्वाद्युक्ता। रसस्याऽन्तःपूरणाद्वा। नेत्रं च कमलं भवति सजलम्। अन्यथा स्वस्थानच्युतं केवलं शुष्कमिति भावः॥ २४॥

व्याख्यार्थ– खेद है कि यद्यपि धैर्य गुण है भगवच्चरित्र को सुनकर भी वह धीर है तथापि लौह की तरह उसका धैर्य है। यह लौह पत्थरों का सारभूत है इसलिए भक्ति का आवेश होने पर भी वह अपने हृदय की ही निन्दा करता है कि यह मेरा हृदय पत्थरों का सारभूत लौहा होते हुए भी इसमें भगवद्भक्ति की स्थापना कैसे हो गई। इससे उस हृदय में भगवान् के चरणारविन्द की स्थापना की सम्भावना ही नहीं है। इसलिए उस हृदय को धोना स्वच्छ करना व्यर्थ है। जो हृदय अपने द्वारा लिये गये भगवन्नामों से या दूसरों के द्वारा उच्चारण किये गये भगवच्चरित्रों से जो दुःख भिनिवेश को मिटाने वाले हैं। भगवान् के वाचक उन पदों से जब उसके हृदय में कोई विकार नहीं होता उस हृदय को लौह का ही समझना चाहिये। जिस घर में भगवान् के पधारने की सम्भावना होती है तो उस घर को झाड़ बुहार कर छिड़काव आदि से भूषित किया जाता है परन्तु जिस घर में (हृदय में) भगवान् के पधारने की सम्भावना ही नहीं है उस घर में चाण्डाल के घर की तरह उसमें कोई विक्रिया ही उत्पन्न नहीं होती। अब विकार क्या है उनको समझाने के लिए उनका निरूपण करते हैं। जब अन्तःकरण में विकार होता है तो वह दो प्रकार से समझा जाता है। एक तो नेत्रों में आंसू आ जाना और दूसरा शरीर में रोमाञ्च हो जाना। भगवदीय रूप से परिणत होने को विकार कहते हैं। तब भगवदीयों में वैष्णवता होती है। रोम वृक्षरूप हैं अतः वैष्णवता के कारण उनमें उन्नति होना उचित ही है। अथवा रस के अन्दर भर जाने से वे रोम ऊपर उठते हैं। और रस के अन्दर भर जाने से ही नेत्र कमल की तरह सजल हो जाते हैं। अन्यथा जल से अलग होने वाले कमल तो सूख जायेंगे। २४॥

आभास – तस्मात्सर्वेन्द्रियाणां देहादेश्च साफल्यार्थं भगवत्कथामभिधेहीत्याह—

आभासार्थ—इसलिये सब इन्द्रियों को और देह को सफल बनाने के लिये भगवत्कथा कहनी चाहिये इसे कहते हैं—

श्लोक—**अथाऽभिधेह्यङ्ग मनोऽनुकूलं प्रभाषसे भागवतप्रधानः।**
यदाह वैयासकिरात्मविद्याविशारदो नृपतिं साधु पृष्टः॥ २५॥

श्लोकार्थ—हे सूत ! तुम भक्तों में प्रधान हो और हमारे मन के अनुकूल बोलते हो अतः भगवच्चरित्र को कहो । आत्मविद्या में कुशल श्रीशुकदेवजी ने राजा के पूछे जाने पर जो भगवत्कथा कही वह कथा कहो ।। २५ ।।

सुबोधिनी—अथाऽभिधेहीति । अङ्गेति कोमलसम्बोधनम् । अर्थाभिप्रायविचारव्यतिरेकेणाऽपि श्रवणमात्रेणैव त्वद्वाक्ये मनोहरताऽनुभूयते । अतस्त्वं भागवतप्रधानः । त्वद्वाक्ये भगवत्सम्बन्धात् । परं वैयासकिर्यदाह । स हि बहिर्मुखां वार्त्तां न करिष्यति । आत्मविद्यायां निपुणत्वाद्व्यासपुत्रत्वाच्च । राजानं प्रति तेनैव प्रश्ने कृते कथकत्वाच्च । अनेन लोकवेदभक्त्यविरुद्धं तद्वचनमित्युक्तं भवति ।।२५ ।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षित-विरचितायां द्वितीयस्कन्धे तृतीयोऽध्यायः ।। ३ ।।

व्याख्यार्थ— अङ्ग यह कोमल सम्बोधन है । अर्थ और अभिप्राय का विचार न भी करे तो भी केवल तुम्हारे वाक्य के सुनने मात्र से ही मनोहरता का अनुभव होता है । इसोलिए तुम भक्तों में प्रधान हो क्योंकि तुम्हारे वाक्य में भगवान् का सम्बन्ध है । परन्तु वे ही वाक्य तुम हमारे को कहो जिन्हें श्रीशुकदेवजी ने कहा है । वे शुकदेवजी भगवदतिरिक्त बात कभी नहीं करते । क्योंकि शुकदेवजी आत्मविद्या में निपुण हैं और व्यासजी के पुत्र हैं । राजा ने जो प्रश्न किया उसके उत्तर में जो उन्होंने कहा वह ही कहें इससे यह सिद्ध होता है कि शुकदेवजी का वचन लोक-वेद और भक्ति के विरुद्ध नहीं होता है ।। २५ ।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण द्वितीय स्कन्ध की अखण्ड भूमण्डलाचार्य श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) के श्रोता के हृत्प्रसाद प्रकरण का तृतीय अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण

❀ भजन रहित जीव की गति ❀

भजन विन जीवत जैसे प्रेत ।
मन मलीन घर घर डोलत है उदर भरन के हेत ।।
मुख कटु वचन करत पर निन्दा, सब काहु दुःख देत ।
जो कहुं पावत पाप को पैसा गाड धूर में देत ।।
सेवा नहीं गोविन्द चन्द की भवन नील को खेत ।
सूरदास बहुत कहा, कहों डूब्यो कुटुम्ब समेत ।।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद् भागवत महापुराण ●

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

द्वितीय स्कन्ध

(श्रवणाङ्ग स्कन्ध-ज्ञान लीला)

द्वितीय साधन-हृत्प्रसाद-(श्रद्धा)-चित्तशुद्धि प्रकरण-२

(वक्ता का हृत्प्रसाद)

अध्याय—४

राजा का सृष्टि विषयक प्रश्न और शुकदेवजी का कथारम्भ

कारिका—साधनं द्विविधं प्रोक्तं क्रियाकर्तृविभेदतः ।
पूर्वाध्याये क्रियाङ्गानि वर्णितानि द्विरूपतः ॥१॥
प्रश्नेऽप्युत्तरशेषत्वात् क्रियायाश्च निरूपणात् ।
स्वरूपतो ज्ञानतश्च कार्यसिद्धिर्यतो द्विधा ॥२॥
साधनं श्रोतृवक्त्रोश्च विमर्षाधिक्रिया यतः ।
तदुच्यते मुख्ययोर्हि प्रश्नस्त्वाद्ये ससाधनः ॥३॥
ज्ञात्वाऽथ नमनं देवे गुरावपि विशेषतः ।
सामान्यमुत्तरं यद्धि तद्वक्तुरधिकारकृत् ॥४॥
अतोऽध्याये चतुर्थे तु परीक्षिच्छुकयोः क्रमात् ।
विमर्षणाधिकारो हि विचाराङ्गं निरूप्यते ॥५॥

व्यवसायात्मिका बुद्धिर्ममतात्याग एव च ।
कथायाः श्रवणे श्रद्धा संन्यासो ज्ञानमेव च ।
प्रश्नाच्चतुष्टयं पूर्वं श्रोतुरङ्गमिहोच्यते ।।६।।

कारिकार्थ—अब चौथे अध्याय की व्याख्या करते हुए आचार्यचरण संगति को बताने के लिए दो कारिकाओं से पूर्वाध्याय के अर्थ का अनुवाद करते हैं । क्रिया और कर्त्ता के भेद से दो प्रकार का साधन कहा उसमें श्रवण और कीर्त्तनरूप दो क्रियाएं हैं उनके कर्त्ता भी परीक्षित और श्रीशुकदेवजी हैं । पूर्व अध्याय में साक्षात् और परम्परा भेद से दो रूप से श्रवणादि क्रिया के अङ्ग भगवद्रति और भगवदीय सङ्ग इन दोनों को सिद्ध करने वाला भगवान् की कथा में अनुराग है । यह कहा । इस तरह यह साक्षात् अङ्ग और परम्परारूप अङ्ग भेद से दो प्रकार के हैं । भगवान् में प्रेम और कथा में अनुराग यह श्रवण कीर्त्तन का साक्षात् अङ्ग हैं । भगवदीय का सङ्ग तथा उसको प्राप्त करने की इच्छा यह परम्परारूप अङ्ग है । यह दोनों ही अङ्ग जैसे परीक्षित के प्रश्न के उत्तर में है उसी तरह शौनकजी के किये गये प्रश्न के उत्तर में भी समझना । इस तरह पूर्व अध्याय के अर्थ का अनुवाद करके उत्तर में भी उनकी हेतुता जिस तरह है उसे समझाने के लिए चतुर्थ अध्याय के अर्थ को साढे चार कारिका से कहते हैं । जिसके द्वारा श्रोता और वक्ता का विमर्श में अधिकार होता है वह साधन कहा जायगा । उसमें प्रथम श्रोता और वक्ता के हैं उनका प्रश्न श्रोत के विषय में सद्बुद्धि आदि रूप साधन जानकर देवता और गुरु को भी विशेष रूप से नमन करते हैं । यद्यपि यह उत्तर सामान्य रीति से नमन में आ जाता है इससे वक्ता का अधिकार सिद्ध होता है । इसलिए चतुर्थ अध्याय में परीक्षित और शुकदेवजी का क्रम से विमर्षणाधिकार है यह विचार का अङ्ग है इसका निरूपण है । व्यवसायात्मिका बुद्धि और ममता का त्याग, कथा के सुनने में श्रद्धा, सन्यास (सर्वपरित्याग) और ज्ञान ये चार श्रोता के अङ्ग है इनका निरूपण प्रश्न से यहां किया जायगा ।। १—६ ।।

आभास—एवं पूर्वाध्यायान्ते राज्ञः शुकस्य च सम्बन्धिनी कथा वक्तव्येति प्रश्न उक्तः । तत्रोत्तरमाह—**वैयासकेरिति** चतुर्भिः ।

आभासार्थ—इस तरह पूर्व (तृतीय) अध्याय के अन्त में शौनक ने राजा और शुकदेवजी से सम्बन्ध रखने वाली कथा को कहने के लिए प्रश्न किया था उसका उत्तर यहां चार श्लोकों से देते हैं—

सूत उवाच—श्लोक—**वैयासकेरिति वचस्तत्त्वनिश्चयमात्मनः ।**
उपधार्य मतिं कृष्णे औत्तरेयः सतीं व्यधात् ।।१।।

श्लोकार्थ—सूतजी ने कहा, आत्मा के तत्व का निश्चय जिसमें है ऐसा व्यासपुत्र श्रीशुकदेवजी का वचन सुनकर और उसका विचारकर हृदय में स्थापित करने के अनन्तर उत्तरापुत्र राजा परीक्षित ने अपनी श्रेष्ठ बुद्धि को भगवान् कृष्ण में लगा दी ।।१।।

सुबोधिनी—प्रथमतो भगवति सती मतिरुत्पन्नेत्याह । यद्यपि पूर्वं भगवति मतिः स्थितैव तथापि श्रद्धामात्रेण सा जातेत्यज्ञानसहिता सा असतीवदेव भवति । इदानीं सामान्यतो भगवन्तं ज्ञात्वा अस्ति कश्चिद्भगवान्फलरूपो भक्तिसाध्यः श्रवणादिना सेव्य इति सर्वरूपोऽन्तरश्च । तस्मिन्ध्याते तत्सायुज्यं च फलमिति । तद्भजनार्थमेव सर्वा कामना कर्तव्या । साधनानि च तत्रैव योजयितव्यानीति वैयासकेर्वचः श्रुत्वा । अनेनाऽऽत्मतत्त्वं आत्मनो भगवतः स्वस्य च तत्त्वं याथात्म्यं विनिश्चित्य, मनसि पुनर्विचार्य, तद्हृदये स्थापयित्वा, आराध्यो भगवान् सर्वदेति सद्बुद्धिं कृतवानित्यर्थः ।।१।।

व्याख्यार्थ—सर्वप्रथम तो राजा की भगवान् में सती (निश्चल) बुद्धि उत्पन्न हुई । यद्यपि राजा की बुद्धि पहले भी भगवान् में थी ही परन्तु वह श्रद्धा के कारण से थी । इसलिए अज्ञान के सहित होने वाली भक्ति असती की तरह ही होती है । और इस समय तो सामान्य रूप से भगवान् को जानकर फलरूप भगवान् भी कोई है और वे भक्तिसाध्य हैं । श्रवणादि से सेव्य हैं । सर्वरूप और सबके अन्दर रहने वाला है । उसका ध्यान करने से सायुज्य फल भी मिलता है । उन भगवान् के भजन के लिए ही सब कामना करनी चाहिये । साधनों का विनियोग भी भगवान् में ही करना चाहिये । इस तरह व्यासपुत्र शुकदेवजी के वचन को सुनकर इससे आत्मारूप भगवान् के और स्वयं के तत्त्व को यथावत् निश्चय करके मन में फिर विचारकर और उसे हृदय में स्थापित कर । सर्वदा भगवान् आराध्य हैं ऐसी सद्बुद्धि की ।। १ ।।

आभास—पूर्वं सामान्यतो गृहं त्यक्तमपि ममताया विद्यमानत्वादत्यक्तमिव भवति । तदिदानीं वैयासकेर्वाक्यात्त्यक्तवानित्याह—

आभासार्थ—पहले सामान्य रूप से घर का त्याग भी किया था परन्तु ममता के विद्यमान रहने से नहीं छोड़े हुए के समान होता है । अब शुकदेवजी के वचन से वास्तविक रूप से घर को छोड़ा इसे कहते हैं—

श्लोक—**आत्मजायासुतागारपशुद्रविणबन्धुषु ।**
राज्ये चाऽविकले नित्यं निरूढां ममतां जहौ ।।२।।

श्लोकार्थ—राजा ने देह, स्त्री, पुत्र, घर, पशु, धन, कुटुम्ब और अविकल राज्य में जमी हुई ममता का परित्याग किया ।। २ ।।

सुबोधिनी—आत्मेति । ममता हि व्याप्लुत्य भगवति प्रविष्टा । अतो ममताया उत्तमं विषयं प्राप्य, पूर्वस्थामसमीचीनां त्यजति । आत्मा देहः । जायासुतागाराः भार्यापुत्रगृहाः : गावो द्रविणं बन्धवश्च । तेषु । राज्ये च ससाधने सिंहासनोपवेशनप्रभृति अद्यावधि नित्यनिरूढां ममतां जहौ ।।२।।

व्याख्यार्थ—ममता डूबकर भगवान् में प्रविष्ट हो गई । ममता के लिये अब उत्तम विषय प्राप्त हो गया अतः पहले जो अयोग्य पदार्थों में ममता थी उस ममता ने उन सबका परित्याग कर दिया । यहां आत्मा से देह लेना । जाया सुतागार से भार्या पुत्र घर लेना पशु से गायें लेना तथा धन कुटुम्ब से ममता त्याग कर और साधन सहित जो राज्य है उससे सिंहासन के ऊपर जबसे बैठा था तब से लगाकर आज तक जो ममता जमी हुई थी उसका परित्याग कर दिया ।।२।।

आभास—पूर्वं यथा ममताविषये देहादावितिकृत्यचिन्तां करोति, तथेदानीं ममताविषये भगवति इतिकृत्यचिन्तापरपर्यायं सन्देहं तदुन्नतिसिद्ध्यर्थं पृष्टवानित्याह—

आभासार्थ- पहले जिस तरह ममता के विषय देह आदि के भरण-पोषण आदि की चिन्ता करता है उसी तरह अब ममता के विषय भगवान् है उनके विषय में इतिकृत्यचिन्ता जिसका पर्याय सन्देह है उसकी उन्नति की सिद्धि के लिये पूछा अर्थात् भगवान् में ममता कैसे बढे ऐसा प्रश्न पूछा-

श्लोक—पप्रच्छ चेममेवाऽर्थं यन्मां पृच्छथ सत्तमाः ।
कृष्णानुभावश्रवणे श्रद्दधानो महामनाः ।।३।।

श्लोकार्थ-हे शौनकजी ! भगवान् कृष्ण के माहात्म्य के विषय में जिस तरह आपने प्रश्न किया उसी तरह श्रद्धापूर्वक महामना परीक्षित ने भी प्रश्न किया था ।। ३ ।।

सुबोधिनी—पप्रच्छ चेति । चकारस्तूक्तसमुच्चयार्थः । जहौ पप्रच्छ च उक्तार्थस्य च साधनतासिद्ध्यर्थं तेन पूर्वमुत्तरमुक्तमितीदानीमपि पच्छ्यते । त्वत्पृष्टे तस्य च पृष्टे सरस्वतीसंवादो जात इत्याह । हे सत्तमाः, यन्मां पृच्छथ, इममेवार्थं स पृष्टवान् । शुकवाक्यस्य साधनत्वात्तस्य च भवतां च श्रोतृत्वेन तुल्यत्वाद्यथा भवतां तथा तस्याऽपि पृष्टे बुद्धिरुत्पन्ना युक्तेत्यर्थः । परम-

वान्तरभेदः कश्चिदस्ति । भवतां तु तद्वाक्यप्रकारेण पदार्थज्ञानेच्छा । तस्य तु भगवन्माहात्म्यज्ञानमेवेष्टमिति । तदाह—**कृष्णानुभावश्रवणे श्रद्दधान इति** । भगवन्माहात्म्यश्रवणे तस्य द्वयं जातं । श्रद्धा, मनसो विपुलता च । श्रद्धया तद्ग्रहणम् । विपुलतया अपूर्तिः ।।३।।

व्याख्यार्थ—यहां चकार पूर्वोक्त के समुच्चय में है अर्थात् स्त्री, पुत्र, धन आदि की ममता का त्याग किया और भगवान् के माहात्म्य के विषय में पूछा । पूर्वोक्त अर्थ की साधनता सिद्धि के लिए शुकदेवजी ने पहले उत्तर दे दिया था परन्तु फिर भी इस समय राजा पूछता है । सूतजी कहते हैं कि तुम्हारे प्रश्न में और राजा के प्रश्न में सरस्वती (वाणी) की एकता है । उसी को हे सत्तमाः इस सम्बोधन से सूचित किया । जो तुम पूछ रहे हो उसी का प्रश्न राजा ने भी किया था । शुकदेवजी का वचन साधनरूप है अतः राजा तथा आप दोनों ही में श्रोता होने से तुल्यता है इसलिए जिस तरह आपकी प्रश्न करने की बुद्धि हुई उसी तरह उसकी भी प्रश्न करने की बुद्धि हुई यह उचित ही है । प्रश्न में समानता होने पर भी कोई अवान्तर भेद है । आपके प्रश्न में तो उनके वाक्य के प्रकार से पदार्थज्ञान की इच्छा है और राजा को तो भगवान् के माहात्म्य का ज्ञान ही इष्ट था । उसी को 'कृष्णानुभावश्रवणे श्रद्दधानः' इससे बताया है । भगवान् के माहात्म्य को सुनने से उसमें दो बातें हो गई । एक तो श्रद्धा और दूसरी मन की विपुलता । श्रद्धा होने से तो भगवान् के माहात्म्य को ग्रहण किया और मन की विपुलता से अतृप्ति रही ।। ३ ।।

आभास—शिष्टमत्रत्यं कृत्यं कृतवानित्याह—

आभासार्थ—अब जो काम बाकी बचा था उसे उस राजा ने किया यह कहते हैं—

श्लोक—**संस्थां विज्ञाय संन्यस्य कर्म त्रैवर्गिकं च यत् ।**
वासुदेवे भगवति आत्मभावं दृढं गतः ।।४।।

श्लोकार्थ—राजा ने अपनी मृत्यु को आई हुई जानकर धर्म-अर्थ-काम सम्बन्धी पुरुषार्थों का पूर्ण रूप से परित्याग कर भगवान् वासुदेव में आत्मभाव की दृढ़ता को प्राप्त की ।। ४ ।।

सुबोधिनी - **संस्थां विज्ञायेति** । सप्तमेऽहनि मृत्युं विज्ञाय धर्मार्थकामोपयोगि कर्म त्यक्त्वा, तत्साधनान्यपि त्यक्त्वा, मोक्षदातरि भगवति वासुदेवे आत्मनः अन्तःकरणस्य भावं रतिं स्नेहं दृढं प्राप्य पप्रच्छेति सम्बन्धः । आत्मनः स्वरूपस्य वा सत्तामग्रे स्थितिरूपाम् । आत्मत्वं वा ।। ४ ।।

व्याख्यार्थ—सातवें दिन मेरी मृत्यु है यह जानकर धर्म-अर्थ-काम के उपयोगी कर्म तथा उनके साधनों का भी परित्याग करके मोक्ष देने वाले भगवान् वासुदेव में अन्तःकरण के स्नेह को दृढ़ बनाकर पूछा । आत्मा की या स्वरूप की आगे क्या स्थिति होगी या आत्मत्व क्या है यह प्रश्न किया ।। ४ ।।

आभास—एवं प्रश्नसाधनान्युक्त्वा प्रश्नं वक्तुमभिनन्दनमाह—

आभासार्थ—इस तरह प्रश्न के साधनों को कहकर प्रश्न करने के पूर्व शुकदेवजी का अभिनन्दन करता है—

राजोवाच—श्लोक—**समोचीनं वचो ब्रह्मन् सर्वज्ञस्य तवाऽनघ ।**
तमो विशीर्यते मह्यं हरेः कथयतः कथाम् ।।५।।

श्लोकार्थ—हे ब्रह्मन् आप सर्वज्ञ हैं आपके वचन बहुत सुन्दर हैं । आपके द्वारा कही जाने वाली भगवत्कथा से मेरा सब अज्ञान दूर हो रहा है ।। ५ ।।

सुबोधिनी- समीचीनमिति । यद्यपि त्वद्वचनस्याऽर्थो न ज्ञायते सर्वज्ञत्वात्तथापि त्वद्वचनं समीचोनम् । **ब्रह्मन्निति** सम्बोधनं वक्तुर्दोषाभावाय । अनघेत्यभिमानाद्यभावाय । तथापि मम स्वरूपाज्ञानरूपं तमस्त्वद्वाक्याद्विशीर्यते । तत्तु मदर्थमेवोक्तम् । त्रयं तु मया विनिश्चितं । त्वद्वाक्येन ममाऽज्ञानं नष्टम् । मदर्थमेव च त्वयोक्तम् । भगवतश्च कथा कथितेति । ५।।

व्याख्यार्थ—आप सर्वज्ञ हैं अतः आपके वचनों का अर्थ तो समझ में नहीं आता है तथापि आपके वचन बहुत सुन्दर लगते हैं । ब्रह्मन् यह सम्बोधन वक्ता में दोषों के अभाव को सूचित करता है और अनघ यह सम्बोधन अभिमान आदि के अभाव का सूचक है । अर्थ समझ में न आने पर भो मेरा स्वरूपाज्ञानरूप अज्ञान आपके वचनों से नष्ट हो रहा है । वह वचन आपने मेरे लिए ही कहे हैं । मैने तीन बात निश्चित की है । एक तो आपके वाक्य से मेरा अज्ञान नष्ट हुआ, दूसरा यह वाक्य मेरे ही लिए कहा और तीसरा आपने मुझे भगवान् की कथा ही कही ।। ५ ।।

आभास—अर्थापरिज्ञानात्सन्देहादिदानीं विशेषाः पृच्छ्यन्त इत्याह—

आभासार्थ— अर्थ समझ में न आने से सन्देह होता है इसलिए विशेष प्रश्न करता है—

श्लोक—**भूय एव विवित्सामि भगवानात्ममायया ।**
यथेदं सृजते विश्वं दुर्विभाव्यमनीश्वरैः ।
यथा गोपायति विभुर्यथा संयच्छते पुनः ।।६।।

श्लोकार्थ—मैं और यह जानना चाहता हूं कि अल्पज्ञ लोगों की समझ में न आने वाले इस विश्व की सृष्टि भगवान् अपनी आत्ममाया से जिस तरह करते हैं तथा जिस तरह रक्षा और संहार करते हैं । वह आप कहिये ।।६।।

सुबोधिनी—भूय एवेति । विवित्सामि ज्ञातुमिच्छामि । तत्र सन्देहपञ्चकम् । **उत्पत्तिस्थितिलयेष्वाधारे साधनेषु च ।** तत्रोत्पत्तौ सन्देहमाह— **यथेदमिति ।** इदं जगत् यथा सृजते । किं कुम्भकारवत्? आहोस्वित्सिद्धवद्वाङ्मात्रेण? आहोस्विद्योगिवन्मनसा ? आहोस्वित्कल्पवृक्षवत्प्रसूते ? आहोस्विदभिव्यनक्ति ? इत्युत्पत्तौ पञ्च सन्देहाः। एत एव रक्षाप्रलययोरनुवर्त्तन्ते । किञ्च । **दुर्विभाव्यमनीश्वरैरिति ।** ये मया पञ्च प्रश्नाः कृतास्ते केऽपि भगवति न सम्भवन्ति । यत उत्पाद्यमानस्य मनसाऽप्याकलयितुमशक्यत्वात् । एवमुत्तरत्राऽपि । तर्हि न करोत्येवेति किमिति न निश्चीयते । न पालयति चेति । तत्राऽऽह – **विभुरिति । पुनरिति ।** पुनःपुनर्नाशितस्य नाशनमुत्पादितस्य चोत्पादनमिति ।।६।।

व्याख्यार्थ 'विवित्सामि' जानना चाहता हूं । इसमें पांच प्रकार के सन्देह हैं– १. उत्पत्ति २. स्थिति ३. लय ४. आधार और ५. साधन उसमें उत्पत्ति के विषय में सन्देह करता है कि जिस तरह इस जगत् की सृष्टि करते हैं । क्या कुम्हार घड़ा आदि बनाता है उस तरह या सिद्ध की तरह वाणी मात्र से अथवा योगी की तरह मन से या कल्पवृक्ष की तरह उत्पन्न करते हैं अथवा सृष्टि को अपने अन्दर से ही अभिव्यक्त कर देते हैं इस तरह उत्पत्ति में पांच सन्देह हैं । इसी तरह रक्षा में और प्रलय में भी ये ही पांच प्रश्न हैं । यह बात अनीश्वरों अल्पज्ञों की समझ में नहीं आ सकतो । ये मैंने जो पांच प्रश्न किये हैं इन पांचों की ही सम्भावना भगवान् में नहीं हो सकती क्योंकि जो जगत् उत्पन्न किया गया है उसकी कल्पना मन से भी नहीं कर सकते इसी तरह इसकी रक्षा की एवं प्रलय की कल्पना भी नहीं की जा सकती तो फिर ऐसा ही निश्चय क्यों नहीं कर लेते कि भगवान् इसकी उत्पत्ति इसकी रक्षा एवं इसका प्रलय नहीं करते । इस पर कहते हैं कि भगवान् विभु हैं । नष्ट को भी बार-बार नष्ट करते हैं और उत्पन्न हुए को भी फिर उत्पन्न करते हैं जैसे लकड़ी आदि को नष्ट कर उससे अग्नि को उत्पन्न किया और उस अग्नि को नष्ट कर भस्म की उत्पत्ति फिर उस भस्म को भी वायु के द्वारा उड़ाकर अथवा जल में विलीन कर नष्ट कर दिया ।। ६ ।।

आभास—चतुर्थं प्रश्नमाह—

आभासार्थ—अब चौथे प्रश्न को कहते हैं—

श्लोक—**यां यां शक्तिमुपाश्रित्य पुरुशक्तिरयं पुमान् ।**
आत्मानं क्रीडयन् क्रीडन् करोति विकरोति च ।।७।।

श्लोकार्थ—अनेक शक्ति वाले ये भगवान् जिस-जिस शक्ति को आश्रय लेकर स्वयं को क्रीड़ा कराते हुए स्वयं अपने से ही जगत् को विरुद्ध प्रकार से या विविध प्रकार से करते हैं यह कहें ।। ७ ।।

सुबोधिनी— यां यां शक्तिमिति । अत्र सृज्यः कः पदार्थः । किं केवल आत्मा, शक्तिसहितो वा । साहित्येऽपि किमात्मैवोत्पद्यते, शक्तिरेव वा । इति सन्देहे, तेष्वपि पक्षेषु कालभेदेन कृतिभेदेन वा व्यवस्थितेषु एकस्यां कृतौ यां शक्तिमुपाश्रित्य पुनर्द्वितीयकृतौ यां शक्तिमिति । एवं पञ्चस्वपि । तत्राऽप्यवान्तरभेदाः सन्ति । यतः **पुरुशक्तिः** । कालभेदाश्च बहवः सन्ति । यतः कालादिनियन्ता अयं पुमान् । आत्मानमेव करोति, विरुद्धमपि करोति, न करोति, विविधं वा करोति । अथवा । आत्मानमेव क्रीडयन्नन्यदेव किञ्चित्करोतीत्यादि सम्बन्धः । अथवा । क्रीडन्नात्मानमेव करोतीति । चकारादन्येऽपि पक्षाः स्वयमूह्याः ॥७॥

व्याख्यार्थ—यहां उत्पन्न किया जाने वाला पदार्थ क्या है । क्या केवल आत्मा है या शक्ति सहित आत्मा है । शक्तिसहित आत्मा में भी क्या आत्मा ही उत्पन्न होता है या शक्ति ही उत्पन्न होती है । इस सन्देह में उन पक्षों में भी कालभेद से अथवा कृतिभेद से जो व्यवस्थाएं हैं उनमें एक कृति में जिस शक्ति को लेकर फिर द्वितीय कृति में जिस शक्ति को लेकर इस तरह पांचों ही में । और उन पांचों ही में अवान्तर भेद भी है । क्योंकि भगवान् अनन्त शक्ति वाले हैं और कालभेद भी बहुत है और काल आदि के नियन्ता ये भगवान् हैं । ये भगवान् स्वयं को ही विश्वरूप में कर देते हैं, विरुद्ध भी कर देते हैं, नहीं भी करते हैं और अनेक प्रकार से भी करते हैं । अथवा आत्मा को ही क्रीड़ा कराने के लिए अन्य ही कुछ कर देते हैं । अथवा क्रीड़ा करते हुए अपने ही को विश्वरूप में कर देते हैं । च से अन्य अनेक पक्ष भी स्वयं विचार लेने चाहिये ॥ ७ ॥

आभास—तर्ह्येवमनेकधा सन्देहे गुरुः प्रश्नं नाऽर्हति । अतिवादात् । अतोऽन्य एव प्रष्टव्य इत्याशङ्क्याऽऽह—

आभासार्थ—तो इस तरह अनेक सन्देह होने से तो गुरु से प्रश्न ही नहीं करना चाहिये । क्योंकि यह तो अतिवाद हो जाता है । अतिवाद तो उपेक्षा का विषय है 'अतिवादांस्तितिक्षेत' अतः भगवद्विषयक प्रश्न को छोड़कर तुम्हारा प्रष्टव्य तो अन्य हो गया है इस आशंका पर कहते है—

श्लोक—**नूनं भगवतो ब्रह्मन् हरेरद्भुतकर्मणः ।**
दुर्विभाव्यमिवाऽऽभाति कविभिश्चाऽपि चेष्टितम् ॥ ८ ॥

तथा गुणांस्तु प्रकृतेर्युगपत्क्रमशोऽपि वा ।
बिभर्ति भूरिशस्त्वेकः कुर्वन्कर्माणि जन्मभिः ॥ ९ ॥

श्लोकार्थ—हे ब्रह्मन् ! अद्भुतकर्मा भगवान् की यह चेष्टा विद्वानों के भी समझ में नहीं आ सकती । प्रकृति के गुणों को भगवान् एक साथ ही या क्रमशः ग्रहण करते हैं और अकेले ही भगवान् को इन कर्मों के करने में अनेक जन्म ग्रहण करने पड़ते होंगे ॥ ८ ॥ ९ ॥

सुबोधिनी - **नूनमिति** । **ब्रह्मन्नित्यतिप्रश्नेऽ**प्यक्षोभाय । **भगवतो हरेरिति** दुःखाभ वसुखयोः सिद्धयर्थमुक्तम् । **किञ्च** । सामान्यत एव भगवतश्चरित्रं दुर्बोधं केन गुणेन करोतीति । तत्रापि हरेः । अन्यदुःखनिवारणार्थं करोति । तत्राऽन्येषामानन्त्य दुःखानां चाऽऽनन्त्यात् केन प्रकारेण कृते सर्वेषां दुःखं गच्छतीति न ज्ञायते । तत्राऽप्यद्भुतकर्मणः । अन्यत्करोत्यन्यत्सम्पद्यत इति । अतएव कविभिरपि निपुणैरप्यनेकधा कल्पकैरपि दुर्विभाव्यम् । अतो नाऽन्यः प्रश्नमर्हतीत्यर्थः । **किञ्च** । केन साधनेन भगवान्करोति । गुणैरिति चेत् । तान्गुणान्किं क्रमशो गृह्णाति । युगपद्वा । न हि सर्वं युगपदुत्पद्यन्ते लीयन्ते वा । **किञ्च** भूरिशो वा गृह्णाति । प्रकृतेर्गुणान्बहुविधान्कृत्वा भूरिशो राशिप्रकारेण गृह्णाति । अथवा । तु पुनः स्वयमेकोऽप्यनेको भूत्वा युगपदादिभेदेन (?) गृह्णातीति । **किञ्च** । कर्माणि जन्मभिः कुर्वन् । नानाजन्मानि कृत्वा कर्माणि कुर्वन्करोति । कर्माधीनतया करोतीत्यर्थः ।।८।।९।।

व्याख्यार्थ—मैंने कुछ अधिक प्रश्न कर लिये हैं परन्तु आपको फिर भी क्षोभ नहीं होगा इसको बताने के लिए ब्रह्मन् यह सम्बोधन दिया है । भगवतः और हरेः ये पद दुःखाभाव और सुख की सिद्धि के लिए दिये हैं । ऐसे तो सामान्यरूप से ही भगवान् के चरित्र दुर्बोध हैं उन्हें भगवान् किन गुणों से करते हैं । उसमें भी हरि के । भगवान् हरि हैं अतः वे दुःख निवारण के लिए ही चरित्र करते हैं । उसमें भी अनन्त लोगों के दुःख भी अनन्त हैं । उन दुःखों को हरि किस प्रकार से और क्या करने से सब का दुःख दूर हो जाता है यह समझ में नहीं आता । उसमें भी फिर भगवान् के कर्म अद्भुत हैं । करते कुछ और हैं और होता कुछ और है । इसलिए निपुण लोगों से भी जो अनेक प्रकार की कल्पना कर सकते हैं उनकी भी समझ में नहीं आता । समझ के बाहर होने से प्रश्न भी कोई क्या करे और यह भी समझ में नहीं आता कि भगवान् किस साधन से इसे करते हैं यदि गुणों से करते हैं तो उन गुणों को क्या क्रमशः ग्रहण करते हैं या एक ही साथ ग्रहण करते हैं । सब एक ही साथ उत्पन्न नहीं हो सकते और न सब एक ही साथ लय को भी प्राप्त हो सकते हैं । क्या प्रकृति के बहुत से गुणों का ग्रहण करता है अर्थात् प्रकृति के गुणों को बहुत प्रकार के बनाकर बहुतों को एक राशिरूप प्रकार से ग्रहण करता है । अथवा स्वयं एक होते हुए भी अनेक होकर एक साथ आदि भेद से ग्रहण करता है । कर्मों को जन्मों से करता हुआ अनेक जन्म लेकर कर्मों को करने के प्रकार से करता है । अर्थात् कर्मों के अधीन होकर कर्म करता है क्या ? ।। ८ ।। ९ ।।

आभास—एवं पञ्चप्रश्नान्निरूप्य साभिलाषतया प्रश्नानुपसंहरति—

आभासार्थ—इस तरह पांच प्रश्नों का निरूपण करके अब उत्कट इच्छा से प्रश्नों का उपसंहार करता है—

श्लोक—**विचिकित्सितमेतन्मे ब्रवीतु भगवान् यथा ।**
शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परस्मिंश्च भवान् खलु ।। १० ।।

श्लोकार्थ—मेरे ये सन्देह जिस प्रकार दूर हो उस तरह से कहिये । आप शब्द-ब्रह्म (वेद) के तथा परब्रह्म के पूर्णरूप से ज्ञाता हैं ।। १० ।।

सुबोधिनी—विचिकित्सितमेतन्म इति । मह्यमेतज्ज्ञातुमिष्टं यथा यथावद्भगवान्ब्रवीतु कथयतु । कथने सामर्थ्यमाह । शाब्दे परस्मिन्नपि ब्रह्मणि तत्तत्साधनैर्भवान्निष्णातः । **खल्विति** प्रसिद्धे ।। १० ।।

व्याख्यार्थ—जिसे मैं जानना चाहता हूं उसे जिस तरह जान सकूं उस तरह आप मुझे कहिये । उस तरह कहने में आप का सामर्थ्य भी है । क्योंकि वेद के तथा परब्रह्म के विषय के जो-जो साधन हैं उनके आप पूर्ण जानकार हैं । यह प्रसिद्ध है । यह खलु पद से बताया है ।।१०।।

आभास—शुकोऽपि ससाधन उत्तरमाहेत्याह—

आभासार्थ—शुकदेवजी ने भी ससाधन उत्तर दिया इसे कहते हैं—

सूत उवाच—श्लोक—**इत्युपामन्त्रितो राज्ञा गुणानुकथने हरेः ।**
हृषीकेशमनुस्मृत्य प्रतिवक्तुं प्रचक्रमे ।। ११ ।।

श्लोकार्थ - सूतजी ने कहा, राजा ने इस तरह भगवान् के गुणों को कहने का प्रश्न किया तब श्रीशुकदेवजी ने बुद्धिप्रेरक भगवान् के गुणों का स्मरण करके उत्तर देना आरम्भ किया ।। ११ ।।

सुबोधिनी—इत्युपामन्त्रित इति । उपामन्त्रणं प्रार्थना । तदाऽस्मिन्नर्थे सर्वसन्देहवारको भगवानेवेति हृषीकेशं बुद्धिप्रेरकमनुस्मृत्य प्रत्युत्तरं दातुं प्रचक्रमे । उपक्रमं कृतवानित्यर्थः । उपक्रमो नाम देवतागुरुनमस्कारः । हरेर्गुणानुकथने उपामन्त्रित इति स्कन्धादावनुपक्रमे हेतुः ।। ११ ।।

व्याख्यार्थ—उपामन्त्रण का अर्थ है प्रार्थना । श्रीशुकदेवजी जानते हैं कि इस सन्देह का निवारण करने वाले भगवान् हैं अतः बुद्धिप्रेरक उन्हीं भगवान् का स्मरण करके प्रत्युत्तर देना प्रारम्भ किया । अर्थात् उपक्रम किया । गुरु और देवताओं के नमस्कार को उपक्रम कहते हैं । भगवान् के गुणों को कहने की प्रार्थना की थी इससे यह सिद्ध होता है कि बिना प्रार्थना के भगवान् के गुण नहीं कहने चाहिये यह भक्तिमार्ग का सिद्धान्त है । इसलिए अब देवता और गुरु को नमस्कार करते हैं । स्कन्ध के आरम्भ में नमस्कार इसलिए नहीं किया कि वहां भगवान् के गुणों को कहने का उसने प्रश्न नहीं किया था ।। ११ ।।

कारिका—**सर्वशास्त्रार्थनिर्द्धारः सप्तभिर्नमनोक्तिभिः ।**
पञ्चभिः प्रार्थनावाक्यैर्माहात्म्यं तस्य वर्ण्यते ।।१।।

एकेन व्यासनमनमेतावच्छुकभाषितम् ।
अन्यत्कथाप्रसङ्गेन परोक्त्या वा निरूपितम् ॥२॥
नमनादेव भगवान्सर्वसंशयवारकः ।
प्रार्थितः कामनां दद्यान्नाऽन्यथेति द्वयेरणम् ॥३॥

कारिकार्थ—नमन के सात श्लोकों में सब शास्त्रों का निर्धार है और पांच प्रार्थना के वाक्यों से उन भगवान् के माहात्म्य का वर्णन है। एक श्लोक से व्यासजी को नमस्कार किया है इतना तो श्रीशुकदेवजी का है और जो कहा है वह तो उन्होंने कथा प्रसङ्ग से अथवा अन्य की उक्ति से निरूपण किया है। नमन से ही भगवान् सब संशयों का निवारण करते हैं और प्रार्थना से सब कामनाओं का दान करते हैं। अतः श्रीशुकदेवजी ने नमन एवं प्रार्थना दोनों ही किये ॥ १–३ ॥

आभास—यद्यपि तेन पञ्च प्रश्नाः कृतास्तथापि सर्वसन्देहनिवारणार्थं भगवान्स्मृत इति तत्तत्सन्देहनिवृत्तिपूर्वकं भगवन्तमनूद्य नमस्करोति। तत्राऽऽदौ सृष्टिप्रकारे सन्दिहानं प्रति प्रकारं वदन्नमस्यति—

आभासार्थ—यद्यपि परीक्षित ने पाँच प्रश्न किये थे। तथापि सब सन्देहों के निवारणार्थ भगवान् का स्मरण किया इसलिये उन-उन सन्देहों को निवृत्तिपूर्वक भगवान् का अनुवाद करके नमन करते हैं। उनमें पहले उसे सृष्टि के विषय में सन्देह हुआ था अतः उसके लिए सृष्टि के प्रकार को कहते हुए नमन करते हैं—

श्रीशुक उवाच—श्लोक—**नमः परस्मै पुरुषाय भूयसे सदुद्भवस्थाननिरोधलीलया ।**
गृहीतशक्तित्रितयाय देहिनामन्तर्भवायाऽनुपलभ्यवर्त्मने ।१२।

श्लोकार्थ—श्रीशुकदेवजी ने कहा— जगत् की उत्पत्ति-स्थिति और लय के लिए माया के तीन गुणों की शक्ति को जिन्होंने ग्रहण की है और जो प्राणी मात्र के हृदय में स्थित है एवं जिसका मार्ग किसी की समझ में नहीं आ सकता, ऐसे सर्वश्रेष्ठ अनन्त पुरुष के लिए मेरा नमस्कार है ॥१२॥

सुबोधिनी—नम इति। आदौ परः असङ्गोदासीन एक एवेत्यर्थः। तदनु स एव पुरुषः। अनेनाऽशरीरस्य विष्णोः पुरुषशरीरस्वीकार आदौ कथितः। तदनु "**बहुस्यामि**" ति वांछया एक एव भूयान्। तदनु क्रीडार्थं जगदुत्पत्तिस्थितिसंहारैः स्वमायागुणभूतशक्तित्रयस्वीकारमाह—**गृहीतशक्तित्रितयायेति**। **सदितिवचना**दसतः सत्ता निवारिता। किञ्च। तस्योद्भवः

स्थानं निरोधश्च लीलार्थम् । सद्रूपेण भगवानुत्पद्यते तिष्ठति लीयते चेति । अनेन क्रमोऽपि दर्शितः । सदंशस्य व्यापकत्वात्सृज्यमानस्य परिच्छेदाभावाद्युगपदेव देशभेदेन एकत्र क्रमेणैव यथा लीला सम्पद्यते तथा करोतीत्यर्थः । तदनु तत्राऽन्तर्यामितया प्रविशतीत्याह—देहिनामन्तर्भवायेति । नहि बहिःस्थितोऽन्तःप्रविशति । किन्त्वन्तरेवाऽऽविर्भवतीत्यर्थः । सृष्टेर्नामरूपभेदेन द्वैरूप्यान्नामसृष्ट्यर्थं सर्वं सृष्ट्वा । सर्वमनुप्रविश्य । सर्वैरप्यनुपलभ्यं वर्त्म यस्य तादृशो जात इत्यर्थः । तेन गुरुवेदादिभिरेव तज्ज्ञानमित्यर्थः । १२ ॥

व्याख्यार्थ—सबसे पहले नमस्कार करते हुए भगवान् के लिए परस्मै पद दिया जिसका तात्पर्य यह है कि भगवान् असङ्ग, उदासीन और एक ही हैं। उसके अनन्तर उसी को पुरुष कहा। इससे यह बात बताई है कि अशरीर विष्णु ने आदि में पुरुष शरीर स्वीकार किया। तदनन्तर 'बहुस्यां प्रजायेय' मैं प्रकृष्ट रूप से बहुत हो जाऊं ऐसी इच्छा से वह एक ही बहुतरूप में हो गया। तदनन्तर अपनी क्रीड़ा के लिए जगत् की उत्पत्ति स्थिति और संहार के लिए अपनी माया गुणभूत तीन शक्ति का स्वीकार किया। सदुद्भव आदि में जो सत् पद दिया है उसका तात्पर्य यह है कि इस जगत् में असत् की सत्ता नहीं है किन्तु यह जगत् सत् (सत्य) है और इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और निरोध ये भगवान् की लीला के लिए ही है। अर्थात् सत् रूप से भगवान् उत्पन्न होते हैं, स्थित रहते हैं लीन होते हैं। इससे पहले उत्पत्ति तदनन्तर स्थिति और फिर लय होता है। ऐसा क्रम भी बताया। भगवान् का सदंश व्यापक है अतः सर्जन किये गये जगत् का परिच्छेद हो नहीं सकता इसलिए एक साथ ही देशभेद से एक जगह क्रम से जिस तरह लीला सम्पन्न हो वैसा करते हैं। तदनन्तर उसी में अन्तर्यामी रूप से उसमें प्रवेश करते हैं। इसको देहिनामन्तर्भवाय से बताया है। बाहर रहकर अन्दर प्रवेश नहीं कर सकता किन्तु वह अन्दर ही आविर्भूत होता है। सृष्टि नाम और रूप के भेद से दो रूप वाली है इसलिए नाम सृष्टि के लिए सबकी सृष्टि करके फिर सबमे प्रवेश करके। किसी से भी जिनकी गति समझ में नहीं आ सकती ऐसे हो गये। इसका तात्पर्य यह हुआ कि उनका ज्ञान गुरु और वेद आदि से ही हो सकता है ॥ १२ ॥

आभास—एवं भगवतो मूलरूपसमष्टिव्यष्टयन्तर्यामिफलरूपाणि पञ्च निरूपितानि सृष्टिस्थितिप्रलयभोगमोक्षार्थम् । इदानीमवतारप्रयोजनसन्देहं वारयन्नमस्यति—

आभासार्थ—इस तरह सृष्टि-स्थिति-प्रलय और भोग तथा मोक्ष के लिए (१) मूलरूप (२) समष्टिरूप (३) व्यष्टिरूप (४) अन्तर्यामी रूप और (५) फलरूप इन पांच रूपों का वर्णन किया। अब अवतार के प्रयोजन के विषय में जो सन्देह है उसका निवारण करते हुए नमन करते हैं—

श्लोक—**भूयो नमः सद्वृजिनच्छिदे सतामसम्भवायाऽखिलसत्त्वमूर्त्तये ।**
पुंसां पुनः पारमहंस्य आश्रमे व्यवस्थितानामनुमृग्यदाशुषे ॥१३॥

श्लोकार्थ—जो भगवान् सत्पुरुषों के दुःखों को दूर करने के लिए और सत्पुरुषों को मोक्ष देनें के लिए प्रकट होता है, जो अखिलसत्त्वमूर्त्ति है और जो संन्यास आश्रम में स्थित पुरुषों के लिए क्रममुक्ति साक्षान्मुक्ति आदि के अवान्तर भेदों से सामीप्यादि मुक्ति को देने वाले उन भगवान् को मैं फिर नमस्कार करता हूँ ।। १३ ।।

सुबोधिनी–**भूय** इति । अन्तर्यामितया करोत्येव पापादिनाशम् । बहिरपि करोतीति भूयःपदम् । अत्युपकारित्वाद्वा नमस्कारविशेषणम् । भगवतोऽवतारस्य सतां दुःखदूरीकरणमेव प्रयोजनम् । यद्यपि प्रकारान्तरेणाऽपि दुःखदूरीकरणं भवति, तथापि न सर्वात्मना तन्निवृत्तं भवति । सा दुःखसन्ततिर्भगवद्विनिर्गमनमारभ्य पुनः प्रवेशपर्यन्तमुद्भूतानुद्भूतरूपेण तिष्ठति । तां दूरीकर्त्तुं भगवत्सम्बन्ध एव शक्त इति मध्ये प्रादुर्भूतस्तां छिनत्ति । किञ्च । सतामसम्भवाय पुनरुत्पत्त्यभावाय । परब्रह्मणो देहग्रहणे, आविर्भावे वा नाऽन्यन्निमित्तमस्ति । सन्तो हि भगवद्धर्मसम्बन्धात्सत्त्व प्राप्ता नतु चिदानन्दत्वम् । पुनः सम्भवे सत्त्वसन्देहोऽपि । साधनानि तु सत्त्वएवोपक्षीणानि । अतो भगवान्स्वयमाविर्भूतस्तेषामाविर्भावाभावाय । अतो दुःखच्छेदनमल्पम् । तदीयो भावोऽपि स्वयमङ्गीक्रियत इति । किञ्च । **अखिलानि** सत्त्वानि सत्त्वगुणभेदा मूर्त्तौ यस्य । सत्त्वगुणः सर्वांशेन । तेन साधनापेक्षायामपि स्वयमेव सर्वसाधनानि करोति । देवान्वा आविर्भावयति । एतदर्थमेव सत्त्वगुणाविर्भाव इति लोकप्रसिद्धिः । अखिलानि सत्त्वानि जीवगणा मूर्त्तौ यस्येति वा । अनेनाऽनन्तजन्मसम्भवेऽपि तत्प्रतिनिधितया सर्वविधसर्वजीवानुत्पादितवान् । अतस्तेषां भगवदवतारेणैव स्वप्रतिनिधितया सर्वावतारान्नैवंविधोऽन्यो भक्तवत्सल इति भजनीयं रूपमुक्तम् । किञ्च । न केवलं भक्तानामेवोद्धारार्थे भगवानवतीर्णः किन्तु ज्ञानिनामपीत्याह—**पुंसामिति** । पारमहंस्ये आश्रमे व्यवस्थितानां प्रतिकल्पे संन्यासिरूपेणैव जातानां सनकादीनां ज्ञानेन पदार्थनैकट्यं भासमानानां दूरस्थितत्वेऽपि तथाभानरहितानां तदर्थमतिक्लेशं प्राप्नुवताम् । मृग्यं मृग्यमनु क्रममुक्तिसाक्षान्मुक्त्यवान्तरभेदानपि सामीप्यादीनपि दाशुषे दात्रे । अनुमृग्यानां दात्रे । वैदिकपदप्रयोगात्फलानां केवलवैदिकत्वम् । अनुमृग्यं विचार्यं वा । इदानीमपि जन्मकोटिभिर्विचारमेवार्हति । अतस्तेषां क्लेशनिराकरणाय स्वात्मद इत्यर्थः । न हि प्रकारान्तरेण भगवानात्मा लभ्यते । ज्ञानेनाऽप्यात्मत्वेन भासत एव । बालानां हस्ताग्रस्थचन्द्रवत् । **पुनरिति** पुनः पुनः । **पारमहंस्याश्रम इति** प्रत्यङ्निष्ठारूपे आश्रमे । तत्र प्रविष्टा अबहिर्मुखा एव भवन्तीति । हंसास्तु मानसेऽपि रमन्ते । परमहंसास्तु ततोऽप्यन्तरतमे आत्मन्येव । आत्मानात्मसङ्घाते वा आत्मविमर्शनादनुमृग्यत्वम् । १३।

व्याख्यार्थ—भगवान् अन्तर्यामी हैं अतः पापादि का नाश करते हो हैं और बाहर रहकर भो पाप नाश करते हैं इसके लिए भूयः पद दिया है । अथवा भूयः यह नमस्कार का विशेषण है, भगवान् अत्यन्त उपकारी हैं इसलिए उन्हें बार-बार नमन है । भगवान् के अवतार का प्रयोजन सज्जनों के दुःख को दूर करना ही है । यद्यपि प्रकारान्तर से भी दुःख दूर करना हो सकता है तथापि सर्वात्मरूप से वह दुःख दूर होता है । वह दुःखों की परम्परा भगवान् के विनिगम से लेकर पुनः प्रवेश पर्यन्त उद्भूत और अनुद्भूत रूप से रहती है । उस दुःख परम्परा को दूर करने में

भगवत्सम्बन्ध ही समर्थ है इसलिए मध्य में प्रादुर्भूत भगवान् उस दु:ख परम्परा को काट देते हैं और सतामसम्भवाय का अर्थ यह है कि सज्जनों में उन दु:खों की पुनः उत्पत्ति ही न हो इसके लिए। परब्रह्म के देहधारण का अथवा आविर्भाव का और कोई कारण नहीं है। सन्त तो भगवद्धर्म के सम्बन्ध से सत्त्व को प्राप्त हो जाते हैं चिदानन्द को नहीं। और फिर जब उनका जन्म होता है ता फिर उनमें सत्त्व का सन्देह भी नहीं रहता है। साधन तो सत्त्व में ही उपक्षीण हो जाते हैं। अतः उनके आविर्भाव के अभाव के लिए ही भगवान् स्वयं आविर्भूत हुए हैं। इसलिए उनके दु:ख दूर करने का काम तो अल्प है। उनका भाव भी स्वयं भगवान् अङ्गीकार करते हैं और जितने भी सत्त्वगुण के भेद हैं वे हैं मूर्त्ति में जिनके अर्थात् जिनमें सत्त्वगुण सर्वांश से विद्यमान है। इसलिए साधनों की यदि आवश्यकता होती है तो सब साधनों को भी स्वयं (भगवान्) ही करते हैं। अथवा देवों को प्रकट करते हैं। इसीलिए सत्त्वगुण का आविर्भाव भगवान् में है ऐसी लोक प्रसिद्धि है। अथवा अखिलसत्त्वमूर्त्तये का अर्थ है सभी जीवगण है मूर्त्ति में जिनके। इससे अनेक जन्म होने पर भी उनके प्रतिनिधि रूप भगवान् ने ही सब प्रकार के जीवों को उत्पन्न किया। अर्थात् जिनका उद्धार करना है उन सज्जनों के प्रारब्धवश से अनन्त जन्म की सम्भावना होने से उनकी मुक्ति में विलम्ब हो जायगा इसलिए 'तस्य पुत्रा दायादमुपयान्ति सुहृद: पुण्यकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्' इस श्रुत्युक्त न्याय से जिनका उद्धार करना है उनके प्रतिनिधि रूप से भगवान् ही सब प्रकार के उत्पादनों से उत्पादित जीवों का भगवान् ही अवतार लेकर उनका सम्मान या वध करके स्वप्रतिनिधि रूप से उनका जब भोग समाप्त हो जाता है तब उन उद्धार किये जाने वाले जीवों का प्रारब्धादि का सारा ही भार उतर जाने से फिर उनकी उत्पत्ति नहीं होती अर्थात् मुक्ति हो जाती है। इस प्रकार को बताने के लिए ही भगवान् को सब जीवों की मूर्त्ति कहा है। अतः भगवान् के जैसा भक्तवत्सल अन्य कोई नहीं है इस तरह भगवान् के भजनीय रूप को कहा। भगवान् केवल भक्तों के उद्धार के लिए ही अवतार नहीं लेते किन्तु अवतार ग्रहण करके ज्ञानियों का भी उद्धार करते हैं इसे पुंसाम् आदि से कहा है। पारमहंस्य आश्रम में ही जो व्यवस्थित हैं और प्रतिकल्प में संन्यासीरूप से ही जन्म ग्रहण करते हैं ऐसे सनकादिकों को ज्ञान से मुक्ति देते हैं। उनमें दो प्रकार के ज्ञानी हैं एक तो पूर्ण ज्ञानी और दूसरे अपूर्ण ज्ञानी। उनमें अपूर्ण ज्ञानी तो दया के पात्र हैं। उनके लिए क्रममुक्ति आदि का दान करते हैं। ये सब मुक्तियां मृग्य (ढूंढने योग्य) हैं। ज्ञानी और जीवनमुक्त भी इन मुक्तियों को ढूंढते हैं। भगवान् के दिये बिना उन्हें भी ये मुक्ति नहीं मिलती। अतः उनको मुक्ति देने के लिए ही भगवान् प्रकट होते हैं। दाशुषे इस वैदिक पद का यहां प्रयोग किया है इसलिये ज्ञानियों के लिए भगवान् केवल वैदिक फल देते हैं। अनुमृग्यं का अर्थ विचार करना चाहिये ऐसा भी होता है। ज्ञानी लोग इस जन्म में पूर्ण ज्ञान हो जाने पर तथा करोड़ों जन्मों में विचार ही करते रहते हैं परन्तु उन्हें भगवत्स्वरूप का साक्षात्कार नहीं होता अतः उनके क्लेश को दूर करने के लिए भगवान् स्वयं प्रकट होकर उन्हें अपने आत्मा का दान करते हैं। अन्य प्रकार से अवतार के बिना उन्हें भगवान् आत्मा उपलब्ध नहीं होते। ज्ञान से भी भगवान् केवल आत्मरूप से भासित ही होते हैं प्रत्यक्ष नहीं होते। इससे ज्ञान की व्यर्थता नहीं होती क्योंकि वैसा भान उन्हें हो जाता है। जैसे बच्चों के लिए चन्द्र हाथ के आगे स्थित है ऐसा भासित होता है प्रत्यक्ष नहीं। पुनः का अर्थ है बार-बार अर्थात् जब-जब ऐसा होता है तब-तब अवतार लेते हैं। प्रत्यङ्निष्ठारूप आश्रम को पारमहंस्य आश्रम कहते हैं। उस पारमहंस्य आश्रम में प्रवेश करने के

अनन्तर वे कभी बहिर्मुख नहीं होते। हंस आश्रम में प्रविष्ट मन में रमण करते हैं और परमहंस उससे भी अन्तरतम जो आत्मा है उसी में रमण करते हैं। आत्मा और अनात्म संघात (देह) में आत्मा के विचार करने को भी अनुमृग्य कहते हैं ।। १३ ।।

आभास—एवमवतारसन्देहं वारयन् सर्ववर्णानामावश्यकभजनीयत्वं निरूपितवान्। इदानीं प्रयोजनसन्देहं वारयन्भक्त्यैकलभ्यत्वं सोपपत्तिकमुपपादयन्नमस्यति—

आभासार्थ—इस तरह अवतार विषयक सन्देह का वारण करते हुए सब वर्णों के लिए भगवान् अवश्य भजनीय हैं इसका निरूपण किया। अब जो प्रयोजन में सन्देह है उसको दूर करने के लिए भगवान् भक्ति से ही प्राप्त हो सकते हैं इसको युक्ति से समझाते हुए नमन करते हैं—

श्लोक—**नमो नमस्तेऽस्त्वृषभाय सात्वतां विदूरकाष्ठाय मुहुः कुयोगिनाम्।**
निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः ।।१४।।

श्लोकार्थ—भक्तों के स्वामी और कुयोगियों को जिसकी दिशा की भी खबर नहीं एवं जो भगवान् निरस्तसाम्यातिशय जो राधस् नाम की सिद्धि है उससे अपने ही धाम (अक्षर ब्रह्म) में रमण करते हैं उन भगवान् को बार-बार नमस्कार करता हूं ।। १३ ।।

सुबोधिनी—नमो नमस्तेऽस्त्विति। अत एव भक्त्युद्रेकेण बहुवारं नमस्यंस्तदेव प्रार्थयते। शास्त्रे पूर्णानां भगवद्दर्शने जाते नमस्कार एव कर्त्तव्य इति सदुपशिक्षाविचारेणाऽन्यस्य स्वतोऽकर्त्तव्यत्वात्। **"किमासनं ते गरुडासनाये"** त्यादिवाक्यात्। अतस्तथाभूतानामस्माकं भगवत्साक्षात्कारे तथा नमनमेवाऽस्त्विति प्रार्थनया एतावदेव प्रयोजनमित्युक्तं सर्वैरेव साधनैः। **किञ्च**। ते तुभ्यमिति प्रत्यक्षतया न तु मह्यमिति तस्मा इति वा। इतः परमन्यिकं प्रयोजनमुद्देश्य नास्तीति शास्त्रसंग्रहः। किञ्च। **सात्वतामृषभायेति** सात्प्रत्ययुक्तानाम्। **"तदधीनवचने सातिरि"** ति सातिप्रत्ययो व्याकरणे विहित आत्मसादिति। तत्र सायुक्ताः सात्वन्तः कदाचिदपि न स्वतन्त्राः किन्तु भगवदधीना एवेति तेषामृषभः। एवम्भावेन भगवत्स्वामित्वमपि प्रयोजनम्। नमनमात्रेणैव स्वतः पर्यवसाने तदधीनत्वलक्षणे अधिके धर्मे सम्पन्ने स्वसेवामपि कारयतीति वन्दनानन्तरं दास्यं प्रयोजनमिति निरूपितम्। ये पुनर्योगादिना त प्राप्स्याम इति विचारयन्ति ते कुयोगिनः पृथिव्यामेव योगिन इति। न हि भूमामेव स्थिता ब्रह्माण्डात्परतः स्थितं वस्तु प्राप्नुवन्ति। अयं च कुत्सितो योगः कुत्सितं फलं भूमिष्ठं वा प्रयच्छेत्। अत एवाऽणिमादय एव तत्फलत्वेन निरूपिताः। योगस्तु स्वाधीनः। भगवांश्च न स्वाधीनो योगेश्वरश्च। अतो योगे व्यवसितमतीनां यस्यां दिशि भगवानस्ति सा दिगपि दूरे। साधनान्यपि ततोऽपि दूरे नयन्तीति विशेषेण दूरे काष्ठा यस्येति। अनेन नाऽन्यसाधनसाध्यं प्रयोजनमित्युक्तम्। सकृत्कुयोगित्वेऽप्युत्तरत्र दिव्यादियोगश्चेत्तदा प्राप्नुयादपि। मुहुः कुयोगित्वे आशाऽपि नास्तीत्यर्थः। प्राप्त्याशाभाव एव दूरकाष्ठात्वम्। मुहुःपदेन तेषां साधनाभावः सूचितः। अतो भक्त्यैकलभ्यत्वं साधितमन्वयव्यतिरेकोक्त्या। किञ्च।

निरस्तसाम्येति । काचिद्भगवतः सिद्धिरस्ति राधस्शब्दवाच्या । न तादृशी सिद्धिः क्वचिदन्यत्र । न वा ततोऽप्यधिका । तया सिद्ध्या भगवान्स्वगृह एव रमते । तच्चाऽक्षरात्मकं ब्रह्म । **रंस्यन्निति** स्वनिष्ठमेव रसं तत्सम्बन्धादभिव्यक्तं करोतीति । एतावता स्वरूपस्थितिव्यतिरेकेण नाऽन्यत्र रंस्यतीति भगवदीयो रसस्तत्रैव प्राप्तव्यः । गृहं च तस्यैव । तत्साधनं च निरस्तसाम्यातिशया सिद्धिः । अतोऽन्येषां सर्वथा तद्रसप्राप्तिर्दुर्लभा । गृहसेवकस्य तु सुलभेति । स हि स्वगृहे तां नीत्वा रंस्यतीत्यनयोपपत्त्या भक्त्येकलभ्यत्वम् । स्वधामनीत्यनेन नह्यन्यस्तत्र गन्तुं स्थातुं वा शक्नोतीति सूचितम् । ब्रह्मत्वादहेयत्वम् । निरन्तररसप्रवाहान्न सायुज्यापेक्षा । अतस्तादृशभक्त्यभावे केवल नमनं कर्त्तव्यमिति तादृशाय नम इत्याह— **रंस्यते नम इति** । एवं ज्ञात्वा नमनमपि प्रयोजनमिति शुकादीनां तावन्मात्रपर्यवसानं सूचितम् ।। १४ ।।

व्याख्यार्थ—भगवान् भक्ति से ही प्राप्त होते हैं इसलिए भक्ति के उद्रेक से श्रीशुकदेवजी उन भगवान् को अनेक बार नमन करते हुए उसी की प्रार्थना करते हैं । जो पूर्ण हैं उन्हें जब भगवान् का दर्शन हो जाय तो उन्हें नमस्कार ही करना चाहिये तथा सत्पुरुष भी ऐसा ही करे इसकी शिक्षा देने के विचार से अथवा भगवान् के लिए नमस्कार के सिवाय और कोई कर भी क्या सकता है । जिनका आसन गरुड़ है उसके उससे बढ़कर और कौनसा आसन हो सकता है, लक्ष्मी जिसकी पत्नी हो उसको कोई सम्पत्ति क्या दे सकता है जैसा कहा भी है 'किमासनन्ते गरुडासनाय' अतः भगवान् उस तरह के हैं अतः जब हमें भगवान् का साक्षात्कार हो जाय तो उस तरह से नमस्कार ही हो सकता है । प्रार्थना से भी तो भगवद्दर्शनरूप प्रयोजन ही मांगने योग्य है और सब साधनों का फल भी भगवद्दर्शन ही है यह इससे कहा गया । यहां श्रीशुकदेवजी भगवान् के प्रत्यक्ष दर्शन करके ही नमन कर रहे हैं इसलिए 'ते' यह पद दिया है अर्थात् तुम्हारे लिए तस्मै उसके लिए ऐसा नहीं कहा । इससे बढ़कर और कोई प्रयोजन उद्देश्य नहीं है यह सब शास्त्रों का सार है । सात्वताम् का अर्थ है सात् प्रत्यय से युक्त । तदधीनवचने साति:' इस सूत्र से साति प्रत्यय होता है जैसे आत्मसात् । इस तरह व्याकरण के अनुसार सात् का अर्थ है अधीन अतः सात्वताम् का अर्थ हुआ अधीन जो कभी भी स्वतन्त्र नहीं है किन्तु सदा भगवान् के ही अधीन हैं उनके भगवान् ऋषभ हैं पति हैं स्वामी हैं । ऐसा होने से भगवान् का स्वामित्व भी यहां प्रयोजन रूप है । वह स्वामित्व नमन मात्र से ही तो होता है और जब भगवदधीनरूप लक्षण अधिक धर्म उसमें हो जाता है तो भगवान् उससे अपनी सेवा भी कराते हैं और तदनन्तर दास्यभाव भी प्रदान करते हैं यह प्रयोजन भी इससे निरूपित होता है । जो ऐसा समझते हैं कि हम तो योग आदि के द्वारा ही उन भगवान् को प्राप्त कर लेंगे वे कुयोगी हैं । 'कु' का अर्थ है पृथिवी अर्थात् वे पृथिवी में ही योगी हैं । जो पृथिवी पर स्थित हैं वे ब्रह्माण्ड से भी पर में स्थित ऐसी वस्तु (भगवान्) को कैसे प्राप्त कर सकते हैं । कु का अर्थ कुत्सित भी होता है इसलिए कुत्सित योग कुत्सित फल को ही दे सकता है अथवा भूमि पर स्थित जो फल है उसी को देगा । इसलिए ऐसे योगियों को तो अणिमादि सिद्धि ही फलरूप में प्राप्त होती है भगवान् प्राप्त नहीं होते । योग तो भगवान् के अधीन है । भगवान् स्वाधीन नहीं है किन्तु योग के ईश्वर हैं । अतः योग में ही जिनकी बुद्धि निश्चित है ऐसी बुद्धि वालों के लिए तो भगवान् जिस दिशा में है वह दिशा भी उनके लिए दूर है और उनके साधन तो उन्हें और भी दूर ले जाते हैं जिससे भगवान् की दिशा बहुत ही दूर हो जाती है । इसलिए अन्य साधनों से साध्य यह प्रयो-

जन नहीं है यह कहा गया । एक बार कुयोगी होने पर भी यदि फिर आगे उनमें दिव्य आदि योग हो जाय तब तो प्राप्त हो भी सकते हैं । परन्तु जो बार-बार कुयोगी ही होते हैं उनके लिए तो भगवत्प्राप्ति की कोई आशा ही नहीं है इसे मुहुःकुयोगिनाम् से बताया है । प्राप्ति की आशा के अभाव को बताने के लिए ही तो विदूरकाष्ठाय बहुत दूर उनके लिए दिशा है । मुहुः इस पद से उनमें साधनों का अभाव भी सूचित होता है । इसलिए भगवान् केवल भक्ति से ही प्राप्त होते हैं यह बात अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा सिद्ध की जा चुकी है । अन्वय कहते हैं उसके होने पर हो अर्थात् भक्ति के होने पर भगवान् का प्राप्त होना और व्यतिरेक कहते हैं उसके न होने पर उसका न होना अर्थात् भक्ति के न होने पर भगवान् की प्राप्ति का न होना । भगवान् की एक कोई सिद्धि भी है जिसको राधस् शब्द से कहते हैं । वैसी राधस् सिद्धि कहीं अन्यत्र है नहीं और उस राधस् शक्ति से बढ़कर भी कोई अन्य सिद्धि नहीं है । उस राधस् सिद्धि से भगवान् अपने घर में ही रमण करते हैं । भगवान् का घर है अक्षरब्रह्म उसी में राधस् सिद्धि से भगवान् रमण करते हैं । रंस्यन् का अर्थ है अपने हो अन्दर रहने वाले रस को उस राधस् सिद्धि के सम्बन्ध से अभिव्यक्त प्रकट करते हैं । इससे यह सिद्ध होता है कि भगवान् स्वरूप स्थिति के बिना अन्यत्र रमण नहीं करते । भगवत् सम्बन्धी रस वहीं प्राप्त हो सकता है जहां भगवत्स्वरूप की स्थिति होती है । घर (अक्षरब्रह्म) भी भगवान् का हो है और रस का साधन है निरस्तशाम्यातिशया राधस् सिद्धि । इसलिए दूसरों के लिए उस रस को प्राप्ति सर्वथा दुर्लभ है । परन्तु जो उस घर का सेवक होता है उसके लिए तो उस रस की प्राप्ति सुलभ है । वह भगवान् अपने घर (अक्षरब्रह्म) में उस (राधस् सिद्धि) को ले जाकर रमण करता है इस युक्ति से केवल भक्ति के द्वारा ही वह रस प्राप्त हो सकता है । स्वधामनि इस पद से भगवान् का रमण अपने घर में ही बताया है अतः अन्य कोई वहां जा नहीं सकता अथवा खड़ा नहीं रह सकता यह सूचित होता है । ब्रह्मत्व होने से उसमें अहेयता है । निरन्तर रस के प्रवाहित होने से फिर सायुज्य प्राप्ति की आवश्यकता ही नहीं रहती है । इसलिए ऐसी भक्ति के अभाव में केवल नमन ही करना चाहिये अतः वैसे भगवान् के लिए मेरा नमन है ऐसा कहा । जो अपने ही धाम में राधस् नाम की सिद्धि से ही जो रमण करते हैं उन भगवान् के लिए मेरा नमन है । इस तरह से भगवान् को समझकर नमन करना भी प्रयोजन है इसलिए शुकदेवजी आदि ने नमन में ही उसका पर्यवसान सूचित किया ।।१४।।

आभास—एवं प्रेमभक्तिमतो न किञ्चित्कर्त्तव्यमित्युक्त्वा बाह्यभक्तेः फलं नियमयन्नमस्यति—

आभासार्थ—इस तरह प्रेमभक्ति वाले के लिए अन्य कोई कर्त्तव्य नहीं है यह कहकर अब बाह्यभक्ति के फल का नियमन करते हुए नमस्कार करते हैं—

श्लोक—**यत्कीर्त्तनं यत्स्मरणं यदीक्षणं यद्वन्दनं यच्छ्रवणं यदर्हणम् ।**

लोकस्य सद्यो विधुनोति कल्मषं तस्मै सुभद्रश्रवसे नमोनमः ।।१५।।

श्लोकार्थ—जिस भगवान् का कीर्त्तन, जिसका स्मरण, जिसका दर्शन, जिसका वन्दन, जिसका श्रवण, जिसका पूजन संसारी लोगों के पापों को शीघ्र दूर कर देता है उस कल्याणकारी यश वाले भगवान् के लिए बार-बार नमन है ।। १५ ।।

सुबोधिनी—यत्कीर्त्तनमिति । संसारिणां बाह्यषड्विधभक्त्या तत्क्षणं पापक्षय इत्यर्थः । ईक्षणं पादसेवनसाध्यम् । अत्र पापक्षयस्य तारतम्यं निरूपयितुं भिन्नः क्रमो निरूपितः । तत्र कीर्त्तनस्य स्वस्याऽन्येषां च सर्वपापनिवारकत्वाच्छ्रवणापेक्षयाऽपि महत्त्वं निरूपयितुं प्रथमं निरूपणम् । तदनु तस्याऽपि मूलभूतस्य तन्निर्वाहकस्य स्वात्ममात्रनिष्टत्वेऽप्याध्यात्मिकपापनिराकरणादन्तःकरण शोधकत्वेन स्मरणं निरूपितम् । एवं कीर्त्तनस्मरणाभ्यां प्रेमोद्गमे जाते यद्भगवत ईक्षणं भगवदागमनेन स्वगमनेन वा । सानुभावाधिष्ठानस्य भगवत्प्रतिनिधित्वात्प्रीतेश्चाऽल्पत्वाद्भगवच्चालनाशक्तौ बहिस्तदीक्षणम् । अन्तर्वा भावनया । तद्दर्शनेनाऽऽधिदैविकपापनिवृत्तिः । "यद्देवानां चक्षुष्यागोग्रस्ती" ति श्रुतौ तत्पापं निरूपितम् । तद्भगवद्दृष्टिविषये तेषां क्रूरा दृष्टिर्निवर्त्तत इति तद्दोषनिवृत्तिः । तदनन्तरं यद्वन्दनं तद्भगवदीयापराधलक्षणदोषनिवर्त्तकम् । वस्तुतो हि जीवो भगवत्सेवको भूत्वा बहुकालं तत्सेवामकृत्वा स्थित इति स्वधर्मपरित्यागेनाऽधर्मो भवति । तद्दर्शनानन्तरं वन्दनेनैव निवर्त्तते । ततस्तदनन्तरं भगवदीयानां मुखाद्भगवन्माहात्म्यश्रवणं तत्सर्ववस्तुषु याथात्म्यज्ञापकमिति तदज्ञानकृतं पापं मूलभूतमिति निवर्त्तते । ततो ज्ञाते माहात्म्ये यदनुक्षण भगवतः अर्हणं पूजनम् । सत्कार इति यावत् । तद्भगवन्मायारूपं तद्व्यामोहनरूपं वा कल्मषं निवर्त्तयति । तदर्हणं हि प्रपत्तिरूपम् । अनन्यत्वाभावात्तत्वेन न व्यपदिष्टम् । अतो भक्तिमार्गनिविष्टानामन्येषामप्येवंप्रकारेण करणात्तत्तत्पापनिवर्त्तकत्वेन सर्वपापनिवृत्तिः फलं भवति । अतो भगवत्कीर्त्तिमूलत्वात्सर्वेषां भगवत्कीर्तिः सुभद्रा भवति । भद्राभद्रयोस्तुल्यत्वादभद्रनाशिका सुभद्रा भवति । प्रथमश्रवणं तु तदानीमन्त प्रविश्याऽऽलोडनेन भूतेभ्यो देहादिभ्यः पापनिवर्त्तनासमर्थमिति प्रथमं तन्न निर्दिष्टम्, कीर्तनं तु तथात्वान्निर्दिष्टमिति विवेकः ।।१५।।

व्याख्यार्थ—संसारी लोगों के लिए कीर्त्तनादि बाह्य छः प्रकार की भक्ति तत्क्षण ही पाप का क्षय करती है । ईक्षण पादसेवन भक्ति से सिद्ध होता है । यहां पापक्षय के तारतम्य को निरूपण करने के लिए भिन्न क्रम का निरूपण है । उनमें कीर्त्तन अपने और दूसरों के सब पापों का निवारण करने वाला होने से श्रवण की अपेक्षा से भी इसमें श्रेष्ठता है इसको बताने के लिए ही इसको यहां प्रथम रखा है । कीर्त्तन के अनन्तर उस कीर्त्तन का भी मूलभूत और कीर्त्तन का निर्वाहक केवल आत्मा में ही रहने वाला होते हुए भी आध्यात्मिक पापों को दूर करने वाला होने से अन्तःकरण को शुद्ध करता है इसलिए स्मरण का निरूपण किया । इस तरह जब स्मरण और कीर्त्तन इन दोनों से प्रेम का उद्गम हो जाता है तो तब भगवान् के आगमन से अथवा भगवान् के पास जाने से भगवान् का ईक्षण भगवान् का पादसेवन होता है । सानुभाव ही है अधिष्ठान जिसका ऐसी भगवान् की प्रतिनिधिरूप प्रीति के कम होने पर भी वह प्रीति जीव को भगवान् से अलग नहीं होने देती अतः उसे बाहर भगवान् के दर्शन होते हैं या भावना से अन्दर दर्शन होते हैं । उन भगवान् के दर्शन से आधिदैविक पाप की निवृत्ति होती है । 'यद्देवानां चक्षुषि आगो अस्ति' इस

श्रुति में उस आधिदैविक पाप का निरूपण किया है। भगवान् के दर्शन से उनकी क्रूर दृष्टि मिट जाती है अतः वह पाप दूर हो जाता है। ईक्षण पादसेवन के अनन्तर जो वन्दन भक्ति है उससे भगवदीयापराध लक्षण दोष दूर होते हैं। वास्तव में तो जीव भगवान् का सेवक होकर बहुत समय तक उनकी सेवा नहीं करता है इसलिए उसका सेवक धर्म के परित्याग से अधर्म होता है। वह दोष दर्शन के अनन्तर भगवान् को वन्दन करने से दूर हो जाता है। तदनन्तर भगवदीयों के मुख से जो भगवान् का माहात्म्य सुनते हैं उससे सब वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान हो जाता है जिससे अज्ञानकृत पाप जो उसका मूलभूत है वह मिट जाता है। तदनन्तर भगवान् का माहात्म्य जानकर प्रतिक्षण जो भगवान् की पूजा करता है, सत्कार करता है वह भगवान् का पूजन या सत्कार भगवान् के मायारूप या व्यामोहनरूप पाप को दूर करता है। भगवान् की पूजा प्रपत्तिरूप है। इस प्रपत्ति (आश्रय) में अनन्यता का अभाव होने से इसे प्रपत्तिरूप से कहा। अतः जो जीव भक्तिमार्ग में निविष्ट नहीं है अन्यमार्गीय है उनके लिए भी इस प्रकार से करने पर उन-उन पापों के दूर हो जाने से सर्वपापनिवृत्तिरूप फल हो जाता है। यह भगवत्कीर्त्ति ही सबका मूल है इसलिए यह भगवत्कीर्त्ति सुभद्रा कल्याणकारिणी कही गई है। भद्र और अभद्र दोनों ही समान हैं। उन दोनों के अभद्र का नाश करने वाली होने से इसे सुभद्र कहते हैं। प्रथम श्रवण तो उस समय अन्दर प्रवेश करके आलोडन के द्वारा पांच भौतिक देहादि से पापों को दूर करने में असमर्थ है इसलिए पहले श्रवण का निदेशन करके कीर्त्तन का निर्देश किया। कीर्त्तन तो उन पापों को दूर करने में समर्थ है अतः उसे प्रथम कहा ऐसा समझना चाहिये ।। १५ ।।

आभास—एवं षड्विधभक्तेः षड्विधपापक्षयकर्त्तृत्वमुक्त्वा कीर्त्तेस्तावन्मात्रपर्यवसायित्वे मोक्षपर्यवसानाभावाच्छास्त्रविरोधः प्रसज्येतेति तस्या मुक्तिपर्यवसायित्वं प्रकारान्तरेण वदति—

आभासार्थ—इस तरह छः प्रकार की भक्ति छः प्रकार के पापों का नाश करती है यह कह कर यदि कीर्त्ति का प्रयोजन इतना ही हो और उसका फल यदि मोक्ष न हो तो शास्त्र विरोध आयगा इसलिए कीर्त्ति का फल मुक्ति है इसे अन्य प्रकार से कहते हैं—

श्लोक—**विचक्षणा यच्चरणावसादनात्सङ्गं व्युदस्योभयतोऽन्तरात्मनः।**
विन्दन्ति हि ब्रह्मगतिं गतक्लमास्तस्मै सुभद्रश्रवसे नमोनमः ।।१६।।

श्लोकार्थ—विचक्षण लोग जिन भगवान् के चरणारविन्द में ही निश्चल हो जाने से अन्तःकरण से ऐहिक और पारलौकिक संग का परित्याग कर बिना किसी क्लेश के ब्रह्मगति को प्राप्त करते हैं उन सुकीर्त्ति वाले भगवान् को मैं बार-बार नमस्कार करता हूँ ।। १६ ।।

सुबोधिनी—विचक्षणा इति । अचतुराणामेषा षड्विधा भक्तिरुक्ता । एवं षड्विधया चातुर्ये सम्पन्ने पश्चाद्विचक्षणा: सन्तो भगवच्चरणारविन्द एवाऽवसन्ना भवन्ति । न ततः पदार्थान्तरे उपयुक्ता भवन्ति । तदा तत्रैवाऽवसन्ना उभयतः सङ्गान्निवृत्ता भवन्ति । अवसादे हि सङ्गानां शैथिल्यं युक्तमेव । तत्राऽप्यन्तःकरणेन भगवत्यवसादनादन्तःकरणस्यैवोभयतः सङ्गव्युदासः । तदा पश्चात्कर्षकाणामभावाद्भगवता सह गमनसामर्थ्यं भवति । चरणे ह्युपसन्नाश्चरणेन सह गन्तुं समर्था भवन्ति । अतो ब्रह्मगतिं प्राप्नुवन्ति । ब्रह्मणा सह गतिः । ब्रह्मणि वा गतिः । अक्षरस्य चरणत्वे गृहत्वे वा तदुभयमुपपद्यते । अतो मार्गान्तरेणाऽप्येवं साधनेन पूर्वतुल्यता भवतीति द्वयोरप्येक एवाऽर्थ इति वक्ष्यमाणमुपपन्नं भवति । तस्य हि गतिर्ज्ञानरूपा । अत एव ज्ञानस्य क्रियात्वं धात्वर्थत्वं चोपपद्यते । ज्ञानस्य च क्रियात्वं भगवत्क्रियात्वेन । भगवत इन्द्रियाभावाज्जन्या क्रिया न सम्भवति । नित्या तु क्रिया न प्रसिद्धा । यागानां तु क्रियारूपेण भगवदाविर्भावात्पदार्थान्तरवत्क्रियाऽपि भवति भगवद्रूपम् । **'तदेजति तन्नैजतो"** त्यादि तु विरुद्धसर्वधर्माश्रयत्वेन धर्मरूपेणाऽऽविर्भूतरूपं प्रतिपादयति । तस्मात्सच्चिदानन्दवन्न क्रिया स्वरूपभूता भवति । अतो ज्ञानमेव तेजः स्वभावं गच्छतीव प्रतिभातीति स्मरणेन मनो गच्छतीतिवद्भगवतो ज्ञानमेव क्रियारूपम् । तस्माद्भगवतो गतिं चैतन्यरूपं विन्दन्ति । अलभ्यलाभवत्प्राप्नुवन्ति । **"चिति तन्मात्रेण तदात्मकत्वादि"** ति प्रकारेण । अत एव मुख्यसिद्धान्तात्पलेऽपि भेदः । हि युक्तश्चाऽयमर्थः । यतः कीर्तिर्मुक्तिपर्यवसायिनी । **गतक्लमा इति ।** मार्गान्तरेणाऽपि ज्ञानादिना अक्षरोपासनया वा तदेव स्वरूपं प्राप्नुवन्ति । तथापि **"क्लेशोऽधिकतरस्तेषामि"** ति वाक्यात्ते क्लेशयुक्ता भवन्ति । कीर्तनप्रणालिकया तु ये गच्छन्ति ते गतक्लमा एव गच्छन्तीति साधनान्तराद्वैलक्षण्यम् । अत एव कीर्तिपुरस्सरं तन्नमस्यति । **सुभद्रश्रवस इति** पूर्ववत् । बाह्यभक्त्याऽप्येवमनुग्रहं करोतीत्यादरेण नमनवीप्सोभयत्र ।। १६ ।।

व्याख्यार्थ—पूर्व श्लोक में बताई गई छः प्रकार की भक्ति अकुशल लोगों के लिए है । इस तरह जब छः प्रकार की भक्ति के करने से उनमें चातुर्य (कुशलता) आ जाता है तो वे विचक्षण चतुर (कुशल) हो जाते हैं । तब वे भगवान् के चरणारविन्द में ही अनुरक्त हो जाते हैं । वे भगवान् के चरणारविन्द को छोड़कर अन्य पदार्थों के उपयुक्त नहीं रहते । तत्र भगवच्चरणारविन्द में अनुराग के कारण ऐहिक और पारलौकिक सङ्ग से निवृत्त हो जाते हैं । भगवच्चरणों में अनुराग के कारण सङ्ग में शिथिलता का होना उपयुक्त ही है । उसमें भी फिर अन्तःकरण से जब भगवच्चरणों में अनुराग होता है तो अन्तःकरण से ऐहिक और पारलौकिक सङ्ग छूट जाते हैं । तब उनको पीछे की ओर आकर्षित करने वाला कोई रहता नहीं इसलिए उनका भगवान् के साथ गमन करने का सामर्थ्य हो जाता है । जो भगवच्चरण में लीन होते हैं वे भगवान् के चरण के साथ ही गमन में समर्थ हो जाते हैं । इसलिए ब्रह्मगति को प्राप्त होते हैं । ब्रह्मगति का अर्थ है ब्रह्म के साथ गति अथवा ब्रह्म में गति । अक्षरब्रह्म भगवान् का चरणारविन्द अथवा घर है इसलिए दोनों प्रकार की ब्रह्मगति बताई है । अन्यमार्ग से भी इस प्रकार के साधन से पूर्व में बताये गये के साथ समानता होती है इसलिए 'दोनों का एक ही अर्थ है' यह जो आगे कहा जायगा यह सङ्गत होता है । ब्रह्मगति में गति शब्द का अर्थ है ज्ञान इसीलिए ज्ञान में क्रियात्व और धात्वर्थत्व दोनों ही युक्त होते हैं । ज्ञान के द्वारा भगवत्सम्बन्धी क्रिया होने से ज्ञान में क्रियात्व हो जाता है । भगवान् में इन्द्रियों का अभाव होने से इन्द्रियजन्य क्रियाओं की सम्भावना नहीं हो सकती और नित्यक्रिया

प्रसिद्ध नहीं है । यज्ञों के द्वारा क्रियारूप से भगवान् का आविर्भाव होने से अन्य पदार्थों की तरह क्रिया भी होती है और वह क्रिया भगवद्रूप है । 'तदेजति तन्नेजति' इससे जो भगवान् में क्रिया बताई है वह तो भगवान् के विरुद्ध धर्माश्रय होने से धर्मरूप से आविर्भूत रूप का प्रतिपादन है । इसलिये सच्चिदानन्द की तरह क्रिया भगवान् की स्वरूपभूत नहीं है । इसलिये ज्ञान ही तेजः स्वभाव को प्राप्त होते हुए की तरह दिखाई देता है । जैसे किसी के स्मरण से मन उधर जाता हुआ सा दीखता है उसी तरह भगवान् का ज्ञान ही क्रियारूप है । इसलिए भगवद्गति को प्राप्त होने का तात्पर्य है भगवान् के चैतन्यरूप को प्राप्त करना । अलभ्यलाभ की तरह उसे प्राप्त करते हैं । इसी को 'चिति तन्मात्रेण तदात्मकत्वात्' इस ब्रह्मसूत्र से बताया है । इसीलिए मुख्यसिद्धान्त से फल में भी भेद है । 'हि' का अर्थ है यह अर्थ उचित है । क्योंकि कीर्ति का अन्तिम फल मुक्ति है । गतक्लमाः का अर्थ है बिना किसी क्लेश के । यद्यपि अन्यमार्ग से ज्ञानादि के द्वारा अथवा अक्षरोपासना से उसी स्वरूप को प्राप्त करते हैं किन्तु उन मार्गों में उनको अधिक क्लेश होता है इसीको 'क्लेशोऽधिकतरस्तेषाम्' से बताया है । और जो कीर्त्तन की प्रणालिका से भगवान् को प्राप्त करते हैं उसमें उनको किसी प्रकार का क्लेश नहीं होता अन्य साधनों में और इस साधन में इतना ही अन्तर है । इसीलिए श्रीशुकदेवजी कीर्त्ति को ही मुख्य रखकर उनको नमस्कार करते हैं । सुभद्रश्रवसे का तात्पर्य भी पूर्ववत समझना । भगवान् बाह्यभक्ति होने पर भी इतना अनुग्रह करते हैं इसलिए आदर से बारबार नमन करते हैं ।। १६ ।।

आभास—एवं ज्ञानभक्तिमार्गौ सम्यगुपपाद्य कर्ममार्गेऽपि भजनावश्यकतां वदन् तेषां स्वरूपसन्देहं वारयति—

आभासार्थ—इस तरह ज्ञानमार्ग एवं भक्तिमार्ग का ठीक तरह से उपपादन करके कर्ममार्ग में भी भगवद्भजन की आवश्यकता को कहते हुए उनमें स्वरूप के विषय में जो सन्देह है उसका वारण करते हैं—

श्लोक—**तपस्विनो दानपरा यशस्विनो मनस्विनो मन्त्रविदः सुमङ्गलाः ।**
क्षेमं न विन्दन्ति विना यदर्पणं तस्मै सुभद्रश्रवसे नमोनमः ।।१७।।

श्लोकार्थ—तपस्वी, दानी, यश का कार्य करने वाले मन को वश में रखने वाले, मन्त्र की उपासना करने वाले, सदाचारी आदि जो कर्म करने वाले हैं वे भी जब तक अपने कर्म का अर्पण भगवान् के चरणारविन्द में नहीं करते तब तक उन्हें सत्फल नहीं मिलता अतः उन सुभद्रश्रवा सत्कीर्त्ति वाले भगवान् को मैं बारम्बार नमन करता हूँ ।। १७ ।।

सुबोधिनी—**तपस्विन इति** । यशस्विनः कूपारामादिकर्त्तारः । मन्त्रविदो मन्त्रोपासकाः । याज्ञिका वा । सुमङ्गलाः सदाचाराः । एते हि कर्ममार्गे षड्विधा उक्ताः । तपो हि सन्तापात्मकम् । तत्तु पाकवत्साधनपर्यवसायि न सुखं प्रयच्छति । न हि देहेन्द्रियाणि क्लिष्टानि सुखं

प्रयच्छति । विहितत्वात्फलदानेऽपि दातुः सम्बन्धाभावात् । आज्ञामात्रेण तथा करणेऽपि स्वात्मसमर्पकत्वेनैव तद्बोधनाभिप्रायात् । अदृष्टद्वारा फलजनने मानाभावात् । "**कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममि**" ति बाधश्रवणाच्च । "**मत्त एव पृथग्विधा**" इति हेतुव्यपदेशात्परम्पराकल्पनायां मानाभावाद्भगवत्क्रीडौपयिकतां सम्पादयद्देहं भगवद्योग्यं करोति । यत्तु भगवान्सर्वात्मकः क्लेशं दृष्ट्वा फलं प्रयच्छति । अन्यक्लेशनिवृत्त्यर्थं वा । तन्न क्षेमात्मकम् । न हि भगवता दत्तं स्पर्धासूयादिसहितं भवितुमर्हति । एवं बहूनां भागिनां स्वयमन्येभ्यः प्रयच्छञ्छोषणेन वस्तुशोधनवदवशिष्टानि शोधयति । दत्तद्रव्यस्य तु नानाविनियोगसम्भवान्न फलसाधकत्वं निश्चितम् । अतो भगवत्कर्तव्ये तत्पोषणक्रियायाः पर्यवसानात्तदसमर्पणे स्वातन्त्र्ये चौर्यापत्तेः सुतरां न क्षेमप्राप्तिः । कूपारामादिष्वपि विश्रामजनकत्वेन भगवच्चिकीर्षितकरणाद्दानवदेव तस्य निर्णयः । मनस्विनस्तु योगिन एव । ते कुयोगिविचारेणैव विचारिताः । सर्वेषामेव निरोधने तत्तदधिष्ठातृदेवद्रोहो भवत्येव । भगवत्समर्पणे तु तद्वचनेन तदुक्तमेव कृतमिति न कोऽपि दोषः सम्भवति । धर्ममार्गेऽपि "**धर्मः क्षरति कीर्तनादि**"त्यादिना नाशसम्भवात्समर्पणं युक्तम् । लोकेऽपि महाराजसमर्पणादौ भोगो वा कालनाशो वा सम्भवति । तत्र भगवदीयानां कालनाशाभावाद्भगवद्भोगे पुनस्तदीयत्वं वा प्रसादो वा भविष्यतीति पूर्ववदेव ज्ञानमार्गे भक्तिमार्गे वा प्रवेशो भविष्यतीति **सुभद्रश्रवस** इत्युक्तम् । मार्गत्रयस्था अपि भगवदीया इति भगवत्कीर्तिः । अन्येषां तु तत्र प्रवेशाभावादादरेण वीप्सया नमनम् ।। १७ ।।

व्याख्यार्थ—जो कूआ, बगीचा आदि जनहित के लिये बनवाते हैं उन्हें यशस्वी कहते हैं। मन्त्र की उपासना करने वाले मन्त्रविद् कहे जाते हैं। अथवा याज्ञिक भी मन्त्रविद् कहलाते हैं। सदाचारी सुमङ्गल कहे जाते हैं। इस तरह कर्ममार्ग में ये छः प्रकार के पुरुष कहे गये हैं। तप संतापात्मक है। वह तो पाकक्रिया (रसोई) की तरह साधन से हो सकता है अतः वह तप संताप जनक होने से सुख नहीं दे सकता। जिस देह तथा इन्द्रियों को कष्ट होता है वह सुख नहीं दे सकता। तप में विधि (आज्ञा) है इसलिए फल देने वाले का उसमें सम्बन्ध नहीं है। आज्ञामात्र से ही वैसा करने पर भी उस आज्ञा का भी यही अभिप्राय है कि जो कुछ भी करो वह भगवान् को अर्पण करो। अदृष्ट के द्वारा फल हो जायगा यदि ऐसा कोई कहता है तो उसमें कोई प्रमाण नहीं है। शरीर में स्थित पञ्चमहाभूतों को कर्षण करने का निषेध भी है। 'मत्त एव पृथग्विधाः' इसमें मत्तः में हेतु का निर्देश है अर्थात् फल मेरे से ही प्राप्त होता है। तब फिर अदृष्ट आदि परम्परा की कल्पना अनुचित है और उसमें कोई प्रमाण नहीं है। भगवान् अपने भक्त के देह को भगवान् के उपयोग में आये ऐसा बनाते हैं अर्थात् भगवद्योग्य उस देह को करते हैं। भगवान् सर्वात्मक हैं इसलिए क्लेश को देखकर फल देते हैं अथवा अन्य क्लेश इसका दूर हो जाय इसके लिए फल देते हैं परन्तु वह फल क्षेमात्मक नहीं होता। भगवान् के द्वारा दिया गया फल स्पर्धा होड़) असूया सहित नहीं हो सकता। इस तरह अनेक मार्ग वालों को स्वयं औरों को देते हुए [illegible] से वस्तु शोधन की तरह जो बाकी बचते हैं उनका शोधन करता है। दिये हुए द्रव्य का [illegible] में विनियोग की होता है अतः उसकी फल साधकता निश्चित है। इसलिए यदि वह [illegible]वत्सेवा के लिए प्राप्त हुआ हो और उसका उपयोग उनकी सेवा के लिए नहीं किया जाता [illegible] अर्पित नहीं किया जाता है और उसको अपने ही उपयोग में लाते हैं तो यह चोरी है [illegible]से कभी कल्याण नहीं हो सकता। कूआ, बगीचा आदि का बनवाना भी स[illegible] के लिए [illegible] होने से

यह कार्य भगवच्चिकीर्षित किया है इसलिए उसे दान की तरह ही फल होता है यह निर्णय है। मन को वश में रखने वाले मनस्वी तो योगी ही हैं। कुयोगियों के विचार से ही इन योगियों का भी विचार हो जाता है। योगी सब इन्द्रियों का निरोध करते हैं अत: उन-उन इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवताओं का द्रोह होता ही है और भगवान् को समर्पण करने में तो भगवान् के वचन का पालन होता है इसलिए भगवदुक्त को करने से दोष की सम्भावना नहीं रहती। धर्ममार्ग में भी धर्म को कहने से अपनी बड़ाई करने से उसका विनाश हो जाता है 'धर्म: क्षरति कीर्त्तनात्' इसलिए धर्म का समर्पण करना भी उचित है। लोक में भी महाराज को किसी वस्तु का समर्पण आदि किया जायगा तो या तो उसका भोग होगा या समय से उसका विनाश होगा। परन्तु भगवदीयों के लिए तो काल से समर्पित वस्तु का विनाश होगा नहीं और भगवान् के उपयोग में आने पर समर्पणकर्त्ता भगवदीय होता है अथवा उसके ऊपर भगवत्कृपा होगी और पूर्व की तरह ही उसका ज्ञानमार्ग में या भक्तिमार्ग में प्रवेश हो जायेगा। इसलिए 'सुभद्रश्रवसे' ऐसा कहा। ज्ञान, योग और भक्ति इन तीनों ही मार्ग का आश्रय ग्रहण करने वाले भगवदीय हैं यह भगवत्कीर्त्ति है। अन्य लोगों का तो वहां प्रवेश ही नहीं होता इसलिए आदर से बारम्बार नमन किया ।। १७ ।।

आभास— एवं साक्षाद्भगवत्सम्बन्धिनां भगवत्प्रवेशप्रकारमुक्त्वा साक्षात्सम्बन्धरहितानामपि तत्प्रवेशने प्रकारमाह तृतीयगतिव्यावृत्त्यर्थम्। तद्वक्ष्यति भगवान् **"उदासीनोऽरिवद्वर्ज्य"** इति। तद्भगवदाश्रिता भगवदीयाश्रिता वा एकत्र। अन्ये द्वितीयकोटाविति निर्धारो भवति। तत आह—

आभासार्थ - इस तरह साक्षात् जिनका भगवत्सम्बन्ध होता है उनका भगवान् में प्रवेश होता है यह कहकर जिनका साक्षात् भगवत्सम्बन्ध नहीं है उनका भी भगवान् में प्रवेश किस प्रकार से होता है इसे तृतीय गति की व्यावृत्ति के लिए कहते हैं। उसे भगवान् स्वयं कहेंगे 'उदासीनोऽरिवद्वर्ज्य:' जो उदासीन है उसे शत्रु की तरह वर्जित किया है। अत: यहां दो कोटि हो जाती है पहली कोटि तो भगवदाश्रित तथा भगवदीयाश्रित और दूसरी कोटि में उदासीन अथवा भगवान् से शत्रुता रखने वाले इनमें प्रथम कोटि वालों का वर्णन करते हैं—

श्लोक—**किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा आभीरकङ्का यवना: खसादय:।**
येऽन्ये च पापा यदपाश्रयाश्रया: शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नम: ।।१८।।

श्लोकार्थ—किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, कङ्क, यवन, खस आदि अन्त्यज जाति के तथा अन्य भी पापी भगवदाश्रित भक्तों के आश्रय से शुद्ध हो जाते हैं ऐसे समर्थ भगवान् को मैं नमस्कार करता हूं ।। १८ ।।

सुबोधिनी—किरातेति। किरातादयस्तत्तद्देशगिरिवासिनोऽन्त्यजा जातित: कार्यतश्च दुष्टा: भक्तसमाश्रयणमात्रेण शुद्धा भवन्ति। भक्ता इव भगवत्सेवायोग्या भवन्ति। अन्येऽपि पापा: प्रायश्चित्तानधिकृता अपि। एते नवविधा गणिता:। अष्टदिङ्मध्यविवक्षया भक्तद्वाराऽपि

माहात्म्यात्प्रभविष्णुत्वम् । **"अपपरी वर्जन"** इति ज्ञापनादपोपसर्गोऽतिशयार्थेऽपि वर्तते । व्याप्त्यर्थे वा । परित इत्यर्थे वा । तेन विश्वाधारत्वेन दुष्टानामपि दैत्यादीनां तदाश्रयत्वं निवारितम् ।।१८।।

व्याख्यार्थ—किरात आदि उन-उन देश तथा पर्वतों के निवासी जाति से अन्त्यज और कार्य से दुष्ट भक्तों का आश्रय लेने मात्र से शुद्ध हो जाते हैं। अर्थात् भक्तों की तरह भगवान् को सेवा के योग्य होते हैं। और भी जो ऐसे पापी हैं जिनका प्रायश्चित्त भो नहीं हो सकता वे भी शुद्ध हो जाते हैं। ये नौ प्रकार के हैं। अर्थात् आठों दिशाओं के तथा मध्य भाग के इनकी शुद्धि भक्तों के द्वारा बताने का तात्पर्य यह है कि भक्त ही जब इनको शुद्ध कर सकते हैं तो भगवान् के लिए तो कहना ही क्या इससे भगवान् का माहात्म्य बोधित होता है इसीलिए यहां भगवान् को प्रभाविष्णु कहा है। यदपाश्रयाश्रया: में जो अप उपसर्ग है उसका अतिशय अर्थ है और ऐसा अर्थ 'अपपरी वर्जने' इस पाणिनीय के व्याकरण सूत्र से ज्ञापित होता है। अथवा अप का अर्थ व्याप्ति है। अथवा सब ओर से ऐसा भी अर्थ है। इससे यह सिद्ध होता है कि भगवान् सारे विश्व के आधार हैं परन्तु दुष्ट और दैत्यों के आश्रय नहीं है अर्थात् उनकी शुद्धि नहीं होती ।। १८ ।।

आभास—एवं स्वरूपत: प्रमाणतश्च सर्वसन्देहवारणं कृत्वा फलत: साधनतश्च तस्य माहात्म्यमाह—

आभासार्थ—इस तरह स्वरूप से और प्रमाण से सभी सन्देह का वारण करके फल से और साधन से भगवान् का माहात्म्य कहते हैं—

श्लोक—**स एष आत्माऽऽत्मवतामधीश्वरस्त्रयीमयो धर्ममयस्तपोमय: ।**
गतव्यलीकैरजशङ्करादिभिर्वितर्क्यलिङ्गो भगवान्प्रसीदताम् ।।१९।।

श्लोकार्थ—वह यह भगवान् आत्मनिष्ठ पुरुषों का सर्वेश्वर, वेदमय, धर्ममय और तपोमय है। निष्कट ब्रह्मा शिव आदि से जिनका स्वरूप अभी तक विचारणीय ही है वे भगवान् मेरे ऊपर कृपा करें ऐसी प्रार्थना है ।। १९ ।।

सुबोधिनी—स एष इति । तत्र प्रथमं साधननिर्धारमाह - **प्रसीदतामिति** । साधनं भगवत्प्रसाद एव । फलं **स एव** । उभयोरेष विनिश्चय:। तदाह—**भगवान्प्रसीदतामिति** । अन्यत्तु साधनं प्रसादोपक्षीणम् । लोकद्वारा स्वानुभवद्वारा च सर्वाणि शास्त्राणि प्रवृत्तानि । वेदस्याऽपि तत्परत्वेनाऽर्थो निरूप्यते । तत्र— तत्राऽधिकारिणो द्विविधा: । ये हि भगवत्प्रसादयोग्यास्ते आत्मवन्त: । आत्मशब्देन हि अन्त:करणमात्मा च । तत्र ये आत्मवन्तस्तेषामात्मत्वेनाऽयं प्रकाशते । ये पुनरन्त:करणवन्त: यथासुखमन्त:करणं कर्तुं सम्भवन्ति तेषामधीश्वर: स्वामी । अन्त:करणप्रेरको वा । स्वसेवां कारयति तद्योग्यं वा करोतीति । प्रमाणं च त्रिविधं श्रुतिस्मृति-

पुराणाख्यम् । तत्र प्राधान्येन वेद इति तेनाऽपि यज्ञः प्रतिपादित इति यज्ञप्रतिपादकत्वेन त्रयी प्रमाणम् । स्मृतीनां तु धर्मप्रतिपादकत्वेन तत्राऽर्थस्यैव प्राधान्याद्धर्मप्रयोगः । पुराणं तु तपःप्रतिपादकम् । यावन्ति हि फलानि निरूपयति तपसैव तानि निरूपयति । तन्त्रितयरूपोऽपि भगवानेव । अर्थतः स्वरूपश्च । ततः किमधिकारेण किंवा प्रमाणेन । उभयोरपि फलकोटावेव प्रवेशात् । सतामाश्रयणेऽपि तथा । यतः अजशङ्करादिभिरपि वितर्क्यमेव लिङ्गं यस्य । सतां हि पराकाष्ठा ब्रह्मा वा महादेवो वा । तच्छिष्यास्तत्पुत्राश्चाऽन्ये । तैरपि विशेषेण तर्क्यमेव लिङ्गं यस्य न त्विदमित्थतया ज्ञेयम् । तर्कितं हि भवति न भवति च । तेऽपि स्वस्य माहात्म्यमेव दृष्ट्वा भगवत्कृपया तज्जनितमिति भगवत्साक्षात्कारेण च तत्स्वरूपप्रसादयोर्निर्णयं कल्पयन्ति । एतादृशो हि भगवानेवं प्रसन्नो भवतीति । तत्र प्रमाणे नानाप्रकारेण निरूपणाल्लोकतश्च तथा प्रतीतेर्न तावन्मात्रतेति निश्चीयते । ते तु **"शब्दात्प्रत्यक्षं बलीय"** इति विशेषेण तर्कयन्ति । तस्मादेवमवगम्यते भगवानेव प्रसादं प्रार्थनीयो नाऽन्यन्नाऽन्योऽपि ।।१६।।

व्याख्यार्थ—उनमें पहले साधन का निर्धारण करते हैं । यहां साधन और फल भगवत्कृपा ही है । दोनों के लिए ये ही निश्चय है । इसीलिए भगवान् प्रसीदताम् ऐसा कहा है । कर्म, ज्ञान, भक्ति आदि सभी साधन भगवान् की प्रसन्नता कराकर ही कृतकृत्य हो जाते हैं । सब शास्त्र लोक के द्वारा या अपने अनुभव के द्वारा प्रवृत्त हुए हैं । वेद भी भगवत्परक होने से उसी अर्थ का निरूपण करता हैं—

कारिका—**अधिकारी प्रमाणं च सन्तश्च प्रीतिहेतवः ।**
एतेऽप्यापाततः प्रोक्तास्तस्मात्सम्प्रार्थनं वरम् ।।
सम्प्रार्थने हि सुमहान्साधनं फलमेव वा ।
कायादिभिः करोत्येव तस्मात्साधननिश्चयः ।।

कारिकार्थ—अधिकारी, प्रमाण और सन्त ये तीन भगवान् की प्रीति के कारण हैं । परन्तु यह बात भी ऊपर ऊपर से ही है । अतः प्रार्थना करना ही श्रेष्ठ है । सम्यक् प्रार्थना से ही महान् साधन की सिद्धि अथवा फल की सिद्धि होती है । शरीर आदि के द्वारा ही साधन की सिद्धि होती है यह निश्चित है ।

वहां अधिकारी दो प्रकार के हैं । जो भगवान् की कृपा के योग्य हैं वे आत्मनिष्ठ हैं । यहां आत्मा शब्द से आत्मा और अन्तःकरण दोनों का ग्रहण है । उनमें जो आत्मनिष्ठ हैं उनके लिए भगवान् आत्मस्वरूप से प्रकाशित होते हैं । जो अन्तःकरणनिष्ठ हैं वे अपने अन्तःकरण को सुखानुसारी कर सकते हैं उनके वे अधीश्वर स्वामी हैं । अथवा अन्तःकरण के प्रेरक हैं । भगवान् उनसे अपनी सेवा करवाते हैं अथवा सेवा के योग्य करते हैं और प्रमाण तीन प्रकार के हैं (१) श्रुति (२) स्मृति और (३) पुराण । उनमें भी मुख्य रूप से प्रमाण तो वेद है उस वेद ने भी यज्ञ का प्रतिपादन किया है । इसलिए वेदत्रयी का प्रामाण्य यज्ञ प्रतिपादकरूप से है । इसी तरह स्मृतियां धर्म का प्रतिपादन करती हैं उसमें अर्थ की प्रधानता होने से धर्म का प्रयोग किया गया है । पुराण

तप का प्रतिपादन करते हैं। उन पुराणों में जितने भी फलों का निरूपण किया है वे फल तप के द्वारा ही होते हैं। वेद, स्मृति और पुराणरूप उनके अर्थ से और स्वरूप से भी भगवान् ही है। फिर अधिकार अथवा प्रमाण की चर्चा व्यर्थ है। दोनों का प्रवेश तो फल कोटि में हो है। सज्जनों का आश्रय लेने पर भी यही बात समझना। क्योंकि ब्रह्मा और शिव भी उनका अनुमान ही करते रहते हैं। सज्जनों में सबसे यदि कोई श्रेष्ठ है तो ब्रह्मा अथवा शिव हैं और अन्य भी हैं तो उनके शिष्य या उनके पुत्र हैं। वे भी विशेषरूप से अनुमान ही लगा सकते हैं। भगवान् ऐसे ही हैं ऐसा निर्णय नहीं कर सकते। अनुमान कभी सत्य होता है कभी झूठा भी हो सकता है। वे भी अपना माहात्म्य देखकर ही यह समझते हैं कि यह हमारा माहात्म्य भगवान् की कृपा से हुआ है। इस तरह भगवान् के साक्षात्कार से भगवान् के स्वरूप को और भगवान् की कृपा का निर्णय कल्पना से करते हैं। अर्थात् भगवान् ऐसा है और इस तरह से प्रसन्न होता है। वहां प्रमाण में नाना प्रकार से वर्णन किया है इसलिए लोक से वैसी प्रतीति होने से उतने मात्र ही भगवान् हैं ऐसा निश्चय होता है। वे तो शब्द से प्रत्यक्ष बलवान् हैं 'शब्दात्प्रत्यक्षं बलीयः' इस विशेष से तर्क (अनुमान) करते हैं। इससे यह जाना जाता है कि कृपा के लिए भगवान् की ही प्रार्थना करनी चाहिये। कृपा के अतिरिक्त और किसी को प्रार्थना न करे और न भगवान् के अतिरिक्त किसी से याचना करे ।। १९ ।।

आभास—तस्मात्प्रार्थनायां सम्भवन्त्यां नाऽन्यत्कर्त्तव्यमिति सिद्धम्। यदि प्रार्थनायां भगवान्न क्रुध्येत्। लोके ह्यनधिकारी प्रार्थयन्क्रोधमुत्पादयति। यद्यपि प्रसादस्य साधारण्यादन्यस्याऽप्रार्थितत्वात्क्रोधो न सम्भवति तथापि सामान्येऽप्यनधिकारिणं प्रति तद्भवत्येव। अतस्तन्निर्णयार्थं प्रार्थनायोग्यं रूपमाह—

आभासार्थ—जब तक प्रार्थना की सम्भावना हो तब तक और कुछ नहीं करना चाहिये यह सिद्ध हुआ। परन्तु प्रार्थना करने पर यदि भगवान् को क्रोध न आये तो प्रार्थना ठीक होती है। लोक में भी यदि अनधिकारी प्रार्थना करता है तो क्रोध उत्पन्न कर देता है। यद्यपि आप मेरे पर प्रसन्न हो यह प्रार्थना साधारण है तथा अन्य से प्रार्थना भी नहीं की है इसलिए क्रोध की सम्भावना तो नहीं है तथापि सामान्य बात पर भी अनधिकारी के ऊपर क्रोध हो ही जाता है। इसलिए उसके निर्णय के लिए प्रार्थना के योग्य भगवान् के रूप को कहते हैं—

श्लोक—**श्रियः पतिर्यज्ञपतिः प्रजापतिर्धियां पतिर्लोकपतिर्धरापतिः।**
पतिर्गतिश्चाऽन्धकवृष्णिसात्वतां प्रसीदतां मे भगवान्सतां पतिः ।।२०।।

श्लोकार्थ—लक्ष्मीपति, यज्ञपति, प्रजाओं के पति, बुद्धियों के पति, लोकपति और पृथ्वी के पति तथा जो अन्धक, वृष्णि, सात्त्वत यादवों के पति एवं भगवद्भक्तों के पति भगवान् श्रीकृष्ण मुझ पर कृपा करें ।। २० ।।

सुबोधिनी—श्रियः पतिरिति । पतिः प्रार्थनीय इत्यविवादम् । क्रुध्यतु मा वा । तद्येषां पतिस्तैः प्रार्थनीयः । तत्र प्रथमं षड्विधानां पतित्व निरूपयति । प्रथमं भगवाँल्लक्ष्मीपतिः । ततो लक्ष्म्यंशैः स्त्रीभिः प्रार्थितो न क्रुध्यति । अनेन स्नेहमार्गानुवर्तिभिरन्यैरपि प्रार्थितो न क्रुध्यति । एवं यज्ञपतिः । यज्ञपुरुषैः प्रार्थितो न क्रुध्यति । अत एव "यज्ञे यः कामयेते" ति बहुधावचनं भगवत्पतित्वज्ञापकम् । किञ्च । प्रजापतिः । ये केवलं लौकिकाः प्रजामात्ररूपाः प्रकर्षेण जाता वा तेषां पतिः । साधारणैरपि प्रार्थ्यः । अल्पविशेषैरपि । किञ्च । धियां पतिः । ये केचित्कामपि बुद्धिं जानन्ति क्रियायां ज्ञाने वा शब्दतोऽर्थतो वा तैरपि प्रार्थनीयः । किञ्च । लोकपतिः स्वर्गादिलोकानां पतिः । अतस्तद्गतैरपि प्रार्थनीयः । ततो धरायाश्च पतिः । अतो भूमिष्ठैरपि प्रार्थनीयः । किञ्च । अन्धकवृष्णिसात्वतां पतिर्गतिश्च । पूर्वं भगवत्प्रार्थनायोग्यता निरूपिता । इदानीं फलमुखता निरूप्यते । पतिः फलम् । गतिः स्वनिष्ठं साधनम् । तच्चेत्फलं स्वनिष्ठत्वे सति साधनतां भजते तदा फलोपभोगो भवति । न हि स्वमुखे दूरस्थः असाधनं वा स्वतन्त्रो वा तस्यां क्रियायां हेतुर्भवति । तद्भगवानन्धादवैः प्रार्थितः पतिः सन् तेषां क्रियारूपोऽपि जातः । अतोऽनेन यावत्कर्तुं शक्यते तावत्तेषां भवति । अतः फलमुखपतित्वमत्र सिद्धमिति क्रोधसम्भावनाऽपि दूरे । चकारात्क्रियासाध्यरूपश्च । त्रिविधा हि यादवा गणितास्तामसराजससात्त्विकपुरुषभजनीयत्वं निरूपयितुम् । किञ्च । यत्र गुणव्याप्तैरपि भगवान्प्राप्यते प्रार्थ्यते च तत्राऽस्मदादीनां का चिन्तेति प्रसीदतां म इत्याह—मह्यं प्रसीदतामिति । किञ्च । सतामयं पतिः । ये भगवत्येव सन्ति गुणेषु प्रविष्टाः गुणद्वारा भगवदाश्रयास्तेषां तु पतिरेव । अन्यान्प्रत्यौपचारिकं पतित्व । युक्त्या शास्त्रेण च सतामेव पतिः । अतोऽपि मह्यं प्रसीदतामिति भावः।२०।

व्याख्यार्थ—पति(स्वामी) से प्रार्थना करनी चाहिये यह तो निर्विवाद है चाहे पति(स्वामी) प्रसन्न हो या क्रोध करे । इसलिए भगवान् जिनके पति हैं उन्हें भगवान् से प्रार्थना करनी चाहिये । उनमें भगवान् सर्वप्रथम तो छः प्रकार के लोगों के पति हैं उसका निरूपण करते हैं । पहले तो भगवान् लक्ष्मी के पति हैं । अतः लक्ष्मी की अंशभूत स्त्रियां यदि प्रार्थना करती हैं तो भगवान् क्रोध नहीं करते इसलिए स्नेहमार्ग का अनुसरण करने वाले औरों के ऊपर भी भगवान् क्रोध नहीं करते । इसीलिए 'यज्ञे यः कामयेत्' इस तरह के बहुत प्रकार के वचन भगवान् पति हैं इसके ज्ञापक हैं और भगवान् प्रजा के पति हैं । जो केवल लौकिक है मात्र प्रजारूप है अथवा प्रकृष्ट रूप से भगवान् से उत्पन्न हुए हैं भगवान् उनके पति हैं । इससे साधारण प्रजा को भी भगवान् को प्रार्थना करने का अधिकार है । जिनमें अल्प विशेषता हो वे भी प्रार्थना कर सकते हैं और भगवान् बुद्धियों के पति हैं इसलिए जो कोई किसी बुद्धि को जानते हैं, क्रिया विषयक या ज्ञान विषयक अथवा शब्द से या अर्थ से बुद्धि हो वे भी प्रार्थना कर सकते हैं और भगवान् स्वर्ग आदि लोकों के पति हैं अतः जो स्वर्ग आदि लोकों में चले गये हैं वे भी प्रार्थना कर सकते हैं । भगवान् धरा अर्थात् पृथ्वी के भी पति है अतः जो पृथ्वी पर रहते हैं उनको भी प्रार्थना करनी चाहिये ।

कारिका—**स्त्रीभिश्च याज्ञिकैर्लोकैर्बुद्धिमद्भिः स्थितैः क्वचित् ।**

असाधनैरपि ह्येतैः प्रार्थनीयो हरिः पतिः ।

कारिकार्थ—'स्त्रियों से, याज्ञिक लोगों से, लोक में निवास करने वालों से और बुद्धिमानों से तथा लोक में जो रहते हैं उनसे तथा असाधनों से भी भगवान् प्रार्थना के योग्य हैं।'

अन्धक, वृष्णि और सात्वत यादवों के भगवान् स्वामी हैं और उनकी गति भी भगवान् हैं। पूर्व में तो भगवान् की प्रार्थना करने की योग्यता का निरूपण किया था और अब फलमुखता का निरूपण करते हैं। पति फलरूप है और गति अपने ही अन्दर रहने वाला साधन है। वह फल यदि अपने ही अन्दर रहते हुए साधनता को प्राप्त करता है तो फल का उपभोग होता है। दूर रहने वाला फल अथवा असाधन या स्वतन्त्र अपने सुख में उस क्रिया में हेतु नहीं हो सकता। इसलिए यादवों ने जब भगवान् की प्रार्थना की तो उनके स्वामी होते हुए भी क्रियारूप भी हो गये। इसलिए भगवान् की कृपा के बल से जितना वह कर सकते हैं उतना उनके लिए हो जाता है। इसलिए भगवान् की फलमुख से स्वामिता सिद्ध होती है अतः क्रोध की तो सम्भावना हो नहीं है। और गतिश्च में जो च दिया है उससे वे भगवान् क्रियासाध्यरूप भी हैं। यादव तीन तरह के गिने गये हैं अतः भगवान् तीनों तरह के तामस-राजस और सात्त्विकों से भजनीय हैं। इसका निरूपण करने के लिए हैं। जहां गुणों से व्याप्त लोगों से भी भगवान् प्राप्त किये जा सकते हैं प्रार्थना किये जा सकते हैं तो फिर वहां हमारे (शुकदेवजी) जैसों को क्या चिन्ता है इसे बताने के लिए 'प्रसीदतां मे' ऐसा कहा है और सज्जनों के भगवान् स्वामी हैं। जो भगवान् में ही स्थित हैं एवं जिन गुणों में प्रविष्ट होकर गुणों के द्वारा भगवान् का आश्रय ग्रहण किया है उनके तो भगवान् पति (स्वामी) ही हैं। अन्यों के प्रति भगवान् का स्वामित्व औपचारिक भी हो सकता है। युक्ति और शास्त्र से तो भगवान् सज्जनों के ही स्वामी हैं। इस कारण से भी मेरे (श्रीशुकदेवजी के) ऊपर प्रसन्न हो ॥२०॥

आभास—ननु भगवद्गुणेषु पृष्टेषु तत्कथनं परित्यज्य भगवत्प्रार्थना कुत्रोपयुज्यते ? तत्राऽऽह—

आभासार्थ—शंका होती है कि राजा परीक्षित् ने तो भगवान् के गुणों के विषय में प्रश्न किया था उसे छोड़कर शुकदेवजी भगवान् की प्रार्थना करने लग गये इसका उपयोग कहां होगा उस पर कहते हैं—

श्लोक—**यदङ्घ्रयनुध्यानसमाधिधौतया धिया नु पश्यन्ति हि तत्त्वमात्मनः।**
वदन्ति चैतत्कवयो यथारुचं स मे मुकुन्दो भगवान्प्रसीदताम् ॥ २१ ॥

श्लोकार्थ—जिन भगवान् के चरणों का समाधि में ध्यान करने मात्र से पवित्र हो गई है बुद्धि जिन्हों की ऐसे ज्ञानी अपनी बुद्धि से आत्मतत्व का दर्शन करते हैं और फिर अपनी रुचि के अनुसार भगवान् का वर्णन करते हैं वे मोक्ष देने वाले भगवान् मेरे ऊपर प्रसन्न हो ॥ २१ ॥

सुबोधिनी—यदङ्घ्रचनुध्यानेति । केवलं भगवत्प्रार्थनाव्यतिरेकेणाऽप्यङ्घ्रचनुध्यानमात्रेणैवाऽऽतपाद्यवस्थानेऽपि समाधौ प्रक्षालनमात्रेणैव यत्सर्वप्रमाणैरपि स्पृष्टं न भवति तादृशमात्मतत्त्वं भगवत्स्वरूपयाथात्म्यं पश्यन्ति । बुद्धिः स्वभावतो वस्तुप्रकाशिका । सा स्वावरणाद्विषयावरणादुत्पन्नाऽपि न विषयं प्रकाशयति । इन्द्रियाणामावरणे नोत्पद्यत एव । विषयमात्रं बुद्धयुत्पत्तौ कारणत्वेन मृग्यते । ननु यत्प्रकारिका बुद्धिस्तद्विशिष्टम् । रजतादिभ्रमानुपपत्तेः। अतो विषयमात्रं पुरस्कृत्य सामग्र्यन्तरवशाद्वस्तुनो याथात्म्यमयाथात्म्यं वा बोधयति । तत्र शुद्धा वस्तुनो याथात्म्यं गृह्णाति । अत्र भगवच्छास्त्रे सर्वेषां पदार्थानां नित्यत्वात्कारणत्वेनाऽभिमतैराभिव्यक्तीक्रियते । एकश्च पदार्थो न जातिव्यक्तिविभेदकल्पना । एक एव घटोऽनेकधा भवति आविर्भवति तिरोभवति च । पदार्थानां सर्वेषां भगवत्त्वात् । तथा शब्दानां नित्यता तु सर्वैरेवाऽभियुक्तैः कात्यायनादिभिर्व्यवस्थापितेति नाऽस्माभिरत्यन्तं निरूप्यते । **"नित्ये शब्दार्थसम्बन्ध"** इति । नित्ये शब्दे अर्थसम्बन्ध इति च विवरणम् । आश्रयाभावे च जातिसम्बन्धयोः स्थितिकल्पनाऽत्यन्ताऽप्रामाणिकी दृष्टस्य पदार्थस्य याथात्म्याज्ञाने शास्त्रतस्तदवगम्यते । अत एक एव घटो भगवत्त्वादनेकधा भवतीति **"स एकधा भवति"** इत्यादिश्रुतिबलादनुपपत्तौ निवृत्तायां स्वबुद्धिदोषादन्यथा कल्पनं न प्रामाणिकम् । बहुकल्पनापत्तिश्च । अत एकैव बुद्धिर्बहुधा परिमृज्यमाना शोधकद्रव्यसंयोगसङ्घर्षणेन निर्मला भवति दर्पणवत् । तथा भगवच्चरणारविन्दद्वयं बुद्धौ संयोज्य सङ्घर्षणे क्रियमाणे शुद्धिविशेषं प्राप्नोति । शोधकद्रव्याणां तारतम्येन मलनिराकरणं शास्त्रसिद्धम् । अञ्जनादिषु तथा प्रसिद्धेः । यथाऽञ्जनविशेषे गोलकसंयुक्ते ततो निर्गता दृष्टिर्देवानपि पश्यति, तथाऽत्राऽपीति न काऽप्यनुपपत्तिः । अन्या तु वस्तुनो याथात्म्यं न बोधयति । दोषावृतत्वात् । यथा यथा दोषनिवृत्तिस्तथा तथा वस्तुयाथात्म्यस्फूर्तिः । अत एवाऽभ्याससूक्ष्मेक्षिकादीनामुपयोगः । विषये तु दोषो नास्त्येव । सुतरां भगवद्विषये आत्मविषये च । "अपहतपाप्मत्वादि" श्रुतेः । नु इति निश्चयेन । अनुध्यानं नाम तत्परतया चिन्तनम् । तथा चिन्तनेनाऽपि तदात्मकता भवतीति समाधिः । न तु योगसम्बन्धी । किञ्च । एतदात्मतत्त्वं कविभिर्यथाबुद्धि निरूप्यते । कविपदेन चोत्प्रेक्षासामर्थ्यं बोधितम् । कश्चित्कथंचिदुत्प्रेक्षते वदति च तथा । अतो न वाक्याल्लौकिकाद्वस्तुयाथात्म्यस्फूर्तिः । किञ्च । भगवान्मुकुन्दो मोक्षदाता । वस्तुयाथात्म्यस्फूर्तिमोक्षाङ्गम् । तच्च तदैव सम्पद्यते यदा भगवान्मोक्षं दातुमिच्छति । इच्छा पुनरङ्घ्रचनुध्यानेनैव भवतीति । तस्माद्यः कश्चिद्यत्किञ्चिज्ज्ञातुमिच्छति तत्र भगवान्प्रार्थनीयः सकलतत्सिद्धयर्थम् । गुणा अपि ज्ञाता एव वक्तव्याः । ज्ञानसाधनं चाऽङ्घ्रचनुध्यानम् । न केवलं तावन्मात्रमेव । किन्तु प्रार्थनासहितम् । भगवतः स्वतन्त्रत्वान्नाऽनुध्यानमात्रेण तथा कर्तुमिच्छति । अत आह—**प्रसीदतामिति** । यद्यपि भागवतनिर्माणे विषयप्रचारार्थं प्रसादो जात एव तथाऽप्यस्मदर्थं पुनर्भवतु स्वस्याऽपि रससिद्धयर्थम् ।। २१ ।।

व्याख्यार्थ—भगवान् की प्रार्थना के बिना भी केवल भगवान् के चरणों के अनुध्यान मात्र से ही आतपादि अवस्थान में भी समाधि में बुद्धि को धोने मात्र से ही, जिसका प्रमाणों से भी ज्ञान नहीं हो सकता इस तरह के आत्मतत्त्व भगवत्स्वरूप की वास्तविकता को जान लेते हैं । बुद्धि स्वभाव से ही वस्तु का प्रकाशन करने वाली है । परन्तु उस बुद्धि पर आवरण हो या विषयों पर आवरण हो जाय तो उत्पन्न बुद्धि भी विषय को प्रकाशित नहीं करती । इन्द्रियों के ऊपर आवरण

आ जाय तब तो बुद्धि उत्पन्न ही नहीं होती है। बुद्धि की उत्पत्ति में विषय को ही कारण मानते हैं। ऐसा नहीं है कि जिस प्रकार की बुद्धि होती है तद्विशिष्ट ही कारण होता है। ऐसा मानने पर सीप में जो चांदी का भ्रम होता है उसकी उत्पत्ति नहीं होगी। इसलिए विषयमात्र को ही पुरस्कृत करके सहयोगी उचित एवं अनुचित सामग्रियों के वश से बुद्धि यथार्थ अथवा अयथार्थ ज्ञान करा देती है। उसमें शुद्ध बुद्धि वस्तु की यथार्थता को ग्रहण करती है। यहां भगवत् शास्त्र में सब पदार्थ नित्य हैं अतः कारणरूप से माने गये ध्यानादि के द्वारा वे पदार्थ अभिव्यक्त (आविर्भूत) किये जाते हैं। पदार्थ एक ही है उसमें जाति एवं व्यक्ति इस प्रकार के भेद की कल्पना नहीं है। एक ही घट पदार्थ अनेक प्रकार से आविर्भूत होता है और तिरोभूत भी होता है। पदार्थ सब भगवद्रूप हैं। अतः नित्य हैं। शब्दों की नित्यता को तो कात्यायन आदि प्राचीन विद्वानों ने ही व्यवस्थापित कर दी है अतः उसके लिए तो हमको अधिक निरूपण करने की आवश्यकता नहीं है। उन्होंने 'नित्ये शब्दार्थसम्बन्धः' ऐसा कहा है और उसकी व्याख्या भी उन्होंने इस तरह की है 'नित्यशब्द में अर्थ का सम्बन्ध भी नित्य हैं। अनित्य मानने पर जब आश्रय (पदार्थ) का ही अभाव होगा तो फिर उसमें जाति और सम्बन्ध की कल्पना ही अत्यन्त अप्रामाणिक होगी। जो पदार्थ देखा जाता है उसकी यथार्थता का ज्ञान शास्त्र के द्वारा जाना जाता है। अतः भगवद्रूप होने से एक ही घड़ा अनेक प्रकार वाला हो जाता है। जैसा कि छान्दोग्योपनिषद् में कहा है 'स एकधा भवति त्रिधा च नवधा' इत्यादि श्रुति के बल से अनुपपत्ति का निवारण हो जाता है अर्थात् घट नित्य है फिर भी जो अपनी बुद्धि के दोष से जाति-व्यक्ति की अन्यथा कल्पना करते हैं वह अप्रामाणिक है। केवल एक जाति व्यक्ति की ही कल्पना नहीं करनी पड़ेगी किन्तु बहुत प्रकार की कल्पना की आपत्ति हो जायगी। इसलिए बुद्धि एक ही है उसको बहुत बार शुद्ध करने पर शोधकद्रव्य का संयोग और सङ्घर्षण से जैसे दर्पण स्वच्छ हो जाता है बुद्धि भी उसी तरह भगवान् के दोनों चरणारविन्द को बुद्धि में संयोजित करके सङ्घर्षण करने से शुद्धि विशेष को प्राप्त होती है। शोधक द्रव्यों के तारतम्य से मल का निराकरण भी कम और अधिक हो सकता है यह बात शास्त्रसिद्ध है। अञ्जन आदि में यह प्रसिद्ध है जैसे अञ्जन विशेष का चक्षु गोलकों के साथ संयोग करने पर उससे निकलने वाली दृष्टि देवताओं को भी देखती है। उसी तरह शुद्ध बुद्धि भगवतत्त्व को देख सकती है। इसमें किसी प्रकार का अनौचित्य नहीं है। अशुद्ध बुद्धि तो वस्तु की यथार्थता को नहीं समझा सकती। क्योंकि उस बुद्धि में दोषों का आवरण है। जैसे-जैसे बुद्धि में से दोषों की निवृत्ति होती जायगी वैसे-वैसे वस्तु की वास्तविकता स्फुरित होती जायगी। इसलिए अभ्यास की तथा सूक्ष्म दृष्टि आदि का उपयोग होता है। दोष विषय में तो है ही नहीं और विशेष रूप से भगवान् के विषय में और आत्म विषय में तो दोष है ही नहीं। श्रुति में भगवान् को निष्पाप बताया है 'अपहतपाप्मत्वात्' नु यह निश्चय अर्थ है। अनुध्यान का अर्थ है तत्परता से चिन्तन करना। वैसे चिन्तन से भी तदात्मकता हो जाती है इसे ही समाधि कहते हैं। यह समाधि योग से सम्बन्ध नहीं रखती है। इस आत्मतत्त्व को विद्वान् लोग अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार वर्णन करते हैं। कवि पद इस बात को सूचित करता है कि उनमें उत्प्रेक्षा (तर्क) का सामर्थ्य है। कोई आत्मतत्त्व की किसी प्रकार से उत्प्रेक्षा करते हैं और वैसा ही कहते भी हैं। अतः लौकिक वाक्य से वस्तु की यथार्थता स्फुरित नहीं होती और एक बात यह भी है कि भगवान् मुकुन्द हैं मोक्ष देने वाले हैं। वस्तु को यथार्थरूप से समझना ही मोक्ष का अङ्ग है। वह तब ही हो सकता है जब भगवान् मोक्ष देना

चाहते हैं। भगवान् की इच्छा भगवान् के चरणारविन्द का ध्यान करने से ही होती है। इसलिए जो कोई जिस किसी को जानना चाहता है उस सब की सिद्धि के लिए भगवान् की प्रार्थना करनी चाहिये। उन्हीं गुणों को कहना चाहिये जिन्हें हमने जाना है और गुणों के जानने का साधन उनके चरणारविन्द का अनुध्यान है। केवल चरणारविन्द का अनुध्यान ही पर्याप्त नहीं है उसके साथ प्रार्थना भी होनी चाहिये। क्योंकि भगवान् स्वतन्त्र हैं अतः अनुध्यान मात्र से ही वैसा नहीं करना चाहते। इसलिए श्रीशुकदेवजी कहते हैं 'प्रसीदताम्' प्रसन्न होईये। यद्यपि भागवत के निर्माण में विषय के प्रचारार्थ कृपा हो ही गई थी तथापि हमारे लिए वह कृपा पुनः हो और अपने को भी रस की सिद्धि हो इसके लिए प्रसीदताम् यह कहा ।। २१ ।।

आभास—इदानीं सामान्यतः प्रसादं प्रार्थयित्वा प्रकृतोपयोगिप्रसादं प्रार्थयितुमस्य प्रसादावश्यकत्वमाह—

आभासार्थ—इस समय सामान्यरूप से कृपा के लिए प्रार्थना करके प्रकृत में उपयोगी कृपा की प्रार्थना के लिए इस कृपा की आवश्यकता को बताते हैं—

श्लोक—**प्रचोदिता येन पुरा सरस्वती वितन्वताऽजस्य सतीं स्मृतिं हृदि ।**
स्वलक्षणा प्रादुरभूत्किलाऽऽस्यतः स मे ऋषीणामृषभः प्रसीदताम्।।२२।।

श्लोकार्थ—जिस भगवान् ने सर्वतः प्रथम ब्रह्मा के हृदय में पूर्व की सत्यस्मृति को प्रेरित की जिससे स्वस्वरूपभूत वेदात्मक वाणी ब्रह्मा के मुख से प्रकट हुई उन उपनिषदों के आदि गुरु भगवान् मेरे ऊपर प्रसन्न हों ।। २२ ।।

सुबोधिनी—प्रचोदिता येनेति । अवश्यमिन्द्रियव्यापारे कर्त्तव्ये भगवान्प्रार्थनीयः । तत्रापि वाग्विषये । तत्रापि भगवदीयपदार्थवाचके। यतो ब्रह्मणाऽपि पूर्वं भगवद्ध्यानात्प्रार्थितो भगवांस्तस्य ब्रह्मणो हृदये प्रविश्य स्वप्रकाशिकां वेदरूपां वाणीमास्यतो निष्काशितवान् । अतो भगवद्गुणेषु वक्तव्येषु नित्यवाण्येव तद्भवतीति प्रकृते भगवत्प्रार्थना आवश्यकी । ननु योगेन पदार्थान्स्मृत्वा तद्वाचकपदानामुपनिबन्धने सम्भवति किं भगवद्ध्यानेन ? इत्यत आह—अजस्य ब्रह्मणः हृदि सतीं स्मृतिं वितन्वतेति । वाक्यार्थवाक्ययोर्नित्यत्वेऽपि पूर्वमनुभूतेऽपि स्मरणमावश्यकम् । स्मरणमात्रं च न प्रमाणमिति स्मृतपदार्थानुभवसहिता साऽपेक्षिता । योगवद्भगवद्ध्यानस्याऽपि प्रत्यासत्तित्वात् । अतोऽन्तःकरणे प्रथमं सतीं भगवदनुभवसहितां स्मृतिं पूर्वानुभूतानां भगवदीयानां पदार्थानां निर्माणाय पश्चात्तेनैव हृदा भगवत्प्रेरितेन अन्तर्वेदप्रादुर्भावात्पुनर्भगवत्प्रेरिता वाणी आस्यतो निर्गता । नहि भगवद्भार्या स्वतो बहिर्निर्गन्तुं शक्नोति । इयमपि वार्त्ता वक्तुमयुक्तेत्याशङ्क्य किलेत्याह । स्वस्य लक्षणमिव लक्षणं यस्याः । नित्यत्वब्रह्मशब्दवाच्यत्वानन्तत्वादिरूपम् । अथवा । स्वयमेव लक्षणं यस्याः । वेदानामिदमेवाऽसाधारणचिन्हं यद्भगवानेव वाच्य इति । अतः पूर्वानुभूतस्मरणे तद्द्वारा निर्गमेऽपि सर्वेन्द्रियप्रेरको भगवान्प्रसीदताम् ।। २२ ।।

व्याख्यार्थ—इन्द्रियों के द्वारा कोई भी कार्य करना हो तो भगवान् की प्रार्थना अवश्य करनी चाहिये। उसमें भी यदि वाणी का व्यापार (कार्य) करना हो तो भगवान् की प्रार्थना अत्यन्त ही आवश्यक है और उसमें भी वाणी का व्यापार यदि भगवदीय पदार्थ वाचक हो तो भगवत्प्रार्थना अत्यन्त ही आवश्यक है। क्योंकि ब्रह्माजी ने भी पहले भगवान् का ध्यान करके उनको प्रार्थना को तो भगवान् ने उन ब्रह्मा के हृदय में प्रवेश करके अपने (भगवान्) को प्रकाशित करने वाली वेदरूप वाणी को उन ब्रह्मा के मुख से निकाली। अतः भगवद्गुणों का वर्णन करना हो तो वह वर्णन नित्यवाणी के द्वारा ही होता है इसलिए प्रकृत में भगवान् की प्रार्थना आवश्यक है। यदि यह शंका हो कि योग के द्वारा पदार्थों का स्मरण करके तद्वाचक पदों का उपनिबन्धन जब सम्भव है तो फिर भगवद्ध्यान की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर यह है कि स्वयं ब्रह्माजी ने भी जब भगवान् का ध्यान कर प्रार्थना की तब उनके हृदय में सत्य स्मृति की तब अन्य कोई योग के द्वारा पदार्थों के स्मरण से पदों का उपनिबन्धन कैसे कर सकता है। यद्यपि वाक्यार्थ और वाक्य दोनों ही नित्य हैं पूर्व में उनका अनुभव भी है तथापि उसका स्मरण आवश्यक है। केवल स्मरण मात्र ही प्रमाण नहीं है किन्तु स्मरण किये हुए पदार्थों के अनुभव सहित वह बुद्धि भी अपेक्षित है। योग की तरह भगवान् के ध्यान की भी उसमें प्रत्यासत्ति है। अतः अन्तःकरण में पहले विद्यमान भगवान् के अनुभव के सहित स्मृति को पूर्व में अनुभूत भगवदीय पदार्थों के निर्माण के लिए और पीछे भगवान् के द्वारा प्रेरित उसी हृदय में अन्त.वेद का प्रादुर्भाव होने से फिर भगवान् की प्रेरणा से वह हृदय को वाणी मुख से निकली। भगवान् की भार्या (सरस्वती) स्वतः बाहर नहीं निकल सकती और इस तरह की बात का कहना शुकदेवजी को अयुक्त लगा इस आशङ्का से उन्होंने किल यह पद दिया अर्थात् यह बात प्रसिद्ध है। प्रसिद्ध का प्रकाशन अनुचित नहीं है। स्वलक्षणा का अर्थ है अपने लक्षणों की तरह है लक्षण जिसके। अर्थात् नित्यत्व, ब्रह्मशब्द वाच्यत्व, अनन्तत्व आदिरूप लक्षण जो ब्रह्म के हैं वे ही लक्षण उस वाणी के हैं। अथवा स्वयं ही है लक्षण जिसका, वेदों का असाधारण लक्षण है भगवान् ही जिसका वाच्य हो। इसलिए पूर्व में जिसका अनुभव किया उसके स्मरण में और मुख के द्वारा वेदरूप वाणी के निकलने में भी सब इन्द्रियों के प्रेरक भगवान् प्रसन्न हों॥ २२॥

आभास—एवं शब्दानां भगवदधीनत्वेन तत्प्रादुर्भावार्थं भगवत्प्रार्थनामुक्त्वा, अर्थोऽपि भगवदधीन इति अस्मन्मुखनिर्गतायां वाचि भगवान्पतिरलङ्करणरूपेण प्रविशतामिति प्रार्थयते—

आभासार्थ—इस तरह शब्दों के भगवदधीन होने से उसके प्रादुर्भाव के लिए भगवान् की प्रार्थना को कहकर, अब शब्दों का अर्थ भी भगवान् के अधीन है इसलिए हमारे मुख से निकली हुई वाणी में वाणी के पति भगवान् अलङ्काररूप से प्रवेश करें ऐसी प्रार्थना करते हैं—

श्लोक—**भूतैर्महद्भिर्य इमाः पुरो विभुर्निर्माय शेते यदमूषु पूरुषः।**
भुङ्क्ते गुणान्षोडश षोडशात्मकः सोऽलंकृषीष्ट भगवान्वचांसि मे॥२३॥

श्लोकार्थ—जो भगवान् पञ्चमहाभूतों से अनेक प्रकार के पुरों का निर्माण करके उनमें स्वयं शयन करता है और सोलह रूपों को धारण कर सोलह रूप रसादि का भोग करता है वह पुरुष रूप भगवान् मेरे वचनों को अलंकृत करें ।। २३ ।।

कारिका—**स्थितिर्भोगश्च सर्वत्र भगवत्कर्तृकौ यतः ।**
अतो वाचि स्थितः कृष्णस्तां भुङ्क्तामिति कामना ।।

कारिकार्थ—स्थिति और भोग सब देहों में भगवान् ही करते हैं । इसलिए मेरी वाणी में स्थित कृष्ण मेरी वाणी का भोग करे ।

सुबोधिनी—**भूतैर्महद्भिरिति** । यद्यपि विराट्पुरुष एव, तथा प्रक्रिया सर्वत्र प्रसिद्धा, तथापि पुरुषत्वाविशेषात्स्वस्य भगवत्त्वं भगवतैव साधितमिति ज्ञापनार्थं भगवत एवेदं शरीरमित्यभिमानाभावार्थं वा व्यष्टिष्वपि समष्टिवत्प्रक्रियामाह । भूतैर्महद्भिः पञ्चमहाभूतैः स्वनिर्मितैरेव । इमाः देवतिर्यङ्मनुष्यादिरूपाः । अमूषु पूर्षु स्वयमेव शेते । अन्यथा स्वस्य पुरुषत्वमेव न स्यात् । पुरि शेत इति व्युत्पत्त्या हि सः । इदं हि शयनं न निद्रारूपं किन्तु सम्भोगार्थमेव । अत एव दक्षिणेऽक्षिणि इन्द्र इतरत्रेन्द्राणीत्युपाख्यानमेतत्परमेव भवति । अत्र च सुप्त्वा न केवलं स्पर्शमात्रमुपभुङ्क्ते किन्तु षोडशाऽपि गुणान् । भोगेऽपि षोडशात्मको भूत्वा भुङ्क्ते । जडे शुष्के रसाभावात् । भगवान् हि व्यापक आनन्दमयश्च । तत्र स्वरूपेणैव स्वरूपानुभवे तथा रसो न भवति । स्त्रीपुरुषाद्यवयवेषु तथोपलम्भात् । अतः स्वस्थितरसाविर्भावेन स्पष्टभोगार्थं भेदरूपमात्मानं विधाय तस्मिन्स्वस्मिन्प्रविष्टे बहुधा भिन्नः सन्नन्योन्यस्य रसमनुभवति । देहधारणाप्रयत्नेन भोगे व्यासङ्गो भविष्यतीति सुप्त्वा तथा भुङ्क्ते । यद्यपि विषयाः पञ्च, तथापि त्वच एव स्थानविशेषे सुखविशेषजननादिन्द्रियपुरस्सरेण यो विषयः स भिन्नतया निर्दिष्ट इति षोडशत्वम् । यत्रेन्द्रियाणां गौणत्वं तत्र विषयप्राधान्यम् । भोगे क्वचिदिन्द्रियाणामप्राधान्यं, क्वचिदिन्द्रियाणामेव प्राधान्यम् । महाराजशरीरवत् । अत उभयविवक्षया षोडशेति वचनम् । एवं भगवन्माहात्म्यं सर्वत्र पूर्णमेव ज्ञातं भवति । अलंकृषीष्ट मे वचांसि अलंकरोतु । छान्दसो दीर्घः । नन्वेवं नानात्वमापन्नः कथमलङ्कारार्थं प्रार्थ्यते ? तत्राऽऽह—**भगवानिति** । बहुवचनं सप्तार्थाभिप्रायम् । मे इत्यन्यत्र सप्तार्थाभावो द्योतितः । भागवत एव सप्तार्थी यतः ।। २३ ।।

व्याख्यार्थ—यद्यपि विराट् पुरुष ही है यह प्रक्रिया श्रुति और पुराणों में प्रसिद्ध है । तथापि पुरुषत्व में विशेषता का अभाव होने से शुकदेवजी में भी भगवत्व भगवान् ने ही सिद्ध किया है इसको बताने के लिए यह शुकदेवजी का शरीर भगवान् का ही शरीर है अथवा अभिमान न हो इसलिए व्यष्टि (प्रत्येक) में भी समष्टि की तरह प्रक्रिया कहते हैं । अपने ही द्वारा निर्मित पञ्चमहाभूतों से इमाः—ये देव, पशु-पक्षी, मनुष्यरूप इन पुरों में (शरीरों में) स्वयं ही शयन करते हैं, निवास करते हैं । पुरुष शब्द की व्युत्पत्ति है पूर्षु शेते इति पुरुषः । अतः यदि भगवान् देव, तिर्यङ्, मनुष्यरूप पुरों में शयन (निवास) न करें तो वे पुरुष ही नहीं कहे जा सकते । पुरुष

(भगवान्) का यह शयन निद्रारूप नहीं है किन्तु सम्भोग के लिए है । अतएव 'दक्षिणेऽक्षिण इन्द्र इतरत्रेन्द्राणी' इस उपाख्यान में इसी का प्रतिपादन किया है । इन देव, पशु-पक्षी, मनुष्यरूप पुरों में सोकर केवल स्पर्शमात्र का ही उपभोग नहीं करता है किन्तु सोलह गुणों का भी उपभोग करता है और सोलह गुणों का षोडशात्मक होकर भोग करता है । षोडश गुणों में पञ्चमहाभूत, दस इन्द्रियां एवं मन इनकी गणना है किन्तु इन शुष्क जड़ में रस का अभाव है । भगवान् तो व्यापक और आनन्दमय हैं । अतः उन-उन इन्द्रियों में वैसा ही रूप बनाकर अपने भोग के अनुकूल स्थिति कर लेता है इस तरह अपने प्रवेश से उन नीरसों को सरस बनाकर षोडश गुणों का उपभोग करता है । स्त्री तथा पुरुष अपने ही अवयवों से स्वयं ही रस को प्राप्त नहीं कर सकते किन्तु उन अवयवों के रस को प्राप्त करने के लिए स्त्री और पुरुष को एक-दूसरे की अपेक्षा रहती है । अतः भगवान् भी अपने में स्थित रस का आविर्भाव कर उस रस का स्पष्ट भोग करने के लिए भेदरूप से अपने को ही रूपान्तर से भिन्न बनाकर फिर उनमें स्वयं प्रवेश करके अनेक रूपों में भिन्न होकर एक दूसरे के रस का अनुभव करता है । अर्थात् भगवान् स्वयं ही अपने रस को इन्द्रियादि में स्थापित करते हैं और उन्हें अपने से भिन्न रखकर फिर उनके रस को भगवान् ग्रहण करते हैं । क्योंकि स्वतन्त्ररूप से तो उनमें रस है नहीं भगवान् ही जब उनमें प्रवेश करते हैं तब वे इन्द्रियादि षोडश रसमय हो जाते हैं । भगवान् भी षोडशात्मक होकर उस रस का उपभोग करते हैं । जाग्रत अवस्था में तो देह धारण का प्रयत्न भी रहता है इसलिए भोग में (रसानुभव में) बाधा होगी इसलिए सोकर उनके रस का अनुभव करते हैं ऐसा कहा । यद्यपि रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द ये पाँच विषय हैं तो फिर पाँच न कहकर सोलह क्यों कहा इसका तात्पर्य यह है कि सब इन्द्रियों में जो त्वचा है उसीके द्वारा स्थान विशेष में सुख विशेष के जनन से इन्द्रियों के द्वारा ही उन विषयों का उपभोग होता है अतः इन्द्रियों के भेद को लेकर ही षोडशत्व कथन है । परन्तु जहां इन्द्रियों का गौणत्व है वहां विषयों की प्रधानता रहेगी । विषय केवल पाँच है तो वहां पाँच का उपभोग होगा । भोग में कहीं इन्द्रियों की अप्रधानता होती है और कही इन्द्रियों की ही प्रधानता रहती है । महाराज के शरीर की तरह इन्द्रियों की प्रधानता और अप्रधानता होती है जैसे उष्णकाल हो तो उस समय बहुत से अलङ्कार आदि के पहनने में इन्द्रियों को अरुचि होती है परन्तु राज्यसुख के अनुभव के लिए महाराज को उन्हें सभा में पहनना पड़ता है और सभा के अतिरिक्त समय में इन्द्रियों की रुचि के अनुसार उपयोग किया जाता है । भगवान् के लिए भी यही बात है । वे कभी इन्द्रियों को प्रधानता देते हैं तो वहां ग्यारह प्रकार का भोग होता है और विषयों को प्रधानता देते हैं वहां पाँच प्रकार का भोग होता है । इसको कहने के लिए ही अर्थात् दोनों ही का समावेश करने के लिए सोलह का कथन है । इस तरह भगवान् का माहात्म्य सब जगह पूर्ण ही है यह जाना जाता है । वे भगवान् मेरे वचनों को अलंकृत करें । अलंकृषीष्ट में व्याकरण के नियमानुसार दीर्घ नहीं हो सकता अतः इसे छान्दस प्रयोग समझना चाहिये । यदि यह शंका हो कि नानात्मता को प्राप्त भगवान् से वाणी को अलंकृत करने की प्रार्थना क्यों की गई इसका समाधान करने के लिए ही भगवान् पद दिया है अर्थात् वह भगवान् इन्द्रियरूप से नाना होने पर भी वाणी को अलंकृत करने में समर्थ है । वचांसि में बहुवचन इस बात का द्योतक है कि भागवत में जो सात प्रकार के अर्थ हैं उन सब अर्थों में मेरी वाणी को शोभित करे । मे पद से यह सूचित किया है कि अन्यत्र सात अर्थ नहीं है क्योंकि सात अर्थ भागवत ही में हैं ।। २३ ।।

आभास—एवं प्रार्थनामुक्त्वा स्वगुरुं व्यासं भगवन्तं नमस्यति—

आभासार्थ—इस तरह प्रार्थना करके अपने गुरु व्यासरूप भगवान् को नमस्कार करते हैं—

श्लोक—**नमस्तस्मै भगवते वासुदेवाय वेधसे ।**
पपुर्ज्ञानमयं सौम्या यन्मुखाम्बुरुहासवम् ।। २४ ।।

श्लोकार्थ—उन भगवान् वासुदेव को मैं नमस्कार करता हूँ जिनके मुखारविन्द से निकले हुए मकरन्द का ज्ञानियों ने पान किया ।। २४ ।।

सुबोधिनी—**नमस्तस्मै भगवत इति** । वासुदेव इति सर्वमोक्षदानार्थमेव भगवतो व्यासस्यावतारः । शब्दरूपां सृष्टिं करोतीति **वेधस इति** मोक्षोपायकथनम् । व्यासनमस्कारत्वं बोधयति **पपुरिति** । ज्ञानमयं सर्ववस्तुयाथात्म्यज्ञानप्रकाशकं भारतादि । **सौम्या इति** शान्त्या ज्ञाननिष्ठयोग्यता सूचिता । यस्य मुखमेव अम्बुरुहं कमलं तत्रत्यो मकरन्द एव प्रपञ्चविस्मारकत्वादासवशब्देनोच्यते । मोक्षस्य फलत्वाद्वक्तुश्च भगवत्त्वान्मुखासवपदाभ्यां पानेच्छाप्रतिबन्धेऽपि **पानं** सूचितम् । कामिनीमुखामोदे तथोपलम्भात् । तस्मात्सर्वेषां गुरुत्वाद्भगवत्त्वाच्च सभायामपि व्यासनमनं युक्तम् ।। २४ ।।

व्याख्यार्थ—सबको मोक्ष देने के लिए ही भगवान् व्यास का अवतार है । व्यासजी शब्दरूप सृष्टि करते हैं इसलिए उन्हें वेधा (ब्रह्मा) कहा है, इन्होंने मोक्ष के उपाय को कहा है । 'पपुः' इस पद से व्यासजी के नमस्कार को बोधित किया है । सब वस्तुओं की यथार्थता को प्रकाशित करने वाला भारत आदि ज्ञानमय है । सौम्याः पद से शान्ति के द्वारा ज्ञाननिष्ठ ही इस आसव के पान के अधिकारी हैं यह सूचित किया । जिन व्यासजी का मुख ही कमल है उसमें रहने वाला मकरन्द (पुष्परस) ही प्रपञ्च का विस्मारक होने से आसव शब्द से कहा गया है । मोक्ष फलरूप है और वक्ता भगवद्रूप है । इसलिए मुख और आसव इन दो पदों से पीने की इच्छा में कोई रुकावट भी हो तो भी उसका पान होता है यह सूचित होता है । कामिनी के मुखामोद (मुख की सुगन्ध) में इच्छा न रहते भी इसकी उपलब्धि होती है । व्यासजी सबके गुरु है और भगवान् हैं इसलिए सभा में भी व्यासजी को नमस्कार करना उचित है ।। २४ ।।

आभास—एवं देवतागुरुनमस्कारं कृत्वा महता प्रबन्धेन तन्निरूपयितुं पूर्वप्रश्ने उत्तरमाह—

आभासार्थ—इस तरह देवता और गुरु को नमस्कार करके भागवत जैसे महाप्रबन्ध से उसका निरूपण करने के लिए पूर्व प्रश्न का उत्तर देते हैं—

श्लोक—**एतदेवाऽऽत्मभू राजन् नारदाय विपृच्छते ।**
वेदगर्भोऽभ्यधात्साक्षाद्यदाह हरिरात्मने ।। २५ ।।

श्लोकार्थ—हे राजन् ! नारदजी ने यही बात ब्रह्माजी से पूछी थी। ब्रह्माजी ने नारदजी को यह भागवत कही थी। इस भागवत को भगवान् ने ब्रह्माजी से कही थी ॥ २५ ॥

सुबोधिनी—एतदेवेति। यद्भवान्पृष्टवाने-तदेव नारदेन पृष्टं आत्मभूर्ब्रह्मा प्रमेयबलपुष्टः। वेदा गर्भे यस्येति प्रमाणबलपुष्टोऽपि। प्रमेयस्य प्रमाणत्वेन विशिष्टबलपुष्टोऽपि। यदाह हरि-रात्मन इति वाक्यात्तादृशमुखेनैव तत्रोत्तरे सन्देहनिवृत्तिर्भविष्यतीति पूर्ववत्पुनः सन्देह-प्रश्नाभावाय स्वतोऽनिरूपणम्। पूर्वमेव कर-णानां दोषतारतम्यस्य निरूपितत्वान्नाऽत्र पुनरुक्तिः। साक्षादित्युभयत्र विशेषणम्। आत्मने ब्रह्मार्थे। परम्पराकथने तु मध्ये वक्तृ-दोषः प्रसज्येत। अत एव स्वतः कथनमपि निवारितम्। दोषाभावोऽपि प्रार्थनया ज्ञानेन च सूचितः। अनेन उत्पत्त्योपपत्त्या च विचारद्वयं वक्तव्यत्वेन प्रतिज्ञातमिति सूचितम् ॥२५॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षित-विरचितायां द्वितीयस्कन्धे चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

व्याख्यार्थ—हे राजन् ! जो बात तुमने पूछी वही बात नारदजी ने ब्रह्माजी से पूछी थी। ब्रह्माजी प्रमेयबल से पुष्ट हैं अतः उनको यहां आत्मभूः शब्द से कहा। ब्रह्माजी आत्मभू होने से जैसे प्रमेयबल से पुष्ट थे उसी तरह प्रमाण बल से भी पुष्ट थे इसको बताने के लिए वेदगर्भः यह पद दिया। प्रमेय भगवान् ही प्रमाणरूप (वेदरूप) है अतः ब्रह्माजी प्रमेय और प्रमाणरूप होने से विशेष बल से पुष्ट भी हैं। यदाह हरिरात्मने इस वाक्य से यह सूचित होता है कि भगवान् के सदृश मुख से ही उस प्रश्न का उत्तर देने से सन्देह निवृत्ति होगी इसलिए अब तुम्हें पूर्व की तरह कोई सन्देह ही नहीं होगा जिससे कोई प्रश्न ही नहीं होगा अर्थात् इसका निरूपण मैं स्वतः नहीं कर रहा हूं। प्रत्येक के अन्तःकरणों में दोषों का तारतम्य होता है यह पहले कह चुके हैं। अतः अब उसे पुनः कहने की आवश्यकता नहीं है। साक्षात् पद का सम्बन्ध हरि(भगवान्) और वेदगर्भ ब्रह्मा दोनों के साथ है। आत्मने का अर्थ है ब्रह्मा के लिए। ब्रह्माजी को साक्षात् भगवान् ने ही भागवत कही अन्यथा यदि परम्परा होती तो इसमें वक्ता के दोष भी मिल जाते। इसीलिए शुक-देवजी भी स्वतः अपनी ओर से कुछ नहीं कह रहे हैं। अर्थात् शुकदेवजी तो भगवान् ने जो भागवत ब्रह्माजी को कही उसे ही कह रहे हैं। प्राथना और ज्ञान के कारण शुकदेवजी में किसी प्रकार का दोष भी नहीं है यह भी सूचित किया। यदि दोष होता तो भगवान् की प्राथना न करते और यदि किसी तरह प्रार्थना भी कर देते तो भी ज्ञान तो होता ही नहीं। इस तरह ब्रह्मा की उक्ति और भगवान् की उक्ति के कथन से उत्पत्ति और उपपत्ति से दो विचार इस भागवत में कहे जायेंगे ऐसी प्रतिज्ञा की ऐसा सूचित किया है ॥ २५ ॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण द्वितीय स्कन्ध की अखण्ड भूमण्डलाचार्य श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) के वक्ता के हृत्प्रसाद प्रकरण का चतुर्थ अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण

श्रीमद्भागवतद्वितीयस्कन्धश्लोकानामकारादिवर्णानुक्रमः

	पृष्ठम्
अ.	
अकामः सर्वकामो वा	१०७
अतः कविर्नामसु	५८
अथाऽभिधेह्यङ्ग मनो	१२१
अथो अनन्तस्य मुखा	८३
अदीनलीलाहसिते	६९
अन्तकाले तु पुरुष	२८
अन्नाद्यकामस्त्वदितिं	९८
अभ्यसेन्मनसा शुद्धं	२८
आ.	
आण्डकोशे शरीरेऽस्मिन्	३९
आत्मजायासुतागार	१२६
आयुःकामोऽश्विनौ देवौ	९८
आयुर्हरति वै पुंसां	११३
इ.	
इत्थं मुनिस्तूपरमेत्	७७
इत्यभिव्याहृतो राजा	११०
इत्युपामन्त्रितो राज्ञा	१३१
इदं भागवतं नाम	२०
इन्द्रादयो बाहव आहु	४३
इयानसावीश्वर	५०
ई.	
ईशस्य केशान्विदुरम्बु	४४
उ.	
उन्निद्रहृत्पङ्कजकर्णिका	६९
उरःस्थलं ज्योतिरनीक	४१
ए.	
एकैकशोऽङ्गानि धिया	६९
एतच्छुश्रूषतां ब्रह्मन्	१११
एतदेवात्मभू राजन्	१५७
एतन्निर्विद्यमानानां	२४
एतावानेव यजतां	१०८
एतावान्साङ्ख्ययोगाभ्यां	१७
एते सृती ते नृप	९०
एवं पुरा धारणया	५६
एवमेतन्निगदितं	९८
एवं स्वचित्ते स्वत एव	६६

	पृष्ठम्
क.	
कस्तां त्वनादृत्य परा	६८
किं प्रमत्तस्य बहुभिः	२५
किरातहूणान्ध्रपुलिन्द	१४५
केचित्स्वदेहान्तर्हृदया	६९
ख.	
खट्वाङ्गो नाम राजर्षिः	२६
ग.	
गृहात्प्रव्रजितो धीरः	२८
घ.	
घ्राणेन गन्धं रसनेन	८८
च.	
चीराणि किं पथि न	६३
छ.	
छन्दांस्यनन्तस्य यशो	४४
ज.	
जितासनो जितश्वासो	३५
जीवञ्छवो भागवता	११८
ज्ञानं यदा प्रतिनिवृत्त	१०८
त.	
ततो विशेषं प्रतिपद्य	८७
तत्रैकावयवं ध्यायेत्	३२
तथा गुणांस्तु प्रकृतेः	१३०
तदश्मसारं हृदयं	१२०
तदहं तेऽभिधास्यामि	२३
तद् विश्वनाभिं त्वति	८३
तपस्विनो दानपरा	१४३
तरवः किं न जीवन्ति	११४
तवाऽप्येतर्हि कौरव्य	२७
तस्मात्सर्वात्मना राजन्	९४
तस्माद्भारत सर्वात्मा	८
तस्माद्भ्रुवोरन्तरमुन्न	७८
तेनाऽऽत्मनाऽऽत्मान	८९
द.	
देवीं मायां तु श्रीकामा	९८
देहापत्यकलत्रादि	७
द्यौरक्षिणी चक्षुरभूत्	४४
द्वे जानुनी सुतलं	४१

	पृष्ठम्
ध.	
धर्मार्थमुत्तमश्लोकं	९८
न.	
नद्योऽस्य नाड्योऽथ	४४
नमस्तस्मै भगवते	१५७
नमः परस्मै पुरुषाय	१३३
नमो नमस्तेऽस्त्वृषभाय	१३७
न यत्र कालोऽनिमिषां	७५
न यत्र शोको न जरा	८६
न ह्यतोऽन्यः शिवः पन्था	९१
नाभ्यां स्थितं हृद्यधि	७८
निद्रया ह्रियते नक्तं	६
नियच्छेद्विषयेभ्योऽक्षान्	३१
नूनं भगवतो ब्रह्मन्	१३०
प.	
पदं तत्परमं विष्णोः	३२
पप्रच्छ चेममेवार्थं	१२६
परं पदं वैष्णवमाम	७६
परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्ये	२१
पातालमेतस्य हि	४०
पिबन्ति ये भगवत	९४
प्रचोदिता येन पुरा	१५३
प्रसन्नवक्त्रं नलिनायते	६९
प्रायेण मुनयो राजन्	१९
ब.	
बर्हायिते ते नयने	११८
बिले बतोरुक्रम	११७
ब्रह्मवर्चसकामस्तु	९८
ब्रह्माननं क्षत्रभुजो	४४
भ.	
भगवान्ब्रह्म कार्त्स्न्येन	९२
भगवान् सर्वभूतेषु	९३
भारः परं पट्टकिरीट	११७
भूतैर्महद्भिर्य इमाः	१५४
भूय एव विवित्सामि	१२८
भूयो नमः सद्वृजिन	१३४
म.	
मनः स्वबुद्ध्याऽमलया	७३
य.	
यज्ञं यजेद्यशस्कामः	९८

	पृष्ठम्
यत्कीर्तनं यत्स्मरणं	१३९
यत्र सन्धार्यमाणायां	३४
यथा सन्धार्यते ब्रह्मन्	३५
यदङ्घ्र्यनुध्यानसमा	१५०
यदि प्रयास्यन्नृप	८१
यां यां शक्तिमुपाश्रित्य	१२९
यावन्न जायेत परा	७२
योगेश्वराणां गतिमाहु	८२
र.	
राज्यकामो मनून् देवान्	९८
रूपाभिकामो गन्धर्वान्	९८
व.	
वयांसि तद्व्याकरणं	४४
वरीयानेष ते प्रश्नः	३
विचक्षणा यच्चरणा	१४१
विचिकित्सितमेतन्मे	१३१
विज्ञानशक्तिं महिमा	४४
विभूषितं मेखलया	६९
विशेषस्तस्य देहोऽयं	३६
वैयासकिश्च भगवान्	११२
वैयासकेरिति वचः	१२५
वैश्वानरं याति विहा	८३
व्रीडोत्तरोष्ठोऽधर एव	४४
श.	
शाब्दस्य हि ब्रह्मण	५८
श्रियः पतिर्यज्ञपतिः	१४८
श्रोतव्यादीनि राजेन्द्र	४
श्वविड्वराहोष्ट्रखरैः	११६
स.	
स एष आत्मात्मवता	१४६
सत्यां क्षितौ किं कशिपोः	९३
स भूतसूक्ष्मेन्द्रिय	८९
समीचीनं वचो ब्रह्मन्	१२८
स वै भगवतो राजा	१११
स सर्वधीवृत्त्यनु	५१
संस्थां विज्ञाय संन्यस्य	१२७
स्थिरं सुखञ्चासन	७३

।। श्री वृन्दावनेश्वर ।।

वृन्दावनेश्वर मुकुन्द मनोज्ञवेष, वंशीविभूषित कराम्बुज पद्मनेत्र ।
विश्वेश केशव व्रजोत्सव भक्तिवश्य, देवेश पाण्डवपते मम देहि दास्यम् ।।

श्री मद्वल्लभाचार्य

।। श्रीकृष्णाय नमः ।।

।। श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ।।

।। श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ।।

● श्रीमद् भागवत महापुराण ●

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

द्वितीय स्कन्ध

मनन-प्रकरण (श्रवणाङ्ग स्कन्ध)

अध्याय—५

ब्रह्माजी का अन्तर्यामी के प्राकट्य के प्रकार का कहना

कारिका—**विमर्शः षड्भिरध्यायैः क्रियते, स द्विधा मतः ।**
उत्पत्त्या चोपपत्त्या च तत्राऽद्योऽपि द्विधा मतः ।।१।।

कारिकार्थ—अब पंचम अध्याय से प्रारंभ कर स्कन्ध समाप्ति-पर्यन्त छः अध्यायों में भागवत-विचार किया जाता है। 'वस्तुतत्त्व-विचार' नामक इस तृतीय प्रकरण में 'उत्पत्ति-विमर्श' प्रथम प्रकरण है। यह प्रकरण दो प्रकार का है। (१) उत्पत्ति और (२) उपपत्ति। भगवान् के स्वरूप लीला, गुणों का विचार ही भागवत है, और यही यहाँ 'वस्तुतत्त्वविचार' नाम से कहा गया है। उद्देश कथन मात्र-अर्थात् वस्तु का पहिले-पहिले प्रारम्भ 'उत्पत्ति' कही जाती है, और फिर उसका प्रश्न सिद्धान्तफल दृष्टान्त हेतु प्रभृति के द्वारा विचार ही 'उपपत्ति' कही गई है। ये बातें (५ से १०) ६ अध्यायों में कही गई हैं। इस विमर्श प्रकरण में उत्पत्तिः विमर्श भी स्थूल अन्तर्यामी के भेद से दो तरह का है, और फिर स्थूल भी मूर्त और अमूर्त भेद से दो प्रकार का है। इन दो प्रकरणों में से स्थूल मूर्त पदार्थ जो पचास, करोड़ प्रमाण का ब्रह्माण्ड है, उसका उपपत्ति सहित उत्पत्ति का निरूपण करने वाला यह पंचम अध्याय है ।।१।।

कारिका—**स्थूलान्तर्यामिभेदेन, मूर्त्तामूर्त्त-विभेदतः ।**
स्थूलोऽपि द्विविधस्तत्र स्थूलमूर्तविमर्शने ।।२।।

कारिकार्थ—सूक्ष्म और अमूर्त पदार्थ अन्तर्यामी है, और स्थूल और मूर्त पदार्थ यह ब्रह्माण्ड है । ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति है और अन्तर्यामी की उत्पत्ति नहीं होती । साधक प्रमाणों से ही विचार हो सकता है, अतएव इस पञ्चमाध्याय में साधक प्रमाणों के द्वारा स्थूलमूर्त पदार्थ ब्रह्माण्ड का उत्पत्तिक्रम से निरूपण है ।।२।।

कारिका—**उत्पत्त्या पञ्चमाध्यायः सोपपत्त्या निरूपकः ।**
पुरुषः क्रमतः शक्तित्रयं गृह्णन्भवादिकृत् ।।३।।

कारिकार्थ—इस स्कन्ध में श्री भागवत (वस्तुतत्त्व) के विचार श्रवणकर्ता प्रथम नारदजी हैं और वक्ता ब्रह्मा हैं, और फिर श्रवणकर्त्ता ब्रह्मा है और नारायण वक्ता हैं । पर वास्तव में इससे उलटा क्रम है, पहिले श्रोता वक्ता ब्रह्मा और भगवान् हैं और दूसरे नारद ब्रह्मा हैं ।।३।।

कारिका—**इत्युक्त्वा नारदाजाभ्यां जन्मभिर्नेति गद्यते ।**
एकीभूते प्रवेशेन निर्गमादपि विह्वलः ।।४।।

कारिकार्थ—उन दोनों क्रमों में नारद और ब्रह्मा के प्रश्नोत्तर द्वारा पञ्चमाध्याय में यह निर्णय किया गया है कि पुरुषोत्तम भगवान् क्रम से उत्पत्ति (रजःशक्ति) स्थिति (सत्व-शक्ति) और प्रलय (तमःशक्ति) तीनों शक्तियों का ग्रहण कर इस जगत् की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय कर्ता हैं । किसी प्रदार्थ को अलग रह कर पैदा कर देना यह कर्त्ता का काम है, पर यहाँ भगवान् इस प्रकार के लौकिककर्ता नहीं है, किन्तु अलौकिक कर्ता हैं, यह कहा गया है । अर्थात् वह भगवान् अपने स्वरूप को आप ही करता है । क्रिया-कर्ता भी आप हैं और क्रिया का आश्रय भी आप ही हैं । घट क्रिया का कर्त्ता कुम्हार है पर क्रिया का आश्रय मिट्टी है, एक* निमित्त कारण है दूसरा उपादान कारण है, पर भगवान् ही निमित्त और भगवान् ही उपादान कारण है । यह इस उत्पत्ति प्रकरण में कहा गया है ।।४।।

* मिट्टी, निमित्त और कुम्हार उपादान कारण है ।

कारिका—**अथवा दार्ढ्यतासिध्द्यै नारदः पृच्छति स्फुटम् ।**
प्रश्नत्रयं नारदेन क्रियते तत्त्व-निर्णये ।।५।।

कारिका—**आत्मनो जगतश्चाऽपि निर्द्धारो भजनस्य च ।**
द्वयोर्निर्द्धारशेषत्वं तेन प्रत्युत्तरं ततम् ।।६।।

कारिकार्थ—यहाँ यह प्रश्न होता है कि राजा परीक्षित् भगवत्तत्त्व से अनजान है, इसलिये उसका प्रश्न करना ठीक है। पर नारद तो ज्ञानी हैं, फिर उन्होंने ऐसा प्रश्न क्यों किया ? इसका उत्तर देते हैं कि नारद को भी उतना ही ज्ञान था जितना भगवान् ने उन्हें दिया था, अतएव प्रश्न उचित है। जब सारा जगत् भगवान् में मिलकर एक हो जाता है, पर उत्पत्ति के समय यह पृथक् पृथक् कैसे निकल पड़ता है ? यह व्याकुलता नारद के हृदय में भी रहती है, इसलिये उन्होंने प्रश्न किया है। अथवा समझ बूझकर भी भगवन्माहात्म्य में मेरी बुद्धि दृढ़ बनी रहे। इस हेतु से भी नारद ने 'वस्तुतत्त्वनिर्णय' करने के लिए ब्रह्माजी से तीन प्रश्न किये—एक आत्म-निर्धार का, दूसरा जगन्निर्धार का और तीसरा भजन निर्धार का। इनमें से आत्मा और जगत् का निर्धार, भजन-निर्धार का शेष है। अर्थात् जगत् और आत्मा दोनों भगवत्सेवा के लिये हैं। यही सारे भागवत का वस्तुतत्त्वनिर्धार का सिद्धान्त और फल है ।।५-६।।

कारिका—**द्वितीयस्य द्विरूपत्वं बहिरन्तर्व्यवस्थया ।**
विराजोऽन्तर्मुखत्वाद्धि विपरीतेन वर्ण्यते ।।७।।

कारिकार्थ—भगवान् का द्वितीय रूप जगत् या ब्रह्माण्ड दो रूप वाला है। (१) बहिर्ब्रह्माण्ड और (२) अन्तर्ब्रह्माण्ड। व्यष्टि (पिण्ड) और समष्टि (विराट्) दोनों में भी यह व्यवस्था है ही। इसे ही स्थूल शरीर और लिंग (सूक्ष्म शरीर) कहते हैं। इसलिये जगत् के निरूपण में दो अध्याय कहे गये हैं, पंचम और षष्ठ। इस विराट् में व्यापक होकर रहने वाला शरीरी लिंग, अशरीरी भगवान् अन्तर्यामी है। यद्यपि वह प्रथम है तथापि उसका निरूपण पीछे-जहाँ उसके अवतारों का निरूपण होगा—वहीं उसका निरूपण संभव है। यह विराट् भगवान् अन्तर्मुख होने पर प्रकट होता है, इसलिए इसका निरूपण पहिले न होकर पीछे किया गया है ।।७।।

कारिका—**स्थूललिङ्ग विभेदो वा तेनाऽध्यायद्वयं मतम् ।**
प्रथमस्योत्तरं पश्चात्तदन्तर्यामिसम्भवे ।।८।।

कारिकार्थ—कहने का तात्पर्य यह कि जगत् में दो वस्तु हैं, चेतन (जीव) और अचेतन (जड़) । पर माया के सम्बन्ध से दोनों आत्मा (भगवान्) रहते भी अनात्मा हो रहे हैं । इनका भी वस्तुतत्त्व-ज्ञान करना है पर इनका यथार्थ ज्ञान अन्तर्यामिज्ञान-सापेक्ष है । उसके ज्ञान से इन दोनों का ज्ञान होता है क्योंकि वह भगवान् ही तत्तद्रूप होकर उनमें प्रवेश करता है । इसके ज्ञान के लिए दोनों अनात्म पदार्थों का पृथक्करण करना होता है । यह पृथक्करण पंचम और षष्ठ अध्यायों में किया गया है, उनके यथार्थ स्वरूप को समझाया गया है इसके बाद सप्तमाध्याय अन्तर्यामो का सम्भव है । अर्थात् उसके अवतारों का वर्णन कर उसके स्वरूप को समझाया गया है ।।८।।

आभास—एवं पूर्वाध्याये परीक्षिच्छुकयोः फलमुखं साधनं निरूप्य पूर्वोक्तस्य च साधनस्य च विचारार्थ-मध्यायषट्कारम्भः । तत्र पञ्चमाध्याये साधनस्य, स्थूलरूपस्य चोत्पत्त्या निर्णय उच्यते । तत्र प्रथमं तत्त्वस्य दुर्ज्ञेयत्वं वदन्वक्तारं विशिनष्टि—

आभासार्थ—इस तरह चतुर्थ अध्याय में परीक्षित और शुकदेवजी के फलमुख-साधन का निरूपण करके पूर्व में कहे हुए सब सिद्धान्त का और उसके साधन का भी विचार करने के लिये अब छः अध्यायों का प्रारम्भ है । इन छः अध्यायों के प्रतिपाद्य में पहले इस पाँचवें अध्याय में साधनरूप और श्रोतव्य विषय भगवान् के स्थूल रूप का उत्पत्ति से निर्णय करते हैं । उसके भी पहिले वह तत्त्व दुर्ज्ञेय है यह दिखाने के लिए उसके वक्ता ब्रह्माजी की विशिष्टता दिखाते हैं—

श्री नारद उवाच—श्लोक—**देव देव ! नमस्तेऽस्तु भूत-भावन पूर्वज ।**
तद्विजानीहि यज्ज्ञानमात्मतत्त्वविमर्शनम् ।।१।।

श्लोकार्थ—हे देव-देव ब्रह्माजी ! आपको नमस्कार है । आप प्राणियों को उत्पन्न करते हो और सबके पहिले पैदा होते हो । मुझे वह ज्ञान दो जिस ज्ञान के द्वारा आत्मतत्त्व की समझ हो जावे ।

सुबोधिनी—देवदेवेति । अयं नमस्कारः प्रश्नार्थः । नारदो जिज्ञासार्थं प्रवृत्तः कथं देव नमस्कारं न कृतवानित्याशङ्कयाऽऽह । हे देवानां देव ! अनेन देवता गुरु रूपो भवानेव ममेति न पृथङ्नमस्कारः कर्त्तव्य इति सूचितम् । **अस्त्विति** प्रार्थना प्रमेयसमाप्तिपर्यन्तं मङ्गलानुवृत्यर्थम् । आत्मानमुपदेक्ष्यति निश्चयेनेति । स्वप्रवृत्तौ हेतुज्ञापकं विशेषणमाह—**भूतभावनेति** । भूतानि भावयत्युत्पादयति । शोधयति वा । स्वयं वेदानुदरे दिव्याग्निरूपान्निवेश्य तत्र

सर्वाञ्जीवान् शुद्धान्कृत्वा पश्चान्निष्काशयतीति शोधकत्वम् । **पूर्वजेति** । हे पितः । सन्देहे पूर्वज एव पृच्छ्यते । अथवा । सर्वापेक्षया भवानेव पूर्वमुत्पन्नः । अतस्त्वत्तः कोऽप्यन्यो महान्नास्तीति त्वमेव प्रष्टव्य इत्यर्थः । एवं त स्तुत्वा प्रष्टव्यमाह—**तद्विजानीहीति** । तद्विशेषाकारेण त्वं जानीहि, ज्ञापय वा ज्ञानं किमिति । सर्वे हि वदन्ति ज्ञानं ज्ञानमिति । तत्किं ज्ञानं आत्मा वा, आत्मसाक्षात्कारो वा, भगवत्साक्षात्कारो वा, श्रुतिसहितो वा, प्रवेशहेतुर्वा, भक्तिजनको वा, परोक्षं वा, स्मृतिरूपं वेति । तत्र निर्द्धार्य त्वया वक्तव्यमित्यर्थः । किञ्च । यत्राऽऽत्मतत्त्वस्य विमर्शनं विचारो भवति । अनेन ज्ञाने अङ्गद्वयमपि पृष्टं क आत्मा किं तत्वमिति । तत्राऽपि लोक-प्रसिद्धं तन्न भवति किन्तु विचार-साध्यमिति, विचारोऽपि वक्तव्य इति सूचितम् । एवं चत्वारः प्रश्नाः सम्पन्नाः ।।१।।

व्याख्यार्थ—जिससे प्रश्न किया जाय उसे पहिले नमस्कार करना चाहिये । इसलिए यह नमस्कार प्रश्न के संतोषार्थ है । यहाँ कोई यह पूछे कि नारद जिस भगवान् को समझने के लिए प्रश्न कर रहे हैं उस भगवान् को भी नमस्कार क्यों न किया ? इसके उत्तर में 'देवदेव' शब्द कहा है । अर्थात् मेरे हृदय में तो देवता और गुरु दोनों आप ही हो, इसलिए ब्रह्मा को पृथक् नमस्कार न किया । प्रमेय को समाप्ति पर्यन्त मङ्गल रहा आवे इसके लिये 'अस्तु' कहा । अर्थात्-मंगलरूप नमस्कार वहाँ तक बना रहे ।

कोई नारद से पूछे कि ब्रह्माजी अवश्य आत्मा का उपदेश कर सकेंगे, यह तुमने कैसे जाना? तो कहते है कि- हे भूतभावन ! आप सब प्राणीमात्र के उत्पादक हो इसलिए मुझे निश्चय है, और इसीलिए प्रश्न में प्रवृत्ति हुई है । अथवा-प्राणियों को जो भगवद्भावना द्वारा विशुद्ध करें वह भूतभावन । ब्रह्मा जी के उदर में दिव्याग्नि रूपवेद निवास करते हैं, इसलिए उसी उदर में सब जीवों को निवास करा कर शुद्ध बनाकर वे फिर बाहिर निकालते हैं, इसलिए ब्रह्माजी शोधक भी हैं। और हे पूर्वज ! (पिता) कहने का भी यही आशय है कि हृदय का सन्देह अपने पिताजी से ही पूछा जाता है । अथवा सारी सृष्टि की अपेक्षा से आप ही पहले प्रकट हुए हो, इसलिए आप से बड़ा कोई और दिखता नहीं इसलिए पुरानी बात आप से ही पूछना उचित है। इस तरह ब्रह्माजी की स्तुति करने के बाद अब जानने की बात पूछते हैं । 'तद्विजानीहि' जो ज्ञान ज्ञातव्यं है, उसे आप जानते हो । उसे मुझे समझाओ वह ज्ञान कौनसा है ? सब ही लोग 'ज्ञान' 'ज्ञान' जो कह रहे हैं, यह ज्ञान क्या आत्मा है ? किंवा आत्मा का साक्षात्कार है ? वह भी श्रुतिबोध सहित है या केवल है ? और वह ज्ञान भगवत्प्रवेश में हेतु है ? किंवा भक्ति को उत्पन्न करने वाला है ? किंवा यह परोक्ष ज्ञान है ? किंवा स्मृति रूप है ? इन सब बातों का निर्धार करके आप कहें । मैं उस ज्ञान को समझना चाहता हूं जिसमें आत्म तत्त्व का विचार होता हो । इससे कहने का यह आशय है कि इस ज्ञान के जो आत्मा और तत्त्व दो अङ्ग हैं उनका भी प्रश्न इसी में आ गया इसका भी उत्तर आप दें । यह तो स्पष्ट है कि वह ज्ञान लोक में प्रसिद्ध है नहीं । तब विचार के द्वारा ही उसे समझ सकूँगा इसलिए उसका विचार किस प्रकार किया जाता है सो भी कहिये । इस तरह इस एक ही प्रश्न में चार प्रश्न हुए, वस्तु तत्त्व, ज्ञान, आत्मा और विचार ।।१।।

आभास—किञ्च ! तत्त्वे भेदान्पृच्छामीत्याह—

आभासार्थ—अब पहिले तत्व के भेदों को पूछते हैं—

श्लोक—**यद्रूपं यदधिष्ठानं यतः सृष्ठमिदं प्रभो ।**
यत्संस्थं यत्परं यच्च तत्तत्त्वं वद तत्त्वतः ॥२॥

श्लोकार्थ—तत्त्व का रूप क्या है ? तत्त्व का आधार क्या है ? तत्त्व कहाँ से पैदा होता है । हे सर्व समर्थ! वह तत्त्व किसमें मिला हुआ रहता है ? उस तत्त्व का नियमनकर्त्ता कौन है और वह तत्त्व वस्तु क्या है ? यह मुझे खूब समझाकर सत्य-सत्य कहिये ॥२॥

सुबोधिनी—**यद्रूपमिति** । तत्त्वमनारोपितं रूपम् । तत्सर्वस्याऽपि जगतो जन्यत्वादात्मनोऽपि प्रादुर्भूतत्वात्सर्वस्यैवाऽऽरोपविषत्वात् । अतस्तस्य रूपं वक्तव्यं । यद्रूपं स्वरूपं यस्य । आरोपितत्वानारोपितत्वे हि साधिष्ठाने भवतः । अतस्तदधिष्ठानमपि वदेत्याह **यदधिष्ठानमिति**। लोकेऽपि जगतस्तत्त्वव्यवहारात्तत्त्वानां च तत्त्वव्यवहारान्मूलतत्त्वाभावे तन्न घटत इति जगतः कारणमपि तत्त्वं वदेत्याह—**यतः सृष्टमिदमिति** । वादिविप्रतिपत्तेश्च कुतो जगज्जातमिति । किञ्च । **यत्संस्थम्** । यस्मिन् संस्था स्थितिर्यस्य । संस्था मृत्युर्वा । विमर्शशेषत्वेन जगतो वा प्रश्नः । तदा तत्त्वे प्रश्नद्वयम् ।सृष्टौ प्रश्न चतुष्टयम् । उत्पति स्थिति प्रलयाः स्वरूपं चेति तद्विषयाः तस्य भावस्तत्त्वमिति भगवतो भावो जगदेव । आत्मा तु तत् । अथवा सामान्यतस्तत्त्वं विचार्यते । ते नेकमनेकं वा फलिष्यति । **यत्परमिति** । यः परो नियन्ता यस्य । अनेन स्थितिरुक्ता । एकपक्षे तत्तत्त्वं कस्य परभूतमिति । को वा तस्य तत्त्वस्य ग्राहक इत्यर्थः । रूपं हि द्विविधं, प्रमाणतः स्वरूपतश्च । तत्र यद्रूपमिति प्रमाणतः । यच्चेति स्वरूपत्तः । तत्त्वस्य जगद्रूपत्वे भिन्नत्वे वा षडङ्गानि पृष्टानिः । एतेषां भेदानां ज्ञानं यथा तत्त्वतो ज्ञातं भवति तथा वदेत्यर्थः ॥२॥

व्याख्यार्थ—जिसका रूप आरोपित न हो वह तत्त्व है । यह सारा जगत् अपूर्वरूप से पैदा होता है और आत्मा भी उसके साथ ही प्रकट होता है इसलिये दुनिया के सब ही पदार्थ आरोपित रूप होने प्रभृति कारणों से तत्त्व नहीं कहे जा सकते । अतएव पहिले तत्त्व का रूप कहिये उसका क्या स्वरूप है । आरोपित या अनारोपित कोई भी पदार्थ किसी अधिष्ठान (आधार) में हो सकता है तो फिर इसका आधार क्या है सो भी कहिये 'यद्धिष्ठानं' ।

लोक में भी जगत् का तत्त्वनाम से व्यवहार करते हैं और जगत् के मूल तत्त्वों को भी तत्व शब्द से ही कहते हैं तो अब वास्तविक मूल तत्त्व कौन है यह प्रश्न रहा ही आता है । कोई न कोई तत्त्व, जब तक सब तत्त्वों का मूल कारण न माना जाय, या न बताया जाय तब तक यह सब व्यवहार ही कैसे बन सकता है, इसलिए सब का जो कारण तत्त्व है उसका निरूपण कीजिये-'यतःसृष्टम्' । वादियों को भी यह विप्रत्तिपत्ति (अड़चन) रहती ही है कि यह जगत् किस तत्त्व में से पदा हुआ है । इसलिये भी मूल कारण का पता लगाना उचित है । और एक बात यह भी है कि- 'यत्संस्थं' सृष्टि अवस्था में जिसमें यह जगत् ठहरा रहता है उसका भी निरूपण करिये ।

अथवा संस्था शब्द का मृत्यु अर्थ भी कर लेना चाहिये। अर्थात् 'यत्संस्थं' जहां पहुँचकर जगत् समाप्त हो जाता है, जगत् का मृत्यु कौन है? यहां केवल तत्त्व का ही प्रश्न नहीं है पर विचार का विषय होने से जगत् का भी प्रश्न है। ऐसी अवस्था में अब तत्त्व के विषय में तो दो प्रश्न हुए। तत्त्व का स्वरूप क्या है और मूल तत्त्व कौन है। और सृष्टि के विषय में चार प्रश्न हैं। उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय और सृष्टि का वस्तु स्वरूप। तस्यं भावस्तत्त्वं भगवान का भाव अनारोपितरूप, यह व्युत्पत्ति करने से जगत् ही तत्त्व कहा जायगा। आत्मा (जीवात्मा आदि) तो तत् (भगवान्) में ही आ जाते हैं, इसलिये उसका पृथक् प्रश्न करने की जरूरत नहीं है। अथवा यहां तत्त्व शब्द से साधारण तत्त्वमात्र का प्रश्न है उसमें कारण और कार्यरूप दोनों तत्त्व आ जाते है। कारणतत्त्व एक और कार्यतत्त्व अनेक, अपने आप तत्त्व शब्द से आ सकते हैं।

'यत्परम्' का भी प्रश्न है। जो पर नाम का पदार्थ सब को नियम में रखने वाला हो, उसे भी कहिये। इससे जगत् की स्थिति का प्रश्न किया है और जब एक ही तत्त्व मानने का पक्ष है, तब अर्थ दूसरा होता है। वह तत्त्व किसके पर है अर्थात् उस तत्त्व का ग्राहक कौन है किसके लिए यह तत्त्व बनाया गया है? यह भी कहिये।

रूप दो प्रकार का होता है, एक प्रमाण के द्वारा गृहित और दूसरा स्वरूप से ही गृहित। यहाँ 'यद्रुप' शब्द से प्रमाण प्राप्त तत्त्व का प्रश्न है और 'यच्च' शब्द से स्वरूप गृहित तत्त्व का प्रश्न है। तत्त्व शब्द से चाहे जगत् समझो या तत्त्व समझो पर उसका प्रश्न छः अंग सहित किया है। इन पूछे हुए सब भेदों का मुझे जैसे वास्तविक ज्ञान हो जाय वैसे कहिये यह तात्पर्य है ॥२॥

आभास—यथा त्वं जानासि तथा ज्ञानमस्माकं कुर्वित्यभिप्रायेण तस्य सर्वज्ञतामाह—

आभासार्थ—जिस प्रकार आप इस विषय में जानते हैं उसी प्रकार का ज्ञान हमें भी करा दें इस अभिप्राय से नारदजी ब्रह्माजी की सर्वज्ञता बताते हैं—

श्लोक—**सर्वं ह्येतद्भवान्वेद भूत भव्य भवत्प्रभुः।**
करामलकवद्विश्वं विज्ञानावसितं तव ॥३॥

श्लोकार्थ—जिस विषय में मैंने आपसे पूछा है उस विषय में आप सब कुछ जानते हैं, इतना ही नहीं हाथ पर धरे हुए आंवले की तरह, हो चुका, होने वाला, और वर्तमान् सारा जगत् आपके योगप्राप्त ज्ञान में समा रहा है ॥३॥

सुबोधिनी—सर्वं ह्येतद्भवान्वेदेति। अतीतानागतयोर्ज्ञानं न भविष्यतीति तस्य कालसाध्यत्वात्कालरूपस्तन्नियन्ता वा भवानेवेत्याह। यथा रहट्टघटिकायां केचनोद्गता मज्जन्त्युग्दच्छन्ति च, तथा काले जगन्निमज्जति तत उद्गच्छति। ततो यः काले बहिरपि तिष्ठति स हि सर्वं जानाति। यथा जले बहिरपिस्थितिः। किंच। योगजधर्मेणाऽपि तव सर्वं प्रत्यक्षमित्याह—**करामलकवदिति**। विज्ञानावसितं विज्ञाने स्थितं निश्चितमिति वा। **आवेशितमिति** पाठे उत्तरकार्यार्थं सर्वमेव ज्ञाने निवेशितम्। करस्थितमामलकफलं प्रति न कोऽपि सन्दिग्धे ॥३॥

व्याख्यार्थ–जो पदार्थ हो चुका और जो आगे होने वाला है उसका ज्ञान सर्व सामान्य को हो नहीं सकता, क्योंकि वह ज्ञान कालसाध्य है। काल ही उसका ज्ञान करा सकता है पर आप तो स्वयं कालरूप किंवा काल को भी नियम में रखने वाले हैं, यह बात इस श्लोक में कही गई है। जैसे रहँट के पात्रों में से कितने ही पानी से ऊपर आकर फिर डूबते हैं और डूबे हुए ऊपर भी आते हैं इसी तरह यह जगत् भी काल में डूबता है और फिर कभी ऊपर भी आता है। अब ऐसी अवस्था में जो काल में डूबते तिरते रहते हैं वे तो अपनी सब अवस्थाओं को कहां से जान सकते हैं पर जो काल के बाहर भी रहता है भीतर भी रहता है वह अवश्य उसकी सब गतिविधि को जानता है। जैसे जल के बाहर भीतर स्थिति रखने वाला डूबने तैरने वाले पात्रों की सब गतिविधि को जानता है। इस तरह आप काल के भीतर और बाहर रहने वाले हो इसलिये सब कुछ जानते हो।

योग से सिद्ध हुए विज्ञान के द्वारा भी आपके ज्ञान में सारा जगत् समा रहा है। विज्ञान से आपने सारे जगत् के स्वरूप को निश्चित कर रक्खा है। यदि 'आवेशित' पाठ हो तो उसका अर्थ यह समझना कि आगे के कार्य के लिये आपने सब जगत् को अपने विज्ञान में भर रक्खा है। हस्त-स्थित आँवले में जिस तरह किसी को कुछ भी सन्देह नहीं रहता इसी तरह आप को विश्व के विषय में कुछ भी सन्देह नहीं है ॥३॥

आभास—किंच। त्वया स्वस्वरूपमपि वक्तव्यमित्याह—

आभासार्थ—एक मेरी यह भी प्रार्थना है कि आपको अपने स्वरूप का भी निरूपण करना चाहिये, यह कहते हैं—

श्लोक—**यद्विज्ञानो यदाधारो यत्परस्त्वं यदात्मकः।**
एकः सृजसि भूतानि भूतैरेवाऽऽत्ममायया ॥४॥

श्लोक—**आत्मन् भावयसे तान्येव पराभावयन्स्वयम्।**
आत्मशक्तिमवष्टभ्य ऊर्णनाभिरिवाऽक्लमः ॥५॥

श्लोकार्थ—जिसके विज्ञान से, जिसके आधार से, जिसकी श्रेष्ठता से और जिस रूप से आप एक ही अपनी सामर्थ्य से, भूतों से भूतों को पैदा करते हो यह भी कहो। और यह भी कहो कि फिर अपने स्वरूप में उनका पालन किस तरह करते हो तथा फिर आप ही उन्हें मिटा भी देते हो। जैसे मकड़ी अपनी शक्ति का ही आश्रय लेकर जाला बनाती है, उसका रक्षण करती है और उसको खाकर भी आप निक्लेश रहती है इसी तरह आप भी अपनी शक्ति से ही जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय सब कुछ करके भी अपरिश्रम रहते हो यह क्या बात है? ॥४-५॥

सुबोधिनी—यद्विज्ञान इति । यत् यतो वा विज्ञानं यस्य । तव विज्ञानदाता क इत्यर्थः । किञ्च । तव आधारः कः । तव च नियन्ता । त्वं च किमात्मक इति । एवं चत्वारः प्रश्नाः । साधारणत्वं वारयति यथा सर्वे तथाऽहमिति । **एकः सृजसि** । त्वमेक एव भूतानि देवतिर्यङ्-मनुष्यरूपाणि भूतैस्तैरेव महाभूस्तैर्वा सृजसि । अतस्त्वयि चत्वारः प्रश्ना इत्यर्थः । आत्ममाय-येत्याद्यग्रिमश्लोकः स्वातन्त्र्ये हेतुप्रतिपादकः । माहात्म्यबोधको वा पूर्वशेषः । आत्ममायया । स्वस्व सर्वभवनसामर्थ्येनैव सर्वं सृजसि । आत्म-न्येव भावयसि पालयसि । तान्येव स्वयमेव पराभावयन् नाशयन् । **न पराभावयन्निति** पाठे पराभवमप्रापयन् । यस्मात्त्वमेव स्वशक्त्यैव जगदुत्पत्तिस्थितिनाशं करोषीत्यर्थः । आत्मानं वा पराभवमप्रापयन् सृष्टिस्थिती करोषीत्यर्थः । द्वयोरेव कथनं तथा दर्शनात् । असहायकरणे दृष्टान्तमाह— **आत्मशक्तिमिति** । स्वस्यैव सामर्थ्यमवलम्ब्य आकाशगमने पक्षिण इव । ऊर्णनाभिः कीटविशेषः स हि ऊर्णां सूत्ररूपां स्वमुखतो निष्काश्य तेन विहारस्थानं कृत्वा विहृत्य पुनर्ग्रसति । तथाऽपि क्लमरहितश्च भवति । एवं भवानित्यर्थः ॥४॥५॥

व्याख्यार्थ—यद्विज्ञानः-जिससे आपकी समझ तैयार हुई है अर्थात् आपको ऐसी समझ देने वाला कौन है? यदाधारः (य आधारो यस्य) आपका आधार अर्थात् आप किसके आधार से रह कर यह सब कुछ करते हो और फिर आपको भी कोई नियम में रखने वाला है क्या ? और आप भी किन मूल पदार्थों से बने हुए हो, इस तरह नारद ने चार प्रश्न किये । जैसे और लोग होते हैं वैसा मैं भी हूं यह साधारणता ब्रह्माजी में नहीं हैं यह कहते है-'एकः सृजसि' । आप एक ही देव मनुष्य पशु आदि भूतों को उन्हीं के द्वारा पैदा करते रहते हो अथवा पंचमहाभूतों से पूर्व प्राणियों को पैदा करते हो । इसलिए मैंने आपके विषय में पूर्वोक्त चार प्रश्न किये हैं ।

'आत्ममायया' पद सहित आगे का यह पांचवा श्लोक ब्रह्माजी को सब कार्य में स्वतन्त्र कर्त्ता कहने वाला है । अथवा ब्रह्माजी के माहात्म्य को जताने वाला है अतएव पूर्वश्लोक का शेष है । 'आत्ममायया' पद का यह तात्पर्य है कि सर्व भवन रूप अपनी शक्ति से ही सबको पैदा करते हो । और अपने आप में ही उनका पालन भी करते रहते हो । तथा उन्हीं का नाश भी करते हुए 'न पराभावयन्' ऐसा पाठ हो तो फिर यह अर्थ करना कि आप अपनी ही शक्ति से (किसी दूसरे का सहारा लिये बिना ही) जगत् की उत्पत्ति स्थिति और नाश करते रहते हो । अथवा अपने स्वरूप में कुछ भी न्यूनता या अपूर्णता आये बिना ही जगत् को पैदा करते हो । 'उत्पत्ति और स्थिति', ये दो ही ब्रह्माजी के कार्य हैं नारदजी के कहने का तात्पर्य यह है कि उत्पत्ति स्थिति ही मेरे देखने में आती है संहार नहीं ।

ब्रह्माजी किसी की सहायता लिये बिना ही सब कार्य करते हैं । इस बात को दृष्टान्त देकर समझाते हैं—"आत्मशक्ति' इत्यादि । अपनी ही शक्ति का सहारा लेकर पक्षिगण जैसे आकाश में फिरते हैं इस तरह आप भी अपनी सामर्थ्य से सब जगत् को पैदा करते हो । इसमें दृष्टान्त मकड़ी है । यह कीड़ा अपने मुख में से सैकड़ों गज का सूत निकाल कर जाल बनाता है और उसमें खूब क्रीड़ा करता है और जब खेल चुकता है तब उस सब को अपने आप समेट भी लेता है पर जरा भी थकता नहीं । ऐसे ही आप भी अपनी सामर्थ्य से सब विश्व को बनाकर उसमें क्रीड़ा कर फिर उसे समेट लेते हो और कभी थकते नहीं ॥४॥५॥

आभास—एतादृशं तव सामर्थ्यं स्वत एव न परत इति मम मतिरित्याह—

आभासार्थ—इस तरह का यह आपका सामर्थ्य दूसरे का नहीं है पर अपना ही है यह मेरी समझ है, सो कहते हैं—

श्लोक—**नाऽहं वेद परं त्वस्मिन्नापरं न समं विभो ।**
नामरूपगुणैर्भाव्यं सदसत्किञ्चिदन्यतः ।।६।।

श्लोकार्थ—हे ब्रह्मन् ! इस जगत् में मैं तो यह मान रहा हूँ कि बड़ा छोटा और समान जो कुछ भी जगत् में नाम और रूपवाला है और होगा वह सब आपसे ही होगा और हुआ है चाहे वह अच्छा हो या बुरा हो ।।६।।

सुबोधिनी—**नाऽहं वेदेति** । अस्मिन्संसारे सर्वं त्वत्त एव भवतीत्यहं जाने । परमुत्कृष्टं । अपरं हीनं । समं वा अन्योऽन्यम् । एवं करणे सामर्थ्यमाह—**हे विभो इति** । किंच । नाम वेदाः । रूपं जगत् । गुणा ब्राह्मणादयः । तैर्भाव्यमुत्पाद्यम् । सदुत्कृष्टम् । असदपकृष्टम् । कार्यकारणरूपं वा । किंचिदप्यन्यस्मात्त्वद्व्यतिरिक्ताद्भाव्यमित्यहं न जाने ।।६।।

व्याख्यार्थ—इस संसार में सब कुछ आपसे ही होता है यह जान रहा हूं । जो उत्तम हैं जो कुछ हीन हैं और जो पदार्थ आपस में समान हैं वे भी । इस तरह बनाने में सामर्थ्य कहते हैं- हे विभो सर्व समर्थ! नाम वेदादि शास्त्र, रूप जगत, गुण ब्राह्मण्य आदि, और उनसे पैदा होने वाले किंवा उत्कृष्ट अपकृष्ट, किंवा कार्य कारण जो कुछ भी है वह सब आपसे ही होता है, दूसरे से होता है यह मैं नहीं जानता ।।६।।

आभास—किमतो यद्येवम्? तत्राऽऽह—

आभासार्थ—यह ठीक है ऐसा तुम समझ भी रहे हो तो इससे क्या कहना है ? इसके उत्तर में नारद कहते हैं कि—

श्लोक—**स भवानचरद्घोरं यत्तपः सुसमाहितः ।**
तेन खेदयसे नस्त्वं पराशङ्कां प्रयच्छसि ।।७।।

श्लोकार्थ—वह सर्वकर्ता आप, जब सावधान रह कर घोर तपस्या करते हो तब हमें बड़ा दुःख होता है आपके विषय में अनेक तरह की शङ्कायें होने लगती हैं ।।७।।

सुबोधिनी—**स भवान चरदिति** । नहि स्वतन्त्रो घोरं तपः करोति।घोरशब्देन भगवत्तपोव्युदासः। नरनारायणादिभिः क्रियमाणं शान्तं तपः । यद्यस्मात् । सुसमाहित इत्यतिसावधानः । स्वाभाविकतपोव्युदासः । "**तपो मे हृदयमि**" ति वाक्या "**इस्य ज्ञानमयं तप**" इति च स्वभावत एव भवति । न हि स सावधानान्तःकरणः करोति । तेन ज्ञायत एतस्मादन्योऽस्ति महान्य-

माराधयितुं तप: करोतीति । किंच । तेन तप: करणेन कर्मणा न: अस्मान्खेदयसि । अस्माकमयमभिमान: स्थितोऽस्मत्पिता सर्वोत्तम इति । तपसि क्रियमाणे तद्गच्छन्ति । परोऽन्योऽप्यस्तीत्याशङ्काऽप्युत्पद्यते । अत: सन्देह: । किं त्वत्तोऽन्य: कश्चिदस्ति न वेति ।।७।।

व्याख्यार्थ—जो स्वतन्त्र है वह घोर तप क्यों करने लगा ? यहां "घोर शब्द से भगवत्कृत और भगवत्संबन्धी तप नहीं समझना । नरनारायणादि भगवान् किंवा भगवदीयगण जो तपस्या करते हैं वह शान्त है । सावधान का अर्थ है खूब खबरदारी रखकर करना । इससे मालुम पड़ता है कि शरीरेन्द्रिय का स्वाभाविक तप नहीं", पर इनका विशेष क्लेश (तप) ही यहाँ कहना है । 'तपो मे हृदयं' 'यस्य ज्ञानमयं तप:' इत्यादि वाक्यों में जो कायिक मानसिक तप कहा है वह स्वभाव से ही होता है । ऐसा तप सावधानान्त:करण होकर नहीं किया जाता । इससे स्पष्ट होता है कि इससे भी बड़ा कोई अन्य है जिसे प्रसन्न रखने के लिए यह परिश्रम किया जाता है । मुझे अभी तक यही निश्चय है कि हमारा पिता (ब्रह्मा) सबसे बड़ा है । पर जब आप तप करते हो तब यह भाव चला जाता है इसलिए हमें बड़ा कष्ट होता है । और कोई दूसरा इनसे भी महान् है यह शंका भी होने लगती है, अब मुझे यह सन्देह हो रहा है कि क्या आपसे भी बड़ा कोई है या नहीं ? ।।७।।

आभास—एतत्सर्वं कथयेत्याह—

आभासार्थ—यह सब मुझे स्पष्ट कहिये—

श्लोक—एतन्मे पृच्छत: सर्वं सर्वज्ञ सकलेश्वर ।
विजानीहि यथा चेदमहं बुद्धयेऽनु शासित: ।।८।।

श्लोकार्थ—हे सकलेश्वर! हे सर्वज्ञ! ये जो कुछ भी मैंने पूछा है वह सब कुछ इस प्रकार से मुझे समझाइये कि मैं फिर आपकी आज्ञानुसार उसे अच्छी तरह जान जाऊँ ।।८।।

सुबोधिनी—एतन्म इति । अत्र त्रयोदश प्रश्ना भवन्ति । ज्ञानप्रश्न: । आत्मप्रश्न: । तत्वप्रश्ना: षट् । ब्रह्मविषयकाश्चत्वार: । अयमन्तिमश्चेति । सर्वं विजानीहि विशेषेण विचार्य वद, बोधय वा । यथा अनुशासित: सन् शिक्षित: सन्नहं बुद्धये । सर्वज्ञत्वात्कथनसामर्थ्यम् । सर्वेश्वरत्वान्मद्बोधजननसामर्थ्यम् । प्रश्नमात्रेण न वदेदिति तस्य भगवद्भावबोधनम् । अज्ञानादयं प्रश्नो न भवति किन्तु यथा पिता कथयेत्तदर्थमेवं प्रक्रियया प्रश्न इत्युत्पत्तौ वक्ष्यते । अनेन प्रश्नोत्तरे अप्यग्रे विचारमर्हत इति ज्ञापितम् । अहं यथा बुद्धय इति वचनात्सर्वेषां पदार्थानामुत्पत्तित: स्वरूपं वक्तव्यमित्युक्तं भवति । अन्यथा भगवतोत्पत्तेरनुक्तत्वाद्ब्रह्माऽपि न वदेत् । अतो यथाधिकारं पदार्था वक्तव्या इति निर्द्धारितम् ।।८।।

व्याख्यार्थ—यहाँ तेरह प्रश्न हुए हैं । ज्ञान का प्रश्न, आत्मा का प्रश्न, तत्व के छ: प्रश्न, ब्रह्म के विषय में चार प्रश्न और यह ब्रह्माजी के विषय में तेरहवां प्रश्न । सब कुछ खूब अच्छी तरह

विचार कर कहिये । जिस प्रकार से शिक्षा देने पर मैं समझ जाऊं । आप सर्वज्ञ हैं इसलिए समझा सकते हैं । सबके ईश्वर हो इसलिये मुझे भी समझा सकते हो । प्रश्न मात्र करने से ही कदाचित् कुछ न कहें इसलिए ब्रह्माजी में भगवद्भाव (सर्वज्ञता और सकलेश्वरता) का बोधन किया गया है । नारद ने यह प्रश्न बेसमझी से नहीं किया है किन्तु जिस प्रकार पुत्र के प्रश्न करने से पिता कहे इसलिए उसी प्रक्रिया से प्रश्न किया है । यह बात ब्रह्माजी ने उत्तर के प्रारम्भ में 'कारुणिक' शब्द से कह दी है । (मैं जिस प्रकार से समझ लूं) इसके कहने का यह तात्पर्य है कि सब पदार्थों का तत्व किंवा स्वरूप मेरे आगे उत्पत्ति से लेकर सब हो कहिये । जो इस तरह से नारदजी प्रश्न करते तो भगवान् ने उत्पत्ति पूर्वक कहा ही नहीं था, ब्रह्मा भी न कहते । ब्रह्मा का अधिकार वैसा था अतः भगवान् ने उनसे उतना हो कहा, पर मेरा अधिकार दूसरा है, इसलिये मेरे अधिकार के अनुसार पदार्थ कहिये यह नारद का तात्पर्य है ।।८।।

आभास—इदानीं प्रथममन्तिमप्रश्नोत्तरं वक्तुं सर्वेषां प्रश्नानां एकपरत्वमाह—

आभासार्थ—अब नारद के अन्तिम प्रश्न का उत्तर देते हैं, और साथ में यह भी कहते हैं कि नारद के सब प्रश्नों का एक भगवान् में ही समन्वय है—

ब्रह्मोवाच—श्लोक—**सम्यक् कारुणिकस्येदं वत्स ते विचिकित्सितम् ।**
यदहं चोदितः सौम्य भगवद्वीर्यदर्शने ।।९।।

श्लोकार्थ—हे नारद! जगत् पर दया रखने वाले! तुम्हारा यह प्रश्न करना बहुत अच्छा हुआ है क्योंकि हे सौम्य! इस प्रश्न से मुझे तुमने भगवत्पराक्रम के प्रकाश करने के लिए प्रेरणा की है ।।९।।

सुबोधिनी—सम्यगिति । सर्वेषां प्रश्नानामुत्तरं भगवानेव । स एव ज्ञानादिः । तत्रैवाऽवान्तर-भेदा द्वादश भवन्ति । त एव स्कन्धार्थत्वेन पर्यवसानं प्राप्स्यन्ति । तत्कथमित्यपेक्षायामाह । यदहं प्रेरितः भगवद्वीर्यस्य दर्शने ज्ञानार्थमिति । यदि सर्वैरेव प्रश्नैर्भगवानेवोत्तरत्वेन वक्तव्यो भवति तदैवं सङ्गच्छते । परं केनचित्केनचिद्रूपेण तत्तत्प्रश्नोत्तररूपो भगवान् । तानि रूपाण्यग्रे वक्तव्यानि । अत एव तस्य प्रश्नस्याऽभिनन्दनम्। अन्यथा कोपः कर्त्तव्यः स्यात् । भगवद्वीर्याणां वक्तव्यत्वेनोपस्थितत्वाच्च तदभावः । यत्तवाऽयं प्रश्नः स कारुणिकस्य तव । अनेन व्याजेन सर्वे संसारान्मोचनीया इत्यहं च कृतार्थः कर्त्तव्य इति च । अन्यथा परमभागवतस्य तवाज्ञानं न सम्भवतीत्यभिप्रायः । **वत्सेति** स्नेहेन सम्बोधनम् । मातुरौधसं पय इव ब्रह्मणो हृदयाद्भगवच्चरित्रमुद्गतमस्तीति ज्ञापयति । विचिकित्सितं विचारितं ज्ञातुमिष्टं वा ।।९।।

व्याख्यार्थ—तुम्हारे सब प्रश्नों का उत्तर एक भगवान् ही हैं, क्योंकि तुमने जिनके विषय में प्रश्न किये हैं वे सब ज्ञान आदि पदार्थ भगवान् ही हैं । उस ज्ञानादि रूप भगवान में ही बारह अवान्तर (भीतरी) भेद हो जाते हैं । और वे ही ज्ञानादि भगवान् बारह स्कन्धों के अर्थ हैं यह सिद्धान्त है । यदि पूछो कि सो कैसे ? तो कहना होगा कि तुमने मुझे भगवत्पराक्रम को समझने के लिए जो प्रेरणा की है, इसलिए । जो सब ही तुम्हारे प्रश्नों से भगवान् ही उत्तर रूप में कहना

उचित हो तब यह भगवत्पराक्रम का प्रश्नोत्तर संगत हो सकता है, अन्यथा प्रश्नोत्तर हो ही नहीं सकता। क्योंकि भगवान् अनति प्रश्न्य हैं (प्रश्न के बाहर की बात है) किन्तु तुम्हारे सब प्रश्नों का एक उत्तर भगवान् ही हो सकता है, इसलिए यह दोनों समञ्जस हो सकते हैं। यद्यपि सब का उत्तर भगवान् ही हैं यह ठीक है, पर रूप भेदों से हैं। किसी प्रश्न का उत्तर किसी रूप से और किसी प्रश्न का किसी रूपभेद से भगवान् उत्तर है। ये सब रूप आगे कहे जावेंगे। तुमने मुझे भगवद्गुण कथन में उत्साहित किया है—इसीलिए तुम्हारे प्रश्न का अभिनन्दन है। जो ऐसा न होता अर्थात् भगवद्वीर्य प्रकाशन करने में मुझे आनन्द न होता, तो अतिवाद करने से और अनति प्रश्न्य देव का प्रश्न करने से मुझे तुम पर क्रोध होता[1]। किन्तु मुझे उत्साह है और भगवान् के चरित्र वर्णन करने के लिए मिलते हैं इसलिए क्रोध न हुआ। तुम्हारे हृदय में भी करुणा है इसलिए यह प्रश्न किया है। तुम यह चाहते हो कि इस प्रश्नोत्तर को सुनकर इसके बहाने गरीब दुनियां संसार से मुक्त हो। और मुझ पर भी करुणा होने से मुझे भी कृतार्थ करना चाहते हो। जो ऐसा न होता तो परम भगवदीय, प्रधान भगवत्पार्षद, तुम्हारे हृदय में इतना अज्ञान होना संभव नहीं है। वत्स (बेटे) यह स्नेह का सम्बोधन है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि गोमाता के स्तनों में से जैसे बछड़े को देखकर दूध निकलने लगता है उसी तरह नारदजी को देखकर ब्रह्माजी के हृदय में से भगवच्चरित्र निकलने लगा। 'विचिकित्सित' का यहां विचारित किंवा समझने योग्य अर्थ है।९।

आभास—एवं प्रश्नाभिनन्दनमुक्त्वा सन्तोषेण वक्तृत्वाधिकारं च निरूप्याऽन्तिमप्रश्नस्योत्तरमाह नाऽहं वेदेत्यस्य—

आभासार्थ—इस तरह प्रश्न की बड़ाई और अपने सन्तोष से अपना कहने का अधिकार भी कहकर अन्तिम प्रश्न का उत्तर देते हैं—

श्लोक—**नाऽनृतं तव तच्चाऽपि यथा मां प्रब्रवीषि भोः।**
अविज्ञाय परं मत्त एतावत्त्वं यतो हि मे ॥१०॥

श्लोकार्थ—हे नारद! तुमने मेरे विषय में जिस प्रकार कहा है वह एक तरह से झूठा नहीं है क्योंकि मुझसे भी जो श्रेष्ठ है उसे न जानने वाले के लिये मेरा यह माहात्म्य ठीक ही है। मेरा माहात्म्य उस भगवान् से ही है ॥१०॥

सुबोधिनी—नाऽनृतमिति। यत्तव वचनं त्वत्तोऽन्यो महान्नास्तीति। तदनृतं न भवति। अनृतं नामाऽन्यथा ज्ञात्वाऽन्यथावचनम्। न त्वज्ञानात्। तदज्ञवचनमित्येव लोकप्रसिद्धिः। अप्रामाण्यस्य तुल्यत्वेऽप्येवंवचने अनृतवाददोषो नाऽस्तीत्यर्थः। यथा मां प्रब्रवीषि त्वमेव महानिति। सत्यं तु न भवतीत्याह— **अविज्ञाय परं मत्त इति**। मत्तः परमुत्कृष्टं मन्नियन्तारमविज्ञायैतद्वचनमित्यर्थः। कोऽसावित्यपेक्षायामाह— **एतावत्त्वं यतो हि म इति** यावन्त उत्कृष्टा मयि धर्मास्त्वयोदितास्ते हि सर्वे यत्सम्बन्धान्मयि जाताः स भगवानित्यर्थः ॥१०॥

[1] 'अति देवतां मा प्राक्षीः मूर्धा ते व्यय लिष्यति' (छान्दोग्य) के अनुसार (पो० कं० शा०)

व्याख्यार्थ—जो तुमने कहा कि आपसे बडा और कोई नहीं है, यह झूठा नहीं है। कुछ समझकर कुछ का कुछ बोलना झूठा कहा जाता है। पर तुम तो कुछ जानते ही नहीं हो। जो कुछ न जान कर कुछ कहे वह लोक में 'अज्ञवाक्य' नाम से प्रसिद्ध है, झूठ नहीं। यद्यपि प्रामाण्य दोनों में नहीं है तथापि अज्ञवचन में झूठापन नहीं है। जो तुम मेरे लिये कह रहे हो, 'आपसे बड़ा कोई नहीं है' यह प्रमाण नहीं है तथापि झूठा नहीं है। पर सत्य भी नहीं है क्योंकि समझकर नहीं कहा है। यही कहते है– 'अविज्ञाय परं मन्त्तः'। मुझे भी नियम में चलाने वाले भगवान् को न जान कर यह तुम्हारा वचन है। यदि पूछो कि वह कौन है? तो कहना पड़ेगा कि जिसके प्रताप से मेरा यह माहात्म्य फैल रहा है, वह भगवान् है। मुझ में जितने उत्कृष्ट धर्म दिख रहे हैं वे सब भगवान् के सम्बन्ध से है ।।१०।।

आभास—एवमन्तिमप्रश्नोत्तरमुक्त्वा प्रथमप्रश्नोत्तरमाह—

आभासार्थ—इस तरह अन्तिम प्रश्न का उत्तर देकर प्रथम प्रश्न का उत्तर देते हैं—

श्लोक—**येन स्वरोचिषा विश्वं रोचितं रोचयाम्यहम् ।**
यथाऽर्कोऽग्निर्यथा सोमो यथर्क्षग्रहतारकाः ।।११।।

श्लोकार्थ—जिस भगवान् ने अपने प्रकाश से इस विश्व को पहिले से ही प्रकाशित कर रखा है। और जैसे सूर्य, अग्नि, चन्द्रमा और नक्षत्र ग्रह और तारागण, उसी के प्रकाशित विश्व को ही प्रकाशित करते हैं। इसी तरह मैं भी भगवान् के प्रकाशित विश्व को ही प्रकाशित करता हूँ ।।११।।

सुबोधिनी—येनेति। भगवान् ज्ञानं भवति येन रूपेण तद्रूपमुच्यते। ज्ञानं हि स्वप्रकाशं सर्वमेव प्रकाशयति, दीपमपि प्रकाशयति यतः, तस्मात्सर्वप्रकाशकं स्वप्रकाशं यच्चैतन्यं भगवद्रूपं तज्ज्ञानमित्यर्थः। येन भगवता। स्वरोचिषा स्वप्रकाशेन स्वयमेव रोचते, स्वात्मानं वा रोचयतीति स्वरोचिः। विश्वं तेनैव रोचितं प्रकाशितम्। अव्यक्ते लीनं विश्वं तद्रोचिषा प्रकाशितं जातम्। तदा स्थूलतया ब्रह्माऽभिव्यनक्ति। तदाह—**रोचयाम्यहमिति**। यथा महाकाष्ठस्थितो वह्निर्मथनेनाऽभिव्यक्त एव तृणादिभिरभिव्यज्यते न तु सहसा तृणादिभिरभिव्यक्तुमर्हति। तत्र श्रुतिसिद्धं दृष्टांतमाह—**यथाऽर्कोऽग्निरिति**। अन्ये तु जडा न स्वप्रकाशाः तेजस्तु स्वप्रकाशमेव। तदपि चेद्भगवता प्रकाश्यं तदा कः सन्देहोऽन्यस्य तत्प्रकाश्यत्वे। तत्र श्रुतिः—"**न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनु भाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाती**" ति। तत्र विद्युतां कादाचित्कत्वान्न तद्ग्रहणम्। यथाऽर्को ज्ञानेन प्रकाशितमेव स्वयं प्रकाशयति। स्वयं च प्रकाशितः। "**यदादित्यगतं तेज**" इति वाक्यात्तत्रापि भगवत्तेज एव प्रकाशकम्। तथा मय्यपीत्यर्थः। एवमग्न्यादयः। ऋक्षाण्यश्विन्यादीनि। ग्रहा बुधादयः। अन्यास्तारकाः ।।११।।

व्याख्यार्थ—जिस रूप से भगवान् ज्ञान रूप हो जाता है उस रूप का इस श्लोक में निरूपण

करते हैं। भगवान् का यह ज्ञानरूप अंश (ज्ञान पुरुष) स्वप्रकाश है (इसका प्रकाश किसी दूसरे से नहीं होता)। यह ज्ञान सारे जगत् का प्रकाश करता है। दीपादि प्रकाशक पदार्थों का भी यही प्रकाश करता है। इसलिए सर्व प्रकाशक और स्वप्रकाश भगवद्रूप जो चैतन्य पदार्थ है वही ज्ञान कहा जाता है। उस स्वप्रकाश ज्ञानरूप भगवान् ने ही विश्व को प्रकाशित कर रखा है। अपने तेज से ही जो प्रकाशित रहे वह स्वरोचिः। अथवा अपने आप को जो प्रकाशित करे वह स्वरोचिः। प्रलय समय में यह विश्व अव्यक्त (जिसे तम भी कहते हैं) में समाया रहता है। और उसके बाद सृष्टि अवस्था में यह ज्ञान ही उस विश्व को बाहिर प्रकाशित करता है। उस समय यह जगत् रूप ब्रह्म स्थूल रूप से बाहिर प्रकट हो जाता है। यही कहते हैं कि 'रोचयाम्यहम्'। जैसे महाकाष्ठादि में समाया हुआ अग्नि मंथन करने से कुछ बाहिर प्रकट हो जाता है और फिर घास आदि से खूब जलने लगता है। केवल तृणादि से जलने नहीं लगता। इस तरह इस विश्व को पहिले भगवद्रूपज्ञान प्रकाशित कर देता है तब फिर हम लोग सब दृष्टि में उसको ही प्रकट कर देते हैं। इसमें श्रुतिसिद्ध द्रष्टान्त देते हैं—'यथाऽर्कोऽग्निः' पृथ्वी आदि पदार्थ जड़ होने से अपने आप प्रकाशित होने वाले नहीं हैं, पर, तेज तो अपने आप चमकने वाला है। पर यह तेज भी जहां तक भगवान् चमकाना नहीं चाहते वहां तक नहीं चमक सकता। भगवान् के प्रकाश से ही प्रकाशित होता है। तब फिर अन्य सब पदार्थ भगवान् के प्रकाश से प्रकाशित रहें इसमें सन्देह ही क्या है। इसमें श्रुति भी प्रमाण है—'न तत्र सूर्यः' इत्यादि। उस भगवान् के प्रकाश के सामने सूर्य, चन्द्र, तारा, बिजली आदि प्रकाश नहीं कर सकते तो फिर इस अग्नि की तो प्रभा ही क्या है। वह ज्ञान अपना प्रकाश सर्वत्र फैला रहा है इसलिए उसके प्रकाश से प्रकाशित यह सूर्य चन्द्रादि भी प्रकाशित होकर प्रकाश कर रहे हैं। इसलिये सिद्ध है कि उसके तेज से सारा विश्व प्रकाशित हो रहा है।

इस श्लोक में बिजली का नाम नहीं क्योंकि वह कभी-कभी चमकती है। सूर्य उस ज्ञान से प्रकाशित होकर ही प्रकाश फैलाता है। 'यदादित्यगतं तेजः' इत्यादि वाक्यों से भी स्पष्ट है कि भगवान् का तेज ही सर्वत्र प्रकाशक है, इसी तरह मुझ (ब्रह्मा) में भी भगवान का ही तेज है। इसी तरह अग्नि आदि, इसी तरह अश्विनी आदि नक्षत्र, इसी तरह बुध आदि ग्रह और इसी तरह सामान्य तारा भी समझ लो ॥११॥

आभास—एवं ज्ञानस्वरूपं भगवन्तं प्रतिपाद्य तत्कर्त्तव्यान्तराभावाद्भक्त्या नमस्यति—

आभासार्थ—इस तरह ज्ञान-स्वरूप भगवान् का प्रतिपादन करके अब उसमें अपना कोई कर्त्तव्य बन नहीं सकता इसलिए नमस्कार करते हैं—

श्लोक—**तस्मै नमो भगवते वासुदेवाय धीमहि।**
यन्मायया दुर्जयया मां ब्रुवन्ति जगद्गुरुम् ॥१२॥

श्लोकार्थ—उस भगवान् वासुदेव (ज्ञान पुरुष) को मैं नमस्कार करता हूँ और

उसी का ध्यान भी रखता हूँ कि जिसकी अजेय माया के मोह में पड़ कर लोक मुझे भी जगद्गुरु कहने लगते हैं ॥१२॥

सुबोधिनी—तस्मै नमो भगवत इति । लोकवेदप्रसिद्धस्तच्छब्देनोच्यते । भगवत इति तस्य ज्ञानस्य न धर्मत्वं नाऽशत्वम् । प्रयोजनं तु मोक्षः । तदाह—**वासुदेवायेति** । भक्तिर्नमनम् । निदिध्यासनमन्तरङ्गं साधनम् । तदाह—**धीमहीति** । तन्नमो वा । एवं ज्ञानं निरूप्य सर्वेषां तदज्ञानं युक्तमेवेति विरोधाभावाऽऽह—**यन्मायेति** । यस्य भगवतो ज्ञानरूपस्य वशवर्त्तिनी काचिच्छक्तिर्मायेति । सा जगत्कर्त्तुर्मायातो भिन्ना । एतस्या व्यामोह एव फलम् । तस्यास्तु जगतः करणत्वं कर्त्तृत्वं वा भगवदाज्ञया । तत्र मायायाः सामर्थ्यमाह—**दुर्जययेति** । तस्या जयः प्राणिमात्रस्याऽशक्यः । इयमेव माया वेदस्तुतौ मारणीयत्वेन वेदैः प्रार्थिता । ते हि ज्ञानं बोधयन्ति । एषा तु मोहयति । तस्याः फलं महत्स्वपि दृश्यत इत्याह—**मां ब्रुवन्त जगद्गुरुमिति ।** क्रियाशक्तेरन्याधीनत्वाज्जगद्गुरुमित्युक्तम्॥१२।

व्याख्यार्थ—"तस्मै" (तत्) शब्द का लोकवेद प्रसिद्ध अर्थ है। अर्थात् वह वासुदेव (तत्) (ज्ञानरूप) भगवान् लोक में भी और वेद में भी प्रसिद्ध है। भगवते कहने का तात्पर्य है कि वह ज्ञान भगवान् का न धर्म है और न अंश है किन्तु स्वरूप ही है धर्मरूप ज्ञान प्रथक है। इस नमस्कार का किंवा स्वरूप का प्रयोजन मोक्ष है। यहां नमस्कार से भक्ति कही है और धीमहि से ध्यान । यह निदिध्यासन भक्ति का अन्तरङ्ग साधन है।

इस तरह ज्ञानरूप भगवान् का वर्णन करके कहते हैं कि उस भगवान् की किसी को भी खबर नहीं होती यह उचित है क्योंकि यन्मायया। इस भगवान् की एक माया (शक्ति) है जो इस ज्ञानरूप भगवान् के ही सदा वश में रहती है। यह मायाशक्ति, जगत्कर्त्ता भगवान् की मायाशक्ति से जुदी है। इसका काम जगत् को भुलावा देना है। और उस माया का काम जगत् के कार्य को सहारा देना है अथवा कभी कभी भगवान् की आज्ञा से ही जगत् को बना देना भी है।

इस माया का सामर्थ्य दिखाते हैं—'दुर्जयया'। किसी के भी जीतने में नहीं आती। कोई प्राणी इसका जय नहीं कर सकता। इसी माया को वेदों ने वेदस्तुति में मारने लायक कही है। वेद भगवान् का बोध कराते हैं और यह माया उस ज्ञान को भुलावा देती है इसलिए मारणीय है। बड़े-बड़े ज्ञानियों (तुम सरीखों) में भी उसका प्रभाव दिखता है यह कहते हैं कि 'मां ब्रुवन्ति' मुझे ज्ञानदाता कहते हैं। क्रियाशक्ति तो भगवान् के ही हाथ में रहती है, केवल कुछ ज्ञानांश हम लोगों को देते हैं इसलिए हम भी जगद्गुरू कहे जाते हैं, पर कुछ भी स्वतन्त्रता नहीं कर सकते ॥१२॥

आभास—तर्हीयं शक्तिर्मोहकस्वरूपत्वात्स्वाश्रयमपि व्यामोहयेदित्याशङ्क्याऽऽह—

आभासार्थ—तो फिर मोहक शक्ति होने से यह माया अपने आश्रय भगवान् को भी भुलावा देती होगी यह आशंका करके उत्तर देते हैं—

श्लोक—**विलज्जमानया यस्य स्थातुमीक्षापथेऽमुया ।**
विमोहिता विकत्थन्ते ममाऽहमिति दुर्धियः ।।१३।।

श्लोकार्थ—यह माया जिस भगवान् की दृष्टि-पथ में आने से भी लजाती है, पर इसका सामर्थ्य फिर भी इतना है कि इसके मोह में आकर अच्छे-अच्छे पुरुष कुबुद्धि होकर 'मैं, मेरा' करने लग जाते हैं।

सुबोधिनी—**विलज्जमानयेति** । सा हि भगवतो भार्या स्वस्य भगवता सह निरन्तररमणार्थमन्येषां बुद्धिं मोहयति । तस्यास्तथात्वं भगवान् जानाति । अतो विलज्जमाना ईक्षापथेऽपि स्थातुं विलज्जते । अत एव ये तत्सन्मुखास्तान्न व्यामोहयति । पृष्ठतः प्रवृत्तानेव व्यामोहयति । तदेवाऽऽह । अमुया विमोहिताः ' ममाहमिति विकत्थन्ते । मोहने द्वारमाह—**दुर्धिय इति** । यतो धियमेव व्यामोहयति ।।१३।।

व्याख्यार्थ—यह माया भगवान् की भार्या है (स्वतन्त्र कुछ कर नहीं सकती और पालनीया है) । भगवान् के साथ निरन्तर रमण करने के लिए यह अन्य भोले जीवों को भुलावे में डालती रहती है । पर इसकी इस चालाकी को भगवान् जानते हैं । इसलिये यह भगवान् की दृष्टि पथ में आने के लिए भी शरमाती है । इसलिए ही भगवत्सन्मुख रहने वाले जीवों को भी मोहित नहीं करती । पर जो लोग भगवान को पीठ देकर अपना व्यवहार चलाते हैं उन्हें ही मोह (भूल) करा देती है यही बात 'अमुया विमोहिताः' इत्यादि वाक्य से कही हैं । मोह पहुँचाने में दरवाजा बुद्धि है। बुद्धि के द्वारा मोह पहुँचता है ।।१३।।

आभास—एवं ज्ञानं सपरिकरं निरूप्य आत्मनिरूपणार्थं प्रथमतस्तत्त्वं निरूपयति—

आभासार्थ—इस तरह परिकर सहित ज्ञान का निरुपण करके अब आत्मा की समझ बैठाने के लिए तत्त्व का निरूपण करते हैं—

श्लोक—**द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च ।**
वासुदेवात्परो ब्रह्मन्न चाऽन्योऽर्थोऽस्ति तत्त्वतः ।।१४।।

श्लोकार्थ—इस जगत् में द्रव्य कर्म काल स्वभाव और जीव भी हैं ही । अनेक पदार्थ हैं, पर ये सब वासुदेव भगवान् से जुदे नहीं है । यह सब भी वासुदेव ही है । हे ब्रह्मन् वास्तव में देखा जाय तो दुसरा पदार्थ ही तत्वरूप से नहीं है एक ही तत्त्व, (ज्ञानपुरूष ही) अनेक रूप में है ।।१४।।

सुबोधिनी—द्रव्यमिति । इदं हि तत्त्वं न नाना । किन्तु सर्वेषामेकमेव तत्त्वम् । तत्र सर्वं पञ्चाङ्गम् । तेषां पञ्चानां यदि भगवानेव तत्त्वं तदा तत्कार्याणां सुतरामेव तदेव तत्त्वं भवति । तानि पञ्च गणयति । द्रव्यं अधिभूतं समवायिकारणं महाभूतादि । कर्म जगतो जन्मनिमित्तं साधारणम् । चकाराद्भूतसंस्काररूपं च । कालो गुणक्षोभकः । चकारान्निमित्तभूतश्च । यस्त्वाधारत्वेन सर्वत्र प्रतीयमानः । स्वभावः परिणामहेतुः । जीवो भोक्ता भगवदंशः । चकारात्तदभिमानिनी देवता च । तत्र कालकर्मस्वभावा निबन्धे सम्यङ् निरूपिताः । जीवोऽपि पृथङ् निरूपितः । द्रव्यं त्वत्रैव । सर्वं प्रकृतिकार्यमग्रे निरूपयिष्यते । एते सर्वे वासुदेवादन्ये न भवन्ति । एतेषां देवरूपत्वात्तत्त्वमूर्तिर्भगवान्निर्दिष्टस्तत्त्वनिरूपणे । तत्त्वत इति प्रतीयमानतया अन्यत्वेऽपि परमार्थतो नाऽन्यत्वम् । यतोऽस्तित्वं तस्यैव । **ब्रह्मन्निति** सम्बोधनं निरूपितेऽर्थे असम्भावनाव्यावृत्त्यर्थम् । यतस्त्वमेव ब्रह्म । अतोऽन्यस्य ब्रह्मत्वे कः सन्देह इति भावः । चकाराद्धर्मभेदोऽपि नास्तीत्यर्थः । अन्यत्वेन स्वरूपभेदो निराक्रियते । परत्वेनाऽधिष्ठातृभेदः । अर्थ इति युक्तिरुक्ता । नित्यो हि शब्दार्थसम्बन्धः । तत्र शब्दा अर्थाश्च नित्याः । ते यदि भगवद्रूपा एव भवन्ति तदेव सदैकरूपं नित्यत्वं सिद्धयतीति ॥१४॥

व्याख्यार्थ—यह सारा जगत् कुछ भी नानातत्त्व नहीं है पर सब पदार्थों का एक ही तत्त्व है । जगद्वर्ती सब ही पदार्थों में द्रव्य कर्म काल स्वभाव और जीव, ये पांच पदार्थ देखे जाते हैं, इसलिये ये सब कुछ पंचांग कहा जाता है । अब यदि इन पांचों वस्तुओं का भी तत्व भगवान् वासुदेव ही है, तो फिर इनसे बने हुए सब ही पदार्थों का वस्तुतत्त्व भी वही भगवान् होता है । उन पांचों वस्तुओं को गिनाते है- पहिला पदार्थ द्रव्य है । यह अधिभूत पदार्थ है और सब का अवान्तर समवायि कारण है । इसे ही हम पंचमहाभूतादि कहते हैं । दूसरा कर्म । यह साधारण भगवद्क्रिया है जो जगत् के जन्म में निमित्त कारण होता हैं । यहाँ कर्म के साथ 'च' भी दिया है उसका तात्पर्य यह है कि भूत संस्कार रूप कर्म भी । कर्म दो तरह का है । प्रत्यक्ष क्रिया को ही (रूपान्तर हो जाने पर) अतिशय अदृष्ट संस्कार वासना या संचित नामों से कहा गया है ।[1] तीसरा पदार्थ काल है । यह सत्वादिगुणों में खलबली मचाने वाला है । यहां 'च' कहा है इसलिये इसके साथ सबका निमित्त कारण काल भी समझ लेना चाहिये । जो काल आजकल सब पदार्थों का आधार समझा जाता है । यह बात कौनसे समय में हुई, यह किसी पदार्थ का जो दूसरा रूप अपने आप हो जाता है यह परिणाम कहा जाता है । इस परिणाम का कारण स्वभाव है, यह चौथा पदार्थ है । पानी का बर्फ हो जाना, दूध का दही हो जाना परिणाम । और इसका कारण स्वभाव है । सबके साथ स्वभाव लगा हुआ है । पांचवा पदार्थ जीव है । जो सबका भोक्ता है और भगवान् का अंश है । यहां भी 'च' कहा है इसलिये इसी में इन्द्रियदेहादि के अभिमानी देवता भी समझ लिये जावें । मुख्य जीव ही रूपान्तरों से इन्द्रियादि में जाता है ।

इन पांचों वस्तुओं में से काल, कर्म, स्वभाव और जीव इनका तो पृथक पृथक् निरूपण तत्त्वदीपनिबन्ध में हो चुका है । पर द्रव्य जो प्रकृति का कार्य है, उसका निरूपण इस सुबोधिनी टीका

---

१. इसका विशद वर्णन 'शुद्धाद्वैत दर्शन' तृतोय भाग में देखें।

में ही मूल के सहारे से करने में आवेगा। यह पाँचों वस्तुएँ वस्तुतत्त्व नहीं हैं वस्तुतत्त्व तो एक भगवान् वासुदेव ही है इसलिये ये सब वासुदेव से अन्य नहीं है। तत्त्वनिरूपण में इन सबका मूल देवता सत्त्वमूर्ति भगवान् वासुदेव (ज्ञान पुरुष) कहा गया है। 'तत्त्वतः' कहने का तात्पर्य ही यह है कि वस्तुरूप से ये सब अन्य मालूम हो रहे हैं पर वास्तव तत्त्वरूप से अन्य नहीं हैं। क्योंकि 'अस्ति' शब्द वाच्य वासुदेव ही है। उसी का अस्तित्त्व इनमें बढ रहा है। 'ब्रह्मन' यह संबोधन इस विषय में आती हुई असंभावना को दूर करने के लिए है। अर्थात् नारद तू भी तो ब्रह्म है। 'ब्रह्मन्ः' शब्द ही शब्दार्थ के नित्य संबन्ध को मानकर दिया गया है। इससे पदार्थ मात्र के ब्रह्म होने में सन्देह नहीं हो सकता। यहां भो 'च' दिया है इससे स्पष्ट होता है कि- वासुदेव से इनका धर्मभेद भी नहीं है। अन्य शब्द देकर स्वरूप भेद का भी निराकरण किया है। पर 'पर' शब्द देकर अधिष्ठातृ भेद तो कर दिया है। अर्थात् यह पदार्थ जात 'पर' नहीं है किन्तु अवर है। इसका तात्पर्य यह है कि यद्यपि सब कुछ वासुदेव ही है। एक होते हुए भी ये सब भगवान् वासुदेव के नियम में ही रहते हैं।

अर्थ शब्द से युक्ति कही है। लोक में जैसे कहीं मनुष्य के लिए कहे 'नरसिंह' आदि शब्दों में शब्द अर्थ का नित्य संबन्ध नहीं रहता, इस तरह भगवच्छास्त्र में नहीं है। यहां तो शब्दों का अर्थ के साथ वाच्यवाचकादि संबंध नित्य है। यहां जो द्रव्य आदि शब्द हैं उनका भी द्रव्य आदि पदार्थों के साथ संबंध भी नित्य ही है अत एव ये पदार्थ और यह शब्द उन लौकिक शब्दार्थों से भिन्न ही मानने होंगे। ये शब्दार्थ भगवद्वासुदेवात्मक हैं क्योंकि नित्य सिद्ध हैं अस्तिरूप हैं। यह सब शास्त्रार्थ 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' श्रुति में स्पष्ट है। जितना पदार्थ है सब सदात्मक है उस सत् के ही अनेक विकल्प कर दिये गये हैं। वास्तव में सब पदार्थ भगवद्रूप हैं अतएव यहाँ एक रूप और नित्य कहे गये हैं यहां के शब्द और अर्थ दोनों नित्य हैं ।।१४।।

आभास—एवं सर्वेषां तत्त्वं भगवानित्युत्तरमुक्त्वा विमर्शनं यत्पृष्टं तत्रोत्तरमाह—

आभासार्थ—इस तरह सब पदार्थों का वस्तुतत्त्व भगवान है यह संक्षेप में कह कर अब उसके विचार के प्रश्न का उत्तर देते हैं—

श्लोक—**नारायणपरा वेदा देवा नारायणाङ्गजाः ।**
नारायणपरा लोका नारायणपरा मखाः ।।१५।।

श्लोक—**नारायणपरा योगा नारायणपरं तपः ।**
नारायणपरं ज्ञानं नारायणपरा गतिः ।।१६।।

श्लोकार्थ—चारों वेद नारायण का प्रतिपादन करते हैं। सब देव गण नारायण के अंगों से प्रकट हुए हैं। सारे लोक नारायण में समा रहे हैं। सब यज्ञ (धर्म) नारायण का पूजन करने के लिये कहते हैं। अष्टाङ्गादियोग भी भगवत्प्राप्ति का ही उपाय बताता है। तप भी नारायण के लिये ही है। ज्ञान भी नारायण की समझ कराता है और परमगति रूप फल भी नारायण में ही जाकर सम्पूर्ण होता है।१५-१६।

सुबोधिनी—नारायणपरा वेदा इति। यदि भिन्नार्थत्वं सम्भवति तदा भूयान्विचारः कर्त्तव्यो भवेत्। तत्र स्वरूपतोऽर्थतः फलतः साधनतः परम्परातः। द्वितीयकाण्डेऽपि साधनतः कार्यतः फलतश्च भगवानेवेति कस्मिन्नप्यंशे विवादाभावाद्भगवानेव तत्त्वमिति विमर्शः। तत्र वेदानां भगवन्निःश्वासान्निर्गतानां पुनस्तत्रैव प्रवेक्ष्यमाणानां तात्पर्यं नारायण इति निर्विवादम्। मध्येऽपि ते स्वार्थं प्रत्याययन्तस्तदर्थस्य भगवद्रूपत्वाद्भगवत्परा एव भवन्ति। किञ्च। वैदिकानि चतुर्विधान्यपि पदानि भगवद्बुद्धयवस्थितमर्थं व्याप्नुवन्ति सन्ति लोके पुरुषप्रयत्नोद्यतास्तमर्थमभिधाय कृतार्थानि सन्ति निवर्त्तन्ते। भगवद्बुद्धयवस्थितानर्थान् जानन्त्विति हि तेषां प्रयासः। ततो भगवदभिप्रेतार्थसाधकत्वादपि भगवत्परा एव। एवं शब्दतोऽर्थतोऽभिधानतश्च भगवत्पराः। ननु संसर्गरूपो वाक्यार्थस्तेषामभिप्रेतोऽर्थो भवति; स च चतुर्विधो विध्यर्थवादमन्त्रनामधेयात्मकः। तत्र विध्यर्थस्य पुरुषप्रयत्नप्रेरणालक्षणस्य पुरुषप्रयत्ने तात्पर्यम्। पुरुषप्रयत्नाभिव्यङ्ग्ये भावे वा। विधेयार्थस्तवने त्वर्थवादाः। मन्त्रा अपि याज्याव्यतिरिक्ता देवताप्रतिपादनस्तुत्यादावुपयुक्ताः। याज्यास्तु देवतोद्देशद्रव्यत्यागे। नामधेयान्यपि धात्वर्थावच्छेदने तात्पर्ययुक्तानि। तस्मात्तत्तदर्थे उपक्षीणानि कथं भगवति तात्पर्यमावहिष्यन्ति। तत्राऽऽह—**देवा नारायणाङ्गजाः। नारायणपरा लोका नारायणपरा मखा इति।** सर्वो हि वेदः प्रवर्त्तमानश्चतुर्विधोऽपि यागे उपयुज्यते। महावाक्यार्थत्वाद्यागस्य। तत्र हि यागः करणम्। स्वर्गादिः साध्यम्। तत्र साम्प्रत पुरुषप्रयत्नेनाऽभिव्यक्ता यागाः स्वव्यापारं देवताप्रीतिं मध्ये जनयन्ति। अन्यथा व्यापाराभावे करणभावादेव प्रच्यवन्ते। अदृष्टादिकं तु न व्यापारः। यागेनाऽजन्यत्वात्। कल्पनायां मानाभावात्। दृष्टस्य व्यापारस्य विद्यमानत्वाच्च। ते हि देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागं कुर्वन्तः स्वर्गं साधयन्ति। देवता चाऽन्यदीयं हविर्विधानेन गृहीत्वा किञ्चिदुपकर्तुमुचिता भवति। लोके तथोपलब्धेः। अन्यथा तदुद्देशद्रव्यत्यागत्वं यागस्य न स्यात्। द्रव्यसंस्कारकत्वेनाऽपि देवतोपयोगस्य वक्तुं शक्यत्वात्। निर्वापादारभ्य तत्सम्बन्धवचनस्य च प्रोक्षणादिवत्संस्कारपरत्वं घटते। यद्यपि देवतापदेषु विद्यमाना चतुर्थी तादर्थ्ये न भवति। उपपदविभक्तित्वात्। प्रीतिरप्यनित्या। कालान्तरस्मारकस्याऽप्यभावात्। तत्कल्पनायां गौरवम्। तथापि चतुर्थ्या निरर्थकत्वदोषनिवृत्त्यर्थमवश्यमर्थो वक्तव्यः। स चाऽन्यत्र सिद्धत्वात्सम्प्रदान एव भवति। देवतोद्देशप्रसिद्धेश्च। "**यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्या**"दित्यत्र "**अग्नये जुष्टं निर्वपामी**"त्यादौ च चतुर्थ्यास्तादर्थ्यार्थत्वम्। नहि तत्र नमःस्वस्त्यादिपदानि सन्ति। यागे तु पुनः स्वर्गः फलत्वेनाऽभिमत इति केवलं देवताया उद्देश्यत्वाभावादवान्तरव्यापारविवक्षार्थं "**नमःस्वस्तिस्वाहे**"त्युपपदविभक्त्यनुशासनम्। न च प्रीतिर्व्यापारः। तस्या अन्यधर्मत्वेन स्वर्गजनकत्वाभावात्। देवता तु स्वर्गादावधिकृता फलं दातुं शक्नोति। अतो द्रव्येण प्रीता देवता व्यापारः। सा च नित्या चेतना च। यथानुरूपं च फलं नियमयितुं शक्ता। परं तस्या अपुरुषार्थत्वात्पुरुषस्याऽभिप्रेता न भवतीति न तावन्मात्रेण यागस्याऽन्यथासिद्धिः। अतो मध्ये व्यापाररूपदेवतापरत्वेऽपि भगवत्परत्वम्। यतो देवा नारायणस्याऽङ्गेभ्यो बाह्वादिभ्यो जाताः। न ह्यङ्गसेवार्थं प्रवृत्ता अङ्गे तात्पर्ययुक्ता भवन्ति। किन्त्वङ्गिनि। यद्यप्यङ्गान्येव वक्तव्यानि तथापि तेषां विग्रहस्यैवाङ्गत्वात्तत्र जाता अङ्गजा भवन्ति। प्रीतिपक्षेऽपि दृष्टत्वात्प्रामाणिकत्वाच्च पुनः स्मरणादिकल्पनं न गौरवाय। किञ्च। यत्र देवता व्यापारत्वेन गृहीता स स्वर्गादिरुद्देश्यो भवति। तस्य लोकत्वे सुखत्वे वा भगवदीयत्वं न व्यभिचरति। स्वर्गादिलोकानां '**हृदा स्वर्गादिलोक**'" इत्यादिना तदवयवत्वेन प्रतिपादनात्। "अस्यै-

वाऽऽनन्दस्याऽन्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ती"-ति श्रुत्या भगवदानन्दांशत्वात्स्वर्गादीनां यागकर्त्तुः स्वसम्पादने भगवदानन्दोपजीवकत्वात्फलदातृभगवत्क्रियानिष्पादकत्वाद्भगवत्परत्वं सुखस्याऽपि । एवमवान्तरमहाफलयोर्भगवदीयत्वे तदर्थं प्रवृत्ता मखा अपि भगवत्परा इत्यविवादम् । अतो वाक्यार्थविवक्षायामपि भगवत्परत्वमविवादमिति वेदानां भगवत्परत्वविमर्शः सिद्धः । अतःपरं पुराणानां भगवत्परत्वविमर्शः कर्त्तव्यः । पाक्षिकोऽपि दोषः परिहरणीय इति । तत्र पुराणेऽर्थचतुष्टयं साङ्ख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवं प्रतिपाद्यम् । तत्राऽन्तिमस्यैतत्प्रवेशान्न विरोधशङ्का । योगो हि चित्तवृत्तिनिरोधात्मकः स्वतोऽपुरुषार्थभूतः पुरुषार्थसाधनं भवितुमर्हति । न च वेदविरुद्धार्थं कल्पयितुं शक्नोति । अप्रामाणिकत्वप्रसङ्गात् । न चाऽणिमादयस्तस्य मुख्यं फलम् । मोक्षपर्यवसायित्वाभावे अशास्त्रत्वापत्तेः । सिद्धयस्त्वन्तरायरूपाः कालक्षपणहेतव इत्यग्रे वक्ष्यते । अतो मोक्षं साधयन्नपि योगो भगवति चित्तैकाग्र्यं साधयन्नेव साधयति । सबीजनिर्बीजध्यानयोर्भगवच्चरणारविन्दविषयत्वात् । अतस्तस्याऽप्यवान्तरविवक्षया पूर्ववद्भगवत्प्रीतिरेवावान्तरव्यापार इति कल्पनीयम् । चित्तसंस्कारपरत्वेऽपि फलं भगवदधीनमेवेति भगवन्मुखनिरीक्षकत्वमवश्यं कल्पनीयम् । योगा इति बहुवचनेन सर्वे योगभेदा भगवत्परा एव । एतस्य भगवत्परत्वमग्रे विस्तरेण वक्ष्यते । भगवत्प्राप्त्युपायत्वात्सामान्यतस्तत्परत्वमविवादम् । तपस्तु भगवदुपयोगि देहेन्द्रियसम्पादकत्वेन तत्परमेव । अन्यथा क्लेशात्मकस्य तस्य पुरुषार्थपर्यवसानं न स्यात् । पशुपतिमतं तु तपस्येवोपक्षीणम् । ज्ञानं द्विविधं—औपनिषदं साङ्ख्यसिद्धं च । तच्च यद्यपि परस्परं विरुद्धम् । औपनिषदं हि सर्वस्याऽऽत्मत्वप्रतिपादनेनाऽऽत्मत्वेन सर्वविषयकं भवति । इदं तु सर्वव्यावृत्तत्वेनाऽऽत्मविषयकम् । तथापि प्रथमप्रवृत्तस्याऽऽत्मानात्मसंस्कारात्पृथक्कृत्याऽऽत्मावगमनं मुख्यम् । अन्यथा सर्वस्यात्मत्वं प्रतिपद्यमानमात्माज्ञानादशक्यमेव स्यात् । ज्ञानस्य च ज्ञेय एव तात्पर्यम् । ज्ञेयस्तु नारायण एव । आत्मत्वात्सर्वत्वाद्ब्रह्मत्वाच्च । गतिरपि पूर्वोक्ता भगवत्परैव । सा हि ब्रह्मज्ञानफलंभवति । तदुक्तं "**विन्दन्ति हि ब्रह्मगतिमि**" त्यत्र ।।१५।।१६।।

व्याख्यार्थ—यदि पदार्थों का तत्त्व भगवान से पृथक होता तो वेदों को बहुत सा विचार करना पड़ता पर सो कुछ मालुम देता नहीं इसलिए सब का वस्तुतत्त्व भगवान् ही है । वेदों में पूर्वकाण्ड पर जब दृष्टि डालते हैं तब वहां स्वरूप (ऋक् आदि) अर्थ (प्रतिपाद्य), फल (प्रयोजन किंवा परिणाम), साधन (यज्ञादि), और परम्परा से विचार किया है, और उपनिषद्भाग में भी साधन (ज्ञान भक्ति आदि) कार्य (प्रीति), फल (भगवत्प्राप्ति) आदि के द्वारा विचार किया है पर कहीं भी विवाद न करके स्पष्ट ही सब अंश में भगवान् का हो निरूपण है इसलिये स्पष्ट होता है कि सबका तत्त्व भगवान् है ।

वेदों का स्वरूप भगवान् है क्योंकि ये भगवान् के निःश्वास से पैदा होते हैं और अन्त में भगवान् में ही समा जाते हैं, इसलिये वे भगवद्रूप हैं, यह निःसन्देह है । मध्य में भी वे जब अपने प्रतिपाद्य को स्पष्टता करते हैं तब मालुम होता है कि भगवद्रूप अर्थ हो वे कहते हैं इसलिए वे नारायण पर हैं ।

एक बात यह भी है कि वेदस्थितनाम (राम आदि) क्रिया (अस्ति भवति) निपात

(च, वा, ह) और उपसर्ग (प्र) आदि चारों पद भगवद्बुद्ध्युपस्थित पदार्थों को कहने वाले हैं। परलोक में भगवदिच्छा से ही पुरूष प्रयत्न से प्रकट होने वाले और अस्त होने वाले पदार्थों को कह कर कृतकार्य हो जाते हैं। वास्तव में तो भगवद्बुद्धिस्थित पदार्थों को लोग जाने, बस इसी के लिये उनका प्रयास है। कहने का तात्पर्य यह है कि वैदिक पदार्थ जुदे हैं और लौकिक पदार्थ पृथक् हैं। 'घट' शब्द का जो लौकिक अर्थ है वही वैदिक घट शब्द का अर्थ नहीं है। अतएव वे दोनों शब्द भी जुदे-जुदे हैं। भगवान् की बुद्धि में स्थित पदार्थ नित्य है और हमारी बुद्धि में स्थित पदार्थ उत्पत्ति-विनाशशील और पुरूष प्रयत्न-साध्य हैं अतएव अनित्य हैं। वेदोक्त चारों पदों का वास्तव अर्थ नित्य पदार्थ में है और यही भगवान् की गूढ़ इच्छा है किन्तु जीव को भी रमण कराने की जब इच्छा होती है तब उन्हीं पदार्थों को लौकिकरूप से प्रकाशित करते हैं पर प्रयास तो स्वबुद्धिस्थ पदार्थों के समझाने में ही है। इसलिए यह मानना पड़ेगा कि चारों वेद भगवान् के इच्छित प्रयोजन सिद्धि के लिये हैं और इसीलिए वे नारायण पर हैं। शब्द, अर्थ और नाम दोनों तरह से भगवत्परक है।

यहाँ एक यह विचार होता है कि संसर्ग (सम्बन्ध) रूप वाक्यार्थ ही तो वेदों का इच्छित अर्थ है। वह चार प्रकार का है, विधि, अर्थवाद, मंत्र और नामधेय। उनमें पुरूष को प्रयत्न करने के लिए प्रेरणा करना यह विधि है। इसका तात्पर्य पुरूष प्रयत्न में है अथवा पुरूष प्रयत्न से स्पष्ट होने वाले भाव में तात्पर्य है। विधेय (यज्ञादि) पदार्थ की स्तुति करने में अर्थवादों का तात्पर्य है। याज्याओं को छोड़कर मंत्रभाग भी देवता का प्रतिपादन किंवा स्तुति आदि में उपयोगी होते हैं। याज्या भी देवता का उद्देश रख कर द्रव्य का त्याग करने में उपयोगी हैं। नामधेय भी धातु (प्रकृति) के अर्थ का स्पष्टार्थ करने में तात्पर्य वाले हैं। इस तरह चारों के चारों जब अपने अपने नियत अर्थ में तात्पर्ययुक्त हो चुके हैं तब फिर ये सब भगवान् को कहते हैं—यह कैसे कह सकते हैं?

इसका उत्तर देते हैं—'देवा नारायणाङ्गजाः' इत्यादि। विधि अर्थवाद मंत्र नामधेय आदि सब ही वेद याग के उपयोग में आता है क्योंकि सब वेद के महावाक्य का समेट कर तात्पर्य-अर्थ यज्ञ ही होता है। इसमें याग करण है और उससे सर्गादि साध्य है। इसमें यह मानना पड़ेगा कि पुरूष के प्रयत्न से प्रकाशित याग ही अपने व्यापार रूप से देवता की प्रीति को पैदा करते हैं। जहां साधन (करण) है वहां व्यापार रहता ही है। याग करण है तो देवता का प्रसाद व्यापार है। यदि व्यापार न मानोगे तो याग की करणता ही सिद्ध न होगी। कितने ही देवता प्रीति को व्यापार न मान कर अदृष्ट किंवा अपूर्व को व्यापार मानते हैं और उसमें अनुमान को प्रमाण बताते हैं पर यह ठीक नहीं है। अदृष्ट अथवा अपूर्व याग से पैदा नहीं होता। अनुमान के द्वारा जो उसकी कल्पना करते हो, उसमें कोई दृष्ट प्रमाण नहीं है और देवता प्रीति को व्यापार मानने में तो दृष्ट व्यवहार विद्यमान है। जो कोई किसी को कुछ देता है तो लोक में यह देखा गया है कि वह भी उसका उपकार करता ही है। लोक में ऐसा देखा जाता है इसीलिए मानना पड़ेगा द्रव्य ग्रहण करने के बाद देवता, प्रीतिरूप उपकार करती है। यागकर्त्ता लोग देवता को घृतादि द्रव्य भेंट करते हैं और स्वर्ग की सिद्धि करते हैं और देवता उनके द्रव्य को विधि के द्वारा ग्रहण कर अपनी प्रसन्नता से उनका उपकार करती है यह लोकानुसारी औचित्य है अन्यथा देवतोद्देश से द्रव्य का देना याग, यह याग का अर्थ व्यर्थ हो जायगा। याग का अर्थ व्यर्थ कैसे हो जायगा इसका

कारण बताते हैं कि द्रव्य का संस्कार कर देना यह भी देवता का उपयोग है यह कह सकते हैं। 'निर्वाय' से प्रारम्भ कर, प्रोक्षणादि की तरह द्रव्य के साथ प्रसन्न देवता का सम्बन्ध भी सर्वत्र लगा ही हुआ है। ऐसी अवस्था में यदि प्रसन्न हुई देवता को ही व्यापार-स्थानीय न मानोगे तो संस्कार का उद्देश्य ही न रहने से याग व्यर्थ हो जायगा।

यद्यपि 'इन्द्राय स्वाहा' इत्यादि देवता पदों में जो चतुर्थी विभक्ति हुई है तादर्थ्य अर्थ में नहीं हुई है क्योंकि स्वाहा पद को मानकर हुई है। अतएव देवतोद्देश सिद्ध नहीं होता। देवता प्रीति भी अनित्य है फल पर्यन्त रहने वाली नही है। कालान्तर में उसका स्मरण हो सकता है यह भी नहीं कह सकते क्योंकि स्मारक कारण कोई है नहीं। उसकी कल्पना करने में भी गौरव होगा। तथापि चतुर्थी का अर्थ तो कुछ न कुछ मानना ही पड़ेगा।

'नमः स्वस्ति स्वाहा' सूत्र से इन्द्र शब्द में चतुर्थी हो गई है यह ठीक है पर उस चतुर्थी का अर्थ क्या करना यह प्रश्न बना ही रहता है। अब 'यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्' 'अग्नये जुष्टं निर्वयामि' इत्यादि स्थल में सम्प्रदान में चतुर्थी श्रुतिसिद्ध है इसलिये इस दृष्टान्त से यहां भी चतुर्थी तादर्थ्य (देवता के लिये) अर्थ में ही माननी पड़ेगी। देवता के उद्देश से हवन किया जाता है वह सर्व याज्ञिकों में प्रसिद्धि भी मौजूद है ही। 'यस्यै देवताये, अग्नयं जुष्टं' इत्यादि श्रुतियों में 'नमः स्वस्ति' आदि पद नहीं है इसलिये वहां चतुर्थी का अर्थ तादर्थ्य स्पष्ट ही है।

यदि कहो कि सब जगह ही चतुर्थी तादर्थ्य में होगी तो 'नमः स्वस्ति' आदि सूत्र ही व्यर्थ हो जायगा तो इसके उत्तर में कहते हैं कि जहाँ याग का प्रकरण है वहां तो केवल देवता का उद्देश तो हैं नहीं किन्तु मुख्य स्वर्गफल की ही इच्छा है। अवान्तर व्यापार में देवता का भी उद्देश्य है ही इसलिये 'अग्नये स्वाहा' 'अग्नये जुष्ट निर्वयामि' आदि में तादर्थ्य अर्थ है। किन्तु सामान्य प्रकरण में 'विष्णवे नमः' 'अग्नये स्वाहा' आदि स्थल में केवल देवता का उद्देश्य है वहां 'नमः स्वस्ति' आदि सूत्र से ही चतुर्थी होती है इसलिए उप पद विभक्ति के अनुशासन की व्यर्थता नहीं है।

केवल प्रीति ही व्यापार नहीं है क्योंकि प्रीति अनित्य हो सकती है पर द्रव्य से प्रसन्न की हुई देवता ही व्यापार हैं। वह भगवद वयव होने से नित्य है और चेतन भी है। केवल प्रीति अन्य धर्म है वह यज्ञ का व्यापार नहीं हो सकती अन्य का धर्म अन्य का व्यापार नहीं हो सकता। पर देवता तो स्वर्ग पर अधिकृत है इसलिये अवान्तर फल देने को समर्थ है। जो उसके स्वरूप में है उस फल को वश कराने में समर्थ है। पर केवल देवता ही पुरूषार्थ (इच्छित) नहीं है इसलिए यज्ञकर्त्ता को केवल यही अभीष्ट नहीं है इसलिये याग को अन्यथा सिद्ध भी नहीं कह सकते। इसलिये मध्य में व्यापार रूप देवता को कहते हैं। तथापि यज्ञ भगवत्परक ही है। कारण कि देवतागण भी नारायण के वाहु आदि अङ्गों से पैदा हुए हैं। याग, अङ्गसेवा के लिए प्रवृत्त हुए हैं यह ठीक है पर उनका तात्पर्य अङ्गी नारायण से ही है। यद्यपि 'इन्द्राय स्वाहा' में भगवदङ्ग ही वक्तव्य है तथापि देवों के विग्रह ही भगवान् के अङ्ग हैं और उससे ही देवता बने हैं तो देवगण नारायणाङ्गज ही होते हैं। कदाचित् कोई प्रीति व्यापार पक्ष को भी स्वीकार कर ले तथापि दोष नहीं है। प्रीति होने से फल मिलता है अतः दृष्ट है और प्रामाणिक भी है इसलिए उस पक्ष में दोष नहीं है। वहां उस उपकार के स्मरण करने की कल्पना भी कर ली जाय तो गौरव नहीं कहा जा सकता।

जिसमें प्रसन्न देवता ही व्यापार(अवान्तर फल) रूप से ग्रहण की गई है वह स्वर्गादि महा-फल ही याग करने का उद्देश्य है। अब उस स्वर्ग को चाहे लोक मानो किंवा सुख विशेष मानों दोनों तरह से फल भी भगवद्रूप होने से याग के भगवदीयत्व होने में कोई व्यभिचार नहीं है। क्योंकि 'हृदास्वर्गादिलोकः' इस वाक्य में स्पष्ट ही स्वर्गलोक को भगवान् का अवयव कहा है और "अस्यैवाऽऽनन्द स्यान्याति भूतानि मात्रा मुपजीवन्ति" अर्थात् इस भगवान् के आनन्द की मात्रा को ग्रहण कर कर के अन्य प्राणी अपने जीवन की रक्षा करते हैं। इत्यादि वाक्यों में स्वर्गादि को भगवान् के आनन्द का अंश कहा है इसलिये यागकर्त्ता स्वर्गसम्पादन करने के विषय में भगवदानन्द का उपजीवक कहा ही जायगा और फलदाता भगवान् की फल पहुँचाने की क्रिया का निष्पादन करने से भी सुख (स्वर्ग) को भगवत्परता आ ही जाती है। इस तरह का महाफल (लोक किंवा सुख) स्वर्ग और अवान्तर फल (प्रसन्न देव किंवा उनकी प्रीति) देवता प्रीति, दोनों ही जब भगवद्रूप ठहर जाते हैं, तब फिर याग भी नारायण पर हैं इसमें किसी तरह का विवाद रहता ही नहीं है और इसीलिए वेदवाक्य का सामूहिक एक अर्थ क्या है, यह सब चाहना हो तब महा-वाक्य भी भगवत्पर है यह कहने में संकोच नहीं है। इसलिए यहां भगवत्परक सिद्ध हो जाता है।

अब इसके आगे पुराण भी भगवत्पर हैं यह विचार कर्त्तव्य है। क्योंकि पाक्षिक दोष भी न रहना चाहिये। क्योंकि वास्तव में तो पुराणों में वेदातिदेश है इसलिए वे भी वेद हैं। पर एक पक्ष में वे पुराण भी हैं तो उस पक्ष में भी भगवत्परता सिद्ध होनी चाहिये। पुराणों में चार पदार्थों का निरूपण है। सांख्य, योग, पशुपति(शैव) मत और वैष्णव सिद्धांत। उनमें अन्तिम वैष्णव सिद्धांत तो वैदिक सिद्धांत में ही समा जाता है इसलिये उसके विषय में कोई विरोध की शङ्का ही नहीं है।

योगशास्त्र में चित्तवृत्तियों के रोकने का उपाय कहा है। इसलिए मन को रोकना यह स्वस्वरूप से तो पुरुषार्थ कहा ही नहीं जा सकता। पर किसी पुरुषार्थ का साधन हो सकता है। वह पुरुषार्थ मोक्ष ही हो सकता है। क्योंकि वेद में मोक्ष को ही पुरुषार्थ कहा गया है। योगशास्त्र भी वेद से विरुद्ध फल की कल्पना तो कर नहीं सकता, क्योंकि वैसा करने पर अप्रामाणिक हो जायगा। वास्तव में अणिमादिक सिद्धियां ही योग का मुख्यफल है भी नहीं। मोक्ष ही मुख्यफल है। यदि योगरूप साधन मोक्ष पर्यन्त न पहुंचावे तो वह कोई शास्त्र ही न कहा जाय। जो अलौ-किक फल का शासन करे वही शास्त्र। ये अणिमादि सिद्धियां तो भगवत्प्राप्ति में विघ्न (बाधा) रूप हैं, जिन्हें फलप्राप्ति में कुछ विलम्ब करना है किंवा नहीं देना है उन्हें सिद्धि देकर टाल दिया जाता है, यह बात आगे कहेंगे। इसलिये योगशास्त्र मोक्ष को सिद्ध करता है पर वह भी भगवान् में चित्त को स्थिर कराकर ही मोक्ष सिद्ध करता है। योग में जो सबीज और निर्बीज ध्यान करने में आता है वह भगवान् के चरणारविन्दों का ही किया जाता है।

इसके भी अवान्तर फल को कहना होता है तब वह अवान्तर व्यापार रूपा भगवान की प्रीति ही हो सकती है। अब यदि योग को चित्त का संस्कार (शुद्ध) करने वाला ही माना जाय इस पक्ष में भी वह चित्त शुद्धि भी भगवद्ध्यान के द्वारा होती है इसलिये भगवान् के अधीन ही रहती है। तो योग को भगवन्मुख निरीक्षक(परतंत्र) कह सकते हैं। योगमार्ग के अनेक भेद हैं वे सब भगवत्परक ही हैं यह कहने के लिए यहां "योगाः" यह बहुवचन है। यह योग भगत्पर ही है यह आगे विस्तार से निरूपण करेंगे। यहां तो यह सामान्यतः 'भगवत्पर' हैं यह कह दिया है। और इसमें किसी को विवाद नहीं है।

तप भी भगवान् में उपयोग में आने वाले देहेन्द्रियादि को शुद्ध तैयार करता है इसलिए भगवत्पर है। अन्यथा कायक्लेशरूप तप की पुरुषार्थ में गणना ही नहीं की जा सकती। पशुपति (शैव) मत तो एक तप का ही प्रकारान्तर है, इसलिये उसका तप में ही समावेश हो जाता है।

अब सांख्य (ज्ञान) मार्ग है। यह ज्ञान भी दो तरह का है, औपनिषद और सांख्यसिद्ध। यद्यपि यह दोनों देखने में परस्पर विरुद्ध दीखते हैं। औपनिषद ज्ञान कहता है कि सब ही जगत् आत्मा (भगवान्) है। अतएव यह ज्ञान आत्मरूप से सब का विषय होता है। और साँख्य कहता है कि आत्मा लौकिक धर्माकार क्रिया रहित है इसलिये सब पदार्थों का व्यावर्तन करते-करते परिशेष में आत्मा को ग्रहण कर लेता है। तथापि जो साधक इस ज्ञानमार्ग में पहले ही प्रवृत्त हुआ है उसे आत्मा का मुख्य ज्ञान तो कर लेना ही आवश्यक है। क्योंकि 'सब ही पदार्थ आत्मा है' यह समझ सम्पादन करने वाले को आत्मा और अनात्मा पदार्थों को जुदे-जुदे करके ही आत्मज्ञान करना मुख्य हो सकता है। अन्यथा आत्मा का मुख्य ज्ञान न होने से सब कुछ आत्मा है यह ज्ञान होना भी अशक्य हो जायगा।

वास्तव में तो सात्विक ज्ञान का ज्ञेय में ही पर्यवसान है और वैसा ज्ञेय तो नारायण ही है क्योंकि वह सब का आत्मा है और सर्वव्यापक है। पूर्व में जिसका निरूपण हो चुका वह गति भी भगवत्परा ही है। गति ही ब्रह्मज्ञान का फल है अर्थात् ब्रह्म में सायुज्यप्राप्ति। यह 'विदन्ति हि' श्लोक में कह चुके हैं ।।१५।।१६।।

आभास—एवं विमर्शं निरूप्य **यद्रूपमि**त्यादि षट्प्रश्नानग्रे विस्तरेण निरूपयिष्यन् **यद्विज्ञानमि**त्यादि प्रश्नचतुष्टयस्य चतुर्भिः श्लोकैरुत्तरमाह—

आभासार्थ—'सब तत्त्व भगवान् हैं' इसका इस तरह विचार करके अब 'यद्रूपं' इत्यादि से जो छः प्रश्न किये थे उनका आगे विस्तार से निरूपण करेंगे पर उसके पहले 'यद्विज्ञानं' इत्यादि द्वारा जो चार प्रश्न किये उनका चार श्लोकों में उत्तर देते हैं—

श्लोक—**तस्याऽपि द्रष्टुरीशस्य कूटस्थस्याऽखिलात्मनः ।**
सृज्यं सृजामि सृष्टोऽहमीक्षयैवाऽभिचोदितः ।।१७।।

श्लोकार्थ—सब तरह के ज्ञान से सम्पन्न सर्वसमर्थ निर्विकार और सबके आत्मा-रूप उन नारायण भगवान् की दृष्टि से प्रेरित मैं उनका ही पैदा किया हुआ इस सारे जगत् को पैदा करता हूँ ।।१७।।

सुबोधिनी–तस्याऽपीति। तत्र प्रथमं यद्विज्ञान इत्यस्योत्तरम्। इदं हि ज्ञानं जगत्कार्यौपयिकमिति न पूर्वेण गतार्थता। यतो विज्ञानं यस्येति प्रश्नात्प्रथमं तस्य विज्ञानं वक्तव्यम्। तथा च उपादानगोचरापरोक्षज्ञानं तत्साधकप्रकारेण साधनज्ञानं च प्रथमं भगवतोऽस्तीत्याह। तस्यैव कर्तृत्वात्। तस्याऽपि यत्सृज्यं तत्तेनैवाऽभिचोदितः सृजामीति सम्बन्धः। तस्य सृज्यत्वे हेतुः—**द्रष्टुरीति**। विश्वं कार्यं भगवतः सृज्यम्। तस्यैव द्रष्टृत्वात्। द्रष्टा हि कार्यं कर्तुं शक्यम्।

न हि ज्ञानमात्रेण कर्तुं शक्यमित्यत आह—**ईशस्येति** । ईशः समर्थः सर्वं कर्तुमिति । ननु क्रियाज्ञानशक्तिमत्त्वेऽपि व्यापारावेशे लौकिकवत्क्लेशसम्भवादात्मनो विकृतत्वापत्तेर्भगवतः कर्तृत्वं न सम्भवतीत्याशङ्क्याऽऽह—**कूटस्थस्येति** । स हि सर्वं करोति कूटस्थ एव न तु विक्रियते । यथा कामधेनुः कल्पवृक्षश्चिन्तामणिर्वा । योगी वा यथा मनसा सृजति । अतः कूटस्थस्यैव कर्तृत्वसम्भवान्न काऽप्यनुपपत्तिः । ननु भगवान् सृष्टिं नाऽर्हति कर्तुम् । प्रयोजनविरोधात् । स हि स्वार्थं वा जीवार्थं वा करोति । स्वार्थं करणे जीवानामनुत्पादनं स्यात् । ततो भक्तिमार्गो विरुध्येत । सर्वेऽपि मार्गा विरुध्येरन् । बन्धमोक्षाद्यभावाद्वैचित्र्यमज्ञानं च न स्यात् । अत उभयार्थं जीवार्थं वा कर्त्तव्यमिति मन्तव्यम् । तत्र स्वांशे स्वस्याऽऽनन्दपूर्णत्वं भज्येत । परार्थत्वे वैषम्यनैर्घृण्ये प्रसज्ज्येयाताम् । अत आह **अखिलात्मन इति** । अखिलानामात्मा । आत्मसृष्टेर्न वैषम्यादि । आनन्दादिविरोधस्तु नास्ति । अखिलत्वात् । यथा खिला आत्मानो न भवन्ति केनाऽप्यंशेन । तेषां चाऽर्थे सृष्टिश्च क्रियते । उपभोगश्च सम्पाद्यते । एवं स्वस्य यः पूर्ण आनन्दस्तस्याऽप्यात्मा । भोगादिना तस्याऽप्युपचयं करोति । तथापि न तस्याऽनित्यत्वं न्यूनत्वं वा । तस्मादुभयविधाऽपि सृष्टिर्भगवतः कर्तुं युक्ता । तथापीश्वरत्वाद्भक्तिमार्गव्यवस्थापनाय मां सृष्ट्वा ईक्षयैवाऽऽज्ञाप्य मद्रूपेणैव सर्वं सृष्ट्वा स्वयं कूटस्थ एव स्थितः । तदा अहं तत्सृज्यं सृजामि तत एव ज्ञानशक्तिं क्रियाशक्तिं च लब्ध्वा । तदाह—**ईक्षयैवेति** । दृष्ट्या प्रेरणादभयप्राप्तिः ॥१७॥

व्याख्यार्थ—सब प्रश्नों में पहले 'यद्विज्ञानः' इस प्रश्न का उत्तर देते हैं— अर्थात् ब्रह्माजी कहते हैं कि जगत् के बनाने में जो कुछ और जैसे कुछ ज्ञान की अपेक्षा है वह मुझ में है पर वह भगवान् का दिया हुआ और भगवान् का ही है, मेरा कुछ नहीं है । यह ज्ञान जगत् के बनाने के उपयोग में आने वाला है। मोक्षोपयोगी ज्ञान तो पहले कह चुके इसलिये उस ज्ञान में इसकी गतार्थता नहीं हो सकती । 'यो विज्ञानं, यतः विज्ञानं' इसके कहने में पहले जगत्कर्त्ता का मूलज्ञान बताने की अपेक्षा है सो कहते हैं । किस उपादान कारण से कौनसा पदार्थ तैयार होगा यह साक्षात्काररूप ज्ञान होना चाहिये सो मुझ में भगवान् का दिया हुआ है । क्योंकि मुख्यकर्त्ता भगवान् ही है । भगवान् ने मुझे साधक प्रकार से सब साधनों का विज्ञान करा दिया है । भगवान् को जो बनाना है उसको उनका सिखाया हुआ मैं ही बना लेता हूँ । भगवान् से ही विश्व बन सकता है दूसरे से नहीं इसमें कारण कहते हैं—'दृष्टः' भगवान् ही सब विश्व को बना सकते हैं क्योंकि वे सर्वज्ञ द्रष्टा हैं । जिस विषय को जो जानता है वही उस कार्य को कर सकता है ।

समझ मात्र होने से भी काम नहीं हो सकता, इसके लिये कहते हैं कि—ईशस्य । वह समझदार ही कोरा हो सो नहीं पर क्रियाशक्ति सम्पन्न भी है, वह सब कुछ कर सकता है । यहाँ एक यह प्रश्न होता है कि भले कोई क्रिया और ज्ञानशक्ति रखता हो तथापि जहाँ तक काम करने का आवेश (आसक्ति) न हो वहाँ तक कार्य अच्छा नहीं होता । यदि भगवान् में भी वह आवेश होता है तो संभव है भगवान् को भी लौकिक कर्त्ताओं की तरह क्लेश और विकार होते होंगे पर यह दोष है इसलिये भगवान् जगत्कर्त्ता नहीं हो सकते । इसका उत्तर देते हैं—'कूटस्थस्य' । वह भगवान् सब कुछ करता है पर सर्वदा निर्विकार रहता है । कामधेनु, कल्पवृक्ष और चिन्तामणि से सब पदार्थ पैदा होते हैं पर वे सदा वैसे के वैसे ही रहते हैं । योगी लोग अपने मन से पदार्थों की सृष्टि

करते हैं, पर उनमें विकार नहीं आता। इसलिये भगवान् निर्विकार रह कर ही सृष्टि करते हैं, यह हो सकता है—तब किसी तरह की आशंका नहीं रहती।

यहाँ एक यह भी आशंका हो सकती है कि भगवान् को सृष्टि रचना करने से क्या प्रयोजन है? प्रयोजन कुछ है नहीं इसलिये भगवान् सृष्टि नहीं करता। प्रयोजन मान भी लिया जाय तो उसमें अनेक विरोध आते हैं। भगवान् इस सृष्टि को अपने लिये बनाता है या जीवों के लिये? यदि अपने लिये कहो तो जीवों को क्यों बनाया? और अपने लिये बनाने में भक्ति मार्ग की किंवा सब ही जीवोद्धार के उपायों के बनाने की क्या आवश्यकता थी? सब मार्गों का विरोध आता है। अपने लिये सृष्टि रचना करने में बन्ध, मोक्ष, विचित्रता और अज्ञान आदि की रचना करने को क्या जरूरत थी? इसलिये मानना पड़ेगा कि भगवान् यह जगत् अपने लिये नहीं, पर जीवों के लिये अथवा दोनों के लिये बनाता है। अच्छा, इतना मान लेने पर भी विरोध शांत नहीं होता। अपने लिये मानव के अंश में पहला दोष तो है ही पर एक और भी है कि भगवान् के आनन्द की न्यूनता माननी पड़ेगी। पूर्णानन्द नहीं कहा जा सकता। और जीवार्थ सृष्टि अंश में भी विषमता और निर्दयता दोष भगवान् में मानने पड़ेंगे। कोई दरिद्री कोई निर्बुद्धि कोई धनी कोई बुद्धिमान यह विषमता भगवान् ने ही फैलाई है। रोग मृत्यु आदि बनाने से भगवान् निर्दय भी है इसलिये उभयार्थ सृष्टि बनाने में भी विरोध आता है। इसको दूर करने के लिए कहते हैं कि 'अखिलात्मन:' सब का मूल उपादान वही है सब का आत्मा तत्तत् रूप से वही तो सब जगह फैल रहा है। वही मृत्यु है वही ग्रास है, वही दरिद्री है वही धनी है। हम अपने हाथ से दूध पीते हैं, मुंह से चने चबाते हैं पर पेट को सुख देते हैं पर हमें कोई विषम या निर्दय नहीं कहता क्योंकि हम ही तो हाथ पैर पेट हैं। यदि आनन्द के विरोध की बात कहते हो तो भी ठीक नहीं। क्योंकि 'अखिलात्मा' है। भगवान् का स्वरूप सर्वदा न्यून नहीं पर पूर्ण ही रहता है यही ब्रह्म की ब्रह्मता है। खिलता-न्यूनता दो तरह से होती है। एक सर्वरूप न हो सकने से और दूसरी आनन्द के अभाव से। वहाँ दोनों तरह की न्यूनता 'अखिलात्मा' एक पद से ही निषेध कर दी गई है।

किसी अंश में भी जिसके अंशों में न्यूनता न आवे वह 'अखिलात्मा' उपयोगी वस्तु के अंश में भी न्यूनता नहीं है क्योंकि द्वितीयसृष्टि में इनके लिये ही सृष्टि बनाई जाती है। उपभोग भी सब तरह से संपादन कराया जाता है। अब रहा अपना आनन्द वह भी उनके भोग करने से भगवान् का अपना आनन्द भी पूर्ण का पूर्ण ही रहता है अपनी आनन्द पूर्णता के भी भगवान् ही आत्मा हैं। क्योंकि अपने एवं जीव, दोनों के भोग से उसका उपचय होता रहता है। इतने पर भी स्वरूप की अनित्यता किंवा न्यूनता नहीं आ सकती। इसलिये आधिदैविकी और आध्यात्मिकी दोनों सृष्टि भगवान् से हो सकती है। तथापि सर्वेश्वर होने से भक्तिमार्ग की व्यवस्था रखने के लिए मुझे पैदा करके और अपने अन्त: इच्छा से ही सब आज्ञा करके मेरे रूप से ही सृष्टि का निर्माण करके आप तो निर्विकार ही रहे आते हैं ब्रह्मकल्प में ब्रह्मस्वरूप से ही ब्रह्ममयी सृष्टि की जाती है यह आगे मूल में भी है। मैं भी भगवान् से ही ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति प्राप्त करते उन्हीं के सृज्य जगत् को पैदा करता हूँ। 'इक्षयैवाभिचोदित:'। भगवान् ने अपनी द्रष्टि से सृष्टि की प्रेरणा की इससे मैं निर्भय हूँ ।।१७।।

आभास—अनेन सामान्यतः स एवाऽऽधारः स एव नियन्ता । तदात्मकश्चाऽहमित्युक्तमेव । परमेतस्य हेतुर्विचार्यते—कथमयं भगवांस्त्वामन्यान्वा सृजति ? कथं वा एकात्मनि नियम्यनियामकभावः ? तत्राऽऽह—**सत्त्वं रजस्तम इति** द्वाभ्याम्—

आभासार्थ—इस तरह सामान्य रीति से, भगवान् ही सब का आधार एवं नियन्ता है यह तथा मैं भी भगवदात्मक हूं, यह कह चुके। पर इसका कारण व प्रकार पूछना है। किस प्रकार से भगवान् ब्रह्मा को और अन्य पदार्थों को बनाता है। अथवा एक ही स्वरूप में शास्य और शासक भाव कैसे हो जाता है यह पूछता है। इसका उत्तर देते हैं कि—

श्लोक—**सत्त्वं रजस्तम इति निर्गुणस्य गुणास्त्रयः ।**
स्थितिसर्गनिरोधेषु गृहीता मायया विभोः ॥१८॥
कार्यकारणकर्तृत्वे द्रव्यज्ञानक्रियाश्रयाः ।
बध्नन्ति नित्यदा मुक्तं मायिनं पुरुषं गुणाः ॥१९॥

श्लोकार्थ—सत्त्व, रज, तम ये तीन गुण, निर्गुण भगवान् के हैं, पर स्थिति सर्ग और प्रलय अवस्था में भगवान् इन तीनों को माया से ग्रहण करते हैं। माया को करण बनाते हैं। द्रव्य, ज्ञान और क्रिया में स्थित रहकर ये तीनों गुण मुक्त भी माया से मोहित पुरुष को देह इन्द्रियं और अन्तःकरण में सर्वदा आसक्त करते रहते हैं। ॥१८॥१९॥

सुबोधिनी—'**अवस्थितेरिति काशकृत्स्न**" इति मतमत्र सिद्धं भविष्यति । यथोर्णनाभिः सृष्ट्यर्थमेकामूर्णामुद्गमते तथा भगवानपि त्रिविधसृष्ट्यर्थं त्रीन्गुणानुद्गमते । गुणरूपत्वाच्च गुणशब्दव्यवहारः । सद्रूपेण निर्गतं सत्त्वमित्युच्यते । केवलचिद्रूपेण निर्गतं क्रियाशक्तिप्रधानत्वात्सदानन्दाभावाच्च रज इत्युच्यते । आनन्दांशाच्च तमः । ते भगवद्रूपा एव भगवता सृष्टाः । न च भगवति ते पूर्वं स्थिताः । तथा सति भगवदात्मकास्ते न भवेयुः । यथा कार्पासे नहि सूत्रम् । तदेव हि पश्चात्स्वावयवैः पौर्वापर्यमापद्यमानं सूत्रतामापद्यते । अत एव भगवान्निर्गुणः । ते गुणाः पुनः स्थितिसर्गनिरोधेषु उत्पत्तिस्थितिलयार्थं ते (?) गृहीताः । तेषामपि ग्रहणं मायया । एषा हि माया जगत्कर्त्री न तु व्यामोहिका । तदाह— **विभोरिति** । समर्थस्य जगत्कर्तुरित्यर्थः । सा हि तच्छक्तिः सर्वरूपभगवत्सम्बन्धात्सर्वप्रतिकृतिरूपा । सा जगत्करणे करणरूपा । अतः करणांशस्य तदीयत्वात्करणरूपेणैव निर्गता गुणा इति माययैव गृहीताः । ते मायावशे तिष्ठन्ति तत्पुत्रा इव । अतो य एव भगवदंशो जीवस्तस्यां रन्तुमिच्छति । तत्कार्ये वा । तं ते गुणा बध्नन्तीत्याह – **कार्यकारणकर्तृत्व इति** । कार्यमधिभूतं देहः । कारणमध्यात्ममिन्द्रियाणि । कर्त्ता आधिदैविकः अन्तःकरणम् । एतेषां भावः कार्यकारणकर्तृत्वम् । संघातमिति यावत् । जीवस्य संघातत्वनिमित्तम् यथा केवलो जीवः संघातरूपो भवति । ते हि मायया गृहीताः स्वकार्ये स्थापिताः । तदाह— **द्रव्यज्ञानक्रियाश्रया इति** । द्रव्यमधिभूतम् । ज्ञानमधिदैवम् । क्रिया आध्यात्मिकी । तत्त्रयं तेषामाश्रयः प्रत्येकमेकस्य । अतः स्वस्वत्राश्रये ते

बध्नन्ति । आध्यात्मिकादिभावं परित्यज्य केवलं भवितुं न प्रयच्छन्ति । सर्वदा बध्नन्ति । बन्धने मायासम्बन्ध एव हेतुः । न च सम्बन्धमात्रमेव हेतुः । अन्यथा भगवतोऽपि बन्धनं स्यात् । किन्तु तत्र स्वातन्त्र्यं योऽभिमन्यते यस्याः पतिरहमिति । तदाह—**पुरुषमिति** । न तु तां करणत्वेन कार्यार्थं यो गृह्णाति । अतो गुणबद्धो नियोज्यो गुणकर्त्ता नियोजक इत्येकस्मिन्नेव रूपद्वयमुपपद्यते ॥१८॥१९॥

व्याख्यार्थ—यहां काशकृत्स्न आचार्य के मत को सहारा दिया है । भगवान् उन उन पदार्थों के रूप को धारण करके इस जगत् के रूप में स्थित है, यह मत काशकृत्स्न आचार्य का भी है । जैसे मकड़ी जाला बनाते समय अपने मुँह से ऊन निकालती है इसी तरह भगवान् भी तीन तरह की सृष्टि बनाने के लिये तीन गुणों को अपने स्वरूप में से निकालता है । इनका रूप मनुष्य को अपने तरफ खेंचता है, बांधता है इसलिये इन्हें व्यवहार में गुण शब्द से कहा गया है, जो सत्-रूप से बाहर हुआ उसे सत्त्व कहा है । जो केवल चित्तरूप से निकला, सत् आनन्द जिसमें नहीं जैसे है, और जिसमें क्रियाशक्ति प्रधान है वह रज कहा जाता है और आनन्दांश से तम हुआ । ये भगवान् ने स्वरूपमय ही पैदा किये हैं । पर भगवान् में यह पहले नहीं थे । यदि ये पहले भी भगवान् में होते तो भगवन्मय भगवद्रूप न होते । कपास में पहले सूत नहीं होता पर यही कपास पीछे अपने अवयवों का पूर्वापरभाव हो जाने से सूत्र (डोरा के) रूप को धारण करता है । अतएव भगवान् निर्गुण ही है । पर ऐसे गुणों से बना हुआ जगत् कार्यक्षम नहीं हो सकता । अतएव गुणों को कार्यक्षम बनाने के लिये भगवान् उन्हें माया से ग्रहण करते हैं । स्थिति के समय सत्त्व को ग्रहण करते हैं । सर्ग अवस्था में रज को और प्रलय के समय तम को ग्रहण करते हैं । जैसे चरखे पर से उतारा हुआ सूत कार्यक्षम हो जाता है इसी तरह माया में होकर निकाले हुए सत्त्वादि भगवदीय गुण स्थित्यादिकार्य के योग्य हो जाते हैं । यह माया व्यामोहिका नहीं पर जगत् को अपने रूप में तैयार करने वाली है । यही बात 'विभोः' शब्द से कही है । सर्वसमर्थ जगत्कर्त्ता भगवान् की शक्ति है । भगवान् सर्वरूप हैं अतएव भगवान् के सम्बन्ध से यह भी सब आकारों की प्रतिकृति रूप होती है । जगत् को बनाते समय इसका कारणरूप से उपयोग करते हैं काटने में जैसे करोती का । जैसे साँचे में होकर, सोना चांदी, निकलने पर साँचे का ही रूप धर लेता है । इसी तरह माया में होकर निकले हुए गुण भी भगवद्रूप होते हुए भी करणरूप ही हो जाते हैं, अतएव वे मायागृहीत कहे जाते हैं । ये फिर मायावश में रहते हैं पुत्रों की तरह । इसीलिये जो ही भगवान् का अंश (जीव) इस माया में रमना चाहता है, अथवा माया के कार्य इस आधिभौतिक जगत् में रमना चाहता है उसको ये गुण बाँध लेते हैं— 'कार्यकारण कर्तृत्वे' इत्यादि । कार्य, अधि-भूत-देह कहा जाता है । कारण अध्यात्म जगत् इन्द्रियादि । और कर्ता आधिदैविक अन्तःकरण कहा गया है । इन भावों (कार्य कारण कर्तृत्व) की सर्वदा सत्ता यही देह है । ये तीनों जीव के संघात में आ जाने का निमित्त होते हैं । शुद्ध जीव भी सृष्टि में संघात रूप हो जाता है । वैसा रूप धारण कर लेता है ।

अब इन्हें माया अपने कार्य के लिये अपने पास ही रखती है । यही 'द्रव्यज्ञानक्रियाश्रयाः' से कहा है । द्रव्य अधिभूत पदार्थ । ज्ञान ही अधिदैव पदार्थ है और क्रिया आध्यात्मिको पदार्थ है । द्रव्यज्ञान, क्रिया ही प्रत्येक तमः सत्त्व रजस् के आश्रय हैं । इसलिये जो जो जीव उन तीन पदार्थों

का आसरा लेता है तो ये सत्त्वादि उन्हें बांध लेते हैं। द्रव्य का अभिमान आने पर तम बाँधता है। ज्ञान की आसक्ति होने पर सत्त्व बांध लेता है और क्रिया का अभिमान होने पर रजोगुण बांधता है। जीव आध्यात्मिकादिभाव को छोड़कर शुद्ध चैतन्य स्वरूप में आ जावें, बस गुण ये होने नहीं देते। सर्वदा उन्हें आध्यात्मिकादिभावों में ही फँसाये रहते हैं। माया से सम्बन्ध रखने मात्र से यह उनका बन्धन होता है। यद्यपि माया से सम्बन्ध भगवान् भी करते हैं पर भगवान् का बन्धन नहीं होता। भगवान् माया को कार्यमात्र के लिए करणरूप से ग्रहण कर उसे स्वतन्त्र नहीं होने देते। और यह जीव उसके मोह में फंसकर उसके स्वातन्त्र्य का अभिमान करता है कि मैं इसका पति हूँ और यह मेरी पत्नी है। यही बात पुरुष शब्द से कही है। सबका तात्पर्य यह है कि जो पुरुष माया को केवल कार्य के समय करणरूप से ग्रहण कर उसके गुणों में नहीं फँसता, उनका कर्त्ता रहना है, वह नियोजक रहता है और जो माया के गुणों में फँसकर उसे अपनी स्वतन्त्र गृह-स्वामिनीवत् समझ कर बन्ध जाता है वह नियोज्य हो जाता है। इस तरह एक शुद्ध ब्रह्मचैतन्य में ही नियोज्यनियोजकभाव हो जाता है। जो अंश माया और माया के कार्य के अभिमान में फँस जाता है वह बद्ध और जो उन दोनों के अभिमान से मुक्त रहता है वह नियोजक, गुणकर्त्ता, मुक्त कहा जाता है। एक ही के ये दो रूप हैं ॥१८॥१९॥

आभास—एवं जीवब्रह्मभावभेदं निरूप्य सामान्यत उत्तरितमपि यदाधाराद्युत्तरं विशेषाकारेणाऽऽह—

आभासार्थ—इस तरह जीवभाव और ब्रह्मभाव के भेद का निरूपण करके यद्यपि 'यदाधार:' इत्यादि प्रश्न का सामान्य उत्तर दे दिया है तथापि विशेषाकार से देने के लिये कहते हैं—

श्लोक—**स एष भगवाँल्लिङ्गैस्त्रिभिरेतैरधोक्षजः।**
स्वलक्षितगतिर्ब्रह्मन् सर्वेषां मम चेश्वरः ॥२०॥

श्लोकार्थ—वह ये भगवान् जिसकी गति इन चिह्नरूप गुणों से भी नहीं जानी जाती और इन्द्रियजन्य ज्ञान और क्रिया जिसके स्वरूप तक पहुँच नहीं सकती, वह हे ब्रह्मन्! मेरा और सारे जगत् का ईश्वर है ॥२०॥

सुबोधिनी—स एष इति। मायातत्कार्याणां द्रव्यादीनां विशेषाधारत्वं भगवतश्च सामान्याधारत्वमिति तत्रोत्तरमुक्त्वा मायित्वेन विशेषात्मत्वं च बोधितमिति यत्पर इत्येतदेव शिष्यते। नियामकस्य दर्शने पूर्वमात्मत्वात्तज्ज्ञानेऽपि नियमनं न सम्भविष्यतीति त्रिभिरेव एतैर्लिङ्गैः सत्त्वादिभिः सुष्ठु अलक्षिता गतिर्यस्य। यद्यपि स एवैषः। यः स्रष्टा स एव बद्धः। तथापि स्रष्टा भगवान्। एते च गुणा भगवतो लिङ्गभूता ज्ञापकाः बहिर्निर्गता धूमवद्दूरादेव पुरुषं ज्ञापयन्ति। न तु तं वेष्टयन्ति। अन्यैर्बन्धशङ्कां वारयति—**एतैरिति**। एतावन्त एव ते। तर्हि बद्धैः कथं न बध्यते? तत्राऽऽह—**अधोक्षज इति**। ते चेत्तं पश्यन्ति क्रियया वा प्राप्नुवन्ति। तदा बध्नन्ति। तत्तु तेषामसम्भावितमिति। अत एव सुष्ठु अलक्षिता गतिर्यस्य। स्वैर्वा बद्धातिरिक्तै-

मुक्तैर्वा लक्षिता गतिर्यस्य । वस्तुतस्तु भक्ताः भगवता सह पश्चाद्वा समायान्तीति सर्वत्र निश्चयः । अत एव हे ब्रह्मन् त्वं तादृशः । तथापि सर्वेषां मम चकारात्तव च भगवानीश्वरो नियन्ता ।।२०।।

व्याख्यार्थ—भगवान् सारे जीव समूहों का सामान्य आधार है और माया और माया के कार्य द्रव्यादि उनके विशेष आधार हैं । जैसे गृहस्थ पीठ । मनुष्य का सामान्य आधार घर है और विशेषाधार कुर्सी है और उस पर भी यदि गादी हो तो वह और भी विशेषाधार है । इसी तरह भगवान् आधार माया का, माया गुणों का आधार और गुण कार्यों का आधार है । उन गुण कार्यों से यह जीव बद्ध है । तो जीवों का सामान्य आधार तो भगवान् हुए, और विशेषाधार माया गुण कार्यादि । पर मुक्त जीवों के तो भगवान् ही साक्षात् आधार हैं यह बात साधारण रीति से कह चुके । इसलिये उसका उत्तर न देकर विशेषात्मत्व का ही उत्तर देते हैं । मायी दोनों हैं फिर एक दूसरे का विशेष (फ़रक) क्या और क्यों ? यह प्रश्न बाकी ही रह जाता है । इसलिये इस विशेषात्मत्व का ही उत्तर देते हैं—'स्वलक्षि०' ।

नियामक भगवान् के दर्शन (समझ) करने में पहले तो दोनों एक ही हैं इसलिये नियमन हो नहीं सकता । पर अब जो नियमन ज्ञानदशा में भी अभेदज्ञान हो जाय तो नियमन ही न हो सके क्योंकि अभेद में नियम्यनियामकभाव कैसा ? इसलिये भगवान् ने अपने ज्ञापक इन तीन गुणों के द्वारा ही अपने ज्ञान को तिरोहित कर लिया । अर्थात् उसका ही एक अंश उन अपने ज्ञापक गुणों में ऐसा फँस गया कि अपनपे का ज्ञान ठीक न रहा । जिसको ज्ञान न रहा वह नियम्य, और जिसे अपनपे का ज्ञान रहता है वह नियामक, यही भगवान् का विशेषात्मत्व है । और यही 'मत्पर' का उत्तर भी है । जिसका ज्ञानधर्म तिरोहित नहीं हुआ वह पर और दूसरा अवर ।

यद्यपि जो स्रष्टा है वही बद्ध भी हुआ है तथापि एकात्मकता रहने पर भी भगवान् गुणों के स्रष्टा हैं । और तिरोहित ज्ञानधर्म होने से जीवात्मा बद्ध है । यहाँ एक यह प्रश्न होता है कि चाहे स्रष्टृत्वेन किंवा भोग्यत्वेन हो, गुणों का माया सम्बन्ध तो दोनों के साथ होता है तो फिर वह भी बद्ध क्यों नहीं ? गुण उसे क्यों नहीं बाँधते ? तो इसका उत्तर यह है कि यद्यपि ये सत्त्वादि गुण भगवान् में से ही आविर्भूत हुए हैं अतएव भगवान् के चिन्ह हैं ज्ञापक हैं । पर धूम की तरह भगवान् को लपेट नहीं सकते । किन्तु दूर से ही ज्ञापन कराते हैं कि इनका पैदा करने वाला भगवान् है । धुआं अग्नि को लपेटे रहता है और ज्ञापक भी है पर सत्त्वादि गुण तो उसका स्पर्श नहीं करते पर दूर से ही उसका ज्ञापन कराते हैं । क्योंकि वह अपने स्वरूप को जानता है ।

अन्य से इस आत्मा का भी बन्धन क्यों नहीं होता तो कहते हैं 'एतैः' । अर्थात् वे इतने ही हैं कि उनसे उस आत्मा का बन्धन हो सकता है किन्तु इसका नहीं । अस्तु भले हो जीवांश ही गुणों से बँधे, पर गुणबद्ध जीव तो इसे (शुद्ध को) बाँध सकते हैं । गुणबद्ध इसका बन्धन क्यों नहीं करते ? दुनियाँ में तो यह रीति है कि जो संसार में फंसे हुए हैं वे अपने बाल-बच्चों को भी फँसाते जाते हैं । तो इसका उत्तर है 'अधोक्षजः' । वह विशेषात्मा ऐसा है कि वहाँ तक बद्धात्मा के ज्ञानेन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष और कर्मेन्द्रियजन्या क्रिया पहुँचती ही नहीं । गुणबद्ध लोग यदि उसे देख

सकें या क्रिया के द्वारा उसे पा सकें तब न बाँधे । यह कार्य उनसे होता नहीं इसलिये वह इनसे बँधता नहीं । इसी कारण से भगवान् 'सुष्टु अलक्षिता गतिर्यस्य' है ।

अधोक्षज शब्द से ही जब स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् की समझ संसारियों को अच्छी तरह नहीं हो सकती तो फिर 'स्वलक्षित गतिः' यह पद देने की क्या आवश्यकता है, यह किसी को प्रश्न न हो इसलिये इसका दूसरा अर्थ करते हैं कि भगवान् की समझ भगवदीयों को किंवा मुक्तों को ही होती है । इस पर एक प्रश्न और होता है कि केवल एक अपने स्वरूप का जिन्हें ज्ञान हुआ है वे जीवन्मुक्त हैं पर उन्हें भगवान् का ज्ञान कहाँ हुआ है ? और जो परममुक्त हैं भगवत्प्राप्ति कर चुके हैं उनका विषय और विषयी ये द्वैतभाव ही जाता रहा है इसलिये दोनों को ही भगवान् की गति की समझ होना असंभव है । इसलिये पूर्व अर्थ को ही नियत रखते हुए कहते हैं कि 'वस्तु तस्तु' । वास्तव में तो भगवद्भक्त ही भगवान् की वास्तव गति को जानते हैं । क्योंकि भक्त लोग ही भगवान् के साथ अथवा उनकी इच्छा से पीछे भी अवतार लेते हैं यह सब भगवच्छास्त्रों का निर्णय है । इसलिये हे नारद! तुम भी उसकी चेष्टा को जानने वाले हो तथापि वह सर्वेश्वर है इसलिये वह भगवान् तुम्हारा, हमारा और सबका मालिक है ।।२०।।

आभास—एवं प्रश्नचतुष्टयं परिहृत्य **यद्रूपमित्यादि** षट् प्रश्नानुत्तरयितुमारभते—

आभासार्थ—इस तरह चार प्रश्नों का उत्तार देकर अब छः प्रश्नों का उत्तार देना प्रारम्भ करते हैं ।

श्लोक—**कालं कर्म स्वभावं च मायेशो मायया स्वया ।**
आत्मन् यदृच्छया प्राप्तं विबुभूषुरुपाददे ।।२१।।

श्लोकार्थ—माया के अधीश भगवान् ने जब इस जगत् के रूप में फैलने की इच्छा की तब अपने तरफ अपने आप आते हुए काल, कर्म और स्वभाव को भी माया के साथ ही ग्रहण किया ।।२१।।

सुबोधिनी— कालं कर्म स्वभावमिति । त्रयाणामत्राऽध्याये उत्तारम् । त्रयाणामग्रिमाध्याये । तत्र प्रथमं यद्रूपमित्यस्योत्तरमाह । स्वभावतो यत्तदग्रे वक्ष्यते । परिदृश्यमानरूपतो यत्तदिदं कालकर्मस्वभावरूपमिति । अधिष्ठानं तु तत्त्वानि । तत्सहिताद्भगवतः सृष्टिरेषामिति । तत्र सर्वस्याऽपि जगतः कालकर्मस्वभावत्वे पूर्वं भगवता कालकर्मस्वभावानां ग्रहणं हेतुः । एते हि कालकर्मस्वभावा भगवतो रूपविशेषा अक्षरभेदाः सर्वत्र परिभ्रमन्ति । ते यदृच्छया भगवन्निकटेऽपि समागतास्तदा भगवता ते गृहीताः । तेऽपि पुनः करणकोटावेव निविष्टा इति माययैव गृहीताः । परमत्र माया करणं न तु कर्त्री । साऽपि न व्यामोहिका । किन्तु स्वकीया । मायायाश्चाऽयं नियामको न तु मायाभावं प्राप्तः । अस्यां सृष्टौ जीवानां बन्धने उत्पत्तिस्थितिप्रलयेषु च गुणानामुपयोगो न तु स्वस्य नानात्वे । अत एव विशेषेण बुभूषुः नानारूपो भविष्यामीति तान् गृहीतवान् । मायया पुनर्गृहीतास्तेऽपि नियोज्या जाताः ।।२१।।

व्याख्यार्थ—तीन प्रश्नों का उत्तर इस अध्याय में देते हैं और तीन प्रश्नों का आगे के अध्याय में। उनमें पहले 'यद्रूपं' इस प्रश्न का उत्तर कहते हैं। स्वभाव से जो कुछ होता है उसे आगे कहेंगे। पर अभी तो जो चारों तरफ देखने में आ रहा है वह काल कर्म स्वभाव रूप है यह दिखाना है। तत्त्वरूप इस जगत् का अवान्तर अधिष्ठान (आधार) मूल तत्त्व है। काल, कर्म, स्वभाव सहित भगवान् से तत्त्वों की सृष्टि होती है। यह सारा जगत् हमें कालकर्मस्वभावरूप दीखता है। इसमें सबसे पहले भगवान् ने माया के साथ उन तीनों को भी जगद्रचना में ग्रहण किया है यह कारण है। ये काल, कर्म, और स्वभाव तीनों भगवद्रूप हैं। अक्षर ब्रह्म के हो विशेष हैं, अतएव नित्य है इसलिये सर्वत्र भ्रमण करते रहते हैं। भगवदिच्छा से ये भगवान् के समीप भी आये तब भगवान् ने इनको माया के द्वारा ग्रहण किया। माया की तरह इन्हें भी करण (साधन) को कोटि में हा रखा। यहाँ की यह माया करणरूपा है कर्त्री नहीं। (क्योंकि यह प्रथम सृष्टि है)। और न यह माया व्यामोहिका ही है, पर अपनी सामर्थ्य है। यह भगवान् भी वह है जो सब का माया का भी नियामक होकर रहता है। वह नहीं जो माया के रूप में मिल गया है। इस सृष्टि में अपने स्वरूप को नाना बनने में सत्त्वादि गुणों का उपयोग नहीं है, पर जीवों के बन्धन करने में तथा उनके उत्पत्ति स्थिति प्रलय करने में सत्त्वादि का उपयोग करते हैं। स्वस्वरूप को अनेक बनाने में तो अपनी सर्व भवन शक्ति तथा अक्षरविशेषों (काल, कर्म, स्वभावों) का ही उपयोग करते हैं। अर्थात् अपने आप ही सब कुछ हो जाते हैं। अतएव जब भगवान् किसी विशेष के द्वारा बहुत होना चाहता है तब उन काल कर्म स्वभाव अक्षर विशेषों का ग्रहण करते हैं। स्वशक्ति माया भगवान् की आज्ञा कारिणी है और माया के द्वारा उनका ग्रहण करते हैं अतएव वे भी भगवान् के नियोज्य हो जाते हैं अर्थात् आप हो अपना नियोज्य हो जाता है ॥ २१ ॥

आभास—अतस्तेषां नियोगमाह—

आभासार्थ—इसीलिये अब उनका कर्त्तव्य बताते हैं—

श्लोक—कालाद्गुणव्यतिकरः परिणामः स्वभावतः।
कर्मणो जन्म महतः पुरुषाधिष्ठितादभूत् ॥ २२ ॥

श्लोकार्थ—काल का, कुछ अंश में गुणों के साथ सम्बन्ध हुआ। फिर स्वभाव के साथ सम्बन्ध होने से उनका परिणाम (परिवर्तन) हुआ, फिर कर्म का सम्बन्ध होने से महत्तत्व का जन्म हुआ। पर सब के समय में पुरुष (जीव) का आधार तो था ही ॥ २२ ॥

सुबोधिनी— कालाद्गुणव्यतिकर इति। पूर्वं मायया गुणा गृहीताः। पश्चात्कालादयः। अतस्ते गुणेषु प्रविष्टाः। तत्र कालाद्गुणानां व्यतिकरो जातः सम्पर्को जातः। तदनु स्वभावसम्बन्धात्सम्पृक्ता गुणाः परिणता जाताः। तत्रापि कर्म जन्मनिमित्तं तत्र पतितमिति परिणतं तद्वस्तु गुणत्रयकार्यं कर्मसम्बन्धाज्जन्मरूपं जातम्। अनेन त्रैविध्यं सृष्टेरुक्तम्। यत्र कालाद्गुणव्यतिकर एव स भूतभविष्यद्वर्त्तमानात्मकः संवत्सररूपः काल एव जातः। तत्रापि स्वभावे

अधिके प्रविष्टे परिणतं सत् जडादिरूपं घटरूपं भवति । ततोऽपि कर्म चेदधिकं प्रविशति तदा जीवाधिष्ठितदेहादिसंघातस्य जन्म भवति । तदिदमाह–**जन्म महतः पुरुषाधिष्ठितादभूदिति ।** पुरुषाधिष्ठानं सर्वत्र । तथापि परिणतं वस्तु पुरुषाधिष्ठिताद्धेतोर्महतो जन्म जातम् । तस्य हि नामान्तराभावात्प्रथमं स्थूलतयोत्पन्नं महदित्युच्यते ।। २२ ।।

व्याख्यार्थ—भगवान् ने पहले माया के द्वारा गुणों का ग्रहण किया और फिर काल, कर्म, स्वभाव का ग्रहण किया, यह अनुपद कह चुके हैं । ऐसी दशा में वे कालादि गुणों में घुसे । पहले गुणों के साथ काल का सम्बन्ध हुआ । इसके अनान्तर जब उनका स्वभाव के साथ भी सम्बन्ध हुआ तब उनमें कुछ परिवर्तन (बदल जाना) हुआ । फिर भी उनमें जन्म का निमित्त कर्म मिला । तब वह बदला हुआ त्रिगुण कार्य, कर्म के सम्बन्ध से जन्मरूप हो गया । तात्पर्य यह है— काल का जब गुणों के साथ सम्बन्ध होता है तब वह काल भूत, भविष्य, वर्तमान को दिखाने वाला संवत्सर रूप हो जाता है । और जब काल संबद्ध गुणों में स्वभाव भी घुस बैठता है तब वह गुण त्रय बदल कर जडादिरूप, घटादि की तरह धारण कर लेता है । और जब उसमें जन्म का निमित्त कर्म, अधिकार घुस जाता है, तब उसी पदार्थ का, वह रूप आता है, कि जीव संयुक्त देहादि पिण्ड का जन्म होता है । यह बात 'जन्म महतः पुरुषाधिष्ठितादभूत्' वाक्य से कही है । पुरुष (जीव) तो सर्वत्र आधारभूत रहता ही है । पुरुष के आधार से ही वह गुणत्रयात्मक परिणत वस्तु, महतत्त्व का जन्म देने वाला हुआ । अर्थात् वही पदार्थ महतत्त्व के रूप में पैदा हो गया । महतत्त्व अर्थात् समष्टि बुद्धिपिण्ड, किंवा अन्तर्गुप्त इन्द्रियान्तःकरण तन्मात्रा महाभूतों का सचेतन पिण्ड । उस समय उसका कुछ दूसरा नाम हुआ नहीं था इसलिये उसे स्वरूपानुसार महत् कहने लगे ।। २२ ।।

आभास—एवमेकस्य जीवस्य कालकर्मस्वभावैर्देहसम्बन्धो निरूपितः । इदानीं भगवत्प्रेरणया ते गुणा महत्तत्त्व एव लग्ना इत्याह—

आभासार्थ—इस तरह एक जीव को काल, कर्म, स्वभावों के द्वारा संघातात्मक देह मिला यह कहा । अब बाकी रहे गुण, भगवत्प्रेरणा से केवल महतत्त्व में ही जा लगे यह कहते हैं—

श्लोक—**महतस्तु विकुर्वाणाद्रजःसत्त्वोपबृंहितात् ।**
तमःप्रधानात्त्वभवद्द्रव्यज्ञानक्रियात्मकः ।। २३ ।।

श्लोकार्थ—वह महत्तत्व भी जब बदलने लगा तव वह पुनः रजोगुण, सत्त्वगुण से युक्त और तमोगुण प्रधान हुआ अतएव वह द्रव्यज्ञान और क्रिया का समूह एक पदार्थ और ही तैयार हुआ ।। २३ ।।

सुबोधिनी–महतस्त्विति । कालकर्मस्वभावैः स्वस्मिन्गुणव्यतिकरादिकार्ये कृते सोऽपि विकुर्वाणो जातः । तत्र गुणद्वयं सहायत्वेन प्रविशति । तमस्तु प्राधान्येन । तदाह–**रजःसत्त्वोपबृंहिता-त्तम :– प्रधानादिति** । कश्चित्त्रिगुणात्मकः पदार्थो जातः । त्रयाणामनुप्रवेशात् । तदाह—**द्रव्यज्ञानक्रियात्मक इति** ।।२३।।

व्याख्यार्थ—उस महत्तत्त्व पदार्थ में जब काल, कर्म, स्वभावों ने, अपना गुण व्यतिकरादि कार्य कर दिया, तब वही मूल पदार्थ दूसरे रूप में पैदा होने को तैयार हो गया। और थोड़े काल में ही वह रजोगुण, सत्त्वगुण से मुक्त और तम जिसमें विशेष ऐसा द्रव्यज्ञान क्रिया का पिण्ड हो गया। इसमें रजोगुण, सत्त्वगुण ने सहायरूप से प्रवेश किया और तम प्रधान रहा। यही बात 'रजः सत्त्वोपबृंहितात्' आदि वाक्य से कही है। कुछ गुणभाग पहले, कुछ गुणभाग पीछे इकठ्ठा हो इस तरह सब के अनुरूप मेल से एक द्रव्य ज्ञानक्रियात्मक त्रिगुण पदार्थ पैदा हुआ। 'द्रव्यज्ञानक्रियात्मकः' ।। २३ ।।

आभास—तस्य नामाऽऽह—

आभासार्थ—उसका नाम क्या हुआ सो कहते हैं—

श्लोक—**सोऽहङ्कार इति प्रोक्तो विकुर्वन् समभूत्त्रिधा ।**
वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेति यद्भिदा ।
द्रव्यशक्तिः क्रियाशक्तिर्ज्ञानशक्तिरिति प्रभो ।। २४ ।।

श्लोकार्थ—उसे अहंकार कहते हैं। यह अहंकार भी जब काल, कर्म, स्वभाव और गुण के पूर्वापरीभाव से आधिक्य होने पर पदार्थान्तर पैदा करने के रूप में आया तब वही अहंकार वैकारिक तैजस और तामस इन तीन रूपों में आ गया। हे राजा परीक्षित्! तामसाहंकार द्रव्यशक्ति, राजसाहंकार क्रिया शक्ति और सात्त्विक अहंकार ज्ञानशक्ति हुआ ।। २४ ।।

सुबोधिनी—सोऽहङ्कार इति प्रोक्त इति। पूर्वं तु स्थूलमेकं कार्यमुत्पन्नमिति भगवता महानिति संज्ञा धृता। अस्य तु पिता महान्। स तु विशेषतो नामान्तरमजानन्नात्मानं प्रकृतिं च पश्यन्नुभयं नामत्वेन निर्दिशति—**अहङ्कार इति।** पित्रैव प्रोक्तः। सोऽपि पूर्ववत् कालादिसम्बन्धं प्राप्य विकुर्वन्। गुणानां प्रधानगुणभावे नियामकाभावात्स्वतन्त्राः सन्तः स्वाधिकरणमहङ्कारं त्रेधा कृतवन्त इत्याह— **समभूत्त्रिधेति।** तेषां भेदानाह—**वैकारिक इति।** वैकारिकः सात्त्विकः। तैजसो राजसः। चकारादवान्तरभेदा अपि तयोः सन्तीत्युक्तं भवति। एवं तामसश्चेत्यत्राऽपि। यद्भिदा यस्याऽहङ्कारस्यैवं त्रिरूपो भेद इत्यर्थः। एतेषां स्वस्वकार्यकरणे सामर्थ्यमाह—**द्रव्यशक्तिरिति।** तन्मध्ये तामसोऽहङ्कारो द्रव्यजननसामर्थ्ययुक्तः स द्रव्यमेव जनयति। अतस्तस्य गौणं नाम द्रव्यशक्तिरिति द्रव्ये शक्तिर्यस्येति। एवं राजसोऽहङ्कारः क्रियाशक्तिः। सात्त्विकस्तु ज्ञानशक्तिरिति। तत्र **प्रभो इति।** सम्बोधनं तवाऽहङ्कारो ज्ञानशक्तिरूप इति बोधनार्थम् ।२४।

व्याख्यार्थ—पहले तो एक स्थूल तत्त्वरूप कार्य (पदार्थ) पैदा हुआ उसका नाम भगवान् ने महान् रखा। इस दूसरे कार्यरूप पदार्थ का वह 'महान्' पिता उत्पादक था। किसी विशेष के द्वारा जब इसने अपने नाम का निर्णय न कर पाया, तब अपने स्वरूप और अपनी स्वाभाविककृति (काम)

को देखकर दोनों का मिलकर नाम कहा गया है—'अहंकार' इति । यह इसका नाम इसके पिता (महत् समष्टिबुद्धि) ने ही कहा था ।

इस अहंकार के साथ भी काल, कर्म और स्वभाव का जब सम्बन्ध हुआ तब यह भी अपने में से दूसरा पदार्थ पैदा करने को तैयार हो गया । इसके भीतर सत्त्वादिगुण ही थे पर कौन नीचा और कौन ऊँचा इसका नियम करने वाला कोई न होने से तीनों गुणों ने स्वतन्त्र होकर अपने आधार अहंकार को तीन तरह का कर दिया । यही बात 'समभूत्रिधा' इस वाक्य से कही है । उनके भेद बताते हैं—वैकारिक इति । वैकारिक सात्त्विक अहंकार, तैजस राजस अहंकार, और तामस अहंकार । 'च' कार कहने से मालुम होता है कि फिर इनके भी कई अवान्तर भेद और भी हैं । इसी तरह तामस के भी अनेक भेद हैं । यह तीन अहंकार के भेद हैं । इन तीनों की अपने-अपने कार्य करने में सामर्थ्य बताते हैं–द्रव्यशक्तिरिति । इन तीनों में तामस अहंकार की द्रव्य पैदा करने में सामर्थ्य है, इसलिये ये पृथिव्यादि द्रव्यों को पैदा करता है । इसलिये इसका 'द्रव्यशक्ति' यह नाम गुणप्रयुक्त है । द्रव्य में है शक्ति जिसको । इस तरह राजस अहंकार क्रिया को पैदा करने में समर्थ है । और सात्त्विक अहंकार से ज्ञान का प्रकाश होता है । यहाँ नारद के लिए 'प्रभो' यह सम्बोधन, तुम्हारा अहंकार ज्ञान शक्तिरूप है, यह दिखाने के लिये दिया गया है ।। २४ ।।

आभास—इदानीं त्रयाणामपि कालादिसम्बन्धत्वात्सृष्टिकर्तृत्वात्प्रथमं तामसस्य तथात्वमाह—

आभासार्थ—तीनों अहंकारों के साथ काल, कर्म, स्वभाव का सम्बन्ध है, अतएव वे तीनों ही सृष्टि करने वाले हैं पर अभी तीनों में से पहले तामसाहंकार की सृष्टिशक्ति का निरूपण करते हैं—

श्लोक—तामसादपि भूतादेर्विकुर्वाणादभून्नभः ।
तस्य मात्रा गुणः शब्दो लिङ्गं यद्द्रष्टृदृश्ययोः ।। २५ ।।

श्लोकार्थ—भूतादि नामक तामसाहंकार भी कालादि द्वारा जब सृष्टि करने को उद्यत हुआ तब उससे पहले पहल आकाश पैदा हुआ । जिसकी मात्रा और गुण 'शब्द' है । यह शब्द ही दृष्टा और दृश्य की पहचान कराता है ।। २५ ।।

सुबोधिनी—तामसादपि भूतादेरिति । तामसस्य भूतादिरित्यपरं नाम यौगिकम् । पृथिव्याद्याकाशान्तानां सामान्यं नाम भूतमिति । जातमित्यर्थः । भूतानि च तामसानि । अतस्तामसं यज्जातं तद्भूतमित्युच्यते । तस्य आदिः कारणं भूतादिरहङ्कारः । सोऽपि यदा विकुर्वाणः कार्यजननार्थमुद्यतस्तदा पूर्ववत्कालादिसम्बन्धान्नभो नाम किञ्चित्कार्यं जातम् । अत्यन्ततामसत्वात्प्रकाशप्रवृत्तिरहितत्वान्न विद्यते भाः यस्येति । भा दीप्तावित्यस्य अस्प्रत्यये कृते आकार लोपे च कृते नभ इति भवति । ननु तस्य सर्वात्मना भानराहित्ये कथं तत्प्रतीतिः ? तत्राऽऽह—**तस्य मात्रा गुण इति** । तस्य शब्दः मात्रा गुणश्च । मा निषेधात्मिका माया । तां त्रायत इति

मात्रा । भगवदावरणरूपां मायां हि पालयति । अत एव मात्रास्वासक्तो न भगवन्तं प्राप्नोति । अनेन वर्णात्मकः शब्दो व्युदस्तः । किञ्च । गुणः सः । आत्मबन्धक इत्यर्थः । पूर्वं गुणानां बन्धकत्वोक्तेः । मात्रा नाम परिणामविशेषः । आकाशः सर्वोऽपि व्यवहारे शब्दमात्रो भवतीति शब्दमात्रेणाऽऽकाशव्यवहारः । किञ्च । **लिङ्गं यद्द्रष्टृदृश्ययोरिति** । मात्रात्वं गुणत्वं च शब्दगतधर्ममात्रम् । नत्वसाधारणो धर्मः । तस्माच्छब्दस्य न तल्लक्षणम् । किन्तु द्रष्टृदृश्यलिङ्गत्वं शब्दत्वमिति । गजोगज इत्युक्ते स्वरेण गृहस्थितः पुरुषो बहिःस्थितमनुमिमीते द्रष्टारं दृश्यं च देवदत्तो गजं पश्यतीति ॥ २५ ॥

व्याख्यार्थ—तामसाहंकार का ही 'भूतादि' यह एक दूसरा यौगिक नाम है । भूतादि अर्थात् पंच महाभूतों का आदि । पृथ्वी से लेकर आकाश पर्यन्त पदार्थों का नाम है 'भूत' । पैदा होने मात्र से यह इसका सामान्य नाम 'भूत' है । भूत जितने हैं वे सब तामस होते हैं । इसलिए तामसरूप से जो भी पैदा होता है वह 'भूत' कहा जाता है । उन भूतों का आदि अवान्तरकारण अहंकार है इसलिए उसे भूतादि कहते हैं ।

यह भूतादि अहंकार भी जब काल, कर्म, स्वभाव के सम्बन्ध से सृष्टि करने के लिये तैयार हुआ तब कालादि के सहारे से नभ नाम का आकाश पदार्थ पैदा हुआ । तामस भाग बहुत विशेष होने से इसमें प्रकाश और प्रवृत्ति नहीं है इसलिये इसे 'नभा' कहते हैं । न विद्यते भा यस्य । जिसको कोई अच्छी तरह पहचान न सके । भा दीप्तौ धातु से असु प्रत्यय कर लेने से और आकार का लोप कर देने से नभ शब्द हो जाता है । यहाँ यह प्रश्न होता है कि जब न समझ में आवे वह नभ, तो फिर इसकी प्रतीति कैसे हो रही है। इसके उत्तर में कहते हैं कि आकाश का गुण और मात्रा 'शब्द' है । शब्द गुण से वह पहचाना जाता है, स्वरूप से नहीं । और यह शब्द मात्रा भी है । जिस माया के पालन करने का वेदादि शास्त्र निषेध करते हैं उसको भी यह पालन करता है इसलिये इसे मात्रा भी कहते हैं । मां मायां त्रायते असौ मात्रा । दो तरह की माया है, एक व्यामोहिका दूसरी आवरणात्मिका । यह शब्द भगवान् को भी ढक देने वाली माया को भी पालन करता है इसलिये मात्रा कहा जाता है । इसीलिये यह जीव माया मोहित होकर शब्द रूप रसादि में मोहित(आसक्त) होकर भगवान् को नहीं पहुँचता । इससे यह भी स्पष्ट होता है कि वर्णात्मक शब्द आकाश का गुण नहीं है वह तो स्वर और व्यञ्जन रूप भगवदात्मक है और नित्य पृथक् ही है (यह बात सब निर्णयादि ग्रंथों में स्पष्ट है) ।

गुण शब्द का अर्थ आत्मबन्धक भी होता है । गुणबन्धक होते हैं यह पहले कह आये हैं । शब्द भी आत्मा का बन्धनकर्त्ता है यह अनुभवियों को स्पष्ट है । मात्रा शब्द का भावार्थ, परिणाम विशेष है । अर्थात् अपने उपादान कारण के समान सत्ता वाला कार्यरूप हो जाना यह परिणाम । यद्यपि रूपरसादि भी मात्रा हैं, पर उस शब्द का अन्यत्र प्रयोग न कर केवल शब्द में ही किया इसका तात्पर्य यह है कि व्यवहार के समय, आकाश सब का सब केवल शब्द हो जाता है । इतना विरलावयव है कि उसकी पृथक् सत्ता मालुम ही नहीं होती । और इसीलिये शब्द मात्र से आकाश का व्यवहार होता है । मकान की छत पर पैर पटकने से जो एक शब्द होता है उससे ही लोग कह देते हैं कि इसके नीचे शून्य है, पोल है, अवकाश है इत्यादि । यह बात रूप रस आदि में इतनी स्पष्ट नहीं है ।

एक बात शब्द में और भी है। यह द्रष्टा और दृश्य का ज्ञापक भी है। मात्रापन और गुणत्व ये दोनों शब्द के धर्म हैं, यह ठीक है पर यह असाधारण धर्म नहीं है। इसलिये 'आकाश गुणत्वं शब्द' यह जो लक्षण करते हैं वे भूल करते हैं। वास्तव में तो 'द्रष्टृ दृश्यलिङ्गत्वं शब्दत्वं' यह कहना ठीक होगा। क्योंकि द्रष्टा और द्रश्य का ज्ञापन करना शब्द का असाधारण धर्म है। और यही लक्षण कहा जाता है। हम मकान के भीतर बैठे हैं और बाहर से किसी ने कहा कि देखो हाथी देखो हाथी। तो अब गजः गजः इस शब्द ने हमें समझा दिया कि देवदत्त या कोई भी मनुष्य हाथी को देख रहा है। देवदत्त द्रष्टा है और हाथी द्रश्य है। शब्द ने द्रष्टा और द्रश्य दोनों की हमें मालुम करा दी देवदत्त गज को देख रहा है, यह मालुम हो गया ।। २५ ।।

आभास—एवं तामसाहङ्कारादाकाशोत्पत्तिमुक्त्वा आकाशाद्वाय्वादीनामुत्पत्तिं क्रमेणाऽऽह—

आभासार्थ—इस तरह तामसाहंकार से आकाश की उत्पत्ति बताकर अब आकाश से वायु आदि भूतों की उत्पत्ति का क्रम बताते हैं—

श्लोक—**नभसोऽथ विकुर्वाणादभूत्स्पर्शगुणोऽनिलः ।**
परान्वयाच्छब्दवांश्च प्राण ओजः सहो बलम् ।। २६ ।।

श्लोकार्थ—आकाश भी जब कालकर्मस्वभाव के सम्बन्ध से विकार को प्राप्त हुआ तब उससे स्पर्श गुण वाला वायु पैदा हुआ। अनन्त आकाश का ही कुछ भाग वायु के रूप में बदल गया। पर आकाश की भी उसमें सत्ता रहने से उसमें शब्द भी रहा। दशविधप्राण, इन्द्रिय शक्ति ओज, मन की शक्ति सह और शरीर शक्ति बल ये सब इस वायु के ही दिये हुए हैं ।। २६ ।।

सुबोधिनी—नभसोऽथ विकुर्वाणादिति । स्पर्शो गुणो यस्य । अनिलो वायुः। वायोर्गुणद्वयम्—स्वाभाविकः स्पर्शः। कारणान्वयाच्छब्दश्च। कार्यद्वयं च तस्याऽधिकमित्याह। प्राणो दशविधः। ओज इन्द्रियशक्तिः। सहो मनःशक्तिः। बल शरीरशक्तिः। यद्यपि प्राणो राजसाहङ्कारकार्यमिति वक्ष्यते तथापि घ्राणेन्द्रियसहकारी गन्धग्राहकः प्राणोऽत्र गृहीतः। "**बुद्धिः प्राणश्च तैजसादि**" ति मतान्तरं वा। प्राणादिरूपो वायुरित्यर्थः। यत्राऽपि कालकर्मस्वभावत इति नोच्यते तत्राप्यनुषङ्गः कर्त्तव्यः। अथवा। अहङ्काराकाशयोः कालकर्मकार्यत्वाभावाल्लोकप्रतीत्या तन्नोक्तम् ।।२६।।

व्याख्यार्थ—स्पर्श है गुण जिसका ऐसा वायु है। वायु के दो गुण हैं। इसमें अपने स्वभाव से तो स्पर्श है, और आकाश का भी अन्वय रहने से शब्द गुण भी है। यह वायु देह किंवा ब्रह्माण्ड के उन उन स्थानों में दशरूप से रहता है इसलिए दशविध कहा जाता है। यह प्राण ही उन उन स्थानों में जाकर अनेक हो जाता है। इसके तीन कार्य विशेष हैं। इन्द्रियां को शक्ति पहुँचाना,

मन को सामर्थ्य देना और शरीर को बल पहुँचाना। यद्यपि प्राण को राजस अहंकार का कार्य आगे कहेंगे, तथापि वायु के गुण में प्राणेन्द्रिय का सहकारी, गन्ध को ग्रहण कराने वाला, प्राण लिया गया है। अथवा 'बुद्धि प्राणश्च तैजसात्' यह आगे का वचन किसी दूसरे ऋषि का मत है, यह समझना। यहाँ काल, कर्म, स्वभाव का सम्बन्ध नहीं कहा है पर सब जगह इनका सम्बन्ध तो अनुक्त भी समझ ही लेना चाहिये। अथवा जैसे अहंकार और आकाश में काल, कर्म का कोई कार्य प्रतीत नहीं होता, इसलिये लोक प्रतीति को लेकर यहाँ भी उस तरह नहीं कहा।। २६।।

आभास—वायोस्तु साधनविजातीयं कार्यमुत्पद्यत इति निमित्तमात्रं मा भवत्विति विशेषेण निरूपयति—

आभासार्थ—वायु से तेज (अग्नि प्रभृति) पैदा होता है। पर इसके स्वरूप को देखते हुए साधन विजातीय (विरुद्ध) कार्य पैदा हुआ मालुम देता है। अतएव वायु को कोई अग्नि का निमित्त मात्र न समझले, इसलिये कुछ विशेषरूप से निरूपण करना पड़ा—

श्लोक—**वायोरपि विकुर्वाणात्कालकर्मस्वभावतः।**
उदपद्यत तेजो वै रूपवत्स्पर्शशब्दवत्॥ २७॥

तेजसस्तु विकुर्वाणादासीदम्भो रसात्मकम्।
रूपवत्स्पर्शवच्चाऽम्भो घोषवच्च परान्वयात्॥ २८॥

विशेषस्तु विकुर्वाणादम्भसो गन्धवानभूत्।
परान्वयाद्रसस्पर्शशब्दरूपगुणान्वितः॥ २९॥

श्लोकार्थ—काल, कर्म, स्वभाव के द्वारा सृष्टि कार्य के लिये उद्यत हुए वायु से भी तेज उत्पन्न हुआ। इसमें रूप, स्पर्श और शब्द तीन गुण रहे। तेज भी जब उसी तरह विकार को प्राप्त हुआ तब उससे रस और उपादान के सम्बन्ध से स्पर्श और शब्द गुणवाला जल पैदा हुआ। फिर जल भी उसी तरह जब सृष्टि करने को तैयार हुआ तब उससे पृथ्वी पैदा हुई। इसका गन्ध गुण है पर उपादानों का भी सम्बन्ध रहने से रस, स्पर्श, शब्द और रूपगुण भी इसमें रहते हैं। पूर्व में और यहाँ सर्वत्र चेतन का सहयोग तो समझ लेना ही चाहिये।। २७–२९।।

सुबोधिनी—वायोरपीति। उदपद्यत उत्पन्नम्। वैशब्देन नाऽत्र सन्देहः कर्त्तव्यः। गुणाधिक्यादेव वैलक्षण्यप्रतीतिः। न तु वायोः कार्यं न भवतीति। "**वायोरग्निरि**" ति श्रुतेः। तेजसो गुणत्रयमाह। रूपवत्, स्पर्शवत्, शब्दवत्। त्रयोऽपि गुणास्तत्र प्रतीयन्ते। येषां कार्यकारणभावो नाऽस्ति तेषां परं विवादः। स च श्रुतिविरोधात्सिद्धान्ते उपेक्षणीयः। यत्तु विजातीयं न विजातीयस्याऽऽरम्भकमिति। तत्तु तन्तुपटयोरेव व्यभिचारि। न हि तन्तुपटयोरेका

जातिः। तन्तुत्वं पटत्वं वा एकम् । नाऽपि पृथिवीत्वादयोऽत्र जातयो विवक्ष्यन्ते । नियामकाभावात् । स्थूलाग्नौ कारणत्वेन वायोरेवोपलम्भात् । न च तदवयवास्तत्रोपलभ्यन्ते पटे तन्तव इव । तस्माच्छ्रुतिप्रत्यक्षाभ्यां बाधितं शास्त्रमुपेक्षणीयम् । रसात्मकं रसतन्मात्रायुक्तम् । परान्वयाद्रूपवत्स्पर्शवद् घोषवच्च । घोषो ध्वन्यात्मकः शब्दः। अम्भसो विकुर्वाणाद्विशेषस्तवभूत् । विशेषः पृथिवी । तुशब्देन सर्ववैलक्षण्यमस्याः । **गन्धवानिति** । गन्धो मुख्यो गुणः । परान्वयादन्येऽपि चत्वारः ॥२७॥२८॥२९॥

व्याख्यार्थ—वायु से तेज उत्पन्न हुआ इससे सन्देह नहीं । वायु और अग्नि में जो विलक्षणता (ज्यादा फरक) मालुम होता है वह वायु से अग्नि में गुण अधिक होने से । इससे यह न समझ लेना चाहिये कि वह वायु का कार्य नहीं है । क्योंकि श्रुति ने स्पष्ट कहा है कि 'वायोरग्नि' वायु से अग्नि होता है । इस तेज में तीन गुण हैं, रूप स्पर्श और शब्द । और ये तीनों गुण अग्नि में मालुम दे रहे हैं । अर्धनास्तिक नैयायिक प्रभृतियों के मत में पंच महाभूतों का परस्पर कार्यकारण भाव नहीं है । और किसी किसी के यहाँ विवादास्पद है । पर वे सब मत वेदविरुद्ध होने से परवाह करने योग्य नहीं है । नैयायिक लोग इस श्रोतसिद्धांत के विरोध में यह युक्ति देते हैं कि विजातीय पदार्थ का आरम्भक (उपादान) विजातीय पदार्थ को कैसे माना जाय । वायु कुछ और है और अग्नि कुछ और है । वायु से अग्नि बनाया गया है, यह कैसे मान लें । पर यह उनका आक्षेप तो तन्तुपट के विषय में भी हो सकता है । तन्तु विजातीय पदार्थ है और पट विजातीय है । तन्तु और पट की एक जाति नहीं है । तन्तुत्व और पटत्व कभी एक नहीं हो सकता । जाति कोई पदार्थ ही नहीं है इसलिये यहाँ पृथिवीत्व आदि जाति कहने का आशय ही नहीं है । क्योंकि जाति मानने में कोई नियामक नहीं है । क्योंकि पृथिवीत्व तो घट में भी है तो क्या घट और पृथ्वी एक हो गई । जिनके यहाँ भी इनको एक मानते हैं वे भी सजातीयता से नहीं, पर कार्य कारण भाव के ऐक्य को लेकर एकता मानते हैं । पर इन बुद्धि के अजीर्णियों से पूछो कि गोबर और बीछू एक जातिता कहां है, सजातीयारम्भकता कहाँ है । सूक्ष्म अग्नि से स्थूल अग्नि के पैदा होने में कारण वायु है ही । यह भी नहीं कह सकते कि पट में तन्तु की तरह वायु में सूक्ष्म अग्नि के अवयव हैं । यदि होते तो मिलते, मिलते नहीं इसलिये नहीं है यह मानना पड़ेगा । इसलिये प्रत्यक्ष और श्रुति दोनों के मत से नैयायिक आदि का मत बाधित (विरुद्ध) है इसलिए इस शास्त्र की परवाह ही नहीं करनी चाहिए, (इसकी चर्चा ही हानिकारक है । ये सब मोहशास्त्र हैं)

जल रसात्मक है इसका अर्थ यह है कि जल में रस की तन्मात्रा रहती हैं । तेज वायु और आकाश का भी सम्बन्ध रहने से जल में रूप स्पर्श और शब्द भी मिलते हैं । यहाँ ध्वनिरूप शब्द लिया गया है । विकुर्वाण जल से विशेष पैदा हुआ । विशेष शब्द का अर्थ पृथ्वी है । 'तु' शब्द से यह स्पष्ट है कि पृथ्वी सब से जुदी ही है । इसका मुख्य गुण गन्ध है पर अन्यों की भी सूक्ष्म सत्ता इसमें रहती है इसलिये इसमें शब्द आदि चार गुण और भी हैं । काल कर्म स्वभाव की कारणता सर्वत्र है ॥ २७-२९ ॥

आभास—एवं तामसाहङ्कारसृष्टिमुक्त्वा सात्त्विकाहङ्कारसृष्टिमाह—

आभासार्थ—इस तरह तामस अहंकार की सृष्टि को कहकर अब सात्विक अहंकार की सृष्टि का निरूपण करते हैं—

श्लोक—**वैकारिकान्मनो जज्ञे देवा वैकारिका दश ।**
दिग्वातार्कप्रचेतोऽश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमित्रकाः ।। ३० ।।

श्लोकार्थ—सात्त्विक अहंकार से मन और दश सात्विक देवगण पैदा हुए । उनके नाम ये हैं—दिशा, वायु, सूर्य, प्रचेता, अश्विनीकुमार, अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, मित्र और प्रजापति ।। ३० ।।

सुबोधिनी—**वैकारिकादिति** । सत्त्वलक्षणो गुणः सद्रूपस्य प्रथमविकारभूत इति तस्य वैकारिकसंज्ञा । वैकारिकात्सात्त्विकाहङ्कारान्मनः दश इन्द्रियाधिष्ठातारो देवाश्च जाताः । अस्मिन् सिद्धांते मनसो देवता नापेक्ष्यते । आत्मनैकट्या-दात्मैव देवता । ते देवा दिगादयः । अग्रे श्रोत्रा-दीनीन्द्रियाणि वक्ष्यति । तेषामेते क्रमेण देवाः । अश्विशब्देनाऽश्विनीकुमारौ । मित्रश्च कश्च ।३०।

व्याख्यार्थ—सद्रूप भगवान् अस्ति स्वरूप गुण, जब माया के द्वारा ग्रहण किया जाता है, तब यह प्रथम विकार हो जाता है । इसलिए उसका वैकारिक यह प्राकृत नाम कहा है । इस वैकारिक सात्विक अहंकार से मन और दश इन्द्रियाधिष्ठाता देवगण पैदा हुए । पूर्वोक्त काशकृत्स्नमत में मन को देवता की अपेक्षा नहीं है । क्योंकि मन के अति समीप आत्मा होने से वही उसका प्रकाशक हो जाता है । आगे श्रोत्र आदि इन्द्रियों को गिनावेंगे । क्रम से ये देव उनके अधिष्ठाता हैं, प्रकाशक हैं । श्रोत्र का दिशा, त्वचा का वायु, घ्राण के अश्विनीकुमार दोनों, दृष्टि का सूर्य, जिव्हा का प्रचेता, वाणी का वह्नि, हस्त का इन्द्र, चरण का विष्णु मेढ़ (जननेन्द्रिय) का प्रजापति और गुद का मित्र देवता है ।।३०।।

आभास—राजसाहंकारकार्यमाह—

आभासार्थ—राजसाहंकार का कार्य कहते हैं—

श्लोक—**तैजसात्तु विकुर्वाणादिन्द्रियाणि दशाऽभवन् ।**
ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिर्बुद्धिः प्राणश्च तैजसौ ।
श्रोत्रं त्वग्घ्राणदृग्जिह्वा वाग्दोर्मेण्ढ्राऽङ्घ्रिपायवः ।। ३१ ।।

श्लोकार्थ—राजसाहंकार भी जब काल, कर्म, स्वभाव के द्वारा विकार को प्राप्त हुआ तब इससे दश इन्द्रियें पैदा हुई । इन इन्द्रियों के दो वर्ग हैं एक ज्ञान शक्ति का साधन और दूसरा क्रिया शक्ति को सहारा देने वाला । बुद्धि और प्राण जो बाकी रहे वे भी इस राजसाहंकार के ही कार्य हैं । वे दश इन्द्रियें ये हैं—कर्ण, त्वचा, घ्राण (नाक) दृष्टि, जिह्वा, वाणी, हाथ, पांव, जननेन्द्रिय और गुदा ।।३१।।

सुबोधिनी—तैजसादिति । इन्द्रियाणि इन्द्र आत्मा ईयते अनेनेतीन्द्रियम् । आत्मा हि न चाक्षुषः । नाऽप्यन्येन्द्रियग्राह्यः । व्यवह्रियते च देवदत्तस्त्वं यज्ञदत्तस्त्वमिति । स च पश्यति शृणोतीत्येव प्रतीयते । तानीन्द्रियाणि दश । ननु ज्ञानेन्द्रियाणि ज्ञानप्राधान्यात्सात्त्विकानि भवितुमर्हन्ति । कर्मेन्द्रियाणि च जडार्यवसानात्तामसानि भवितुमर्हन्ति । तत्कथमुभयं परित्यज्य दशाऽपीन्द्रियाणि राजसानीत्युच्यन्त इत्यत आह—**ज्ञानशक्तिरिति** । अत्रेन्द्रियाणां राजसत्वे निमित्तमन्यदस्ति । बुद्धिः प्राणश्च राजसाहङ्कारकार्यौ । नन्वेतदप्यसङ्गतम् । बुद्धिर्ज्ञानरूपा "**सत्वात्सञ्जायते ज्ञानमि**" ति सात्त्विकी भवितुमर्हति । प्राणश्च वायुरेव । श्वासोच्छ्वासाभ्यां वायुत्वप्रतीतेः । तत्राऽऽह—**ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिरिति** । न ह्यस्मिन्मते बुद्धिर्ज्ञानं किन्तु ज्ञानशक्तिः । ज्ञानजनिका शक्तिर्यस्येति । यो बुद्धिमांस्तस्य पदार्थज्ञानं भवतीति, सुबुद्धिरयं पदार्थान् जानातीति च ज्ञानकारणत्वेन बुद्धिर्व्यपदिश्यते । कार्यकारणयोरभेदोपचाराच्च बुद्धिज्ञानयोः पर्यायत्वव्यवहारः । अन्यथा बुद्ध्यभावे बालस्य न पदार्थज्ञानं भवति सम्यक् । तन्न स्यात् । प्राणोऽपि वायोर्भिन्न एव । "**अथ हैनमासन्यं प्राणमूचुरि**" ति प्राणरूपां देवतां विलक्षणामाह श्रुतिः । "**यो वायुः स प्राण**" इति तु भावत्प्राणस्य वायुत्वात्तत्परम् । तस्माज्ज्ञानजननसामर्थ्यवत्त्वाज्ज्ञानाद्बुद्धिर्भिन्ना । न च सा सात्त्विकी । इन्द्रियमात्रासाध्यत्वात् । सा हि बुद्धिर्ज्ञानेन्द्रियोपष्टम्भकत्वेन मृग्यते । यत्सात्त्विकमद्रव्य तदिन्द्रियसाध्यमिति व्याप्तेः । अतो ज्ञानजनने शक्तिर्यस्य क्रियाजनने शक्तिर्यस्येति च तयोर्भिन्नधर्मत्वात्तावुभौ राजसाहङ्कारकार्यौ । अतस्ताभ्यां परिगृहीतानि द्विविधान्यपीन्द्रियाणि राजसाहङ्कारकार्याण्येव । तुशब्दः पूर्वपक्षं व्यावर्त्तयति । तानीन्द्रियाणि गणयति—**श्रोत्रमिति** । मेण्ढ्राङ्घ्न्योः कोपेन्द्रौ देवते । मित्रश्च पायोः । अन्ये तु क्रमेणैव । तत्र दिग्वातौ श्रोत्रत्वचोः । घ्राणदृशोर्वैपरीत्यम् । इन्द्रो बाह्वोः । वह्निर्वाचः । अश्विनौ नासिकयोः । प्रचेता जिह्वायाः । अर्को दृशोः । एवं क्रमः ॥३१॥

व्याख्यार्थ—इन्द्र—आत्मा जिसके द्वारा अपना कार्य करे वह इन्द्रिय । आत्मा को न तो हम चक्षु से पहचानते हैं, और न वह अन्य इन्द्रियों से भी ग्रहण करने में आता है । पर आप देवदत्त हैं, यह यज्ञदत्त है, इत्यादि रूप से सब ही आत्मा को व्यवहार में लाते तो हैं । और वह आत्मा, देखता है सुनता है, इत्यादि ज्ञान भी सब को ही हो रहा है । यह जिसके द्वारा हो रहा है वह इन्द्रिय है ।

यहाँ एक यह प्रश्न हो सकता है कि जिह्वा आदि ज्ञानेन्द्रिय ज्ञान का प्रकाश करने वाली हैं, अतएव सात्विक होनी चाहिये । और हस्त आदि कर्मेन्द्रिय पर्यवसान में जड़ मिलती हैं, इसलिये तामस कार्य होनी चाहिये । यह दोनों बात छोड़कर दशों इन्द्रियों को राजस क्यों कहा ? इसका उत्तर देते हैं कि 'ज्ञानशक्तिः' । और एक प्रश्न यह भी है कि बुद्धि और प्राण को राजसाहंकार का कार्य कहा सो भी ठीक नहीं है । क्योंकि 'सत्त्वात्संजायते ज्ञानम्' इस वाक्य के अनुसार ज्ञानरूपा बुद्धि सात्विकी होना चाहिये । इस सबका उत्तर 'ज्ञानशक्ति' इत्यादि वाक्यों से देते हैं । यहां इन्द्रियों को राजस कहने का कारण कुछ और ही है । इस मत में बुद्धि और ज्ञान एक नहीं है । किन्तु बुद्धि ज्ञान होने की शक्ति रखती है । ज्ञान पैदा करने की जिसकी शक्ति है वह बुद्धि । जो बुद्धिमान् होता है उसे ही पदार्थ का यथार्थ ज्ञान होता है । यह अच्छा बुद्धिमान है सब पदार्थों को जानता है यहां बुद्धि को ज्ञान का कारण कहा है । इसके विरुद्ध में, बुद्धि होने से बालक को

पदार्थों का अच्छा ज्ञान नहीं होता। ज्ञान का कारण बुद्धि को न मानने से यह न होगा। कार्य (ज्ञान) और कारण (बुद्धि) के ऐक्य को लेकर कहीं कहीं उपचार ये बुद्धि और ज्ञान को पर्याय मान लिया गया है। प्राण भी वायु से पृथक ही है। 'अथ हैन मासन्यं प्राणम् चुः' इस श्रुति में प्राण रूप देवता को वायु से विलक्षण ही कहा गया है। 'यो वायुः स प्राणः' यह वाक्य तो भगवान् के प्राण को वायु कह रहा है। इसलिये ज्ञान को पैदा करने की शक्ति रखने वाली बुद्धि ज्ञान से भिन्न है। और यह सात्विक पदार्थ नहीं है राजस ही है। वह ज्ञानेन्द्रिय मात्र से तैयार नहीं होती। हाँ ज्ञानेन्द्रियों को सहारा देने के लिये इसकी अपेक्षा अवश्य रहती है। जो सात्विक पदार्थ द्रव्य नहीं है वही इन्द्रियों से तैयार किया जा सकता है। सो बुद्धि अद्रव्य नहीं है वह द्रव्य है। इसलिये ज्ञान पैदा करने में और क्रिया पैदा करने में बुद्धि और प्राण की सामर्थ्य है, अत एव उनका कार्य (धर्म) ही जुदा होने से ये दोनों राजसाहंकार के ही कार्य हैं। और इसीलिये बुद्धि और प्राण ने जिन्हें पकड़ रखा है वे ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों राजसहंकार के ही कार्य हैं। इस विषय के पूर्व पक्ष के खण्डन करने के लिये ही श्लोक में 'तु' शब्द दिया है। उन इन्द्रियों को गिनाते हैं–मेढ़ और चरण के देवता प्रजापति और विष्णु हैं। और सब क्रम से ही हैं। घ्राण और दृष्टि के देवता सूर्य और प्रचेता आगे पीछे कह दिये हैं। इन्द्र बाहु का देवता है। वाणी का अग्नि देवता है। अश्विनीकुमार नासिका के दोनों छिद्रों के। प्रचेता जिह्वा के इस तरह क्रम है ॥३१॥

आभास—एवं सर्वेषां सृष्टिमुक्त्वा तदधिष्ठानत्वं वदन् तत्त्वानां कार्यसृष्टिमाह–

आभासार्थ—इस तरह सबकी उत्पत्ति कह कर इन सब को रहने का स्थान कहते हुए तत्वों से जो कार्य सृष्टि हुई उसे कहते हैं—

श्लोक—**यदैतेऽसंहता भावा भूतेन्द्रियमनोगुणाः।**
यदायतननिर्माणे न शेकुर्ब्रह्मवित्तम ॥ ३२ ॥

तदा संहत्य चाऽन्योन्यं भगवच्छक्तिचोदिताः।
सदसत्त्वमुपादाय चोभयं ससृजुर्ह्यदः ॥ ३३ ॥

श्लोकार्थ—भूत, इन्द्रिय, मन और शब्दादि गुण किंवा देवगण में सब तत्व जब पृथक् पृथक् रहने से जिस भगवान् के स्थान (ब्रह्माण्ड) बनाने में असमर्थ हो गये तब हे ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ नारद ! भगवान् की आज्ञा से ये सब आपस में एक दूसरे से मिले और कार्य कारणभाव को किंवा उच्च नीच भाव को प्राप्त होकर इन सब ने समष्टि व्यष्टि (पिण्ड ब्रह्माण्ड) दोनों तरह का घर यह ब्रह्माण्ड बनाया।३२-३३।

सुबोधिनी—यदैत इति। यदा एते असंहताः। गुणत्रयकार्यत्वात्। न हि तामसादयो भिन्नस्वभावा एकत्र मिलन्ति। अत एव यदा आयतननिर्माणे न शेकुः न समर्था जातास्तदा भगवत्प्रेरिता अण्डं ससृजुरिति सम्बन्धः। भूतानि, इन्द्रियाणि, मनो, गुणाश्च। गुणा देवाः

शब्दादयो वा । तामसानामाद्यन्तनिवेशनं भूयस्त्वाय । आयतनं भगवच्छरीरं ब्रह्माण्डम् । **ब्रह्मवित्तमे**त्यस्मिन्नर्थे सर्वज्ञत्वात्संवादार्थं सम्बोधनम् । तमप्प्रत्ययस्तु भगवदुत्कर्षज्ञानार्थम् । अन्योन्यं संहत्य मिलित्वा । चकाराद्गुणभावमप्याश्रित्य । भगवच्छक्तिराज्ञाशक्तिः । तया चोदिताः प्रेरिताः सदसत्त्वं उच्चनीचत्वं कार्यकारणभावं वा । सद्ब्रह्म । असञ्जगत् । प्रकाशाऽप्रकाशभावं वा । चकारादन्यान् जीवगणांश्च । तददृष्टानि वा तत्संस्कृतभूतानि वा । उभयं समष्टिव्यष्टयात्मकम् । स्थूललिङ्गशरीरे वा । अदः तत् प्रसिद्धम् । हि युक्तोऽयमर्थः । अस्मिन्नर्थे तृतीयस्कन्धे उपपत्तिर्वक्ष्यते ॥ ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

व्याख्यार्थ—जहां तक ये चारों पदार्थ बे मेल के रहे । क्योंकि तीन भिन्न स्वभाव के गुणों से बने हुए थे । सत्व, रज, तम जो अलग २ स्वभाव के हैं वे एक कैसे हो सकते हैं । इसीलिये जब उनकी घर बनाने की सामर्थ्य न हुई तब भगवान् ने उन्हों में प्रवेश कर प्रेरणा की । उस प्रेरणा से इन्होंने इस ब्रह्माण्ड को तैयार किया ऐसा श्लोक का अन्वय है । पंच महाभूत, इन्द्रिय, मन और देवगण ये चारों अथवा गुण शब्द से रूप, रस, स्पर्श, गंध और शब्द ही लेने । भूत तामस आदि में, और शब्दादि तामस पदार्थ अन्त में कहे, इसका कारण बढवार होने के लिये समझना । आयतन का अर्थ, भगवान् का शरीर यह ब्रह्माण्ड । ब्रह्मवित्तम सम्बोधन इसलिये दिया है कि तुम सर्वज्ञ हो इस विषय को समझ सके होंगे, यह संमति मिलाने के लिये । तमस् प्रत्यय भी, भगवान् के उत्कर्ष से तुम्हारी श्रेष्ठता है यह दिखाने के लिये कहा है । पूर्वोक्त सब पदार्थ भगवच्छक्ति से आपस में मिले । और चकार से यह भी सूचित किया है कि इन्हीं पदार्थों में से कोई द्रव्य तो कोई उसका गुण भी बन गया । भगवच्छक्ति शब्द से यहाँ भगवान् की आज्ञा शक्ति समझना । उस आज्ञा शक्ति ने तत्त्वों को प्रेरणा की तब उन्होंने सदसत् पने को स्वीकार किया । अर्थात् कोई ऊँचा तो कोई नीचा बना, कोई कार्य हुआ तो कोई कारण हुआ, कोई सद्ब्रह्म रहा तो कोई असत् जगत् हो गया । अथवा कोई प्रकाशित रहा तो कोई छिप गया । इस तरह अनेक प्रकार की अवस्थाओं को स्वीकार करके, किसी मत में इसको पंचीकरण भी कहा है । 'च' शब्द से भिन्न जीवों को, उनके अदृष्टों को अथवा शुद्ध महाभूतों को भी साथ लेकर इस समष्टि व्यष्टि ब्रह्माण्ड किंवा स्थूल शरीर और लिंग शरीर का निर्माण किया । ब्रह्माण्ड की प्रसिद्धि स्पष्ट करने लिये अदः शब्द का प्रयोग किया है और यह ठीक भी है । इसकी युक्ति तृतोय स्कंध में कहेंगे ॥३२-३३।

आभास—तैरण्डं सृष्टम् । तस्य भगवदायतनत्वार्थं भगवानागत इति वक्तव्यम् । तत्कस्य हेतोरित्याकांक्षायामाह—

आभासार्थ—इन तत्वों ने ब्रह्माण्ड तैयार किया । वह भगवान् का घर हो जावे, इसलिये भगवान् ने उसमें प्रवेश किया, कहना चाहिये । पर यह प्रवेश क्यों किया, इसका कारण कहते हैं—

श्लोक—**वर्षपूगसहस्रान्ते तदण्डमुदकेशयम् ।**
कालकर्मस्वभावस्थोऽजीवोऽजीवमजीवयत् ॥ ३४ ॥
स एव पुरुषस्तस्मादण्डं निर्भिद्य निर्गतः ।
सहस्रोर्वङ्घ्रिबाह्वक्षः सहस्राननशीर्षवान् ॥ ३५ ॥

श्लोकार्थ—दिव्य वर्ष समूहों के भी जब हजारों आवर्त हो चुके तब उस जल में सोते हुए ब्रह्माण्ड को निर्जीव देखकर अक्षर ब्रह्म भगवान् ने काल, कर्म और स्वभाव में स्थित रह कर जीव युक्त कर दिया। तब वही पुरुष होकर और उस जलमय अण्ड को फोड़कर बाहिर निकला यह पुरुष हजारों जांघ, चरण, बाहु, नेत्र वाला और हजारों मुख मस्तक वाला हुआ अर्थात् इसके अवयव हजारों ही थे।३४-३५।

सुबोधिनी—वर्षपूगसहस्रान्त इति । वर्षपूगानां सहस्रम् । पञ्चविधा अपि वर्षाः सहस्रं जाताः । तेषामन्ते सहस्रवर्षपर्यन्तमुदक एव स्थितमण्डमजीवं च । जीवस्तत्र भोक्ता न कोऽपि प्रविष्टः । एतदर्थमेव भगवता विलम्बः कृतः । अतःपरमुदके स्थितं विलीनं भविष्यतीत्यजीवो जीवव्यतिरिक्तो भगवान् । अजीवं जीवरहितं अजीवयञ्जीवयुक्तं कृतवान् । स्वयं प्रविश्य प्राणानपि तत्र योजितवानित्यर्थः । तदा भगवता प्राणेन चाऽधिष्ठितो विराट् पुरुषशब्दवाच्यो जातः । तदा स एव पुरुषः । तस्मादेव हेतोः । जलाद्वा । अण्डं निर्भिद्य । कटाहं भित्त्वेति केचित् । केचित्तत्रैव कटाहाद्गोलकं पृथक्कृत्य निर्गतः । अण्डकटाहमात्मानं च पृथक्कृतवानित्यर्थ इति । वस्तुतोऽण्डभावं परित्यज्य पुरुषो भूत्वा यथासुखं परिवर्त्तत इति युक्तम् । तस्य तद्रूपं वर्णयति—**सहस्रोर्वङ्घ्रिबाह्वक्ष इति** । सहस्रं ऊरवः अङ्घ्रयः बाहवः अक्षीणि च यस्य । सहस्रमाननानि येषु तादृशशीर्षयुक्तः । "**सहस्रशीर्षा पुरुष**" इत्यर्धर्चस्याऽर्थरूपः स सम्पन्नः ।। ३४ ।। ३५ ।।

व्याख्यार्थ—वत्सर,संवत्सर,अनुवत्सर,परिवत्सर और इडावत्सर ये पांचों वर्ष जब हजारों हो चुके तो उसके अंत में अर्थात् कई हजार वर्ष पर्यन्त यह ब्रह्माण्ड जल में ही स्थित रहा और जीवित रहा। यहाँ दो मत देखे गये हैं, हजारों वर्ष यह अण्ड जलमय रहा यह और पूर्वोक्त सब सृष्टि क्रम सृष्टि है। इस ब्रह्माण्ड का भोक्ता जीव कोई इसमें घुसा नहीं था। देखें यह तत्त्वगण इसे जीव युक्त कर सकते हैं या नहीं यह देखने के लिये ही भगवान् ने विलम्ब किया था। पर जब भगवान् ने देखा कि अब इससे आगे भी यदि इसे जल में रक्खा जायगा तो इसके तत्त्व भी जल में लीन हो जायेंगे। यों समझ कर जिस भगवान् ने जीव का रूप नहीं लिया था उस भगवान् ने इस निर्जीव ब्रह्माण्ड को जीव युक्त कर दिया। अर्थात् अपने एक स्वरूप से उसमें घुस कर प्राण आदि को भी ब्रह्माण्ड में लगा दिये। तब ये अण्डा (विराट्) भगवान् और प्राणों से युक्त होकर पुरुष शब्द से कहने लायक हो गया।

तब उस पुरुष ने, अण्डे को जल को, किंवा जल भाव को, किंवा अण्ड कटाह को फोड़कर अपने आपको और उस अण्डे को पृथक् पृथक् कर दिया। वास्तव में अण्डावस्था को छोड़ पुरुष होकर अपनी अवस्था के अनुकूल व्यवहार करने लगा। इसका वह पुरुष रूप वर्णन करते हैं। 'सहस्रोर्वङ्घ्रि' इत्यादि। जिसके हजारों ही जाँघ, चरण, बाहु, आंख आदि अवयव थे। और हजारों ही मुख थे और उनमें उसी के अनुरूप हजारों मस्तक भी थे—'सहस्रशीर्षा पुरुषः' इस वेद वाक्य के अर्थ भाग में जो स्वरूप कहा है वैसा भगवान् हो गया सर्व जगत् रूप हो गया ।।३४ ।। ३५।।

आभास—तस्य सर्वाधारत्वमाह—

आभासार्थ—यही भगवान् सब का आधार है सो कहते हैं—

श्लोक—**यस्येहाऽवयवैर्लोकान् कल्पयन्ति मनीषिणः ।**
कट्यादिभिरधः सप्त सप्तोर्ध्वं जघनादिभिः ॥ ३६ ॥

श्लोकार्थ—जिसके अवयवों की योगी लोग लोकरूप से कल्पना करते हैं । कटि आदि को लेकर सात लोक नीचे और जघन भाग को लेकर सात लोक ऊपर के तरफ ॥३६॥

सुबोधिनी—यस्येहाऽवयवैरिति । एतावता यतः सृष्टं यद्रूपमिति द्वयस्योत्तरमुक्तम् । यस्याऽवयवैः पादादिभिः । लोकान् पातालादीन् । **मनीषिण इति** ध्यानार्थमेषा कल्पना । कट्यादिभिः पश्चाद्भागव्यवस्थया । अधः अधोभागे । सप्त अतलादयः । जघनादिभिः अग्रिमभागादारम्भः । अधोभागस्तूपरिभागाद्विमुखः । अतः कट्यादेर्जघनादेश्च न विरोधः ॥३६॥

व्याख्यार्थ—इतने पर्यन्त 'यतः सृष्टं' और 'यद्रूपं' इन दोनों प्रश्नों का उत्तर दिया । जिस भगवान् के चरणादि अवयवों से पाताल आदि लोकों की कल्पना करते हैं । 'मनीषिणः' कहने से मालुम पड़ता है कि योगियों ने ध्यान करने के लिये यह कल्पना की है । कटि आदि में पीछे के भाग से व्यवस्था समझनी और अग्रिम भाग का आरम्भ जघन आदि से है । अधोभाग ऊपर के भाग से विरुद्ध है इसलिये कटि और जघन का भाग एक है यह विरोध नहीं आता ॥३६॥

आभास—एवं सामान्यत उद्देशमुक्त्वा भगवतो बाहुमुखादीनामवयवमध्यपातेऽपि मुख्यत्वात्तानग्रे निरूपयति—

आभासार्थ—इस तरह अपने उद्देश को साधारण रूप से कह कर भगवान् के बाहु मुख आदि उत्तम अवयव, सामान्य अवयवों के मध्य में हो आ चुके हैं तथापि वे मुख्य है इसलिये उन्हें गिनाते हैं—

श्लोक—**पुरुषस्य मुखं ब्रह्म क्षत्रमेतस्य बाहवः ।**
ऊर्वोर्वैश्यो भगवतः पद्भ्यां शूद्रोऽव्यजायत ॥ ३७ ॥

श्लोकार्थ—ब्राह्मण भगवान् का मुख है, क्षत्रिय इनकी बाहु है और वैश्य भगवान् ऊरू-दोनों जाँघ हैं । तथा शूद्र भगवान् के चरण से पैदा हुए हैं ॥३७॥

सुबोधिनी—पुरुषस्य मुखं ब्रह्मेति । ऊर्वोरिति भेदेन निर्देशो भगवद्भावापत्तिनिषेधार्थः । वैश्यशूद्रयोर्मुख्यत्वभावाय । पद्भ्यां शूद्रः । पद्भ्यामिति पञ्चमी । एते ब्राह्मणादयोऽधिकारिपुरुषास्तत्तञ्जात्यधिष्ठातृदेवतारूपाः ॥३७॥

व्याख्यार्थ—'ऊर्वोः' यह जो जाँघ के लिये द्विवचन देकर भेद बताया है, और 'पद्भ्यां' में भेद कर दिया है इसका तात्पर्य यह है कि मर्यादामार्ग में वैश्य और शूद्र की प्रत्यापत्ति नहीं होती। क्योंकि उनकी मुक्ति होना उस मार्ग से संभव नही। 'पद्भ्यां' यह पञ्चमी है। ये ब्राह्मण आदि चारों वर्ण उन कार्य के अधिकारी पुरुष हैं, और मानी हुई जातियों के अधिष्ठाता देवता-रूप हैं ॥३७॥

आभास—इदानीं लोककल्पनामाह—

आभासार्थ—अब योगियों ने किस प्रकार भगवान् के अवयवों में लोक कल्पना कर रक्खी है सो कहते हैं—

श्लोक—**भूर्लोकः कल्पितः पद्भ्यां भुवर्लोकोऽस्य नाभितः।**
हृदा स्वर्लोक उरसा महर्लोको महात्मनः ॥ ३८ ॥

ग्रीवायां जनलोकश्च तपोलोकः स्तनद्वयात्।
मूर्धभिः सत्यलोकस्तु ब्रह्मलोकः सनातनः ॥ ३९ ॥

श्लोकार्थ—विराट् भगवान् के चरणों से भूलोक की कल्पना की है, नाभि से भुवर्लोक की, हृदय से स्वर्ग लोक की, छाती से महर्लोक की, ग्रीवा में जन लोक की कल्पना, नासिका के दोनों छिद्रों से तपोलोक की और विराट् भगवान् के मस्तकों से सत्यलोक की कल्पना की गई है। यही ब्रह्मलोक है और सनातन है ॥३८॥३९॥

सुबोधिनी—**भूर्लोक इति**। पद्भ्यां सप्त-लोकपक्ष उच्यते। पादादिकटिपर्यन्तं भूर्लोकः। भुवर्लोकस्त्वस्य नाभितः। हृदयं गर्त्तस्थानम्। उरस्तदुपरि उच्चस्थानम्। **महात्मन इति**। ततः परं ज्ञानिनामेव वासात्। महान्तः आत्मानो यत्रेति। स्तनद्वयात् नासिकाद्वयात्। "**स्तन शब्द**" इति व्युत्पत्त्या। मूर्द्धभिः सत्यलोकः। तुशब्देन मतान्तरे तत्राऽन्ये लोका उक्तास्ते निवारिताः॥ ३८ ॥ ३९ ॥

व्याख्यार्थ—'पद्भ्यां' इत्यादि श्लोकों से सप्त लोक वाला पक्ष कहा जाता है। चरण से कमर तक का भाग भूलोक है। नाभिवाला भाग इस विराट् का भुवर्लोक है। हृदय का नीचा भाग स्वर्ग लोक है। और ऊपर छाती का भाग महर्लोक है। यह हृदय के ऊपर ऊँचा ऊँचा भाग है। मध्य में यहां 'महात्मनः' शब्द कहने का तात्पर्य यह है कि यहाँ के ऊपर के स्थानों में ज्ञानियों का निवास है। बड़े श्रेष्ठ आत्मा जहाँ रहते हों वह महात्मा कहा जाय। स्तनद्वय का अर्थ नासिकाद्वय है। 'स्तन शब्दे' इस धातु से स्तन शब्द की व्युत्पत्ति है। मूर्धा से सत्यलोक माना गया है। 'तु' शब्द इसलिये दिया गया है कि अन्यमत में जो लोग कहे गये हैं वे यहाँ नहीं समझने चाहिये ॥३८॥ ३९॥

आभास—इदानीं चतुर्दशलोकपक्षं वक्तुं पूर्वोक्ता एवैते उपरितना लोकाः। अधस्तनान्सप्ताऽऽह—

आभासार्थ—अब चतुर्दश लोक पक्ष कहना है इसलिये पूर्वोक्त लोकों को ऊपर के ही मान कर नीचे के सात लोक और भी हैं यह गिनाते हैं—

श्लोक—**तत्कट्यां चाऽतलं क्लृप्तमूरुभ्यां वितलं विभोः।**
जानुभ्यां सुतलं शुद्धं जङ्घाभ्यां तु तलातलम् ॥ ४० ॥

महातलं तु गुल्फाभ्यां प्रपदाभ्यां रसातलम्।
पातालं पादतलत इति लोकमयः पुमान् ॥ ४१ ॥

श्लोकार्थ—भगवान् की कटि में अतल लोक माना है। जाँघों से वितल की कल्पना और भगवान् के घुटनों से शुद्ध सुतल माना गया है। और घुटनों के नीचे के भाग ने तलातल माना गया है। टकनों से महातल तथा चरण के आगे वाले भाग ने रसातल माना है तथा चरण के तल भाग से पाताल समझा गया है। इस तरह यह भगवान् लोकमय है ॥४० ॥ ४१॥

सुबोधिनी—**तत्कट्यामिति**। उपरितनलोकानामुत्तमत्वाद्भगवदवयवानां कारणत्वमुक्तम्। अतलस्य तु मयपुत्रनिवासान्मोहकबाहुल्याच्च भगवदवयस्याऽऽधारत्वमात्रम्। क्लृप्तमिति पूर्वमेव। तामसत्वाद्विशेषध्याने तस्याऽनुपयोगात्। वितले महादेवस्य विद्यमानत्वाद्भगवतो महत्त्वमाह—**विभोरिति**। यस्तु महादेवस्याऽपि सुखप्रद इत्यर्थः। सुतलं शुद्धं भगवतो विद्यमानत्वात्। **लोकमय इति**। अवयवैः क्लृप्तानां लोकानां तत्रैव विद्यमानत्वाल्लोकमयत्वम्। **पुमानिति** नेदमुपासनार्थमुक्तं किन्तु पुमानेव तादृशः॥ ॥ ४० ॥ ४१ ॥

व्याख्यार्थ—ऊपर के सब लोक उत्तम थे इसलिये उनकी कल्पना में भगवान् के अवयवों को कारण कहा। पर अतल में मय दानव रहता है और वहाँ मोहक पदार्थ बहुत हैं इसलिये सप्तमी विभक्ति के द्वारा उनको भगवदवयवों के आधार मात्र कहा। 'क्लृप्तं' यह पहले से ही आधार है, यह कहने के लिये। यह लोक तामस है इसलिये इसका विशेष ध्यान में उपयोग नहीं है। वितल में श्री महादेव रहते हैं इसलिये भगवान् का महत्व कहते हैं। विभोः! अर्थात् उस लोक रूप से भगवान् श्री महादेव को भी सुख देते हैं। सुतल भी शुद्ध है क्योंकि वहाँ भी भगवान् निवास करते हैं। अवयवों से माने गये लोक भगवदवयवों में ही विद्यमान हैं इसलिये भगवान् को लोकमय कहा। और 'पुमान्' कहने का तात्पर्य यह है कि यह सब कुछ उपासना के लिये नहीं कहा है, पर वह पुरुष ही वास्तव में वैसा है ॥४० ॥ ४१॥

आभास— त्रिलोकपक्षमाह—

आभासार्थ—अब तीन लोक वाला पक्ष कहते हैं—

श्लोक—**भूर्लोकः कल्पितः पद्भ्यां भुवर्लोकोऽस्य नाभितः ।**
स्वर्लोकः कल्पितो मूर्ध्ना इति वा लोककल्पना ॥ ४२ ॥

श्लोकार्थ—अथवा लोकों की कल्पना इस तरह भी करते हैं कि चरणों से भूर्लोक की कल्पना और भगवान् की नाभि से भुवर्लोक की और श्रीमस्तक से स्वर्ग लोक की कल्पना की गई है ॥४२॥

सुबोधिनी—**भूर्लोक इति** । पद्भ्यां कटिपर्यन्ताभ्याम् । नाभितः कट्यादिग्रीवापर्यन्तात् । मूर्ध्ना ग्रीवादिब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तेन । **इति वा लोककल्पनेति** । कल्पना ह्यत्र त्रिविधा । गुणतः, विद्यातः, यज्ञतश्चेति । यथाधिकारं व्यवस्था । सात्त्विकानां चतुर्दशलोकपक्षः । राजसानां सप्त । तामसानां त्रिलोकपक्ष इति ॥४२॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां द्वितीयस्कन्धे पञ्चमोऽध्यायविवरणम् ।

व्याख्यार्थ—कटि पर्यन्त चरणों से भूलोक । नाभि से ग्रीवा पर्यन्त भुवर्लोक । और ग्रीवा से ब्रह्म छिद्र पर्यन्त स्वर्ग लोक की मान्यता है । कल्पना तीन प्रकार से की गई है, गुण से, विद्या से और यज्ञ से । गुण तीन हैं इसलिये तामसों का त्रिलोक पक्ष है । यज्ञ सप्तसंस्थ है इसलिये राजसों का सप्तलोक पक्ष है । और विद्या चौदह हैं इसलिये सात्विकों का चतुर्दश लोक पक्ष है । अपने अपने अधिकारानुसार यह व्यवस्था है ॥४२॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण के द्वितीय स्कन्ध के पञ्चम अध्याय की देवर्षि शास्त्री श्री रमानाथ विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत) टीका हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

इस अध्याय की लीला का सार—

विराट् रूप वर्णन :

नैननि निरखि स्याम-स्वरूप ।
रह्यौ घट-घट व्यापि सोई, जोति-रूप अनूप ।
चरन सप्त पताल जाके, सीस है आकास ।
सूर-चन्द्र-नछत्र-पावक, सर्व तासु प्रकास ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद् भागवत महापुराण ●

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित सुबोधिनी टीका (हिन्दी अनुवाद सहित)

द्वितीय स्कन्ध

मनन-प्रकरण (श्रवणाङ्ग स्कन्ध)

अध्याय—६

पुरुष सूक्त में कहे गये भगवान् के विराट् देह का वर्णन

कारिका—**अनित्ये जननं नित्ये परिच्छिन्ने समागमः ।**
नित्यापरिच्छिन्नतनौ प्राकट्यं चेति सा त्रिधा ॥१॥

कारिकार्थ—घट पट आदि अनित्य पदार्थों में नया पैदा होना ही उत्पत्ति कही जाती है। नित्य किन्तु परिच्छिन्न (टुकड़े वाले) पदार्थों में समागम (आकर मिल जाना) ही उत्पत्ति है। और नित्य तथा व्यापक पदार्थ में प्रकट हो जाना ही उत्पत्ति मानी जाती है ॥१॥

कारिका—**उत्पत्तिः स्थानसम्बन्धरूपा षष्ठे निरूप्यते ।**
स्थूलस्याऽमूर्त्तरूपस्य तदभेददृशिः फलम् ॥२॥

नारायणपरा वेदा इत्यनेन निरूपितम् ।
सामान्येम तदेवाऽत्र विस्तरेण निरूप्यते ॥३॥

कारिकार्थ—इस छटे अध्याय में प्रधानतया स्थान समागम (संयोग) रूपा उत्पत्ति का निरूपण है सो कहते हैं, कि इस छटे अध्याय में स्थूल अमूर्त पदार्थ का

स्थान के साथ सम्बन्ध हो जाना ही जो उत्पत्ति है, उसका वर्णन है। स्थूल और मूर्त पदार्थ जड़ माने गये पदार्थ हैं। जिन्हें आधिभौतिक और क्षर भी कहते हैं। यही स्थान भी है।

स्थूल अमूर्त पदार्थ शक्ति रूप है। भगवान् के लवयव हैं, जो आधेय कहे गये हैं, और ये ही आध्यात्मिक पदार्थ कहा जाता है। और तीसरा एक और पदार्थ है, जो सूक्ष्म है; पर मूर्तामूर्त है, विरुद्ध धर्माश्रय है, उसे आधिदैविक कहते हैं। वह स्वयं भगवान् है। इस छटे अध्याय में स्थूल अमूर्तभगवदयव पदार्थ के साथ आधेय लौकिक इन्द्रिय तथा उनके देवता वन्हि आदि का सम्बन्ध बताते हैं। इस निरूपण का फल यह है, कि आधार और आधेय दोनों पदार्थों का अभेद सम्बन्ध समझ में आ जाय। पहले अध्याय में "नारायण परा वेदाः" इत्यादि श्लोकों में संक्षेप में यह आधाराधेय का अभेद निरूपण कर चुके हैं। वही अभेद इस अध्याय में विस्तार से कह रहे हैं ॥ २ ॥ ३ ॥

कारिका—**पौरुषेण च सूक्तेन निर्धारितमिहोदितम् ।**
कार्यस्य वस्त्वभेदोऽपि माहात्म्यं परतस्तथा ॥४॥

कारिकार्थ—"सहस्र शीर्षा पुरुषः" इत्यादि पुरुष सूक्त और छांदोग्य आदि उपनिषदों में आधाराधेय विश्व विश्वपति, दोनों का अभेद निश्चित कर दिया है। उसे ही इस षष्ठाध्याय में कहा है। और कार्य पदार्थों का कारण वस्तु के साथ वस्त्वभेद भी कहा है। और कारण रूप भगवान् सर्व श्रेष्ठ हैं इसलिये उनका माहात्म्य भी कह दिया है ॥४॥

कारिका—**अमूर्त्तरूपं साधर्म्यं सर्वत्रैव हरेर्बृहत् ।**
तेन सिद्धो वस्त्वभेदः स्थूलं ध्यानं च सिध्यति ॥५॥

कारिकार्थ—जहाँ कहीं भी भगवान् के साथ अविच्युत सम्बन्ध रखने वाले अवयव रूप पदार्थों का निरूपण किया गया है, वहाँ (भागवत, गीता, उपनिषदादि में) सब ही जगह उनका अक्षर ब्रह्मरूप भगवान् के साथ बहुत सा अमूर्त रूप एकता किंवा साधर्म्य (समानता) प्रतिपादन किया जाता है। उस समान धर्मता रूप ऐक्य से ही वस्तु का भगवान् के साथ अभेद सिद्ध हो जाता है। इन्द्रियातीत रहते भी जो केवल मन से ही देखा जाता हो, वह अमूर्त पदार्थ है। आध्यात्मिक और आधिदैविक

पदार्थ अमूर्त हैं। आधिदैविक पदार्थ में इतनी शक्ति अधिक है, कि वह अपने सामर्थ्य से ही मूर्त हो सकता है। कितने ही पदार्थ आज्ञा सिद्ध होते हैं। जहां मनुष्येन्द्रिय और लौकिक मन भी न पहुँचता हो, वे पदार्थ वेदवाक्य और अलौकिक पुरुषों की आज्ञा से ही मानने पड़ते हैं। जैसे ब्रह्म पदार्थ में इन्द्रिय और लौकिक मन नहीं पहुँचता किन्तु 'सदेव सोम्येदं' 'अस्तीत्येवोपलब्धव्यः' आदि वेद वाक्य और गीता पुराणादि अलौकि पुरुषों के कथन से वैसा ही मानना ही पड़ा है। इसी तरह वह अतीन्द्रिय एवं लौकिक मन से भी आध्यात्मिक स्थान रूप पदार्थ के साथ जो आधिदैविक आधेय का अभेद संबन्ध है, अगम्य है; अतएव वह उपनिषदादि और इस अध्याय में कहे गये अलौकिक पुरुष के कथन से माननीय हैं।

ब्रह्माजी और श्री शुक दोनों ही आलौकिक पुरुष हैं। भगवान् की और स्थान रूप पदार्थों की समानधर्मता ब्रह्मा ने उत्पत्ति रूप से कही है। और श्री शुकदेवजी ने प्रथमाध्याय में कहे गये स्थूल ध्यान को भगवत्व सिद्ध करने के लिये वस्त्वभेद का निरूपण किया है, इससे भगवान का स्थूल ध्यान सिद्ध होता है ॥५॥

सुबोधिनी—पूर्वाध्याये पूर्वमुद्दिष्टानां पदार्थानां मूर्त्तानां जननरूपोत्पत्तिर्निरूपिता। अनुद्दिष्टानामपि कालादीनां भगवत्त्वं स्पष्टतयैवोक्तम्। इदानीममूर्त्तानां जीवानां मूर्त्तेन सह सम्बन्धो निरूप्यते। येऽपि पूर्वं देवादय उत्पन्ना इत्युक्तास्तेऽपि विशिष्टा एवोत्पन्ना इति तत्र यदमूर्त्तं रूपं तदिदानीं पृथक्कृत्य स्थूलरूपे भगवत्यमूर्त्ते सर्वत्र विराजि प्रविष्टरूपे सम्बन्धो निरूप्यते। जीवप्रकरणत्वादस्य साधनं फलं चोत्पत्त्या निरूपणीयम्। माहात्म्यं च भगवतः अमूर्त्तमिति। तदप्यत्र निरूप्यते। ततश्च चत्वारोऽत्र पदार्था निरूप्याः। अमूर्त्तत्वसाधर्म्यादेकस्मिन्नध्याये निरूपणम्। प्रथमतः सर्वेषां जीवानां लिङ्गशरीरसामग्री भगवतो लिङ्गशरीरे सबम्द्धेति निरूप्यते—

व्याख्यार्थ—पूर्व अध्याय में उद्देश (कथन) मात्र से मूर्त पदार्थों का निरूपण किया गया था, पर संदेह रह गया कि ये पदार्थ कहाँ से आये तब पंचमाध्याय में उन सब की ब्रह्म से जन्मरूपा उत्पत्ति कही। जिन काल आदि पदार्थों का कुछ भी निरूपण पूर्वाध्याय में नहीं आया था उनको पंचमाध्याय में स्पष्ट ही भगवान् कह दिया। अतएवं उनकी उत्पत्ति कहने की अपेक्षा न रही। अब इस षष्ठ अध्याय में अमूर्त पदार्थ जीवों की मूर्त पदार्थों के साथ सम्बन्ध रूप उत्पत्ति कही जाती है। पहले देव आदि उत्पन्न हुये, ऐसा कह चुके हैं। पर वे भी स्थान सम्बद्ध ही हुये, ऐसा समझ रखना चाहिये। उनका देह मूर्त और वे स्वयं अमूर्त पदार्थ थे ऐसा समझ लेना चाहिये। अब इस षष्ठाध्याय में भी उन देवगणों का कुछ निरूपण आया है, इसलिये यहाँ उनके अमूर्त अंश का भगवान् के अमूर्त अंश के साथ सम्बन्ध कहा गया है, यह समझना।

देवगणों में मूर्त और अमूर्त दोनों अंश हैं और उनका अवयवी विराट् भगवान् है। उसमें भी मूर्तामूर्त दोनों अंश हैं। अब इस षष्ठाध्याय में विराट् के स्वरूप में सर्वत्र समा रहे अमूर्त अंश में देवादि के अमूर्त अंश का अभेद सम्बन्ध किंवा आधाराधेय सम्बन्ध निरूपण करने में आता है। यह अमूर्तत्त्व और आधाराधेय सम्बन्ध रहते भी अभेद ही भगवान् का माहात्म्य है।

यह भगवान् का माहात्म्य भी अमूर्त है और वह भी इस अध्याय में ही कहा गया है। देवादि की उत्पत्ति जीव प्रकरण हैं इसलिये यहाँ साधन और फल का भी उत्पत्ति के द्वारा निरूपण होना ही चाहिये, इसलिये मानना पड़ेगा कि इस अध्याय में उत्पत्ति के द्वारा ही सम्बन्ध साधन फल और माहात्म्य ये चार पदार्थ कहते हैं। इन चारों का अमूर्तत्व रूप समान धर्मता समाई हुई है, इसलिये इन चारों का एक ही अध्याय में निरूपण किया है। अब सबसे पहले यह कहा जाता है कि विराट् भगवान् की लिंग (सूक्ष्म) शरीर सामग्री में जीवों की लिंग शरीर सामग्री समाई हुई है—

ब्रह्मोवाच। श्लोक—**वाचां वह्नेर्मुखं क्षेत्रं छन्दसां सप्त धातवः।**
हव्यकव्यामृतान्नानां जिह्वा सर्वरसस्य च ॥ १ ॥

श्लोकार्थ—विराट् भगवान् का मुख, जीव, वाणी और अग्नि का स्थान है, और उसकी सप्तधातु त्रिष्टुप आदि छन्दों का स्थान है और विराट् भगवान् की जिह्वा हव्य कव्य अमृत और सब रसों का स्थान है ॥ १ ॥

सुबोधिनी—तत्र वाचामस्मदादिवागिन्द्रियाणां तदधिष्ठातुर्वह्नेश्च भगवतो मुखं विवरात्मकं क्षेत्रं स्थानम्। भगवतो हि मुखद्वयम्। इन्द्रियरूपं गोलकरूपं च। तत्र गोलकरूपे ब्राह्मणरूपत्वं पूर्वं निरूपितं तत्त्वोत्पादित्वनिरूपणाय। तथा पातालादीनामपि भगवदवयवेभ्य उत्पत्तिर्भगवति च स्थितिरतः पातालादिरूपो भगवानिति निरूपितम्। अत्र तु तद्विपरीतं जगदुद्दिश्य भगवत्त्वं विधीयते। तत्र तु भगवन्तमुद्दिश्य जगत्त्वं विहितम्। आधारत्वेन च निरूप्यत इत्यमूर्त्तानां छन्दसां ये भगवदवयवा अमूर्त्ता आधिदैविकास्ते छन्दसां स्थानमित्याह—**छन्दसामिति**। गायत्री, जगती, उष्णिक्, त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्, पङ्क्तिः, बृहती च। सप्पधातवस्त्वङ्मांसरुधिरमेदोमज्जास्नाय्वस्थिदेवतारूपाः। एवं भगवन्मुखे मुखसम्बन्धिसर्वपदार्थानां शब्दार्थरूपाणां सम्बन्धं निरूप्य तत्र रसनेन्द्रियस्य विद्यमानत्वात्तत्सम्बन्धिनामपि तत्र सम्बन्धमाह—**हव्येति**। हव्यं देवानामन्नम्। अस्मिन्नेवाऽन्ने मन्त्रेण तद्धव्यमारोप्यते सदा पुरोडाशादीनां लौकिकानां हव्यत्वं भवति। एवं कव्यं पितृणामन्नम्। अमृतमतिथ्याद्यन्नम्। अयाचितप्राप्तं वा व्रतहेतुभूतम्। अन्नं ब्राह्मणभुक्तशेषम्। प्राणादिद्वारा ज्ञानसाधनं वा। तेषां भगवतो जिह्वा। रसानां च षड्विधानां हव्यादिषु सर्वत्र विद्यमानानाम्। चकारादस्मद्रसनेन्द्रियतदधिष्ठात्रोश्च स्थानम्। अनेन हव्यादिव्यतिरिक्तरसाना भगवज्जिह्वास्थानं न भवतीति विमर्शः। सर्वपदप्रयोगाद्भवतीत्यन्ये ॥१॥

व्याख्यार्थ—मनुष्य आदि सब ही जीवों की वाक् (वाणी) इन्द्रियों का और वागधिष्ठाता

अग्नि का भी स्थान भगवान् का मुख है। विवर (छिद्र) रूप आध्यात्मिक भगवान् के मुख में मनुष्यादि जीवों की वाग् इन्द्रिय और वन्हि रहता है। दोनों आध्यात्मिक होने से उनका अभेद सम्बन्ध है। भगवान् के दो मुख हैं। गोलकरूप और इन्द्रियरूप। उनमें पहले अध्यायों में ब्राह्मणों को भगवान् का मुख कह चुके हैं। वहाँ ब्राह्मणों को गोलकरूप मुख समझना। और अग्नि किंवा जीवों की वागिन्द्रियों को भगवद्वागिन्द्रिय समझना चाहिये। 'पुरुषस्य मुखं' (२-५-३७) में और 'ब्रह्माननं' (२-१-३७) में गोलक को ब्राह्मण कह आये और यहाँ अग्नि इन्द्रियों को भगवन्मुख कहा है। गोलकरूप भगवन्मुख भी तत्त्व हैं और ब्राह्मणत्व भी तत्त्व है। तत्त्व से तत्त्व पैदा हुआ यह दिखाने के लिये ही गोलक को ब्राह्मण कहा। इसी तरह पहले अध्यायों में पातालादि पदार्थों की उत्पत्ति भगवान् के पादमूलादि भगवान् के अवयवों से हुई तथा उनकी स्थिति भी उन्हीं भगवदवयवों में ही है, यह कह चुके हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि भगवान् ही पातालादिरूप हो गया। जैसे मृत्तिका ही घट है। यहां उससे विपरीत निरूपण है। वाग् इन्द्रिय अग्नि आदि आध्यात्मिक जगत् को कहकर उसे भगवान् कह रहे हैं और 'पुरुषस्य मुखं ब्रह्म' वहां भगवान् को कह कर जगत् बता रहे हैं। ये दोनों वाक्य भगवान् को विरुद्ध धर्माश्रय कह रहे हैं। आध्यात्मिक जगत् का और अधिदैविक भगवदवयों का आराधेय भाव भी कहा गया है, इसलिये कहते हैं कि 'छन्दसां' अमूर्त रूप जो गायत्री आदि सात प्रधान छंद हैं वे आध्यात्मिक भगवद्रूप हैं। वे अमूर्त भगवदरूप आधिदैविक स्थानों में रहते हैं। अर्थात् गायत्री जगती उष्णिक् त्रिष्टुप् अनुष्टुप पंक्ति और बृहती इन आध्यात्मिक अमूर्त पदार्थों के स्थान भगवान् के आधिदैविक अमूर्तत्वक मांस, रुधिर, मेद, मज्जा, अस्थि और स्नायु हैं। ये सब देवतारूप हैं। हमारे पार्थिव धातु रूप हैं, पर भगवान् के ये सब देवतारूप हैं।

इस तरह शब्दार्थरूप मुखसम्बन्धी सब ही पदार्थों का भगवन्मुख के साथ सम्बन्ध बताकर अब वहाँ विद्यमान रसना इन्द्रिय के सम्बन्धी पदार्थों का भी भगवान् में ही सम्बन्ध है यह कहते हैं। 'हव्य कव्येति'। देवों के लिये दिया जाता अन्न हव्य कहा जाता है। इसी अन्न में जब भगवदवयव रूप हव्य का मंत्रों के द्वारा समावेश किया जाता है तब ही वह हव्य, 'हव्य' कहा जा सकता है, अन्यथा नहीं। इसी तरह पितृ लोगों को दिये जाते अन्न में जब भगवदवयव रूप कव्य का मंत्रों से आवेश कराया जाता है तब वह 'कव्य' कहा जाता है। अतिथि आदि के लिये दिया जाता अन्न 'अमृत' कहा जाता है अथवा ब्रह्म के लिये बिना मांगे आये हुए अन्न को भी अमृत कहते हैं। और ब्राह्मण भोजन कराने के अनन्तर बाकी रहे अन्न को, अन्न कहते हैं। अथवा प्राणादि द्वारा ज्ञान का साधन होने वाला अन्न अन्न कहा जाता है। इस सब हव्य, कव्य, अमृत और अन्नों का स्थान भगवान् की जिह्वा है। यहाँ सर्वत्र आध्यात्मिक आधिदैविकों का अभेद सम्बन्ध समझ लेना चाहिये। कटु अम्ल आदि छः प्रकार के रसों का स्थान भी भगवान् की जिह्वा है। मूल में 'च' कहा है उसका स्वारस्य यह है कि हमारी रसनेन्द्रिय और उसके अधिष्ठाता देवताओं का भी स्थान भी भगवदवयव जिह्वा हैं। आधिभौतिकादि तीनों पदार्थों का गत्या अगत्या अभेद है यह तात्पर्य है। इससे यह ज्ञात होता है कि हव्य कव्यादि को छोड़कर जो अन्य स्थित रस हैं उनका स्थान जिह्वा नहीं है यह परिसंख्या यहाँ समझना चाहिये, कितने ही कहते हैं कि सर्व पद जो दिया है उसका अर्थ यहाँ संकुचित नहीं करना चाहिये। क्योंकि जब सारे जगत् के साथ ही ब्रह्मभेद हैं तब लौकिक अन्नादि का भी स्थान भगवज्जिह्वा हो सकती है।। १ ।।

श्लोक—**सर्वासूनां च वायोश्च तन्नासे परमायने ।**
अश्विनोरोषधीनां च घ्राणे मोदप्रमोदयोः ।। २ ।।

श्लोकार्थ—विराट् के नासिका छिद्र, जीव मात्र के प्राणों का और वायु का श्रेष्ठ स्थान है । और भगवान् का घ्राण इन्द्रिय अश्विनीकुमार का औषधियों का और मोद-प्रमोद हर्ष-प्रहर्ष का स्थान है ।। २ ।।

सुबोधिनी—तथा सर्वेषामस्मदादीनामसूनां प्राणानां तदधिष्ठातुर्वायोः । चकाराद्घ्राणसम्बन्धिना सर्वेषाम् । नासे नासापुटे आधिदैविके । परमत्वमाधिदैविकत्वमेव । अयनं स्थानम् । पुटद्वयमपि सर्वेषां स्थानम् । तत्र घ्राणेन्द्रियं त्वश्विनादीनां स्थानम् । ओषधीनां च व्रीह्यादिरूपाणाम् । "**तस्माल्लोमशा अन्तरतः प्राणा**" इति श्रुतेः । बहिस्तुल्यत्वाच्चोषधीनां भगवतो घ्राणे । **घ्राणमिति** वक्तव्ये आध्यात्ममपि घ्राणमन्तर्निवेश्य **घ्राणे इति** । मोदप्रमोदौ सुगन्धविशेषौ । मोदो हि दूराद्वाति सुगन्धः । प्रमोदो हि सर्वगन्धाभिभावकः ।।२।।

व्याख्यार्थ—हम सब जीव मात्रों के प्राण और प्राणाधिष्ठाता वायु का भी उत्पत्ति और स्थिति का स्थान भगवान् के नासिका छिद्र हैं । भगवान् की अमूर्त और आधिदैविक नासिका में जगत् के प्राण और दोनों तरह का वायु रहता है । अभेद है । परम अयन कहने से आधिदैविकता स्पष्ट दिखाई है । उसमें भी अश्विनीकुमार आदि देवगण प्रभृति तथा धान प्रभृति औषधि समूहों का रहने का स्थान भगवान् घ्राणेन्द्रिय है 'तस्माल्लोमशा अन्तरतः प्राणा' यह श्रुति भगवदवयवों से सब पदार्थों का अभेद है इसमें प्रमाण है । कुश भी औषधियों के समान हैं । इसलिये इनका भी स्थान भगवान् की घ्राणेन्द्रिय है । घ्राणं एक वचन कहना था पर कहा है घ्राणेद्विवचन । इसका तात्पर्य यह है, कि आध्यात्मिक घ्राण को भी साथ ले लिया है । पूर्वोक्त सब पदार्थों का स्थिति स्थान भगवान् के द्विविध इन्द्रिय हैं । दूर से भी जो सुगन्ध सब जगह फैल जाती है वह मोद और जो गन्ध सब गन्धों को दबा देती है वह प्रमोद, इन दोनों तरह की सुगन्धों की भी स्थिति भगवान् के आध्यात्मिक आधिदैविक घ्राणइन्द्रिय है ।। २ ।।

श्लोक—**रूपाणां तेजसां चक्षुर्दिवः सूर्यस्य चाऽक्षिणी ।**
कर्णौ दिशां च तीर्थानां श्रोतमाकाशशब्दयोः ।। ३ ।।

तद्गात्रं वस्तुसाराणां सोभगस्य च भाजनम् ।
त्वगस्य स्पर्शवायोश्च सर्वमेधस्य चैव हि ।। ४ ।।

श्लोकार्थ—भगवान् के नेत्र गोलक श्वेतादि रूपों के और तेज के स्थान हैं और भगवान् के चक्षु इन्द्रियाँ, स्वर्ग सूर्य और तत्सम्बन्धी सब पदार्थों का स्थान है । भगवान् के कर्ण गोलक दिशाओं का और तीर्थों का स्थान है एवं उनके श्रोत्र इन्द्रिय

आकाश और शब्द का स्थिति स्थान है। भगवान् विराट् का श्रीअंग पदार्थसार सुवर्ण आदि का एवं सुन्दरता भाजन है और इनकी त्वक् (गोलक और इन्द्रिय) स्पर्शगुण और वायु का तथा सब तरह की पवित्रता का स्थान है ।। ३ ।। ४ ।।

सुबोधिनी—रूपाणामनेकविधानाम् । तेजसां नक्षत्रादीनाम् । भगवतश्चक्षुर्गोलकरूपम् । दिवः स्वर्गस्य सूर्यस्य च । चकारात्तत्सम्बन्धिनाम् । अक्षिणी पूर्ववत् । गोलकभेदेनेन्द्रियांशभेदो वा । कर्णौ गोलकरूपौ । दिशामस्मदादिश्रोत्रेन्द्रियदेवतानाम् । चकारादिन्द्रियाणां च । तीर्थानां गङ्गादीनाम् । कर्णौ स्थानमित्यर्थः । श्रोत्रमिन्द्रियमाकाशशब्दयोः । कर्णशष्कुल्यवच्छिन्ने नभस्युत्पन्नानां शब्दानां श्रोत्रेण ग्रहणाद्विषयाधारयोर्भगवदिन्द्रियं स्थानम् । वस्तूनां मध्ये ये सारभूताः सुवर्णादयः । उत्कृष्टरूपा वा देवतापरमार्थरूपाः । सौभगस्य सौन्दर्यस्य च । तत्सम्बन्धिनामन्येषां च । भगवद्गात्रं शरीरं स्थानम् । **भाजनमिति** । सर्वदा स्थानरूपं व्यवहारदशायामपि । अस्य भगवतस्त्वक् स्पर्शादीनां स्थानम् । मेधस्य पावित्र्यस्य । सर्वेषामेव पावित्र्यं भगवत्त्वगिन्द्रिये वर्त्तते । लोके हि जलाच्छुद्धिर्भवति । तदत्र भगवतः प्रस्वेदरूपम् । अतो मेधस्य भगवत्त्वचोऽधिष्ठानत्वे सन्देहो न कर्त्तव्य इत्याह—**चैव होति** । चकारेण मेधाश्रया गृहीताः । एवकारेण च त्वगेव स्थानं नाऽन्यदिति । **हीति** युक्तत्वम् ।। ३ ।। ४ ।।

व्याख्यार्थ—श्वेत हरित आदि सभी तरह के रंगों का नक्षत्र आदि सब ताराओं का स्थिति स्थान भगवान् के नेत्र गोलक हैं । स्थिति शब्द से ठहरना और उत्पत्ति सर्वत्र समझ लेना चाहिये । और भगवान् का अर्थ भी आध्यात्म आधिदैव सर्वत्र ही जान लेना चाहिये । और आधेय पदार्थों में आधिभौतिक और आध्यात्मिक भी सर्वत्र समझ लेना चाहिये । जैसे कहा है कि रूपों का स्थान भगवान् के नेत्र गोलक हैं यह कहा है । वहाँ यह समझ लेना चाहिये कि आधिभौतिक आध्यात्मिक रूपों का ठहरने का और उत्पत्ति का स्थान आध्यात्मिक आधिदैविक भगवान् के नेत्र गोलक हैं ।

स्वर्ग का और सूर्य का एवं उनके सम्बन्ध रखने वाले सब ही पदार्थों का स्थिति स्थान भगवान् के नेत्र इन्द्रिय हैं । यहां भी द्विवचन कहा है सो दो गोलक होने से किंवा इन्द्रिय के अंश भेद को लेकर कहा है । हमारे कान के देवगणों का और हमारे इन्द्रियों का तथा गङ्गादितीर्थों का भी स्थितिस्थान भगवान् के कर्णगोलक हैं । और आकाश तथा शब्द का स्थिति स्थान भगवान् के कर्णेन्द्रिय हैं । कान के गोलक में जो अवकाश है उसमें शब्द की उत्पत्ति होती है । खबर भी वहां ही पड़ती है, इसलिये शब्द और आकाश दोनों का स्थान भगवदिन्द्रिय कहा है । पदार्थ मात्र के सार सुवर्ण आदि पदार्थों का किंवा सर्वोत्तम देवतारूप उत्कृष्ट पदार्थों का, और सुन्दरता का एवं उनसे सम्बन्ध रखने वाले सब ही पदार्थों का स्थिति स्थान भगवान् का ही अंग है । भाजन शब्द से यह दिखाया है कि सर्वदा व्यवहार दशा में भी वही स्थान है । स्पर्श, मृदु, काठिन्य आदि का वायु का और सर्व प्रकार की पवित्रता का भी स्थिति स्थान भगवान् की त्वचा(गोलक इन्द्रिय) दोनों हैं । सब की पवित्रता भगवान् की त्वगिन्द्रिय में हैं । लोक में जल से भी शुद्धि होती है सो यहाँ पसीना समझना चाहिये । इसलिये भगवत्त्वचा में पवित्रता रहती है* इस विषय में सन्देह न

---

* अतएव 'स्मरश्रमजलाभुमिः' इति यमुनाष्टकेऽनुसधेयम् (लो. क. शा.)

होना चाहिये यह कहते हैं—'चैवहि'। 'चकार' से पवित्रता से सम्बन्ध रखने वाले सब पदार्थ ले लिये गये हैं। 'एव' कार से त्वचा ही स्थान है, अन्य नहीं यह निश्चय किया है और 'हि' शब्द से इस बात की प्रामाणिकता कही है ।। ३ ।। ४ ।।

श्लोक—**लोमान्युद्भिज्जजातीनां यैर्वा यज्ञः सुसम्भृतः ।**
केशश्मश्रुनखान्यस्य शिलालोहाभ्रविद्युताम् ।
बाहवो लोकपालानां प्रायशः क्षेमकर्मणाम् ।। ५ ।।

श्लोकार्थ—विराट् भगवान् रोम, वृक्षादि उद्भिज जाति पदार्थों का स्थान है। जिन कुशादि उद्भिज पदार्थों से यज्ञ की सामग्री तैयार की जाती है और उनसे केश-श्मश्रु और नख, शिला, लोह, मेघ और विद्युत का स्थिति स्थान है और विराट् के बाहु (बहुत करके) प्रजारक्षक लोकपालों का स्थान है ।। ५ ।।

सुबोधिनी—तत्र लोमानि सन्ति तान्युद्भिज्जादीनां स्थानानि। ऊर्ध्वंभिनत्तीत्युद्भिदंकुरादि तस्माज्जाता उद्भिज्जा वृक्षादयः। तेषां जातयः अवान्तरा धवखदिरत्वादयः। सर्वे वृक्षा इति यावत्। अथवा। ये पापवृक्षा बिभीतकादयस्तेषां न तानि स्थानानीत्याह—**यैर्वेति**। यैः पलाशादिभियज्ञः। सम्भृतो निष्पादितः। सम्भारहेतवो वा अश्वत्थादयः। भगवतः केशश्मश्रु-नखानि शिलालोहाभ्रविद्युतां स्थानानि। तत्र शिलाया नखानि लोहस्य च। अभ्राणां केशाः विद्युतां श्मश्रूणि। हिरण्यश्मश्रुत्वात्। बाहवो भगवत इन्द्रियरूपाः पालनकर्त्तारो देवा इन्द्रादयः तेषां स्थानानि। अन्येषामपि धर्मकर्तृणां भगवद्बाहवः स्थानम्। जगद्रक्षकत्वात्। '**सप्तभिर्धार्यते मही**'' ति वाक्यात्। **प्रायश इति** सकामधर्मकर्त्तृव्युदासार्थमुक्तम् ।। ५ ।।

व्याख्यार्थ—भगवत्त्वचा में जो लोम (रोम) हैं वे वृक्षों के स्थिति स्थान हैं। ऊपर की तरफ फूटकर जो बाहर निकलते हैं वे सब अंकुर वृक्ष आदि उद्भिज हैं। उनकी जाति द्यौ खेरसार आदि अनेक हैं इन सब का स्थान भगवद्रोम हैं अथवा भिलावां आदि पापवृक्षों का स्थान भगवद्रोम नहीं है वह दिखाने के लिये विशेषण देते हैं। 'यैर्वा' जिन पलाश आदि पवित्र वृक्षों से यज्ञों का सम्पादन होता है। अथवा जिन पीपल आदि पुण्य वृक्षों से यज्ञ की सामग्री तैयार करने में आती है वे ही वृक्ष भगवद्रोमों में रहते हैं। यद्यपि जाति कोई पदार्थ नहीं है, तथापि लोक में ऐसा व्यवहार होता है इसलिये 'जातीनां' ऐसा शब्द प्रयोग कर दिया है। और शिलालोह अभ्र (मेघ) और बिजली का स्थिति स्थान भगवान् के केश, दाढ़ी, मूँछ, नख हैं। लोह और शिलाओं का स्थान नख, मेघों का केश और बिजलियों का स्थान भगवान् की दाढ़ी मूँछ हैं। श्रुति में भगवान् को हिरण्यश्मश्रु (चमकती दाढ़ी मूँछ वाला) कहा भी है। भगवान् के इन्द्रियरूप, बाहु, इन्द्र आदि पालनकर्त्ताओं के स्थिति स्थान हैं। और भी जो कोई निष्काम धर्म करने वाले हैं, उन सबके भी भगवद्भुजा ही स्थान हैं, क्योंकि भगवान् ही अनेक रूपों से जगत् की रक्षा करते हैं। मूल में प्रायशः शब्द इसलिये दिया है कि कामना रखकर जो धर्म करते हैं उनका स्थान भगवद्बाहु नहीं है ।। ५ ।।

श्लोक—**विक्रमो भूर्भुवः स्वश्च क्षेमस्य शरणस्य च ।**
सर्वकामवरस्यापि हरेश्चरण आस्पदम् ।। ६ ।।

श्लोकार्थ—भगवान् का विक्रम भूः, भुवः और स्वः है क्षेम और शरण का भी स्थान वही है, सब काम और वर का स्थान भगवान् का चरण है ।। ६ ।।

सुबोधिनी—भगवतो विक्रमः पादविक्षेपो भूरादीनां स्थानम् भूरादिशब्दा अव्ययानि । तेन षष्ठ्यन्तेऽप्येतदेव रूपम् । लोके क्षेमपदार्थस्य लब्धपरिपालनात्मकस्य शरणपदार्थस्य चाऽऽश्रितरक्षणरूपस्य । चकारात्प्रपत्तिभक्त्योश्च भगवद्विक्रमः स्थानम् । यद्यपि पादावेव स्थानं तथापि क्रियासहिताविति विक्रम उक्तः । सर्वकामवरस्य सर्वेषां कामानामाशिषां वरस्य च देवप्रसादनिरूपकस्य । अपिशब्दादणिमादीनां मोक्षस्य च हरेश्चरण आस्पदं स्थानम् ।। ६ ।।

व्याख्यार्थ—भूः (भूलोक) भुवः (लोक) और स्वः (लोक) पृथ्वी अन्तरिक्ष और स्वर्ग इस त्रिलोकी का स्थिति-स्थान भगवान् का चरणनिक्षेप है । भूः आदि शब्द अव्यय हैं इसलिये षष्ठी विभक्ति में भी इनके यही रूप होते हैं । क्षेम और शरण का भी, स्थिति स्थान भगवच्चरण पराक्रम ही स्थान है । प्राप्ति की रक्षा को क्षेम कहते हैं । और आश्रित की रक्षा को शरण कहते हैं ।

मूल में 'च' कहा है इसलिये भक्ति और प्रपत्ति (आत्म समर्पण) (आत्मनिक्षेप) का भी स्थान भगवच्चरण विक्रम है । यद्यपि इन सबका स्थिति स्थान भगवच्चरणारविन्द ही है, किन्तु चरण क्रिया सहित हैं इसलिये विक्रम शब्द से पृथक् कहा है । सब तरह के सुख, इच्छाएं और देव प्रसाद के चिह्नभूत वरों का भी स्थितिस्थान भगवान् का चरण है । अपि शब्द से अणिमादि सिद्धियों का भी स्थान भगवच्चरणारविन्द ही है ।। ६ ।।

श्लोक—**अपां वीर्यस्य सर्गस्य पर्जन्यस्य प्रजापतेः ।**
पुंसः शिश्न उपस्थस्तु प्रजात्यानन्दनिर्वृतेः ।। ७ ।।

श्लोकार्थ—जल, वीर्य, सर्ग, वृष्टि, प्रजापति इन सब का स्थान पुरूष का शिश्न है प्रजा और आनन्द के सुख का स्थान उसमें रहा हुआ उपस्थ इन्द्रिय है ।७।

सुबोधिनी—अपां जलानाम् । वीर्यस्य रेतसः । सर्गस्य सृष्टेः । पर्जन्यस्य मेघस्य । प्रजापतेर्ब्रह्मणस्तस्य वक्तुः । इदानीं सृष्ट्यभिनिवेशाभावान्ममेति नोक्तम् । शिश्नो गोलकम् । उपस्थ इन्द्रियम् । तुशब्दः पूर्वव्यावृत्त्यर्थो लोक प्रसिद्धव्यावृत्त्यर्थो वा । प्रजातिनिमित्तो यः आनन्दः । स्वभार्यायां ऋतुकाले सम्भोगजनितो य आनन्दः । निवृतिः कामस्य उभयोः। अथवा । प्रजातिः सेकः । आनन्दः सुखम् स्पर्शनिमित्तम् । निवृतिः कामशान्तिः । त्रयाणां भगवदिन्द्रियं स्थानम् ।। ७ ।।

व्याख्यार्थ—जलों का वीर्य (धातु)का, सृष्टि का, बरसने वाले मेघों का, इस सम्वाद के वक्ता ब्रह्मा का स्थिति स्थान भगवान् का शिश्न (जननेन्द्रिय गोलक) है । इस समय ब्रह्माजी सृष्टि

के आवेश में हैं इसलिये "मम" मेरा न कहकर अपने आपको प्रजापति शब्द से कहा 'तु' शब्द पूर्वव्यावृत्ति के लिये किंवा प्राकृत इन्द्रिय की व्यावृत्ति के लिये कहा है । और प्रजाति आनन्द और निवृत्ति का स्थिति स्थान भगवान् का उपस्थ (जननेन्द्रिय) है । पुत्रोत्पत्ति के लिये ही अपनी विवाहिता स्त्री में ही और ऋतुकाल में ही सम्भोग करने से ही जो प्रजात्यानन्द निवृत्ति होती है वही यहाँ लिये गये हैं । वीर्य के छोड़ने को प्रजाति कहते हैं । स्पर्श सुख को आनन्द कहा है और स्त्री-पुरुष दोनों को जो काम शान्ति होती है उसे निवृत्ति कहते हैं । इन तीनों का स्थान भगवान् की उपस्थि इन्द्रिय है ।। ७ ।।

श्लोक—**पायुर्यमस्य मित्रस्य परिमोक्षस्य नारद ।**

हिंसाया निऋर्तेमृर्त्योर्निरयस्य गुदः स्मृतः ।। ८ ।।

श्लोकार्थ—हे नारदजी! यम, मित्र और मल त्याग का स्थान भगवान् का पायु इन्द्रिय है, हिंसा का, निऋति का, मृत्यु का, नरक का स्थान गुदा है ।। ८ ।।

सुबोधिनी—भगवतः पायुः स्थानं यमादीनां । यमः पितृराजः । मित्रः पाय्वधिष्ठातृदेवता । परिमोक्ष स्यमलत्यागलक्षणस्य सव्यापारस्येन्द्रियस्य **नारदेति** । सम्बोधनं ये ये कलहकर्त्तारस्तेषामपि तत्स्थानमिति सूचनार्थम् । अथवा । नारदो हरीतकीरूपः । अनुद्भूतकलहानां कलहमुद्भाव्य तद्द्वारा तेषां निवारकत्वात् । हिंसायाः प्राणिवधस्य । निऋर्तेर्दिक्पतिरूपायाः । मृत्योर्मारकस्य । निरयस्य नरकस्य भगवतो गुदः स्थानम् । असमीचीनानां तत्स्थानं वदन् भीतः सन्नाह—**स्मृत इति** । एवं हि स्मर्यते । पायुगुदयोर्गोलककेन्द्रियरूपत्वम् ।। ८ ।।

व्याख्यार्थ—पितृराज यम का, गुदेन्द्रिय का अधिष्ठाता मित्र नामक देवता का और मलत्यागरूप व्यापार वाले गुदेन्द्रियों का स्थिति स्थान भगवान् की पायु नामक इन्द्रिय है । यहाँ नारद! यह सम्बोधन इसलिये दिया है कि जो-जो कलह कराने वाले हैं उनका भी स्थान भगवत्पायु इन्द्रिय है । अथवा, नारद शब्द से यहाँ हरीत की तथा तत्सदृश पदार्थों को लेना, क्योंकि ये पदार्थ अनुद्भूत कलहों के यहाँ भी कलह (गड़बड़ी) पैदा कराके उस कलह के द्वारा ही कलहादि की निवृत्ति करा देते हैं और प्राणिवधरूप हिंसा का, दिशापति निऋति का, सबको मारने वाले मृत्यु का और नरक का स्थिति स्थान भगवान् का गोलक रूप गुद इन्द्रिय है । भगवान का अंग और अनुचित पदार्थों का स्थान हो यह ठीक नहीं, यह मन में कुछ डरते हुये कह रहे हैं, इसलिये 'स्मृतः' कहा है । अर्थात् यह मेरा कहना नहीं है, किन्तु ऋषि लोगों का स्मरण ही ऐसा है । पायु और गुद ये इन्द्रिय और गोलक के नाम हैं ।। ८ ।।

श्लोक—**पराभूतेरधर्मस्य तमसश्चापि पश्चिमः ।**

नाड्यो नदनदीनां च गोत्राणामस्थिसंहृतिः ।। ९ ।।

श्लोकार्थ—पराजय, अधर्म, अज्ञान अथवा अंधकार इन सबका आश्रय विराट्

पुरूष के पीछे का भाग है, भगवान् की नसें नद और नदियों का स्थान रूप है। पर्वत भगवान् की अस्थि (हड्डी) रूप हैं ।। ६ ।।

सुबोधिनी—पराभूतेः पराजयस्य । अधर्मस्य पापस्य । तमसः अज्ञानस्य अन्धकारस्य वा । पश्चिमः पृष्ठिभाग आश्रयः । चकारात्संसारस्याऽपि । भगवतो नाड्यो नदनदीनामाश्रयाः । नदाः शोणभद्रादयः । नद्यो यमुनाद्याः । गोत्राणां पर्वतानाम् । अस्थिसंहृतिरस्थिसङ्घात आश्रयः ।। ६ ।।

व्याख्यार्थ—हार जाने का, अधर्म का और अज्ञान का किंवा अन्धकार का भी स्थिति स्थान भगवान् का पृष्ठ भाग है । 'च' कहने से अहंता ममता आदि संसार का भी स्थान भगवान् का पृष्ठ है । बड़े नद और नदियों का स्थान भगवान् की नसें हैं । शोणभद्र आदि नद और यमुना आदि नदी । पर्वतों का स्थिति स्थान भगवान् के अस्थि समूह हैं ।। ६ ।।

श्लोक—**अव्यक्तरससिन्धूनां भूतानां निधनस्य च ।**
उदरं विदितं पुंसो हृदयं मनसः पदम् ।। १० ।।

श्लोक—**धर्मस्य मम तुभ्यं च कुमाराणां भवस्य च ।**
विज्ञानस्य च तत्त्वस्य परमात्मा परायणम् ।। ११ ।।

श्लोकार्थ—प्रकृति सार आदि समुद्र पंचमहाभूत और प्रलय में प्रवेश करने का स्थान भगवान् का उदर (पेट) है । मन का स्थान भगवान् का हृदय है । धर्म का, मेरा, तेरा, सनकादि कुमारों का, शिव का और विज्ञान का स्थान परमात्मा स्वयं हैं ।। १० ।। ११ ।।

सुबोधिनी—अव्यक्तं प्रकृतिः । रससिन्धूनां क्षारादिसमुद्राणाम् । भूतानां पृथिव्यादिपञ्चभूतानाम् । अस्मदादीनां च । निधनस्य प्रलये प्रवेशस्य । चकारात्प्रलयानाम् । उदरं भगवतः स्थानम् । तथात्वे प्रमाणम्—**विदितमिति**। पुंस उदरमिति सम्बन्धः । अग्रेऽपि भगवतो हृदयमस्मदादीनां मनसः पदं स्थानम् ।। १० ।।

व्याख्यार्थ—त्रिगुणात्मिका प्रकृतिका, क्षार समुद्र आदि सप्त समुद्रों का, पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश इन पाँच महाभूतों को हम सब देहियों का प्रलय में सबके प्रवेश का, 'च' से प्रलयों का भी, स्थिति स्थान भगवान् का उदर है और हम लोगों के मनों का स्थान भगवान् का हृदय है ।

सुबोधिनी—धर्मस्य ब्रह्मणः स्तनाज्जातस्य । मम वक्तुश्चतुर्मुखस्य । तुभ्यं तव । अथवा । तव यत्प्रयोजनं रूपं भक्तिजनकं तस्य । चकारादन्येषां भक्तानाम् । कुमाराणां सनकादीनाम् । भवस्य महादेवस्य । चकाराज्ज्ञानिनां शुकादीनाम् । विज्ञानस्य । तत्त्वस्य महत्तत्त्वस्य । चकारात्सूत्रस्य परमात्मा परमस्य आत्मा अन्तःकरणम् । परायणं स्थानमित्यर्थः ।। ११ ।।

ब्रह्मा के स्तन से पैदा हुये धर्म का वर्णन करने वाले मुझका, तेरा (नारद का) अथवा भक्तिजनक तेरे प्रयोजन का 'च' से अन्य भक्तों का भी सनकादि कुमारों का, श्री महादेव का, 'च' से श्री शुक आदि ज्ञानियों का भी त्रिविधात्मक ज्ञान का, और महत्तत्त्व का, 'च' से सूत्र (प्रथम कार्य) का भी, स्थिति स्थान भगवान् का अन्तःकरण है ।। ११ ।।

आभास—एवं सर्वेषां परिच्छिन्नानामुत्पत्तिमुक्त्वा यदर्थमेतदुक्तं तदाह—**अहमिति** सार्द्धैस्त्रिभिः—

आभासार्थ—जिनका पूरा वर्णन आ चुका है उन सबकी उत्पत्ति कहकर के जिस लिये यह कहा गया है वह अब अगले साढे तीन श्लोकों में कहते हैं—

श्लोक—**अहं भवान् भवश्चैव य इमे मुनयोऽग्रजाः ।**
सुरासुरनगा नागाः खगा मृगसरीसृपाः ।। १२ ।।
गन्धर्वाप्सरसो यक्षा रक्षोभूतगणोरगाः ।
पशवः पितरः सिद्धा विद्याध्राश्चारणा द्रुमाः ।। १३ ।।

आभास—तामसानाह—

आभासार्थ—अब तामस प्रकृति वालों का वर्णन करते हैं—

श्लोक—**अन्ये च विविधा जीवा जलस्थलनभौकसः ।**
तेनेनमावृतं विश्वं वितस्तिमधितिष्ठति ।। १४ ।।

श्लोकार्थ—मैं, तुम, शिवजी और दूसरे यह तुम्हारे बड़े भाई सनकादिक तथा मरिच्यादि, सुर, असुर, नाग, नग, पक्षी, मृग, सर्प, गन्धर्व, अप्सराएँ, वृक्ष, राक्षस, भूतगण, उरग, पशु, पितृ, सिद्ध, विद्याधर, चारण द्रुम और दूसरे नाना प्रकार के जीव, जलचर, स्थलचर और आकाश में घूमने वाले ग्रह, धूम्रकेतु, तारे, नक्षत्र, बिजलियाँ, मेघ की गर्जना ये सब पुरुष रूप हैं ऐसा इस सम्बन्ध में आगे के श्लोक में अन्वय है ।। १२-१४ ।।

सुबोधिनी—ब्रह्मादयः सर्वे भगवत्स्वरूपाः । समुदायो भगवान् । प्रत्येकं त एवेत्यपरे । अतः परं फलनिरूपणार्थमधिकारिणं साधनं च निरूपयन् । पुरुषसूक्ते तन्निरूपितत्वात्तत्प्रकारेणैव निरूपयति । "**पुरुष एवेदं सर्व**" मिति वाक्ये इदं गुणत्रयकार्यंश्लोकत्रयेणोच्यते । तत्र अहं ब्रह्मा । भवान्नारदः । भवो महादेवः । चकारात् ये सम्बन्धिनः । एवकारेण तेषु सन्देहाभाव उक्तः । विशेषरूपेणाऽपि ते भगवन्त इत्यर्थः । ये इमे मरीच्यादयः । अन्येऽपि मुनयः । ते अग्रजास्तव ज्येष्ठभ्रातरः सनकादयः । एते शुद्धसत्त्वकार्याः । सुरा मिश्रसत्त्वकार्याः । असुरा रजोमिश्रकार्याः ।

नगादयस्तमोमिश्रकार्याः । नगाः पर्वताः नागा गजाः । खगाः पक्षिणः । मृगाः हरिणादयः । सरीसृपाः सर्पाः । एते शुद्धतामसाः । गन्धर्वाप्सरसो रजोमिश्राः । यक्षरक्षआदयस्तमोमिश्राः । उरगा जातिसर्पाः । पशुप्रभृतयः सत्त्वमिश्राः । पशवो गवादयः । सिद्धादयस्त्रयः अन्तरिक्षे सत्त्वादिगुणप्रधानाः । द्रुमाः केवलतामसाः ।। १२ ।। १३ ।।

सुबोधिनी—अन्ये चेति । विविधा मत्स्यादयः । जलौकसः स्थलौकसो नभौकसश्च । ग्रहा बुधादयः । ऋक्षा अश्विन्यादयः । केतवो धूमकेतुप्रभृतयः । तारा अन्यानि नक्षत्राणि । तडितो विद्युतः । स्तनयित्नवो गर्जितानि ।।१४।।

व्याख्यार्थ—ब्रह्मादि सब भगवत्स्वरूप हैं समुदाय भगवान् हैं। प्रत्येक भिन्न है, ऐसे कई कहते हैं । अब पीछे फल निरूपण करने के लिए अधिकारी और साधन का निरूपण करते हुए पुरूष सूक्त में जो कहा गया है उसी प्रकार यहाँ निरूपण करते हैं । "पुरूष एवेदं सर्वम्" इस पुरूष सूक्त के वाक्य में गुणत्रय कार्य तीन श्लोक से बताते हैं जिसमें, मैं, अर्थात् ब्रह्मा, भगवान् (तुम) नारदजी, महादेवजी 'चकार' हैं इसलिये उनके सम्बन्धी गण 'एवं' कहा है इससे उसमें सन्देह करने जैसा विषय नहीं है ऐसा बताने में आया है, क्योंकि विशेष रूप से भी वे सब भगवत्-रूप हैं । वे जो मरिच्यादि मुनि दूसरे भी मुनि तुमसे बड़े भाई सनकादिक हैं ये सब शुद्ध सत्त्व रूप के कार्यरूप हैं । सुर मिश्र सत्त्व के कार्य हैं, असुर रजोगुण मिश्र के कार्य हैं पर्वत इत्यादि तमोगुण के कार्य हैं, नाग अर्थात् हाथी खग (पक्षी) मृग (हरिण) इत्यादि सरीसृप, सर्प ये सब शुद्ध तामस हैं । गन्धर्व और अप्सराएं रजोमिश्र कार्य हैं । यक्ष, रक्ष आदि तमोमिश्र कार्य हैं । उरग, सर्प जाति, सर्प पशु सत्त्वादिमिश्र पशुओं में गाय इत्यादि सिद्ध विद्याधर और चारण अन्तरिक्ष में सात्त्विक प्रधान कार्य हैं द्रुम केवल तामस है । दूसरे विविध में मत्स्यादि जल में रहने वाले, स्थल में रहने वाले, ग्रह, बुध इत्यादि, वृक्ष अश्विन्यादि नक्षत्र धूमकेतु तारे उन बिना के नक्षत्र, बिजली और मेघ की गर्जना यह सब पुरूषरूप है ऐसा आगे के श्लोक में अन्वय है ।। १२-१३-१४ ।।

आभास—सर्वानुद्देशतो निरूप्य तेषां पुरुषत्वमाह—

आभासार्थ—सबका उद्देश कहकर उनमें पुरुषत्व का विधान करते हैं—

श्लोक—**सर्वं पुरुष एवेदं भूतं भव्यं भवच्च यत् ।**
तेनेदमावृतं विश्वं वितस्तिमधितिष्ठति ।।१५।।

श्लोकार्थ—इस विराट् भगवान् ने इस सारे विश्व को एक विलांद से भर रखा है अर्थात् भगवान् के अन्दाजी वितस्ति देश में अंश में यह सारा विश्व समा गया है । और यह भगवान् तो अनन्त अधिक है ।। १५ ।।

सुबोधिनी—सर्वं पुरुष एवेति । पूर्वोक्तम् निरूपितं सर्वं पुरुष एव । इदमपि परिदृश्यमानं जड़ात्मकं सर्वं पुरुष एव । कालत्रयाधीनस्य पुरुषत्वाभावमाशङ्क्याऽऽह-**भूतं भव्यं भवदिति** ।

चकारात्तत्रोत्पन्नानामपि ग्रहणम् । **यदिति** प्रसिद्धम् । तेन श्रुतिसिद्धत्वान्नाऽत्र युक्तिर्वक्तव्येत्यर्थः । अनेन '**पुरुष एवेदं सर्वमि**" त्यर्द्धर्चार्थः कथितः । भगवतो विश्वमात्रत्वे तेन परिच्छेद सम्भवाद परिच्छिन्नताव्याहतिरित्याशङ्कयाऽऽह–**तेनेदमिति** । विश्वेन न भगवानावृतः परिच्छिन्नः किन्तु विश्वमेव तेन आवृतं परिच्छिन्नम् । जातिवत्परिच्छेदं वारयति –**वितस्तिमधितिष्ठतीति** । जातिर्हि तावन्मात्रे स्थिता तं व्याप्नोति । अयं तु वितस्तिमधितिष्ठति । "**अत्यतिष्ठदशांगुलामि**" ति सूक्ते दशांगुलमुक्तम् । वितस्तिस्तु द्वादशांगुलम् । तथापि क्षुद्राङ्गुलिमानेन तदुपपद्यते । दशाङ्गुला वा वितस्तिः । अंगुष्ठदेशिनीमध्यं तावदेव । अनेनोभयध्याने सम्पूर्णो भगवान् ज्ञातो भवति । अतो विश्वात्मकः स्थूलः । वितस्त्यात्मकोऽतिरिक्तः । तुल्यश्च प्रमाणतोऽपि भवति । अष्टवितस्त्यात्मकः पुरुषः । ततः सर्वतो वितस्त्यात्मकोऽष्टवितस्त्यात्मकोऽपि भवत्यधिकोऽपि भवति । तस्माद्यावान् भगवान् सर्वं तावानधिकस्ततोऽप्यधिक इति न परिच्छेदः सम्भवति । किंच । नाऽयं वितस्तिमात्रे तिष्ठति किन्तु ततोऽप्यधिकम् तिष्ठति । अतः सुतरां न परिच्छेदः ।। १५ ।।

व्याख्यार्थ—इस तरह पहले श्लोकों में परिच्छिन्न पदार्थों की उत्पत्ति कह चुके । अब सबका भगवान् के साथ अभेद कहते हैं, क्योंकि यह सब निरूपण ही अभेद कहने के लिये ही था । 'अहं' इत्यादि । वास्तव में ब्रह्माजी को आदि से लेकर सारी सृष्टि ही भगवान् का स्वरूप है । किन्तु कितने ही कहते हैं कि समुदाय रूप से सब भगवान् हैं पर पृथक् पृथक् तो वे ही है, किन्तु यह उनका कहना सत्य नहीं है क्योंकि 'अहमेवासमेवग्रे' इस सिद्धान्त चतुश्लोकी में सारे जगत् को ही भगवान् अपना स्वरूप कहेंगे ।

अब इससे आगे फल त्रिविध सुख का निरूपण करना है । इसलिये अधिकारी और साधनों का निरूपण भी आवश्यक है । उस सुख का निरूपण 'सहस्रशीर्षा' आदि यजुर्वेदीय पुरूष सूक्त में आया है । इसलिये वहाँ के प्रकार के अनुसार ही निरूपण करते हैं । 'पुरूष एवेदत सर्वम्' इस वाक्य का जो तात्पर्य है सो ही यहाँ भी चार श्लोकों में कहा गया है ।

बारहवें, तेरहवें और चौदहवें इन तीन श्लोकों में यह तीन गुणों का कार्य कह दिया है । पहले सत्व कार्य से आरम्भ करते हैं—उनमें मैं (ब्रह्मा) आप नारद, श्री महादेव । 'च' से इन तीनों से सम्बन्ध रखने वाले पदार्थ भी । 'एव' इसलिये कहा है कि इन तोनों के शुद्ध सत्व कार्य होने में कुछ भी सन्देह नहीं है और इनके विशेष रूप के तरफ ध्यान दिया जाय तो ये तीनों भगवान् ही हैं । मूल में 'ये इमे' कहकर यह दिखलाते हैं कि अब आगे कुछ प्रकारान्त है, जो ये मरीचि आदि प्रजापति बैठे हैं, और भी जो मुनिगण हैं वे और तुम्हारे बड़े भाई ये सनकादिक चार, ये सब शुद्ध सत्व के कार्य हैं, अर्थात् शुद्धसत्व से बने हैं ।

अब आगे मिलावट वाले सत्व के कार्य देवतागण, मिश्र रजोगुण के कार्य असुर लोग, पर्वत, हाथी, काक आदि पक्षी, हिरण आदि पशु और साँप बिच्छू आदि रेंगनेवाले ये सब शुद्ध तमोगुण के कार्य हैं । गन्धर्व अप्सरा आदि मिश्र रजोगुण के कार्य, यक्ष, राक्षस आदि मिश्र तमोगुण के कार्य, जाति सर्प भी तामस है । गौ आदि पशु मिश्र सत्व के कार्य, सिद्ध विद्याधर और चारण ये अन्तरिक्ष लोकस्थ क्रमशः सत्वप्रधान रजःप्रधान और तम प्रधान हैं । वृक्ष सब केवल तामस हैं ।

तामस जीवों की और भी गिनती करते हैं कि 'अन्येच'—जल में रहने वाले अनेक तरह के मत्स्य आदि कछुआ प्रभृति स्थलवासी और आकाश में फिरने वाले बुध, गुरू, मंगल आदि ग्रह अश्विनी भरणी आदि नक्षत्र, बाकी रहे सब तारागण बिजली और मेघ गर्जना प्रभृति, जिनकी गिनती करा दी वे सब, और न गिनाये हों वे सब भगवान् ही भगवान् हैं । यह सब दिखता हुआ जड़ जगत् भी पुरूष (भगवान् ही) है । यहाँ यह आशंका होती है कि जो पदार्थ भूत भविष्य वर्तमान काल के वश में है वह भगवान् कैसे हो सकता है अर्थात् नहीं हो सकता । इसका समाधान करते हैं कि भूत भविष्य और वर्तमान सब काल भी भगवान् हैं और इन कालों में जो पदार्थ उत्पन्न होते हैं वे सभी पुरूष रूप हैं । यह बात श्रुति में भी प्रसिद्ध है, इसलिये इस विषय में लौकिक युक्ति देने की अपेक्षा नहीं रहती । इन साढ़े तीन श्लोकों में 'पुरूष ँ् एवेदं सर्वं' इत्यादि आधी ऋचा का अर्थ कह दिया है ।

"भगवतो विश्वमात्रत्वे तेन परिच्छेद सम्भवादपरिच्छिन्नताव्याहतिरित्याशङ्क्याह–तेनेद-मिति" अर्थात् जब सारा जगत् भगवान् ही हो गया तो नाप तौल की भी सम्भावना की जा सकती है । ऐसी दशा में भगवान् व्यापक हैं 'भगवान् नपा तुला नहीं है' यह जो प्रसिद्ध है उसकी क्षति हुई इस अंश के उत्तर में कहते हैं कि—

तेनेद मावृतं विश्वं वितस्तिमधितिष्ठति ।। १५ ।।

विश्व से भरा हुआ या ढका हुआ भगवान् नहीं है किन्तु विश्व ही भगवान् से भरा हुआ है । भग-वान् ने ही विश्व को चारों तरफ से ढक रखा है । जाति से व्यक्ति जिस तरह भरी रहती है उस तरह भगवान् से जगत् नहीं भरा है किन्तु और भी विशेष हैं सो कहते हैं कि 'वितस्ति' गौ प्रभृति व्यक्ति में गोत्व आदि जाति उतने मात्रा को भरकर बैठी रहती है, परन्तु भगवान् तो सारे जगत् को भर देते हैं और उससे द्वादशांगुल अधिक भी चारों तरफ रहता है ।

यहाँ सुबोधिनी में जाति व्यक्ति का जो दृष्टांत दिया है वह परमत है । नैयायिकादि के यहाँ जाति पदार्थ माना है उस प्रसिद्धि को लेकर कह दिया है । वास्तव में 'जाति व्यक्ति विभागोयं यथा वस्तूनि कल्पितः' तो भागवत् सिद्धान्त में जाति कोई पदार्थ ही नहीं है ।

'अत्यतिष्ठद्दशांगुलं' इस पुरूषसूक्त में दश अंगुल अधिक ब्रह्मव्याप्ति कही है और यहाँ वितस्ति (१२ अंगुल) कहा है । पतली उंगलियों से दश की द्वादशांगुल भी वितस्ति हो सकती है, अथवा दशांगुल भी वितस्ति माननी उचित है, श्रौत होने से । दोनों में प्रकार विशेष मानकर समा-धान हो सकता है । स्थिति के किसी प्रकार में द्वादशांगुल और किसी प्रकार विशेष में दशांगुल । अंगूठा और देशनी (पहली) अंगुली को छोड़कर उनका मध्य दशांगुल होता है और अंगुष्ठ और कनिष्ठिका अंतिम अंगुली को छोड़ने से द्वादशांगुल भी होता है । दोनों ही नाप युक्त हैं ।

'भगवान् सारे जगत् को अपने में से भरकर वितस्ति भर और भी बाकी रह जाता है ।

इस कहने से यह भी स्पष्ट होता है कि जो लोग भगवान् के कर्त्ता होने में सन्देह करते हैं वह इन वाक्यों से नहीं रहता । अधिक बाकी रहने से जगत् भी वही और जगत् का कर्त्ता भी वही हो सकता है ।

उत्पाद्य और उत्पादक दोनों ब्रह्म हैं। इसमें किसी तरह का सन्देह नहीं रहता। विश्वात्मक भगवान् और अधिक भी भगवान् इन दो रूपों के कहने से दोनों का ध्यान हो सकेगा और उससे भगवान् का सम्पूर्ण रीति से ज्ञान भी होगा। अन्यथा एक रूप, ज्ञान और ध्यान में नहीं आने से, ध्यान और ज्ञान की अपूर्णता रह जावेगी। विश्वात्मक और अतिरिक्त यह विरुद्ध धर्माश्रयता होने से विश्वात्मक भगवान् स्थूल हैं और वितस्तिरूप भगवान् सूक्ष्म एवं अतिरिक्त है यह स्पष्ट हो गया। अलौकिक शब्दादि प्रमाण से भी यह समान ही है। विश्वपुरूष सप्तवितस्ति और अतिरिक्त पुरूष वितस्ति। इस तरह सम्पूर्ण पुरूष अष्टवितस्ति है। यह सब नाप समझने के लिये सम्भावना से है और विरुद्ध धर्माश्रय होने से सब कुछ सम्भव हैं। सप्तवितस्ति, चारों तरफ अधिक एक बितस्ति और अष्ट वितस्ति किंवा इससे भी अधिक हो सकता है।

अब वेद प्रमाण से ही यह सिद्ध हो गया कि जितना भगवान् है उतना ही सारा जगत् है। अधिक जो भगवान् है वह जगत् से अधिक है। इसलिये ब्रह्म का वास्तव परिच्छेद किसी तरह भी सम्भव नहीं है। भगवान् वितस्तिमात्र ही अधिक नहीं हैं किन्तु उससे भी अधिक होकर स्थित है, इसलिये नाप तौल की किसी तरफ भी खबर नहीं पड़ सकती ॥ १५ ॥

आभास—तत्र स्थितस्य ततोऽप्यधिकव्याप्तौ दृष्टान्तमाह—

आभासार्थ—सारे संसार में स्थित भगवान् इससे भी अधिक व्याप्त है इस बात का दृष्टान्त देकर बताते हैं—

श्लोक—**स्वधिष्ण्यं प्रतपन्प्राणो बहिश्च प्रतपत्यसौ।**
एवं विराजं प्रतपंस्तपत्यन्तर्बहिः पुमान् ॥ १६ ॥

श्लोकार्थ—जैसे सूर्य अपने मंडल को प्रकाश देते हुए बाहर भी प्रकाश फेंकते हैं, इसी प्रकार यह पुरुष भी विराजकर अन्दर और बाहर भी प्रकाश करते हैं ।१६।

सुबोधिनी—**स्वधिष्ण्यमिति**। यथा प्राणः सूर्यः स्वधिष्ण्यं मण्डलं प्रतपन् बहिरपि सम्पूर्णं ब्रह्माण्डं प्रतपति। प्राणो वा आसन्यः स्वधिष्ण्यं शरीरं प्रतपन् सजीवं कुर्वन् बहिश्च फूत्कारनिःश्वासैः प्रतपति काष्ठादीनग्नियुक्तान्करोति। एवं पुरुषोऽपि विराजं प्रतपंस्तद्बहिरपि तपति। प्राणादीनां मध्यप्रकाशकत्वाभावात्संघट्टिततया तत्र विवराभावान्मण्डलमध्यं न प्रकाशयति। अयं तु ब्रह्माण्डमध्यमपि प्रकाशयति। तदाह—**अन्तरिति**। पुरुषो हि स्वयं सर्वतः प्रकाशयति ॥ १६ ॥

व्याख्यार्थ—भगवान् सारे जगत् में रहकर भी उससे कहीं अधिक तक भरा रहता है। इसमें दृष्टांत देते हैं 'स्वाधिष्ण्यं' इत्यादि। जैसे सबका प्राण रूप सूर्य अपने पार्थिव मण्डल को ताप और प्रकाश पहुँचाता हुआ उससे कहीं अधिक भी ताप और प्रकाश पहुँचाता है। बाहर से सारे ब्रह्माण्ड को ही तपाता है। अथवा यह आसन्य (मुखस्थ) प्राण अपने शरीर को भीतर से ताप-प्रकाश जीवन पहुँचाता हुआ बाहर भी फूत्कार निःश्वास आदि द्वारा ताप करता है।

काष्ठादि को अग्नियुक्त कर देता है। इसी तरह यह पुरुष भी विराट् शरीर को ताप प्रकाश पहुँचाता, अर्थात् सजीव बनाता इसके बाहर भी ताप-प्रकाश पहुँचाता है। पूर्वोक्त प्राणादिक मध्यप्रकाशक स्वभाव वाले न होने से और सूर्य के मार्त-अण्डे में छिद्रादि न होने से मण्डल के मध्य का प्रकाशयुक्त होना असंभव है। किन्तु यह पुरुष (भगवान्) तो सर्व प्रकाशक स्वभाव होने से ब्रह्मांड के मध्य को भी प्रकाश युक्त करता है। यही बात 'तपत्यन्तर्बहिः पुमान्' इस चतुर्थ चरण में कही है, अर्थात् यह भगवान सारे ब्रह्माण्ड को बाहर भीतर से प्रकाशयुक्त करता है। पुरुष स्त्री को सब तरह से सचेत करता है।

(नृसिंह पुराण में कहा है कि—

"स एव वासुदेवोयं साक्षात् पुरुष उच्यते।
स्त्री प्राय मितरत्सर्वं जगद्ब्रह्म पुरःसरम्"

अर्थात् वेद शास्त्रोक्त यह वासुदेव भगवान् ही एकाकी पुरुष हैं और ब्रह्मा से लेकर जड़ पर्यन्त सारा जगत् तो स्त्री जैसा ही है परतंत्र है। अतएव यह विराट् जड़ासायी-प्राकृत होने से स्त्री हैं इसे यह पुरुष ही सचेतन करता है) ॥१६॥

आभास—एवमपरिच्छेदं स्वप्रकाशत्वं चोक्त्वा तेन ब्रह्मत्वं साधयित्वा तस्य प्रपंचनिःप्रपंचफलदातृत्वं साधयितुमुभयस्वामित्वमाह–

आभासार्थ–इस तरह पुरुष की व्यापकता और स्वप्रकाशता बताकर उसे परब्रह्म सिद्ध किया, अब यह पुरुष ही लौकिक फल और अलौकिक फल देने वाला है यह सिद्ध करने के लिये इसको दोनों फलों का स्वामी कहते हैं—

श्लोक—**सोऽमृतस्याऽभयस्येशो मर्त्यमन्नं यदत्यगात्।**
महिमैष ततो ब्रह्मन् पुरुषस्य दुरत्ययः ॥ १७ ॥

श्लोकार्थ—यह विराट् पुरुष (अन्तर्यामि रूप) नित्य सुख और दुःखाभाव का स्वामी है। कारण यह मर्त्य अन्न-प्राकृत पदार्थों से अस्पृष्ट है। हे नारद! इसीलिये यह इस भगवान् की महिमा है जो किसी के भी समझ में नहीं आती ॥ १७ ॥

सुबोधिनी–**सोऽमृतस्येति**। स हि पुरुषः अमृतस्य नित्यसुखस्य अभयस्य मोक्षसुखस्य च ईशः स्वामी। उभयं दातुं शक्त इत्यर्थः। उभय-दाने सामर्थ्यमाह–**मर्त्यमन्नमिति**। मर्त्यं मरणा-त्मकं विराट्शरीरम्, यद्यस्मादत्यगात् अति-क्रम्य स्थितः। अतोऽमृतं दातुं शक्तः। अन्नं अद्यते अत्ति च भूतानीति मृत्युं कर्मफलं वा। यस्मादतिक्रम्य स्थितस्तस्मादभयस्येशः। अनेन "**उताऽमृतत्वस्येशान**" इत्यर्द्धचार्थः कथितः। तत्र "**अन्नेनाऽतिरोहती**" ति अन्नेन हेतुना तिरोभावं न प्राप्नोति। सर्वे हि मृत्युना कर्मणा वा तिरोभावं प्राप्नुवन्ति। अयं तु न तथेत्यर्थः। ननु यः सर्वो न स सर्वातिरिक्तः। यो वाऽसर्वः यो वाऽतिरिक्तः स न सर्वः। प्रपंचस्याऽर्द्धपरिच्छेद-कत्वं नाऽस्ति। तथा सति निजानन्दस्येशो न भवेत्। तस्मादविरोधप्रकारेण समर्थनानुपपत्तेः

परस्परविरुद्धधर्माश्रयत्वेनाऽभेदो न स्यादित्याशंक्याऽऽह– **महिमैष ततो ब्रह्मन्निति**। ततो विरुद्धोभयधर्माश्रयत्वाद्भगवतो महिमा । न हि विरुद्धधर्माभ्यां स्वाश्रयभेदः कर्त्तुं शक्यते। एकस्मिन्नेवाश्रये उपयोजितत्वात् । किन्तु धर्माणां परस्परं विरोधो लोकवत्कार्यं कर्त्तुमसमर्थः स्वाश्रयस्य महिमानं बोधयति। सर्वत्र समर्थस्तत्र चेदसमर्थस्तदा तस्मिन् कश्चिन्महिमा वर्त्तते येन प्रतिबद्धः स्वकार्यं कर्त्तुं न शक्नोतीति सिद्धम्। तस्मादेष एव महिमा यद्विरुद्धधर्माश्रयत्वमिति । तस्य धर्मस्याऽनन्यसिद्धस्य कार्यसाधकत्वं न क्वचित्सिद्धमिति महिम्नः प्रतिबन्धकता न युक्ता । असमोर्द्ध्वत्वाच्च धर्मस्य। न वा अविरोधः। उक्तिमात्रविरुद्धत्वात्। अतो विरुद्धधर्माश्रयत्वमेव महिमा। अलौकिकत्वात्। स च महिमा दुरत्ययः केनाऽप्यतिक्रान्तुमशक्यो बुद्धचा कृत्या व। अविरोधं वा एकधर्मनिराकरणं वा देशकालादिभेदेन व्यवस्थां वा न कश्चिदपि कर्त्तुं शक्तः। लोके उभयकार्यदर्शनात् । **ब्रह्मन्निति** सम्बोधनं भगवन्माहात्म्यबोधनार्थम् । सूक्ते तु महिम्न एतावत्त्वं प्रतिपाद्य तेन पुरुषमाहात्म्यमाह–महत्त्वेन हि माहात्म्यमतिशयितं भवति। स एव हि दुरत्ययार्थः ॥१७॥

व्याख्यार्थ—यह पूर्वोक्त पुरुष (परब्रह्म) ही अमृत-नित्य सुख और अभय-मोक्ष सुख का भी ईश है स्वामी है। अमृत अभय दोनों फल देने में समर्थ हैं। दोनों फल देने का सामर्थ्य इसमें कैसे हैं, इसका कारण बताते हैं, कि—यह भगवान् मर्त्य अन्न को छोड़कर स्थित हैं; इसलिये। मरणात्मक विराट् शरीर मर्त्य है। प्राणियों को जो खा जाय अथवा जो भोगा जाय वह अन्न कहा जाता है। कर्मफल भोगा जाता है और मृत्यु सबका भक्षण कर जाता है; इसलिये कर्मफल भोगा जाता है और मृत्यु अन्न कहे जाते हैं। अथवा ये दोनों ही प्राणियों को खा जाते हैं। और दोनों को भगवान् खा जाते हैं। इसलिये अत्ति और अद्यते दोनों व्युत्पत्ति दोनों में समान हैं इसलिये दोनों ही अन्न हैं। समष्टि रूप विराट् शरीर मरणधर्मा हैं क्षयशील है। यह बात व्यष्टि हमारे शरीरों में भी स्पष्ट है।

हमारे शरीर प्रतिपल क्षयशील हैं, इसलिये मर्त्य कहे जाते हैं। इसी तरह विराट् शरीर भी क्षयशील होने से मर्त्य है। किन्तु यह पुरुष (भगवान्) मर्त्य और अन्न दोनों को छोड़कर स्थित है, इसलिये नित्यसुख और मोक्ष का स्वामी है। हम सब जीव इस मर्त्य देह का अतिक्रमण नहीं कर रहे हैं। इसमें आसक्त हैं इसी को अपना स्वरूप समझ रहे हैं। कर्मफल भी इस देह को भोगने पड़ते हैं। और मृत्यु भी इसे खाता है। इसलिये मर्त्य के साथ नित्य संबद्ध होने से यह जीव न तो नित्य सुख का स्वामी है और न मोक्ष का ही स्वामी है। पर वह भगवान् पुरुष विराट् शरीर में स्थित रहते भी, उस शरीर का स्पर्श भी नहीं करता है। उसे सबका और अपने स्वरूप का यथार्थ ज्ञान है। उसके धर्म इसमें कभी नहीं आते, अतएव यह पुरुष (परब्रह्म) मर्त्य और अन्न दोनों का अतिक्रम करके स्थित है। शरीर का अध्यास झूठी समझ उसे नहीं है। अतएव नित्य सुख स्वरूप है और दुःखों में सर्वथा रहित है। कर्मफल और मृत्यु दोनों दुःख देने वाले हैं और नित्य सुख का व्याघात करते हैं। किन्तु देह में अनासक्ति और स्वरूप साक्षात्कार रहने से कर्मफल और मृत्यु दोनों उस परम पुरुष का स्पर्श भी नहीं कर सकते। और आनन्दमय एवं निर्दुःख होने से ही वह सबको नित्यसुख और मोक्ष दान कर सकता है। क्योंकि उनका स्वामी है।

मूल के आधे श्लोक में 'उताऽमृतत्वस्ये शानः' इस पुरुषसूक्त की आधी ऋचा का अर्थ कह दिया है। पुरुषसूक्त में 'यदन्ने नाति रोहति' इस श्रुति से यह भी कहा है कि यह पुरुष अन्न के कारण तिरोभाव को नहीं प्राप्त होता। अर्थात् जैसे सांसारिक जोव, अन्न (कर्मफल मृत्यु) के कारण, नष्ट हो जाते हैं इस तरह यह पुरुष भगवान् नष्ट नहीं होता। कर्म और मृत्यु दोनों का स्पर्श न होने से इस पुरुष का तिरोधान नहीं होता।

यहाँ एक यह प्रश्न होता है कि जो पदार्थ सब कुछ होकर फैल गया है वह सबसे अधिक या पृथक नहीं रह सकता, यह प्रत्यक्ष है और जो सब कुछ नहीं हुआ है किंवा सबसे अधिक या पृथक है वही सब नहीं कहा जा सकता। यह भी प्रत्यक्ष है; मृद्घटादि में। पर आप कहते हो कि भगवान् ही सब कुछ है और भगवान् ही सबसे अलग भी है यह बात कैसे बन सकती है? दोनों धर्म परस्पर विरुद्ध हैं। जो सब हैं वह सबसे अधिक या अलग नहीं रह सकता और जो अलग या अधिक है वह सब नहीं हो सकता। अतएव अतिक्रम करके स्थित भी नहीं रह सकता। दूसरी बात यह भी है कि जहाँ पुरुष अधिक हैं उस ऊर्ध्व भूमिका में प्रपञ्च नहीं है, यदि वहाँ भी प्रपञ्च होता है पुरुष निजानन्द का स्वामी न रहता। क्योंकि प्रपञ्च ही तो नित्य सुख का व्याघातक है। अब दोनों का अभेद कैसे? इसलिये दोनों के अभेद का किंवा सर्वभवन का अविरोध से समर्थन नहीं हुआ यही आपके ऐक्य कथन में अनुपपत्ति रह गई। परस्पर विरुद्ध धर्मों का आश्रय होने से भी अभेद नहीं हो सकता।

इस आशंका को दूर करने के लिये कहते हैं—"महिमैषततो ब्रह्मन्" अर्थात् यही तो भगवान् का माहात्म्य है। परस्पर विरुद्ध धर्मों का आश्रय भगवान् स्वयं हैं पर वे धर्म भगवान् के स्वरूप की कुछ भी हानि नहीं कर सकते यही भगवान् की महिमा है। लोक में देखा जाता है कि जल और अग्नि दोनों प्रपञ्च है पर दोनों के परस्पर विरूद्ध धर्मों ने हठात् उन दोनों को पृथक्-पृथक् वस्तु बना दिये हैं। एक अग्नि है तो दूसरा जल। किन्तु यह बात ब्रह्म वस्तु में न हो सकी। अधिक भगवान् और सप्रपञ्च भगवान् दोनों पुरुष ही हैं। दोनों में परस्पर विरुद्ध धर्म भी हैं,पर वे आश्रय अपने पैदा होने के स्थान पुरुष का वस्तुभेद नहीं करा सके। विरुद्ध धर्मों ने दो भगवान् न बनाये दोनों पुरुष ही रहा। प्रत्युत उन विरुद्ध धर्मों ने भगवान् का माहात्म्य ही बढ़ाया। परस्पर विरुद्ध धर्म, एक-एक पुरुष में ही पैदा हुए हैं। परस्पर विरुद्ध रह कर भी आश्रय भेद न कर सके। धर्मों का परस्पर विरोध, लोक में अपना कार्य (आश्रय भेद) कर रहा है किन्तु ब्रह्म में जाकर वे अपना कार्य करने में असमर्थ हैं। यही भगवान् का माहात्म्य है। प्रपञ्च परिछिन्न पुरुष और प्रपञ्च रहित अधिक पुरुष दोनों में धर्म तो है ही। उसमें प्रपञ्च परिछिन्न पुरुष के धर्म, प्रपञ्च के माने हुए पदार्थों का भेद कर सकें पर सबमें रहे हुए पुरुष का भेद न कर सकें यह उस पुरुष का महत्व हो है। धर्म सर्वत्र अपना सामर्थ्य दिखा सके; पर पुरुष पर अपना सिक्का न जमा सके तो इससे स्पष्ट होता है कि, पुरुष में कोई ऐसा महत्व है। स्वाश्रय पुरुष में जो महिमा है उससे हार खा कर वे परस्पर विरुद्ध धर्म उसका कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकते अपना कार्य (आश्रय भेद) करने में असमर्थ रहे। कुल्हड़ और सकोरा दोनों मृत्तिका हैं उनके आकार प्रकारादि परस्पर विरुद्ध हैं अतएव उन वैसे धर्मों ने उनका वस्तुभेद कर दिया। कुल्हड़ सकोरा नहीं, सकोरा कुल्हड़ नहीं। दोनों पृथक्-पृथक पदार्थ हैं। किन्तु वास्तव में देखा

जाय तो वे परस्पर विरुद्ध धर्म भी स्वाश्रय मृत्तिका का भेद नहीं कर सके। दोनों मृत्तिका ही रही। वे सब ही परस्पर विरुद्ध धर्म, मृत्तिका में ही पैदा हुए हैं, अतएव मृत्तिका का भेद नहीं सकते और अपना कार्य नहीं कर सकते अतः एवं कोई अनिर्वचनीय महत्व, मृत्तिका में है यह मानना पड़ेगा ही। यही बात पुरुष में है। 'एवावानस्य महिमा' (पु० सु० श्रुतिः) 'महिमैष ततो ब्रह्मन् पुरुषस्य'।

इतना ही नही इससे विशेष भी भगवान् का माहात्म्य है। प्रपञ्च विलक्षण, किंवा 'विस्ततिमधितिष्ठति' ('अत्यतिष्ठद्दशांगुलं') के अनुसार अधिक पुरुष में भी वे ही धर्म हैं किन्तु अपना काम नहीं कर सकते यह उसका माहात्म्य है। प्रपञ्च पुरुष में भी धर्म कहाँ से आये ? तो कहना पड़ेगा कि—पहले से ही विद्यमान थे पर पीछे प्रकाशित हुए। मृत्तिका में घटादि के आकार प्रकार पहले से ही छुपे हुए विद्यमान थे ही पर पीछे प्रकाशित हुए। 'सदेवसौम्येदमग्न आसीत्' ब्रह्म के सब ही धर्म; सर्वदा उसमें रहते हैं ही क्योंकि 'अनुच्छित्तिधर्मा' ब्रह्म नित्य धर्मवाला है, पर कभी-कभी प्रकाशित करता है, कहीं नहीं भी करता है। तदनुसार अधिक ब्रह्म में भी वे ही सब धर्म छुपे विद्यमान रहते हैं, पर वह अपने आनन्द का स्वामी है अपने धर्मों का मालिक है आश्रय है, इसलिये प्रकाशित नहीं होने देता। अपने आश्रय का वे धर्म कुछ भी बिगाड़ या सुधार नहीं कर सकते। यही उस पुरुष का माहात्म्य है। परस्पर विरुद्ध धर्म उसमें ही रहते हैं पर अपना कार्य करने में असमर्थ रहते हैं क्या पुरुष का माहात्म्य थोड़ा है ? इसलिये पुरुष में, परस्पर विरुद्ध धर्मों का आश्रय होना ही माहात्म्य है।

प्रपञ्च पुरुष रूप है, इसलिये हम इस बात को इस लोक में भी पा सकते हैं, पहचान सकते हैं। हम सब में काम, क्रोध, शान्ति, दया आदि परस्पर विरुद्ध अनेक धर्म सर्वदा रहते हैं। पर हम उनका प्रकाश किसी समय ही होने देते हैं यह हममें सामर्थ्य है। यही लौकिक पुरुष का भी माहात्म्य है ही। जीवन्मुक्त पुरुषों में और भी अधिक पुरुष माहात्म्य देखने में आता है। वहाँ भी काम क्रोधादि मनो धर्म रहते हैं किन्तु वे जीवन्मुक्तों की महिमा से ही इतने मृतप्राय अर्थात् नहीं जैसे रहते हैं. कि अपना कुछ भी कार्य नहीं कर सकते। प्रत्युत देखने वालों को यह मालुम देता है कि इन महात्माओं में तो ये धर्म है ही नहीं। ये माहात्म्य उन महापुरुषों का ही है कि परस्पर विरुद्ध धर्म भी अपना काम नहीं कर सकते। इसी तरह प्रपञ्च-परिछिन्न पुरुष और प्रपञ्चोंर्ह्ला अधिक पुरुष दोनों में परस्पर विरुद्ध धर्म हैं तथापि वे स्वाश्रय भेद नहीं कर सकते, और यह सामर्थ्य, यह माहात्म्य उस पुरुष का ही है। परस्पर विरुद्ध धर्माश्रयत्व ही भगवान् का माहात्म्य है।

पुरुष में नित्य सिद्ध परस्पर विरुद्ध धर्म अपना कार्य कहीं भी न कर सके, यह सिद्ध हो चुका इसलिये वे भगवन्माहात्म्य को रोक नहीं सकते। माहात्म्य का प्रतिबन्ध नहीं कर सकते। क्योंकि भगवान् के धर्म असम हैं और सर्व श्रेष्ठ हैं। वास्तव में तो देखने मात्र में विरुद्ध दिखते हैं उन धर्मों का अविरोध करने की भी अपेक्षा नहीं हैं। क्योंकि यह विरोध करने मात्र का है वास्तविक नहीं है। यदि वास्तविक होता तो उनकी (धर्मों की) एकत्र स्थिति ही न रह सकती थो। विरुद्ध धर्माश्रय होना ही भगवान् का माहात्म्य है। क्योंकि भगवान् का स्वरूप और उनके धर्म दोनों ही अलौकिक है, लोकों की ज्ञान के बाहर है अतएव यह महिमा 'दुरत्यय' कही जाती है।

कोई भी लौकिक पुरुष, इस भगवान्माहात्म्य का, बुद्धि से या क्रिया से अतिक्रमण नहीं कर सकता। अतिक्रम (पार पा जाना) तीन तरह से हो सकता है। अविरोध सिद्ध करके, एक तरह के धर्मों का निराकरण करके या उन धर्मों की देश कालादि के द्वारा व्याख्या करके। ये तीनों बात कोई भी नहीं कर सकता।

भगवान् सब कुछ है, यह बात, सद्रूप से सबकी समझ में आ रही है। घट: अस्ति, पट: अस्ति, इत्यादि रूप से सब पदार्थों में सद्रूप भगवान् का सबको ही अनुभव आ रहा है। इसलिये कहना पड़ेगा कि प्रपञ्चात्मक प्रपञ्च परिछिन्न भगवान् का सबको अनुभव हो रहा है। और प्रपञ्च से पृथक् अधिक पुरुष का भी ध्यानादि साधनों द्वारा फलरूप भगवान् का भी अनुभव सबको होता ही है। ध्यानादि के द्वारा जिसका साक्षात्कार होता है, वह फलरूप भगवान् प्रपञ्चातिरिक्त अधिक पुरुष है। इस तरह परस्पर विरुद्ध धर्म वाले पुरुष का सबको ही जब अनुभव हो रहा है तो उसका अविरोध कैसे हो सकता है। वास्तविक होने से एक तरह के धर्मों का निराकण भी कैसे हो सकता है। देशकालादि के द्वारा व्यवस्था भी कैसे हो सकती है। क्योंकि जिस समय सर्वसत्त्व का भान हो रहा है उसी समय फलरूप का भी साक्षात्कार होता है। इसलिये परस्पर विरुद्ध धर्म वाला भी भगवान् सब ज्ञानियों के अनुभव में आता है तब मानना पड़ेगा कि वह वस्तु ही वैसी है और हम जो उसके रहस्य को नहीं जान सकते हैं यह उसका माहात्म्य है। चुम्बक के सान्निधान में जड़-लोह भी सक्रिय हो जाता है, यह सबको प्रत्यक्ष है, इसमें क्या युक्ति हो सकती है। जो है सो प्रत्यक्ष है और इसमें अविरोध की अपेक्षा ही नहीं है तब हार कर मानना ही पड़ता है कि वह वस्तु ही वैसी है और वो कुछ हो रहा है वह सब उस वस्तु का माहात्म्य है। (ब्रह्मन्) यह सम्बोधन भगवान्माहात्म्य समझने की शक्ति दिखाने वाला है।

पुरुष सूक्त में तो 'एतावानस्य महिमा' 'अतोज्यायाँश्च पूरुष:' पुरुष की महिमा का इतना पन गिनाकर और कहा है कि इसलिये यह पुरुष सबसे श्रेष्ठ है। सबसे अत्यन्त ज्येष्ठ हैं। अतिशयित ज्येष्ठता या श्रेष्ठता ही दुरत्ययार्थ है। अति श्रेष्ठ का माहात्म्य पार पाने योग्य नहीं होता ॥१७॥

आभास—एवं भगवतोऽपरिच्छेदनिरूपणेन माहात्म्यं निरूप्योभयफलेशत्वं निरूपितम्। लोके तस्याऽप्रकटने कृते व्यर्थं भवेदिति तत्प्रकटनार्थं पुरुषभेदं फलभेदं च निरूपयति–

आभासार्थ—अर्थात् इस तरह 'भगवान् सर्वव्यापक है, सारे लोकों में वही समा रहा है और लोकों से बाहर भी बहुत अधिक बाकी रहता है' यह उसका माहात्म्य दिखाकर उसे लौकिक अलौकिक दोनों फलों का स्वामी कहा। भगवान् के उभयलोकेशपन को यदि अब लोक में प्रकाशित न करें तो पूर्वोक्त सब वर्णन व्यर्थ हो जावे, इसलिये उसका प्रकाश करने के लिये अब पुरुष का अवान्तर भेद और फल का भी भेद बताते हैं।

श्लोक—**पादेषु सर्वभूतानि पुंसः स्थितिपदो विदुः ।**
अमृतं क्षेममभयं त्रिमूर्ध्नोऽधायि मूर्द्धसु ।। १८ ।।

श्लोकार्थ—पृथ्वी आदि सब लोक, स्थितिपाद भगवान् के चरणों में समा रहे हैं और महर्लोक से ऊपर के लोकों में उस भगवान् के अमृत क्षेम और अभय नामक सुख समा रहे हैं। ऐसा देवर्षि मान रहे हैं ।। १८ ।।

सुबोधिनी—पादेषु सर्वभूतानीति । पादेषु भूरादिलोकेषु सर्वाणि भूतानीत्यर्थः । अनेन स्थानभेदात्फलभेदो भविष्यतीति सूचितम् । ननु सर्वावयवेषु लोकत्वनिरूपणात्कथं पादेष्वेव सर्वे लोका इत्यत आह—**पुंसः स्थितिपद इति** । तिष्ठन्त्यस्मिन्निति स्थाः भूरादिलोकाः स्थितिशब्दवाच्या भवन्ति । स्थितयः पादा यस्येति स्थितिपात् । सर्वे हि लोका अवयवा अप्यवयविनं भगवन्तं प्रति पादा एव । तत्तत्स्थानमधिष्ठाय यतो भगवांस्तिष्ठतीति । अत्र प्रमाणमाह—**विदुरिति । पादोऽस्य सर्वा भूतानी**"ति भगवन्माहात्म्यार्थं सर्वाण्यपि भूतान्येकः पाद इत्युक्तम् । अथवा । पादाः पादस्थिताः पुरुषाश्च । "तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेश" इति न्यायेन पादा एव सर्वाणि भूतानि । एकवचनं तु जात्यभिप्रायम् । एवं भगवदवयवेषु सर्वेषां जीवानां स्थितिमुक्त्वा तद्भोग्यस्य फलस्य स्थितिमाह—**अमृतमिति** । भगवति सुखचतुष्टयमस्ति । अनित्यमेकं, नित्यं त्रिविधमिति । तस्य त्रिविधस्याऽमृतं क्षेममभयमिति नामत्रयम् । तेषां स्थानमाह—**त्रिमूर्ध्नोऽधायि मूर्द्धस्विति** । त्रयाणां लोकानां मूर्द्धा महर्लोकः । तस्य मूर्द्धसु जनस्तपःसत्यलोकेषु त्रिविधमपि सुखं स्थापितमित्यर्थः । अत्रैवं व्यवस्था । त्रिलोक्यामनित्यमेव सुखम् । महर्लोकेऽपि स्थानत्यागलक्षणस्य दुःखस्य विद्यमानत्वात् । "**यान्त्यूष्मणा महर्लोकमि**"ति वाक्यात्तत्राऽप्यनित्यप्रायं सुखम् । अतो जनलोके अमृतं सुखम् । तस्य स्वरूपतः स्थानतश्च नाशभावात् । तपोलोके तु क्षेमम् । अक्षैमदर्शनाभावात् । जनलोके तु महर्लोकात्पलाय्य आगतानां दुःखितानां दर्शनरूपमक्षैमदर्शनमस्ति । जनलोकस्थितास्तु नैव तपोलोके गच्छन्तीति तत्रत्यं सुखं क्षेममेव । सत्यलोके त्वभयं सुखम् । मोक्षप्रत्यासन्नत्वात् । अतो नित्यं सुखं त्रिष्वेव लोकेषु । इदमेवाऽभयं सुखं ज्ञानिनः प्राप्नुवन्ति न्यासिनः। तदग्रे वक्ष्यते । "**त्रिपाद-स्याऽमृतं दिवी**" त्यस्याऽप्ययमेवाऽर्थः । अस्य त्रिपादमृतं दिवि । उपरितनलोकेष्वित्यर्थः। त्रिलोकपक्षाभिप्रायेण दिवीत्युक्तम् ।।१८।।

व्याख्यार्थ—भगवान् के चरणरूप पृथ्वी आदि लोकों में सब ही जगत् समा रहा है, यह पूर्वार्द्ध का तात्पर्य है। इससे स्पष्ट होता है कि स्थानों के भिन्न-भिन्न होने से फलों का भी भेद रहता है।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि पहले भगवान् के सब अङ्गों में लोकों का समावेश कह चुके है, फिर अब चरणों में ही सब लोकों की स्थिति कैसे हो सकती है? इसका उत्तर यों देते हैं कि- जहाँ सबकी स्थिति होती हो उसे 'स्था' कहते हैं इसलिये पृथ्वी आदि लोक, स्थिति शब्द से कहे जाते हैं क्योंकि वहाँ लोकों की स्थिति रहती है। ये स्थिति शब्द वाच्य सब लोक भगवान् के पाद(चरण) हैं, इसलिये भगवान् 'स्थितिपात्' कहा जाता है। यद्यपि अवयवावयविभाव को लेकर, सब लोक भगवान् ही हो गये हैं, इसलिये भगवान् अवयवी (अङ्गी) है और सब लोक अवयव (अङ्ग) ही

रहते हैं तथापि अतिशय महान् भगवान् को देखते हुए तो वे सब लोक भगवान् के चरणों में ही समा रहे हैं. इसलिये उन्हें भगवान् के 'पाद' कहें। जिस पर आधार रखकर मनुष्य ठहरा रहता है उसे पाद (पैर) कहते हैं। इस दृष्टि से कहा जाता है कि जगत् रूप भगवान् भी सब लोकों पर अपना जमाव रखकर ठहरा हुआ है इसलिये ये लोक उसके पाद(चरण)ही हैं। इस बात में वेद का प्रमाण बताते हैं—'पादोऽस्य विश्वा भूतानि' इत्यादि। अर्थात् वेद महर्षि भी ऐसा कहते हैं। इस वेद वाक्य में पादत्व समष्टि को लेकर एक वचन कहा है। अर्थात् भगवान् के एक ही चरण में सारे लोक समा रहे हैं। इस कहने से भगवान् का माहात्म्य प्रकाशित होता है। अथवा यहाँ पाद शब्द से पाद स्थित जीव लिये गये हैं। (मन्त्र वर्णात्) इस ब्रह्म सूत्र का विषय वाक्य 'पादोस्य' आदि श्रुति है। अतएव उस सूत्र में जीवों को अंश कहने के लिये पाद कहा है और यहाँ तुम पाद को लोक कहते हो, यह विरोध आता है इसलिये यहाँ पाद का, पादस्थितपुरुष अर्थ करते हैं। पैर में रही हुई रेखायें भी पैर की तरह देही के अंश ही कही जा सकती है इसी तरह पादस्थित पुरुष भी 'तत्स्थित' न्याय से भगवान् के अंश ही कहे जाते हैं। यह पदार्थ ही लोक प्रत्यक्ष से बाहर है इसलिये परोक्ष कथन है अतएव लक्षणा करने का दोष भी नहीं आ सकता "तत्स्थित पदार्थ को भी वही समझ लेते हैं" इस न्याय से प्राणी भी भगवान् के पाद हैं। यहाँ भी जाति (समष्टि) की दृष्टि से एक वचन समझना चाहिये। इस तरह भगवान् के अवयवों में सब जीवों की स्थिति कह कर अब लोकभोग्य फल की स्थिति भी भगवान् के अवयवों में ही है सो कहते हैं—'अमृत' इत्यादि। भगवान् के स्वरूप में चार प्रकार का सुख रहता है अमृत, क्षेम, अभय और लौकिक सुख। इनमें से पहले तीन नित्य सुख हैं और चौथा अनित्य है। अमृत, क्षेम, अभय ये तीन नाम नित्य सुख के हैं। जिसका नाश न हो वह अमृत। जो सदा बना रहता हो वह क्षेम, और जिसमें भय की प्राप्ति न होती हो वह अभय सुख है। इन तीनों सुखों की जगह बताते हैं—'त्रिमूर्द्धनः'। भूः भुवः स्वः इन तीनों लोकों का मस्तक महर्लोक। इस महर्लोक के भी ऊपर जनलोक है तपोलोक और सत्यलोक है। इन तीनों में पूर्वोक्त त्रिविध सुख रहता है। इनकी यह व्यवस्था है—भूर्भुवःस्वः इन तीनों लोकों में तो अनित्य ही सुख रहता है। महर्लोक में भी स्थान छोड़ना पड़ता है इसलिये दुःख का मेल है। कहा भी है कि "यान्त्यूष्मणा महर्लोकं" इस वाक्य से स्पष्ट होता है कि वहाँ अनित्य जैसा ही सुख है। इसलिये जनलोक में अमृत सुख है। पर वहाँ भी कुछ दुःख का छींटा मालूम होता है। क्योंकि महर्लोक में तपे हुए अतएव वहाँ से भाग कर आये हुये दुखियाओं का अक्षेम (दुःख) देखना पड़ता है, किन्तु जनलोक में रहने वाले तो अपना स्थान छोड़कर तप आदि में नहीं जाते इसलिये उनका सुख क्षेम रूप है और सत्य लोक में अभय सुख रहता है क्योंकि उनके पास ही मोक्ष आ गया है। अब यह सिद्ध हो गया कि इन तीन लोकों में ही नित्य सुख है। सर्व त्याग करने वाले ज्ञानी लोग इस अभय सुख को प्राप्त करते हैं, इस बात को आगे कहेंगे। 'त्रिपादस्यामृतंदिवि' इस वेदवाक्य का भी पूर्वोक्त अर्थ है। भगवान् का त्रिपाद सुख ऊपर के लोकों में रहता है। जगत में तीन ही लोक हैं, इस पक्ष को लेकर 'दिवि' शब्द कहा है ॥ १८ ॥

आभास—एतेषां सुखानां भोक्तृनाह—

आभासार्थ—इन सुखों के भोगने वालों का निरूपण करते हैं।

श्लोक—**पादास्त्रयो बहिश्चाऽऽसन्नप्रजानां य आश्रमाः ।**
अन्तस्त्रिलोक्यास्त्वपरो गृहमेधोऽबृहद्व्रतः ।। १६ ।।

श्लोकार्थ—इस भगवान् के तीन चरण (अंश) त्रिलोकी के बाहिर हैं जिन्हें प्रजाओं के ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम कहते हैं । किन्तु चिर ब्रह्मचर्यादि न रखने वाला गृहस्थी तो त्रिलोकी के अन्दर ही है और अश्रेष्ठ(साधारण)है ।।१६।।

सुबोधिनी—**पादास्त्रयो बहिश्चाऽऽसन्निति ।** चत्वारो वर्णा भगवतश्चत्वारः पादाः । यतो भगवांस्तानधितिष्ठति । तत्र त्रयः पादाः—ब्रह्मचारी, वानप्रस्थः, संन्यासी च । ते त्रयोऽपि त्रिलोक्या बहिश्चाऽऽसन् । चकारात्स्वेच्छया अन्तरपि । तेषां व्युत्क्रान्तानां त्रयाणामेकं साधर्म्यमाह—**अप्रजानां य आश्रमा इति** । न प्रजायन्ते पुत्रादिरूपेणेत्यप्रजा गृहस्थव्यतिरिक्ताः । तेषां य आश्रमाः । आश्रमधर्मत्वेन ते न प्रजायन्ते न तु वन्ध्याः । अर्थात्ते सुखत्रयस्य भोक्तारः । अनित्यसुखभोक्तारमाह – **अन्तस्त्रिलोक्यास्त्वपर इति ।** त्रिलोक्या अन्तः अपरो हीनः स गृहस्थः । गृह एव मेधा बुद्धिर्यस्येति बाह्यो दोषः । अबृहद्व्रत इत्यान्तरः । बृहत्स्थूलमूद्ध्र्वरेतोरूपं व्रतं यस्य नास्ति स तथोक्तः ।।१६।।

व्याख्यार्थ—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये चतुष्पाद ब्रह्म के चार चरण हैं । कारण कि जगत्रूप भगवान् इन पर ठहरा हुआ है । उनमें ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी ये तीन आश्रम और भी पाद हैं । ये तीनों त्रिलोकी से पृथक् हैं, थे भी। 'च' से ये तीनों चाहें तो त्रिलोकी के अन्दर भी हो सकते हैं । भौतिक शरीरों का त्याग करने के अनन्तर ये तीनों समान हो जाते हैं यह कहते हैं—'अप्रजानां' । गृहस्थ को छोड़कर ब्रह्मचारी आदि तीन आश्रम अप्रज कहे जाते हैं, क्योंकि ये तीनों पुत्रादिरूप से फिर इस लोक में पैदा नहीं होते । ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास तीन आश्रम अप्रजों के हैं । ये तीनों बांझ ही हैं, यह कहने का तात्पर्य नहीं हैं, किन्तु इनके आश्रम धर्म हो ऐसे हैं कि ये फिर इस लोक में प्रजारूप से जन्म नहीं लेते । अतएव ये तीनों नित्य सुखत्रय को भोगते हैं । अनित्य सुख भोगने वाले का निरूपण करते हैं 'अन्तस्त्रि'—त्रिलोकी के भीतर रहने वाला और उन तीनों से हलका यह गृहस्थी है । जिसकी बुद्धि सदा घर में रही है वह गृहमेध (गृहस्थ) कहा जाता है । यह बाह्य दोष है और अबृहद्व्रत' दोष आन्तर है । 'त्रिपादूर्ध्वमुदैत्पुरुषः । पादोस्येहाऽभवत्पुनः' इन श्रुतियों का अर्थ है ।। १६ ।।

आभास—एवं वर्णचतुष्टयस्य स्वरूपं फलं चोक्त्वा तेषां वैलक्षण्ये हेतुमाह—

आभासार्थ—इस तरह चारों वर्णों का स्वरूप और फल बताकर उनकी विलक्षणता कहते हैं—

श्लोक—**सृती विचक्रमे विष्वङ् साशनानशने उभे ।**
यदविद्या च विद्या च पुरुषस्तूभयाश्रयः ।। २० ।।

श्लोकार्थ—यह भगवान् साशन और अनशन दो मार्गों से चारों तरफ घूमता है। कारण कि अविद्या और विद्या दो शक्तियों ने इस भगवान् का आश्रय ले रखा है ॥ २० ॥

सुबोधिनी–**सृती विचक्रमे विष्वङ्ङिति** । न हि स्वभावत एव ते तथा जाताः । किन्तु भगवानेव मार्गद्वयेन गच्छति । तदनुरोधेन तेऽपि लोकास्तमनुगच्छन्ति । तदाह । सृती मार्गौ । विचक्रमे विशेषेणाऽऽक्रान्तवान् । विष्वङ् परितः । एकस्मिन्नपि मार्गे एकोऽप्यंशोऽनाक्रान्तो नास्तीत्यर्थः । तत्र भेदकमाह–**साशनानशने उभे इति** । एकः साशनमार्गः । अशनेन सहितं साशनं कर्मफलभोगसहितम् । एकस्त्वनशनमार्गः कर्मफलभोगरहितः । ते उभे । नत्वन्ययोरत्र निरूपणम् । ननु भगवान्किमिति मार्गद्वयेन गच्छति? तत्राऽऽह–**यदविद्या च विद्या चेति** । भगवतो गमने शक्तिद्वयमविद्या विद्या च । तत्राऽविद्या साशनमार्ग एव चलति । विद्या त्वनशनमार्गे । भगवांस्तूभयाश्रितस्तदनुरोधेनोभयत्र चलति । अन्यथा भगवच्छक्तित्वं तयोर्न स्यात् । चकारात्तत्कार्यं सामग्री च न मार्गान्तरे गच्छतीत्यर्थः ॥२०॥

व्याख्यार्थ—पूर्वोक्त चारों वर्णाश्रमस्थ जीव अपने स्वभाव से अनित्य सुख भोक्ता और नित्य सुख भोक्ता नहीं हुये किन्तु इसका कारण भी भगवान् ही हैं। भगवान् स्वयं दो मार्गों से चलते हैं। भगवान् के परवश होकर फिर जीव जात को भी उसी तरह चलना पड़ता है। यही बात कहते हैं–'सृती विचक्रमे। दोनों मार्गों को इस भगवान् ने चारों तरफ से एकदम आक्रमण कर रखा है। किसी एक मार्ग का एक भी अंश ऐसा नहीं है जिसे भगवान् ने दबा न रखा हो। ये मार्ग दो क्यों हो गये? इसका कारण बताते हैं 'साशना' एक मार्ग साशन है। अर्थात् इस मार्ग में कर्म फलों का भोग करना पड़ता है। और दूसरा मार्ग अनशन है। इस मार्ग में कर्म के फल भोगने नहीं पड़ते। इनसे पृथक् मार्ग का यहाँ निरूपण नहीं है।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि भगवान् इन मार्गों से क्यों जाता है? इसका उत्तर देते हैं कि—'यदविद्या' भगवान् ने इस तरह गमन में अविद्या और विद्या अपनी शक्तियों को आश्रय दे रखा है यही कारण है। अविद्या साशन (कर्म भोग सहित) मार्ग में ही चलती है। और विद्या अनशन (कर्म भोग रहित) मार्ग में चलती है। दोनों भगवान् (पुरुष) की शक्ति हैं और दोनों को भगवान् ने आसरा दे रखा है। इसलिये अपनी शक्तियों का अनुरोध मानकर भगवान् को भी दोनों मार्गों में वैसे चलना होता है अन्यथा वे भगवच्छक्ति न कहलावे।

श्लोक में दो 'च' है उनका यह तात्पर्य है कि दोनों मार्ग की अपनी-अपनी सामग्री और अपने-अपने कार्य एक दूसरे में नहीं जाते। पृथक्-पृथक् रहते हैं।

इस श्लोक में 'ततो विश्वं व्यक्रामत् साशनानशने अभि' इस श्रुति का विवरण किया है ॥ २० ॥

आभास—एवं मार्गभेदेन भोक्तृभेदात्फलभेदं निरूप्य, तस्मात्पुरुषादयं विराट्पुरुषो भिन्न इति वक्तुं तत उत्पन्नत्वमाह–

आभासार्थ—इस तरह मार्गों के भेद से भोक्ताओं का और फलों का भेद हो जाता है। यह कहकर अब इस भगवान् 'पुरुष' से यह विराट् पुरुष (जगत्रूप) भिन्न है यह दिखाने के लिये उस पुरुष से इस विराट् पुरुष की उत्पत्ति दिखाते हैं—

श्लोक—**तस्मादण्डं विराट् जज्ञे भूतेन्द्रियगुणात्मकः ।**
तद्द्रव्यमत्यगाद्विश्वं गोभिः सूर्य इवाऽतपन् ।। २१ ।।

श्लोकार्थ—उस पुरुष से भूत, इन्द्रिय और गुणवाला यह विराट् जगत् पुरुष पैदा हुआ। इसने भी द्रव्य रूप विश्व का अतिक्रमण कर लिया और सूर्य की तरह अपने प्रकाश से सब को तपा दिया ।। २१ ।।

सुबोधिनी—**तस्मादिति**। तस्मात्परमपुरुषान्नारायणादण्डं ब्रह्माण्डं जातम्। तस्मादधिदैवादिदमाध्यात्मिकमण्डं जातमित्यर्थः। तस्माद्दण्डाद्विराट् जज्ञे। स च भूतेन्द्रियगुणात्मकः। भूतान्यधिभूतं द्रव्यम्। इन्द्रियाण्यध्यात्मम्। गुणा अधिदैवमिति। अथवा। महाभूतानि, न्द्रियाणि, शब्दादयश्च विषयाः। शरीरेन्द्रियैर्विषयभोगकर्त्तेत्यर्थः। सोऽपि पितृवदाक्रमणं कृतवानित्याह-**तद्द्रव्यमत्यगादिति**। तद्विश्वात्मकं द्रव्यं ब्रह्माण्डरूपं स्वशरीरमत्यगात्। अतिक्रम्य दशाङ्गुलवृद्ध्या स्थित इत्यर्थः। न केवलमपरिच्छेदसाम्यं किन्तु स्वप्रकाशकमपीत्याह-**गोभिः सूर्य इवाऽतपन्निति**। गोभिः स्वकिरणैर्यथा सूर्यः स्वधिष्ण्यमपि तपति बहिरपि, तद्वत् अयमपि स्वशरीरं बहिरपि प्रकाशितवानित्यर्थः ।।२१।।

व्याख्यार्थ—उस (परम पुरुष)[1] नारायण से यह ब्रह्माण्ड रूप अंडा पैदा हुआ अर्थात् उस आधिदैविक जगत्रूप पुरुष से यह आध्यात्मिक जगत् रूप अंडा बना और उससे फिर ये भूतेन्द्रिय गुण वाला (आधिभौतिक) विराट् (सृष्टि जगत्) पैदा हुआ। अर्थात् उस आध्यात्मिक अंड में ही भूत आधिभूत द्रव्य (पृथ्वी आदि) इन्द्रिय-अध्यात्म(श्रोत्रादि) पदार्थ और गुण दश देवादिक पदार्थ प्रकाशित हुये। अथवा कर्मफल भोक्तृ रूप का भी यहाँ वर्णन करता है, इसलिये रूपान्तर कहने के लिये दूसरा अर्थ करते हैं—भूत पंचमहाभूत (आँखों दीखते (आकाशादि), गोलक सहित नेत्र आदि इन्द्रिय और गुण अर्थात् शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श ये पाँच विषय भी इस विराट् में प्रकट हुए। यह विराट्, शरीर इन्द्रियों से विषय भोग कर्त्ता हो गया।

इस विराट् जगत् के पुरुष ने भी अपने पिता (आधिदैविक पुरुष) की तरह इस विराट् का आक्रमण किया सो कहते हैं—'तद्द्रव्यं'। यह पुरुष भी उस विराट् द्रव्यादि अंड रूप अपने शरीर

---

१ यहाँ परम पुरुष शब्द से श्री कृष्ण, पुरुषोत्तम या अक्षर ब्रह्म नहीं लेना किन्तु अक्षर का प्रथम अंश केवल ज्ञानरूप पुरुष लेना। जिसके सहयोग से प्रकृति, आध्यात्मिक आधिभौतिक अंडों को तैयार करती है। वास्तव में छः पुरुष हैं। उनमें से यह ज्ञान समष्टि पुरुष चतुर्थ हैं। दे. र. शा.

को भरकर बाहर भी निकल गया। अर्थात् भीतर से सबमें समाकर ब्रह्माण्ड के बाहर भी दशांगुल बढ़कर स्थित हुआ। केवल व्यापकता में ही बराबरी की, सो नहीं किन्तु अपने पिता की प्रकाशता की भी बराबरी की, सो कहते हैं—'गोभिः सूर्य इव'। जैसे सूर्य अपने किरणों से अपने मण्डल को और बाहर भी सब अन्य पदार्थों को तपाता है। इसी तरह इस पुरुष ने भी इस अपने शरीर रूप विराट् को भीतर से तपाकर बाहर से भी प्रकाशित कर दिया।

इस श्लोक में 'तस्माद्विराड जायत' आदि श्रुति का विवरण किया है ॥ २१ ॥

आभास—एवं द्विविधं विश्वं प्रतिपाद्य, नियम्यनियामकभावार्थं पुरुषद्वयं च प्रतिपाद्य, अमूर्त्तानां समागममुक्त्वा, यज्ञरूपस्याऽपि भगवतः सर्वपदार्थसम्बन्धश्रवणात्तत्-साधनभूतानां पदार्थानां भगवद्भिन्नत्वे पूर्वोक्तसर्वत्वं विरुध्येतेत्याशङ्क्य, तदीयपदार्थानामपि भगवानेव'तत्त्वमित्याह—

आभासार्थ—इस तरह अण्डात्मक (आध्यात्मिक) और विराट्रूप (आधिभौतिक) द्विविध जगत् का निरूपण करके और नियम्य नियामक भाव स्पष्ट हो जावे इसलिये विराट् पुरुष और अतिरिक्त (बाहर भी फैला हुआ है) पुरुष दोनों का भी निरूपण करके नित्यपरिच्छिन्न किन्तु आधिदैविक वाणी आदि के अभिमानी जीवों का मूर्त-परिच्छिन्न पदार्थों के साथ समागम भी कह दिया। ऐसी अवस्था में यज्ञरूप भगवान् का जो सब ही पदार्थों के साथ सम्बन्ध श्रुतिशास्त्रों में सुना जाता है वह, यज्ञसाधन पदार्थों को भगवान् से भिन्न मानने में विरुद्ध होता है और पूर्व में कहा हुआ भगवान् का सर्वरूप हो जाना भी विरूद्ध पड़ता है इसलिये यज्ञीय पदार्थों का भी वस्तु-तत्त्व भगवान् ही है, यह कहते हैं—

श्लोक—**यदाऽस्य नाभ्यान्नलिनादहमासं महात्मनः।**
नाऽविदं यज्ञसम्भारान् पुरुषावयवादृते ॥ २२ ॥

श्लोकार्थ—ब्रह्माजी नारद से कह रहे हैं कि जब मैं इस महात्मा भगवान् के नाभि संभूत कमल में से पैदा हुआ तब मुझे इस भगवान् के अंगों के सिवा कोई भी यज्ञ की सामग्री न मिली। सब ही यज्ञ संभारो को भगवदवयव पाया ॥ २२ ॥

सुबोधिनी—**यदाऽस्य नाभ्यान्नलिनादिति**। यदैतन्न निरूप्यते तदा जैमिनिसिद्धान्तन्यायेन पदार्थक्लृप्तौ पूर्वोक्तभगवत्स्वरूपवाचकानां वाक्यानामर्थवादत्वं स्यात्। अतो महता कष्टेन निरूपितमप्यनिरूपितं भवेत्। तस्माद्यज्ञोपयोगिपदार्थानां भगवदवयवत्वं निरूपयति। तत्र ब्रह्मा स्वयमाह—यदा अहं (?) अस्य नाभ्याः यन्नलिनं कमलं तस्मादहमासम्, तदा मया विचारितमयमाराधनीय इति। यतोऽयं महान्। महानात्मा स्वरूपमन्तःकरणं वा यस्य। अयं ह्याराधितो महत्फलं दास्यतीति। तदा केनाऽऽराधनीय इति जिज्ञासायां योगजधर्मेण यज्ञमपश्यम्। स कथं कर्त्तव्य इत्याकाङ्क्षायां वेदपर्यालोचनेन सम्भारैः पशुपुरोडाशादिभिः कर्त्तव्य इति ज्ञातम्। तत्र क्व ते पशुपुरोडाशादय इति जिज्ञासायां यद्योगजधर्मेण ज्ञातवांस्तदाह—**नाऽविदं यज्ञसम्भारा-**

निति । पुरुषावयवव्यतिरेकेण अहं यज्ञस्य सम्भारान्नाऽविदं न ज्ञातवानस्मि । तदा स एव पुरुषो यज्ञरूपेण प्रादुर्भूत इत्यर्थः। अनेन साधन-रूपः स इत्युक्तं भवति ।।२२।।

व्याख्यार्थ—जैमिनी के मत में कुश सत्तुक आदि वैदिक पदों का भी दृष्ट ही अर्थ है । अतीन्द्रिय नहीं । ऐसी अवस्था में यदि यज्ञीय सब ही पदार्थों का भगवद्रूप न कहा जाय तो वेद में जो पदार्थों को भगवद्रूपता (पुरुष एवेदं सर्वम्) कही गई है उसको मीमांसकों की तरह अर्थवाद (केवल स्तुति) ही मानना पड़ेगा, किन्तु यह बात सिद्धान्त नहीं है । ऐसा मानने से उस वेद भाग को अप्रामाण्य हो जायगा । कहने का तात्पर्य यह है कि इस इष्टि की दृष्टि में कुश, यव, तिल, घृत आदि द्रव्यों से यज्ञ सिद्ध किया जाता है । ऐसी अवस्था में यदि उनका प्रोक्षणादि न किया जाय और द्रव्य देवता स्मारक मन्त्र और प्रोक्षणादि के मन्त्र न बोले जाय तो यज्ञ होने में कोई भी हानि नहीं हो सकती, तो फिर वेद में पदार्थों का प्रोक्षणादि और उनके मन्त्र क्यों कहे गये ? कहे तो गये हैं-इससे सिद्ध है कि उन पदार्थों के भीतर कोई अतीन्द्रिय अलौकिक पदार्थ है जिनका कि स्मरण मन्त्र कराते हैं । यदि कोई कहे कि जैसे मीमांसक लोग अपूर्व को जन्य (अनित्य) मानते हैं इसी तरह पदार्थों में समाया हुआ और तैयार किया जाता पदार्थांतर भी जन्य ही है तो फिर इस युक्ति से तो यज्ञ को भी जन्य अनित्य मानना पड़ेगा । ऐसी अवस्था में वेद में 'यज्ञो वै विष्णुः' जो यज्ञ को बिष्णु (अतीन्द्रिय-अलौकिक) कहा है वह झूठा हो जावेगा, सो हो नहीं सकता । वेद ने जो अक्षर कहे हैं वे उसी रूप में सत्य हैं, ठीक हैं । तदनुसार ही हम अपना मत ठहरा सकते हैं, अन्यथा नहीं । इसलिये यज्ञ की विष्णुत्व श्रुति से यज्ञ और उसके साधन नित्य और अलौकिक हैं यह सिद्ध होता है । इस वैदिक सिद्धान्त में, यज्ञ सिद्ध पदार्थ है और क्रिया मंत्रादि के द्वारा उसका आविर्भाव मात्र होता है । अब यदि यज्ञीय पदार्थ भिन्न माने जावें तो 'सर्वं पुरुष एवेदं यद्भूतं यच्च भव्यं' इत्यादि वेद वाक्यों से कहा गया पुरुष का ही सर्वरूप हो जाना विरुद्ध हो जायगा । बड़े समारोह से कही बात भी नहीं जैसी हो जाती है ।

इसलिये अब ब्रह्माजी यज्ञोपयोगी पदार्थों को भगवदवयव कह रहे हैं—'यदास्य' । जब मैं इन भगवान् के नाभिस्थ कमल में से पैदा हुआ तब मेरे मन में आया कि मैं इन भगवान् को आराधना करूं क्योंकि यह सबसे बड़ा है । अन्तःकरण किंवा स्वरूप जिसका महान् हो वह महात्मा । अतएव यदि मैं इसकी आराधना करूंगा, तो यह मुझे महत्फल देगा । अब मुझे यह जिज्ञासा हुई कि कौन से साधन से इन भगवान् की आराधना करूं? यह जिज्ञासा होते ही मैंने अपनी योगशक्ति के द्वारा यज्ञ का दर्शन किया । अब यज्ञ भी कैसे करना यह जब विचार हुआ तब मैंने भगवद्दत्त वेदों का विचार किया । वेदों के द्वारा यह मालूम हुआ कि पशु पुरोड़ाश मन्त्र आदि सामग्रियों से यज्ञ का सम्पादन हो सकता है फिर भी ये पशु पुरोड़ाशादि सामग्री कहाँ है, यह जिज्ञासा होने पर मैंने अपने योगज प्रत्यक्ष से जो कुछ देखा सो कहता हूँ— 'नाविदं यज्ञः' । उस समय मैंने सब ही सामग्रियों को पुरुष के अवयव रूप देखी । भगवान् के अंगों के सिवाय कहीं भी कुछ भी सामग्री न देखी । वह मूल यज्ञ पुरुष ही मेरे सामने यज्ञरूप से उस समय प्रकट हुआ । इससे स्पष्ट होता है कि पुरुष ही साधनरूप भी है ।। २२ ।।

आभास—तत्र के के सम्भारास्तेष्ववयवेषु दृष्टा इत्याकांक्षायामाह—

आभासार्थ—अर्थात् उन भगवान् के अवयवों में कौन-कौनसी साधन सामग्री देखी यह आकांक्षा हुई तो उसकी पूर्ति में कहते हैं कि—

श्लोक—**तेषु यज्ञस्य पशवः सवनस्पतयः कुशाः ।**
इदं च देवयजनं कालश्चोरुगुणान्वितः ।। २३ ।।

वस्तून्योषधयः स्नेहा रसलोहमृदो जलम् ।
ऋचो यजूंषि सामानि चातुर्होत्रं च सत्तम ।। २४ ।।

नामधेयानि मन्त्राश्च दक्षिणाश्च व्रतानि च ।
देवतानुक्रमः कल्पः संकल्पः सूत्रमेव च ।। २५ ।।

गतयो मतयश्चैव प्रायश्चित्तं समर्पणम् ।
पुरुषावयवैरेते सम्भाराः सम्भृता मया ।। २६ ।।

श्लोकार्थ—उसमें यज्ञ के पशु वनस्पनियों के साथ दर्भ, देवयजन की भूमि उत्तम गुण वाला काल, वस्तु, औषधियाँ स्नेह (घी इत्यादि) रस, पत्थर, मिट्टी, जल, ऋगवेद, यजुर्वेद, सामवेद हैं। हे सत्तमे ! उसके स्वरूप में चातुर्होत्र नामधेय, मन्त्र दक्षिणा-व्रत, देवताओं का अनुक्रम, यज्ञ करने के कल्प सूत्रादि, ग्रन्थ संकल्प, सूत्र, गति, बुद्धि, प्रायश्चित, समर्पण इन सब यज्ञ के उपयोगी पदार्थों में पुरुष के अवयवों में से लिए ।।२३-२६।।

यहाँ कुछ यज्ञीय विषय का परिचय दे देना उचित मालूम पड़ता है। यज्ञ भगवान् की आराधना को कहते हैं। समरिकर भगवान् की आराधना ही यज्ञ है, यह यज्ञ ५ प्रकार का है–अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास, निरूढ पशु, और सोम। इनकी भी तीन संस्थायें हैं–पाक यज्ञ संस्था, हविर्यज्ञ संस्था और सोम यज्ञ संस्था। इन तीनों संस्थाओं में फिर सात-सात विभाग हैं इस तरह यह यज्ञ २१ प्रकार का होता है। इनके सिवाय अग्नि चयन आदि और भी हैं, जिन द्रव्यों की अग्नि में आहुति दी जाती है उनको 'हविः' (होमने योग्य द्रव्य)कहा गया है। इसके तीन विभाग हैं। औषधि, पशु और सोम। औषधि १२ प्रकार की, पशु १० प्रकार का और सोम एक प्रकार का। तन्दुल यवागू लाज औषधि। दूध, दही, वसा आदि पशु द्रव्य। कड़छी आदि की तरह होम के साधन पात्र आदि यज्ञायुद्ध कहे जाते हैं। ये यज्ञायुध दश हैं—सफा, कपाल, अग्नि होत्र–हवणी, शूर्प, कृष्णाजिन, शम्या, ऊखल,

मुसल, लोढ़ी, सिल । इनके सिवा स्रुक, स्रुवा, जुहू, उपभृत् और ध्रुवा ये और भी हैं । स्रुवा खदिर की, जुहू पलाश की, उपभृत पीपल की और ध्रुवा कंकत (वहेरणा) की होती हैं ।

आहवनीय दक्षिणाग्नि और गार्हपत्य ये अग्निवेदी किंवा अग्नि है । पुरोडाश को फैलाने के लिये घट के टुकड़ों के कपाल बनाये जाते हैं । ये अष्टाकपाल और एकादश कपाल कहे जाते हैं । इनका निर्माण इस तरह से किया जाता है कि नीचे की भूमि दीखने नहीं पाती । अग्निहोत्र यज्ञ, प्रति दिन सायं प्रातः करने में आता है। दश पूर्णमास क्रम से अमावस्या और पूर्णिमा को किये जाते हैं । चातुर्मास्य याग चार महिनों में किया जाता है । निरूढ़ पशु छटे महिने किया जाता है और सोम या अग्निष्ठोम प्रति वर्ष करने में आता है । अग्निष्ठोम आदि यज्ञों में सब मिलाकर १६ ऋत्विक् यज्ञ कार्य निर्वाहक वैदिक ब्राह्मण होते हैं । इनमें अध्वर्यु होता उद्गाता और ब्रह्मा ये चार ऋत्विक् प्रधान होते हैं और फिर अध्वर्यु के अधीन, प्रति प्रस्थाता, नेष्टा और उन्नेता ये तीन ऋत्विक् अप्रधान और हैं । होता के अधीन, मैत्रावरुण, ऐच्छावाक और ग्रावस्तुत् । उद्गाता के अधीन प्रस्तोता प्रतिहर्ता और सुब्रह्मण्य । और ब्रह्मा के अधीन ब्राह्मणाच्छशी, आग्नीध्र और पोता ये तीन ऋत्विक होते हैं । होता ऋक मंत्रों के द्वारा वेद स्तुति करता है उन्हें आह्वान करता है । अध्वर्यु यजुर्वेद से सर्व कर्म करता है । उद्गाता सामवेद से गान करता है और ब्रह्मा पूर्वोक्त वेदत्रयी से सर्व कर्म का निरीक्षण करता है ।

सुबोधिनी—तेष्विति । तेष्ववयवेषु यज्ञस्य सम्बन्धिनः पशवः अजादयः । सवनस्पतयो वनस्पतिसहिता यूपसहिताः । सवनस्पतयः कुशा इति वा सम्बन्धः । तदा वनस्पतयोऽश्वत्थादयः । कुशा बर्हीरूपाः । इदं च देवयजनम् । देवा इज्यन्ते अस्मिन्निति यज्ञभूमिर्देवयजनम् । इदमित्यंगुल्या प्रदर्शितम् । अनेन यज्ञभूमौ स्थित्वा भागवतं कथयतीति ज्ञापितम् । चकाराद्देवयजनान्तरमपि । कालो वसन्तादिः चकाराद्योगविशेषो नैमित्तकः । **उरुगुणान्वित इति । यदि तस्मिन्काले सूर्योनाऽऽविः स्यात्—पुरस्ताच्चन्द्रमा अभ्युदियात्—सस्यसम्पत्तिर्भवेत्** । अन्येऽपि गुणाः कालस्यः बहवो वेदे उक्ताः । स उरुगुणान्वितः कालः । वस्तूनि पात्रादीनि । ओषधयो व्रीहियवादयः । स्नेहा घृतादयः । रसा दधिमध्वादयः । लोहाः स्वाधित्यादयः । मृदो महावीराद्यर्थाः । जलं वसतीवरीप्रभृतयः । ऋचो यजूंषि सामानि वेदत्रयमन्त्राः । चातुर्होत्रं होत्रादिचतुर्गुणसाध्यं कर्म । चतुर्होतृनिदानकं वा । अत्र **सत्तमेति** सम्बोधनमुक्तार्थविश्वासाय । नामधेयानि ज्योतिष्टोमादीनि । मन्त्राः स्वाहाकारादयः । चकारान्निगदाः । दक्षिणा गावः । चकाराद्वराः व्रतानि दीक्षादयः । चकारान्मांसभक्षणादिनिषेधादयः । देवतानुक्रम इज्यानां देवतानामानुपूर्वी आग्नेयः कृष्णग्रीव इत्यादिरूपा । कल्पः कल्पसूत्रम् । सङ्कल्पः कामनाविषयः । सूत्रं न्यायसूत्रम् ।

पद्धतिर्वा । गतयो विष्णुक्रमाद्याः । मतयो देवताध्यानानि । चकारादाचतुर्थात्कर्मणोऽभिसमीक्षणादि । प्रायश्चित्तं अनाज्ञातमित्यादि । समर्पणं संस्था । निवेदनं वा । एतावन्तो हि यज्ञे सम्भाराः । ते पुरुषावयवैरेव कृता इत्याह—

पुरुषावयवैरिति । अत्राऽवयवादिव्यवस्था तृतीयस्कन्धे वक्ष्यते । एते सम्भाराः पुरुषावयवैरेव सम्भृताः । मयेति साधारणाधिकारिणा नैवं कर्त्तुं शक्यत इति सूचितम् ।।२३।।२४।।२५।२६

व्याख्यार्थ—भगवान् के उन अवयवों में, मैंने यज्ञ से सम्बन्ध रखने वाले बकरे, घोड़े, प्रभृति, पशु यूप (यज्ञस्तम्भ) सहित अश्वत्थ आदि वृक्ष तथा असंस्कृत दर्भादि, जहाँ देवों की आराधना की जा सकती हो । वैसी यह यज्ञभूमि 'इदं' शब्द कहकर ब्रह्माजी भूमि को प्रत्यक्ष दिखा रहे हैं इससे स्पष्ट होता है कि यज्ञ भूमि पर बैठकर ही नारद को भागवत सुना रहे हैं । 'च' से और भी यज्ञ-भूमि ले लेनी चाहिये । वसंत आदि काल 'च' से व्यतीपात आदि योग विशेष भी और वह काल भी यज्ञ के अनुकूल गुण सम्पन्न । जिसकी स्तुति में पूर्वोक्त श्रुति कही गई है । काल के और भी बहुत से गुण वेद में कहे गये हैं । उन सब गुणों से युक्त काल को भी मैंने भगवान् में ही देखा ।

यज्ञ मात्र आदि वस्तु धान, यव आदि औषधियें, घृत आदि स्नेह । दही मधु आदि रस, काटने की स्वधिति आदि लोह धर्म पात्रादि बनाने के लिये मृत्तिका, वसतीवरी आदि अभिमंत्रित जल, यजुः साम आदि तीनों वेदों के मन्त्र, होता आदि चार प्रधान ऋत्विकों से किया जाता यज्ञ सम्बन्धी कर्म अथवा 'पृथिवी होता' इत्यादि चतुर्होतारव्य मंत्र यज्ञ का निदान । यहाँ 'सत्तम' । यह सम्बोधन, नारद की विश्वास योग्यता दिखाने के लिये कहा है । अग्निहोत्र चातुर्मास्य अग्निष्टोम आदि यज्ञों के नाम । स्वाहामारादिसहित विशेषमन्त्र और चकार से साधारण मंत्र निगद । गौ आदि दक्षिणा (देने की) । चकार से और भी वर (मनोरथ दान) दीक्षा आदि व्रत । चकार से मांस भक्षण आदि निषेध भी । देवतानुक्रम अर्थात् आग्नेय देवता के अनन्तर कृष्णग्रीव इत्यादि पूज्य देवताओं का क्रम । कल्पसूत्र नामक कल्प । जो सूत्र यज्ञ पद्धति में सहायक होते हैं । कामना के विषय नाना मनोरथ । विचार सूत्र (मीमांसा) अथवा यज्ञ करने की पद्धति । गति विष्णु-क्रमादि । देवताओं के ध्यान रूप मति । चकार से कर्म का निरीक्षण । अनाज्ञातादि प्रायश्चित्त । समर्पण अर्थात् समाप्ति किंवा यज्ञ कर्म का समर्पण (निवेदन) ।-ये सब यज्ञ की सामग्रियाँ हैं । ये सब सामग्रियाँ मैंने यज्ञ भगवान् के अवयव (श्री अंगों) से ही तैयार की । 'मया' शब्द ब्रह्माजी ने इसलिये कहा कि साधारण अधिकारी तो इतना ज्ञान सम्पन्न न होने से इस तरह नहीं कर सकता । केवल मैं ही जान सका कि ये सब पदार्थ तो भगवान्मय हैं । भगवदवयव है तो अगत्या अब इनसे यज्ञ का सम्पादन करना उचित है। इस तरह करने में मेरी ही शक्ति हुई, अन्य की नहीं हो सकती ।। २३ ।। २४ ।। २५ ।। २६ ।।

आभास—ततः किमत आह—

आभासार्थ— तो फिर तदनन्तर क्या किया सो कहते हैं—

श्लोक—**इति सम्भृतसम्भारः पुरुषावयवैरहम् ।**
तमेव पुरुषं यज्ञं तेनैवाऽयजमीश्वरम् ।।२७।।

श्लोकार्थ—इस प्रकार यज्ञ के उपयोगी पदार्थों को एकत्रित करके जो पुरुष के अंग में से वे पदार्थ लिये वह यज्ञरूप पुरुष ईश्वर है, उसका उन पदार्थों से यजन किया ।२७।

यज्ञ वास्तव में आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक तीन प्रकार का है । जो यज्ञ विधिपूर्वक भगवद्भक्ति के द्वारा भगवदवयवों का आविर्भाव करके उन भगवदवयव रूपी कुशादि पदार्थों से भगवान् के लिये ही ज्ञान सहित किया जाता है वह आधिदैविक यज्ञ है, उत्तम है । और जो मध्यमाधिकारी ब्रह्मज्ञान रहित सब पदार्थों को ब्रह्ममय देखता है, यज्ञ के लिये ही यज्ञ करता है, और करने के बाद भगवान् के अर्पण करता है वह कत्वर्थ यज्ञ आध्यात्मिक यज्ञ कहा जाता है । कनिष्ठाधिकारी सब पदार्थों का यथार्थज्ञान न होने से पदार्थों को भगवदवयव न समझ कर अपने लिये यज्ञ करता है, यह यज्ञ आधिभौतिक यज्ञ कहलाता है उसका फल भगवान् नहीं ग्रहण करता । उस यज्ञ का फल उस कर्ता को ही स्वर्गादि लोक रूप में मिलता है ।

अब चौथा एक यज्ञ और भी है, जो निकृष्टतम केवल लौकिक अधिकारी पदार्थों को केवल लौकिकाग्नि आदि के रूप में ग्रहण कर अज्ञान से कीर्ति आदि लौकिक कामना से अविधिपूर्वक यज्ञ करता है उसको कुछ भी फल नहीं मिलता है; कदाचित् काकतालीय से फल हो भी जाय तो वह फल कीर्ति आदि उसी को मिलता है और संसार होने से निकृष्ट है ।

सुबोधिनी—इति सम्भृतसम्भार इति । इत्यमुना प्रकारेण पुरुषावयवैरेव सम्भृतसम्भारो भूत्वा तेन यज्ञेन तमेव पुरुषमयजम् । फलार्थं न यागः किन्त्वीश्वरार्थमिति । तदाह—**ईश्वरमिति** । यथा मया यागः कृत एवमेव करणमुचितम् । यज्ञीयान्पदार्थान् भक्त्या भगवदवयवाविर्भावं कृत्वा तत उत्पाद्य भगवत्प्रीत्यर्थमेव तैर्भगवत्कर्मकरणम् । भगवतो ह्यस्ति किञ्चित्कार्यं स्वार्थम् । यथा पुरुषस्य स्वप्रयोजनार्थं सर्वाणि कर्माणि तथा भगवतः प्रयोजनार्थं सर्वे यागाः । ततश्च ते यदि भगवदवयवैरेवोत्पादितैः पश्वादिभिर्भगवत्कार्यं कुर्युस्तदा भगवदर्थं तत्फलं भवति । नाऽन्यथा । यद्यपि लौकिका अपि पदार्थास्तथैवोत्पन्नास्तथापि ते सर्वार्था इति नैकान्ततो यागफलसाधकत्वम् । मध्यमाधिकारिणस्तु यज्ञार्थमेव तथा ज्ञात्वा तान्पदार्थान् सम्पाद्य यज्ञकरणे फलं भवति । परं तत्फलं समर्पणीयम् । यदा पुनस्तथा अज्ञानात्तैः पदार्थैर्यागं करोति तदा तत्फलं भगवान्न गृह्णाति । नह्यन्यदीयैः कृतं भगवान् गृह्णाति । यत्पुनर्यागार्थमेव न पदार्थाः सम्पादिताः किन्तु साधारणास्ते । तैस्तु फलमेव नोत्पद्यते । उत्पद्यमानं वा काकतालीयन्यायेनोत्पद्यते चेत्ते पदार्थास्तदर्थं भवेयुः । एवं यागश्चतुर्द्धा निष्पद्यते-उत्तम-मध्यम-निकृष्ट-निष्फलभेदेन । तत्र पशवो भगवत ऊरुदेशादुत्पन्नाः । लोमभ्यो वृक्षाः स्वेदसहितेभ्यः कुशाः । देवयजनं पद्भ्याम् । कालः पक्ष्मभ्यः । वस्तून्योष्ठादिभिः । स्नेहा दृष्टया । रसा जिह्वातः । मृदो घ्राणात् । जलानि नाडीभ्यः । ऋचो यजूंषि सामानि कर्णाभ्यां मस्तकाच्च । चातुर्होत्रं कर्म बाहुभ्यः । नामधेयानि मुखात् । मन्त्राश्च शिरोऽवयवेभ्यः । दक्षिणा गावो वामोरुप्रदेशात् । व्रतानि मनसः ।

देवताऽनुक्रमः पर्वभ्यः । कल्पो बलात् । सङ्कल्पो बुद्धेः । सूत्रं प्राणात् । विहारयोगरूपं वा । गतयो विक्रमात् । मतयो ज्ञानेन्द्रियेभ्यः । प्रायश्चित्तं कर्मेन्द्रियेभ्यः । समर्पणमात्मनः । अन्येऽपि यज्ञियाः पदार्था यथायथमूह्याः । अत एव वेदे सर्वे यज्ञियाः पदार्था भक्तिमद्भिः साक्षात्क्रियन्ते । पश्चात्ततोऽवयवात्तेषां पदार्थानामाहरणं क्रियते। तदनन्तरं यागः । अन्यथा-अपश्यत्, आहरत्, अयजतेति वैयर्थ्यापत्तिः ॥२७॥

व्याख्यार्थ—इस तरह पुरुष के अवयवों से यज्ञ की सब सामग्रियाँ तैयार करके और उन सामग्रियों से उन्हीं यज्ञ भगवान् की मैंने आराधना की । यह यज्ञ मैंने अन्य फल के लिये नहीं किया था किन्तु ईश्वरार्थ ही किया था । इसलिये पुरुष के साथ ईश्वर विशेषण दिया । अ राधन करने के विचार समय में यद्यपि फलाकांक्षा हुई थी पर जब मैंने सब कुछ भगवान् ही भगवान् देखा तब आराधन करने की अवस्था में वह फलाकांक्षा निवृत्त हो गई । इस प्रकार किया हुआ यज्ञ हो मुख्य आधिदैविक यज्ञ होता है । इस बात को स्पष्ट करने के लिये कहते हैं—यथा । जिस प्रकार से मैंने यज्ञ किया उसी प्रकार से अन्य कर्त्ताओं को भी करना उचित है ।

भक्ति के द्वारा भगवान् के श्रीअंगों का हृदय में प्रादुर्भाव करके और फिर उनमें यज्ञ के काम में आने वाले सब पदार्थों की उत्पत्ति मानकर केवल भगवान् को प्रसन्न करने के लिये ही भगवत्कर्मों को (यज्ञों को) करना चाहिये । भगवान् को भी अपने लिये कुछ कार्य रहता है । जिस तरह मनुष्य को सब काम अपने लिये हैं इसी तरह भगवान् को अपने लिये सब ही यज्ञ हैं । ऐसी अवस्था में यदि वे सब यज्ञ भगवान् के ही श्रीअंगों से तैयार की हुई पशु आदि सामग्री से ही उत्पन्न करके किये जावे तो फिर उसका फल भगवान् के लिये सम्पन्न हो सकता है । अन्यथा नहीं । यद्यपि लौकिक कुश काश आदि पदार्थ भी भगवान् के अवयवों से ही उत्पन्न हुये हैं तथापि वे सब जगद्वर्ती सब पुरुषों के काम में आने के लिये उत्पन्न किये गये हैं इसलिये उनसे मुख्य यज्ञ का फल नहीं हो सकता । यहाँ तक उत्तमाधिकारी के किये हुये यज्ञ का स्वरूप कहा—

अब मध्यमाधिकारिकृत यज्ञ का स्वरूप कहते हैं। मध्यमाधिकारी का किया हुआ यज्ञ, यदि यज्ञ कर्म के लिये ही उन पदार्थों को यज्ञरूप समझकर उस सम्पादित सामग्री से यज्ञ किया जाय तो उसका फल होता है, पर उस फल का समर्पण फिर भी भगवान् के लिये ही करना चाहिये ।

अब तृतीयाधिकारी यज्ञीय पदार्थों को भगवदवयव नहीं जानता तथापि उन पदार्थों से यज्ञ का सम्पादन करता है । तब भगवान् उस यज्ञ के फल का ग्रहण नहीं करता । वह यज्ञ भगवत्कार्य भी भगवत्फलक नहीं होता । और यदि लौकिक चतुर्थाधिकारी, जो पदार्थ यज्ञ के लिए पैदा नहीं किये गये हैं, अर्थात् जो सब दुनियाँ के लिये पैदा किये हैं, उन पदार्थों से यज्ञ करता है । उन पदार्थों से किये यज्ञ का तो कोई फल नहीं होता । यदि कभी हो भी जाय तो वे पदार्थ उसके लिये हुए इस लिये वह फल भी संसाररूपी उसका ही होगा । इस तरह उत्तम-मध्यम निकृष्ट और निष्फल भेद चार प्रकारों से यज्ञ तैयार होता है । यज्ञ के लिये ही जो यज्ञ होता है इसका यह तात्पर्य है कि स्वावयवरूप देवगणों को तृप्त करके सारे जगत् को ही तृप्ति पहुँचाना यह कार्य भगवान् का है । इस भगवत्कार्य के लिये किया गया यज्ञ ही यज्ञार्थ यज्ञ कहा जाता है । अतएव मीमांसकों ने क्रत्वर्थ और पुरुषार्थ दो भेद माने हैं ।

यज्ञीय पदार्थ, भगवान् के अवयवों में सम्मिलित हैं और लौकिक पदार्थों से भिन्न हैं इस बात की कुछ दिशा स्पष्ट करते हैं—

भगवान् के जांघों से यज्ञीय पशुओं का आविर्भाव है भगवद्रोमों से वृक्ष। स्वेद सहित रोमों से कुश। चरणों से यज्ञभूमि। पलकों से काल। ओष्ठ आदि से और वस्तु। स्नेह (चिकनाई तैलादि) जिह्वा से। घ्राण से मृत्तिकायें। नसों से जल। कर्ण और मस्तक से ऋक् यजुः सामवेद। चार होतादि ऋत्विगों के करने का कर्म, चार बाहुओं से। मुख से नामधेय। मस्तकावयवों से मन्त्र। दक्षिणारूप गायें वाम जंघा से। मन से व्रत अश्रुव्यवयत्र पर्दों से देवतानुक्रम्। बल से कल्पसूत्र। बुद्धि से कल्प। प्राण से सूत्र, विहारयोग रूप हैं। विक्रम से गति। ज्ञानेन्द्रियों से मति। कर्मेन्द्रियों से प्रायश्चित। अपने अपनपे से समर्पण। इसी तरह अन्य यज्ञीय पदार्थों की भगवदवयों में ही योग्यतानुसार कल्पना कर लेनी चाहिये। अतएव यज्ञ के प्रारम्भ में भगवद्भक्तिमान् अधिकारी लोग सब यज्ञीय पदार्थों का साक्षात्कार करते हैं। फिर उन भगवदवयवरूपों से पदार्थों को तैयार करते हैं और तदन्तर याग करते हैं। यदि ऐसा न होता तो वेद के यज्ञ प्रकरण में जो अपश्यत, आहरत, अयजत इत्यादि पद आते हैं वे सब व्यर्थ हो जावें। यज्ञ सम्पादन करने के अर्थ में इन विशिष्ठ पदों के देने में कौनसा प्रयोजन था ? है, अतएव ये पद दिये गये॥ २७॥

श्लोक—ततस्ते भ्रातर इमे प्रजानां पतयो नव।
अयजन् व्यक्तमव्यक्तं पुरुषं सुसमाहिताः॥२८॥

ततश्च मनवः काल ईजिरे ऋषयोऽपरे।
पितरो विबुधा दैत्या मनुष्याः ऋतुभिर्विभुम्॥२९॥

श्लोकार्थ—इसके बाद तुम्हारे मरिच्यादि नौ भाई कहलाते हैं उन्होंने स्पष्ट और अस्पष्ट रीति से यज्ञ पुरुष का यजन किया। अच्छे प्रकार से चित्त की एकाग्रता से वह कार्य किया इसके बाद मनु और दूसरे ऋषियों ने उनके समय में यज्ञ किये। पितृ, देव, दैत्य और मनुष्यों ने यज्ञ करके विभूः यज्ञेश्वर को प्रसन्न किया॥२८-२९॥

सुबोधिनी—एवं यथा मया कृतं तथैव तत्करणानन्तरं ते इमे भ्रातरो मरीच्यादयः। प्रजानां पतयः। नवविधप्रजानां नवविधाः स्वयम्। अयजन्। ततः सात्त्विकसात्त्विकेषु व्यक्तो भगवान्। तामसतामसेष्वव्यक्तः। मध्यमेषु द्वयम्। तदाह—**व्यक्तमव्यक्तमिति**। सुसमाहिताः सावधानाः। अन्यार्थपदार्थैरमेलनार्थं ज्ञानार्थमुत्पादनार्थं वा॥२८॥

व्याख्यार्थ—इसके अनन्तर तुम्हारे ये प्रजापति नौ भ्राता दक्ष आदि ने भी व्यक्ताव्यक्तरूप पुरुष भगवान् का सावधान होकर आराधन किया। सात्त्विक राजसादि गुण समूहों का परस्पर सम्मेलन होने से नौ गुण हो जाते हैं। इन गुणों से तैयार हुई प्रजा (जन सन्तति) भी नौ प्रकार की हुई। तब ब्रह्माजी ने उन सब तरह की प्रजाओं को वश में रखने के लिये उनके नियामकपति-प्रजापति भी नव ही पैदा किये। 'मरीचि अत्रि' आदि।

मैंने जिस प्रकार से यज्ञार्थ ही यज्ञ भगवान् का आराधन किया । इसी प्रकार इन दक्ष मरीचि आदि प्रजापतियों ने भी भगवान् का आराधन किया । यद्यपि मरीचि अंगिरा आदि प्रजापति गण यह पूरी निगाह रखते थे कि भगवदवयरूप पदार्थों में अन्य लौकिक पदार्थों का मेल न हो जाय, अन्य ज्ञान न घुस जाय और अन्य लौकिक पदार्थ का उत्पादन न हो जाय तथापि इतना तो व्यतिकर हो ही गया कि किसी को व्यक्त, किसी को अव्यक्त और किसी को व्यक्ताव्यक्त यज्ञ भगवान् का आराधन करना हुआ ।

जो सात्त्विक सात्त्विक अधिकारी थे उन्हें भगवदवयवों का स्पष्ट साक्षात्कार हुआ अतएव उन्होंने सब पदार्थों को भगवदवयों में से ही तैयार करके यज्ञकार्यार्थ यज्ञ का आराधन किया । जो राजस राजस अधिकारी थे उनके आगे अवयवरूप भगवान् कुछ व्यक्त और कुछ अव्यक्त रहे । अतएव उन्होंने तदनुसार आराधन किया और जो तामस तामस अधिकारी थे उनके लिये भगवान् अव्यक्त ही रहे, अतएव उन्हें तदनुसार आराधन करना पड़ा । सात्त्विक राजसादि जो बाकी रहे अधिकारी, उन्होंने भी स्व स्व अधिकार के अनुसार भगवान् का आराधन किया, यह इस पर से स्वयं समझ लेना चाहिये ।। २८ ।।

सुबोधिनी—तदनन्तरं बहुकालव्यवधानेन मनवः केवलमीजिरे । ऋषयश्चाऽपरे च । एते सत्त्वादिभेदा द्वितीयकक्षायाम् ततस्तृतीयकक्षायां पितरो विबुधा दैत्याः राजसाः सात्त्विकास्तामसाश्च । मनुष्यास्तु चतुर्थकक्षायाम् । अतस्ते सन्निपातरूपा एकविधा एव । तथापि भ्रमादपि कुर्वाणाः कामिकं किञ्चित्फलं प्राप्नुवन्ति समर्थत्वाद्भगवतः । तदाह—**विभुमिति** । **क्रतुभिरिति** द्वादशाहादिभिः ।।२९।।

व्याख्यार्थ—तदनन्तर बहुत सा काल जब बीत गया तब, किसी समय में, स्वायंभू मनु, अन्य ऋषि, पितर लोग, देव गण दैत्य वर्ग तथा मनुष्य लोकों ने भी उस सर्व समर्थ यज्ञ भगवान् का द्वादशाहादि यज्ञों के द्वारा आराधन किया । स्वायंभू मनु और कितने ही ऋषिगण ये सात्विकादि प्रकृति वाले पितर लोग, सात्विक प्रकृति वाले देवगण और तामस प्रकृति वाले दैत्यगण हैं । जिस जिस अधिकार में रहकर जिन्होंने जैसा जैसा आराधन किया, उनकी वैसी वैसी कक्षा होती चली गई । सात्त्विकादि अधिकारों के विभिन्न होने से पूर्वोक्त ये सब अनेक प्रकार के हैं । किन्तु मनुष्यों की चतुर्थी कक्षा है । इनका अधिकार सन्निपातरूप है । अतः एक प्रकार का ही है । कहने का आशय यह मालुम पड़ता है कि पूर्वोक्त देवादि का प्रकृति में एक गुण प्रधान रहकर व्यवहार में सहारा दे सकते हैं । अतएव उनकी कक्षायें और उनके प्रकार भिन्न हो सके । किन्तु मनुष्यों की प्रकृति में तीनों गुणों की समानता होने से परस्परोपमर्द द्वारा उनकी एक ही प्रकृति रही, और वह भी भ्रान्त प्रकृति । यद्यपि इन्होंने अपनी कामनाओं के अनुसार प्रवाह न्याय से भगवान् का आराधन किया था तथापि यज्ञ रूप भगवान् स्वतन्त्र और समर्थ है, अतएव इन्हें भी इनकी कमनानुसार फल मिला ही । और मिलता भी है । इसी लिये मूल में '**विभु**' पद दिया है ।।२९।।

आभास—एवं सर्वपदार्थानामुत्पत्तिं भगवतः सकाशादुक्त्वा स्थितिमाह—

आभासार्थ—इस तरह से जगद्वर्ती सारे पदार्थों की उत्पत्ति भगवान् से ही होती है, यह कह कर अब उसकी स्थिति कहते हैं :—

श्लोक—**नारायणे भगवति तदिदं विश्वमाहितम् ।
गृहीतमायोरुगुणः सर्गादावगुणः स्वतः ॥३०॥**

श्लोकार्थ—भगवान् नारायण में यह जगत् रहा है सृष्टि करने में माया के महान् गुणों को धारण किया है तो भी वह स्वतः निर्गुण है ॥३०॥

सुबोधिनी—नारायण इति । विश्वाधारत्वेन भगवदाधारत्वव्युदासार्थं नारायण इत्युक्तम् । "**आपो नारा इति प्रोक्ता**" इति प्रकारेण पुरुष एव नारायणः । **तदिदमिति** लौकिकं वैदिकं च । आहितं स्थापितम् ॥३०॥

व्याख्यार्थ—इसलिये अब यह कहना होगा, कि यह सारा ही जगत् नारायण भगवान् में स्थित हैं, और वह भगवान् यद्यपि आप स्वयं प्राकृत गुणों से रहित है तथापि जगत् की सृष्टि करते समय अपने स्वरूप भूत गुणों को माया के द्वारा ग्रहण करता है ।

विश्व तीन प्रकार का है । आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक । इनमें आधिदैविक जगत् भगवान् हैं । आध्यात्मिक जगत माया सहित भगवान हैं और आधिभौतिक जगत मायारूप[१] भगवान हैं । आधिदैविक जगत्[२] भगवान् ही भगवान् है । अर्थात् अपने स्वरूप से ही तन्मय जगत् पैदा करके उसमें अन्तर्याम्यादि रूप से प्रविष्ट होकर क्रीड़ा करता है । यह भी एक प्रकार है । इस प्रकार का ही यहां बोधन कराने के लिये भगवान् के लिये नारायण शब्द से निर्देश किया, यह नारायण अक्षर ब्रह्म है, क्योंकि मूल में इसको स्वतः अगुण कहा है 'आपो नारा इति प्रोक्ताः' इस प्रकार से यह पुरुष ही नारायण रूप है । इस अक्षरात्मक पुरुष का आगे निरूपण आवेगा ।

'तदिदं' शब्द से लौकिक वैदिक दोनों तरह का जगत् अर्थात् प्रथम मध्यम जगत् का ग्रहण किया है । ये दोनों जगत्, मिट्टी में घड़े की तरह, भगवान् में ही स्थित है ॥३०॥

आभास—ननु भगवतैव चेदुत्पत्तिस्थिती क्रियेते, अर्थात्प्रलयश्च, तदा भवतां क्वोपयोगः ? तत्राऽऽह—

आभासार्थ—यदि जगत् की उत्पत्ति और स्थिति भगवान् करते हैं तो फिर (ब्रह्म रूप) आप का क्या प्रयोजन है ? इस पर कहते हैं :—

---

१ 'मायाचाविद्या च स्वयमेव भवति' । श्रुतिः ।

२ 'स सर्वभवति' इत्यादि श्रुति और 'अहमेव न भक्तोऽन्यत्' 'द्वयंकमं च' इत्यादि भागवत के द्वारा केवल भगवद्रूप विश्व भी प्रसिद्ध है, और 'तस्मान्मायी सृजते' श्रुति तथा 'तन्माया फलरूपेण' इत्यादि भागवत तथा 'यावत्संजायते किंचित्सत्वं' इत्यादि गीता के द्वारा मध्यम जगत् भी प्रसिद्ध है ।

द्वितीय स्कंध में प्रथम सर्ग का निरूपण है । तृतीय स्कंध में मध्यम सर्ग का ।

श्लोक—**सृजामि तन्नियुक्तोऽहं हरो हरति तद्वशः ।**
विश्वं पुरुषरूपेण परिपाति त्रिशक्तिधृक् ॥३१॥

श्लोकार्थ—उस भगवान् की आज्ञा से मैं जगत् को पैदा करता हूँ। उनके परवश होकर महादेवजी जगत् का संहार करते हैं और पुरुष रूप होकर वह त्रिशक्तिधर भगवान् ही इस विश्व का रक्षण करते हैं ॥३१॥

सुबोधिनी—सृजामि तन्नियुक्तोऽहमिति । भगवान् हि प्रकारप्रदर्शनार्थं सर्वानेव पदार्थान् कृतवान् । ततः परम्परानिष्पत्त्यर्थं मामाज्ञापयति । संहारार्थं च महादेवम् । अतो ये भगवतोत्पादितास्तद्वंश्या वा ते भगवतैव मारणीया न महादेवादिशक्याः । अतो भगवदवतारः । पालनं तु भगवानेव करोतीत्याह—**विश्वमिति** । स हि पुरुषरूपेण विश्वं परिपालयति । अत एव तदनुरोधेनैव हरः संहरतीति तद्वशत्वमुक्तम् । यद्यप्येतावुत्पत्तिप्रलयौ कुरुतस्तथापि तत्करणसामर्थ्यं भगवदधीनमेवेत्याह—**त्रिशक्तिधृगिति** । ॥३१॥

व्याख्यार्थ—मैं भगवान् की आज्ञा से जगत् की सृष्टि करता हूँ, और उस भगवान् के वश में रहकर महादेव जगत् का संहार करते हैं, और वह भगवान् पुरुष रूप धर कर इस विश्व का पालन करता है। इस तरह तीनों तरह की शक्तियों को धारण करने वाला वही है। जगत् के बनाने का प्रकार मुझे दिखाने के लिये भगवान् एक बार इस जगत् के सब ही पदार्थों को बना देते हैं, और उनकी परम्परा चलाने के लिये मुझे आज्ञा कर देते हैं। संहार करने के लिये महादेवजी से कह देते हैं। इसीलिये जिन्हें भगवान् ने पैदा किये हैं उन्हें और जो उनके वंश में पैदा हुए हैं उन्हें मारना महादेवादि की सामर्थ्य के बाहर है। इसीलिये ऐसों को मारने के लिये भगवान् कभी २ अवतार लेते हैं। पालन तो स्वयं भगवान् ही करते हैं पर पुरुष रूप रूपान्तर लेकर महादेवादि भी भगवान् के पालन प्रकार के अनुसार ही संहार कार्य करते हैं। यही 'तद्वशः' शब्द का तात्पर्य है। यद्यपि मैं और महादेव जगत् की उत्पत्ति और प्रलय करते हैं तथापि वह शक्ति भगवान् के अधीन है। यह बात 'त्रिशक्तिधृक्' शब्द से कही है ॥३१॥

आभास—एवमंशत्रयं निरूप्य माहात्म्यं वक्तुं पूर्वोक्तमुपसंहरति—

आभासार्थ—इस तरह भगवान् के तीन अंशों का निरूपण करके आगे भगवान् का माहात्म्य (बडप्पन) कहना है इस अपने वक्तव्य को समेटते हैं:—

श्लोक—**इति तेऽभिहितं तात यथेदमनुपृच्छसि ।**
नाऽन्यद्भगवतः किञ्चिद्भाव्यं सदसदात्मकम् ॥३२॥

श्लोकार्थ—जो तुमने पूछा वह सब मैंने तुमसे कहा। हे तात् ! भगवान् के बिना कार्य, कारणात्मक जगत् इत्यादि कुछ भी नहीं होता है ॥३२॥

सुबोधिनी—इतीति । पृष्टं तु त्वयैतावदेव । माहात्म्यकथनं त्वर्थादायाति । तदग्रे कथयिष्यामीति भावः । किमुक्तमित्यपेक्षायामाह—**नाऽन्यद्भगवत इति** । यावन्तः प्रश्नाः कृताः स्वरूपतः प्रकारतो वा । तत्र सर्वत्र उत्तरं भगवानेव । यतो भगवद्व्यतिरिक्तं किमपि नास्ति । ननु सर्वाधारत्वेन वस्तुतत्त्वरूपेण च मतान्तरस्थैरपि सर्वं भगवानित्यङ्गीक्रियते । ततोऽस्मिन्मार्गे को विशेष इत्याकाङ्क्षायामाह—**भाव्यमिति** । यत्क्रियया निष्पाद्यम् । यत्र हि क्रिया व्यापृता भवति तद्भगवानित्यर्थः । ननु ब्रह्मवादेऽपि सर्वं ब्रह्म । ततोऽस्मिन्मार्गे को विशेषस्तत्राऽऽह—**सदसदात्मकमिति** । सदसद्व्यवहारयोग्यं घटादिकं शशशृङ्गादिकमपि । **भ्रमविषयश्च** । तस्माद्यत्राऽपि मिथ्याप्रत्ययस्तद्विषयोऽपि भगवान् । अन्यथा तस्य भानं ज्ञानं च नोत्पद्येत । अनुव्यवसायश्च न भवेत् ।।३२।।

व्याख्यार्थ—हे नारद ! तुमने जैसा मुझे पूछा तदनुसार मैंने तुम्हें यह समझा दिया कि इस जगत् में जो कुछ सत्य और असत्य पदार्थ हैं वे सब भगवान् ही भगवान् हैं। भगवान् से पृथक् कुछ नहीं है । नारद ! तुमने पूछा तो इतना ही था पर उन प्रश्नों में से ही भगवान् का माहात्म्य भी निकल आता है सो आगे कहना होगा । जो कुछ मैं कह चुका हूँ उसका तात्पर्य यह है कि–तुमने कितने ही प्रश्न जगत् के स्वरूप के विषयों में किये और कितने ही प्रकार के विषय में किये उन सब का उत्तर यही है कि जगत् का स्वरूप और प्रकार सब कुछ भगवान् हैं । भगवान् से पृथक् कुछ नहीं है । यहां एक यह प्रश्न होता है कि दूसरे मत वाले भी सबका आधार रूप अथवा वस्तु-तत्व रूप भगवान् को ही मानते हैं, तो फिर तुम्हारे इस भक्ति मार्ग में क्या विशेष (फरक) है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'भाव्यम्' । अर्थात् जहां जहां क्रिया का प्रवेश है वह सब कुछ केवल भगवान् है । कहने का आशय यह है कि—जो लोग भेदभाव मानते हैं उनके यहाँ जो भगवान् को सब कुछ माना है वह पारिभाषिक (माना हुआ) सर्वत्व है । वास्तविक नहीं और विशिष्ट का अभेद मानने वालों के यहाँ भी भगवान् का शरीर मानकर जगत् को ब्रह्मरूप माना है वास्तव नहीं । यहाँ तो उपादेय के अवयव और उपादान के अवयवी इन सबका भेद बिलकुल न मानकर वस्तु स्वरूप से दोनों एक ही पदार्थ हैं । इस रूप से भी सब कुछ को भगवान् कहा है; इसलिये उनके मत से इसमें विशेष है । यदि कहो कि ज्ञान मार्गीय ब्रह्मवाद में ही सब कुछ को ब्रह्म माना है फिर इस मार्ग में उससे फरक क्या है ? तो उसका भी उत्तर देते हैं कि 'सदसदात्मकम्' । जिसका सत्य रूप से व्यवहार किया जाता है वह घटपटादि पदार्थ और जिसका असत्य रूप से व्यवहार किया जाता है वह भ्रम का विषय 'शुक्ति रजत' किंवा 'शशशृंगादिक' भी भगवान् ही भगवान् हैं । जहाँ झूठापन समझा गया है वह विषय भी भगवान् है यदि वह सब भगवान् न होता तो भ्रम विषय का भान और घटादि का ज्ञान कभी नहीं होता । अनुव्यवसायात्मक (निश्चयात्मक) ज्ञान भी न होता । जहाँ जहाँ ये होते हैं वे सब सद्रूप चिद्रूप भगवान् ही हैं ।।३२।।

आभास—एवं पूर्वोक्तमुपसंहृत्य तस्य माहात्म्यं वदन् तद्धर्माणां माहात्म्यं प्रथममाह—

आभासार्थ—इस तरह पूर्वोक्त की समाप्ति करके अब भगवान् का माहात्म्य का वर्णन करना है अतएव पहले भगवद्धर्मों का माहात्म्य कहते हैं । भगवत्संबन्धिनी उत्कंठा भी भगवद्धर्म है ।

श्लोक—न भारती मेऽङ्ग मृषोपलक्ष्यते न वै क्वचिन्मे मनसो मृषा गतिः ।
न मे हृषीकाणि पतन्त्यसत्पथे यन्मे हृदौत्कण्ठ्यवता धृतो हरिः ॥३३॥

श्लोकार्थ—हे नारद ! मेरी वाणी कभी झूठे अर्थ का स्पर्श नहीं करती । मेरा मन कभी झूठे मार्ग पर नही जाता । मेरी इन्द्रिय कभी भी बुरे रास्ते पर नहीं जाना चाहती । क्योंकि मैंने अपने उत्साह वाले हृदय में भगवान् हरि को धर रखा है ॥३३॥

सुबोधिनी—न भारती मेऽङ्गेति । हृदये तिरोहितो भगवानसद्बुद्धिमुत्पादयति । अतो मयौत्कण्ठ्यवता प्रेमोद्गमवता हृदा भगवान् धृतः । तत्र च भारती वर्त्तते । सा हि भगवन्तमालिङ्ग्य मन्मुखात्तेन सह निःसरतीति कदाचिदपि मृषा नोपलक्ष्यते । भाविनाऽपि न बाधितविषया भवतीत्यर्थः । तथा मनोव्यापारोऽपि । न यः पदार्थो भावी तद्विषयको न भवतीत्याह—**न वै क्वचिन्मे मनस इति** । परम्परासम्बन्धेऽपि माहात्म्यम् । भगवता सहाऽहं सम्बद्धः । मम चाऽभिमानमात्रेण मनःप्रभृतयः सम्बद्धा इति ज्ञापनार्थं सर्वत्र म इत्युक्तम् । हृषीकाणि इन्द्रियाणि । असत्पथे निन्दितमार्गे । वाक्संबन्धे तु भगवान्न हृदये स्थापित इति न तेन व्यभिचारः । ननु धृतो भगवान् कथमिष्टं कृतवान् ? तत्राऽऽह—**हरिरिति** । औत्कण्ठ्यवता हृदेत्यनेनाऽयमर्थो निरूपितः—चित्ते भगवत्प्रेम सम्पादनीयम् । ततः प्रेमसंवलितं चित्तं सर्वत्र विद्यमानं भगवन्तं विषयीकरिष्यति । यथा रसनेन्द्रियसहिता जिह्वा द्रव्येषु विद्यमानान् रसान् स्वयमेव गृह्णाति । न तु तद्रसज्ञानं पूर्वमपेक्षते । तथा भक्त्याविष्टं चित्तं स्वयमेव भगवन्तं गृह्णाति । प्रतिनियतेन्द्रियवद्भगवद्भक्तिः ॥३३॥

व्याख्यार्थ—हृदय स्थित भगवान् जब हृदय में छिप जाते हैं तब ही बुद्धि में असत्पदार्थों की भावना तैयार होने लगती है । इसलिए मैंने भगवच्चरित कहने के पूर्व प्रेम प्रवाह वाले हृदय में श्री भगवान् की स्थापना करली है । उस हृदय में सरस्वती रहती है । अब वहां ही भगवान् के पधार जाने से वह सरस्वती भगवान् का आलिङ्गन करके निकलती है, इसलिए मेरी वाणी का विषय अर्थात् मेरा कहा हुआ कभी असत्य नहीं होता । जो बात कल्पनान्तर में होने वाली है मैं उसे पहले ही कह देता हूँ पर ऐसी वाणी का भी विषय कभी असत्य नहीं होता और भगवान् को हृदय में धारण कर लेने से ही मेरे मन का व्यापार भी असत्य पथ पर नहीं जाता जो बात नहीं होने वाली है, मेरा मन उस बात का विचार ही नहीं करता । हृदय में भगवान् विराजते हैं उस हृदय में मन और भारती रहती है उनका सम्बन्ध मेरे साथ और वह सम्बन्ध अभिमान मात्र का है, वास्तव में तो सब ही पदार्थ भगवान् के ही है, मेरे कुछ नहीं है, तथापि भगवान का हो यह माहात्म्य है कि इतना परम्परा सबन्ध रहते भी अभिमान मात्र का सबन्ध रहते भी मेरे हृदयस्थ होने से मेरी वाणी मृषा नहीं होने पाती, मेरा मन असत्य विषय को ग्रहण नहीं करता और मेरे कोई भी इन्द्रिय असत्मार्ग में नहीं गिरते ।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि कहीं कहीं ब्रह्माजी ने भी राजनीति का निरूपण करते समय हिंस्र उपायों का निर्देश किया है, काम शास्त्र का कथन करते समय परदारा सुरत सुखादि वर्णन किया है फिर यहा वाणी और मन का असन्मार्ग में जाने का निषेध कैसे किया ? इसका उत्तर इतना ही है कि भगवान को प्रेम सहित हृदय में स्थापित न करने पर जहाँ विषय का वाणी

और मन के साथ सबन्ध हुआ है वहां ही ऐसा हुआ है। इसलिये श्री भागवत कहते समय उसका दोष नहीं दिया जा सकता। अन्य पुराणों में कहीं कहीं लौकिकार्थ को भी प्रधानता दी गई है पर श्री भागवत में तो समाधि भाषा को ही प्रधानता है। यहाँ यह प्रश्न भी हो सकता है कि-हृदय स्थित भगवान् किस रीति से मेरा हित कर रहे है? इसके उत्तर में 'हरिः' पद दिया है अर्थात् हरि होने के कारण वे हृदय, मन, वाणी और इन्द्रियों के सब दोषों का हरण करके मेरे हित का संवादन करते हैं। 'औत्कण्ठ्यवत्ता हृदा' 'भगवत प्रेम सहित हृदय से' इस पद के कहने का यह तात्पर्य है कि सत्य स्वरूप भगवान् प्रत्येक पदार्थ में निवास करता है। पर भगवान् से रहित चित्त में उनका ग्रहण नहीं हो सकता। अतएव साधक को चाहिये कि पहले चित्त में भगवत्प्रेम भर लें। जब भगवान् से चित्त भर जायेगा तब वह हृदय भगवद्रुप पदार्थों का ग्रहण करेगा, अन्य का नहीं। जैसे जिस जिह्वा में रसन इन्द्रिय होगी वही जिह्वा पदार्थों में रहे रसों का ग्रहण करेगी खाली जिह्वा नहीं।

वाक्य के अथवा शब्द के ज्ञान में पहले संज्ञा ग्रहण करण है (घटमानय) यहां जैसे घट किसे कहते हैं। लाना किसे कहते हैं, इत्यादि संज्ञा ग्रहण ही नहीं होगा वह 'घट मानय' कहने पर भी कुछ नहीं समझेगा। यह पदार्थ ज्ञान की अन्यत्र रीति मानी गई है। पर यह नियम ज्ञानमार्ग में भले रहे, पर भक्तिमार्ग में नहीं भक्तिमार्ग में तो जैसे रसनेन्द्रिय सहित जिह्वा अपने आप पदार्थ स्थित रस का ग्रहण कर लेती है, पहले रसज्ञान की अपेक्षा नहीं रखती। इसी तरह भक्ति मार्ग प्रेम सहित चित्त अपने आप भगवान् के स्वरूप का ज्ञान संपादन करता चला जाता है। जैसे मन को विषय ज्ञान होते समय चक्षु रसन इन्द्रियां सहारा दे देती है। इसी तरह भक्त का हृदय जब भगवान् का ग्रहण करने लगता है तब भगवत्प्रेम उसे अपने आप सहारा दे देता है ॥ ३३ ॥

आभास—भगवान् केवलभक्त्यैकलभ्यः। न च तत्र प्रमाणान्तरमस्तीति बोधयितुमाह—

आभासार्थ—भगवान् श्रीकृष्ण केवल प्रेम से ही जाना जा सकता है। भगवान् के ग्रहण करने में अन्य प्रमाणों की अपेक्षा है ही नहीं सो कहते हैं—

श्लोक—**सोऽहं समाम्नायमयस्तपोमयः प्रजापतीनामभिवन्दितः पतिः।**
आस्थाय योगं निपुणं समाहितस्तं नाऽध्यगच्छं यत आत्मसम्भवः ॥३४॥

श्लोकार्थ—वह जो (मैं) वेदाभ्यास नियम से करने वाला तपोमय प्रजापतियों द्वारा नमस्कार किया जाने वाला पिता, ब्रह्मा, निष्काम योग से निश्चल चित्त से भगवान् से मिलने का मैंने प्रयत्न किया तो भी वे मिले नहीं क्योंकि मैं उनसे ही उत्पन्न हुआ हूं ॥३४॥

सुबोधिनी—सोऽहमिति। भगवज्ज्ञाने प्रथमं वेदाः प्रमाणम्। साधनं तपः। प्रमाणाभिज्ञानं मननिदिध्यासनरूपम्। अन्तरङ्गं साधनं योगः। तत्फलं चित्तैकाग्र्यम्। तस्मिन् जाते

उत्तमाधिकारिणो भगवत्साक्षात्कारो भवतीति न मन्तव्यमित्याह—**सोऽहमिति** । समाम्नायः पुनः पुनरावर्त्यमानो वेदः । समाङ्पसर्गाभ्यां सहितो म्नाधातुरभ्यासार्थोऽर्थविधानसहितं वेदाभ्यासं बोधयति । तन्मयः तद्विकारस्तद्व्याप्तो वा । तपोमय इति साधनपरता । सहजं तप इति ज्ञापनार्थमुक्तम् । प्रजापतीनामभिवन्दित इति सर्वोपदेष्टृत्वेनाऽर्थविचार उक्तः । प्रजापतिशब्देन च तस्य ज्ञानस्य परम्पराऽपि सूचिता । तेच न प्रतारिता इत्याह—**पतिरिति** । न हि प्रजापतीनां पतिस्तान्वञ्चयति । एवं साङ्गं प्रमाणं निरूपतम् । प्रमाणं हि भगवत्साक्षात्कारे मनसः सहकारि । अतो मनसोऽपि भगवद्ग्रहणयोग्यतामाह—**आस्थाय योगमिति । निपुणमिति** । न सिद्ध्यादिभिर्भ्रामकमित्यर्थः । एवं साधनसहितोऽपि तं नाऽध्यगच्छम् । **यत आत्मसम्भव** **इति** स्वस्याऽधिकार उत्कृष्टो निरूपितः । तस्माद्भक्त्यैव वशो भवति ज्ञातश्च नाऽन्यथेति निश्चयः । ३४॥

व्याख्यार्थ—वह ब्रह्मा, जो-मैं वेदमय और तपस्यामय हूँ तथा मरीचि आदि प्रजापतियों का प्रणम्य स्वामी भी हूँ । किन्तु ऐसे भी मैंने खूब योगाभ्यास किया, अच्छी तरह एकाग्र बुद्धि हो गया, पर इतने साधन कर लेने पर भी मुझे अपने पिता भगवान् की खबर न पड़ी, जहां से मेरी उत्पत्ति हुई है । मैं भगवान् का ज्ञान-संपादन न कर सका ।

ज्ञान-मार्ग को समझने के लिये सबसे पहले वेदोपनिषत् प्रमाण माने गये हैं । उसके बाद तपस्या (शरीरादि श्रम) दूसरा साधन है । पर वेद का तात्पर्य-ज्ञान मनन और निदिध्यासन से होता है, इसलिये वे भी करने ही पड़ते हैं । फिर भी निदिध्यासन को तैयार कर देने वाला साधन अष्टाङ्ग योग भी करना चाहिये । इतना कर लेने पर चित्त का एकाग्र होना फल मिलता है । यह फल मिल जाने पर भी यदि उत्तमाधिकारी हो तो उसे भगवान् का साक्षात्कार होता है, यह बात निश्चित नहीं है । इस बात को ब्रह्माजी अपने दृष्टान्त पर से स्पष्ट कर रहे हैं । 'सोऽहम्'इत्यादि । समाम्नाय शब्द से पुनः पुनः आवृति किया हुआ वेद लिया गया है । सम् और आङ् उपसर्गों से युक्त म्ना धातु अभ्यास को कहता है और इससे यह स्पष्ट होता है कि ब्रह्माजी ने अर्थ विचार सहित वेद का बारंबार अभ्यास किया था । यहां तक कि ब्रह्माजी के हृदय में वेद और वेदार्थ भर गया । 'तपोमय' शब्द से कहते हैं कि वे साधनानुष्ठान करने में भी तत्पर रहते थे । क्योंकि तपस्या ब्रह्मा का सहज स्वभाव ही है । कदाचित् कोई कहे कि उन्होंने वेदार्थ का बराबर विचार नहीं किया होगा ? इसके उत्तर में कहते हैं कि—'प्रजापतीनां' । मैं प्रजापतियों का माननीय स्वामी हूँ । अतएव खूब विचार कर करके उन्हें वेदार्थ का प्रवचन कराता था । पति शब्द से ज्ञान की परम्परा भी सूचित की है । मैं उनका स्वामी, वे मेरे सेवक हैं इसलिये उनकी मैंने वंचना को हो यह भी सम्भावना नहीं हैं । इस तरह भगवान् के ज्ञान-संपादन करने में अङ्ग सहित प्रमाण का निरूपण कर दिया । क्योंकि मन से भगवान् का साक्षात्कार होने में प्रमाण ज्ञान सहायक होता है । इसका आशय यह है कि भगवान् के ग्रहण करने में मन की भी योग्यता पूर्ण थी ।'निपुण'कहने का तात्पर्य यही है कि सिद्धि आदि के लोभ से वह ज्ञान भ्रान्त भी न होने पाया । किन्तु इन सब साधनों से युक्त होने पर भी ब्रह्माजी को भगवान् का साक्षात्कार न हुआ, सो कहते हैं—'तं नाध्यगच्छम' । मैं भगवान को न पा सका । 'आत्मसभव' पद से यह दिखाया है कि मेरा अधिकार यद्यपि पुत्र का था उत्कृष्ट था तथापि भगवान् का दर्शन मुझे न हुआ । इसलिये यह स्पष्ट होता

है कि—भगवान् भक्ति से ही वश में होते हैं और भक्ति से ही जाने जाते हैं। भगवान् के दर्शन होने का उपाय, भक्ति के सिवाय अन्य नहीं है ।।३४।।

आभास—तर्हि तत्र किं विधेयं भक्त्यर्थं सर्वैरित्याकांक्षायामाह—

आभासार्थ—तो फिर भगवान् में भक्ति होने के लिये सबको कौनसा उपाय करना चाहिये इसका उत्तर देते हैं कि—

श्लोक—**नतोऽस्म्यहं तच्चरणं समीयुषां भवच्छिदं स्वस्त्ययनं सुमङ्गलम् ।**
यो ह्यात्ममायाविभवं स्म पर्यगाद्यथा नभः स्वान्तमथाऽपरे कुतः ।।३५।।

श्लोकार्थ—अपने शरण आने वाले के संसार को हटा देने वाले सब सुखों का एक आधार और मंगल रूप भगवान् के चरणारविन्द के मैं शरण जाता हूं जिस भगवान् ने अपने ही माहात्म्य के वैभव का पार न पाया। जैसे आकाश अपने अन्त को नहीं जानता, तो फिर हम देवादि और मनुष्य आदि तो उसके माहात्म्य को कहां से जान सकें ।।३५।।

सुबोधिनी—**नतोऽस्म्यहमिति**। तच्चरणमहं नतोऽस्मि। नमनातिरिक्तं मयाऽपि साधनं न ज्ञायते। कुतोऽन्ये ज्ञास्यन्तीति भावः। ननु नमनेन किं स्यात्? तत्राऽऽह—**समीयुषां भवच्छिद-मिति**। तच्चरणं ये सं सम्यक् ईयुषस्तत्प्राप्त्यर्थं कामपि तत्रत्यां क्रियां कुर्वाणास्तेषां संसारं दूरीकरोति। पुनः संसारप्राप्त्यभावाय भवं छिनत्तीत्युक्तम्। मूलतश्छिन्ने प्रवाहे अग्रे निवृत्ति स्वतः एवेति तथोक्तम्। न केवलं दुःखमेव दूरीकरोति किन्तु कल्याणमपि प्रयच्छतीत्याह—**स्वस्त्ययनं सुमङ्गलमिति**। स्वस्ति कल्याणस्यैहिकस्य अयनं स्थानम्। आमुष्मिकस्याऽपि सूचकं सुमङ्गलम्। अतश्चरणनमनमेव कर्त्तव्यम्। तेनैवाऽर्थसिद्धिः। ननु भगवान् भगवद्गुणा वा इदमित्थतया ज्ञातुं शक्याः। तत्र गुणानां ज्ञाने अशक्यतामाह—**यो हीति**। यो भगवान् आत्मनो मायायाः साधनभूताया विभवमैश्वर्यं स्वयमेव पर्यगात्। परीति निषेधार्थे। न ज्ञातवानित्यर्थः। स्मेति प्रसिद्धे। अनेन तथा वचने स्वस्य दोषो निराकृतः। ननु मायाया विभवं भगवदीयमेवेति कथं भगवान् स्वसम्बन्धिनं पदार्थं न जानाति? तत्र दृष्टान्तमाह—**यथा नभः स्वान्तमिति**। विद्यमाने अन्ते यस्त्वन्तं न जानाति स न सर्वज्ञः। न त्वविद्यमानेऽपि। न हि शशशृङ्गाज्ञानं सार्वज्ञ्यप्रतिबन्धकम्। यथा नभः स्वान्तं न जानाति। व्यापकत्वादन्ताभावाच्च। तथा भगवानपीत्यर्थः ।।३५।।

व्याख्यार्थ—मैं तो उन भगवान् के चरणों में नमस्कार करता हूँ, बस इतना ही समझता हूँ। उन भगवान् में प्रेम हो, इसके लिये उनको प्रणाम करते रहना, बस इसके सिवाय जब दूसरा साधन मुझे भी नहीं मालुम है तो फिर अन्य लोग तो कहां से जानते होंगे? यहां यह प्रश्न होता है कि भगवच्चरण में नमन करने से ही क्या होगा? इसका उत्तर देते हैं—'समीयुषां' इत्यादि। जो लोग भक्ति मार्गीय भगवद्भक्ति सम्बन्धिनी कोई भी क्रिया करते रहकर उनके चरणों में नमन

करते रहते हैं तो उस नमन मात्र से भगवान् उनके दुःखमूल जन्म मरण के चक्र को ही काट देते हैं।जिससे कि उन्हें फिर संसार न मिले। प्रवाह ही जब मूल से टूट जावेगा तब आगे वह प्रवाह अपने आप बन्द हो जायगा। नमन दुःख दूर कर देता है, इतना ही नहीं किन्तु कल्याण भी करता है। स्वस्त्ययनं' भगवान् का यह चरणारविन्द सर्व कल्याणों का घर है। 'सुमङ्गलं' कहने का यह तात्पर्य है कि इह लोक की तरह परलोक में भी सुख पहुँचाने वाला यह चरण है। इसलिये भगवच्चरणों में नमन करना ही मुख्य कर्तव्य है इसी से ही भगवद्विचारित मनोरथों की सिद्धि होती है।

यहां एक और भी प्रश्न हो सकता है कि महत्व जानने पर प्रमाणादि होते हैं और महत्व बुद्धि गुणों के समझने से होती है तो क्या भगवान् के गुण इतने हैं, ऐसे हैं, ये हैं इत्यादि ज्ञान हो सकता है? इसका उत्तर देते हैं कि भगवद्गुणों को समझ होना कठिन है। यो होति। भगवान् जब स्वयं ही अपने गुण, वैभव और ऐश्वर्य आदि को पूर्ण रीति से आज तक नहीं जान सके तब फिर दूसरों की तो बात ही क्या है? 'पर्यगात्' शब्द में परि उपसर्ग निषेधार्थक है। अतः ऐसा अर्थ होता है यह बात सब ही जानते हैं प्रसिद्ध है—यह 'स्म' शब्द कह रहा है। अतएव भगवद्गुणों को मैं यथावत नहीं कह सकता। यह मैंने कहा था और इसमें मेरा दोष नहीं है।

यहां एक और भी प्रश्न उठता है कि माया का वैभव तो सब भगवान् का ही है फिर भगवान् अपनी वस्तु को ही नहीं जानते यह क्यों? इसका दृष्टान्त से उत्तर देते हैं कि 'यथानमः' भगवान् की माया के वैभव का अन्त यदि कहीं जाकर होता और फिर उसे भगवान् न जानते तब तो भगवान् की सर्वज्ञता में कुछ न्यूनता आती भी पर उसका तो कहीं अन्त है ही नहीं। ऐसी अवस्था में यदि भगवान् अपने वैभव को आप ही सम्पूर्ण रीति से न जाने तो इसमें कोई दोष नहीं है। कोई ससा के सींग को न जाने तो उसमें उसके ज्ञान की न्यूनता नहीं। क्योंकि वह कोई वस्तु नहीं है। जैसे आकाश अपने अन्त को नहीं जानता क्योंकि आकाश सर्वव्यापक है उसका अन्त ही नहीं है। ऐसे ही भगवान्॥ ३५॥

आभास—एवं गुणानामज्ञानं निरूप्य स्वरूपस्याऽप्यज्ञानं निरूपयति—

आभासार्थ—इस तरह भगवान् के गुणों का किसी को भी यथावत् ज्ञान नहीं यह कह कर अब कहते हैं कि उनके स्वरूप का भी यथार्थ ज्ञान किसी को नहीं है—

श्लोक—**नाऽहं न यूयं यदृतां गतिं विदुर्न वामदेवः किमुताऽपरे सुराः।
यन्मायया मोहितबुद्धयस्त्विदं विनिर्मितं चाऽऽत्मसमं विचक्ष्महे॥३६॥**

श्लोकार्थ—मैं और तुम जिनकी सच्ची गति को नहीं जानते हैं वैसे ही शिवजी बड़े अवश्य है तो भी उनकी गति को नहीं जानते तो दूसरे या अन्य देवता तो उनकी गति को कैसे जान सकते हैं जिनकी माया में मोहित हुए बुद्धि वाले हमारे इस भगवान् के बनाये हुए जगत को अपनी बुद्धि के अनुसार जानते हैं॥३६॥

सुबोधिनी—नाऽहमिति । भगवन्तं कश्चिज्ज्ञास्यतीति न मन्तव्यम् । यतो वयमेव महान्तोऽधिकारिणः सर्वप्रकारेण चेन्न जानीमः कथमन्यो ज्ञास्यतीति । तत्र अहं ब्रह्मा । यूयं सनकाद्यन्ताः सर्वे मत्पुत्राः । यस्य ऋतां सत्यरूपां गतिं न विद्मः । भगवज्ज्ञानं दूरे । किन्तु येन मार्गेण भगवान् गच्छति तां गतिमपि न जानीमः । यथा देवानां मनुष्या न जानन्ति तथा वयमपि भगवत इत्यर्थः । महादेवस्तु गुणावतारः सर्वगुरुः । "**ईश्वराज्ज्ञानमन्विच्छेदि**" ति वाक्याच्च स ज्ञास्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—**न वामदेव इति** । वामदेवो महादेवः । अपरे ततो हीनाः । अज्ञाने उपपत्तिमाह—**यन्माययेति** । पूर्ववज्ज्ञानसम्बन्धिन्या मायया मोहिता बुद्धिर्येषाम् । बुद्ध्या गृहीतानि ज्ञानेन्द्रियाणि हि ज्ञानं जनयन्ति । तत्र बुद्धिश्चेन्मुग्धा ज्ञानवार्त्ता दूरे । तर्हीन्द्रियाणां वैफल्यं स्यात्तत्राऽऽह—**इदं विनिर्मितं आत्मसमं विचक्ष्महे इति** । भगवतैव विनिर्मितमिदं कार्यं जगद्रूपं स्वबुद्ध्यनुसारेण विचक्ष्महे । अनेन कार्यस्य प्रदर्शितत्वाद्भगवान्नास्तीति पक्षो निराकृतः । **आत्मसममिति** वचनात्तदपि न सम्यक् ज्ञायते । अन्यथा विशेषानुमानैर्भगवतः सर्वे विशेषा ज्ञाता भवेयुः । सर्वगुणप्रसिद्धिरूपत्वाज्जगतः ।।३६।।

व्याख्यार्थ—भगवान् को कोई जानता होगा? यद समझना ही भूल है । कारण कि हम लोग बड़े-बड़े अधिकारी भी जब भगवान् को सब प्रकार से नहीं जानते, तो फिर कोई और जान सकेगा यह तो हो ही नहीं सकता? यथावत् नहीं जानने वालों में सबसे पहला मैं ब्रह्मा, तुम सनादिक आदि सब मेरे पुत्र, जिस भगवान् की सत्यारूपा गति को ही नहीं जानते तो उसके स्वरूप का ज्ञान तो दूर है । जिस मार्ग से भगवान् सर्वत्र गमन करते हैं उसे गति कहते हैं । जैसे मनुष्य लोग देवताओं को नहीं जानते ।

श्री महादेव तो भगवद्गुणावतार है और सबके गुरू हैं और 'ईश्वराज्ज्ञानमन्विच्छेत्' इत्यादि वाक्यों में ज्ञान के भंडार कहे हैं । इसलिये महादेवजो तो भगवान् के स्वरूप को जरूर जानते होंगे । यदि ऐसा कोई समझता हो तो उत्तर देते हैं कि 'न वाम देवः' वामदेव (महादेव) भी भगवत्स्वरूप को नहीं जानते । तो फिर इनसे कनिष्ठ कक्षा के देव लोग तो कहां से जान सकते हैं ?

ये लोग भगवान् के स्वरूप गुणों को नहीं जानते इसमें एक युक्ति बताते हैं 'यन्मायया' । पूर्वाध्याय में जिस माया का निरूपण कर आये हैं, उस ज्ञान सम्बधिनी माया ने सबको बुद्धियों को मुग्ध कर रखी हैं । अतएव ये लोग भगवन्माहात्म्य को पूरा-पूरा नहीं जानने पाते । ज्ञानेन्द्रियों पर जब बुद्धि अनुग्रह करती है तब वे किसी भी विषय का ज्ञान होने की बात कहीं की कहीं रह जाय तो फिर ज्ञानेन्द्रियों का बनाना ही व्यर्थ समझा जायगा, ऐसी कोई शंका करें उसका उत्तर देते हैं कि—'इद विनिर्मित' इत्यादि । भगवान् के बनाये हुए इस जगद्रूप कार्य को हम सब लोक अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार पहचान रहे हैं । अर्थात् यथार्थ रीति से पूरा-पूरा भगवत्स्वरूप को समझने में ही माया भूल डाल देती है, पर अपनी बुद्धि के अनुसार उसके किये कार्य के समझने में वह विघ्न नहीं करती । इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जब भगवान् का कार्य विद्यमान है तब भगवान भी है हो इसलिये जो लोग 'भगवान् नहीं है' यह कहते हैं उनका पक्ष अपने आप गिर जाता है । 'आत्म समं' कहकर यह भी कह दिया कि भगवत्कार्य को पहचानने में हम अपने स्वरूप के अनुसार ही पार पाते हैं, विशेष नहीं । भगवान् के प्रायः सब ही गुणों को प्रसिद्ध कर देने वाला

यह जगत् है। अतएव यदि हममें समझने की कुछ विशेष सामर्थ्य होती तो फिर विशेष विशेष अनुमान कर करके सब ही विशेषों को समझ लेते, बाकी क्यों रखते। पर सो नहीं हमारे अपनपे में ज्ञान का सामर्थ्य ही इतना रखा है कि सब उतना ही समझ सकते हैं जितने हम हैं ॥ ३६ ॥

आभास—एवं ज्ञानमार्गस्य दुर्ज्ञेयत्वमुक्त्वा भक्तिमार्गस्याऽप्यशक्यतामाह—

आभासार्थ—यह अशक्यता ज्ञान मार्ग में ही है सो नहीं, पर सब सामर्थ्य से तो भक्तिमार्ग में भी भगवत्स्वरूप गुणों के समझने का असामर्थ्य है, यह कहते हैं—

श्लोक—**यस्याऽवतारकर्माणि गायन्ति ह्यस्मदादयः।**
न यं विदन्ति तत्त्वेन तस्मै भगवते नमः ॥३७॥

श्लोकार्थ—हम लोग जिन भगवान् की लीलाओं का केवल गान करते हैं किन्तु उन्हें तत्त्वतः नहीं जानते उन भगवान् को नमस्कार है ॥३७॥

सुबोधिनी—यस्याऽवतारकर्माणीति। साक्षाद्भक्तिर्नास्त्येव। परम्पराभक्तिः कथमपि केनचित्कर्त्तव्या। तत्र परम्पराभक्तिमध्ये गुणकीर्त्तनमुत्तममित्यस्मदादयोऽवतारकर्माणि गायन्ति। अवतारपदेन तस्य कर्माण्यपि न जानन्तीति सूचितम्। कर्मपदेन गुणास्तु न ज्ञायन्त एव। गुणा ह्युत्कर्षाधायकाः। के वा भगवतो धर्मा भगवतः सर्वोत्तमत्वमन्यं वोत्कर्षं साधयन्तीति ज्ञानं दुर्लभम्। अवतारपदेन च शरीरेणाऽऽकृत्या वा गूढो भगवानिति कार्यज्ञानवद्भक्तिरपि सोपाधिका निरूपिता। तर्हि किमर्थं कथयन्तीत्याशङ्क्याऽऽह—**गायन्तीति।** गानेन सुखं जायत इतीतरगानापेक्षया भगवद्गुणगाने सुखाभिव्यक्तेर्दृष्टत्वात्तदेव कुर्वन्तीत्यर्थः। हिशब्दस्त्विममेवाऽर्थमाह। तत्त्वमिदमित्थमेवंरूपम्। तथापि ज्ञानाऽज्ञानाभ्यामुपलक्षितो भगवान् कश्चिदस्तीति विनिश्चित्य मार्गद्वयेऽपि तत्र कर्त्तव्यान्तराभावान्नमनमेव कर्त्तव्यमित्याह—**तस्मा इति।** यद्यपि सर्वप्रमाणातीतस्तथापि सर्वत्र प्रसिद्धः। तत्र च नमनमेव कर्त्तव्यं नाऽन्यदिति। नमनञ्च—"**यादृशोऽसि हरे कृष्ण तादृशाय नमो नम**" इति ॥३७॥

व्याख्यार्थ—भगवान् की प्रेम सहित साक्षात्परिचर्या तो हो ही नहीं सकती, इसलिये ये यदि कोई करे तो परम्परा भक्ति कर सकता है, उस परम्परा भक्ति में भगवद्गुणों का कीर्त्तन उत्तम है, इसलिये हम सब उन भगवान् के अवतार चरित्रों का गान करते हैं। अवतार पद देकर यह भी सूचित कर दिया है कि वास्तव में देखा जाय तो हम लोग भगवान् के चरित्रों को भी साक्षात्रूप से तो नहीं ही जानते और कर्म-पद दिया है इसलिये गुणगान की ही आशक्यता कह दी है। उत्कर्ष को दिखाने वाले कर्मों को गुण कहते हैं अतएव वहां भी कौनसे धर्म भगवान् के सर्वोत्तमत्व किंवा उत्कर्ष को प्रकट करने वाले हैं यह समझ दुलभ ही रहती है, क्योंकि साक्षात्भक्ति ही नहीं है। अवतार पद से एक और भी न्यूनता है। अवतार अवस्था का अर्थ यह है कि भगवान् अपने स्वरूप को शरीर किंवा आकार के द्वारा छुपाकर बाहर प्रकट होते हैं। इसलिये वह भक्ति भी हमारी सोपाधिका ही गिनी जाती है। तो फिर आप लोग भगवान् का ही वर्णन क्यों करते हो? इस प्रश्न का उत्तर 'गायन्ति' शब्द से दिया है। गान एक सुख कारक कार्य है, अतएव जब गाने लगते

हैं तब यह मान लेते हैं कि जब गाना ही है तो फिर इतर गान की अपेक्षा तो भगवद्‌गुण गान करना ही सुख कारक है और देखी हुई बात है, इसलिये यही किया करते हैं 'हि' शब्द से यही कहा है। तात्पर्य को निश्चितता 'तत्वेन' शब्द से कह दी है, तथापि नमन तो सिद्ध है ही, चाहे उसे समझें या न समझ सकें, तथापि ज्ञानाज्ञान का विषय वह भगवान् है तो सही यह निश्चय हो रहा है, अतएव ज्ञानभक्ति दोनों मार्गों में नमन तो कर्त्तव्य है हो, क्योंकि उसका स्वरूप और अपने सामर्थ्य को देखकर अन्य कर्त्तव्य कुछ बन ही नहीं सकता। इसलिये कहा है कि— 'तस्मै नमः'। यद्यपि भगवान् सब ही प्रमाणों से अगम्य है, तथापि प्रसिद्ध तो हैं हो, यह दिखाने के लिये 'तस्मै' कहा। तात्पर्य यह कि वह जो है, जैसा है, बस उसी और वैसे के ही चरणों में दैन्य प्रेम पूर्वक प्रणाम करता रहे, बस जीव की इतनी ही शक्ति है।

नमन करते समय कह देना चाहिये कि "यादृशो सि हरे कृष्ण तादृशाय नमोनमः"। हे कृष्ण, हे हरे! आप जैसे हो वैसे को ही हम नमन करते हैं ॥ ३७ ॥

आभास—एवं भगवतो माहात्म्यं निरूप्य पूर्वोक्तां सृष्टिमुपसंहरन् तत्त्वमुपसंहरति-

आभासार्थ—इस तरह अज्ञेय रूप से भगवान् का माहात्म्य कहकर अब पूर्वोक्त सृष्टि कथन का उपसंहार करना है इसलिये तात्पर्य का संक्षेप करते हैं।

श्लोक—स एष आद्यः पुरुषः कल्पे कल्पे सृजत्यजः।
आत्माऽऽत्मन्यात्मनाऽऽत्मानं संयच्छति च पाति च ॥३८॥

श्लोकार्थ—ये ही आद्यः पुरुष खुद 'अज' होने पर भी कल्प-कल्प में इस जगत् को उत्पन्न करते हैं वे स्वयं आत्मा (व्याप्त) है उस आत्मा में आत्मा को मारते हैं और रक्षा करते हैं ॥३८॥

सुबोधिनी—स एष इति। योऽस्माभिर्न ज्ञायते स एवैष इदानीमस्मद्‌बुद्धौ स्थित्वा सर्वं करोतीति। तस्यैव स्रष्टृत्वे हेतुः **आद्य इति**। **पुरुष इति** साधनम्। **कल्पे कल्प इति** सकृत्सृष्टिर्निवारिता। **अज इति** स्वस्य सदैकरूपत्वम्। उपादानत्वं करणत्वं कर्तृत्वं स्वस्यैवेत्याह। आत्मा स्वयमेव कर्त्ता। आत्मनि स्वस्मिन्नेवाऽधिकरणे। आत्मना स्वेनैव करणेन। आत्मानं विश्वरूपं स्वयमेव कर्म। अनेनाऽन्येऽपि विभक्त्यर्था ज्ञातव्याः। न केवलमुत्पादयति। अपि तु संयच्छति मारयति। पाति रक्षति। चकारौ तु भिन्नविषयत्वव्युदासकौ। यदाऽपि हरति तदाऽप्युत्पादयति। एवमन्यस्मिन्नप्यन्यसम्बन्धनिरूपणार्थं वा। युक्तिस्त्वत्र महायोगसिद्धो बाह्यसाधनव्यतिरेकेणैव स्वेच्छया बहुरूपो भवति। भगवति तु योगादिकमपि नाऽपेक्ष्यते। सर्वसामर्थ्ययुक्तं स्वरूपमेव तथाभूतं यतः ॥३८॥

व्याख्यार्थ—वो यह आद्य पुरुष अजन्मा रहकर कल्प कल्प में अपने आप में, अपने आपसे ही, अपने आपको ही पैदा करता है, संहार करता है और पालन भी करता है जो हमारी समझ में नहीं आ रहा है। वही यह पुरुष आजकल हमारी बुद्धि में समाकर सब कुछ कर रहा है। वही पुरुष सर्ग करता है

इसमें हेतु 'आद्य' शब्द है अर्थात् सबके पहले भी वही है, इसलिये सृष्टा है। वह पुरुष है बस, इसी से सब साधन कह दिये अर्थात् अन्य साधन रूप भी वही है।

एक बार ही सृष्टि होती है इस पक्ष का निवारण करने के लिये यहाँ 'कल्पे कल्पे' कहा है। जिस समय में सृष्टि रचना हो सकती है उस समय के टुकड़े को कल्प कहते हैं। सृष्टिकर्त्ता वह अपने आप तो सदा एक रूप ही रहता है, यह 'अजः' शब्द से कहा है। उपादानकरण, कारण और कर्त्ता तीनों एक आप ही है, यह दिखाते हैं—'आत्मात्मनि' इत्यादि। आत्मा अर्थात् जगत् का कर्त्ता स्वयं पुरुष। आत्मना अर्थात् अपने स्वरूप साधन (करण) से, आत्मनां अपने विश्वरूप स्वरूप को बनाता है। उपलक्षण न्याय से सम्प्रदान अपादानादि अन्य विभक्तियों के भी अर्थ हैं वे सब वह भगवान् ही हो जाता है यह समझ लेना चाहिये। केवल पैदा करता है इतना ही नहीं, पर मारता है और पालन भी करता है। यहां दो बार 'चकार' आया है उसका तात्पर्य भिन्न विषय निषेध है। अर्थात् मारने के समय और पालन करने के समय भी अपने आपे के सिवाय अन्य विषय नहीं है। मारणक्रिया और पालनक्रिया का भी विषय भगवान् आप ही है।

एक बात और जिस-जिस समय वह हरण करता है उसी समय पैदा भी करता तथा स्थापन भी करता है। विरुद्ध धर्माश्रय है अथवा अन्य धर्म में अन्य धर्मों का सम्बन्ध दिखाने के लिये दो चकार हैं अर्थात् उत्पादक और मारक रहते भी यह भगवान् स्थिति स्थापक बना रहता है। इस विषय में युक्ति तो महायोग सिद्धि है। जैसे महायोगी सिद्ध पुरुष, वैसे कोई साधन न रहते भी अपनी इच्छा से ही अनेक रूप हो जाता है, इसी तरह भगवान् भी सर्वरूप हो जाता है। योगी को तो योग सिद्धिरूप अन्य साधन का सहारा है भी पर भगवान् को तो इसकी भी अपेक्षा नहीं है भगवान् का तो स्वरूप ही सर्व सामर्थ्य युक्त हैं ॥ ३८ ॥

आभास—ननु नाऽयं भगवन्मार्गः साधीयान्। एतदपेक्षया ज्ञानमार्ग एव ब्रह्मात्मस्वरूपभूव उत्तमः। स हि ज्ञातुं शक्यत इत्याशङ्क्य तं पक्षमनूद्य दूषयति—विशुद्धमिति द्वाभ्याम्—

आभासार्थ—तब यह आशंका होती है कि यह तुम्हारा तीसरा ही भगवन्मार्ग कुछ बहुत अच्छा नहीं है इससे तो ब्रह्म का आत्मस्वरूपभूत ज्ञान-मार्ग ही उत्तम हैं, क्योंकि वह समझ में तो आ सकता है। इस तरह ज्ञान मार्ग के इस पक्ष का अनुवाद करके दो श्लोकों में इसका खण्डन करते हैं।

श्लोक—विशुद्धं केवलं ज्ञानं प्रत्यक् सम्यगवस्थितम्।
सत्यं पूर्णमनाद्यन्तं निर्गुणं नित्यमद्वयम् ॥३९॥

श्लोकार्थ—उसको तत्व से नहीं जानते हैं, उस तत्व को कहते हैं कि वह विशुद्ध है निर्गुण है, नित्य है, द्वैत भाव से रहित है ॥३९॥

सुबोधिनी—एते हि द्वादश धर्मा देहादात्मनो वैलक्षण्यप्रतिपादकाः । तैर्ज्ञातैरहंममेत्यसद्भावं **देहादौ मोहजं त्यजेदिति** फलिष्यति । तत्र देहस्त्वत्यन्तं मलिनो मलमूत्रादिपूर्णत्वादशुद्धश्च । आत्मा तु विशेषेण शुद्धः । न हि शुद्धाशुद्धयोरैक्यम् । अनेनाऽऽत्मनः संस्काराः केऽपि नाऽपेक्ष्यन्त इत्युक्तं भवति । देहे कृतः संस्कारो व्यर्थ एव । अनेन प्रथमं सर्वसाधनपरित्यागः सूचितः । किञ्च । केवलोऽयमात्मा । एक एवाऽसहायः । देहस्तु पुत्रादिसर्वसहितः । आत्मनस्त्वेकत्वे ज्ञाते पुत्रादिचिन्ता दूरे गच्छति । तेन वैराग्यं सिद्धं भवति । एवं परित्यागो वैराग्यं च निरूपितम् । किञ्च । अयमात्मा ज्ञानरूपः । देहस्तु ज्ञेयः । अनेन ज्ञानार्थमपि यत्नो निराकृतः । न ह्यात्मा ज्ञेयो भवति । शास्त्राणि तु दूरात्परिचायकानि । तेन आत्मना स्वयं ज्ञातानि लब्धसत्ताकानि भवन्ति । अतस्तानि प्रमाणानि स्वात्मानमेव तत्सम्बन्धात्प्रमाणमिति बोधयन्त्यात्मबोधकानीत्युपचर्यन्ते । तस्मादेवम्भावे आत्मनो ज्ञाते ज्ञानार्थमपि प्रयत्नस्त्यक्तव्य इत्युक्तं भवति । किञ्च । अयमात्मा प्रत्यक् प्रत्यक्त्वेन वेद्यः । देहस्तु पराक् । अत आत्मन एवम्भावे ज्ञाते योगोऽपि व्यर्थः । तेन हि स्ववृत्तावात्मस्फूर्त्ति कृत्वा पराक्त्वं सम्पाद्यत आत्मनः । यथा मथनेनाऽग्नेर्बाह्यत्वम । ननु गूढं प्रकटीक्रियत इति योगोपयोगोऽस्तीत्यत आह—**सम्यगिति** । यथाऽऽत्मा वर्त्तते तथैव सम्यक् । न तु प्रकटितः । देहवैलक्षण्यं च । देहस्त्व-सम्यक् । न हि यादृशोऽस्ति तादृश एव स्थापनीयः, किन्तु संस्कारैरुत्तमः कर्त्तव्यः । किञ्च । अयमात्मा अवस्थितः अचलः । तस्मात्तत्स्थिरीकरणार्थमावापोद्वापनरूपं मननं न कर्त्तव्यम् । अनवस्थितस्य हि युक्त्या अवस्थापनम् । देहवैलक्षण्यं च सिद्धमेव । देहस्य सर्वथाऽनवस्थितत्वात् । अनेन नाडीशोधनादिना देहसिद्धिप्रयासोऽपि व्यर्थ इत्युक्तम् । किञ्च । अयमात्मा सत्यः सदैकरूपः । देहस्तु न तथेति स्पष्टमेव । अनेन कालान्तरे आत्मनोऽन्यथाभावो भविष्यतीति शङ्कया योगादिभिः प्रयत्नकरणं निवारितम् । किञ्च । अयमात्मा पूर्णः । देहस्तु परिच्छिन्नः । अनेनाऽऽत्मनो न्यूनतापरिहारार्थमपि यत्नो न कर्त्तव्य इति सूचितम् । स्वत एव पूर्णत्वात् । ननु पूर्णस्याऽपि सदैकरूपस्याऽप्याकाशादेरावरणनिराकरणेन विशालता सम्पाद्यते । तथाऽऽत्मनोऽप्युपाधिनिराकरणार्थं यत्नः कर्त्तव्य इत्याशङ्क्य निराकरोति—**अनाद्यन्तमिति** । यस्य ह्याद्यन्तावुत्पत्तिप्रलयौ स्तः । स हि सजातीये घटपटादौ अन्वेतीति तस्योपाधयः सम्भवन्ति । नह्यन्तःकरण शरीरमन्यद्वा आत्मन आवरकं सम्भवति । अविकारित्वादसङ्गत्वादव्यवहार्यत्वाच्च । तस्मात्केनाऽप्यंशेन उत्पत्तिप्रलययोरभावादुपाधिनिराकरणार्थमपि न यत्नः कर्त्तव्यः । देहादयस्तु तत्प्रकाशेन भासन्ते । न तु तदुपाधयः । अत आत्मन एवम्भावेऽवगते देहनिराकरणार्थमपि प्रयत्नो व्यर्थः । ननु गुणैः क्षोभसम्भवादेवम्भावस्थित्यनुपपत्तेः सर्वदा तथास्थित्यर्थं गुणक्षोभनिराकरणाय यत्नः कर्त्तव्य इत्याशङ्क्याऽऽह—**निर्गुणमिति** । नह्यात्मनो गुणाः सन्ति । एते हि सत्त्वादयः प्रकृतेर्गुणाः । न ह्यन्यदीयैरसम्बद्धैरात्मनः क्षोभो भवितुमर्हति । तस्मात्तदर्थमपि न यत्नः कर्त्तव्यः । किञ्च । एतादृशस्वभाव आत्मा सर्वदा न तु कदाचिदित्याह—**नित्यमिति** । यावन्त आत्मनो धर्मा निरूपिताः परिचायकत्वेन तैः सहित आत्मा नित्यो न तु ते तत्रोत्पाद्यन्ते । तस्मात्तादृशत्वसिद्ध्यर्थमपि न यत्नः । किञ्च । यद्ययमात्मा अनानन्दमयो भवेत्तदा भगवत्सायुज्यं ब्रह्मता वा सम्पादनीया स्यात् । किन्त्वयमेव ब्रह्म भगवानिति । "**अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयः**" इति श्रुतेः । "**अहमात्मा गुडाकेश**" इति च । तस्माद्भगवत्सायुज्यार्थं ब्रह्मभावार्थं वा न यत्नः कर्त्तव्य इत्याह—**अद्वयमिति** । न ह्यात्माद्वयरूपः । पुरुषेश्वरयोरत्र न वैलक्षण्यमण्वपि ।

"मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यती" ति । "अन्योऽसावन्योऽहमस्मी" ति निन्दाश्रवणात् । नह्यात्मनि नानात्वमस्ति । वैलक्षण्यं तु दूरे । सर्वत्र चैकरूपः सर्वत्राऽक्षोभ्यः सर्वत्रोत्पत्तिविनाशधर्मरहितः सर्वत्र परिच्छेदरहितः सर्वत्रैकरूपः सर्वत्र निश्चलः सर्वत्र समीचीनः सर्वत्र प्रत्यक्स्फूर्तिरूपः सर्वत्र ज्ञानरूपः सर्वत्राऽसङ्गोदासीनः शुद्धश्चेति परिचायकप्रकारेणाऽऽत्मन्यवगते कृतार्थो भवति । न किञ्चित्कृत्यमिति । ।।३६।।

व्याख्यार्थ—यह ज्ञान रूप पुरुष निर्मल निर्दोष है । असहाय शूर है । अतिगूढ़ है । जैसा है वैसा ही उत्तम है । अपने स्वरूप में ही सर्वदा स्थित रहता है । अतएव सर्वदा एक रूप है, पूर्ण है । उत्पत्ति प्रलय रहित है । निर्गुण है । नित्य है और सच्चिदानन्द स्वरूप रहते भी अद्वय है । अभिन्न है । ज्ञान प्रधान है ।

किंचित् किंवा सच्चिदानन्द स्वरूप इस पुरुष में ये द्वादश धर्म हैं । इन धर्मों से ही देह और आत्मा का परस्पर भेद जाना जाता है । इन धर्मों को जब जीव अच्छी तरह समझ लेता है, तब देहेन्द्रियादि में जो इसे भूल से अहंता ममता रूप असद्भाव हो रहा है, वह धीरे २ जाता रहता है । देह और आत्मा का विवेक (भेदस्पष्टता) इस तरह होती है:—

देह अत्यंत मलिन है । मल मूत्रादि से भरा हुआ है अतएव अशुद्ध है । किन्तु आत्मा विशेष रूप से शुद्ध है । शुद्ध और अशुद्ध पदार्थों का ऐक्य किसी तरह भी नहीं हो सकता । इससे यह भी स्पष्ट हो रहा है कि आत्मा को किसी तरह के भी संस्कारों की अपेक्षा नहीं । किन्तु देह में नित्य किये जाते सब संस्कार व्यर्थ ही हैं । क्योंकि वह नित्य फिर वैसा का वैसा अशुद्ध हो जाता है । इसलिये ज्ञान मार्ग में पहले सब साधनों का परित्याग कर देना चाहिये । यह सूचना प्राप्त होती है ।

यह आत्मा असहाय शूर है अतएव इसे अपनी मुक्ति में बाह्य साधनों की अपेक्षा नहीं । किन्तु देह पुत्र स्त्री आदि सहित हैं, अतएव इसे अपने साथ दूसरों की भी चिन्ता लगी रहती है । प्रत्युत आत्मा की केवलता यदि समझ में आ जाय तो पुत्रादि की चिन्ता कहीं की कहीं चली जाती है अतएव इस मार्ग में स्वाश्रय मुक्ति है और भगवन्मार्ग में पराश्रया मुक्ति है । तो उससे यह मार्ग अच्छा ही है । इस ज्ञान मार्ग में आत्मा के स्वरूप से ही वैराग्य स्वतः सिद्ध है और देहादि में तो वैराग्य के लिए उपाय करने पड़ते हैं । केवल विशेषण से सर्व परित्याग और वैराग्य का निरूपण हो जाता है ।

यह आत्मा ज्ञान स्वरूप हैं और देह तो ज्ञेय है । इससे आत्मा को जानने के लिये श्रम करने का भी निराकरण हो जाता है । आत्मा ज्ञेय नहीं है । आत्म-ज्ञान कराने वाले शास्त्र तो दूर से केवल पहचान करा देने वाले हैं । प्रत्युत ये वेदादि शास्त्र, आत्मा के प्रकाश से जब संबद्ध होते हैं, तब ही अपनी सत्ता प्रकाशित करने में समर्थ होते हैं और प्रमाण भी तब ही होते हैं । इन शास्त्रों

को तो उपचार से आत्मबोधक कहते हैं। और इस तरह सर्व पदार्थ मात्र का प्रकाश करने वाले आत्मा का जब यह सामर्थ्य समझ में आ जाय वे तब ज्ञान के लिये भी प्रयत्न करना छोड़ दें, यह कहने का तात्पर्य है।

फिर यह आत्मा प्रत्यक् है, मन बुद्धि को भीतर की तरफ ले जाकर जानने योग्य है। पर देह तो बाहर से मन इन्द्रियों द्वारा जानने योग्य है पराक् है। ऐसी अवस्था में यदि आत्मा का यह भाव जान लिया जाय तो फिर योग साधन भी व्यर्थ ही है। योग से तो उल्टा, अपनी मनोवृत्ति में आत्मा को स्फूर्ति तैयार करके उसको पराक् बनाया जाता है। जैसे आन्तर अग्नि को मथन के द्वारा बाह्य बनाया जाता है। इसलिये योग तो सम्यक् को असम्यक् करने वाला है। कदाचित् कोई कहे कि आत्मा गुप्त हैं अतएव योग के द्वारा उसे प्रकट किया जाता है, इसलिये योग का उपयोग है ही, तो इसका उत्तर देते हैं कि 'सम्यक्'। आत्मा तो जैसा है वैसा ही अच्छा है। बाहर होने से अच्छा नहीं। आन्तर रहने से ही उसकी अच्छाई है। देह बाह्य होने से असम्यक् है। अतएव देह को जैसा है वैसा का वैसा थोड़ी देर भी रखकर सम्यक् नहीं रख सकते। किन्तु स्नानादि अनेक संस्कार कर कर के उसे अच्छा रखना पड़ता है।

यह आत्मा अवस्थित (अचल) भी है। इसलिये आवाप और उदाप के द्वारा स्थिर रखने के लिये इसके मनन करने की भी अपेक्षा नहीं है। कुछ बाधक धर्मों का उद्वाय (निराकरण) और सहायक धर्मों का(आवाप)स्थापन करके मनन किया जाता है। आत्मा स्थिर है। जो अनवास्थित है उसको युक्तियों से स्थिर किया जाता है। आत्मा तो सर्वदा स्थिर रहने से अवस्थित है ही। देह सर्वदा अनवस्थित (अस्थिर) है। इसलिये आत्मा इससे जुदा है। इसलिये नाड़ी शोधनादि से जो देह सिद्धि का प्रयास करने में आता है वह भी व्यर्थ है। क्योंकि आत्मा का देह से कोई विशिष्ट सम्बन्ध नहीं है। यह आत्मा (सत्य) है सर्वदा एक रूप रहता है। देह ऐसा नहीं है, यह सबको मालुम है ही। इसलिये आत्मा को सदा एक रूप रखने के लिये योगादि का श्रम करना उचित नहीं है।

यह आत्मा पूर्ण है और देह तो अपूर्ण है। इससे स्पष्ट है कि आत्मा की न्यूनता दूर करने के लिये भी यत्न करना निष्फल है। क्योंकि वह स्वत: पूरा है। यहां यह प्रश्न हो सकता है कि जैसे आकाश पूर्ण सदा एक रूप है तथापि यदि उसके भीत वगैरह से आड हो रही हो तो उन्हें हटाकर उसको भी विशाल बनाया ही जाता है। इसी तरह आत्मा की भी उपाधियों को दूर करने के लिये यत्न करें तो क्या हानि है ? इसका उत्तर देते हैं कि 'अनाद्यन्तम्'।

जिसके उत्पत्ति प्रलप्त होते हों और वह अपने सजातीय पदार्थ में रहता है तब उसके उपाधि लगानी संभव है जैसे घटादि में घुसने से आकाश में उपाधि होती है। ऐसी उपाधि आत्मा में होनी असंभव है। अन्त:करण, शरीर किंवा और भी कोई पदार्थ आत्मा का आच्छादक नहीं हो सकता। क्योंकि आत्मा स्वयं विकार रहित है, निर्लेप है और व्यवहार में आने योग्य नहीं है। इसलिये किसी तरह भी आत्मा में उत्पत्ति, प्रलय की संभावना भी नहीं है, तो फिर उपाधि-

निराकरण करने के लिये भी प्रयत्न करना व्यर्थ है। यदि कहो कि देह अन्तःकरण आदि आत्मा की सत्ता से ही प्रकाशित हो रहे हैं वे उसकी उपाधि नहीं हो सकते ? और जब आत्मा को सर्व प्रकाशक जान लिया तो फिर देहादि निराकरणार्थ भी यत्न व्यर्थ हैं।

एक शंका यह है कि सत्व, रज आदि गुणों के द्वारा आत्मा का क्षोभ हो सकता है इसलिये आत्मा की सर्वदा एक स्थिति रखने के लिये गुणक्षोभ निराकरण आवश्यक है तो इसके लिये तो यत्न करना ही चाहिये इसके उत्तर में कहते हैं कि 'निर्गुणम्' देहादि प्रकृति के हो गुण है। अतएव जो गुण दूसरे के हैं और जिसे आत्मा का कुछ भी संबन्ध नहीं है उनके द्वारा आत्मा में क्षोभ हो यह संभव ही नहीं है। इसलिये गुणक्षोभ निराकरण के लिये भो यत्न करना व्यर्थ है। और इस तरह का आत्मा सर्वदा हो रहता है, यह कहने के लिये ही 'नित्यः' कहा है। पहले सत्य शब्द से आत्मा की स्वरूपनित्यता कही, अब यहाँ नित्य कहकर उस ('आत्मा') के धर्मों को नित्य कहा है। अभी तक जितने भी स्वरूप परिचायक आत्म धर्म कहे हैं वे सब सर्वदा वर्तमान हैं और उन सहित आत्मा नित्य है। आत्मा में आत्मा के धर्म पैदा नहीं किये जाते। इसलिये उसके धर्मों को नित्य रखने के लिये भो यत्न व्यर्थ है।

एक और भी बात है कि यदि यह आत्मा आनन्दमय न हो केवल चिन्मय ही हो तो फिर आगे भगवत्सायुज्य की किंवा भगवत्सायुज्य करने की अपेक्षा रही आवै। किन्तु वास्तव में यह आत्मा ही ब्रह्म भी भगवान् भी हैं। क्योंकि 'अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयः' 'अहमात्मा गुडाकेशः' इन श्रुति और भगवद्वाक्य से आत्मा, भगवान् और ब्रह्म हैं यह स्पष्ट है इसलिये भगवत्सायुज्य के लिये और ब्रह्म भाव के लिये भी प्रयत्न करने की अपेक्षा नहीं है। सो सब कहते हैं–'अद्वयम्'। यह आत्मा द्वय रूप नहीं है। अर्थात् भगवान् और आत्मा का कोई भेद नहीं है। 'पुरुषेश्वरयोरत्र न वैलक्षण्यमण्वपि' ज्ञान मार्ग में पुरुष और ईश्वर का कुछ भेद नहीं है। जो कोई इन दोनों में फरक समझता है उसकी 'मृत्योःस मृत्युम्' इत्यादि और 'अन्योऽसावन्योऽहं' इत्यादि श्रुतियों में निन्दा की गई है। आत्मा में नाना रूपता ही नहीं है तो वैलक्षण्य तो कहाँ से आवे ? यह आत्मा सब पदार्थों में एक रूप, सब जगह बिना क्षोभ वाला, उत्पत्ति विनाश धर्मों से रहित, सब जगह भेद रहित, सर्वत्र स्थिर, सर्वत्र सुस्थित, सब जगह आन्तर स्फूर्ति वाला, सर्वत्र ज्ञान रूप, सब जगह असङ्ग, उदासीन और शुद्ध है। इस तरह इस आत्मा को जब परिचायक रूपों से जान लिया जाता है। तब ज्ञानी कृतार्थ हो जाता है फिर इसे कोई कर्तव्य नहीं रहता है ॥३९॥

आभास—एवमात्मज्ञानमार्गं निरूप्य तं पक्षं दूषयति—

आभासार्थ—इस प्रकार उक्त कथन से आत्म-ज्ञान मार्ग का निरूपण कर अब उसका खण्डन ('दूषण प्रतिपादन') करते हैं—

श्लोक—**ऋषे विदन्ति मुनयः प्रशान्तात्मेन्द्रियाशयाः ।**
यदा तदेवाऽसत्तर्कैस्तिरोधीयेत विप्लुतम् ॥४०॥

श्लोकार्थ—हे नारद ! शान्त मन वाले पुरुष इस पूर्वोक्त अक्षर पुरुष को जानते

हैं, यह माना; किन्तु लौकिक असत् तर्कों से जब इसे जानना चाहते हैं तब यह अन्धकार में डूब कर छिप जाता है ॥४०॥

सुबोधिनी—ऋष इति । हे ऋषे नारद । त्वं हि मन्त्रद्रष्टा सर्वसिद्धान्तं जानासि । किमेतावता आत्मा एतादृश इति । प्रतीयमानस्याऽनर्थस्य निवृत्तिरपेक्ष्यते । यद्यात्मन्येतादृशेऽपि संसारः स्यात्तदा अनिर्मोक्षः । भ्रमात्प्रतीतावपि भ्रमो निवर्त्तनीयः । एवंभावज्ञानादेव निवर्त्तनपक्षेऽपि ज्ञानं प्रमाणतः सम्पादनीयम् । तत्प्रमाणं वेदो भवितुं नाऽर्हति । बहुवादिविप्रतिपन्नत्वात् । किन्तु प्रमाणसहितं योगयुक्तं मन एवाऽऽत्मनस्तथात्वं बोधयति । तं पक्षमङ्गीकृत्य दूषयति । मुनयः यदा मननशीलाः । प्रशान्त आत्मा इन्द्रियाणि च येषाम् । शुद्धान्तःकरणा जितेन्द्रियाः । तैर्मनने क्रियमाण एवाऽऽत्मा भासते । तदेव गुणस्वरूपमसत्तर्कैः कुयुक्तिभिर्विप्लुतं सत्तिरोभूयेत् तिरोभावं प्राप्नुयात् । सर्वदा एतादृश आत्मानुसन्धाने कदाचिदपि संसारस्फूर्त्तिर्न स्यात् । तथात्वे वा संसारस्फूर्त्तावनिर्मोक्षप्रसङ्गः शास्त्रवैफल्यश्च । तस्माद्दृष्टानुपपत्त्या एतदभ्युपगन्तव्यम् । ये मुनयः प्रशान्तात्मेन्द्रियाशयास्तेषामात्मा तथाविधः स्फुरति तदा न संसारः । अन्यान्प्रति न स्फुरति तदा तेषां संसार इति । एवमपरोक्षकथापरोक्षकथायामपि प्रमाणेन वेदादिना सत्तर्कसहितेन तत्स्फुरत्यसत्तर्कैर्विप्लुतं सत्तिरो भवतीति । अतः परमेतन्नियमनार्थं किञ्चिदङ्गीकर्त्तव्यम् । यस्मिन् क्रियमाणे असत्तर्कादिकमप्यभिभूय ज्ञानमुदेतीति । प्रशमादयस्तु प्रथमतो न सम्भवन्ति । तेषां साधनाभावात् । साधनाऽभावेऽपि यदि जायेरंस्तदा सर्वदैव स्युः । तस्मात्तादृशमेकं साधनं वक्तव्यं यदव्यभिचारि भवति । भक्तिश्चेत्कृतमात्मनिरूपणेन । भक्तेः स्वातन्त्र्येणैव मोक्षदानात् । भगवतस्तादृशस्याऽऽत्मत्वाच्च । अतो भक्तिरहितः स मार्गो न सिद्ध्यति । भक्तौ च जातायां किं तेन मार्गेण । अत उभयथाऽप्यप्रयोजकं तत् । तस्माद्भगवतस्तदेकं रूपमात्मभूतमिति भगवन्माहात्म्यमेतत् । विभूतिर्वा । तस्माद्बालानां हस्ताग्र चन्द्रबुद्धिवदात्मबुद्धिरिति न तच्छ्रवणमात्रेण कार्यसिद्धिरिति भावः ॥४०॥

व्याख्यार्थ—हे ऋषे नारद ! तू भी सब वेद मन्त्रों का जानने वाला है अतएव सब सिद्धान्तों को जानता है । हमने मान लिया कि ज्ञान मार्ग में आत्मा को पूर्व श्लोकोक्त स्वरूप माना है और वह ऐसा ही है पर इससे क्या ? आत्मा में अनेक अनर्थ जो मालूम हो रहे हैं उनकी निवृत्ति तो करनी ही चाहिये । घट स्थानीय शब्द ज्ञान और दण्ड स्थानीय प्रत्यक्ष ज्ञान है । घट पैदा होता भी रहे पर यदि उस पर डण्डे की मार पड़ती रहे तो क्या हजार जन्म में घट तैयार हो सकेगा ? कभी नहीं । इसी युक्ति के अनुसार कहना पड़ता है कि शब्द के द्वारा आत्मा नित्य, सत्य ज्ञान शुद्ध स्वरूप आदि सिद्ध होता भी है पर प्रत्यक्ष में तो उसके अनित्यता, अज्ञानता, प्रभृति अनेक दोष प्रतीत हो रहे हैं । ये प्रत्यक्ष सिद्ध दोष, उसे वैसा सिद्ध होने ही क्यों देंगे । अब यदि उसे वैसा सिद्ध करना है तो उसके इन अनर्थों की निवृत्ति करनी होगी । वेदादिशास्त्रों से आत्मा विशुद्ध सिद्ध होता है पर प्रत्यक्ष से संसारी । अब यदि ऐसे आत्मा को भी संसार लग सकता है तो फिर उसकी मुक्ति कैसे होगी । क्योंकि संसार तो उससे भी जबर्दस्त ठहरता है । यदि कहो कि आत्मा के ऐसे पन को समझने से ही सब अनर्थों की निवृत्ति हो जायगी . तो भी ठीक नहीं । क्योंकि आत्मा का ज्ञान तो प्रमाण के द्वारा ही संपादन करना होगा और उसमें प्रमाण वेद को

ही कहोगे। पर केवल अकेला वेद ही तुम्हारे सिद्धान्त में प्रमाण हो नहीं सकता। जिस वाक्य से तुम उसे वैसा सिद्ध करना चाहोगे, दूसरे वादी उसी वाक्य से या वाक्यान्तर से उसे दूसरे प्रकार का सिद्ध करेंगे तो बहुवादि अस्वोकृत होने से अनर्थों की निवृत्ति हो नहीं सकती भले अनर्थ भ्रम से ही मालुम हो रहे हैं पर भ्रम प्रतीत अनर्थों की निवृत्ति तो करना ही पड़ेगा। अनुभव से विरुद्ध प्रमाण की गति नहीं चलती।

इसके लिये यदि कोई कहे कि प्रमाण('वेद वाक्य') सहित योगसिद्ध मन ही हमारे अभीष्ट आत्मा को वैसा सिद्ध कर सकेगा। अतएव सब अनर्थों की निवृत्ति हो सकेगी। तो इस पक्ष को भी स्वीकार करके खण्डन करते हैं–'मुनयः' इत्यादि। माना कि मनन स्वभाव और प्रशान्त इन्द्रिय मन वाले विद्वान लोग जितेन्द्रिय और शुद्धान्तःकरण होकर मनन करेंगे तब वैसी आत्मा अनुभव में आ जायगी। मनन का अर्थ है 'युक्तिभिरनुचिन्तनं' युक्तियों के द्वारा विचार। ऐसी दशा में मननगुण स्वरूप हुआ। क्योंकि वृत्ति रूप है। सत्व के समय सत् और रज आदि के समय असत् और मिश्र के समय सदसत् तर्क स्फुरित हो सकेंगे। आप जब वेद के द्वारा वैसा सिद्ध करोगे तब ही असत्तर्ककुयुक्तियां उसे हटा देगी तो वैसा ज्ञान तिरोभूत हो जायगा। यदि कहो कि हम वेद शास्त्रों के द्वारा सर्वदा आत्मा का वैसा ही अनुसन्धान करते रहेंगे तो आत्मा में संसार की स्फूर्ति (अनुभव)ही न होगी। किन्तु ऐसा हो नहीं सकता। क्योंकि संसार तो प्रत्यक्ष सिद्ध है उसे मानना ही पड़ेगा। अब यदि उसे संसारी ही मान लेते हैं तो फिर मोक्ष ही न हो सकेगा और तब सभी मोक्ष प्रति पादक शास्त्र निष्फल मानने पड़ेंगे।

अब द्रष्ट की अनुपत्ति के कारण आपको यह स्वीकार करना पड़ेगा कि जो लोग मुनि हैं और प्रशान्त मन इन्द्रिय वाले हैं उनको आत्मा का जब वैसा (शुद्ध) अनुभव होता है तब संसार नहीं है। और अन्य लोगों के मन में आत्मा का वैसा अनुभव नहीं होता तो उनके लिये संसार है इसी तरह प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष चर्चा के समय भी कहना होगा कि सतर्क सहित वेदादि प्रमाण के द्वारा आत्मा शुद्ध, बुद्ध, स्फुरित होगा और असतर्कों सहित वेदादि के द्वारा साधनाभाव से प्रतिहत होकर तिरोभूत हो जायगा। पर ऐसी व्यवस्था करने के लिये कोई भी साधन तो अवश्य कहना होगा। जिसके स्वीकार करने से असत्तर्कादि हट जावें और वैसा ज्ञान जाग जाय। सो कुछ मालुम होता नहीं। राम आदि तो पहले से ही होते नहीं। कारण कि प्रशम के साधन, नित्यानित्य वस्तु विवेक, वैराग्य आदि हैं। वे अभी हुए नहीं है इसलिये प्रशमादि भी नहीं है। यदि कहो कि साधनों के न होते हुए भी प्रशमादि हो जाते हैं तो फिर प्रशमादि सबको सर्वदा होने चाहिये। सो कुछ होते नहीं। इसलिये एक कोई ऐसा साधन कहना चाहिये, जिसके द्वारा असत्तर्कों को हटाकर आत्मा का वैसा ज्ञान उदय होवे। यदि भगवान् में भक्ति होने को वैसा साधन कहो तो फिर आत्म ज्ञान के ढकोसले का क्या प्रयोजन है? भक्ति ही स्वतन्त्र रीति से मोक्ष दे देगी और भगवान् ने भक्तज्ञानी को तो अपना आत्मा मान ही रखा है। (ज्ञानोत्वात्मैव मेमतम्) (ज्ञानीभक्त तो मेरा आशक्त है)।

इसलिये भक्ति रहित कोई भी आत्म-ज्ञान मार्ग स्वतन्त्र है ही नहीं और जब भक्ति सिद्ध हो चुकी तो फिर इस स्वतन्त्र ज्ञानमार्ग से प्रयोजन ही क्या है? इसलिये यह स्वतन्त्र आत्म-ज्ञान मार्ग

दोनों तरह से अप्रयोजक है, निष्फल है। तो अब यह सिद्ध हो गया कि–पूर्व श्लोकों में आत्मा या पुरुष, भगवान् अक्षर ब्रह्म का ही एक रूपान्तर है और यह भी एक भगवान् का माहात्म्य है इस प्रकार के आत्मभूत रूपान्तर से भगवान् की महत्ता सिद्ध होती है अथवा यह चिच्चित् पुरुष या विशुद्ध आत्मा भगवान् की विभूति है सामर्थ्य के देश है। अब लोग 'देखो मेरे हाथ पर ही चन्द्रमा बैठा है' ऐसा कहकर बालकों की बुद्धि को बहकाने की तरह अपने इस आत्मा को ही कृत्स्न ब्रह्म मान लेते हैं और इसके श्रवणमात्र से ही मुक्ति भी मान लेते हैं वे सब बालकों की बुद्धि वाले हैं। बेसमझ हैं ॥ ४० ॥

आभास—एवं मतान्तरं परिहृत्याऽवतारकर्माणि गायन्तीत्युक्तत्वात् के ते अवतारा इत्यपेक्षायामाह—

आभासार्थ—इस तरह अन्य मतों का निराकरण करके अब 'यस्यावतार कर्माणि गायन्ति' इस अपने कथन का समर्थन करने के लिये वे अवतार कौनसे हैं? सो बताते हैं—

श्लोक—**आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य कालः स्वभावः सदसन्मनश्च ।**
द्रव्यं विकारो गुण इन्द्रियाणि विराट् स्वराट् स्थास्नु चरिष्णु भूम्नः॥४१॥

श्लोकार्थ—'पर', भगवान् का प्रथम अवतार पुरुष है, काल, स्वभाव सद सद्-भाव वाला मन, द्रव्य, पांच महाभूत, अहंकार, तीनों गुण, इन्द्रिय, विराट्-स्वराट्, स्थावर-जंगम यह सब भगवान् के अवतार कहलाते हैं ॥४१॥

सुबोधिनी—आद्योऽवतार इति । परस्य ब्रह्मणः पुरुषोत्तमस्याऽऽद्योऽवतारः पुरुषः प्रकृति-भर्त्ता । द्वितीयः कालः । तृतीयः स्वभावः । सदसत् कर्म प्रकृतिर्वा । मनश्च । इदं मन आधि-दैविकं यत्सङ्कल्पद्वारा कामजनकं । यतः सृष्टिः । तदनन्तरमन्येऽप्यवतारा इत्याह । द्रव्यं पञ्च-महाभूतानि । विकारः अहङ्कारः । गुणास्त्रयः । पञ्च वा तन्मात्राः । इन्द्रियाणि दश । विराट् ब्रह्माण्डदेहः । स्वराट् तदभिमानी । स्थास्नु स्थावरम् । चरिष्णु जङ्गमम् । एतत्सर्वं भूम्नः अतिसमर्थस्यैते सर्वेऽवताराः । अवतारो नाम अवतरणं मूलस्थानादिहाऽऽगमनम् । तत्परमार्थ-तोभगवानेक एव तत्र स्थितः सर्वरूपेण इहाऽऽगत इति सर्वमेवाऽवताररूपम् ।४१।

व्याख्यार्थ—परब्रह्म पुरुषोत्तम का पहला अवतार प्रकृति का भर्त्ता पुरुष है। द्वितीय अवतार काल है। तृतीय स्वभाव। तदनन्तर कर्म किंवा प्रकृति चतुर्थ अवतार है। फिर मन। यह मन आधिदैविक पदार्थ है जो संकल्प के द्वारा सबसे पहले काम को पैदा करता है। और फिर उसके द्वारा भौतिक सृष्टि होती है। इसके अन्तर और भी परम्परा से अवतार होते हैं। पञ्च महाभूत, अहंकार, सत्त्वादि प्राकृत गुण अथवा रूप, रस, स्पर्श, गन्ध, शब्द पंचतन्मात्रा। चक्षु आदि दश इन्द्रिय विराट् रूप ब्रह्म का देह और विराट् देहाभिमानी विराट् ब्रह्म। स्थिर पदार्थ और चर सजीव पदार्थ ये सब सर्वव्यापक समर्थ भगवान् के अवतार हैं। मूलस्थान (अक्षर) से प्रकट लोक में उतरना ही अवतार कहा जाता है। वास्तव में तो यह जिसका अवतरण कहा जाता है वह

भगवान् अक्षर अव्यक्त रूप से सर्वत्र ही स्थित है। किन्तु अपनी इच्छा से कभी-कभी वही सब पदार्थों के रूपों में प्रकट होकर यहां आ गया है। इसलिये सब पदार्थ ही भगवान् का अवतार है ।। ४१ ।।

आभास—अथ पुरुषोत्तमत्वाद्भगवतः सजातीयेभ्य उत्कर्षलक्षणगुणवत्त्वं चेत्तदा इमे अग्रे वक्ष्यमाणा इति तान् गणयति—

आभासार्थ—परब्रह्म भगवान् सब पुरुषों से उत्तम हैं। अतएव अपने समान जाति वालों से उच्चगुण होना ही भगवत्त्व किंवा भगवद्वतारत्व समझा जाता है, वैसे अवतार ये आगे जो गिनाये जाते हैं वे ये हैं—

श्लोक—**अहं भवो यज्ञ इमे प्रजेशा दक्षादयो ये भवदादयश्च ।**
भूलोकपाला भुवर्लोकपालाः स्वर्लोकपालास्तललोकपालाः ।।४२।।

श्लोक—**गन्धर्वविद्याधरचारणेशा ये यक्षरक्षोरगनागनाथाः ।**
ये वा ऋषीणामृषभाः पितॄणां दैत्येन्द्रसिद्धेश्वरदानवेन्द्राः ।
अन्ये च ये प्रेतपिशाचभूतकूष्माण्डयादोमृगपक्ष्यधीशाः ।।४३।।

श्लोक—**यत् किञ्च लोके भगवन्महस्वदोजःसहस्वद्बलवत्क्षमावत् ।**
श्रीह्रीविभूत्यात्मवदद्भुतार्णं तत्त्वं परं रूपवदस्वरूपम् ।।४४।।

श्लोकार्थ—मैं (ब्रह्मा), महादेव, यज्ञनारायण, यह मरीचि आदि प्रजेश। दक्षादि (नारद!)तुम्हारे जैसे भक्त, सनकादि तथा च भूलोक भुवर्लोक स्वर्लोक तलादि लोकों के पालक,एवमेव गन्धर्व,विद्याधर चारण आदि के ईश और यक्ष रक्ष उरग नागों के नाथ, और भी ऋषियों में श्रेष्ठ, पितृ श्रेष्ठ, दैत्येन्द्र सिद्धेश्वर दानवेन्द्र आदि भगवान् के अवतार हैं। इनके अतिरिक्त जो प्रेत, पिशाच, भूत, कूष्माण्ड आदि तथा मृग पक्षी आदि के ईश हैं वे सब भगवदवतार रूप हैं। इन सबके सिवाय लोक में जो भी उत्कृष्ट धर्म किंवा विभूति युक्त हैं, ओज, सह बल क्षमा आदि गुणों से युक्त हैं, श्री ही विभूति एवं आत्मयुक्त पदार्थ है वे सब परमतत्व रूप हैं, मूर्त और अमूर्त सभी भगवत स्वरूप ही हैं ।।४२-४४।।

सुबोधिनी—अहमिति। स्वहीनेभ्यः स्वसेवकेभ्य उत्कर्षो बहूनां वर्त्तत इति ते सर्वे भगवदवताराः। तत्र प्रथमम्—अहं ब्रह्मा। भवो महादेवः। यज्ञो यज्ञनारायणः। इमे प्रजेशा मरीच्यादयः। तत्र दशो मुख्यः कल्पान्तरे। अतो दक्षादयः। भवानादिर्येषां ते भवदादयो भक्ताः।

चकारात्सनकादयः। एवं स्वभावत उत्कृष्टानुक्त्वा अधिकारेणोत्कृष्टानाह—**भूलोकपाला इति**। पाठान्तरे भूर्लोकपालाः। तदा भूरित्याद्यव्ययम्। भूलोकपालाः पृथिवीलोकपालाः। भुवर्लोकपाला अन्तरिक्षलोकपालाः। स्वर्लोकपाला उपरितनलोकपालाः। तललोकपाला अधस्तनलोकपालाः। गन्धर्वादीनां ये ईशाः। यक्षादीनां ये नाथाः। रक्षोरगेति सन्धिरार्षः। गन्धर्वादयो राजसाः। यक्षादयस्तामसाः। ऋषीणामृषभाः सात्त्विकाः। पितॄणां सन्निपाताः। एवं पूर्वत्राऽपि। दैत्येन्द्रादयो राजससात्त्विकतामसाः। इदानीं तमोमिश्रतामसानाह—**प्रेतपिशाचेति**। एतेषां स्वरूपं तृतीयस्कन्धे वक्ष्यते। प्रेतादीनां ये अधीशाः। किञ्च। यः कश्चनोत्कृष्टधर्मो भगादिः। भाग्यमैश्वर्यादि वा। तद्युक्तं यत्किञ्चिद्वस्तुमात्रं प्राणिमात्रं वा। महस्तेजः। ओज इन्द्रियशक्तिः। सहो मनःशक्तिः। ओजसा सहितं सहः। मनसश्चेन्द्रियाणां चाऽन्योन्योपकारात्तच्छक्तिद्वयमेकत्वेनोक्तम् ओजःसहस्वदिति। बलं देहशक्तिः। क्षमा सहिष्णुता। एते भगादयः पदार्था उत्कृष्टा एवाऽत्र विवक्षिताः। श्रीः शोभा। ह्रीर्लज्जा। विभूतिर्लक्ष्मीः। आत्मा बुद्धिः। श्रिया (?) ह्यात्मपर्यन्तं चतुष्टयं यस्याऽस्ति स तथोक्तः। किञ्च। अद्भुतार्णम् अद्भुतवर्णरूपम्। विचित्ररूपम्। गवादिकं वा। किं बहुना। यत्किञ्चिद्रूपवत् मूर्त्तम्। प्रकाशमानमिति यावत्। तत्सर्वं परमेव तत्त्वम्। यदप्यस्वरूपं अमूर्त्तमाकाशादि। तदपि तत्त्वमित्यर्थः। अस्वरूपत्वेन रूपवत्त्वेन च तस्याऽपि प्रसिद्धेः। ॥४२॥४३॥४४॥

व्याख्यार्थ—जब यह सिद्ध हो चुका कि उत्कृष्ट गुण पुरुषोत्तम और वैसे ही उसके अवतार, तो फिर हीन गुण वाले स्वसेवकों से बहुत से उत्कृष्ट गुण वाले हैं ये सब भगवान् के अवतार हैं। उनमें पहला मैं (ब्रह्मा) भव महादेव, यज्ञनारायण मरीचि को आदि लेकर ये प्रजाओं के अधीश, उनमें भी किसी कल्प में दक्ष मुख्य हैं, अतएव दक्षादि भक्तों में हे नारद! तुमको आदि लेकर भक्त गण चकार से सनकादिक ज्ञानी। अब स्वभाव से मुख्यों को गिनाकर अधिकार से उत्कृष्टों को कहते हैं। पृथ्वी लोकों के पालन करने वाले पृथ्वीपति, अन्तरिक्षलोक में पालक रुद्रादिक और स्वर्गलोकादि के पालक इन्द्रादिक। फिर नीचे पातालादि के रक्षक, गन्धर्वादि के अधीश, यक्षादि के नाथ, तामस प्रजेश। 'यक्षोरग' यहाँ ऋषिवचन होने से सन्धि हुई है। गन्धर्व आदि राजस जीव हैं। यक्षादि तामस जीव हैं और ऋषिश्रेष्ठ सात्त्विक हैं। पितर लोग मिश्रित हैं। यही व्यवस्था स्वभाव मुख्य अवतारों में भी समझ रखनी चाहिये। दैत्येन्द्र राजस है, सिद्धेश्वर गण सात्त्विक हैं और दानवेन्द्र तामस हैं।

अब तामस तामसों को गिनाते हैं—'प्रेतेति'। प्रेत, पिशाच, भूत, कूष्माण्ड, यादस, मृग और पक्षियों के अधीश लोग तामस तामस हैं। इनके स्वरूपों का निरूपण तृतीय स्कन्ध में कहेंगे।

अब जो उत्कृष्ट गुण या धर्म, किंवा भाग्य ऐश्वर्यादि, किंवा ऐश्वर्यादि युक्त वस्तु किंवा प्राणी, वह सब भगवान् का अवतार है। अब तेज ओज, इन्द्रिय शक्ति, सह मन की शक्ति अथवा ओजः सहित सह तथा बल, शरीर शक्ति। मन और इन्द्रिय दोनों परस्पर एक-दूसरे का उपकार करने वाले हैं, इसलिये दोनों को एक पद में कहे गये हैं। क्षमा, सहन करना ये सब धर्म किंवा इन धर्मों से युक्त प्राणी ये सब भगवान् के अवतार हैं। ये धर्म कुछ विशेषता लिये हुये हों वे ही अवतार हैं, साधारण नहीं। श्री शोभा, ह्री लज्जा, विभूति लक्ष्मी, आत्मा बुद्धि। श्री से आत्मा

पर्यन्त के चारों गुण या धर्म जिसमें हों वह साधारण भी भगवदवतार है, और अद्भुत रूपवाला किंवा विचित्र रूप वाली गौ सिंहादि जीव भी। विशेक्या, जो कुछ भी रूपवाला प्रकाशमान हो वह सब परतत्त्व पदार्थ है। अथवा जो भी अरूप-अमूर्त्त आकाशादि ये सब भगवतत्त्व हैं, क्योंकि इनकी इस रूप से प्रसिद्धि है ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

आभास—एवमुत्कृष्टधर्मवत्त्वेन यदेव किञ्चिल्लोके प्रसिद्धं तदेव भगवदवताररूपमित्युक्त्वा यत्साक्षात्सच्चिदानन्दरूपमैश्वर्यादिसर्वगुणसहितं तन्मुख्यं भगवदवताररूपं ते कथयिष्यामीत्याह—

आभासार्थ—इस तरह जो कुछ भी दुनियाँ में उत्कृष्ट धर्मयुक्त वस्तुयें प्रसिद्ध हैं, वे सब भगवान् के अवतार ही हैं-यह कहकर अब जो साक्षात्सच्चिदानन्द रूप और ऐश्वर्य वीर्य आदि सब गुणों से सम्पन्न मुख्य भगवान् के अवतार हैं। इन्हें मैं तुम्हारे आगे कहता हूँ सो सुनिये—

श्लोक—**प्राधान्यतो यानृष आमनन्ति लीलावतारान् पुरुषस्य भूम्नः।**
आपीयतां कर्णकषायशोषाननुक्रमिष्ये त इमान् सुपेशान् ।४५॥

श्लोकार्थ—हे ऋषि! जो भगवान् के अवतारों को लोक प्रधान्य देते हैं वे अवतार भूमा अन्तर्यामी रूप द्वितीय ध्यान में कहे हुए हैं, उनके अवतार कहलाते हैं उन सुन्दर अवतारों को क्रम से मैं कहूँगा वे कान के मैल को नाश करने वाले हैं उनका तुम कर्ण (कान) द्वारा पान करो ॥४५॥

सुबोधिनी—**प्राधान्यत इति**। ऋषे इति सम्बोधनं तादृशश्रवणे अधिकारिद्योतकम्। यद्यपि भगवत्सृष्टौ सर्वमेवाऽवताररूपमिति मुख्यः पक्षस्तथापि तादृशस्याऽवतारत्वेन लोकप्रसिद्ध्यभावाल्लोके यानवतारान्प्राधान्येन मुख्यतया वदन्ति तेषां लीलावतारेति नाम। ते च पुनरवताराः कस्येत्यपेक्षायां यस्तु भूमा पुरुषो ब्रह्माण्डादधिकोऽन्तर्यामिरूपो द्वितीयध्यान उक्तस्तस्याऽवताराः। सच्चिदानन्दरूपा हि देहजीवान्तर्यामिणः। तत्र क्रमेण देहजीवरूपा उक्ताः। इदानीमन्तर्यामिरूपा उच्यन्त इति। आपीयताम्। ते हि न बहिःस्थापनयोग्याः। नाऽपि मध्ये। किन्तु सर्वान्तराः कर्त्तव्या इत्यासमन्तात्पीयतामित्यर्थः। तेषां श्रवणस्य विशेषफलमाह—**कर्णकषायशोषानिति**। यद्यपि सर्वं चरित्रं भगवतस्तथापि लौकिकदोषेण कर्णयोर्दुष्टत्वाद्भगवच्चरित्रे न रुचिरुत्पद्यते। तत्रैतद्विशेषचरित्रं कर्णमलनिवारकमित्यस्मिञ्छ्रुते सर्वत्र रुचिरुत्पत्स्यत इत्यर्थः। अत एवाऽनुक्रमिष्ये आनुपूर्व्येण कथयिष्यामि। ते तुभ्यम्। विशेषेण त्वमेवाऽधिकारीति। इमान् बुद्धिस्थितान्। महता आडम्बरेण कथने हेतुः **सुपेशानिति**। अतिसुन्दरान् मनोहरान्। कथनप्रतिज्ञा भिन्नप्रक्रमेण कथने हेतुः ॥४५॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां द्वितीयस्कन्धे षष्ठोऽध्यायविवरणम्।

व्याख्यार्थ—हे नारद! जो भूमा पुरुष के लीलावतार हैं, उनके सुन्दर चरित्रों को मैं कहता हूं सो सुनिये। नारद को ऋषि शब्द से जो सम्बोधन किया उससे नारदजी को ही ऐसे भगवच्चरित्रों का श्रवण करने का अधिकार है, यह स्पष्ट होता है।

यद्यपि भगवद्रूपा सृष्टि में सब ही पदार्थ भगवान् के अवतार रूप हैं, यह मुख्य पक्ष है, तथापि इन पदार्थों को लोक में अवतार रूप से प्रसिद्धि नहीं है, इसलिये जिनको लोक प्रसिद्धि में अवतार रूप से समझ रहे हैं और जिन्हें मुख्य अवतार कहते हैं उनका वास्तव में लीलावतार नाम है। ये लीलावतार किसके हैं? यह प्रश्न यदि किया जाय तो कहना होगा कि जिस भूमा पुरुष का द्वितीय ध्यान 'केचित्स्वदेहान्त:' में वर्णन किया है और ब्रह्माण्ड से अधिक पुरुष कहा गया है, उसके ये सब अवतार हैं। देह जीव और अन्तर्यामी ये तीनों पदार्थ सत् चित आनन्द रूप हैं। उनमें से सत् चित् रूप देह जीव रूप अवतारों का क्रम से पूर्व में निरूपण कर चुके हैं। अब आनन्द पदार्थ अन्तर्यामी रूप अवतारों का निरूपण करते हैं, सो उनका सुख से श्रवण करो। ये आनन्द और अन्तर्यामी रूप हैं, इसलिये न बाहर स्थापन करने योग्य हैं और न मध्य में, किन्तु इन्हें तो सबसे भीतर ले जाना उचित है, इसलिये कहा है कि 'आपीयतां' आसमन्तात् पान करो। इनके श्रवण करने का फल विशेष रूप से कहते हैं कि—'कर्ण कषाय शोषान्'। कानों के पापों को दूर करने वाले चरित्र हैं। यद्यपि भगवान् के सब ही चरित्र पापनाशक हैं तथापि कान तो विशेषकर लौकिक दोषों से दुष्ट हो रहे होते हैं, अतएव भगवच्चरित्र सुनने में इनको स्वाद नहीं आता। ऐसी अवस्था में यह विशेष चरित्र कानों की मलिनता दूर करने वाले हैं, अतएव इनके श्रवण करने पर सब ही भगवच्चरित्रों के सुनने में रुचि पैदा हो जावेगी। और इसीलिये मैं इनका अनुक्रम से निरूपण करूंगा। तुम ही इसके श्रवण करने के अधिकारी हो इसलिये तुमसे हो कहता हूँ 'इमान्' कहने से यह ज्ञात होता है कि उस समय श्री ब्रह्मा की बुद्धि में ये सब चरित्र आ चुके थे। इतने आडम्बर से कहने का कारण यह है कि ये चरित्र अति मनोहर हैं। यद्यपि भगवच्चरित्रों का ही निरूपण चल रहा था फिर पुन: कहने की प्रतिज्ञा क्यों की? यह प्रश्न हो सकता है पर विशेष होने से इनको दूसरे ही क्रम से कहना पड़ेगा, इसलिये कथन की प्रतिज्ञा की है ।। ४५ ।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण के द्वितीय स्कन्ध के षष्ठम अध्याय की देवर्षि शास्त्री श्री रमानाथ विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत) टीका हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद् भागवत महापुराण ●

श्रीमद्वल्लभाचार्य–विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

द्वितीय स्कन्ध

मनन-प्रकरण (श्रवणाङ्ग स्कन्ध)

अध्याय—७

अन्तर्यामी के अवतारों की कथा

कारिका—**एवमात्मातिरिक्तानामुत्पत्त्या निर्णयः कृतः ।**
आत्मनोऽपि हरेरत्र निर्णयो विनिरूप्यते ॥ १ ॥

कारिकार्थ—सब पदार्थों में स्व-स्वरूप से समाये हुये सर्वव्यापक भगवान् पुरुषोत्तम के सिवाय, स्थूल सूक्ष्म सब ही पदार्थों का उत्पत्ति से निर्णय कर चुके । छः अध्यायों में । अब इस सप्तमाध्याय में भगवान् पुरुषोत्तम का भी उत्पत्ति से निर्णय करते हैं । पूर्वोत्तर ग्रन्थ की यही सङ्गति है । मुख्य आत्मा श्री पुरुषोत्तम हैं, क्योंकि वह अपने अस्ति भातिप्रिय निजरूप से सब ही पदार्थों में (अतति) व्याप्त रहता है । इसका उत्पत्ति से निर्णय करना है, अन्यथा अतिरिक्त परब्रह्म का निर्णय न होने पायेगा । 'यस्मात्क्षरमतीतोहं' आदि गीतोपनिषत् से स्पष्ट है कि अतिरिक्त भगवान् श्री पुरुषोत्ताम भगवान् है । यह भी उत्पन्न होता है । सर्व समर्थ भगवान् में अजत्व और उत्पत्ति का कोई विरोध नहीं होता । मर्यादायुक्त कर्म वद्ध जन्म भगवान् का नहीं होता, अतएव वह उत्पन्न होते ही अजन्मा रहता है 'अजोपि सम्भवामि' गी० । यह अजन्मा पुरुषोत्तम भगवान् दो तरह से जन्म लेता है, धर्मरूपों से और मूल रूप

से । पुरुषोत्तम के धर्म रूप अन्य सब अवतार है और मूल रूप अवतारी श्री पुरुषोत्तम अतिरिक्त भगवान् हैं । दोनों तरह का निर्णय इस अध्याय में किया गया है । नारद के प्रश्न का आशय मूल रूप के विषय में ही था, किन्तु इसके निर्धारार्थ ही ब्रह्माजी ने स्थूल सूक्ष्म प्रकरण कहे । अतएव दोनों की शेष शेषीभाव सम्बन्धरूप संगति है ।। १ ।।

कारिका—**सूक्ष्मध्यानं पूर्वमुक्तं तस्याऽत्र विवृतिः स्फुटा ।**
सप्तमे क्रियते येन तद्धर्मा वस्तुतो मताः ।। २ ।।

कारिकार्थ—कदाचित् कोई कहे कि स्थूल प्रकरण में विमर्ष हो चुका है और यहां तो केवल अवतारों की ही कथा कही गई है, फिर इस प्रकरण की गणना विमर्ष में क्यों होनो चाहिये? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'सूक्ष्मध्यानं' इत्यादि । पहले जो सूक्ष्म भगवान् का ध्यान कह चुके उसका ही इस अध्याय में खुलासा वर्णन किया जाता है । इस विवरण से धर्मों का स्पष्टीकरण हो गया । फिर भी कदाचित् कोई पूछे कि स्थूल ध्यान में उद्दिष्ट विमर्श के स्पष्ट रहते भी जड़ और जीवों की ब्रह्मस्वभाव से जुदाई मालूम देती है । इससे स्पष्ट होता है कि ये दोनों परब्रह्म से पृथक् होंगे, तो इस भ्रम को दूर करने के लिये स्थूल प्रकरण का उत्पत्ति से निर्णय करना उचित था, किन्तु सूक्ष्म ध्यान में तो भगवान् से अपृथक् गुण और आभरणों का ही निरूपण आया है तो फिर इस सूक्ष्म ध्यान के विवरण की क्यों अपेक्षा हुई ? इसका उत्तर देते हैं कि 'येन' । इस विवरण से पुरुषोत्तम भगवान् के अनागन्तुक वास्तव धर्मों का स्पष्टीकरण होता है इसलिये विवरण आवश्यक है, पुरुषोत्तम के आगन्तुक धर्म जगद्वर्ती पदार्थ हैं और अनागन्तुक धर्म भिन्न भिन्न अवतार है ।। २ ।।

कारिका—**उपासनायां सर्वस्य हरेर्धर्मस्य निर्णयः ।**
स्वरूपगुणभेदेन बोधनार्थमिहोच्यते ।। ३ ।।

कारिकार्थ—यदि कोई कहे कि अवतार कथा मात्र से धर्मों का कैसे विवरण समझा जाय तो कहते हैं कि 'उपासनायां' इत्यादि । केवल कथा मात्र ही श्रीमद्भागवत् नहीं है किन्तु सिद्धान्त श्री मद्भागवत् है । इसकी तो उपासना करनी कही है । ऐसी अवस्था में मनन निदिध्यासन करते समय भगवान् के धर्मों के स्वरूप और गुण भेद से विवरण की अपेक्षा रहतो ही है और तब ही यथावस्थित स्वरूप का निर्णय हो सकता है ।

'आत्मा व अरे दृष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इत्यादि श्रुतियों में भी निदिध्यासनपर्यंत साधन का निर्देश किया है ।। ३ ।।

कारिका—**मुख्यस्य च फलं त्वत्र निर्णीतं विनिरूप्यते ।**
माहात्म्यादि तदङ्गं च विशिष्टं तेन सिद्धयति ।। ४ ।।

कारिकार्थ—इस विवरणक का एक विशेष कारण और भी है। भक्तियोगो यतो भवेत् (भा. २-२-३३)श्लोक में निर्णीत और 'भगवान् ब्रह्म कार्त्स्न्येन' इस श्लोक में निर्धारित प्रेम भक्तिरूप फल का भी सोपपत्तिक निर्णय इसी अध्याय में कहा है । इतना ही नहीं, किन्तु भक्त्यङ्ग माहात्म्य ज्ञानादि का भी निरूपण यहां ही है । इससे यह सिद्ध होता है कि सर्वरूप रहते भी जो सबके भीतर रहकर सब का नियमन करता है उस अतिरिक्त भगवान् के ही ये सब अवतार हैं ।। ४ ।।

आभास—एवं जडजीवयोरुत्पत्त्या निर्णयमुक्त्वा अन्तर्यामिणोऽपि सर्वधर्मसहितस्य खण्डश उत्पत्तिरुच्यते । तथा सत्येकैकस्य धर्मस्य तादृशमाहात्म्यावगतौ विशिष्टस्य परममाहात्म्यं सेत्स्यतीति । अन्तर्यामिस्वरूपे "**प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तमि**" त्यादिपदैर्यन्निरूपितं भगवत्स्वरूम् तस्याऽत्र पदशोऽवतारा उच्यन्ते । तत्र प्रथमं प्रादेशमात्रत्वधर्मस्योत्पत्त्या यद्रूपं तत्प्रथममाह—

आभासार्थ—इस तरह कारिकाओं के द्वारा अध्याय गत श्लोकों के अर्थ का संग्रह करके अब सुबोधिनी द्वारा सब का क्रमशः विवरण करते हैं । 'एवं' इत्यादि । इस तरह जड़ और जीव की उत्पत्ति कहकर अब सर्व धर्म सहित पुरुषोत्तम रूप अन्तर्यामी की भी उत्पत्ति कही जाती है, पर खण्डशः । भिन्न-भिन्न निरूपण करने का तात्पर्य यह है कि भगवान् के एक एक धर्म का पृथक्-पृथक् माहात्म्य मालूम हो जाय तो फिर समग्र पुरुषोत्तम भगवान् का परम माहात्म्य अपने आप सिद्ध हो जाय, किसी को आश्चर्य भी न हो । सूक्ष्म ध्यान में 'केचित्स्व' और 'प्रादेशमात्रं' इत्यादि अनेक श्लोकों में जिस अन्तर्यामी का वर्णन किया था उसके पदशः अवतारों का यहां निरूपण करते हैं, उनमें सबसे पहले प्रादेश मात्रत्व (वितस्तभर भगवान्) धर्म का उत्पत्ति से जो स्वरूप है उसका वर्णन करते है—'यत्रोद्यतः' ।

ब्रह्मोवाच-श्लोक—यत्रोद्यतः क्षितितलोद्धरणाय बिभ्रत्
क्रौडीं तनुं सकलयज्ञमयीमनन्तः ।
अन्तर्महार्णव उपागतमादिदैत्यं
तं दंष्ट्रयाऽद्रिमिव वज्रधरो दरार ।। १ ।।

श्लोकार्थ—जहां कहीं स्थित वह अनन्त भगवान् जब भूतल का उद्धार करने के लिये तैयार हुआ तब उसने सकल क्रियामयी सूकर की तनु धारण की और प्रलय कालीन महासमुद्र के भीतर जब आदि दैत्य हिरण्याक्ष आया तब उसे अपनी दाढ़ से फाड़ दिया । जैसे इन्द्र ने बज्र से पर्वत को फाड़ दिया था ।। १ ।।

सुबोधिनी—यत्रोद्यत इति । ब्रह्मणो हि भूम्युद्धारे चिन्ता काचिदुत्पन्ना कथमेनां समुन्नेष्य इति । तदा भगवद्ध्यानादन्तर्यामी भगवान् यः प्रादेशमात्रः स आविर्भूतः । स प्रादेशमात्रोऽपि नासापुटनिर्गमनार्थमंगुष्ठशिरोमात्रो भूत्वा पश्चात्स्थूलो जात इति प्रादेशमात्रत्वं स्थानसापेक्षं न तु स्वाभाविकमिति व्याख्यातम् । यत्रैव स्थितो भगवाननन्तो देशकालद्यपरिच्छिन्नः क्षितितलोद्धरणायोद्यतः । यदैव भगवानिति विचारितवान् भूमिमुन्नेष्यामीति तदैव रूपमबिभ्रत् । नहि तस्य रूपग्रहणे देशकालवस्त्वाद्यपेक्षा । यतोऽन्तःकरण एव ब्रह्मणः स्थित्वा भूम्युद्धारेच्छयैव तत्रैव रूपं गृहीतवान् । अतोऽन्तर्यामिणो रूपग्रहणे न काऽप्यपेक्षेति सूचनार्थं प्रथममेव वराहावतार उक्तः । यत्रैवोद्यतस्तत्रैव बिभ्रत् धृतवानिति योजना । क्षितितलस्योद्धरणम् । तलपदेन कृत्रिमा भूमिरुक्ता समा च । पूर्वं हि ब्रह्मा पुष्करपर्णे स्थितो वराहरूपं कृत्वा काञ्चिन्मृत्तिकां तत उद्धृत्य पुष्करपर्णे प्रथनं कृतवान् । सा पृथिवी पुनर्निमग्ना । तदा तदुद्धारार्थमुद्यतस्तदेव रूपं धृतवान् । "**सोऽपश्यत्पुष्करपर्णं तिष्ठत् । सोऽमन्यत । अस्ति चैतत् यस्मिन्निदमधितिष्ठतीति । स वराहो रूपं कृत्वोपन्यमज्जत् । स पृथिवीमध आच्छत् । तस्या उपहत्योदमज्जत् । तत्पुष्करपर्णेऽप्रथयत् । यदप्रथयत्तत्पृथिव्यै पृथिवीत्वमि**" ति श्रुतेः । अतो भगवताऽपि क्रोडसम्बन्धिनी वराहसम्बन्धिनी तनुः कृता । जलात्पदार्थोद्धरणे तस्यैव सामर्थ्यात् । किञ्च । **सकलयज्ञमयमिति** । यज्ञो हि मृगः । स वनगोचरः । स्रुगादिपदार्थानां तत्तुण्डरूपतुल्यत्वान्मृगत्वेऽपि वराहत्वम् । मन्युशब्दवाच्यत्वाच्च । यतः शतमन्युरिन्द्रः । अत्राऽपि "**पशूनां वा एष मन्युर्यद्वराह**" इति श्रुतेर्वराहस्य मन्युत्वात्सकलयज्ञमयी तनुः सा भवति । यथेयं तनुः सकलयज्ञमयी तथोत्तरत्र वक्ष्यते । अत्र रूपग्रहणेनैव तत्कार्यस्योक्तत्वात्कार्यान्तरमस्तीति तस्य निरूपकमाह । यज्ञे हि त्रयीद्विषो हन्तव्याः । भूमिश्च तैरेव तत्र नीता । "**असुरा वा उत्तरतः पृथिवीं पर्याचिकीर्षन्नि**" ति श्रुतेः । अतस्तद्वधे कर्त्तव्ये "**मुख्ये कार्यसम्प्रत्यय**" इति न्यायेनाऽऽदौ दैत्यत्वं प्राप्तमादिदैत्यं तं प्रसिद्धं ददार विदीर्णं कृतवान् । तस्य विदारणे हेतुरूपो दृष्टान्तः **अद्रिमिव वज्रधर इति** । यथा पर्वताः पक्षैरुद्यताः सर्वामेव पृथिवीं नाशयन्ति । तत्प्रतिपक्षतयेन्द्रेण च ते च्छिन्नपक्षाः कृतास्तथा भगवता हिरण्याक्षोऽपि भूम्यनिष्टकर्त्ता हत इत्यर्थः। तस्य च हननं समुद्र एव । तदाह-**अन्तर्महार्णव इति** । आगतमात्रत्वं वा । **दंष्ट्रयेति** तस्य न मुक्तिः । यमत्वाद्दंष्ट्रायाः । यदग्रे करेण हतवानित्यादि तन्न विदारणरूपम् ।। १ ।।

व्याख्यार्थ—एक समय ब्रह्माजी को डूबी हुई पृथ्वी को बाहर निकालने की चिन्ता हुई । इसको कैसे जल से बाहर निकाला जाय । किन्तु यह कार्य अपने अशक्य समझकर ब्रह्माजी ने भगवान् का ध्यान किया । ध्यान करने से सब हृदय स्थित प्रादेश (द्वादशांगुल) परिमाण वाले भगवान् अन्तर्यामी सूकर रूप धारण कर ब्रह्मा के सामने प्रकट हुए । यद्यपि हृदय में तो भगवान् प्रादेश मात्र ही हैं पर उनका यह परिमाण स्वाभाविक नहीं है, किन्तु स्थान के अनुसार है इसलिये

जब प्रकट हुये तब नासिका में से अंगूठा के पोरुए के बराबर का सूकर रूप धारण कर पैदा हुये। भगवान् का परिमाण स्थान सापेक्ष है यह बात 'आभिविमानिक'* अधिकरण में कह दी गई है। किस समय और किस स्थान में भगवान् ने ब्रह्मा के ध्यान को समझा यह कुछ नियत नहीं हो सकता। भगवान् अनन्त हैं देश और काल से नपा तुला नहीं है। अतएव जिस स्थान पर स्थित है वहां से ही जब क्षितितल को निकालने की तैयारी की तब ही प्रकट हो गये, और जिस समय में 'भूमि को बाहर लाऊंगा' ऐसा विचार किया तब उस रूप को धारण किया। रूप ग्रहण करने में भगवान् के लिये स्थान काल और वस्तु आदि की अपेक्षा नहीं है। कारण कि सर्व रूप और सर्व व्यापक है। जगद्वर्ती सब ही रूप उसी के हैं, इसलिये ब्रह्मा के अन्तःकरण में ही स्थित रहकर जब ही भूमि का उद्धार करने की इच्छा हुई तब ही वहां ही रूप बना लिया। ऐसा अनुमान होता है। यह जल सूकर का रूप था, अतएव जैसे जल के भीतर ही भीतर सूकर रूप अपने आप तैयार हो जाता है, इसी तरह अन्तर्यामी भगवान् को भी रूप ग्रहण करने में किसी तरह भी अन्य की अपेक्षा नहीं हुई। यदि दिखाने के लिये ही पहले पहले बराह का ही अवतार कहा गया है जहां ही भूम्युद्धार के लिये तैयार हुये तब ही रूप धार लिया यह श्लोक का अन्वय है।

क्षितितल के उद्धारार्थ, यहां 'तल' पद देने से यह स्पष्ट होता है कि यह भूमि तैयार की हुई थी। अतएव समान थी। पहले किसी कल्प में जब ब्रह्माजी पुष्कर के पत्तों पर स्थित थे तब अपेक्षा होने से वराह रूप धर कर किसी भाग में से कुछ मृत्तिका खोद कर उस पुष्कर के किसी भाग पर जमा कर उस भाग को पृथु (जाड़ा) किया। अतएव वह पृथ्वी कहा गया। यही पृथ्वी किसी काल में महा समुद्र में डूब गई। अब जब उसे निकालने का विचार हुआ तो जल सूकर का ही रूप धारण किया।

यह बात वेद में इस तरह से कही है 'ब्रह्माजी' कमल के पत्तों पर बैठे हुए चारों तरफ देखने लगे। देखते-देखते उन्हें यह विचार हुआ कि इस कमल के नीचे इसका आधार कुछ न कुछ है। यदि न होता तो यह कमल ठहरता कैसे? इसकी परीक्षा करने के लिये वे एक बराह का रूप तैयार करके उस कमल के सहारे उस महार्णव में नीचे पहुँचे। वहाँ उन्होंने पृथिवी को पाया। अब उन्होंने उसे वहाँ से उखाड़ कर जल के ऊपर रख दी। और फिर उसे कमल के पत्तों पर जमा दी। जमाकर उसे खूब मोटी कर दी इसलिये पृथ्वी को पृथ्वी कहते हैं।'

इसलिये यहां भी भगवान् की बराहतनु-धारण करने की चर्चा है। जल से किसी भारी पदार्थ को निकालने की सामर्थ्य जल सूकर में ही है। यह भगवान् का सूकर रूप सकल यज्ञमय है। यह 'मृग' है अर्थात् लौकिक बुद्धि से समझने के अशक्य है। अतएव वह वनगोचर होता है।

---

* (ब्रह्मसूत्र) यह विषय केवल परोक्षमय वैदिक होने से तथा वेदों के विलुप्त प्राय हो जाने से लौकिक रीति से मेरी भी समझ में नहीं आया। इससे अक्षरार्थ मात्र कर दिया है। टीका-कारों ने भी उसकी तरह का कुछ भी खुलासा नहीं किया है। सूकर का रूप किस प्रकार सकल धर्ममय है यह परोक्ष ही है।

—देवर्षि रमानाथ

एकान्त स्थिति होने से ही समझ में आता है जल और जंगल दोनों को वन कहते हैं। स्त्रुक् (हवन करने का साधन पात्र) आदि पदार्थ वराह के मुखाग्र की तरह के होते हैं, इसलिये यज्ञ को मृग होने पर भी यहां वराह कहा है। यज्ञ को 'मन्यु' शब्द से भी कहा गया है— क्योंकि धर्ममय भगवान् को 'शतमन्यु' कहते हैं। इस विषय में श्रुति में भी कहा है कि 'पशुओं का क्रोध वराह है'। इस तरह सूकर को 'मन्यु' शब्द से कहा गया है मन्यु शब्द का वैदिक अर्थ, धर्म या यज्ञ है। जब वराह मन्यु है तो भगवान् की यह वराह तनु सर्वयज्ञमय है यह तनु सकल धर्ममय किस तरह है। यह बात आगे तृतीय स्कंध में (अ० १३, श्लोक ३६ से ४०) श्लोकों से कहेंगे।

रूप ग्रहण के साथ-साथ क्षितितलोद्धार कार्य ही कह ही दिया है, तथापि अन्य कार्य भी हैं सो कहते हैं—यज्ञ में वेद-द्वेष्टा किंवा यज्ञ कर्म द्वेष्टा असुरों का नाश कर्त्तव्य है। ये लोग ही भूमि को महार्णव के भीतर ले गये थे। वेद में इस बात को इस तरह कहा है कि 'असुर लोग उत्तर तरफ की पृथ्वी को खेंच कर ले गये'। अतएव असुर वध करना था। इसलिये पहले-पहल दैत्यरूप को धारण करने वाले असुर हिरण्याक्ष को भगवान् वराह ने फाड़कर फेंक दिया इसके विदारण में हेतुरूप दृष्टान्त देते हैं कि इन्द्र ने जैसे पर्वतों को काटा। (पहले पर्वतों के पंख थे। तब वे उड़-उड़कर गिरते थे और लोक का नाश करते थे तब इन्द्र ने उनका बैरी होकर उनके पक्षों को काट दिया।) यहां हिरण्याक्ष भी भूमि का अनिष्टकर्त्ता था इसलिये भगवान् ने उसका नाश किया। समुद्र के अन्दर ही मारा, इसलिये 'अन्तर्महार्णवे' ऐसा कहा। आते-आते को ही मारा। भगवान् की दाढ़ यम है और भगवान् ने दाढ़ से फाड़ा इसलिये उसकी इस जन्म में मुक्ति न हुई। तृतीय स्कंध में विदारण रूप से हनन नहीं कहा है किन्तु वह चरित्र अन्य कल्प का है इसलिये विरोध नहीं ॥ १ ॥

आभास—एवं प्रादेशमात्रस्याऽवतारमुक्त्वा पुरुषरूपस्याऽवतारमाह—

आभासार्थ—इस तरह प्रादेश मात्र का अवतार कहकर अब पुरुष रूप का अवतार कहते हैं—

श्लोक—**जातो रुचेरजनयत् सुयमान् सुयज्ञ**
आकूतिसूनुरमरानथ दक्षिणायाम् ।
लोकत्रयस्य महतीमहरद्यदार्ति
स्वायम्भुवेन मनुना हरिरित्यनूक्तः ॥ २ ॥

श्लोकार्थ—आकूति मनु कन्या में रुचि प्रजापति से भगवान् का सुयज्ञ नामक अवतार हुआ, और उनकी स्त्री दक्षिणा भी उन्हीं के साथ पैदा हुई। उन्होंने सुयम नामक और अमर नामक देवों को पैदा किया। जब इन्होंने लोक के दुःखों को दूर किया तो स्वायम्भु मनु ने इन्हें 'हरि' पदवी दी ॥ २ ॥

सुबोधिनी—जातो रुचेरिति। भगवतो हि यज्ञस्य ध्यानरूपकर्माधिष्ठातृ रूपमेकत्र नाम चैकत्र। तत्र रूपं वराहे। नाम यज्ञनारायणे। स हि पुरुषरूपः। भगवान् पुरुषरूपाणि स्वरुच्या कृतवानिति रुचिनाम्नो ब्रह्मपुत्राज्जातः। तस्य भगवदवतारत्वे नियामकं रूपमाह— **अजनयत् सुयमानिति**। अन्यो हि जातः कियता कालेन भार्यया सम्बद्धः पुत्रान् जनयति। स हि दक्षिणाया भार्यया सहित एव जातः। सुयमान्देवांस्तन्मन्वन्तराधिकारिणोऽजनयत्। सुयज्ञ इति नाम यस्य। शोभना यज्ञा यस्मात्। वराहो हि यज्ञरूपः। अयं देवतारूपः। आकूतिरिति मनोर्ज्येष्ठकन्या। आकूतिर्बाह्यः प्रयत्नः। यज्ञो हि तेनैवाऽभिव्यज्यते। **अमरानथ दक्षिणायामिति**। पूर्वं यज्ञभुजो देवान् सृष्ट्वा पुनरधिकारिणोऽपि देवान्सृष्टवानित्यथशब्दादवगम्यते। अथ अमरान् देवान् सृष्टवान् स्वत एव। अथ दक्षिणायां बाह्यान् देवानित्यर्थः। अवतारस्य प्रयोजनमाह—**लोकत्रयस्येति**। महती आर्तिर्वृष्टियज्ञकर्माभावेन। तत्रितयसम्पादनेन अहरत्। दैत्योपद्रवेण वा। तद्धननेन। तस्मिन्मन्वन्तरे इन्द्राधिकारिणोऽन्यस्याऽभावात्स्वयमेवेन्द्रो जात इत्याह—**स्वायम्भुवेनेति**। स हि स्वायम्भुवमनोः पुत्रिकापुत्रः। एको हि ब्राह्मणरूपः क्षत्रियरूपोऽपि जातः। न हि भगवदवतारव्यतिरेकेण द्वयं भवति कश्चित्। अत एव स्वायम्भुवेन ब्रह्मपुत्रेण तन्मातामहेन मनुना पूर्वं यज्ञ इत्युक्तोऽप्यनु पश्चाद्धरिरितीन्द्र इत्युक्तः। न ह्येकोऽधिकारद्वयं कर्तुं शक्तः। तस्माद्यज्ञशब्दप्रयोगाद्धरिशब्दप्रयोगाच्च पुरुषद्वयरूपो भगवान्निरूपितः। अलौकिको हि यज्ञः सर्वलोकात्मको हरिरिति।२।

व्याख्यार्थ—ध्यान रूप कर्म के अधिष्ठाता भगवान् का रूप एक जगह और नाम दूसरी जगह स्थित होता है। यज्ञ भगवान् का रूप वराह में स्थित है, और नाम सुयज्ञावतार में स्थित है। यह अवतार पुरुष रूप होता है "तेषां मे पौरुषी प्रिया" इस वाक्य से पुरुष अवतार भगवान् को प्रिय है इसलिये यह रुचि से-रुचिप्रजापति से हुआ। रुचि प्रजापति (प्रेसिडेन्ट) ब्रह्मा के पुत्र थे। यह भगवान् का अवतार था। इसका नियामक रूप बताते हैं। 'अजनयत् सुयमान्' इत्यादि। साधारण जन तो पैदा होकर कुछ काल पीछे स्त्री का सम्बन्ध करता है और प्रजोत्पत्ति करता है, किन्तु सुयज्ञ भगवान् तो दक्षिणा भार्या सहित ही पैदा हुये और उससे सुयम नाम के देवों को पैदा किये जो देवगण उस मन्वन्तर में भिन्न भिन्न अधिकारों पर स्थित हुए। जिसकी सामर्थ्य से यज्ञ सुशोभित होते हैं, उसे सुयज्ञ कहते हैं। वराह यज्ञरूप है और यह यज्ञ की देवता रूप है। देवता से ही क्रिया आदि सुशोभित होते हैं। आकूति स्वायंभू मनु की ज्येष्ठ कन्या थी। वैदिक भाषा में बाहर की कोशिश को आकूति कहते हैं। बाह्य चेष्टाओं से ही यज्ञ तैयार किया जाता है (अथ) शब्द से यह स्पष्ट होता है कि पहले यज्ञ भोक्ता देवगण पैदा किये और तदनन्तर तत्तदधिकार करने वाले देवगण पैदा हुए। अमर देवगणों को अपने स्वरूप से ही प्रकट किये पर बाह्य अधिकारी देवगणों को तो दक्षिणा पत्नी में पैदा किये। अब अवतार लेने का प्रयोजन कहते हैं— 'लोकत्रयस्येति'। उस समय वृष्टि यज्ञ और कर्त्तव्य कर्मों का कुछ नियम नहीं था। इनके बिना प्रजा को बड़ा कष्ट होता रहता था। तब भगवान् ने वृष्टि यज्ञ और कर्मों की सुव्यवस्था कर दी, जिससे लोगों का कष्ट जाता रहा। अथवा किसी कल्प में दैत्य कृत उपद्रवों से प्रजा दुःखी रहती थी। भगवान् ने दैत्यों को मारकर लोगों के दुःख हर लिये। इस मन्वतर में त्रिभुवन पर अधिकार रखने वाला त्रिभुवन-व्यवस्थापक कोई इन्द्र नहीं था। इसलिये इन्द्र भी आप ही रहे। इन्द्र का कार्य भी

भगवान् सुयज्ञ ने ही किया। हरि' दुःख हर्त्ता का नाम है और इसी से इन्द्र को भी 'हरि' कहते हैं। सब दुःखों के हरण कर लेने से स्वायंभू मनु के किसी संबधी ने सुयज्ञ को इन्द्र पद पर भी अधिष्ठित किया। यद्यपि खास स्वायंभू मनु सुयज्ञ के नाना ने सुयज्ञ को पहले 'यज्ञ' नाम से प्रसिद्ध किया पर पीछे से उनके किसी संबंधी ने उन्हें 'इन्द्र' स्थान पर पहुँचाया। भगवदवतार के बिना अन्य कोई दो अधिकारों का निर्वाह करने को सामर्थ्य नहीं रखता। सुयज्ञ भगवान् स्वायंभु मनु के (आकूति) युक्ति के पुत्र थे और भगवान् भी थे। इसलिये ब्राह्मण रहते भी क्षत्रिय रूप भी रहे। इसलिये 'यज्ञ' शब्द का और हरि शब्द का एकत्र प्रयोग होने से भगवान् ही पुरुषद्वय रूप हो गये। अलौकिक धर्मरूप यज्ञ, और सर्व लोकात्मक हरि भगवान् ॥ २ ॥

आभास—"वसन्तमि" ति भगवद्ध्याने भगवद्विशेषणमुक्तम्। तस्य स्वरूपं निर्द्धार्यते केवलवासलक्षणम्। न हि कश्चिदपि किञ्चदप्यकृत्वा क्वचिदपि स्थातुं शन्कोति। **"न हि कश्चित्क्षणमपी"** ति वाक्यात्। अतः केवलस्थित्यर्थं स्वयं तथा स्थितः अन्यान् शिक्षयितुमेकं साङ्ख्यलक्षणं शास्त्रं कृतवान्। तदाह—

आभासार्थ— द्वितीय ध्यान में 'वसन्तं' यज्ञ विशेषण भगवान् को दिया है। इसका स्वरूप केवल वास मात्र है। अब इसका निर्णय करते हैं। कहीं भी कोई भी पुरुष किसी समय भी कुछ भी चेष्टा किये बिना नहीं रह सकता। भगवान् ने भी कहा है कि 'नहिकश्चित्क्षणमपी' इत्यादि। यह बात भगवान् से ही हो सकती है। इसलिये केवल वासलक्षण स्थिति को स्वयं करने के लिये स्वयं भगवान् प्रकट हुए और दूसरों को वैसी शिक्षा देने के लिये सांख्य शास्त्र का निर्माण किया। वह कपिलावतार हुआ सो कहते हैं—

श्लोक—**जज्ञे च कर्दमगृहे द्विज देवहूत्यां**
स्त्रीभिः समं नवभिरात्मगतिं स्वमात्रे।
ऊचे ययाऽऽत्मशमलं गुणसङ्गपङ्क-
मस्मिन्विधूय कपिलस्य गतिं प्रपेदे ॥ ३ ॥

श्लोकार्थ—हे नारद! कर्दम प्रजापति को देवहूति में नवभगिनीयों को साथ लेकर भगवान् कपिल रूप से पैदा हुये। इन्होंने अपनी माता को सांख्य के द्वारा ब्रह्मज्ञान कराया, जिसके द्वारा वह अन्तर्मोहक गुण संग रूप कीचड़ को तज कर कपिलदेव के चरणों को प्राप्त हुई ॥ ३ ॥

सुबोधिनी—जज्ञे च कर्दमगृह इति। केवलस्थितिनिरूपणार्थमाविर्भूतो जातोऽपि यथा सर्वं कुर्वन्नपि न करोतीति बोधयिष्यति, तथा सर्वत्र जातोऽपि न जात इति ज्ञापनार्थं जज्ञे चेत्युक्तम्। कर्दमस्य गृहे। **"छायायाः कर्दमो जज्ञ"** इति ब्रह्मणश्छायात उत्पन्नोऽप्युनुत्पन्नप्राय इति तद्गृहे जातस्तथा प्रदर्शनार्थम्। किञ्च। कर्दमस्य गृहं जलं भवतीत्यतिशुद्धे उत्पत्तिरुक्ता। पुष्कर-

पलाशवन्निर्लेपत्वज्ञापनार्थं वा । कृधातोः कर्त्रर्थे विच् प्रत्यये कृते गुणे लोपे च कृते करिति भवति। कृतिकर्त्ता भूत्वा यो दमरूपः । दमस्त्विन्द्रियसंयमः । तेन करोति न करोति चेति तस्य स्वरूपमेव । तादृशे हि जातः साङ्ख्यप्रवर्तको भवति । **द्विजेति** सम्बोधनं तथात्वाभावान्नारदस्याऽधिक्षेपबोधकम् । देवहूत्यां मनोर्द्वितीयकन्यायाम् । देवानां हूतिर्यस्यामिति सर्वदेवतामयी सा तिरूपिता । अनेनाऽतिसौन्दर्यं तस्या निरूपितम् । **स्त्रीभिः समं नवभिरिति** । प्रकृतेर्गुणत्रयाभिमानिन्यो देवताः कर्तृत्वनिमित्तं सहैवाऽऽनीताः स्वयमकर्ता ताः कर्त्र्य इति । तासां भगिनीत्वख्यापनात्ता यत्र सम्बध्यन्ते स एव कर्त्ता न तु सर्वथा असम्बद्ध इति साङ्ख्यसिद्धान्ते नियमो द्योतितः । अवतारस्य प्रयोजनमाह—**आत्मगतिमित्यादिना** । यस्य हृदयात्साङ्ख्यशास्त्रमुत्पद्यते स एव हि तत्र मुख्योऽधिकारी । स्वोत्पादकत्वबुद्धिनिवृत्त्यर्थं चाऽऽत्मतत्त्वरूपं सांख्यं मात्रे उक्तवान् । आसुरिरपि सांख्यं पठितवान् । तथापि तस्य प्रचारकत्वेनोपयोगान्न मुख्याधिकारित्वम् । इयं तु मुख्याधिकारिणी । यतस्तदेव आत्मशमलं गुणसङ्गपङ्कलक्षणं तस्मिन्नेव क्षणे विधूय यथा कपिलस्तथैव जाता। अतः स्त्रीजातिमत्त्वेऽपि मातृत्वेऽप्यात्मोपदेशः । आत्मनो गतिर्ज्ञानम् । स्वमात्र इत्युपदेशावश्यकता । भगवदवतारत्वाच्च न गुरुभ्य उपदेशो दोषाय । इदं हि ज्ञानं नित्यसिद्धम् । किन्त्वन्तःकरणदोषान्न भासते । अतोऽन्तःकरणस्य शमलं मोहजनकं पापम् । अस्मिन्नेवोपदेशे वा । कपिलस्य गतिं साङ्ख्यसिद्धान्तसिद्धानुभवम् । अपेदे प्राप्तवती ।। ३ ।।

व्याख्यार्थ—केवल स्थिति मात्र को दिखाने के लिये जैसे भगवान् प्रकट हुए ऐसे सब कुछ करते रहते भी कुछ नहीं करते यह समझावेंगे । श्री कपिलदेव ने दो तरह से बोध दिया । एक स्वरूप से और वाणी से आत्मा सर्वत्र पैदा होकर भी पैदा नहीं होता । यह आज तक किसी को बोध नहीं था, किन्तु कपिलदेवजी ने अपने स्वरूप से दिखा दिया कि मैं पैदा होकर भी जैसे अनुत्पन्न प्राय ही रहा । इसी तरह आत्मा भी सर्वत्र देह के साथ पैदा होकर भी पैदा नहीं होता । उत्पत्ति का लेप उसे नहीं होता और अपनी वाणी कृति से यह उपदेश दिया कि कर्म करते रहते भी कुछ नहीं करना हो सकता है । क्योंकि आगे के लिये कर्मफल का संग्रह नहीं होने पाता । यह सब जताने के लिये ही भगवान् प्रकट हुए और इसीलिये श्लोक की आदि में ही 'जज्ञे' क्रिया का प्रयोग किया है । कर्दम के घर में उत्पन्न हुए । 'छायायाः कर्दमो जज्ञे' ब्रह्मा की छाया से उत्पन्न हुए, इसलिये पैदा नहीं हुए जैसे ही रहे और उसके घर में जो पैदा हुआ वह भी वैसा ही है यह दिखाने के लिये ही उनके घर में हुए । कर्दम शब्द का रूढ़ अर्थ कीचड़ है और उसका घर जल है । जल अति पवित्र है, उसमें जो उत्पत्ति हुई वह अति पवित्रता दिखाती है, और निर्लेपता को भी दिखाती है । जल में कीचड़ का लेप नहीं होता । वह नीचे बैठ जाती है, पर जल सब के ऊपर निर्लेप ही रहता है । इस तरह कर्दम के गृह में उत्पन्न होकर भी कमल पत्र की तरह निर्लेप रहे यह जता दिया । करोतीति कृत् कर्त्रर्थ में कृ धातु से विच् प्रत्यय होने पर गुण के बाद प्रत्यय का लोप हो जाने से 'कर' शब्द बनता है, और फिर उसके दम शब्द का सहयोग कर देने से यौगिक 'कर्दम' शब्द सिद्ध होता है । इन्द्रियों के नियन्त्रण को दम कहते हैं । अब 'कर दम' शब्द का यह अर्थ हुआ कि जो कृति (करने) वाला होकर भी इन्द्रिय संयम रखता हो वह कर्दम अर्थात् उसका स्वरूप हो ऐसा है कि करते रहते भी कुछ न करे ऐसे घर में जो उत्पन्न हुए (श्री कपिल) सांख्यशास्त्र के प्रवर्तक

हुए। यह स्वतः सिद्ध है। यहां नारद को 'द्विज' शब्द से सम्बोधित किया है। इससे वैसा संयम तुममें नहीं है, यह ब्रह्मा ने नारद पर कुछ आक्षेप सा व्यक्त किया है।

देवहूति, मनुकी दूसरी कन्या थीं। जिससे सब देवताओं का आह्वान हो, वह देवहूति'। देवहूति सर्वदेवतामयी थीं। इससे उनका सौन्दर्य सर्वोत्तम था। यह जताया है। कपिलदेवजो नव बहिनों के साथ प्रकटे, इसका तात्पर्य यह है कि सत्त्वरजस्तमः तोन गुण जब परस्पर सम्मिलित होते हैं, तब नौ हो जाते हैं सात्त्विक सात्त्विक राजस राजस आदि। इन नव विध गुणों की अभिमानिनी देवतायें भी कर्त्तृत्व बनाये रखने के लिये साथ ही आई। कपिल आप स्वयं तो ब्रह्म होने से निर्गुण हैं, प्राकृत कर्त्तृत्व रहित है किन्तु कृति तो दिखानी है, इसलिये उन्हें साथ लाये। मैं अकर्त्ता हूँ ये कर्मी हैं इनको भगिनी बनाया इसका तात्पर्य यह है कि इनका जिनके साथ सम्बन्ध होता है वे ही कर्त्ता होते हैं, किन्तु साथ पैदा होने पर भी जिससे इनका सम्बन्ध नहीं रहता वह अकर्त्ता ही बना रहता है। यह सांख्य सिद्धान्त का नियम भी दिखा दिया। अब अवतार का प्रयोजन दिखाते हैं 'आत्मगति' इत्यादि। जिसके हृदय से सांख्यशास्त्र (आत्म अनात्म विचार) की उत्पत्ति हो वही आत्मज्ञान का मुख्य अधिकारी होता है। पुत्र को उत्पन्न करने वाली मैं हूं, यह बुद्धि भ्रम माता में ही होता है, इसलिये मां को ही आत्म तत्त्व समझाने वाला सांख्यशास्त्र कहा। यद्यपि आसुरि शिष्यों को भी सांख्य सिखाया था तथापि वह उसका प्रचार करने में हो रहा इस लिये वह मुख्याधिकारी न रहा। किन्तु माता ने तो उसका स्वयं उपयोग किया, इसलिये यही मुख्य अधिकारिणी रही। अतएव इसको मुख्य फल की प्राप्ति भी हुई। उपदेश श्रवणानन्तर ही माता ने अन्तःकरण को मोह दिलाने वाले गुणत्रय के कीचड़ को उसी समय हटाकर कपिल के ज्ञान को प्राप्त कर लिया। जो कपिल थे वही आप भी हो गयीं। माता इतनी उत्तमाधिकारिणी थीं, इसीलिये भगवान् ने भी स्त्री जाति रहने पर भी, पूज्या होने पर भी माता को ही आत्मज्ञान का उपदेश दिया। 'स्वमात्रे' में स्व शब्दः इसलिये दिया है कि आत्मीयता होने से उपदेश की आवश्यकता थी। कपिलदेव भगवान् थे। इसलिये गुरुस्थानीया माता को उपदेश देना दूषण न हुआ। यह ज्ञान आत्मा में नित्य सिद्ध रहता है। तथापि अन्तःकरण के दोषों से प्रकाशित नहीं हो पाता। इसलिये श्री कपिलजी ने पहले अन्तःकरण के मोहजनक पाप को ही दूर किया। उपदेश देते समय जो समझ के आड़ा आवे वह पाप ही है। कपिल की गति अर्थात् सांख्य के सिद्धान्त का अनुभव। उसको प्राप्त किया ॥ ३ ॥

आभास—एवं भगवतो निश्चलस्थितिरूपं कपिलं निरूप्य चतुर्भुजत्वं भगवतो निरूपयति—

आभासार्थ—इस तरह भगवान् को निश्चल स्थिति रूप कपिलावतार का निरूपण कर अब भगवान् के चतुर्भुजत्व का निरूपण करते हैं—

श्लोक—**अत्रेरपत्यमभिकांक्षत आह तुष्टो**
दत्तो मयाऽहमिति यद्भगवान् स दत्तः ।

यत्पादपङ्कजपरागपवित्रदेहा
योगर्द्धिमापुरुभयीं यदुहैहयाद्याः ।। ४ ।।

श्लोकार्थ—अत्रिऋषि ने जब पुत्र की इच्छा की तब भगवान् ने प्रसन्न होकर कहा कि मैंने तुमको अपने आप को दिया अतएव वह जो पुत्र हुआ वह भगवान् का दत्तावतार हुआ । जिनके चरण कमल के पराग से पवित्र हुये देह वाले यदुहैहय आदि पुरुष दोनों तरह की योग सिद्धियों को प्राप्त कर गये ।। ४ ।।

सुबोधिनी—अत्रेरिति । न विद्यन्ते त्रयो यस्य । पुत्रत्रयमवश्यभाव्यम् । तदभावाद्भगवत्प्रार्थना । अथवा। भार्या स्वयं च । पुत्राभावादत्रित्वम् । तस्य हि पुत्रत्रयसहिते स्वस्मिसम्पन्ने चतुर्भु जत्वं भवति चतस्त्रः क्रियाशक्तयो भवन्त्युत्पत्तिस्थितिप्रलयास्तपश्चेति । **योगस्तपश्च वंशश्च भगवद्भक्तिरेव च । एताः क्रियाश्चतस्त्रो हि भगवद्बाहुषु स्थिताः । अथवा दातृदेयत्वमात्मानो बोधयत्सौ । अत आत्मप्रदः कृष्णश्चतुर्भु ज इतीरितः** । तदाह—**अपत्यमभिकांक्षतः** । अपगतिं त्याजयतीत्यपत्यं दुर्गतिनिवारकम् । तत्र पुत्रान्तरेण तेन वा पितृलोकप्रापणे परमार्थतो दुर्गतिरेव भवति । अतो भगवानेवं विचारितवान् अयमपत्यं वांछति तस्याऽपत्यार्थसिद्धयर्थमहमात्मानमेव दास्यामि । नाऽन्यथाऽपत्यत्वसिद्धिः। अभितः कांक्षणमेकेनैवाऽभ्युदयनिःश्रेयसोभयजननाय । अत एव स्वयमेवाऽऽह अत्रेस्तुष्टः सन् । भगवतो दत्तनामनिरुक्तिः न दत्तः पुत्रत्वेन किन्त्वात्मप्रदत्वेनेति । तदाह **दत्तो मयाऽहमिति**। मया अहमेव दत्तः । एकस्य कर्मकर्तृ भावो न भगवद्वयतिरिक्तस्य भवति । धर्मशास्त्रे अदेयत्वेनाऽऽत्मादयो गणिताः । "**धर्मदासो ज्येष्ठपुत्रो भार्या स्वात्मा तथैव च । सर्वस्वं गुरुवर्गश्च नैव देयमिति स्थितिरि**" ति वाक्यात् । अतः कथं भगवानात्मानं दत्तवानित्याशङ्कयाऽऽह—**यद्भगवानिति** । यस्मादयं भगवान् । जीवधर्मा एवैते । भगवांस्त्वात्मप्रदः । अन्यथा भजनीय एव न स्यात् । अत एव स दत्तः दत्तनामा जातः । दत्तात्रेय इति पितृनाम्ना सह नाम । अवतारप्रयोजनमाह—**यत्पादपङ्कजेति** । पूर्ववत्पादपङ्कजपरागसंस्कृतानि भगवदीयदेहजनकानि भूतानि । तैः शुद्धो देहो येषाम् । अत एवोभयीं योगर्द्धिमापुः सद्योमुक्ति-क्रममुक्तिरूपाम् । अणिमादयस्तु क्रममुक्तावेव । ज्ञानभक्तिरूपां वा । यदुगुरुरवधूतोऽयम् । हैहयः सहस्रार्जुनः । स हि यादवः । तेन ह्यैहिकी सिद्धिः सहस्रबाहुरूपा प्राप्ता मोक्षश्च । एतेषां पुष्टिमार्गनिष्ठत्वान्न मर्यादाविरोधो दोषाय । आदिशब्देन प्रह्लादादयः । अतो भगवद्बाहूनां सङ्ख्यामेवंरूपत्वमित्युक्तम् ।। ४ ।।

व्याख्यार्थ—गृहस्थी को तीन पुत्र अवश्य चाहिये सो अत्रिऋषि के नहीं थे इसलिये उन्हें ऊत्रि कहते हैं और इसीलिये उन्होंने भगवान् से प्रार्थना की । अथवा आप और भार्या दो तो थे, पर तीसरा पुत्र न था इसलिये वे अत्रि थे । जब उन्होंने भगवान् से पुत्र देने की प्रार्थना की तो भगवान् ने एक साथ संकल्पानुसार तीन पुत्र दिये पर उनमें अवतार एक ही रहा । अब पुत्रत्रय सहित आप स्वयं चार हुये यही भगवान् के चतुर्भु जत्व का चिन्ह प्रकाशित किया । भगवान की

भुजाओं में उत्पत्ति स्थिति, प्रलय और तप ये चार क्रिया शक्तियां रहती हैं। अत्रि के यहां ब्रह्मा, विष्णु, महेश के अंशों से चन्द्रमा, दत्त और दुर्वासा तीन पुत्र हुये। ब्रह्मा उत्पत्ति शक्ति, विष्णु स्थिति शक्ति और महेश प्रलय शक्ति और स्वयं अत्रि तप शक्ति। ये चार क्रिया शक्तियाँ भगवद्-बाहुरूपा हुई। ये तीनों हो अवतार रूप हुये, किन्तु इन तीनों में ये चार क्रिया शक्तियाँ स्पष्ट मालुम नहीं होती इसलिये दूसरा पक्ष कहते हैं। योग: इत्यादि। योग तप वंश और भगवद्भक्ति ये चार क्रिया शक्तियां भगवद्बाहुओं में रहती हैं, सो इनमें प्रकाशित हैं। योगशक्ति दत्त में, तपशक्ति दुर्वासा में, वंश चन्द्रमा में और भगवद्भक्ति अत्रि में। यहां यह प्रश्न होता है कि सोम, दुर्वासा और अत्रि तीनों की अवतार रूप से प्रसिद्धि नहीं है, इसलिये पक्षान्तर कहते हैं कि 'अथवा' केवल दत्त ही भगवान् का अवतार है। क्योंकि 'दत्त' शब्द की व्युत्पत्ति और शक्तिवृत्त कह रही है कि इससे भगवान् का ही दातृत्व और भगवान् का ही देयत्व प्रकाशित हो रहा है, इसलिये दत्त हो भगवदवतार हैं। दाता भगवान् हैं और देने का पदार्थ भी पुत्ररूप आप ही हो गये हैं यह एक का दातृत्व और देयत्व दोनों धर्म भगवान् के सिवाय किसो अन्य में नहीं हो सकते। इसलिये एक दत्त ही भगवान् का अवतार है। यहां क्रिया शक्तियों को प्राधान्य नहीं है, किन्तु अवस्थाद्वय के भेद से स्वरूप प्रदान को ही प्राधान्य है। भगवान् श्रीकृष्ण ही एक आत्माप्रद है। सामान्य दाता उत्साह युक्त हो तो लौकिक दान दो हाथों से देता है किन्तु आत्मा का देना अलौकिक दान है अतएव इसे आप चारों भुजाओं से देते हैं यह कहा जाता है। श्लोकों में इसका खुलासा करने के लिये कहते हैं—अपत्यं अभिकांक्षत ? इत्यादि। अपगति से जो छुड़ावै वह अपत्य (पुत्रादि) दुर्गति निवारक कहा जाता है। अब यदि वह अपत्यादि भगवान् के सिवाय अन्य कोई हो तो दुर्गति करा सकता है। और यदि कदाचित् पारलौकिक क्रियाओं के द्वारा प्रेतलोकादि में भी पहुंचा दे तो भी जन्ममरण के चक्र में डाल देने से वह भी वास्तव में तो दुर्गति ही है। तब भगवान् ने विचार किया कि लौकिक अपत्यों में अपत्यत्व हो नहीं सकता और अत्रि ऋषि अपत्य मांग रहे हैं इन्हें लौकिक अपत्य देकर धोखा देना उचित नहीं, इसलिये अब तो मैं अपने आप को ही इसे पुत्ररूप में दूंगा अन्यथा अपत्यत्व की सिद्धि होना दुष्कर है। और अभित: कांक्षण भी तब ही बन सकता है। इस लोक का फल अभ्युदय और पारलौकिक फल मोक्ष प्राप्ति यही अभित:कांक्षण (चाहना) शुद्ध हो सकता है। इसलिये स्वयं दर्शन देकर बोले कि मैंने दिया। भगवान् का यह 'दत्त' नाम पुत्र देने से नहीं है, पर आत्मप्रद भगवान् होने से है। 'मया अहमेव दत्त:' मैंने मुझको ही आपको दे दिया है। जो दान का कर्त्ता है, वही दान का कर्म भी है। यह एक का ही कर्तृत्व, कर्मत्व भगवान् के सिवाय अन्य में नहीं रह सकता।

कितने ही कहते हैं कि धर्मशास्त्र में आत्मा आदि कितने ही अदेय गिनाये हैं।

धर्म दासो ज्येष्ठपुत्रो भार्या स्वात्मा तथैव च।
सर्वस्वं गुरुवर्गश्च नैव देयमिति स्थिति ।। इति वाक्यात्।

धर्मत: जो अपना खरीदा हुआ बन गया है, सो जेठा बेटा, अपनी पत्नी तथा अपना अपनपा, अपना सब कुछ माता, पिता, आचार्य आदि अपने गुरुजन ये सब अदेय हैं। दान करने योग्य नहीं हैं। तो फिर भगवान् भक्तों को अपनी आत्मा कैसे दे देते हैं? इसका उत्तर देते हैं कि 'यद्भगवान्'।

यह भगवान् है । इसलिये धर्म मात्र जीव के अधिकार को लेकर बने हैं, अतएव ये जीव-धर्म है । भगवान् तो षडैश्वर्य सम्पन्न सर्व समर्थ है अतएव आत्मप्रद है । अपने अपनपे को भी दे डालते हैं । सूत के कपड़े हैं, सूत ही कपड़े हैं, इसका अर्थ यही है, कि सूतों ने अपना अपनपा कपड़ों को दे रखा है । सूतों के अपनपे से कपड़ों की सत्ता है । इसी तरह सब जगत् ही जब भगवान् हो गया है । भगवान् से ही जब सारा जगत् बना हुआ है । तब कहना पड़ेगा कि भगवान् अपनी आत्मा जगत् को दे रखा है । ऐसी अवस्था में भगवान् भक्तों को आत्मा दे दें, इसमें क्या आश्चर्य ! और असम्भव है । यदि भगवान् अपनी आत्मा भक्तों को न देने का प्रण कर लें, या न देता होता तो फिर उसका भजन कौन करता ? अतएव वह दत्त इस नाम से प्रसिद्ध हुए । कहीं कहीं पिता के नाम को साथ रख कर दत्तात्रेय कहा है । आत्रेय दत्तः । अथवा दत्तः आत्रेय लोक में पिता के नाम को साथ रखने का कहीं-कहीं सदाचार है । अवतार लेने का प्रयोजन बताते हैं । 'यत्पाद' इत्यादि। अदेय दान की तरह भगवान् अपने भक्तों की देह शुद्धि भी करता है । भगवान् के चरण कमल के पराग से संस्कार वाले महाभूतों से भक्तों के देह बने होते हैं । अतएव शुद्ध होते हैं । इसीलिये इन्हें दोनों तरह की योग सिद्धि प्राप्त हो जाती है । सद्योमुक्ति और क्रममुक्ति यह भगवद्योग का फल है । ये दोनों उन लोगों को मिलती है । अलौकिक अणिमादि सिद्धियां क्रममुक्ति में आ जाती हैं । अथवा ज्ञान और भक्ति ये दोनों भगवद्योग की सिद्धियां यहां समझना । यदु हैहय और प्रह्लाद प्रभृति भक्तों ने इन सब सिद्धियों को भगवच्चरण कमल रेणु के प्रभाव से प्राप्त किया । यदु राजा के गुरु दत्तात्रेय अवधूत थे । हैहय सहस्रार्जुन यह यादव था । भगवत्कृपा से इसे इस लोक की सिद्धि हजार हाथ होना प्रभृति मिली, और मोक्ष भी मिला । आदि शब्द से प्रह्लाद भी समझना । ये सब पुष्टि मार्गीय भक्त थे, अतएव यदु ने पिता की आज्ञा नहीं मानी, सहस्रार्जुन ने ब्राह्मण की गौ का अपहरण किया और प्रह्लाद ने पित्राज्ञा गुर्वाज्ञा का पालन नहीं किया इत्यादि मर्यादा मार्ग के विरोध इन्हें दूषित न कर सके इस प्रकार विचार शास्त्र में भगवद्बाहुओं का निरूपण इस रूप में किया गया ।। ४ ।।

आभास—"कञ्जरथाङ्गशङ्खगदाधर" मित्यस्य विशेषणस्य स्वरूपमाह—

आभासार्थ—"अब कञ्जरथाङ्गशङ्खगदाधर" इस विशेषण का स्वरूप कहते हैं—

श्लोक—तप्तं तपो विविधलोकसिसृक्षया मे
आदौ सनात् स्वतपसः स चतुःसनोऽभूत् ।
प्राक्कल्पसम्प्लवविनष्टमिहाऽऽत्मतत्त्वं
सम्यग्जगाद मुनयो यदचक्षताऽऽत्मन् ।। ५ ।।

मार्गान्तर होने से पुष्टिमार्ग और मर्यादा मार्ग का विशेष मैं अपने अनुग्रह मार्ग ग्रन्थ में कह चुका हूँ वहां से देखना उचित है । लो. के. शा.

श्लोकार्थ—सृष्टि के पूर्व में मैंने विविध लोक की रचना के लिये तपश्चर्या को और उस तप का समर्पण भगवान् को किया। तब भगवान् तप के द्वारा सनत्कुमारादि चार रूप से प्रकट हुये। प्रकट होकर उन्होंने पहले कल्प के प्रलय में जो आत्मतत्त्व का ज्ञान नष्ट हो चुका था, उसे फिर से कहा। जिसके द्वारा मुनि लोगों ने अपनी आत्मा में ही ब्रह्म का दर्शन कर पाया।

सुबोधिनी—तप्तमिति। एते हि सनकादयश्चत्वारो भगवदायुधरूपाः। ते हि यद्यपि तत्त्वरूपाः। मुख्यतत्त्वं गदा, अपां तत्त्वं शङ्खः, तेजस्तत्त्वं सुदर्शनं, कार्यतत्त्वं पद्ममिति। तेजोऽब्न्नानि प्राणाश्चेत्युक्तं भवति। तेषां स्वरूपेणैव तत्त्वता। कार्यवत्त्वेन यद्रूपं तदिहोच्यते। न केवलं तत्त्वमात्रेण कार्याऽऽवेशरहितेनाऽऽयुधभावः सम्पद्यते। ते हि येन तथा भवन्ति तदुच्यते। "**तपो मे हृदयं साक्षादि**" ति वाक्याद्भगवतः साधनं तप एव। तद्धि क्रियया व्यापृतमिति हस्तैः पद्मादिधारणम्। तपसोऽपि वैलक्षण्यमाह —मया पूर्वं चतुर्विधभूतनिकायसृष्टयर्थं तप्तं तपः। आदौ सृष्टेः पूर्वम्। ततोऽपि न किञ्चिञ्जातं यदा तदा तत्तपो भगवते दत्तं समर्पितम्। तस्य तपसः सनात् दानात्। षणु दाने। अतो दानाद्धेतोः स भगवानेव चतुःसनो जातः सनक-सनन्दन-सनातन-सनत्कुमाररूपेण। आवेशपक्षेऽप्येतदुपपद्यते। मूर्त्तिचतुष्टये एक एव भगवानाविष्ट इति। अवतारप्रयोजनमाह—**प्राक्कल्पसम्प्लवविनष्टमिति। यज्ञः साङ्गाच च योगश्च ज्ञानंत्वत्र निरूप्यते**। पूर्वकल्पे आत्मज्ञानस्य सम्प्लवो नाशो जातः। तत्पुनरिह अस्मिन्कल्पे सम्यग्जगाद। अनुभवपर्यन्तं यथा भवति। येनैव सनकाद्युक्तेन मुनयो मननशीलाः श्रौतप्रकारेण मननमपि कुर्वाणा न तेन मार्गेणाऽऽत्मानं दृष्टवन्तः, किन्तु सनकोक्तमार्गेण। यस्मादात्मानमेवाऽचक्षत दृष्टवन्तः। **आत्मन्निति** द्वितीयाया लोपः। सप्तम्या वा। तदा स्वात्मनि भगवन्तं दृष्टवन्त इत्यर्थः। साधारणा भक्तिमार्गाधिकारिणो '**ये ये हताश्चक्रधरेण राजन्नि**" ति न्यायेनाऽनेन मार्गेण मुक्ता भगन्तीत्युक्तं भवति। ते हि पूर्वमपि भगवद्वैकुण्ठस्थितियोग्यास्तस्मात्प्रच्युता इति पुनस्तत्र नयनम्। अनेन स्मरणार्थोऽपि कथितः ।।५।।

व्याख्यार्थ—ये सनकादि चारों ऋषि भगवान् के आयुधरूप हैं। कमल, चक्र, शंख और गदा। यद्यपि ये चारों तत्व रूप हैं, तथापि इनका यहां कार्यवान् रूप से निरूपण है। आसन्य मुख्य प्राण तत्व रूप गदा है। जलतत्व शंख है। तेजस्तत्व सुदर्शन तत्व है। और कार्य तत्व कमल है। तेज अप अन्न और प्राण को कहने का तात्पर्य है। ये आयुध अपने स्वरूप से ही तत्व रूप हैं कार्य से नहीं। किन्तु यहां तो इनका कार्यशील जो रूप है उसका निरूपण है। यदि ये केवल त व रूप ही रहे आवे तो आयुध रूपता नहीं हो सकती। तत्व जब कार्याविश युक्त हों तब आयुध रूपता होती है; इसलिये तत्वों को जिस प्रकार से आयुधभाव होता है वह प्रकार कहते हैं। 'तपो मे हृदयं साक्षात्' तपश्चर्या ही मेरा खास हृदय है। इस वाक्य से यह स्पष्ट होता है कि भगवान् को अभिमुख करने का साधन तप ही है। आलोचनात्मक तप क्रिया से भी युक्त होता है। तब भगवान् अपने श्री हस्तों में पद्मादि आयुधों का धारण करते है। तप के भी अनेक विशेष हैं सो कहते हैं—(आदौ)। सृष्टि के पूर्व में मैंने (ब्रह्मा ने) चार प्रकार के महाभूत समूह को उत्पन्न करने के लिये

खूब तप किया। विचार पूर्वक शारीरिक क्रिया को तप कहते हैं। किन्तु उसका कुछ भी फल न हुआ। तब मैंने वह तप भगवत्समर्पण करके किया। सन शब्द 'षणु दाने' धातु से बनता है। जिसका अर्थ समर्पण होता है। भगवदर्थ तप करने से वह भगवान् ही सननाम रखकर चार रूपों में प्रकट हुआ। सनक सनन्दन सनातन और सनत्कुमार। प्रथम स्कंध में इन चारों को भगवान् का ही अवतार कहा है और यहां इन्हें आयुधावतार कहा है। यह आशंका हो सकती है। पर वहां आवेश के आशय को लेकर वैसा कहा गया है अर्थात् आयुधों में भगवान् का आवेश भी हुआ। अत एव किसी समय इनको केवल ऋषिरूप से भी कहा है। चारों मुर्तियों में एक ही भगवान् ने आवेश किया तब ये भगवदवतार कहे गये।

अब अवतार लेने का प्रयोजन कहते हैं—'प्राक्कल्प' इत्यादि। इस अवतार के समय यज्ञ (धर्म) सांख्य (विचार शास्त्र) योग (चितैकाग्र्य) और ब्रह्मज्ञान कहा गया है। इनको उपलक्षण विधि से कहते हैं। पहले कल्प के प्रलय समय में आत्म ज्ञान का नाश हो चुका था। तब इस कल्प में यह अवतार लेकर भगवान् ने अच्छी तरह इस आत्म ज्ञान का निरूपण किया। सम्यक् का यह तात्पर्य है जिसके निरूपण से आत्मा का साक्षात्कार तक हो जावे, इस तरह कहा। जिस आत्म तत्व-निरूपण के द्वारा मुनि लोगों ने आत्म-तत्व का साक्षात्कार कर लिया। 'मुनयः' कहने का तात्पर्य है कि इसके पहले भी मुनि लोग वैदिक मार्ग के द्वारा ब्रह्म का मनन करते रहते थे पर उस मार्ग से उन्हें कुछ समझ में न आया। किन्तु सनकादि ने प्रकट होकर जब उस ब्रह्मतत्व को समझाया तब तो उन्होंने अपने आत्मा में ही अथवा आत्मा को ही ब्रह्मरूप में देख लिया। (आत्मन्) शब्द में द्वितीया किंवा सप्तमी का लोप हो गया है। यह साधारण भक्ति मार्ग है। "ये ये हताश्चक्रधरेण राजन्) यहां जैसे चक्रधर भगवान् के श्री हस्त से मरने मात्र से मुक्ति हो गई इसी न्याय से यहाँ भी श्री सनत्कुमार के उपदेश से मुनियों की मुक्ति हुई, यह साधारण भक्ति मार्ग के अधिकारियों की बात है। ये मुनि लोग पहले से ही भगवद्वैकुण्ठ में स्थिति रखने की योग्यता वाले थे किन्तु किसी कारण वश वहां से च्युत हो गये। तब भगवान् ने इस मार्ग के द्वारा उनको फिर वैकुण्ठ में पहुँचाया। मुनि पद से ही इस मार्ग के भगत्स्मरण का भी स्वरूप बता दिया है ॥५॥

आभास—"**प्रसन्नवक्त्रमि**" ति भगवद्धर्ममुत्पत्त्या निरूपयति—**धर्मस्येति** द्वाभ्याम्। प्रसाद-वक्त्रधर्मभेदात्। कीदृशो हि भगवत्प्रसादः कीदृशं वक्त्रमिति तदुभयमत्र ज्ञातं भविष्यति—

आभासार्थ— अब 'प्रसन्नवक्त्र' विशेष के द्वारा जो भगवद्धर्म द्वितीयध्यान में कह चुके हैं उसी का उत्पत्ति से निरूपण करते हैं। प्रसाद धर्म और वक्त्र धर्म के विशेष द्वारा। भगवान् का अनुग्रह कैसा होता है, और भगवान् का बदन कैसा है? यह यहां दो श्लोकों में कहेंगे प्रसाद और मुख दोनों धर्मों का इससे ज्ञान हो जायगा।

आवेशावतार के विषय में हमने 'कृष्णावतार' ग्रन्थ में कह दिया है वहां देखें।

श्लोक—**धर्मस्य दक्षदुहितर्यजनिष्ट मूर्त्यां**
नारायणो नर इति स्वतपः प्रभावः ।
दृष्ट्वाऽऽत्मनो भगवतो नियमावलोपं
देव्यस्त्वनङ्गपृतना घटितुं न शेकुः ।।६।।

श्लोकार्थ—धर्म से दक्ष पुत्री मूर्ति से अपने तपः प्रभाव को दिखाने वाले नारायण और नर ये दोनों भगवान् के अवतार हुए जिनके तपः प्रभाव से काम की सेना अप्सरागण भी आत्मरूप भगवान् से अपने नियम का अवलोप देखकर भी कुछ भी न कर सकी ।।६।।

सुबोधिनी—भगवतः प्रसादो मुखं च धर्म एव प्रकटीभवति । तत्रापि पितुरंशः प्रसादो यज्ञांशो मुखम् । तदाह । धर्मस्य दक्षदुहितरि मूर्तिनाम्न्यामवतीर्ण इति । दक्षो हि यज्ञे । तत्र हि या क्रियाशक्तिः श्रद्धादिभ्योऽतिरिक्ता साक्षान्मूर्त्तिभूता सा मूर्तिः । तत्र तस्य रूपद्वयमाह—**नारायणो नर इति । "आपो नारा"** इति व्युत्पत्त्या भगवन्मुखं जले प्रतिष्ठितम् । नर इति सूत्रात्मा जीवो जलपिता । एकस्यैव नामद्वयं जलाधारत्वेन जलजनकत्वेन च । मुखं च द्विविधम् । अतो जलाधारत्वेन सर्वरसग्रहणं सूत्रत्वेन च वाग्व्यवहारः । एवमुभयात्मकं वक्त्रं नरनारायणरूपेण प्रकटं जातम् । वक्त्रस्यैवं प्रकटने यो गुणस्तमाह—**स्वतपःप्रभाव इति** । तपो हि वक्त्रस्यैव तप इति । **"तपो नाऽनशनात्परम्"** इति श्रुतेः । अतोऽवयवान्तरेण कृतं तपो नोत्कृष्टं भवति । वाक्कृतमनशनकृतं च तपः । तस्य वक्त्रस्यानुभावो यत्र । एको गुणस्तपः । द्वितीयस्तत्संसर्गी अनुभावः । स च सहजदोषाभावरूपः । तपसो हि सहभावी औत्पत्तिको दोषः क्रोधः । तस्याऽत्यन्ताभावसाहित्यं तपसोऽनुभावः । सकामत्वं बाह्यो दोषः । तदभावस्तु गुण एव नत्वनुभावः । तत्र हि प्रसादो दोषकर्तृषु वरदानम् । तदेकादशस्कन्धे विस्तरेण वक्ष्यते । इह दोषाभावमात्रमाह । तत्र प्रथमं बाह्यदोषाभावं वदति—**दृष्ट्वाऽऽत्मन इति** । अयं हि भगवानात्मा । न हि स्वस्य स्वदर्शने कामो भवति । अत आत्मन एव भगवतः सकाशान्नियमस्य स्वसहजधर्मस्य अवलोपं दृष्टवा । विपरीततया नाशोऽवलोपः । आत्मनः सकाशादेव सहजबन्धकान्यपि कर्माणि मोक्षप्रदानि भवन्ति । तथाप्येता अप्सरसो भगवत्सान्निध्यात्स्वात्मन्येव चरितदोषा मोहिकाः क्रुद्धाश्च जाताः । अत एतासां संकल्पो नष्टः । नत्वेता अप्रयोजकाः किन्तु देव्यः देवतारूपा अपि एता व्रतत्यागिन्यो जाताः । दूरे एतासामुपासनया व्रतसिद्धिः । एतासां क्रियाशक्तिमाह—**अनङ्गपृतना इति** । तुशब्देन स्त्रियोऽबला अप्रयोजका इति पक्षो निराकृतः । अङ्गरहितस्य पृतनाः सेनाः । न तस्य शरीरनाशाद्भिप्यति । अमूर्तप्रकारेण च घातयन्ति । तादृशा अपि संबन्धपात्रमपि प्राप्तुं न शेकुः । स्त्रीकृतो भगवति न कोऽपि क्षोभो जात इत्यर्थः ।।६।।

व्याख्यार्थ—भगवान् का प्रसाद और भगवान् का मुख धर्म (यज्ञरूप) में ही प्रकाशित होता है । उनमें भी धर्म का अंश प्रसाद है । और यज्ञ का अंश मुख है । धर्म का आधिदैविक स्वरूप और यजन रूपी यही बात कहते हैं कि धर्म से दक्षपुत्री मूर्ति में भगवान् प्रकट हुये । दक्ष यज्ञ में हैं,

आध्यात्मिक यजन में दक्षता अपेक्षित है, अन्यथा विघ्नादि की संभावना रहती है। उस यज्ञ में श्रद्धा आदि से जुदी जो क्रिया शक्ति सशरीर विद्यमान् है, वही दक्ष पुत्री मूर्ति थो। उस मूर्ति में भगवान् के दो रूप नारायण और नर प्रसाद और मुख प्रकट हुये। 'आपोनारा इति'। इस निर्वचन से भगवान् का मुख (आद्यांश) जल में प्रतिष्ठित है। 'नर' सूत्र रूप है जो जल का पिता (जनक) है। जल का आधार होने से और जल का जनक भो होने से एक ही भगवत्पदार्थ के दो नाम हुए हैं। भगवन्-मुख ऐसा है, इसीलिये जलाधार होने से सब रसों का ग्रहण करता है, और सूत्रात्मक रहने से बोलने का व्यवहार भी उसी से चलता रहा है। इस तरह नर और नारायण दोनों रूप से भगवान् का ही मुख प्रकट हुआ। मुख के इस रूप में प्रकट होने से क्या गुण हुआ? यह जिज्ञासा यदि हो तो कहते है कि—स्वतपः प्रभावः वास्तव में उत्कृष्ट तपस्या मुख की ही होती है। तप कहने से 'तपोनाऽनशनात्परम्' कुछ भी न खाना इससे उत्कृष्ट तप कोई नहीं है यह श्रुति स्पष्ट कह रही है। इससे यह भी स्पष्ट होता है, कि—दूसरे अवयवों से किया हुआ तप उत्कृष्ट नहीं होता। वाणी कृत अनशन (न खाना) कृत तप ही मुख का प्रभाव (महात्म्य) है। यह दोनों नर नारायण में थे। एक गुण (क्रोधाभाव) दोनों वक्र के ही प्रभाव हैं। तप के साथ क्रोध न होना भी उसका माहात्म्य है बहुत से तपस्वियों को क्रोध सहज होता ही है। यह दोष है। तपस्या की उत्पत्ति के साथ ही क्रोध रूप दोष भी पैदा होता है। वह यदि बिलकुल न हो और तपश्चर्या तो हो तो वह इस तप का माहात्म्य है। कामना भी तप में दोष है पर वह बाह्य है, अतएव गुण है। अनुभाव नहीं है। मुख में तप हो क्रोध भाव सहित अनुभाव है। गुरु में प्रसाद (प्रसन्नता भी होता है। दोषकर्त्ताओं को भी वरदान करना यह भगवन्मुख में प्रसाद है। नर नारायण ने अपराधियों को भो वर दिया है यह कथा एकादश स्कंध में विस्तार से कहेंगे। यहां तो दोषभाव मात्र माहात्म्य का प्रकाश किया है। उसमें पहले वाह्य दोष (काम) का अभाव दिखाते हैं। 'दृष्टवात्मनः'। यह भगवान् सब को आत्मा है अर्थात पदार्थ मात्र में यह भगवान् ही 'अतति' (व्याप्नोति) उस उस रूप से समा रहा है। अतएव इनको अपने आपके ही देखने पर कोई काम चेष्टा न हुई। अप्सराओं ने भगवान् में काम विकार लाने के अनेक उपाय किये पर उनमें काम लेश मात्र को आने न पाया, क्यों कि वही तो सब का आत्मा स्वरूप है। इसलिये ही सर्वात्मा भगवान् से हो अपने कामोत्पादक रूप सहज धर्म और उसके नियमों का अवलोप विपरीत रूप से नाश देखकर स्त्रियां कुछ भी न कर सकी। काम यद्यपि सहज बन्धन करने वाला दोष है, पर भगवान् के प्रसाद से वह भी अप्सराओं के लिये मोक्षप्रद हो गया। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि सहज बन्धक भी कर्म भगवान् अनुभाव या प्रसाद से मोक्ष देने वाले भी हो जाते है। यहां यह प्रश्न होता है कि भगवान् सबके आत्मा है। इसलिये स्त्रियों के देखने से इनका नियम लोप तपो भङ्ग न हुआ यह ठीक है, पर स्त्रियों में जो दूसरों को मोह करने का नियम है उसका अब लोप क्यों हुआ? इसके उत्तर में भी 'आत्मनः' है। अर्थात् इनका भो नियम भगवान् के सान्निध्य से ही लुप्त हो गया। अतएव इनका दोष इनमें ही रहा। ये अपनी ही आत्मा में ही मोहित आश्चर्य युक्त हुई और अपने आप पर क्रुद्ध भी हुई। इसीलिये जो ये संकल्प करके आई थीं वह भी भंग हो गया। ये सर्वदा के लिये अप्रयोजिका (निकम्मी) हो गई ऐसा नहीं है; किन्तु देव्यः देवता रूप थी। तथापि व्रत त्यागिनी हो गई। हम अपना काम करके आवेंगी यह जो अपसराओं ने संकल्प किया था उसको छोड़ देना पड़ा। इनकी उपासना से व्रत सिद्ध होना तो दूर है, कदाचित कोई कहे कि इनमें क्रियाशक्ति न होगी तो इसके उत्तर में कहते हैं कि 'अनङ्गपृतनाः'।

ये लोग काम की सेना हैं। इनमें क्रिया शक्ति स्वाभाविक है। यहां तु शब्द दिया है जिसका तात्पर्य यह है कि जो लोग स्त्रियों को अबला निकम्मी बताते हैं यह ठीक नहीं। काम की सेना होने पर वह पक्षान्तर रह जाता है। यहाँ ये पक्ष आदरणीय नहीं है। ये अनङ्ग की सेना हैं इसलिये शरीर नाश से भी नहीं डरती और अमूर्त प्रकार (ध्यान मात्र से) ही दूसरों को मार देती हैं। यह सब कुछ था पर भगवान के अनुभाव से ही यह दशा हो गई कि सम्बन्ध मात्रता को भी नहीं पहुंच सकी, अर्थात् पुरुष के साथ सम्बन्ध होने योग्य स्त्री ही पात्र है पर भगवान् तक यह खबर न कर सकीं कि हम स्त्रियां हैं। भगवान् के हृदय में स्त्रीकृत कोई भी विकार पैदा न होने पाया ॥६॥

आभास—एवं बाह्यदोषं परिहृत्य आन्तरिकं दोषं कैमुतिकन्यायेन निराकरोति—

आभासार्थ—इस तरह वाह्य दोष का निराकरण करके अब मानसिक (क्रोध) दोष का भी कैमुतिक न्याय से परिहार करते है।

श्लोक—**कामं दहन्ति कृतिनो ननु रोषदृष्टया**
रोषं दहन्तमुत ते न दहन्त्यसह्यम्।
सोऽयं यदन्तरमलं प्रविशन्बिभेति
कामः कथं नु पुनरस्य मनः श्रयेत ॥७॥

श्लोकार्थ—कुशल पुरुष रोष की दृष्टि से काम का नाश कर देते हैं पर रोष जो आत्मा को ही जला रहा है, उसका नाश नहीं कर सकते। ऐसी दशा में श्री नर-नारायण के हृदय में जब क्रोध ही घुसता भी, डरता है तो उसके हृदय पर काम कुछ असर कर सके यह तो सम्भावना ही कहां रही ॥७॥

सुबोधिनी—कामं दहन्तीति। एताः स्त्रियो देहं वा पातयामः कार्यं वा साधयाम इति समागताः। आद्ये अनङ्गपृतनात्वं सेत्स्यति। द्वितीये पृतनात्वमिति। तदुभयमपि न जातम्। तत्राऽऽश्चर्ये जाते ब्रह्मा स्वयं समावत्ते। मया एवं ज्ञायते। कामादीनां जेतारो नाऽन्ये। किन्तु कामादय एव। तत्र यथा यथा तेषु कनिष्ठास्तथा तथा पूर्वजेतारः। अत एव ये कामं दहन्ति ते रोषदृष्टया दहन्ति। रोषेणैव तु कामो दह्यते न तु तैः। कृतिन इति साभिप्रायं वचनम्। कामस्य स्थानमदत्वा क्रोधस्य हि स्थानं दत्तवन्तः। **नन्विति** सम्बोधनं सम्मत्यर्थम्। रोषसहितया दृष्टया। कामस्तु हृदयं व्याप्नोति। क्रोधस्तु ज्ञानम्। अतो ज्ञाननाशे महती क्षतिरिति तेषां न कृतित्वम्। उभयोः परलोकनाशकत्वे तुल्येऽपि क्रोधस्त्वात्मानं दहति। अतो दाहकं न दहन्त्यदाहकं दहन्तीत्यतिभ्रान्तास्ते। दाहोऽपि न स्वल्पः। स कामविजयी क्रोधो यस्य अन्तरं निविशन् बिभेति। अहमपि कामवदशरीरो भविष्यामीति। तत्र कामः कथं तस्य हृदयं श्रयेत। क्रोधस्तु मलयुक्ते प्रविशति। भगवतस्त्वन्तरमलम्। अत एव निविशन् बि-

भेति । स हि मल्लक्षणमपि मलं नाशयिष्यतीति । अनेन कामक्रोधकृताः पदार्था न भगवन्मुखं प्रविशन्ति । न प्रसादहेतवो भवन्तीति निरूपितम् । किं बहुना । यावानर्थो नरनारायणयोस्तावान्मुखप्रसादयोरिति ज्ञातव्यम् ॥७॥

सुबोधिनी—एताः—यह अप्सरा स्त्रियां यह व्रत लेकर आई थी कि या तो शरीर त्याग कर देगी या कार्य की सिद्धि करके ही आवेगी । यदि हम हमारे स्वामी की आज्ञा में अपना देह छोड़ देगी तो अनङ्ग सेना कहलावेगी और यदि नारायण को मोहित कर सकी तो हमारा सेनापन सुसिद्ध होगा । किन्तु दोनों बाते न हो सकी । इसका सबको आश्चर्य हो रहा था तब ब्रह्माजी समाधान करते हैं—'काम' मुझे ऐसा मालुम होता है कि काम, क्रोध, लोभादि दोषों को जीतने वाले कोई अन्य नहीं है, ये कामादि ही कामादि का विजय करते हैं । इनमें जो कनिष्ठ (हीन वीर्य) होते हैं वैसे वैसे पूर्व को जीत लेते है । काम को क्रोध, क्रोध को लोभ, इस तरह । इसी लिये काम को अन्य कोई नहीं जीत सकता । पर काम को क्रोध जीत लेता है । कुशल लोग जो काम का दाह करते हैं वे रोष दृष्टि से करते हैं अर्थात् रोष से ही तो वे काम को दूर करते है । न कि अपने बल से । यहां 'कृतिनः' शब्द आक्षेपाभिप्राय है, अर्थात् कुशल तो हैं पर ऐसे कुशल है कि काम को तो स्थान नहीं देते पर क्रोध को तो स्थान दे ही देते हैं । एक दोष का परिहार करके एक जबरदस्त दोष को घर में घुसा लेते हैं । ननु यह संबोधन देने से ब्रह्माजी ने अपनी सम्मति दिखाई है । काम ने तो उनके हृदय को ही रोका था पर क्रोध ने तो उनके ज्ञान को भी ढाक दिया इसलिये ज्ञान के नाश से तो भारी क्षति होती है । अतएव वास्तव में वे कुशल पुरुष नहीं हो सकते । यद्यपि काम और क्रोध दोनों ही परलोक के नाश करने वाले हैं अतएव हानि करने में दोनों तुल्य हैं, तथापि क्रोध तो अपनपे का ही नाश कर देता है । ज्ञान ही तो मनुष्य का मुख्य आत्मा है । केवल अचतुर ही नहीं पर अदाहक का नाश करते हैं, और दाहक का नाश नहीं कर सकते, अतएव अति भ्रान्त भी हैं । क्रोध जब उत्पन्न होता है, आश्रय का भी दाह करता ही है । यह दाह स्वल्प नहीं पर शरीर का नाश करने वाला हो जाता है ।

पर श्री नरनारायण के आगे ये दोनों निर्वीर्य हो गये । काम का विजयी क्रोध इनके हृदय में घुसता अतिशय भयभीत होता है । वह जानता है कि काम की तरह मेरा भी शरीर नाश हो जावेगा । जब क्रोध उनके हृदय में नहीं जा सकता तो क्रोध विहित काम तो उनके हृदय में कहां प्रवेश कर सके । दूषित हृदय में क्रोध का प्रवेश हो सकता है, पर भगवान् का हृदय तो परम निर्मल है । अतएव मैला क्रोध वहां घुसता डरता है । उसको यह निश्चय है कि जैसे इनके हृदय ने अन्य सब मलों का नाश कर दिया है तो मैं भी तो एक तरह का मल ही हूं, यह मत्स्व रूमल का नाश कर देगा । इससे यह स्पष्ट है कि काम क्रोध कृत पदार्थ भगवान् के मुख में प्रविष्ट नहीं होते । उन पर प्रसाद नहीं होता पर उनके प्रेरकों पर भगवान् का प्रसाद हो भी जाता है । तात्पर्य यह कि श्री नरनारायण भगवान् जो प्रयोजक है वही भगवन्मुख और प्रसाद का भी है यह समझो ॥७॥

आभास—एवं प्रसन्नवक्त्रे निरूप्य नलिनायतेक्षणे निरूपयति—

आभासार्थ—'प्रसन्नवक्त्रे' पद का अवतार कह कर अब 'नलिनायतेक्षणे' का निरूपण करते है ।

श्लोक—**विद्धं सपत्न्युदितपत्त्रिभिरन्ति राज्ञो**
बालोऽपि सन्नुपगतस्तपसे वनानि ।
तस्मा अदाद्ध्रुवगतिं गृणते प्रसन्नो
दिव्याः स्तुवन्ति मुनयो यदुपर्यधस्तात् ।।८।।

श्लोकार्थ—राजा उत्तानपाद पिता के सामने ही जब सौतेली ने वाक्य बाणों से हृदय को छेद दिया तो बालक भी ध्रुव तपश्चर्या करने के लिये वन में चला गया और जब उसने भगवान् की स्तुति की तो भगवान् ने प्रसन्न होकर उसे ध्रुव स्थान दिया । जिस ध्रुव स्थान की आज तक ऊपर नीचे सब ही दिव्य मुनि लोग भी स्तुति कर रहे हैं ।।८।।

सुबोधिनी—**विद्ध इति** । नलिनवदायते ईक्षणे यस्येति सदृष्टान्तं दीर्घत्वं नेत्रे च निरूपणीये । तत्र वैकुण्ठस्थितो भगवान्नेत्रम् । तस्य दीर्घता ज्योतिश्चक्रम् । स हि तत्र स्थितः सर्वान् पश्यति । तस्य हि नलिनवदायतत्वं विचारणीयम् । तद्धि विकसितमेवाऽऽयतं भवति । तत्र विकासस्तपस इव । यथा जलस्थितमेव कमलं सूर्येण विकासमेति । तथोत्तमाधिकारिणि वन एव स्थितं भगवन्नेत्रं विकासयति । तदा हि स पश्यतीत्यर्थः । तत्राऽपि भगवदिच्छया तथाभूतं सकाममेव बहिः पश्यति । कामोऽपि क्लेशकृतश्चेत्तपोऽपि जगत्प्रकाशकं चेत्तदैवंरूपतेति ध्रुवकथा निरूप्यते—**सपत्न्युदितपत्त्रिभिरिति** तत्राऽऽसह्यवेदना निरूपिता । मातुः सपत्नी । तया राज्ञः समीपे वाग्लक्षणा बाणाः प्रयुक्ताः '**न वत्स नृपतेर्धिष्ण्यमर्हसि**" त्यादयः । तैश्चाऽयं विद्धः । मर्मभेदिनो हि बाणा विध्यन्ति । पत्त्रिपदाच्च अप्रतीकारा उड्डीय विध्यन्तीति बोधितम् । अनेन विवेकादिना तस्य प्रतीकाराभाव उक्तः । बाह्योपायाभावमाह—**राज्ञः अन्तीति** । अतः परं राजाऽपि न वक्तव्यः । वेधस्य तेनैव दृष्टत्वात् । अनेन दीनत्वमुक्तम् । इदं हि भगवद्दर्शने बीजम् । द्वितीयं बीजमाह—**बाल इति** । तपसे तपःकरणार्थं वनान्युपगत इत्यधिकारः । **वनानीति** बहुवचनं फलसिद्धयर्थं सर्वेष्वेव वनेषु तपः करिष्यामीति दृढप्रतिज्ञाज्ञापनार्थम् । **तस्मा अदादिति** दृष्टिविकासः । **ध्रुवगतिमिति** फलस्य निश्चलता । **गृणते प्रसन्न इति** किरणानामन्तः प्रवेशनम् । स हि तपसा न सन्तुष्टः किन्तु बालः स्तोत्रं करोतीति । अन्यथा "**निवर्त्तयिष्ये प्रतियात स्वधामे**" इति वचनमनुपपन्नं स्यात् । न हि भगवानन्यथा निवर्त्तयितुं न शक्नोतीति किन्तु शक्त एव । स्तोत्रेण सन्तुष्टो बालाय ध्रुवगतिं दत्तवान् । ननु स्तोत्रस्य ध्रुवगतेश्च कः संबन्धः । तपस्तु भोगफलत्वात्तथा भवितुमप्यर्हतीत्याशङ्क्याऽऽह—**दिव्याः स्तुवन्तीति** । स हि निन्दावचनेन खिन्नस्तथा कृतवानिति सर्वदा स्तोत्रस्थानं दत्तवान् । यत्स्थानं दिव्याः सप्तर्षयोऽपि उपरिस्थितं अधःस्थिताः सन्तः स्तुवन्ति । यदिदं स्थानं प्रसादेन न प्राप्तं स्यात् । तपसा निर्बन्धेन वा प्राप्तं स्यात्तदा भगवदीयैः स्तोत्रं न क्रियेत । तत्रापि मुनयः स्तुवन्ति ।

तत्राऽप्युपरिस्थितं स्वयं चाधःस्थिताः ईर्ष्यामिव कर्तुं योग्याः। प्रसादकरण एव ध्रुवस्य पश्चात्तापोऽपि ॥८॥

व्याख्यार्थ—कमल की तरह विशाल हैं नेत्र जिनके ऐसे पुरुषोत्तम भगवान्। यहां दृष्टान्त के द्वारा नेत्रों की विशालता और नेत्र दोनों वर्णनीय हैं यह वैकुण्ड स्थित भगवान् के नेत्र हैं। सर्व निरीक्षक होने से। उसकी दीर्घता यह सारा ज्योति चक्र है। भगवान् उस ज्योतिश्चक्र में स्थित रहकर सारे जगत् को देखता रहता है इस नत्र का कमलवत् विकास वर्णन करने का है। कमल का जब विकास होता है, तब ही वह विशाल होता है और विकास तप से ही होता है। जैसे जल स्थित कमल का विकास सूर्य (ताप) से होता है। इस तरह कोई उत्तमाधिकारी वन स्थित हो तब ही वैकुण्ड स्थित भगवन्नेय विकास करता है। तब वह नेत्र निरीक्षण करता है। उसमें भी भगवदिच्छा से वह विकसित नेत्र कामना वाले भक्त को ही वाह्य होकर देखता है। कामना भी क्लेश कृत होनी चाहिये, और तप भी जगत्प्रकाशित होना चाहिये, तब ही भगवन्नेत्र विशाल होकर बाहर प्रकट होकर देखता है। यह सब बाते ध्रुव के चरित्र में हैं। इसलिये ध्रुव कथा का निरूपण करते हैं। 'विद्ध' इत्यादि। सपत्नी के वाक्य वाणों से छेदा गया इतना कहने से असहनीय पीड़ा की सूचना होती है। मां की सौत सुरुचि ने राजा के सामने ही तोखे वाक्यों से कहा कि 'बेटा तुम इस योग्य नहीं हो कि राज सिंहासन पर बैठ सको' इत्यादि। इन वाक्यों ने ध्रुव के मर्म को भेद दिया, अतएव ये वाक्य ही वाण हो गये। 'पत्त्रि' पद से ज्ञात होता है कि उड़कर वेधते है। इसलिये उनका उपाय भी नहीं है। ध्रुव की जगह यदि कोई विवेकी पुरुष भी होता तो उसका विवेक भी इतना धैर्य नहीं रख सकता। वाह्य उपाय भी कोई नहीं था, क्योंकि 'राज्ञः अन्ति' राजा के सामने ही सब कुछ हुआ। हृदयच्छेदन राजा भी देख ही रहा था। अतएव राजा से भी क्या कहे। इससे स्पष्ट हो गया कि उस समय ध्रुव की बड़ी दीन दशा थी। बस दैन्य ही भगवान् के दर्शन होने में कारण हुआ।

दूसरा कारण यह भी था कि ध्रुव पांच वर्ष का बालक था। ऐसी अवस्था में ही तप करने के लिये वन में आ गया। तप करने का अधिकार वनस्थ होने पर ही है। 'वनानि' यह बहु-वचन इसलिये दिया है कि ध्रुव की दृढ़ प्रतिज्ञा ज्ञात हो। एक वन में तप करने से यदि भगवान् प्रसन्न न होंगे तो सब ही वनों में तपस्या करता रहूंगा। यह दृढ़ प्रतिज्ञा करके ही ध्रुव निकला था। "तस्मै अदात्" कह कर दृष्टि का विकास बताया है। 'ध्रुव गति' कह कर फल की निश्चलता (स्थिरता) दिखाई है। 'गृणते प्रसन्नः' स्तुति करते देख भगवान् प्रसन्न हो गये' इस कहने से दृष्टि किरणों का भीतर प्रवेश बताया है। भगवान् तप से प्रसन्न हुये यह ठीक नहीं हैं, पर पांच वर्ष का बालक परब्रह्म की स्तुति करता है, यह देख कर ही प्रसन्न हुये। यदि ऐसा न होता तो तपस्या के लिये तो भगवान् देव गणों से कह चुके थे, कि देवों! तुम अपने अपने लोक को जाओ, मैं ध्रुव को इस तपस्या से हटा दूंगा। यदि तप से ही भगवान् का प्रसाद होता तो तप से हटाने का क्यों कहते? भगवान् क्या ध्रुव को और तरह से नहीं हटा सकते थे। नहीं, नहीं। अन्य प्रकार से भी भगवान् ध्रुव को तपस्या छुड़ा सकते थे। तथापि जो अन्य प्रकार का अवलम्बन नहीं किया, उस से स्पष्ट है, कि बाल स्तुति से प्रसन्न होकर उसे ध्रुव गति दे दी।

यहां प्रश्न होता है, कि स्तुति और ध्रुव गति हो का क्या जोड़ है। तप और स्तुति का कुछ न कुछ फल दे देना था सो अन्य रूप से भी हो सकता था। इसके उत्तर में कहते हैं कि 'दिव्याः स्तुवन्ति' निन्दा वचनों से दुःखी होकर ध्रुव ने तप किया था; अतएव भगवान् ने ऋषियों को भी स्तुति करने योग्य स्थान दिया। दिव्य सप्तर्षि लोक भी इस सर्वोच्च स्थान की उससे नीचे रहकर सर्वदा स्तुति करते रहते हैं। यदि यह स्थान भगवत्प्रसाद से न मिला होता, केवल तप के जोर से या जबरदस्ती से मिला होता तो भगवदीय लोग इसकी स्तुति न करते। भगवदीयों में भी मुनि लोग। ध्रुव ऊपर स्थित है और वे नीचे खड़े रहकर, यह तो ईर्ष्या होने की जगह थी; तथापि तो सर्वोच्च स्थिति की अधः स्थित मुनि लोग स्तुति करते हैं।' इससे स्पष्ट होता है कि भगवत्कृपा से ही ध्रुव को, ध्रुव स्थान मिला। प्रसाद करने पर ही ध्रुव को पश्चाताप भी हुआ अन्यथा न होता। ध्रुव के मन में यह आया कि भगवान् ने स्वयं जब कृपा की तो क्षुद्र फल क्यों मांगा? इसलिए स्पष्ट होता है कि कमलवत्प्रसन्न नेत्र का ही यह अवतार है ॥८॥

आभास—एवं नलिनायतेक्षणं निरूप्य कदम्बकिञ्जल्कपिशङ्गवाससं निरूपयति—

आभासार्थ—इस तरह नलिनायतेक्षण भगवान् का निरूपण करके अब 'कदम्ब किंजल्क पिशङ्ग वासः' भगवदवतार का वर्णन करते हैं।

श्लोक—**यद्वेनमुत्पथगतं द्विजवाक्यवज्रविप्लुष्टपौरुषभगं निरये पतन्तम्।**
त्रात्वार्थितो जगति पुत्रपदं च लेभे दुग्धा वसूनि वसुधा सकलानि येन ॥९॥

श्लोकार्थ—वेन राजा ने जब दुष्ट मार्ग ग्रहण कर लिया तब ब्राह्मणों के वाक्य वज्रों से उसका पौरुष और भाग्य दोनों भस्म हो गये, और वह जब नरक में ही गिरने लगा तब ऋषियों की प्रार्थना से उसकी रक्षा की और उसका पुत्रपना भी स्वीकार किया। लोक प्रार्थना से जिन भगवान् ने (पृथु ने) पृथ्वी में से सब ही द्रव्यों का दोहन कर लिया वे पुरुषोत्तम भगवान् के पीताम्बर के अवतार हैं ॥९॥

सुबोधिनी—अत्र हि पीताम्बरं कदम्बतुल्यता च निरूपणीया। कदम्बस्य वर्षाकाले हि किञ्जल्का भवन्ति। वर्षा च भूमिसन्तापे। यथा संतप्ते वृष्टिर्भवति। यथा वृष्टिः सर्वसन्तापहारिका। एवं पृथुकृतो दोहः सर्वसन्तापहारकः। पृथुश्च छन्दोमयः सर्ववेदार्थप्रतिपादकः पीताम्बररूपः। राजा हि स्वभावतो भूमेराच्छादको भवति। तदाज्ञया भूमिर्गुप्ता तिष्ठति। किन्त्वयं यथास्थितभूमिगोप्ता न भवतीति भूमेर्विच्छायकरणात्पीतत्वम्। अयं पृथुः पुत्रपदं लेभे। **"पुन्नाम्नो नरकात्त्रायते पितरं सुत"** इति पुत्रशब्दो व्युत्पाद्यते। तत्रान्ये नरकात्त्रायन्ते न वेति सन्देहो भवत्यदृष्टत्वात्। अयं तु नरकात्त्रायत एव। नरकाणां पायुस्थानत्वात्तदाच्छादकत्वेनैवास्य पीताम्बरत्वम्। रक्षणं हि प्राप्ते दुःखे। तदर्थमस्य पितुर्दुःखप्राप्तिमाह—यद्वेनमुत्पथगतं अन्यायिनां मार्गे प्रवृत्तम्। अत एव ब्राह्मणानामपकारित्वात्तद्वाक्यवज्रेण नितरां प्लुष्टं पौरुषं भाग्यं च यस्य। अतो भाग्येन पौरुषेण चाऽनिस्तारः। नवा प्रजापालनलक्षणधर्मेण। उत्पथगतत्वात्। तस्माद्गुणाभावाद्दोषस्य च विद्यमानत्वान्नरके पतति। तस्मिन्समये तस्य करान्मथनेन निर्गतस्तं

पालितवान् । तैरेव ब्राह्मणैरभ्यर्थितः । अत एव पुत्रो जातः । अवतारचरित्रमाह । दुग्धा वसूनि । सर्ववसूनि दुग्धा । वसूनि वस्तूनि । वसुधा पृथिवी । अनेन वसूनि वसुधा दुग्धा । यद्यप्यन्यानि वस्तून्यन्यैरेव दुग्धानि तथाप्येतन्मूलकत्वात् सकलानि येनेत्युक्तम् । अनेन वेदरूपस्य पीताम्बरस्यैवं सर्वकामपूरकत्वं नरकात्पालकत्वं च निरूपितम् । पीतत्वेन च सर्वदुःखनिवृत्तिः प्रासङ्गिकी । प्रजननगोपनं तु स्वभावादेव । तस्य रेखाकारत्वं सर्वगुणसद्भावात् ॥९॥

व्याख्यार्थ—यहां भगवान् के पीताम्बर और कदम्ब की समानता वर्णनीय है । कदम्ब में वर्षा समय में केसरा आते हैं । भूमि जब एकदम तप जाती है, तब वृष्टि होती है और वह भी यथासंताप अर्थात् भूमि जितनी ही ज्यादा तपेगी वर्षा भी उतनी ज्यादा गिरेगी और फिर वर्षा हो जाने के बाद सर्वलोक का सन्ताप दूर हो जाता है । यही बात पृथु अवतार में मिलती है ।

पृथु राजा श्री पुरुषोत्तम के सुनहरी कोर वाले पीताम्बर का अवतार हैं । कदम्ब तापानन्तर वर्षा होने पर और सर्व सन्ताप के निवृत्ति के अनन्तर फूलता है, केसराओं को धारण करता है । पृथु ने जब पृथ्वी को दोहा तब ये सब बातें हुई थी । पृथ्वी से अन्नादि के न पैदा होने से सब लोगों को असीम दुःख हो रहा था, तब राजा ने पृथ्वी में से सब रसों को दोह कर सब का संताप दूर किया था । सर्व लोक रक्षा करके राजा प्रफुल्लित हुए । यह सब अवतार का ही सामर्थ्य है ।

दूसरी बात यह है कि सर्व वेद और उसका अर्थ ही श्री पुरुषोत्तम का पीताम्बर है । राजा पृथु ने भी उत्तरवय में वाणी के द्वारा और आचरण के द्वारा सर्व वेदार्थ का प्रतिपादन किया था । इसलिये पृथु राजा पीताम्बरावतार है ।

तीसरी बात और भी है । राजा स्वभावतः ही पृथ्वी का आच्छादक है, ढक्कन है । दुनियां के सब दोषादि राजा होने से ढके रहते है । राजा की आज्ञा से पृथ्वी रक्षित बनी रहती है । पीताम्बर भी गुप्त स्थान का आच्छादक है । उतना भाग पीताम्बर से ही गुप्त रहता है । किन्तु यह राजा भगवदवतार होने से यथास्थित भूमि का रक्षक नहीं है; किन्तु, भूमि को सम करके रक्षा करने वाला है । राजा के रंग के आगे पृथ्वी विच्छाय (झांखी) पड़ गई । इसलिये अम्बर का पीतत्त्व (पीलापन) कहा है । इस पीताम्बर में कदम्ब किंजल्क समता भी है । राजा पृथु ने एक बार दोह लिया और फिर सबको आज्ञा दे दी कि अपना वत्स दोग्धा और पात्र लाकर यथेच्छ रस का दोह कर लो । यह राजा में कदम्ब (बहुत्व) समता है । यह कदम्ब पृथुजन्य है और इस तरह सर्व सन्ताप दूर करके प्रसन्न होना ही किंजल्कों (केसरों) की समता है । इसलिये ये श्री पुरुषोत्तम के अवतार हैं ।

अवतार होने का चौथा कारण और भी है । राजा पृथु ने ही पुत्र पद की वास्तविकता प्रकट की ब्राह्मणों ने राजा पृथु को वेन राजा के पुत्र स्थान पर रखा । पिता को 'पु' नामक नरक से जो बचावे वह पुत्र । यह पुत्र शब्द की व्युत्पत्ति हैं । ऐसी अवस्था में दुनियां के पुत्र अपने पिता को नरक से बचाते हैं या नहीं, सन्देह ही रहता है । किन्तु राजा पृथु ने तो अपने वेन पिता को नरक से रक्षा कर ही ली । नरक (पीड़ा) पायु स्थानीय है उसका आच्छादक उस भाग को गुप्त रखने से भी पृथु को पीताम्बरतत्व है । नरक से रक्षा की तो पहले दुःख (नरक) की

संभावना होनी चाहिये सो ही कहते हैं कि– 'यद्वेन मुत्पथगतं' इत्यादि। राजा पृथु के पिता पर भारी विपत्ति आई थी। राजा वेन अन्याय मार्ग में चलने लगा था। अत एव ब्राह्मणों का धर्मविध्वंस रूप अपकार करने लगा। तब महा पुरुष ब्राह्मणों ने अपने शाप रूप वाक्य वज्र से उसके सामर्थ्य और ऐश्वर्य का नाश कर दिया। अब भाग्य और पौरुष से उसकी रक्षा नहीं हो सकती थी। और कुमार्ग में चलने से प्रजापालन रूप धर्म से भी रक्षा की आशा न रही। जो अन्याय मार्ग में चल रहा है वह प्रजाओं की रक्षा ही कैसे और क्यों करे। गुण कोई नहीं था और दोष तो विद्यमान थे ही; इसलिये वेन का नरकपात आवश्यक हुआ। पर ऐसे समय में उसके हाथ को मथने से पृथुराज प्रकट हुए और पुत्र पद को स्वीकार करके उसकी नरक से रक्षा करली। ब्राह्मणों ने प्रार्थना की इसलिए पृथु ने वेन का पुत्रत्व स्वीकार किया। प्रकट होकर अवतार का मुख्य कार्य पृथ्वी दोह किया। पृथ्वी में से सब आपेक्षित पदार्थों को पैदा किया। यद्यपि अन्य अन्य दोग्धाओं ने अपनी अपनी आपेक्षित वस्तुएं दोह ली थीं, पर यह सब दोहन पृथुमूलक था उसका मूल संचालक राजा पृथु था। इसलिये उन्होंने सब वस्तुएं पृथ्वी में से दोहीं यह कहा गया है। इससे वेद रूप पीताम्बर सर्व कामों को पूर्ण करने वाला है और नरकों से रक्षा करने वाला है यह सिद्ध हुआ। पीत होने से सर्व दुःख निवृत्ति प्रसङ्ग वश हुई। पैदा करना और रक्षा करना राज स्वभाव से ही था अथवा 'मातृवत्परदारेषु' इत्यादि योग्य पुरुष स्वभाव से ही था। राजा पृथु में अनेक गुण थे। अतएव पीताम्बर में चारों तरफ सुनहरी रेखाएं थी। यह समझ लेना चाहिये ॥९॥

आभास—एवं पीताम्बरत्वं निरूप्य लसन्महारत्नहिरण्मयाङ्गदत्वं निरूपयति—

आभासार्थ—इस तरह पीताम्बर का वर्णन करके अब 'लसन्महारत्न हिरण्मयाङ्गदत्व' का निरूपण करते हैं।

श्लोक—**नाभेरसावृषभ आस सुदेविसूनुर्यो वै चचार समदृग्जडयोगचर्याम्।**
यत्पारमहंस्यमृषयः पदमामनन्ति स्वस्थः प्रशान्तकरणः परिमुक्तसङ्गः ॥१०॥

श्लोकार्थ—नाभि राजा की सुदेविनाम्नी रानी में श्री ऋषभ नामक पुत्र श्री भगवान् के अवतार हुऐ। उन्होंने सर्वत्र सम दृष्टि रहने से जड़ों जैसी योगचर्या का आचरण किया। वे सर्वदा आत्मस्थित एकदम ज्ञानेन्द्रिय और सर्व सङ्गों को छोड़े रहते थे। उनके इस आचरण को बड़े बड़े महर्षि लोग पारमहंस्य पद कहते हैं ॥१०॥

सुबोधिनी—**नाभेरसाविति**। नाभिर्ब्राह्मणान्प्रार्थयित्वा यज्ञ आविर्भूतं भगवन्तं प्रार्थयित्वा भगवन्तं पुत्रत्वेन प्रार्थितवान्। नाभेर्भार्या सुदेविसंज्ञा तस्याः सूनुः। **असाविति** बुद्धिस्थः। **ऋषभ** इति नाम। अवतारस्य प्रयोजनम् **यो वै चचारेति** जडानां संबन्धिनी योगचर्या लोके प्रदर्शिता। **समदृगिति** ब्रह्मदृष्टिः। तस्या जडयोगचर्यायाः सग्राह्यं रूपमाह। यत्पारमहंस्यं पदमामनन्ति। तस्य मार्गस्य निर्वाहकावश्यकसाधनान्युपदिशन्। स्वयं तादृशो जात इत्याह।

प्रथमं परिमुक्तसङ्गः सर्वसङ्गपरित्यागं कृतवान् । तेन प्रशान्तकरणः प्रशान्तानि करणानि इन्द्रियाणि यस्य । तेन स्वस्थः स्वरूपस्थित इति तोषनिवृत्तिः कथिता । गुणस्तु समदृगिति सर्वत्र गुणदोषदृग्रहितः । सर्वभूतेषु वासुदेवदृष्टिर्वा । देवताक्रियामध्ये ह्यङ्गदनिवेशनम् । तत्रापि देवताभागे । अयं च ब्रह्मवित् कर्माणि त्यक्तवान् । हिरण्मयत्वं नाभिपुत्रत्वात् । महारत्नानि तु तत्पुत्राः । स हि ज्ञानकर्ममध्ये स्थितः अतोऽङ्गदत्वम् । स्वस्थत्वादयो व रत्नानि । समदृक् सुवर्णम् । जडयोगचर्या आकृतिः । इदं हि परमहंसानां पदम् । रत्नानि तु ते । अत ऋषभस्य यत्किञ्चित्कार्यं तदेवाऽङ्गदस्येति ज्ञातव्यम् । अध्यायत्रयेण च तच्चरित्रं वक्ष्यते । तत्र शोभा प्रथमाध्यायार्थः । महारत्नानि तद्वाक्यानि द्वितीयाध्यायार्थः । हिरण्मयत्वं ब्रह्मभावस्तृतीयाध्यायार्थः ।।१०।।

व्याख्यार्थ—बाजूबन्द को 'अंगद' कहते हैं । एक अंग को दो भागों में बांट दे वह अंगद । श्री ऋषभदेव का अवतार 'लसन्महारत्न हिरण्मयाङ्गद' का है । महारत्न इनके नवयोगेश्वरादि पुत्र हैं । नाभि के यज्ञ में ये भगवान् हिरण्मय (आनन्दमय) रूप से प्रकट हुए थे; इसलिए ये सब आगे आवेगा । नाभिराजा ने ब्राह्मणों से पुत्र के लिये प्रार्थना की तब ब्राह्मणों ने यज्ञ करने के लिये कहा । यज्ञ में भगवान् ने हिरण्मय रूप से दर्शन दिया । तब राजा ने प्रभु की प्रार्थना की और उन जैसा ही पुत्र आपने मांगा । राज की सुदेव रानी ने भी यही प्रार्थना की तब भगवान् सुदेवी के पुत्र होकर प्रकट हुए । "असौ" कह कर ब्रह्माजी अपनी बुद्धिस्थ भगवान् की सूचना करते हैं । उन भगवान् का 'ऋषभ' यह नाम हुआ । अवतार लेने का प्रयोजन जड़योग चर्या था । लोक में विषयासक्ति न बढ़ जाय, मेरे पुत्रादि द्वीपखण्डादि के स्वामी होंगे । अतः उनमें भी विषयासक्ति न हो जाय, इस हेतु से लोक में जड़ योगचर्या कैसी होनी चाहिये, यह जनता को अपने आचरण से दिखा दिया । उनकी सर्वत्र समान दृष्टि थी । श्री ऋषभदेवजी जड़ चेतन में सर्वत्र केवल आत्मा (ब्रह्म) को ही देखते थे । जो सर्वत्र ब्रह्म दृष्टि होता है उसी से वैसा योगचर्या बन सकता है । उनकी इस योगचर्या को सच्चे लोग इस रूप में ग्रहण करते थे उस रूप को दिखाते हैं यत्पारम' बड़े बड़े महर्षि लोग भी उनकी इस योगचर्या को 'परमहंस्य पद' मानते हैं । अर्थात् केवल परमहंस लोगों के करने योग्य । अन्य के अशक्याधिकार । इस मार्ग के निर्वाहक आवश्यक साधनों का उद्देश्य करते करते ऋषभदेव प्रत्यक्षानुभव कराने के लिये ये स्वयं वैसे हो गये ।

पहला साधन-'परिमुक्त सङ्गः' भले बुरे सब में से आसक्ति का इन्होंने परित्याग कर दिया । दुनियां के पदार्थों में आसक्ति रहने से ही इन्द्रियों में अशान्ति बनी रहती है, पर श्री ऋषभदेव के सब ही इन्द्रियां, विषयासक्ति छोड़ देने से प्रशान्त हो चुकी थी । और इसी से वे सर्वदा अपने स्वरूप में स्थित रहते थे । विषयासक्त अशान्तेन्द्रिय पुरुष का स्वरूप कभी कामी, कभी क्रोधी इस तरह अनेक तरह से बदलता रहता है, पर इनका स्वरूप चेतनात्मा सर्वदा चैतन्यैक रस रूप में ही स्थिर रहता था । इन विशेष गुणों से दोष निवृत्ति कही गई है । समदृक् कहने से गुण । पदार्थ मात्र को अच्छे बुरे किसी भी रूप में न देखकर केवल ब्रह्मरूप में देखना ही वास्तविकता है और यही ग्रहण का गुण है । प्राणियों में वासुदेव को ही समझ लेना समदर्शिता हैं । देवता और क्रिया के मध्य में अंगद का निवेश है । क्रिया का त्याग करके देवता भाग में अपनी स्थिति रखो, इसलिये आप स्वयं अङ्गद रूप हैं । कफोणी (कोहणी) के नीचे का भाग कर है । वह क्रिया साधन होने

से क्रिया रूप है और उससे ऊपर का भाग प्रगण्ड है। वह बाहु देवता का स्थान है। क्रिया का बल क्रिया को देवता से बल मिलता है। वासुदेव भगवान् ही इन्द्र देवता के रूप में बाहुमें स्थित हैं। बाजूबन्द अंगद प्रगण्ड के ऊपर ही बांधा जाता है। अत एव भगवान् ने क्रिया और देवता दोनों के मध्य में विशेषकर देवता भाग में ही अपनी स्थिति रखी। यह अङ्गद निवेशन है। ऋषभदेवजी ब्रह्मवेत्ता थे और क्रिया का त्याग कर चुके थे। दोनों का विभाग उन्होंने ही सूचित किया था। उसमें भी क्रिया से ज्ञान ही पूजनीय हैं, यह बात अपनी आचरण से दिखा दी। अंगद सुवर्ण का था नाभिराजा के यहां आप हिरण्मय बनकर प्रकट हुए। इसलिये जब योगेश्वर भरत आदि आपके पुत्र महारत्न थे। इसलिये सुवर्ण का बाजूबन्द महर्घ रत्नों से जुड़ा हुआ था। आप स्वयं ज्ञान कर्म के मध्य में स्थित थे। अत एव अङ्गद थे। यह बात सब पंचमस्कंध के ऋषभ चरित्र के अनुसार कही, पर व्याख्येय श्लोक के अनुसार दूसरा प्रकार भी है, सो कहते हैं। आत्मस्थिति, प्रशान्तेन्द्रियत्व परिमुक्त सङ्गता यह महारत्न हैं। समदृष्टि ही सुवर्ण है और जड़ योगचर्या अंगद का आकार है। यह परमहंसों का स्थान है। परमहंस रत्न है। अब यह सिद्ध हुआ कि ऋषभदेवजी ने जो कार्य किया है, वह पुरुषोत्तम भगवान् के अंगद बाजूबन्द का ही है और वही उन्होंने दिया। यह समझ लेना चाहिए। पंचमस्कंध में ऋषभदेवजी का चरित्र ३ अध्यायों में कहेंगे। उनमें पहले अध्याय में अंगद की शोभा अर्थ है। दूसरे अध्याय में बाजूबन्द के महारत्नों का निरूपण हैं और तृतीय अध्याय का सुवर्णमयता ब्रह्मभावार्थ है ॥१०॥

आभास—एवमङ्गदं निरूप्य स्फुरन्महारत्नकिरीटकुण्डलं निरूपयति—

आभासार्थ—इस तरह से अंगद का निरूपण करके श्री पुरुषोत्तम के स्फुरन्महारत्न किरीट कुण्डल का अवतार कहते हैं—

श्लोक—**सत्रे समास भगवान् हयशीर्षनामा साक्षात्स यज्ञपुरुषस्तपनीयवर्णः।**
छन्दोमयो मखमयोऽखिलदेवतात्मा वाचो बभूवुरुशतीः श्वसतोऽस्य नस्तः ।११।

श्लोकार्थ—मेरे यज्ञ में तपनीय (स्वर्ण) वर्ण साक्षात् यज्ञ पुरुष हयग्रीव नाम के भगवान् का अवतार हुआ। ये भगवान् वेदमय थे, यज्ञमय थे और सर्व देवताओं के आत्मा थे। इनके नासा के स्वांस से ही वेद रूपा कल्याणमयी वाणी पैदा हुई ॥११॥

सुबोधिनी—**सत्रे समासेति**। हयग्रीवो हि किरीटकुण्डलात्मकः। स ह्युभयात्मको भवति। ब्रह्मविद्याप्रवर्त्तकत्वात्। किरीटं हयशिरः। कुण्डले देहः प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपः। साङ्ख्ययोगयोराधारभूतो नृदेहः। स हि कर्मणि प्रादुर्भूतोऽग्निसाध्ये। कुण्डलादिकमपि तथा। तदेवाऽऽह रूपत्रयम्। छन्दोमयो मखमय इति कुण्डले। अखिलदेवतात्मा मुकुटः। अखिला न न्यूना ये देवा ब्रह्मादयस्ते भगवन्मस्तके पारमेष्ठ्ये स्थिताः। यद्धयग्रीवेण क्रियते तत्सर्वं कुण्डलमुकुटकार्यम्। तस्य स्वरूपं ब्रह्मा निरूपयति। मम सत्रे यागे। आस आविर्भूतः। स प्रसिद्धो हयग्रीवो भगवानेव। दैत्यहयग्रीवनिराकरणार्थं भगवानिति। किंपुरुषादिरूपव्युदासार्थं च। नह्यन्यः

सत्रे आविर्भावमर्हति। यतो हयशीर्ष एव साक्षाद्यज्ञपुरुषः सर्वयज्ञाधिष्ठात्री देवता। यतस्तपनीयवर्णः तपनीयवद्वर्णो यस्य। तपनीयं सुवर्णम्। यज्ञोऽप्यग्निसाध्य इति तपनीयो वर्णो यस्य। छन्दोमयो वेदात्मकः। मखमयो यज्ञात्मकः। अखिलदेवतात्मा। प्रमाणप्रमेयसाधनफलभूत इत्यर्थः। अखिलदेवताः साधनम्। आत्मा फलमिति। अवतारप्रयोजनमाह—**वाचो बभूवुरिति**। उशतीर्वाचो वेदलक्षणाः। अस्य नस्तो नासिकातः। श्वसतः श्वासं विमुञ्चतः। अस्य भगवतो जाताः। स्फुरन्महारत्नान्येव उशतीर्वाचः ॥११॥

व्याख्यार्थ—हयग्रीव भगवान्, पुरुषोत्तम के किरीट कुण्डलावतार हैं। वह पुरुषोत्तम ही दोनों रूप धारण करता है, हय मस्तक भी वही और नृदेह भी वहीं। हय मस्तक किरीट है, और नृदेह कुण्डल है। ये भगवान् ब्रह्मविद्या के प्रवर्तक हैं। ब्रह्मविद्या वेदान्तों में है। अतएवं वेदान्ती थे। ब्रह्मविद्या वह भगवान् का मुकुट है। आकृति से हयशिर कहा है। साङ्ख्योग दोनों नृदेह के प्रवृति निवृति के आधार भूत हैं। नृदेह है। कर्ममार्ग में किस प्रकार प्रवृति करना और किस प्रकार कर्म से निवृत्त होना यह योग और सांख्य बताते हैं। इस तरह प्रवृति निवृति युक्त कुण्डल रूप हयशीर्ष भगवान का नृदेह है। यह अवतार अग्नि साध्य में प्रकट हुआ है कुण्डल किरीट आदि भी अग्नि साध्य कर्म के द्वारा ही प्रकट होते हैं। यही तीन रूप विशेषणों के द्वारा कहते हैं। 'छन्दोमयः', 'मखमयः' अखिलदेवतात्मा'। छन्दोमय मखमय कुण्डल है, और अखिल देवतामय मुकुट है। अन्यून सब के सब देवगण ब्रह्मादि। जिस भगवान् के पारमेष्ठय पद मस्तक पर सम्मिलित हैं। छन्दोमय, यज्ञमय कह कर अग्नि कार्य साध्यता कही है। इस तरह हय ग्रीव भगवान् ने जो कार्य किया है वह भगवान् के योग सांख्य कुण्डल और वेदान्तात्मक रूप ब्रह्मविद्या मुकुट का कार्य है। इनका स्वरूप ब्रह्माजी कहते हैं। ये भगवान् मेरे यज्ञ में प्रकट हुये। प्रसिद्ध हयग्रीव भगवान् का अवतार हुआ दैत्य हयग्रीव को कोई न समझले इसलिये (भगवान्) ने कहा। इसी से किन्नर आदि रूपों का भी निराकरण हो गया। अन्य कोई भी यज्ञ में से जन्म लेने योग्य हो सकता है। और न भगवान् षड् ऐश्वर्य सम्पन्न। भगवान् का अवतार ही साक्षात् यज्ञ पुरुष हैं। सर्वयज्ञों के अधिष्ठाता देव-देव भगवान् हयग्रीव ही भगवत् अवतार हैं। तपनीय सुवर्ण की तरह मनोहर वर्ण वाले यज्ञ भी सुवर्ण वर्ण अग्नि साध्य होता है। यज्ञ पुरुष वेद, अग्नि साध्य कर्म, अखिल देवों से सम्बन्ध होता है। इसलिये श्री हयग्रीव को छन्दोमय मखमय और सर्वदेवों की आत्मा कहा। वेद प्रमाण है। यज्ञ प्रमेय है। अखिल देव गण साधन है। और आत्मा फल है। अतएवं श्री हयग्रीव प्रमाण प्रमेय साधन फल रूप है। यह तात्पर्य हुआ। उस समय के अवतार का प्रयोजन कहते हैं। 'वाचः' ये हयग्रीव भगवान् जब नाक से श्वास लेते थे तब वे ही सब मनोहर वाणी श्रुतिरूप होकर ब्रह्मादि के हृदयों में भासित हुई। ये वेद वाक्य ही कुण्डल मुकुट आदि के स्फुरन्महारत्न हैं ॥११॥

आभास—एवं मुकुटकुण्डले निरूप्य उन्निद्रहृत्पङ्कजकर्णिकालये योगेश्वरास्थापितपादपल्लवं रूपं निरूपयति—

आभासार्थ—इस तरह मुकुट कुण्डलावतार का निरूपण करके अब 'उन्निद्रहृत्पंकज कर्णिकालये, योगेश्वरा स्थापित पाद पल्लवरूप अवतार का निरूपण करते हैं।

श्लोक—**मत्स्यो युगान्तसमये मनुनोपलब्धः क्षोणीमयो निखिलजीवनिकायकेतः।**
विस्रंसितानुरुभये सलिले मुखान्मे आदाय तत्र विजहार ह वेदमार्गान् ॥१२॥

श्लोकार्थ—जब सृष्टि के युगों का अन्त समय आया उस समय हयग्रीव नामक दानव ने उपद्रव मचाया। ऐसे भयावह समय में डर से मेरे (ब्रह्मा के) मुख से सर्वमार्गोपयोगी वेदगण निकल गये थे, उनको हयग्रीव दानव संग्रह कर अपने पास ले गया। तब भगवान् मत्स्य अवतार लेकर वहाँ प्रलय समुद्र में ही उस हयग्रीव को मारकर कई कल्प तक विहार करते रहे ॥१२॥

सुबोधिनी—मत्स्य इति। मत्स्यो हि पल्लवरूपः। सत्यव्रतादीनां शिष्यत्वाद्गुरोस्तस्य भगवतः पादपल्लवं ज्ञानात्मकं हृदये स्थापितमेव। युगान्तसमये प्रलये। मनुना सत्यव्रतेन द्रविडेश्वरेण। मनुर्नेति भाविनी संज्ञा। तत्कृपयैव मनुत्वस्य भावित्वात्। तेन लब्धः। प्रथमं तदञ्जलिजले प्रादुर्भूतः। तस्य मत्स्यस्य उत्पत्तेरनिरूपितत्वाद्दृष्ट इत्युक्तम्। तस्य पादत्वाथमाह—**क्षोणीमय इति**। स हि पृथिवीमयः। अत एव आध्यात्मिकीं पृथिवीं वहति। नौकारूपा हि पृथिवी तारिका। अत एव चरणः पोतः। किञ्च। भगवच्चरणो हि सर्वेषां भक्तानामाश्रयः। तदाह—**निखिलजीवनिकायकेत इति**। निखिला ये जीवाः सम्पूर्णा जीवा न विषयैः खण्डिताः तेषां निकायः समूहस्तस्य केतः स्थानम्। सर्वाणि बीजानि ऋषयश्च तदा नौकायां स्थिता इति। एतदेव हि रूपं चरणस्य। अत एव संसारसमुद्रतरणे पोतः। तस्याऽवतारचरित्रमाह—उरुभये विस्रंसितान् ब्रह्मणो भयात् मुखाद्विगलितान् वेदान् हयग्रीवो नाम दानवेन्द्रः अन्तिकेऽहरत्। तं हत्वा तत आदाय तत्र जले विजहार ह। **वेदमार्गानिति**। अन्येऽपि ज्ञानभक्तिप्रतिपादका वेदास्तत एवोद्गताः। **हेति** प्रसिद्धे। आश्चर्ये वा। अत एव शिष्याणां हृदयानि वेदमार्गैः कृत्वा विकसितानि भवन्ति। यज्ञोपयोगिवेदा हयग्रीवेणोद्धृताः, सर्वोपयोगिनस्तु मत्स्येनेति विशेषः ॥१२॥

व्याख्यार्थ—मत्स्यावतार भगवान् श्री पुरुषोत्तम के पाद पल्लव रूप हैं। पृथ्वी भगवान् का चरण है और मत्स्य भगवान् क्षोणीमय भी थे, और आकार से पल्लव रूप भी थे। सत्य व्रत राजा आदि इनके शिष्य थे। अतएवं सर्वगुरु इनके ज्ञानात्मक पादपल्लव हृदय में स्थापन करने योग्य ही हुये। प्रलय ही यहां युगान्त समय था। सत्यव्रत राजा द्रविड़ देश का स्वामी था। वह आगे जाकर मत्स्य भगवान् की कृपा से ही मनु (मनुष्य लोक का शासक) हुआ। इस मनु को सन्ध्याञ्जली देते समय अजंलि के जल में मिले। सहसा प्रकट हो गये। मत्स्य की उत्पत्ति किस तरह होती है यह वैज्ञानिकों से भी निर्णीत नहीं है। इसलिये 'उपलब्धः' कहा मत्स्य के पादत्व का अर्थ बताते हैं। 'क्षोणीमयः' ये पृथ्वीमय भी थे। इसीलिये आध्यात्मिक पृथ्वी को साथ लेकर विहार किया। नौका रूपा यह पृथ्वी जीवों के भवसागर से तरने का उपाय होती है। अतएवं भगवान् के चरणों को कहीं कहीं पोत (जहाज) भी कहा है। भगवान् का चरण सब भक्तों का आश्रय भी है। सो कहते हैं— 'निखिल जो जीव विषयों से खंडित (च्युत) हो

जाते है वे खिल कहे जाते हैं। पर भक्त लोग विषयों से खण्डित नहीं होते। विषयों में नहीं फंसते। वे ही निखिल कहे जाते है। "निष्क्रान्ताः खिलेभ्यः इति निखलः" ऐसे जीवों का जो समूह उनका आश्रय स्थान भगवान् का चरण है। उस समय सब अन्नादि के बीज ऋषिगण और राजा उस श्रेणीमय नौका में ही थे। इसलिये भगवच्चरण सर्वाश्रय था। यही भगवत्चरण का स्वरूप है। इसी से संसार तरण का उपाय रूप जहाज कहा जाता है। अब अवतार चरित्र को कहते हैं—'विस्त्रसितानु' महाभयाम्बह समय में ब्रह्मा के मुख से गिराये गये वेद मार्गों को हयग्रीव ले गया। उसको मारकर वहां से वेद मार्ग को लाकर जल विहार किया। यह 'ह' यह क्रम पुराणान्तरों में प्रसिद्ध है। वेदमार्ग शब्द का यह तात्पर्य है कि यज्ञोपयोगी वेद मार्गो के सिवाय दूसरे ज्ञान भक्ति प्रतिपादक वेद मार्ग ही थे। वे ही श्री मत्स्य भगवान् से ही ब्रह्मादि ने प्राप्त किये। वेद मार्गो के द्वारा ही शिष्यों के हृदय कमल प्रफुल्लित होते हैं। तब वहां भगवान् अपने ज्ञान भक्ति प्रतिपादक किंवा तद्रूप चरण पल्लव स्थित करते हैं। यज्ञोपयोगी वेदमार्गो का उद्धार हयग्रीव अवतार ने किया और ज्ञान भक्ति प्रतिपादक वेद मार्ग का उद्धार मत्स्य भगवान् ने किया ॥१२॥

आभास—श्रीलक्ष्मणं निरूपयति—

आभासार्थ—श्री पुरुषोत्तम के वक्षस्थल स्थित श्री चिन्ह का निरूपण करते है।

श्लोक—क्षीरोदधावमरदानवयूथपानामुन्मथ्नताममृतलब्धय आदिदेवः।
पृष्ठेन कच्छपवपुर्विदधार गोत्रं निद्राक्षणोऽद्रिपरिवर्त्तकषाणकण्डूः ॥१३॥

श्लोकार्थ—क्षीर समुद्र में से अमृत प्राप्ति के लिये जब देव और दानवों के यूथपतिगण समुद्र का मंथन करने लगे तब आदि देव कच्छपावतार भगवान् ने मन्दर पर्वत को अपनी पीठ पर धर (रख) लिया था। पर्वत के चारों ओर फिरने से जो घिस्से लगते थे उन्हें इससे नींद में खुजली खुजाने का आनन्द आता था ॥१३॥

सुबोधिनी—क्षीरोदधाविति। कूर्मेण हि सुधया सह लक्ष्मीर्निष्पादिता। यावत्कार्यं कूर्मस्य तावच्छ्रीवत्सस्य। यथा ब्राह्मणपादस्य स्पर्शस्तथा मन्दरस्य। यथा सर्वैर्ब्राह्मणैर्विचार्य स निरूपितस्तथा सर्वैर्देवदानवैर्मन्दरः कूर्मे निरूपितः। यथा घर्षणं तथा शास्त्रार्थनिर्णयः। क्षीरोदधौ ये अमरदानवानां यूथपा मथनं कुर्वन्ति तेषामुन्मथ्नताममृतप्राप्त्यर्थं आदिदेवः आधिदैविको देवो देवपक्षपाती कच्छपवपुः कूर्मावतारो भगवान् पृष्ठेन गोत्रं मन्दरं दधार। ननु किमिति मन्दरं स्थूलं भाररूपं धृतवान्? तत्राऽऽह। निद्राक्षणः निद्रायां क्षणो यस्य। निद्रार्थं धृतवानित्यर्थः। ननु विपरीतमिदमुच्यते। निद्रालुर्हि सर्वमेव भारं दूरीकरोति? तत्राऽऽह—**अद्रिपरिवर्त्तकषाणकण्डूरिति**। अद्रेः परिवर्त्तनेन कषाणा घर्षिता कण्डूर्यस्य। अतो घर्षणार्थमद्रिं धृतवानित्यर्थः। घर्षणेन हि सुखे जाते निद्रा भवति। यथा पर्वतधारणं सर्वेषां देवानाममृतपानसिद्ध्यर्थम्। एवं सर्वेषां श्रान्तानां प्राणिनां सर्वपुरुषार्थसिद्ध्यर्थं परीक्षकब्राह्मणचरणधारणम्।१३।

व्याख्यार्थ—कूर्मावतार श्री पुरुषोत्तम का श्री चिन्ह है। इसे भृगुलता भी कहते हैं। जितना कार्य कूर्म भगवान् का है उतना श्री वत्स का भी है। भृगु ऋषि श्री लक्ष्मी के पिता हैं। उन्होंने पुरुषोत्तमत्व की परीक्षा करने के लिये भगवान् की छाती में अपने चरण का स्पर्श कराया था। इसी तरह यहां भी मंदर पर्वत का पैर कच्छपावतार धरा था। जैसे सब ब्राह्मणों ने परीक्षा करने के लिये विचार पूर्वक चुना था, इसी तरह यहां भी सब ही देव दानवों ने विचार करके मन्दर को कूर्मपृष्ट पर धरा था। जैसे वहां शास्त्रार्थ हुआ था वैसे यहां पर्वत का घर्षण होता रहा। क्षीर समुद्र पर देव दानवों के यूथप जब क्षीर समुद्र का मंथन कर रहे थे तब देव पक्षपाती आधिदैविक देव देव भगवान् कूर्मावतार लेकर अपनी पीठ पर मन्दर पर्वत को धरा। यदि कोई कहे कि इतने बड़े और भारी मंदर को भगवान् ने क्यों पीठ पर धरा? तो इसके उत्तर में कहते हैं कि 'निद्राक्षणः' निद्रा का पूर्ण सुख लेने के लिये। यदि कोई कहे कि यह तो उल्टी बात कही। सोने वाला तो अपने ऊपर से सब भार को अलग रखकर सोता है न कि भार धर कर। वो इसके उत्तर में कहते हैं कि 'अद्रिपरि' इत्यादि पर्वत के घर्षण से निद्रा के सुख प्राप्त होने के लिये पर्वत धारण किया। अद्रेःपरिवर्तनेन कषाणा काण्डूयेस्य। जैसे सब अर्थों देवगणों को अमृत पान की सिद्धि मिले इसलिये पर्वत को धारण किया वैसे ही संसारभ्रांत सब प्राणियों को सर्व पुरुषार्थ की सिद्धि हो इसलिये भगवान् ने परीक्षक ब्राह्मण भृगु की लात को धारण की ॥१३॥

आभास—कौस्तुभरत्नकन्धरं निरूपयति—

आभासार्थ—इस तरह श्री लक्ष्म का निरूपण कर अब कौस्तुभरत्नकन्धरावतार का निरूपण करते है—

श्लोक—**त्रैविष्टपोरुभयहासनृसिंहरूपं**
कृत्वा भ्रमद्भ्रुकुटिदंष्ट्रकरालवक्त्रम् ।
दैत्येन्द्रमाशु गदयाऽभिपतन्तमाराद्रूरौ
निपात्य विददार नखैः स्फुरन्तम् ॥ १४ ॥

श्लोकार्थ—तीनों लोक के तीव्र भय को दूर करने वाले भगवान् ने घूमती हुई भृकुटी और दाढ़ों से भयावह मुख वाला नृसिंह रूप धर कर दूर से सामने आते हुये हिरण्यकशिपु दैत्येन्द्र को गदा से घुटनों पर डालकर छटपटाते हुये को अपने नखों से चीर कर फैंक दिया ॥ १४ ॥

सुबोधिनी—त्रैविष्टपोरुभयहेति । नृसिंहः कौस्तुभरत्नकन्धरो भवति । यथा कौस्तुभस्य कण्ठे स्थापितस्य रश्मयः स्कन्धे निर्गताः केसरप्राया भवन्ति । एवमेव हि नृसिंहो भगवत्कौस्तुरूपः । कौस्तुभं यद्भगवान्कण्ठे बिभर्ति तद्दैत्यानां वधार्थं भक्तजनोद्धारार्थं । सर्वे हि भगवदीया जीवाः कौस्तुभरूपम् । **"चैतन्यस्य तत्त्वममलं मणिमस्य कण्ठ"** इति वाक्यात् । अतो भगवांस्तांश्चेद्धृदये न स्थापयेत्तदा मृत्युसाधनैः कर्मभिर्मृत्युग्रस्ता एव भवेयुः । अतो मृत्युगजनिवा-

रको नृसिंहः प्रह्लादरक्षकस्तत्प्रतिपक्षहिरण्यकशिपुघाती । त्रैविष्टपा देवास्तेषां यदुरुभयं तद्धन्तीति तथा । स भगवान्नृसिंहरूपं कृतवान् । ग्रामारण्यवासिनो हि द्विविधा भक्ताः । उभयेषामुद्धरणार्थमुभयरूपम् । कौस्तुभोऽपि तथा । भ्रमयुक्ते ये भृकुटी तत्सहिता दंष्ट्राः ताभिः करालं वक्त्रं यस्य । भृकुटिपरिभ्रमणं ग्रासार्थमागतस्य कालस्य वक्रीकरणम् । तत्सहिता यदि दंष्ट्रा । यमोऽपि पराभूतः । अत एव करालं वक्त्रम् । अनेन ये केचिद्भक्तप्रतिपक्षास्ते तादृशं मुखं दृष्ट्वा सर्वथा न स्वकार्यं करिष्यन्तीति सूचितम् । अत एव भक्तप्रतिपक्षं दैत्येन्द्रम् । आशु शीघ्रं अन्यस्य सावधानताभावाय आभिमुख्येन पतन्तम् । गदया प्रहारसमर्थया । आराद्दूरादेव । ऊरौ निपात्य । स्फुरन्तं तं नखैर्विददार । नखैर्विदारणं मुक्त्यभावाय । ऊरौ निपातनं कामोद्भवाय । एवमेव हि कौस्तुभो भक्तप्रतिपक्षं संसारे कामे वा योजयति । स्फुरन्तमितस्ततः सर्पन्तम् ।। १४ ।।

व्याख्यार्थ—श्री पुरुषोत्तम का कौस्तुभयुक्त कन्धा ही नृसिंह रूप हो जाता है । मुख सिंह का और देह मनुष्य का । जैसे कंठ में पहने कौस्तुभ की तेज किरण कन्धों पर फैलकर केसरा जैसी मालूम होती है । इसी तरह केशरा वाले बबर शेर के मुँह वाले नृसिंह भी भगवत्कौस्तुभ रूप दीखते हैं । भगवान् जो कण्ठ में कौस्तुभ मणि का धारण करते हैं वह दैत्यों के वध के लिये और भक्तजनों के उद्धार के लिये भी । सब ही चिन्समूह भगवदीय जीव कौस्तुभ रूप हैं । 'चैत्यस्य तत्व ममलं मणिमस्य कण्ठे' इस वाक्य से । अब यदि भगवान् इन्हें अपने कण्ठ में धारण न करें तो ये सब मृत्यु साधन कर्मों के द्वारा नष्ट हो जावे इसलिये मृत्यु गज नाशक नृसिंह भगवान् भक्त प्रह्लाद के रक्षक एवं भक्त वैरी हिरणकश्यपु के मारने वाले बनते हैं । और देवगणों के तीव्र भय को दूर करते हैं । ग्राम और वन दोनों में रहने वाले अनेक भक्त हैं । इन दोनों तरह के भक्तों की रक्षा करने के लिये ही भगवान् ने दो तरह का रूप लिया । कौस्तुभ भी दो रंग का होता है । नाचती हुई भृकुटी सहित जो दष्ट्रा उनसे बड़ा भयावह जिनका मुख । ग्रास के लिए आते काल की वक्रता दिखाने के लिये भवों को चलती हुई कही । भगवान् की भ्रुकुटि काल है । यह काल वक्र होने पर ही किसी को ग्रसता है । यम ही भगवान् की दाढ़ है । उसका भी पराभव कर दिया । इससे भगवान् का मुख सबसे बढ़कर भयप्रद हो गया । अब जो कोई भी भक्तों के विरोधी हैं, वे भगवान् के ऐसे कराल मुख को देखकर ही डरकर अपना कार्य न कर सकेंगे यह सूचना दी हैं । दैत्येन्द्र हिरणकश्यपु भक्तों का विरोधी है । सावधान न होने पावे इसलिये जल्दी सामने आते को मारने में समर्थ, गदा से घुटनों पर गिराकर नखों से छटपटाते को चीर डाला । मुक्ति न हो इसके लिये नखों से चीरा । कामनायें लगी रहें, इसलिये गोडों पर डाला । इस तरह कौस्तुभ रत्न भी भक्त-विरोधियों को संसार और कामनाओं में फंसाये रहता है ।।१४।।

आभास—अम्लानलक्ष्म्या वनमालयाञ्चितं निरूपयति— **अन्तःसरस्युरुबलेनेति** द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—कौस्तुभरत्नकंधर का वर्णन करके अब 'अम्लानलक्ष्म्या वनवालया अञ्चित' का अवतार कहते हैं—अन्तःसरस्युरुबलेन आदि श्लोकद्वय से—

श्लोक—**अन्तःसरस्युरुबलेन पदे गृहीतो**
ग्राहेण यूथपतिरम्बुजहस्त आर्त्तः ।
आहेदमादिपुरुषाऽखिललोकनाथ
तीर्थश्रवः श्रवणमङ्गलनामधेय ॥ १५ ॥
श्रुत्वा हरिस्तमरणार्थिनमप्रमेय-
श्चक्रायुधः पतगराजभुजाधिरूढः ।
चक्रेण नक्रवदनं परिपाट्य तस्मात-
द्धस्ते प्रगृह्य भगवान्कृपयोज्जहार ॥ १६ ॥

श्लोकार्थ—सरोवर के भीतर गजेन्द्र को जब बड़े ग्राह ने पैर पकड़ लिया तब दुःखी हुआ वह गजेन्द्र हस्त में कमल पुष्प उठाकर भगवान् की स्तुति करता हुआ भगवान् के नामों का उच्चारण करने लगा कि हे आदि पुरुष! हे अखिल लोकनाथ! हे पवित्र कीर्ते! हे श्रवणों को पवित्र कर देने वाले नाम वाले! असीम बलधारी भगवान् उसे रक्षार्थी जानकर चक्र हस्त में लेकर और गरुड़ के पक्षों पर बैठकर वहां पधारे और अपने सुदर्शन चक्र से ग्राह के मुख को फाड़ दिया और सूंड पकड़ कर उस सरोवर में से कृपा कर खेंच लिया ॥ १५ ॥ १६ ॥

सुबोधिनी—यो हरिः स वनमाला । भक्ता हि गजेन्द्रमोक्षणरूपां भगवत्कीर्त्ति श्रुत्वा सर्वथा प्रवर्त्तन्ते । वनमाला च कीर्त्तिमयी । अम्लाना हि तस्य कान्तिः । न तत्र देवादीनां सहायो वरो वा । गजेन्द्रः केवलं भगवतैव मोचितः । न वा देवादीनां प्रार्थना । न वा तस्य लौकिका गुणा भगवत्प्रीतियोग्याः । तस्मात्केवलकृपयैव मोचित इत्यम्लानत्वम् । विलम्बासहिष्णुत्वाय विशेषणानि । अन्तःसरसि सरोमध्ये । उरुबलेन । देवलाच्छापेन तादृशरूपस्य देवलकृपयैव महाबलत्वम् । **पदे गृहीत इति** क्रियाशक्तिः कुण्ठिता । ग्राहपदेन चाऽनिवार्यप्रतिबन्धकत्वम् । **यूथपतिरिति** तस्मिन्मृते सर्व एव मरिष्यन्तीति । अन्येषामसमर्थता वा । **अम्बुजहस्त इति** । पूर्वक्रूरभावो निवारितः । भगवदाभिमुख्यार्थं च । भगवत्पूजार्थं वा अम्बुजग्रहणम् । आर्त्तत्वेन सर्वसाधनाभावः । नह्यन्ये तादृशे कृपां कुर्वन्ति । इदं चाऽऽह—हे आदिपुरुष । अनेन तवाऽऽवश्यपालनीयोऽहम् । मूलपुरुषत्वात् । अन्यो वा न वक्तव्यः । **अखिललोकनाथेति** सर्वलोकपालने त्वमेवाऽधिकृतः । अतो नाऽन्यो वक्तव्योऽपि । ननु तव दुःखानुभवहेतुप्रत्यग्रपापस्य विद्यमानत्वान्मया किं कर्त्तव्यमित्याशङ्कायामाह—हे तीर्थश्रवः । तीर्थरूपं श्रवः कीर्त्तिर्यस्य । तव कीर्त्तिस्मरणेनैव वयं धौतपापाः । ननु केवलमोचने न कश्चित्पुरुषार्थः । किन्तु वैकुण्ठयोग्यो देहः सम्पादनीयः । तदर्थं च शुभाऽदृष्टाभावात्किं मया विधेयमित्याशङ्क्याऽऽह—**हे श्रवणमङ्गलनामधेयेति** । श्रवणमात्रेणैव मङ्गलं सर्वशुभदायि नामधेयं यस्य । अनेन त्वन्नाममात्रेणैव सर्वशुभहेतु भाग्यं सिद्धम् । एवं पद चतुष्टये निरूपिते वैकुण्ठस्थितो भगवान् श्रुत्वा दूरादेव

तं शरणार्थिनं ज्ञात्वा। केनाऽपि न ज्ञातः अयं गजेन्द्रोद्धारार्थं गच्छतीति। तथा सति कश्चिद्-देवोऽन्यो वा स्वप्रतिष्ठार्थं हस्ते तं धृत्वा बहिः क्षिपेत्? **अत आह—अप्रमेय इति। चक्रायुध इति** मुक्तिदानार्थम्। पतगराजभुजादधिरूढ उत्तीर्णः। अनेन तस्य कालग्रासानन्तरं मुक्तिदानं निवारितम्। न हि गजेन्द्रो देहत्यागं ज्ञातवान्। **"कालात्मकः सोऽथ सुपर्ण"**इति वाक्याद्-गरुडस्य कालत्वम्। आगत्य कृत्यमाह—**चक्रेण नक्रवदनमिति**। प्रतिबन्धकाभावं कृत्वेत्यर्थः। नतु तेन सहोद्धरणम्। तस्मात्सङ्कटात् हस्ते शुण्डादण्डे प्रकर्षेण गृहीत्वा। स्पर्शमात्रेणैव चतुर्भुजं रूपं संपाद्य तं गृहीत्वेत्यर्थः। भगवतोद्धृत्वाद्ब्राह्मणानां शापलक्षणः प्रतिबन्धकोऽकिञ्चित्करः। **कृपयोज्जहारेति** जीवस्य साधनाभावो निरूपितः। परदुःखप्रहाणेच्छा कृपा। एवं हि भगवत्कीर्त्तिर्भक्तानुद्धरति। इदमेव चरित्रमुत्तरत्र भक्तिहेतुत्वेन विचारयिष्यते प्रह्लादवाक्येषु। ततः कीर्त्त्यैव प्रेमेति सिद्धं भविष्यति ॥१५॥१६॥

व्याख्यार्थ—जिन्होंने गज का दुःख हरा वे भगवान् हरिः पुरुषोत्तम की वनमाला का अवतार हैं। भगवान् की वनमाला विशुद्ध कीतिरूपा है। भक्त लोग गजेन्द्र मोक्षरूपा कीर्ति का श्रवण करके भगवत्‌जन में प्रवृत्त होते हैं उसकी कीर्तिमयी वनमाला की कान्ति कभी मैली नहीं होती। गजेन्द्र के मोक्ष में भगवान् ने न तो इसका देवता से सहारा लिया और न किसी ने ऐसा वर ही उसे दिया था। गजेन्द्र का मोक्ष केवल हरि भगवान् ने ही किया था उसकी रक्षा करने की किसी देवता ने भगवान् से प्रार्थना भी नहीं की थी और फिर गजेन्द्र के कोई ऐसे लोक प्रसिद्ध गुण भी नहीं थे जिन पर भगवान् का प्यार हो सके। इसलिये मानना पड़ेगा कि भगवान् की कृपा से ही गजेन्द्र का मोक्ष हुआ। इसलिए कीर्ति वनमाला निर्मल ही रही। अब जो श्लोक के पद और वाक्य तथा विशेषण हैं वे सब भगवान् की उद्धारत्वरा को दिखाने वाले हैं। भगवान् को गजेन्द्र के उद्धार करने में थोड़ा भी विलम्ब सहा नहीं गया। यह बात विशेषणों से स्पष्ट होती है, जल के मध्य में बड़े बलवान् ने पैर पकड़ लिया। ग्राह ने यूथ पति इत्यादि सब ही पद भगवान् की त्वरा को उत्तेजना देने वाले हैं। जल हाथी का घर नहीं, ग्राह का था, इसलिए त्वरा करना ही चाहिये था। बड़े बलवान् ग्राह ने पकड़ लिया इसलिये भी त्वरा की गई और पैर पकड़ा इसलिये हाथी की जैसी भी कुछ क्रिया शक्ति थी, वह भी जाती रही। यह भी त्वरा का कारण था। देवल ऋषि ने गज को शाप दिया था अतएव देवल की कृपा से ही ग्राह बड़ा बलवान् हुआ। ग्राह पद से प्रतिबंध को निरुपाय बताया है। गज को यूथ पति कहा इससे स्पष्ट होता है कि यदि भगवान् इसको न बचाते तो इसके साथ सब ही मारे जाते। इससे यह भी सूचना होती है कि इसके यूथपति होने से और सब अपनी या उसकी मुक्ति में असमर्थ थे। कमल को सूंड में लेकर स्तुति की। इससे मालूम होता है कि पहली अवस्था का क्रूरभाव अब जाता रहा अथवा भगवान् के सन्मुख होने का चिन्ह ही दिखाया। अथवा हे गोविन्द! इस कमल पुष्प से ही सब पूजा सामग्री मान लीजिये। यह सूचित किया। 'आर्त' दुःखी शब्द से यह कहना है कि मेरे पास आपको प्रसन्न करने के कोई भी साधन नहीं हैं। निःसाधन पर अन्य देवगण भी कृपा नहीं करते, अतएव आप ही कृपा कर इस दुःख से छुड़ाइये। ये सब बातें दुःख दूर करने में विलम्ब न करने के लिए ही कही हैं। भगवान् के विशेषण भी इसी आशय से दिये गये हैं। हे आदि पुरुष! अर्थात् जब आप ही सर्व प्रथम पुरुष हैं तो आपको ही मेरी रक्षा अवश्य कर्त्तव्य है। आप मूल पुरुष हैं अन्य के समीप कहाँ जाऊँ क्या करूं। हे अखिल लोक नाथ! सब लोग की रक्षा करने का आप ही का अधिकार है।

इसलिये अन्य से कुछ कह ही नहीं सकता हूं। यदि आप कहो कि दुःख का अनुभव कराने वाला कारण तेरा पाप ही जब विद्यमान है, तब मैं भी क्या करूंगा। तो इसका उत्तर कहना है कि हे तीर्थश्रव:, आपका नाम श्रवण ही तीर्थ है; अतएव मेरे पाप तो आपका नाम कीर्ति श्रवण करने से ही धुल गया। ठीक है तुम कहते हो सो, पर केवल दुःख से छुड़ा देने से ही तो काम नहीं चलेगा। वैकुण्ठ में पहुँचाने के लिये तो वहां के योग्य देह भी देना पड़ेगा, किन्तु उसके लिये तुम्हारे पास कोई पुण्य भी कहां है ? मैं क्या करूं। इसके समाधान में कहना है, कि हे श्रवण मंगल नाम धेय ! आपका नाम ही श्रवण करने मात्र से सर्व मंगलों का देने वाला है। आपका नाम जब मैंने लिया तब ही मेरे शुभ दायक भाग्य सिद्ध हो चुके। इस तरह ४ पदों के पुरस्कृत करने से ही बैकुण्ठ स्थित भगवान् दूर से ही इसे शरणेच्छु जानकर ये गजेन्द्रोद्धार के लिये जाते हैं। यहां किसी को जताये बिना ही वहां आये अन्यथा कोई अन्य किंवा कोई देवता आकर अपनी प्रतिष्ठा जमाने के लिये सूंड पकड़ कर बाहर निकाल देता है। इसी आशय ने 'अप्रमेय' पद दिया है। जिनके आने की किसी को भी खबर न हुई। 'चक्रायुध:' पद इसलिये है कि चक्र के द्वारा मुक्तिदान करना है। पतगराज के पक्ष पर से उतर कर, कहने का तात्पर्य है कि देह त्याग किंवा कालग्रास के अनंतर मुक्ति नहीं दी; किन्तु गजेन्द्र को देह त्याग की खबर भी नहीं हुई। मुक्ति पहले ही हो गई। 'कालात्मक: सोऽथ सुपर्ण:' इस वाक्य से गरुड़ काल रूप हो है। आकर जो कुछ किया सो कहते हैं - 'चक्रेण नक्र' इत्यादि मुक्ति प्रतिबंधक ग्राह के मुख को तोड़ कर। प्रतिबंध का सहोद्धार नहीं किया, किन्तु पृथक् पृथक् संकट से छुड़ाकर सुंडा दंड पकड़ते ही स्पर्श मात्र से उसका चतुर्भुज रूप कर दिया और उसको अपने साथ ले लिया। जब भगवान् ने उद्धार ही करना स्वीकार कर लिया तब ब्राह्मणों का शाप कुछ नहीं कर सकता। कृपा से ही उद्धार किया। जीव के पास अपने उद्धार के लिये कोई साधन नही हैं। इसी कारण से कीर्ति माला की अम्लानता दिखाई हैं। किसी के दुःख दूर करने की इच्छा को कृपा कहते हैं। इस तरह से भगवत् कीर्ति रूप वनमाला भक्तों का उद्धार करती है। यह दिखाया। इसी चरित्र को अष्टम स्कंध में किंवा प्रह्लाद की स्तुति में भक्ति का हेतु कहेंगे। भगवत् कीर्ति से ही भगवान् में प्रेम होता है, यह सिद्ध होगा ।।१५-१६।।

आभास—एवं वनमालां निरूप्य तेनाऽञ्चितत्वं च प्रेमजनकत्वेन सूचयित्वा विभूषितं मेखलयेति निरूपयति—**ज्यायान्गुणैरिति** द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—इस तरह से वनमालाऽवतार और प्रेम जनकता से 'अंचितत्व' दोनों का निरूपण करके अब 'विभूषितं मेखलया' इस विशेषण का अवतार कहते हैं। दो श्लोकों से—

श्लोक—**ज्यायान् गुणैरवरजोऽप्यदितेः सुतानां**
लोकान् विचक्रम इमान् यदथाधियज्ञः ।
क्ष्मां वामनेन जगृहे त्रिपदच्छलेन
याञ्चामृते पथि चरन् विभुभिर्न चाल्यः ।। १७ ।।

श्लोकार्थ—यद्यपि भगवान् गुणों में सब देवों से बड़े हैं, पर इस समय अदिति पुत्र देवों के छोटे भाई होकर वामनावतार धारण किया और फिर इन अधियज्ञ भगवान् को बलि ने प्राप्त किये। सब ही लोकों को अपनी तीन पेंड पृथ्वी की मांग के बहाने से नाप लिये और इस तरह पृथ्वी भी ले ली। सच है, जो दास अपने मार्ग पर चल रहा है उसे हटाने के लिए स्वामी के पास भिक्षा माँगने के सिवाय और उपाय ही नहीं है। बलिराजा भी भगवान् का पूर्ण भक्त था। उसे देवताओं का आधिपत्य लेना ही नहीं था। उसे तो किसी तरह से भी भगवान् के चरण का पवित्र जल अपने मस्तक पर धारण करना था। भगवान् को प्रतिज्ञात दान करुंगा यह उसका दृढ़ निश्चय था। उसके पूरा करने के सिवाय उसका अन्य मनोरथ नहीं था। जब उसके पास कुछ न रहा तब उसने अपना मस्तक श्री हरि के चरणों पर रखकर अपनी आत्मा भगवान् के भेंट कर दी।

सुबोधिनी-वामनो हि भगवतो मेखलारूपः। मेखला हि कटिस्थानबन्धिका भवति। "**स जघनादसुरामसृजते**" ति श्रुते"**जंघने आत्मसुख्यानि**" ति च वाक्यात्। दैत्यबन्धकत्वेन मायामप्यन्तः पातयित्वा शोभां जनयतीत्याकुञ्चनप्रसारणधर्मवत्त्वाच्च वामनः कटिसूत्रमेव। अत एव गुणप्राधान्येन निरूपणम्। अदितेः सुतानां मध्ये अवरजोऽपि। अदितिर्हि भूमिरूपा। यद्यपि सर्वरूपत्वेन निरूप्यते तथापि तस्याः स्तुतिपरत्वादियं वा अदितिरित्येव मुख्या। तस्याः सुतास्तत्कीर्ति रक्षां वा जनयन्ति। अतो रक्षाकीर्त्तिरूपं पीताम्बरं भवति। तां च दृढां करोति मेखला। गुणैर्ज्यायान् पुष्टः स्थूलो महानित्यर्थः। तस्य गुणानेवाह। गुणा ह्युत्कर्षाधायकाः। भगवतो जगत्कर्तुः सर्वप्रेरकस्य सर्वनियन्तुः कालचेष्टारूपस्य के वा ते धर्मा ये उत्कर्षमादधतीत्याशङ्क्य वामनस्य गुणास्तथा भवन्तीति मेखलागुणप्रस्तावे तान्निरूपयति-**लोकान्विचक्रम इति**। भगवतो ब्रह्माण्डरूपस्य उरःकण्ठादिरूपेण उपरितनलोकानां निरूपणात्। तत्र स्वेनैवाऽऽक्रमणं न युक्तिसहितं बुद्धिमारोढुमर्हति। अतो भगवतोऽन्ये धर्मा बुद्ध्या परिकलितुं शक्यन्ते। सर्वरूपेणैव भगवतः स्वाक्रमणं न बुद्धिगम्यमिति गुणत्वम्। बलिं प्रति पादस्याऽग्रे नयनप्रदर्शनं ममेच्छयैव भवन्तः स्वर्गादिलोकभोक्तारो जाताः। वस्तुतस्तु चरणावयवलोकभोक्तारः। तेषामुपर्याक्रमणं न नित्यम्। मेखला ह्युभयपरिच्छेदकर्त्री। "**उर्ध्वं वै पुरुषस्य नाभ्यै मेध्यमवाचीनममेध्यं यन्मध्यतः संनह्यति मेध्यं चैवाऽस्याऽमेध्यं च व्यावर्त्तयती**"ति श्रुतेर्मेखलायास्तदुभयपरिच्छेदकत्वम्। ततो दैत्यानां स्वर्गाऽऽक्रमणं न युक्तमिति व्यावर्त्तकेन व्यावृत्तिः क्रियते। अतो युक्त्या परमार्थतश्चाऽऽक्रमणं न संभावितम्। किञ्च। विशेषेण चंक्रमणं सुतरामसंभावितम्। विशेषो हि विक्रमणेन पततां लोकानां तेनैव स्तम्भनम्। पातिकैव क्रिया पातयन्ती पालयतीत्याश्चर्यम्। किञ्च। अतःपरमन्यो विशेष उच्यते भिन्नक्रमेणेत्याह-**अथेति**। लोकपरमार्थाभ्यां पूर्वमलौकिकं निरूपितम्। अधुना स्वयं यज्ञरूपो यज्ञस्थापनां कुर्वन् यज्ञविघ्नं करोतीति वेदेऽप्यलौकिकम्। तदाह-**यदथाधियज्ञ इति**। यस्मादयमधियज्ञः। एवं सर्वप्रकारेण बुद्ध्यगोचरत्वं विनिरूप्य रूपस्वभावविरुद्धं करोतीत्याह-**क्ष्मां वामनेन जगृहे त्रिपदच्छलेनेति**। वामनो हि

स्वल्पामपि भूमिं देहेनाऽपि नाऽऽक्रमति। तेन सर्वभूमिग्रहणं सुतरामयुक्तम्। नमनेनैव हि मेखलया कटिराक्रम्यते। किञ्च। **त्रिपदच्छलेनेति**। न हि भगवतः पदत्रयमस्ति। छलं हि भ्रमजनकम्। मानं हि तत्र व्याप्तमेव तद्गृह्णाति। न हि भगवान् बुद्धया मानमुक्तवान्। चरणस्तु निष्काशितो न मानं भवति। अतो भगवता तृतीयः पादः कल्पनीय इति ज्ञातव्यम्। वामनवाक्यानुसन्धानेन तद्भ्रामकपदैर्लोके अन्यथा प्रतीतिजनकैर्भूमियाचनं छली भवति। "**मायेत्यसुरा**" इति तेषां मायारूपेणैव भगवान् भवतीति भगवता सत्यतया निरूपितमपि छलत्वेन पर्यवसितमिति तथोच्यते। एवं भगवतो महग्दुणान्विनिरूप्य तत्र जातं दोषं याचनलक्षणं निराकरोति-**याच्ञानामृत इति**। याच्ञा हि द्विविधा। सेवककर्त्तृका प्रभुकर्त्तृका च। तत्र सेवककर्त्तृका प्रभोर्दोषावहा न प्रभुकर्त्तृका। वस्तुतस्तु इयं याच्ञा प्रभुकर्त्तृका। वस्तुतः प्रभोरपि धनं अन्येषु स्थापितं नीतिमार्गेण तस्य याचनमेवोचितम्। स्वेनैव तत्र स्थापितत्वात्पथि चरणम्। अनङ्गीकार एवं हि बलाग्द्रहणम्। न चाल्य इति स्थानान्न निष्कासनीयः। याच्ञां कृत्वा तु निष्कासनीयस्तदनङ्गीकारे। **क्ष्मामिति** भूमिमेव गृहीतवान् याच्ञयाऽपि। दैत्यानां हि तत्रोत्पन्नानां तत्स्वामित्वमेव। अतो हि बन्धनम्। अन्यथा पातालादिषु क्वचिदपि तत्स्वामित्वे ग्रहणं न स्यात्। अबद्धश्च स्वाम्यं सर्वथा करिष्यत्येवेति बन्धनम्। अनेनाऽपि च्छलः समर्थितो भवति। एकस्यांऽशस्य याचनम्। अंशद्वस्य त्याजनम्। त्रयाणां तु याचनं च्छलः। सन्नियोगशिष्टत्वात्त्रयाणां याचनम्। अन्यथा शेषाभ्यनुज्ञा स्यात्। क्रियाद्वयं वा आपद्येत। तस्मान्मेखलया भूमिग्रहणमुचितमेव ॥१७॥

व्याख्यार्थ—वामन भगवान् श्री पुरुषोत्तम कोंधनी हैं। करधनी कटिस्थान का बन्धन करने वाली होती है। 'स जघनादसुरान सृजत' इत्यादि श्रुतियों से स्पष्ट होता है कि असुरों की स्थिति जघन स्थानीया है। अतएव असुरों को उससे ऊपर के स्थान में स्थिति न करने देने के लिये मेखला का अवतार अपेक्षित है। कटि स्थान में हो इनको बद्ध रखने के लिये मेखला रूप वामन भगवान् हैं। मोहन से सहज बन्धन होता है। इसलिये भगवान् ने अपने पास माया को भी रखा है। माया के द्वारा बन्धन साधन मेखला (कोधनी) में शोभा आ जाती है और कभी कम दिखाना और कभी फैला देना यह भी माया के साहचर्य से होता है। असुरों की उपास्य देवता माया है और उसका उनके ही मोहन से उपयोग करते हैं। मेखला में आकुञ्चन प्रसारण गुण होता है शोभा भी होती है और बन्धक गुण भो होता ही है, और ये सब बातें वामन चरित्र में विद्यमान हैं; अतः वामनजी को मेखलावतार कहा है। इसलिए गुण प्राधान्य रखकर निरूपण किया गया है। समान रूपता से उसका सादृश्य कहा। अब 'समान' शब्द से भी सादृश्य कहते हैं। 'गुणैः ज्यायान्'। मेखला गुणवती होती है और भगवान् ने भी गुणों का प्रदर्शन कराया हैं। अष्टम स्कंध में वर्णन है कि 'तद्वामनं रूप मवर्द्धताद्भुतं हरेरनंतस्य गुण भयात्मकं' यहां स्पष्ट गुणभय का साहचर्य कहा है और वामन, अवद्भुत अद्भुत आदि शब्द भी माया गुणों का प्रकाशन करते हैं। वामन का छोटा होना अवद्भुत बढ़ना आश्चर्य कारक दीखना ये सब माया के गुण हैं। वामन भगवान् अदिति के देवों से छोटे पुत्र हैं; परन्तु गुणों से सबसे बड़े हैं। अदिति को श्रुति में पृथ्वी रूपा कहा है। यद्यपि अदिति का निरूपण सर्व रूप से भी है किन्तु वह निरूपण स्तुति रूप है। वास्तव में वह भूमि रूपा ही है। 'इयं वा अदितिः' यह श्रुति मुख्य है। इस अदिति के पुत्र गुणत्रयात्मक मिलकर भूमि की स्तुति किंवा रक्षा करते हैं। यह रक्षा कीर्त्तिरूप समुदाय ही पीता-

म्बर रूप है । इसको अर्थात् रक्षा और कीर्ति को मेखला दृढ़ करती है । वामन भगवान् ने अदिति की कीर्ति और रक्षा की है, अतएव अन्य सुतों से ये गुणों में ज्यायान् अर्थात् पुष्ट हैं, स्थूल हैं, महान् हैं । उत्कर्ष दिखाने वाले गुण होते हैं । जगत्कर्ता सर्व प्रेरक सबको अपने नियम में चलाने वाले काल चेष्टा रूप भगवान् के ऐसे कौन से गुण हैं जो ऐसे भगवान् के उत्कर्ष को दिखाते हैं । यदि आशंका किसी को है तो उसके उत्तर में कहते हैं कि 'लोकान् विचक्रमे' । वामनावतार भगवान् के गुण ऐसे हैं जो उनका उत्कर्ष दिखा रहे हैं । मेखला के गुण कहते हुए वामनजी के भी गुण कहते हैं । भगवान् ने ऊपर के लोकों का आक्रमण किया । भगवान् ब्रह्माण्ड रूप हैं और ऊपर के लोक उस भगवान् के वक्ष: कण्ठ मस्तक रूप हैं । ऐसी अवस्था में अपने ही आप से अपना ही आक्रमण किया यह बात उक्ति द्वारा बुद्धि में नहीं समाती । इसके उत्तर में 'गुणैः' शब्द कहा है । भगवान् के धर्म भगवान् से अन्य (भिन्न) भी हैं । अतएव अन्य होने से अन्य के द्वारा (गुण के द्वारा) स्वाक्रमण बुद्धि से समझ में आ भी सकता है । धर्म रूपों से ही भगवान् सर्व रूप हुए हैं अतएव धर्मों के द्वारा भी स्वाक्रमण—कैसे समझ में आ सकता है इसलिये इन धर्मों को गुण शब्द से कहा है । उत्कर्ष को दिखाने वाले धर्मों को गुण कहते हैं और स्वरूपज्ञापक धर्मों को धर्म ही कहते हैं । माया का अन्त: प्रवेश रखने से कितने हो धर्म गुण कहलाते हैं । 'अदितेः सुतानां अवरज अपि' । कहने से स्पष्ट होता है कि त्रिगुणमयी आधि दैविक भूमि अदिति, उसके सुत त्रिविध देव उनमें वामन भगवान् सबसे छोटे (इसलिये शुद्ध सत्वात्मक अवतार रहते भी माया के अन्त: पतन से कुछ त्रिविध गुण का कार्य दिखाना ही पड़ा है । अतएव अष्टम स्कंध में वामन के रूप बढ़ाने में 'गुणत्रयात्मकं रूपं अवर्धत' साभिप्राय विशेषण दिया है । यहां भी 'गुणैः ज्यायान्' यह भी साभिप्राय है । मैत्रावरुणी योपनिषद में कहा है कि 'तमो वा इदमाग्र आसीत' पहले यह सारा जगत् दिव्यतमस् (अव्यक्त किंवा अक्षर) था इत्यादि फिर आगे जाकर कहा है कि 'तद्रस संस्रवाद्रजस्तस्यापि रस: सत्वमिति' अर्थात् वह तम जब रस होकर प्रकट हुआ तब वही रजोगुण भी हुआ और जब रज का भी रस हुआ तब वह सत्व गुण हुआ । तमो रज: सत्व सृष्टि के आरम्भ में सारा जगत् तमोभूत था । जिसमें और जिसकी कुछ खबर न पड़ सके, वह तम व्यर्थ है । अन्धकार रूप न होकर भी वैसा था । अक्षर ब्रह्म का ही एक रूपान्तर तमस् है । अप्राकृत रहते भी प्राकृत का आभास है । ब्रह्म में सबका आभास है । यह अवस्था सृष्युन्मुख है । वह सर्वाभाव तम कूटस्थ निश्रेष्ठ आद्यन्त में रहता है । परासृष्टि के आरम्भ में वहां संस्रव (चलन) होता है । तदनंतर कुम्ब प्रकाश का आविर्भाव होता है । पहला संस्तव रजोगुण है और दूसरा संस्तव सत्वगुण है और वह भी निखरता है, तब शुद्धसत्व होता है । अतएव भगवान् अवर जो सत्व गुणों के अवतार देव हैं और देवों के अवर जन्मा शुद्ध सत्वावतार वामनजी हैं । इसलिये इनमें गुणत्रय के उत्कर्ष हों तो क्या आश्चर्य है । यदि कहो कि शुद्ध सत्वावतार होने से एक ही गुण का प्राधान्य आता है । आच्छदन, विक्षेप कहाँ से आये ? तो इसके लिये 'अदितेः' कहा है । 'अदिति' यद्यपि सर्व रूपा कहा है, तथापि 'इयं वै अदितिः' इस श्रुति से त्रिगुणात्मिका भूमि ही इसका मुख्य रूप माना हैं और फिर माया का अन्त:पात भी है इसलिये भगवत्गुणों में रजस्तम का ही उत्कर्ष विद्यमान है । तो अब यह आशंका हो सकती है कि फिर प्राकृत्व ही रहा, ब्रह्मत्व न रहा । और माया का संग्रह भी व्यर्थ ही रहा । इसके उत्तर में 'ज्यायान्' कहा है । गुणैः गुणों से भगवान् ज्यायान् विशेष हैं । भगवान् से भगवान् के ऐसे गुण सर्वदा पृथक् ही दीखते रहते हैं । इसलिये

भगवान् का स्वरूप उनसे विशेष रहा आता है। गुण केवल उत्कर्षाध्याय कहो नहीं हैं। उपसर्जनो भूत भी है बढ़कर भी हैं। अब गुणों की अन्यता होने से उनके द्वारा स्व का आक्रमण किया गया। वामन रूप के स्वरूप का आच्छादन भी गुण से और विक्षेप स्वरूप का परिवर्तन भी गुण-कृत है। इसलिये ही 'गुणैः ज्यायान्' कहा। भगवत्स्वरूप सर्वदा एक रूप है पर गुणों के द्वारा स्थूल, महान्, कृश, वामन आदि होता रहता है। इसलिये ही माया का अन्त पतन भी सार्थक हैं और गुणों में निरखता सबसे अन्तिम शुद्ध सत्व है; इसलिए भगवान् अवरज ही है। यहां यह भी विचार होता है कि रूप के बढ़ाने से ही सब लोकों का आक्रमण हो चुका अब बलिराजा से सम्बन्ध रखने वाले पदार्थ कोई भी बाकी नहीं रहे, तो फिर लोकाक्रमण का क्या प्रयोजन रहा ? इसके समाधान में कहते हैं कि बलिराजा को अपने चरण के आगे सब लोकों को लाकर और दिखाना ही लोकों का विचक्रम था। विशेष के द्वारा क्रमण खेंचना। वहां का वहां ठहराए रखना। श्रुति और अष्टमस्कंध में यह विशेष कहा गया है। पादाग्रमे लोकों को लाकर दिखाने का प्रयोजन यह है कि 'हे बले' तुम लोग मेरी इच्छा से ही अपने अपने स्वर्गादि लोकों का उपयोग कर रहे हो और वे सब मेरे चरण के अवयव ही हैं, इससे आगे बढ़ना स्वाभाविक नहीं है। मेरी इच्छा से क्वचित् हो सकता है। यदि ऐसा हो तो मेखला उसको रोकने वाली है। भगवान् वामनावतार पुरुषोत्तम की मेखला है, इसलिये बलि को ऊपरी लोकों में जाने का उद्योग करते समय रोक लिया। 'ऊर्ध्वं वै पुरुषस्य नाभ्यै मेध्यमवाचीनममेध्यं यन्मध्यतः संनह्यति मेध्यं चैवाऽस्याऽध्यं च व्यावर्त्तयतो' यह श्रुति कहती है कि पुरुष की नाभि के ऊपर अंगादि पवित्र हैं और उसके नीचे के स्थान अपवित्र हैं इन दोनों के मध्य में जो मेखला बांधी जाती है, वह मेध्य और अमेध्य को पृथक्-पृथक् रखना चाहती है। यहां मेखला को उभय व्यावर्तक कहा है। वामन भगवान् मेखला हैं। व्यावर्तक हैं। इसलिए दैत्यों का जघन स्थान है। अतएव इन लाकों का स्वर्ग में आक्रमण युक्त नहीं है। यों समझ कर उनका व्यावर्तन करते हैं। और इसीलिए यहां लोक विक्रमण वास्तविक युक्ति से संभावित नहीं है। गुणों से ही है। और दूसरी बात यह भी है कि 'विक्रमे' विशेष के द्वारा चंक्रमण बिलकुल ही असंभव है। विक्रम के द्वारा गिरते हुए लोकों को उस क्रिया के द्वारा ही वहां का वहां ठहरा देना ही क्रमण का विशेष है। यह भगवान् का स्वरूप है। परस्पर विरुद्ध धर्मों का आश्रय भगवान् है पाति का क्रिया ही सब का पालन करती रहती है। यही अलौकिकता है। आश्रय है। स्वरूप और गुण दोनों ने मिलकर भगवान् के स्वरूप और भगवान् की इच्छा का बोधन कराया। लोक जहां के तहां रहें यह भगवान् का स्वरूप है और आक्रमण इच्छा है। अथ कहकर भिन्नक्रम से एक और भी विशेष कहते हैं—'अथ अधियज्ञः'। उत्कर्षाधायक विशेष ही गुण कहा जाता है। आश्चर्यभूत असंभवित बात को कर दिखलाने से उत्कर्षाधयकता सिद्ध होती है। लोक और वास्तविक रूप से पूर्व में भगवद्गुण की अलौकिकता कह चुके। अब 'अधियज्ञः' कहकर यह दिखाते हैं कि यज्ञरूप भगवान् ही यज्ञ की स्थापना करते हुए भो यज्ञ में विघ्न करते हैं यह वैदिक में भो भगवद्गुणों की अलौकिकता है। जो अधियज्ञ यज्ञ से भी अधिश्रेष्ठ है। वह सब कुछ कर सकता है, क्योंकि 'अधियज्ञः'। इस तरह भगवान् के गुण और स्वरूप सब प्रकारों से बुद्धि के अगोचर हैं। यह कहकर अब भगवान् तात्कालिक रूप और स्वभाव के विरुद्ध अलौकिक भी करते हैं, यह कहते हैं—'त्रिपदच्छलेन' इत्यादि। तीन पेड़ों के छल से वामनजी ने बलि से पृथ्वी ले ली। यहां त्रि पद वामन आदि सब ही छल के दिखाने वाले पद हैं। अन्दाज से बावन पर अंगुलयान का जिसका

देह हो उसे लोक में वामन (वोन्टा) कहते हैं। क्ष्मा पृथ्वी शब्द से एक त्रिलोकी का यहां ग्रहण किया है। हम जहां रहते हैं उस एक पृथ्वी से ऊपर का लोकात्मक पृथ्वी आवरणात्मक होने से चौगुनी है। उनका वामनजी ने अपने पद (चरण) से आक्रमण कर बलि से ले ली। यह सब छल माया है। बावन अंगुल का सारा देह जिसका, उसका पैर २-३ अंगुल का हो सकता है। उसके ३ चरण पांच-छः अंगुल भर होंगे उनसे त्रिलोको को नाप लेना कैसे संभव माना जाय, अतएव छल है। पैर तो ठीक है पर उनका सारा देह ही मानदंड मान लिया जाय तो भी त्रिलोकी का आक्रमण तो असंभावित है, पर थोड़ी बहुत भूमि का भी आक्रमण नहीं बन सकता। इससे वामन शब्द केवल छल है। तात्कालिक रूप को छोड़कर यदि वास्तव रूप को लें तो भी आक्रमण की क्या आवश्यकता थी? पुरुषोत्तम की मेखला वामनावतार है। लम्बी मेखला थोड़ी नम जाय, मुड़ जाय तो कटि स्थान बन्धन में आ सकता है। इसके लिए विशेष आक्रम की क्या उपेक्षा थी? अतएव छल मात्र है फिर भगवान् के ३ पद कहां हैं? और 'त्रिपद' पद दिया है अतएव छल है। भ्रमजनक ज्ञापन को ही छल कहते हैं। अष्टमस्कंध के विस्तीर्ण वामन चरित्र में ऐसे पद हैं—

तस्मात्वत्तो महीमीषद्वृणेहं वरदर्षभ।
पदानि त्रीणि दैत्येन्द्र सम्मितानि पदा मम॥

यहां 'त्रीणि पदानि' छल ही है। यहां सब के सब पद छल मात्र हैं। इसका विशेष विवेचन करने से ग्रन्थ का विस्तार बहुत हो जाता है। इसलिये विवरणाध्यायस्थ श्लोक के पदों का विवेचन किया है। यदि कोई कहे कि यहां पद शब्द से चरण नहीं, पर नाप 'पेंडे' समझना चाहिये। ऐसी अवस्था में त्रिपद का ३ पेंडे अर्थ हो जाने से तात्विक कथन है, छल नहीं। तो कहते हैं कि— 'मानंहि' इत्यादि नाप विलस्त या हाथ होता है। यह नाप नापने की वस्तु को भरकर नापा जाय तभी नाप कहा जाएगा। नाप कहीं रहे और वस्तु कहीं की कहीं रह जाय तब नाप, नाप नहीं रहता। वामन भगवान् का दो तीन अंगुल का चरण तो कहीं और त्रिलोकी कहीं? यह नाप (पेंड) कैसा? यदि कोई कहे कि नापते समय जो चरण निकाला उससे तो त्रिलोकी का नाप बराबर ही हुआ छल कहां रहा? तो कहते हैं कि—'चरणस्तु' इत्यादि जो चरण पीछे निकला वह तो मान हो ही नहीं सकता। प्रत्यक्ष में तो ८० के तौल से वस्तु ठहरावे और नापते समय २०० तोला का सेर उठा लावे और नाप ले तो क्या वह नाप कहा जाएगा? कभी नहीं। स्थिति स्थान से कहीं का कहीं निकाल दिया, चरण अपने निष्कासन धर्म से ही मान स्वभाव का विरोधी है। और वामन चरण तो कहीं रह गया और नापने की वस्तु कहीं बढ़ गई। नाप ही कहां हुआ? 'समितानि पदा मम' यह भी छल रहा इसलिए मान हो ही नहीं सकता। और इस तरह से लेने के लिए न तो बुद्धि पूर्वक भगवान् ने कहा और न बलिराजा ने देना स्वीकार ही किया था। यह तो जो कुछ किया सब छल ही हुआ 'त्रिपदच्छलेन' भ्रम दिलाना ही इन पदों के हेतु था। तात्पर्य तो अन्यत्र ही था। दैत्य होने से तत्पूज्य देवता माया को शामिल रखकर कार्य किया तो दैत्य स्वभाव के हृदयों में जो छल का आभास हुआ उसी का यहां अनुवाद है। 'छलेन' वास्तव में तो पाताल ही भगवान् का पाद है। उस मेरे चरण के बराबर मेरे तीन चरणों से नपे स्थान मानसाचल पर्यन्त की पृथ्वी रसातल और नाक पृष्ठ मुझे चाहिये सो मैं तुमसे मांगता हूं, यह तात्पर्य है। ऐसी अवस्था में वामन भगवान् ने अपने दो चरणों से अन्य तीसरा चरण निकाला और उसके बराबर स्थान ले

लिया। 'त्रिपदच्छलेन' छल तो भ्रामक पदों में और समझने वालों के ज्ञानार्थ ही रहा। भगवदाशय में नहीं। भ्रामक पदों के कारण राजा बलि ने भी विष्णु का संदेह रहने पर भी वाक्यार्थ का आशय न समझ पाया। इसी कारण से वामन का भूमिवाचन छल प्रसिद्ध हुआ। यहां यह विचार हो सकता है कि भगवान् ने अपने वाक्य का स्पष्ट अर्थ बलि को क्यों न जता दिया। इतना क्लिष्ट क्यों किया? इसके उत्तर में कहते हैं कि— 'मायेत्यसुरा:' इत्यादि दैत्यों के लिए भगवान् की प्रतीति माया रूप से ही होती है, इसलिये भगवान् ने सत्य कहा तथापि उन्हें छल का ही बोध हुआ और उसी का अनुवाद ब्रह्मा ने भी किया।

इस तरह भगवान् से भी भगवान् के गुण बड़े हैं अब जो कुछ उनमें दोष भी प्रतीत होते हों तो उनका निराकरण करते हैं। 'याञ्चाकते' इत्यादि। प्रभु का भीख मांगना लोक में दोष समझते हैं, पर यह भी भ्रम ही है। जो मनुष्य अपने मार्ग पर चल रहा है उसे वहां हटाना प्रभु के भी सांख्ययोग नहीं, सिवाय इसके कि उसी से याचना करें। मांगना दो तरह का होता है सेवक कृत और स्वामी कृत। इसमें सेवक कृत याचना दोष है। क्योंकि उससे भक्त को संसार की प्राप्ति होती है और भगवान् को याचना से ऐसे दोष की संभावना ही नहीं है। यह याचन प्रभुकृत है, अतएव निर्दोष है। कदाचित् कोई कहे कि दूसरे की वस्तु को मुफ्त मांगना ही दोष है तो इस आशय से भी भगवान् की यह याचना निर्दोष है। वास्तव में देखा जाय तो नीति मार्ग भी यही है कि जो अपनी वस्तु किसी के पास रख दी हो तो समय पर उससे मांग ले। भगवान् ने थोड़ी देर के लिए पृथ्वी को असुरों के पास रख दी थी समय पर ले ली। 'यावदासीन: परायस्यति तावद्देवानाम्' इस श्रुति से थोड़ी ही पृथ्वी देवों की है बाकी सब ही पृथ्वी दैत्यों की है। भगवान् ने उनके पास रखी थी। वास्तव में इस बात को असुरों ने स्वीकार नहीं किया था। इतना मात्र उनका दोष था। जब भगवदीय तत्व का स्वीकार नहीं किया तब ही भगवान् ने पृथ्वी जबरदस्ती ग्रहण कर ली। "पथिचरन्नचाल्य:" भगवान् ने राजा के पास पृथ्वी रख दी थी अतएव वह उसका उपभोग करे तो वह मार्ग पर चल रहा है यह कहा जा सकता है, अतएव 'न चाल्य:' स्थान से निकालने योग्य नहीं है। किन्तु मांगने पर भी स्वीकार न करे और अपनापन स्वीकार करके उसको देना दान समझे तब तो उसे निकालना ही ठीक है। क्योंकि उसने भगवत्स्वामित्व का स्वीकार नहीं किया। बलि ने ऐसा किया। दैत्य लोग पृथ्वी पर पैदा हुये, अतएव पृथ्वी को अपना माल समझते थे अपना स्वामित्व प्रकट करते थे। यदि भगवान् बांधते नहीं तो फिर कभी अपना स्वामित्व दिखता ही, करता ही। और इससे उसे संसारित्व होता यह भगवान् को सत्य नहीं था, अतएव बन्धन किया। अक्लिष्ट कर्मा भगवान् है। इसलिये भक्तों को आध्यात्मिक दु:खादि देना नहीं चाहते। आधिभौतिक दु:ख लोकापहरण बन्धन आदि तो शुद्धि है। वह तो कर्त्तव्य ही है। इस पृथ्वी याचन में ही छल है। याचन त्रिपद का था, उसमें एक आशंका ग्रहण अन्य का त्याजन किया। पर याचन तो तीनों अंशों का किया था। अतएव छल है। त्रिलोकी में तीनों अंश सम्मिलित ही रहते हैं, इसलिये तीनों का सहयाचन था। और वह तीनों लोकों का स्वामित्व चाहता था, इसलिये तीनों लोकों का याचन किया था पर एक पृथ्वी रसा का ही ग्रहण करा कर दो का (स्वर्ग अन्तरिक्ष का) त्याग कराया। यहां यह विचार होता है, कि 'नैन: प्राप्नोतिवैविद्वान् यावदर्थं परिग्रह:' इस भगवान् के वचन के अनुसार ही अपेक्षित वस्तु का ही याचन क्यो न किया

इस तरह का छल क्यों किया? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'अन्यथा शेषा' इत्यादि। यदि एक पद की याचना करते तो बाकी रहे अंशों में आज्ञा है बलि समझ लेता और भगवत्पदार्थ में अपना स्वामित्व समझता। यह कुधीत्व है। कहा है कि 'क्रीडार्थमात्मन इदं जगत् कृतं ते सम्यतु तत्र कुधियोऽपर ईश कुर्यु:'। हे भगवन्! अपनी क्रीड़ा करने के लिये आपने इस त्रिलोकी का निर्माण किया है। स्वामित्व आपका है। पर कितने ही इस त्रिलोकी पर अपना स्वामित्व समझते हैं। अपना मालिकपना करते हैं। वे भ्रष्ट बुद्धि होते हैं। अपने भक्त की बुद्धि भ्रष्ट हो जाय यह भगवान् सहन नहीं कर सकते, इसलिये भगवान् को छल करना पड़ा। और ऐसा न करते तो क्रियाद्वय करनी पड़ती इसके स्वाम्य को दूर करने के लिए यत्न करते हों फिर याचन हो करना पड़ता। इसलिये उस पर कृपा होने से, क्रिया का सौन्दर्य होने से, इसके धैर्य की परीक्षा कर्त्तव्य होने से, और राजा बलि का सख्य चिरस्थाई करने के हेतु से भगवान् ने छल द्वारा भूमि-याचन किया। इस तरह मेखलावतार वामनजी के द्वारा भूमि का ग्रहण उचित ही है ॥ १७ ॥

आभास—ननु भगवान् भक्तिमार्गविरुद्धं कथं कृतवान्। गुणा हि भक्तिजनकाः भक्तैरेव ग्राह्या आदरणीयाश्च। न च भगवान् भक्तिविरुद्धमपि करोतीति शास्त्रार्थो भवति। तस्मादस्य चरित्रस्य गुणत्वेऽपि न प्रकृतोपयोगिगुणत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—

आभासार्थ—अब यहां यह आशंका होती है कि भगवान् ही भक्तिमार्ग से विरुद्ध चरित्र क्यों किया? भक्त का बन्धन करना भक्ति मार्ग से विरुद्ध है। भगवान् के गुण, किंवा भगवान् से उत्पादित प्राकृत गुण भी भक्त के हृदय में भक्ति पैदा करने वाले होते हैं। अतएव भक्त लोग उनका ग्रहण करते हैं और आदर करते हैं। भगवान् भक्ति से विरुद्ध चरित्र भी करते हैं ऐसा सांख्य का भी तात्पर्य कहीं देखा नहीं, फिर भगवान् ने भक्ति विरोधी कार्य क्यों किया? इसलिये यद्यपि यह गुण चरित्र है तथापि इस प्रसंग के उपयोगी नहीं होता इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि—

श्लोक—नाऽर्थो बलेरयमुरुक्रमपादशौच
मम्भः शिखाधृतवतो विबुधाधिपत्यम्।
यो वै प्रतिश्रुतमृते न चिकीर्षदन्य
दात्मानमङ्ग शिरसा हरयेऽभिमेने ॥ १८ ॥

श्लोकार्थ—जिस राजा बलि ने वामन भगवान् के चरण प्रक्षालन जल को अपने मस्तक पर धारण किया उसके लिये देवलोकों का आधिपत्य अभीष्ट पुरुषार्थ नहीं था। कारण कि उसे तो दान की प्रतीक्षा पूरी करनी मात्र थी और कुछ नहीं। अतएव जब उसके पास देय कोई पदार्थ न रहा तब उसने अपना मस्तक श्री हरी के चरणों में धरकर अपना ही समर्पण कर दिया ॥१८॥

सुबोधिनी—नार्थो बलेरयमिति । भक्तिविरोधस्तदाऽऽपतति यदि भक्त्यनभिप्रेतः स्यात्। नहि मेखलया कटिबन्धनं कटिस्थानस्याऽनभिप्रेतं भवति। नहि भक्तस्य धनं भगवतोपभुज्यमानं तस्य दुःखाय भवति। तदीयस्य सर्वस्याऽपि तदर्थत्वात्। लोकप्रतीत्या तु यो विरोधः स गुण एव। भक्तैश्चेद्विरोधो मतः स्यात्तदापि परिहरणीयः। अभिमानवतामपि भक्तानामनभिप्रेतत्याजनं सुखकरमेव। तदाह। अस्य भक्तस्य बलेर्भगवत्पूजारूपस्य विबुधाधिपत्यम् अर्थः फलं पुरुषार्थो वा न भवति। पूजा ह्यसंबद्धा न भगवत्प्रीति जनयतीति दैत्यानां सम्बन्धनिराकरणार्थं मन्त्रैस्तत्परिच्छेदकरणं युक्तमेव। अयं च लोकत्रयात्मको विषयो बलेर्नाऽर्थः। तर्हि कथं पूर्वं तेन गृहीतमित्याशङ्क्याऽऽह—**उरुक्रमपादशौचमिति**। स हि भगवच्चरणारविन्दे समर्पणार्थं पूर्वं गृहीत्वान्। अधुना चरणप्रक्षालनं कृत्वा तत्तस्मिन्निवेद्य तच्चरणारविन्दोदकं शिखायां धृतवतो भगवदीयत्वं प्राप्तस्तादृशशरीरप्राप्तियोग्यतां वा प्राप्तः। कक्षात्रयमुपरिगतस्तादृशस्य प्रथमकक्षा न पुरुषार्थाय। न हि भगवता बलादयं कक्षात्रये नीतः। नह्ययं प्रत्याक्रमणेच्छुः। भगवांस्तु बलिस्थाने स्थितः श्रुत्यर्थपरिपालनाय। **"स वै विष्णुक्रमान्क्रमेत य इमान् लोकान् भ्रातृव्यस्य संविज्य पुनरिमं लोकं प्रत्यवरोहेदि"** ति श्रुतेः। **"ये यथा मां प्रपद्यन्तः"** इति वाक्यात्। दानस्य साफल्याच्च। अनन्तगुणं हि पात्रे दत्तं भवति। अतोऽनन्तब्रह्माण्डाधारो भगवांस्तस्य सिद्धः। अतः पूर्वस्वीकृतत्रैलोक्यं नार्थः। किञ्च। पूर्वं महादेवाय त्रैलोक्यं दत्तं भगवतैव। पश्चाच्चरणोदकं मस्तके स्थापयित्वा ऐश्वर्यादौ विरक्तः सन् पुनश्चरणमेव ध्यायति। अयं च तथा। उरुक्रमस्यैव पादशौचं। चरणारविन्दोदकं महादेवस्याऽस्याऽपि तुल्यम्। विबुधाधिपत्यं चाऽस्य नाऽर्थो यथा महादेवस्य। दास्यार्थं ह्येवं कृतवानिति ज्ञापनार्थं चरणारविन्दोदकधारणमेव हेतुत्वेनोक्तम्। नतु दानादि। अन्यशेषत्वात्। किञ्च। **यो वै प्रतिश्रुतमृते न चिकीर्षदन्यदिति**। यस्तु स्वसङ्कल्पनिर्वाहार्थं बहुविचारितवान् पश्चात्तृतीयपादार्थं स्वशिरो दत्तवान्। न ह्येतादृशः पूर्वदत्तं कामयते। भगवतस्त्वेवं करणं दैत्यत्वत्याजनार्थम्। देवेषु सत्यं दैत्यषु चाऽनृतं प्रतिष्ठितम्। तदशक्यमपि प्रतिश्रुतमनेन सत्यं चेत्कृतं तदा सत्ये प्रतिष्ठितो भगवद्धर्ममेव प्राप्तवान्। **अन्यदिति** रूपभेदोऽपि निवारितः। आत्मानं देहम्। **अङ्गेति** स्नेहसम्बोधनं तस्मिन्भगवतः स्नेहसूचनार्थम्। **शिरसेति** प्रधानेन सहाऽऽत्मसमर्पणं ब्रह्मज्ञानेन सहितं कृतमिति सूचितं भवति। अयमात्मानं शिरसा सह हरये अभितो मेने। अनेन शरीरेण भगवत एव कार्यं न वा मम नान्येषामित्यभिशब्दार्थः। यथा हि तस्य मनोरथस्तथैव च सिद्धिः। यथा भगवते दत्तं वस्तु तदर्थं बध्वा स्थाप्यते तथा बलिः स्थापित इति न भक्तिविरोधः। अत एव तेषां गुणत्वात्तस्य महती भक्तिर्जाता। अन्यथा मात्सर्यादिकमुत्पद्येत। जयविजयवत्। तस्मादेतेषां गुणत्वाद्वामनो मेखला। तेन च विभूषितत्वं सर्वत्र भक्तावुपयोगात्। माहात्म्यज्ञाने स्नेहे च फले चेति ॥१८॥

व्याख्यार्थ—भक्ति का विरोध तब कहा जा सकता है, कि यह भगवान् का चरित्र यदि भक्त को अनभीष्ट (नापसदे) होता। बलिराजा यदि इस चरित्र से दुःखी या क्रुद्ध होता तब तो इसको भक्ति विरुद्ध कह सकते थे। सो कुछ है नहीं। मूल दृष्टि से देखें तो भी अनभिप्रेत नहीं। कटि स्थान को मेखला से बंधना बुरा नहीं मालूम देता। लौकिक दृष्टि से देखें तो भी भक्त के धन का

भगवान् उपभोग करे । इसमें भक्त को दुःख नहीं, प्रत्युत सुख ही होता है । भगवान् स्वामी है, अतएव भक्त का सर्वस्व ही भगवान् का सर्वस्व है । लोक में प्रेमी का धन प्रेमी भोगे यह विरुद्ध रहते भी गुण ही माना गया है । पिता का धन पुत्र भोगता ही है । इत्यादि अब यदि भक्त लोग इसे विरोध माने तो भी यह गुण ही रहेगा । इस विरोध का परिहार करना ही होगा । बेसमझी से यदि भक्त लोग किसी विषय में प्रीति या अभिमान रखते भी हों तो भगवान् का कर्त्तव्य है कि उस सांसारिक विषय का उससे परित्याग करावें । इससे उसको परिणाम में सुख होता है । यही बात यहां कही है । पर बलिराजा भगवद्भक्त है किंवा बलि हैं । स्वयं भगवत्पूजारूप है तो इसका प्रयोजन या फलरूप पुरुषार्थ देवलोकों का आधिपत्य नहीं हो सकता । क्योंकि भक्तलोग लौकिक मनोरथों को पुरुषार्थ ही नहीं मानते । और अलौकिक में तो देवेन्द्रादिपद अभिमानजनक होने से हानिकारक है । अतएव वह भक्त लोगों का अर्थ नहीं हो सकता । स्वार्थसहित पूजा या भक्ति असम्बद्ध हो जाती है । ऐसी पूजा का सम्बन्ध भगवान् के साथ नहीं रहता, असुरों के साथ हो जाता है । अतएव वह भगवान् को प्रसन्न नहीं करती । दैत्यों के साथ भगवत्पूजा सम्बन्ध हटाने के लिए ही भगवान् ने पहले अदिति के साथ सलाह कर ली थी ।

सर्वं संपद्यते देवि देवगुह्यं सुसंवृतम् ।। २० ।।

'स्वांशेन पुत्रत्व मुपेत्य ते सुतान गोप्तास्मि' इत्यादि से और वहां भी बलि से भी आसुर सम्पत्ति के परिच्छेद की गुप्त सलाह कर ली थी—

"पुंसोऽयं संसृते हेतु रसंतोषोर्थकामयोः ।
एतावतैव सिद्धोहं वित्तं यावत्प्रयोजनम् ।

इत्यादि वचनों से यह लोकत्रय का स्वामित्व रूप विषय बलि का प्रयोजन नहीं था । वह तो भगवान् के निकट अति उच्च स्थान पर पहुँच चुका था । तो फिर पहले उसने उसका स्वीकार क्यों किया था ? इसके उत्तर में कहते हैं 'उरुक्रम' इत्यादि । वह तो भगवत्कृत अनुग्रह का स्वीकार मात्र था । भगवान् जो अनुग्रह करेंगे उस समय समर्पण कुछ चाहिये इसलिये भगवच्चरण कमल में समर्पण के लिए भगवद्दत्त देवाधिपत्य का उसने स्वीकार कर लिया था । अब जब भगवान् पधारे तब उनके चरणारविंद का प्रक्षालन करके इस विबुधाधिपत्य को भेंट में धर कर उसने भगवच्चरणारविंद-प्रक्षालन जल को अपनी शिखा पर धर लिया । अतएव भगवदीयत्व को प्राप्त हो गया, अथवा भगवदीय शरीर (अक्षरमय) होने की योग्यता को प्राप्त हो गया । त्रिलोकी को कक्षाओं से ऊपर पहुँच गया । ऐसे के लिये नीचे की कक्षा पुरुषार्थ रूप कैसे हो सकती है ? कभी नहीं ।

यदि कोई कहे कि तो फिर ऐसे भक्त को सुतल में क्यों रखा और आगे जाकर इन्द्र पद देने का वर क्यों दिया और इन्द्र क्यों बनाया ? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'नहि भगवता' इत्यादि । यदि यह ऊपर की कक्षाओं के अयोग्य होता, उत्तमाधिकारी न होता तो भगवान् कृपा के द्वारा इसे कक्षात्रय में न ले जाते, और यदि वह वर का बदला लेना चाहता होता तो 'नूनं बतायं भगवानर्थेषु न निष्णातो यो साविन्द्र' इत्यादि वाक्यों में भगवद्दास बलि की प्रशंसा न कही जाती । इसलिये स्पष्ट होता है कि भगवान् ने उसकी स्वरूप योग्यता दिखाने के लिए सुतल स्वर्ग और इन्द्र पद

दोनों अपने अनुग्रह रूप से ही दिये थे। न कि उसकी कृति के फल में। यदि कोई कहे कि भगवान् उसे जबरदस्ती सुतल में न ले गये थे तो फिर आप उस जगह पहरा देते क्यों रहे ? उसके उत्तर में कहते हैं कि 'भगवांस्तु' इत्यादि। भगवान् जो बलिस्थान सुतल में रहे सो तो श्रुत्युक्त अपनी प्रतिज्ञा के परिपालन के लिए। श्रुति में कहा है, 'स वै विष्णुक्रमान् क्रमेत् य इमान् लोकान् भ्रातृव्यस्य सभिवत्य पुनरिमं लोकं प्रत्यवरोहेत्' इति। गीता में भगवान् ने भी आज्ञा की है। कि 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तां स्तथैव भजाम्यहम्' जैसे राजा बलि भगवान् के अधीन हो गया वैसे भगवान् भी उसके अधीन होकर सुतल में उसके पास रहने लगे। दान की सफलता के लिये भी। पात्र को दिया हुआ दान (समर्पण)अनन्तगुना फल देता है यह शास्त्र कहता है। राजा बलि ने निर्दोषपूर्ण गुण भगवान् सदृश पात्र को अपना सर्वस्व दे दिया उसका यह फल हुआ कि अनन्त ब्राह्मणों के आधार भगवान् ही उसके हस्तगत हो गये। यह समर्पण की वास्तव सफलता हुई। अतएव कहना पड़ता है कि पूर्व स्वीकृत त्रैलोक्य का आधिपत्य बलि का अभीष्ट पुरुषार्थ नहीं था, पर भगवत्प्रसाद था। पहले श्री महादेव को भी त्रैलोक्य दिया पर पीछे जब उन्होंने भगवच्चरणार-विंद प्रक्षालन जल (श्री गंगा) को मस्तक पर धारण किया तब ऐश्वर्यादि लौकिक पुरुषार्थों पर उन्हें विरक्ति हो गई, अतएव आज तक वे चरणों का ध्यान करते रहते हैं। यही बात बलिराजा में हुई जो चरणोदक महादेव के वही चरणोदक राजा बलि के मस्तक पर रहा। श्री महादेव की तरह राजा बलि ने भी विबुधाधिपत्य को पुरुषार्थ नहीं समझा केवल दास्य ग्रहणार्थ ही ऐसा किया। अतएव मूल श्लोक में दान को नहीं पर चरणोदक धारण को ही हेतु कहा "उरुक्रम पाद-शौचं अम्भः शिखांधृतवत:' ये हेतु गर्भ विशेषण है, क्योंकि दानादि आपातत: अन्य शेष हो रहा था पर चरणोदक धारण साक्षात्पुरुषोत्तम शेष हुआ। एक और भी हेतु देते हैं 'यो वै प्रति' इत्यादि। पहले बलिराजा ने तीसरा पेंड देने के लिए खूब सोचा जब प्रतिज्ञा पूरी करने के लिए कोई वस्तु ठीक न लगी तब अपना मस्तक चरणों में धर दिया। ऐसा भक्त पूर्वदत्त त्रैलोक्य की चाहना क्यों करेगा ? भगवान् ने जो पहले त्रैलोक्य देकर पीछे से ले लिया वह उसके दैत्य स्वभाव को हटाने के लिए। देवों के हृदय में सत्य की ही प्रतिष्ठा होती है और दैत्यों के हृदय में अनृत (झूठ पदार्थ) की। त्रैलोक्यादि अनृत है। इसकी परीक्षा के लिये ही पहले भगवान् ने उसे वह दिया पर उसको वह पसंद न आया। तब उसका त्याग कर भगवान् का ग्रहण किया। अशक्य प्रतिज्ञा की भी पूर्ति करके सत्य पर प्रतिष्ठित हुआ। भगवद्धर्म को प्राप्त हुआ। 'अन्यत्' शब्द से रूपभेद का भी निवा-रण कर दिया है। न दाता का और न ग्रहीता का रूपभेद होने पाया। एक ही रूप में सब कार्य हो गया। आत्मा शब्द से यहां देह समझना। ब्रह्माजी ने नारद को 'अङ्ग' सम्बोधन देकर स्नेह दिखाया है, इसलिये यह शब्द यहां भी ध्वनि के द्वारा बलि पर भगवान् के स्नेह होने की सूचना करता है। 'शिरसा' शब्द कह रहा है कि प्रधान वस्तु को साथ लेकर आत्म समर्पण किया। शिर ब्रह्मज्ञान है। अर्थात् दानरूप कर्म ब्रह्मज्ञान सहित किया यह सूचना भी होती है।'अभिमेने' अभित: सब तरफ से। इस शरीर से अब तो न अपना कार्य कहना हैं, और न किसी और का, अब तो केवल भगवत्सम्बन्धी कार्य ही करने हैं, यह अभि उपसर्ग का अर्थ है। जैसा इस बलि का मनोरथ था वैसी ही सिद्धि हुई। भगवदर्थ भगवान् को उसने अपना देह समर्पण किया तो भगवान् ने भी इसे बांधकर अपने पास रख लिया, जैसे कोई किसी की दी वस्तु को गांठ बांधकर अपने पास धर लेता है। इसी तरह बलि को भगवान् ने अपने पास धर लिया, इसमें भक्तिमार्ग का विरोध लेश

मात्र भी नहीं है, प्रत्युत यह गुणचरित्र ही रहा। अतएव राजा की भी भगवान् में पूरी भक्ति हुई। यदि भक्तिविरुद्ध यह चरित्र होता तो राजा को मात्सर्य आदि दोष होते। जैसे जय विजय को हुये थे। इसलिये अनेक गुण सम्बद्ध होने से वामनजी मेखलावतार हैं। गुण विभूषित होने से ही इस चरित्र का भक्ति, माहात्मज्ञान, और फल में भी दृष्टान्त रूप से उपयोग होता है ॥ १८ ॥

आभास—अंगुलीयकैर्विभूषितत्वमाह—

आभासार्थ—मेखला विभूषित का निरूपण करके अब अंगुलीय के विभूषितत्व का निरूपण करते हैं—

श्लोक—तुभ्यं च नारद भृशं भगवान् प्रवृद्ध
भावेन साधुपरितुष्ट उवाच योगम्।
ज्ञानं च भागवतमात्मसतत्त्वदीपं
यद्वासुदेवशरणा विदुरञ्जसैव ॥ १९ ॥

श्लोकार्थ—हे नारद ! तुम्हारे बढ़े हुये प्रेम से पूर्ण प्रसन्न होकर भगवान् ने योग का प्रवचन किया था। इतना ही नहीं किन्तु ब्रह्मात्मक का ज्ञान सहित श्री पुरुषोत्तम स्वरूप माहात्म्य ज्ञान भी कहा था। जिस ज्ञान को वासुदेव चरणों के केवल शरण जाने वाले सहज में ही प्राप्त कर लेते हैं। १९॥

सुबोधिनी—तुभ्यं च नारदेति। अंगुलीयकानि दश विंशतिर्वा भवन्ति। तावन्ति हि भगवद्रूपाणि यावन्ति नारदेन दृष्टानि। अन्यैरपि। नारदं प्रति भगवदवतारा "**दर्शनं यान्ति चेतसी**" ति वाक्यादनन्ता एव। अंगुलयश्चतुर्भुजे विंशतिर्भवन्ति। अनन्तभुजत्वेऽनन्ताः। नारदेन तत्सदृशैरन्यैश्च परिदृश्यमाना हि मूर्त्तयो भगवतोऽनन्ताः। अत एव तुभ्यं चेति चकारः। तेषामंगुलीयकत्वमवयवान्तोपयोगात्। ते हि भक्ताः संसारान्ते भवन्ति। अनेन सर्वात्मकस्य भगवतो भक्ता अंगुलय इति निरूपितम्। ते हि सर्वशरीरोपकारिणः सर्वक्रियाहेतवः। महाधनैरिति विशेषणात्तेषु बहुधनमस्तीति ज्ञापितम्। तानि धनान्यग्रे वक्ष्यामः। तुभ्यं नारदाय। त्वदुपयोगार्थं चकारादन्योपयोगार्थं च योगमुवाचेति सम्बन्धः। तत्र साधुपरितुष्ट इति हेतुः। तस्य योगस्य मूल्यरूपत्वात्। नहि केनाऽप्यंशेनाऽपरितुष्टः स्वमूल्यं वदति। चतस्रो ह्यङ्गुलय एकश्चाऽङ्गुष्ठः स च समावद्वीर्यो (?) भवति ताभिः। सा हि भक्तिरंगुष्ठमूल्यं भवति। तेन परितुष्टो वा भगवान्। योगो ज्ञानं परिचर्या शारीरज्ञानं चाऽङ्गुलीस्थानीयाः। चतुर्भिरपि भक्तहितो भगवान् प्राप्यते भक्त्या च। तदाह। भृशमत्यर्थम्। प्रवृद्धभावेन निरन्तरश्रवणादिना तत्तन्मार्गे उत्पन्ना प्रीतिः सर्वं हृदयं पूर्णं विधाय यदोच्छलिता भवति। यथा बहिः स्पष्टतया प्रेमाऽनुभूयते स प्रवृद्धो भावः। तेनैव भगवान् परितुष्यति। गुणानां भगवतश्चाऽवगाहनयोग्यत्वात्। अत एव साधुपरितुष्टः। परितोषानन्तरमपि भक्तिपूरस्य विद्यमानत्वात्परितोषस्य

साधुत्वन् अपरितोषासहभाव: स्वनित्यता च । परितस्त्वं तु तदीयानामप्युद्धारकत्वेन । तदा हि योगमाह । तथोपायमुक्तवान् येनोपायेन भगवान् दृश्यत एव । बहिर्दर्शने भक्तिरेव हेतु: । अन्तर्दर्शने योग: । विद्यमानस्य दर्शने द्वयं भगवतो ज्ञानं जीवानामात्मतत्त्वप्रदर्शनं च । चकाराद्-ब्रह्मज्ञानं च । ब्रह्मस्वरूपज्ञानं ब्रह्ममीमांसायां निरूपितम् । निर्धर्मक: सर्वधर्मादिरूपेण स्वयमेवाऽऽविर्भवतीति । भागवतं पुरुषोत्तमज्ञानम् । आत्मनो जीवस्य तत्त्वं शुद्धचैतन्यरूपम् । तत्-प्रकाशो वृत्तिफलनेन स्वतो वा आविर्भावेन । तज्ज्ञानं दीपस्तेन सहितं आत्मसतत्त्वदीपम् । ब्रह्मात्मत्वज्ञानं वा । चकारात्क्रियायोग: । तस्य फलं भक्तिरित्यग्रे वक्ष्यते । ननु योगयज्ञज्ञानादीनां पूर्वमेव सिद्धत्वाद्बहुभिश्च प्रकाशितत्वात्त-दर्थं किं भगवदवतारेणेत्यत आह—**यद्वासुदेव-शरणा इति** । यस्मान्नारदार्थं प्रोक्तपञ्चरात्रादे:। वासुदेवशरणा: मोक्षदातु: सत्त्वाधिष्ठात्रीदेवता-रूपस्य शरणगमनमात्रेणैव तपआदीनामभावेऽपि। अञ्जसा सामस्त्येनैव सुगममार्गेणैव विदुर्ज्ञानि-वन्त: । आश्रयमात्रेणैव सुगमतया परिज्ञानं पुन: कथने हेतु:। अथवा भगवद्भक्ता भगवत्परा: कर्म वा योगं वा ज्ञानानि वा न मन्यन्त एवेति तदर्थं भगवतैतान्युक्तानि । अत: परं भगवदुक्ता-नीति परमश्रद्धया तेषु प्रवर्त्तन्ते मार्गगताश्च भवन्ति कृतार्थाश्च । अन्यथा उत्पथा उन्मादाश्च भवेयु: । भक्तेर्मादकत्वात् । एतदर्थं भगवान् भक्तिसाधकान्युक्तवानित्यर्थ: ।:१६।।

व्याख्यार्थ—भगवान् के अवतार अनन्त हैं । इनका दर्शन अनेक ऋषि महर्षियों ने और भक्तों ने प्रेम के द्वारा किये हैं । उनमें चतुर्भुज भगवान् द्वितीयध्यानोक्त समष्टि अन्तर्यामी की अंगुली भूषणों के अवतार दश किंवा बीस हैं, जिनका नारद ने दर्शन किया है । नारदजी के ब्रह्म-पुत्र होने के बाद जब जब उनके हृदय में दर्शन् करने का प्रेमोद्रेक होता था तब तब भगवान् उनको हृदय में ही दर्शन अनेक बार देते थे । ये आन्तर अवतार अनन्त हैं । 'दर्शनं यान्ति चेतसि' ऐसा वाक्य है । बाह्य और आन्तर दोनों तरह से भगवदवतार का दर्शन होता है । नारद को जिनका दर्शन हुआ है, वे अवतार यद्यपि अनन्त हैं, तथापि जिन्होंने बाहिर प्रकट होकर दर्शन दिया और उपदेश भी किया वे दस या बीस हैं । द्विभुज मानने पर दश, चतुर्भुज मानने पर बीस और अनन्तभुज मानने पर अनन्त भी अंगुलि भूषण हो सकते हैं । इनका दर्शन नारद ने भी किया और अन्य भक्तों ने भी किया, अतएव 'तुभ्यं च' पद में चकार दिया है । अंगुलियों के अवतार भगवद्भक्तरूप होते हैं । अंगुली अवयव के अन्त में रहकर कार्य करती है । ऐसे भक्त संसार के अंत में होते हैं अर्थात् संसार का (अहंता ममतारूप का) अन्त करना होता है, तब ये भक्तरूप अवतार प्रकाशित होते हैं । इससे यह कहना है कि सर्वरूपी भगवान् के भक्त ही उनकी अंगुलियां हैं । ऐसे अंगुलीरूप होने से ही ये सर्वशरीरोपकारी और सब तरह की क्रियाओं के हेतु होते हैं । द्वितीय ध्यान में 'अंगुलीयकै:' का 'महाधनै' विशेषण कहा है । इसका तात्पर्य यह है उन अंगुलियो के पास बहुत से धन हैं । इन धनों का निरूपण इसी श्लोक में आगे किया है ।

'तुभ्यं' का अर्थ है कि हे नारद! तुम्हारे उपयोग में आने के लिये और 'च' का अर्थ है कि अन्य पुरुषों के उपयोग में आने के लिये भी योग कहा । कहने में हेतु 'साधु परितुष्ट: है । अच्छी तरह प्रसन्न हो जाने से । भगवान् का साधु परितोष ही योग कथन का मूल्य है । थोड़े अंश में भी अपरितुष्ट भगवान् अपना मूल्य नहीं कहता । भगवान् की प्राप्ति का उपाय ही भगवान् का मूल्य है । यही धन है । ये उपाय चार हैं योग, भगवन्माहात्म्यज्ञान, परिचर्या और जीवात्मा की समझ ।

एक हाथ में चार अंगुली और अंगूठा रहता है। अंगुष्ठ भी अंगुलियों के साथ मिलकर उनके समान बल वाला हो जाता है। भक्ति भगवान् का मुख्य मूल्य है। मुख्य अवतार अंगुष्ठ स्थानीय है। प्रेम से परितुष्ट भगवान् अंगुष्ठ स्थानीय मुख्य अवतार है। उसका स्पष्ट नाम यहां नहीं दिया है, क्योंकि तत्सहित अंगुलियों के सम्मिलित अवतार यहां कहते हैं। मुख्य उपदेष्टु अवतार और भक्तरूप अवतार सबको एकत्र करके यहां कहे हैं। योगादि उक्त साधनों से परितुष्ट अतएव उन साधनों से दर्शन देने वाले सब ही स्वरूपों का यहां निरूपण है,अतएव किसी एक अवतार का खास कर नाम नहीं दिया है। योगज्ञान परिचर्या और जीवत्मज्ञान ये चार अंगुलो स्थानीय है। और भक्ति अंगुष्ठ स्थानीय है। भक्ति प्रचारार्थ ही भगवान् इन चारों साधनों से प्राप्त हो सकते हैं। यहां साधनों के अवतार कहे हैं, क्योंकि ये अंगुली आदि सर्वशरीर के उपकार करने वाले हैं। इसमें प्रेमभक्ति मुख्य है, अतएव वह अंगुष्ठ स्थानीय मुख्य अवतार है। इस प्रेमभक्ति से भी भगवान् की प्राप्ति होती है। इसी बात को श्लोक में कहते हैं 'भृशं' इत्यादि। भगवन्माहात्म्य और सपरिकर भगवान् का सतत श्रवण करने से उन उन भक्ति मार्गों में जब प्रीति उत्पन्न होकर सारे हृदय को भर देती है और वहां भी उभरने लगती है, अर्थात् इस तरह बाहर आती है कि लोगों को भी उसका स्पष्ट अनुभव होने लगता है. इसे प्रवृद्ध भाव कहते है। इस अतिशय बढ़े हुये भाव से ही भगवान् प्रसन्न होते हैं। प्रेम प्रवाह में आ जाने से भगवान् के गुण और भगवान् का पूरा पूरा अवगाहन हो सकता है। इसी से परितोष में साधुता (अच्छापन) कही है। भगवत्प्रसाद भक्ति का फल है। फल हो जाने पर कहीं कहीं साधन नहीं भी रहता पर यहां भगवत्परितोष के अनन्तर भी भक्ति का प्रवाह विद्यमान रहता है, इसलिये पारितोष साधु हुआ। अपरितोष का सर्वथा अभाव और भक्ति पूर को नित्यता यही साधु परितोष। तोष में भी परित: सब तरह से, अर्थात् भगवान् और भगवदीय दोनों जगत् के उद्धारक हो जाय। इतना प्रसाद होने पर भी भगवान् ने अपना मूल्य योग नारद से कहा। प्रसन्न होकर ऐसा उपाय (योग) बताया कि भगवान् को दर्शन देसे ही पड़े।

यहां यह प्रश्न होता है कि भगवान् तो भक्ति से ही दर्शन देते हैं फिर यहां योग से भी दर्शन देना कैसे कहा? इसका समाधान करते हैं, कि बाहर आकर दर्शन देने में तो भक्ति ही कारण है, पर हृदय के भीतर तो योग से ही दर्शन देते हैं। विद्यमान पदार्थ के दर्शन होने लगने से दो बातें हो जाती है, भगवान् की समझ और जीवों के आत्मा का तत्व प्रदर्शन। श्लोक में जो 'च' दिया है, उसका तात्पर्य यह है कि सर्वत्र व्यापक (ब्रह्म) पदार्थ का भी ज्ञान हो जाता है। तत्व सर्वत्र व्याप्त है, और वे ब्रह्मरूप हैं। तत्व, आत्मा और भगवान् का ज्ञान ये तीनों ज्ञान एक ही ज्ञान शब्द से यहां कह दिये गये हैं। ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान 'आकश स्तल्लिगात्' इत्यादि सूत्रों के द्वारा चार अध्याय वाले ब्रह्म मीमांसा शास्त्र में कहा गया है।

इस ब्रह्म विचार शास्त्र का संक्षेप में यह कथन है कि सृष्टि के पूर्व निर्धर्मक ब्रह्म पदार्थ ही सृष्टि अवस्था में सर्वधर्म स्वरूप क्रियाओं के रूप से आप ही प्रकाशित होता है। 'भागवतं ज्ञानं' का अर्थ यहां पुरुषोत्तम का स्वरूपगुण-ज्ञान है। जोव का तत्व चैतन्य रूप है। इसका प्रकाश (समझ)अहमाकारा वृत्ति के फल में किंवा चैतन्यरूप के स्वयं प्रकट हो जाने से भी होता है। यह समझ ही दीप है। यह भगवान् का ज्ञान आत्मदीप के साथ प्रकट होता है। इसलिये इसे मूल में

'आत्मसतत्वदीपं' कहा है। अथवा ब्रह्म का आत्मा में प्रकाशित होना ही 'आत्मसतत्वदीप' का अर्थ है। 'च' से वैदिकाक्रिया योग भी लिया गया है अर्थात् भगवदवतारों ने नारद को पाञ्चरात्रोक्त क्रियायोग का भी उपदेश दिया था। इस पंचरात्रोक्त क्रियायोग साधन का फल भक्ति है, यह आगे कहेंगे।

यहां एक यह भी प्रश्न होता है कि योग यज्ञ और ज्ञान आदि तो इससे पहले भी बहुतों ने प्रकाशित कर दिये थे अतएव पूर्व सिद्ध थे। उनके कहने के लिये भगवान् को अवतार लेने की क्या आवश्यकता हुई ? इसका उत्तर देते हैं कि 'यद्वासुदेव शरणाः' इत्यादि। नारद के आगे अवतारोत्म पञ्चरात्र में कहे योगादि साधनों से ही भक्तिरूप फल किंवा उक्त फल मिलते हैं। पूर्वोक्तज्ञान और भक्तिरूप फल की प्राप्ति इस पंचरात्रोक्त योगादि साधनों के द्वारा होती है, अन्य वैदिकक्रिया योगादि के द्वारा नहीं। ग्यारहवें स्कंध में कहा है कि 'भक्तियोगं सलभते एवं यः पूजयेत माम'। जो कोई इस क्रियायोग के द्वारा इस तरह मेरा पूजन करता है उसे मेरी भक्ति प्राप्त होती है। इस क्रियायोग में तप आदि सहकारी साधनों की अपेक्षा नहीं है वे न रहें तो भी सत्वाधिष्ठात्री देवता मोक्षदाता भगवान् वासुदेव के शरण जाने मात्र से सहज में ही पूर्वोक्त त्रिविध ज्ञान आदि फल मिल जाते हैं अतः 'विदुः' और 'ज्ञानं' दो बार कहने से इस मार्ग में सुगमता दिखाई है। अथवा यह भी तात्पर्य है कि भगवदेक तत्पर भक्तलोक योग, ज्ञान किंवा कर्म को भगवदवतार के आगे कुछ भी मान नहीं देते। इसलिये उनका अपने मुख से उपदेश देने के लिये भगवान् ने अवतार लिया। इसका यह फल हुआ कि भगवदुक्त होने से अब कर्म ज्ञानादि पर भी इन लोगों की श्रद्धा हो गई, उनका आचरण ये भी करने लगे, ज्ञानादि मार्ग में आने लगे और सफल भी हुये। जो भगवान् प्रकट होकर पूर्वोक्त क्रिया योगादि का उपदेश देकर उन मार्गों में इन भक्तों को न लाते हों ये लोग भक्ति की मस्ती में आकर मदान्ध हो जाते, कुमार्गगामी हो जाते क्योंकि भगवान् का प्रेम बेसुध कर देता है। इसलिये भक्त लोगों को कुमार्ग से बचाने के लिये ही भगवान् ने पूर्वोक्त भक्ति साधक योगादि साधनों का कथन किया ॥ १६ ॥

आभास—नूपुरकङ्कणादिभिर्विभूषितं निरूपयति—**चक्रं चेति**। अत्राऽऽदिशब्देन द्वादशाङ्गोपयोग्याभरणान्युच्यन्ते। तत्र पादयोर्हस्तानां च नूपुरकङ्कणादिभिर्ध्येयत्वम्। एवं कण्ठाभरणानि मुकुटादीनि च। सर्वाण्येतानि द्वादशांगविभागेन द्वादशविधानि। तानि मन्वन्तरावतारेणोच्यन्ते। यद्यपि मेखलाया वनमालायाश्चैतन्मध्य एव वचनमुचितम्। तथा सति चतुर्दशत्वं मन्वन्तरावतारसङ्ख्या चोपपद्यते। तथापि तयोर्विशेषप्रयोजनस्य विद्यमानत्वात्पृथङ् निरूपणमुक्तम्। एतेषामपि विशेषणं महाधनानीति सर्वमन्वन्तरेषु भगवान् योगादिकमुपदिशतीति सूचितम्। तदाह—

आभासार्थ—अब नूपुर कंकणादिभिः विभूषितं' इस विशेषण का अवतार कहते हैं—'चक्रं च' इस श्लोक से। इस विशेषण में जो 'आदि' शब्द दिया है उसका यह तात्पर्य है कि—केवल नूपुर और कंकण के ही अवतार नहीं पर द्वादश अंगोपयोगी सब ही भूषणों के अवतार होते हैं।

इनमें नूपुर और कंकणों के द्वारा चरण और श्री हस्त का ध्यान कर्तव्य है। इसी तरह कण्ठाभरण और मुकुट आदि के द्वारा भी ध्येयत्व है। इस तरह सब मिलकर बारह अंगों के विभागों से बारह तरह के आभूषण हैं ये सब मन्वन्तरावतार हैं। मेखला और वनमाला भूषण ही हैं। इस तरह १४ संख्या हो जाती है, उन दोनों को भी यदि इन आभूषणों के साथ ही कह देते तो अवतारों की संख्या चौदह पूरी हो जाती, तथापि जो उन दोनों का पृथक् निरूपण किया उसका यह आशय है कि वामनावतार और हरि अवतार का विशेषानुग्रह प्रयोजन था, इसलिये उनका निरूपण सामान्य विभूषणों के अवतारों के साथ नहीं किया। इन अन्य मन्वन्तरावतारों का प्रयोजन सामान्य है और वनमाला तथा मेखला के अवतार हरि और वामनजी का प्रयोजन विशेष है। सामान्य मन्वन्तरावतारों को भी 'महाधनानि' विशेषण दिया है। इसलिये यहां भी ये अवतार प्रत्येक अन्तर में योगादि साधनों का उपदेश करते हैं यह समझ रखना चाहिये। यह कहते हैं—

श्लोक—**चक्रं च दिक्ष्ववहितं दशसु स्वतेजो**
मन्वन्तरेषु मनुवंशधरो बिभर्त्ति।
दुष्टेषु राजसु दमं व्यदधात्स्वकीर्त्ति
सत्ये त्रिपृष्ठ उशतीं प्रथयंश्चरित्रै॥ २०॥

श्लोकार्थ—मनुवंश को धारण करने वाले भगवान् प्रत्येक मनु के अन्तर (समय) में दशों दिशाओं में अपने प्रताप को और ऋषिदेव इन्द्र आदि परिकर को भी सावधान होकर सम्हाले रहते हैं और भी ये भगवदवतार दुष्ट क्षत्रियों को दंड देते हुए अपने सुन्दर चरित्रों द्वारा कमनीय अपनी कीर्त्ति को सर्वत्र फैलाते हुये उसे त्रिभुवन से भी ऊपर सत्यलोक में स्थापित करते हैं॥ २०॥

सुबोधिनी—चक्रमिति। मन्वंतरेषु भगवान् स्वतेजो बिभर्त्ति पालनसामर्थ्यं बिभर्त्ति। सर्वं मन्वन्तरं साङ्गं परिपालयतीत्यर्थः। ननु मनुवंश्यानां विद्यमानत्वात्सर्वांशेन भगवत्परिपालनं किमर्थमित्याशङ्क्याह—**मनुवंशधर इति।** मनोर्वंशमयमेव बिभर्त्ति। मन्वन्तरमेकसप्ततियुगात्मकम्। तत्र कलौ सर्वेषां नाशः शूद्रादिभावात्। अतो भगवतैव परिपाल्यन्ते यथा देवापिमनू। ननु ऋष्यादीनां विद्यमानत्वात्तेषां नाशशङ्काभावात्किं भगवता तदंशकार्यं कर्त्तव्यम्? तत्राऽऽह—**चक्रमिति।** ते हि चतुर्विधाः मन्वृषिदेवतेन्द्ररूपाः। ते स्वरूपतो विद्यमाना अप्याज्ञारूपेण न वर्त्तन्ते। तदर्थमाह—**चक्रं बिभर्त्तीति।** तानेन ऋषीनाज्ञारूपान्कृत्वा बिभर्त्तीत्यर्थः। "**सर्वे पुरुषशासना**" इति वाक्यात्। चकारात्स्वतन्त्रतया। आज्ञां सेनां च बिभर्त्ति नियमनार्थं सहायार्थं च। तेषामाज्ञाकरणे हेतुः **दिक्ष्ववहितमिति।** दशसु दिक्षु अवहितं स्थापितं सावधानं वा। यथा यो यत्र स्थापनीयस्तं तथा स्थापयतीत्यर्थः। विशेषकार्यमाह—**दुष्टेषु राजसु दमं व्यदधात्।** पालकानां दुष्टत्वे तद्दण्डकरणं विशेषकार्यम्। अनेन लोकरक्षा निरू-

पिता । एवं लोकवेदरक्षां निरूप्य भक्तिरक्षां निरूपयति—**स्वकीर्त्ति सत्ये त्रिपृष्ठे प्रथयन्निति ।** यथा पातालादुद्धृत्य भूमिः पुष्करपर्णे प्रथिता, एवं त्रैलोक्ये स्थितां कीर्त्ति त्रयाणां लोकानां पृष्ठभूते सत्यलोके स्थापितवान् । इत उद्धरणेन तत्र स्थापने हेतुः **उशतीमिति** । कमनीयाम् । अत्र हि प्राकृतधर्मैः प्राकृतबुद्धिभिश्च संबद्धा जलमग्नेव कीर्त्तिः । सा हि वस्तुतः शुद्धा भवति। तां सत्यलोके प्रथितवान् । सत्यलोकस्थानामुपकारजननाज्ज्ञानभक्त्यर्थं भगवच्चरित्राणि तत्र गीयन्ते । ततस्तत्र स्थिताः सर्व एव भगवन्तं जानन्तीति सर्वलोकविख्यातो भगवांस्तत्तदवयवाभरणभूत इत्यर्थः । आदिशब्दस्याऽपरिछिन्नत्वान्मन्वन्तरेषु बहून्यवान्तरावतरणानि सूचयति ॥२०॥

व्याख्यार्थ—मन्वन्तरों में भगवान् अपने जगत् पालन के सामर्थ्य को बनाये रखता है । परिकर अङ्गसहित सारे मन्वन्तर की रक्षा करता है । यदि कोई कहे कि मनुवंशीय राजालोग जब रक्षा करने वाले हैं तब भगवान् को सर्वांशतः रक्षा करने की क्या आवश्यकता है? तो इसका उत्तर देते हैं—'मनुवंशधरः' मनु के वंश को धारण करने वाला भी तो भगवान् ही है । अतः मन्वन्तर का सर्वांश से यही पालन करता है यह ठीक ही है ।

सतयुग त्रेता द्वापर और कलियुग की जब इकहत्तर चौकड़ी चुक जावे तब उस समय के टुकड़ों को एक मनुका अन्तर (समय) कहते हैं । उस कलियुग में सब धर्मभावों का सपरिकर नाश होता रहता है । इसलिये उन सब पदार्थों की रक्षा भगवान् को ही करनी पड़ती है । जैसे इस अन्तर में देवापि और मनुकी रक्षा कर रहे हैं । कलियुग में सब वर्णों का शूद्र भाव हो जाता है, इसलिये यदि कोई कहे कि उस समय भी तपस्वी ऋषि रहते ही हैं किसी के नाश होने की सम्भावना नहीं हो सकती तो फिर ये अंश कार्य भी भगवान् ही क्यों करते हैं ? इसके उत्तर में कहते हैं—'चक्र' । मनु, ऋषि, देवगण और इन्द्र ये चारों भगवान् का चक्र है, परिवार है । ये स्वरूप से कदाचित् उस समय भी रहें तथापि आज्ञारूप से नहीं रहते उनको तत्व पदार्थों के पालन की आज्ञा उतने ही समय तक रहती है जितना उनका नियत कर दिया गया है । इसलिये आज्ञा न रहने से वे पालन करना छोड़ देते हैं । तब भगवान् विभर्त्ति । तब उन्हें ऋषि आदि को आज्ञारूप बनाकर जगत् की और उनकी रक्षा भगवान् ही करता है । अष्टमस्कंध में कहा है कि 'सर्वे पुरुषशासनाः' सब ही लोग उस समय भगवान् की आज्ञा को धारण करते हैं । भगवान् आज्ञारूप से उनके द्वारा जगत् का पालन करते हैं । 'च' कहने से स्वतन्त्र रीति से भी पालन करते हैं यह भगवान् का विशेष कार्य है, वे आज्ञा और सेना दोनों को धारण करते हैं । चक्र शब्द के दोनों अर्थ होते हैं । सबको नियम में चलाने के लिए आज्ञा शासन व्यवस्था और साहाय्य के लिए सेना का भी धारण करते हैं, क्योंकि ऋषि आदि सपरिकर अनेक दिशाओं में जहां तहां स्थित हैं । आज्ञा का यथावत् सर्वत्र पालन कराने के लिए सर्व दिशाओं में देव ऋषि आदि को सावधान स्थापित कर दिये । जो जहां योग्य था उसे वहां सावधान करके रख दिया । जिससे शासन व्यवस्था बराबर चलती रहे । विशेष कार्य कहते हैं—'दुष्टेषु' आदि । पालक ही जब घातक हो जाते थे तब यह भगवान् उन दुष्ट राजाओं को दण्ड भी देते थे । इससे लोक की रक्षा होती थी ।

इस तरह लोक वेद दोनों की रक्षा कहकर अब भक्ति रक्षा का निरूपण करते हैं—स्व-

कीर्त्ति इत्यादि। जिस तरह से वाराहावतार में पृथ्वी को पाताल से लाकर पुष्कर पर्ण पर जमाई, उसी तरह से अपने यशस् चरित्रों को त्रिलोकी से ले जाकर त्रिलोक से भी ऊपर सत्यलोक में फैलाया। उसका कारण 'कमनीयां'। ये भगवान् के कीर्त्ति चरित्र बड़े सुन्दर थे, किन्तु त्रिलोकी में प्राकृत बुद्धि और प्राकृत धर्मों में डूबे रहने से कीर्त्ति जलमग्नसी हो रही थी। शुद्ध नहीं रहने पाती थी, इसलिये उसे शुद्ध बुद्धि शुद्ध धर्म वाले सत्यलोक में फैलाया। इससे सत्यलोकस्थ जनता का भी बड़ा उपकार हुआ अर्थात् सत्यलोक निवासीजनों में भगवज्ज्ञान और भगवद्भक्ति बढ़ने के लिये भगवत्कीर्त्ति वहां स्थापित की गई। वहां रहने वाले भगवान् के चरित्रों का गान करते हैं और भगवन्माहात्म्य को समझते हैं।

इस तरह सर्वलोक विख्यात् भगवान् ही अपने उन उन अवयवों का आभूषण बन जाता है। द्वितीय ध्यान का 'आदि' अपरिच्छिन्नार्थक है, इसलिये यह स्पष्ट होता है कि मन्वन्तरों में भी अवान्तर अनेक अवतार और भी होते हैं ॥ २० ॥

आभास—स्निग्धामलैः कुञ्चितनीलकुन्तलैर्विरोचमानाननहासपेशलं भगवन्तं निरूपयति—**धन्वन्तरिरित्यादिपञ्चभिः**। कुन्तलानां धर्मैः कुन्तलैश्च विरोचमानमाननम्। तादृश आनने हासेन पेशलो भवति भगवान्। तत्र हासपेशलो रघुनाथो हास्यरूपो भवति सर्वमोहनरूपः परमसुन्दरः। तस्य कार्यं गूढमित्यग्रे वक्ष्यते। कुञ्चितनीलकुन्तलरूपः परशुरामः। बहुधा चरित्रकरणादनेकरूपत्वं तस्य। तद्गतधर्मः स्निग्धामलरूपो धन्वन्तरिः। तेन ह्यमृतेन शास्त्रेण च सर्वे स्निग्धा अमलाश्च कृताः। देवा हि रूक्षा अमृतेन भगवति स्निग्धाः कृताः। वैद्यकशास्त्रेण चाऽमला भवन्तीत्यविवादम्। उभयोः कार्ये भूमौ विद्यमान एव रघुनाथोऽवतीर्ण इति तादृशे मुखारविन्दे हास्यरूपत्वं भगवतः। यद्भगवद्धास्येन कार्यं तद्रघुनाथेन कार्यमिति। तत्र आननं भगवतो धर्माधारब्राह्मणाः। तत्र **आरोग्ये धर्मसिद्धिः स्याद्रक्षा च धनुषो भवेत्**। अतो धर्मसिद्ध्यर्थं धन्वन्तरिरवतीर्ण इति तच्चरित्रमाह—

आभासार्थ—अब 'स्निग्धामलैः कुञ्चितनील कुन्तलैः विरोचमानानन हास पेशलं' विशेषणों के अवतारों का कितने ही श्लोकों में विवरण करते हैं। क्योंकि यह अध्याय विवरणाध्याय कहा गया है। स्निग्ध निर्मल कुञ्चित (घुंघराले) और श्याम केशों से शोभित श्रीमुख पर हास्य से सुन्दर भगवान्। इस सबका अवतार हासपेशल भगवान् श्री रामचन्द्र का अवतार है। यह सर्व सम्मोहक एवं परमसुन्दर है और इनका चरित्र गूढ़ भी है इसलिये इनका वर्णन आगे करेंगे। कुञ्चितनील कुन्तलरूप भगवान् परशुराम हैं। उन्होंने अनेक बार अनेक चरित्र किये हैं अतएव वे अनेक रूप कुन्तलों के अवतार हैं। कुन्तलों में जो चिकनाई और निर्मलता है इन धर्मों का अवतार धन्वन्तरि भगवान् हैं। धन्वन्तरि भगवान् ने अमृत और अपने शास्त्र के द्वारा सब लोगों को स्नेह वाले और निर्मल कर दिये। देवगण भगवान् में अस्निग्ध थे। उन्हें अमृत के द्वारा भगवच्चरित्रों

में किंवा स्वरूप में स्नेह वाले कर दिये । वैद्यकशास्त्र से लोक निर्दोष होते हैं यह तो निर्विवाद है ही । पृथ्वी पर इन दोनों का कार्य जब हो चुकता है तब श्री रघुनाथ का प्रादुर्भाव होता है, अर्थात् स्निग्धामल कुञ्चित नील केशों से शोभित मुखारविन्दर हास्य का आविर्भाव होता है तब अति सौन्दर्य प्रकट होता है । इनमें भगवान् के मुखरूप ब्राह्मण हैं, क्योंकि धर्म के आधार हैं । आरोग्य से धर्मसिद्धि और सिद्धधर्म की रक्षा धनुर्वेद (शस्त्र) शास्त्र से होती है । अतएव हासपेशलता के पहले धन्वन्तरि और परशुराम का निरूपण करते हैं । धर्मसिद्धि के लिए धन्वन्तरि का अवतार हुआ इसलिए उनका चरित्र पहले कहते हैं । 'धन्वन्तरिः' इत्यादि—

श्लोक—धन्वन्तरिश्च भगवान् स्वयमेव कीर्त्ति-
र्नाम्ना नृणां पुरुरुजां रुजमाशु हन्ति ।
यज्ञे च भागममृतायुरवाप रुद्ध-
मायुश्च वेदमनुशास्त्यवतीर्य लोके ।। २१ ।।

श्लोकार्थ—धन्वन्तरि अवतार स्वरूप से ही भगवान् का यश है और फिर अनेक रोगग्रस्त मनुष्यों के रोगों को आयुर्वेद शास्त्रोक्त औषधों से जल्दी ही दूर करते हैं । अमृत जीवन भगवान् धन्वन्तरि ने रुका हुआ अपना यज्ञ भाग प्राप्त किया । पुनर्वार अवतार लेकर लोक में आयुर्वेद (वैद्यक) शास्त्र का प्रकाश किया ।।२१।।

सुबोधिनी—धन्वन्तरिश्चेति । दृष्टोपकारत्वात्स स्वयमेव कीर्त्तिभूतः । चकारात्स्त्रीरूपं च । उभयमपि भगवान् । तस्य धर्मः कीर्त्तिर्भवत्येव । तथापि कीर्त्तिरूपताऽप्युच्यते । तत्र हेतुर्नाम्नैव पुरुरुजां महारोगग्रस्तानां रुजमाशु हन्ति । धन्वन्तरिनामस्मरणेनैव सर्वे रोगा गच्छन्तीत्यर्थः । **नृणामिति** रोगसंभावनयोक्तम् । नामोच्चारयितृत्वाद्वा । वस्तुतस्तु शास्त्रद्वारा सर्वेषामेव रोगान्हन्ति । नाम च तस्य शास्त्रम् । सर्वेषामुपकारिणां यज्ञे भागा निरूपिता वाय्वादीनाम् । तथा अनेनाऽपि आरोग्यलक्षणं धर्मं विधाय यज्ञे भागं च प्राप्तवान् । **"बर्हिरनुप्रहरतीति वाचि स्वाहे"**ति मन्त्रेण समिष्टयजुषि बर्हिषोऽनुप्रहरणं क्रियते । तत्र वाचो देवतात्वं शान्त्या इति फलान्न संभवतीति सर्वशान्तिकरी या वाक् धन्वन्तरिप्रोक्ता सा भागमर्हतीति यज्ञे धन्वन्तरिभागः । **रुद्धमिति** पूर्वं बर्हिषोऽनुप्रहरणाभावः प्रायेण सूचितः । **न 'बर्हिरनुप्रहरेदि'**त्यग्निहोत्रे तस्य निषेधात्संस्थायामेव बर्हिषोऽनुप्रहरणम् । सम्यक् स्थितिश्चाऽऽरोग्यकार्यमिति बर्हिरेव तस्य भागः । अन्यद्वा चिन्त्यम् । शाखान्तरीये वा स्पष्टम् । किञ्च । आयुर्वेदं च कृतवान् । पूर्वं मथने प्रादुर्भूतस्तत्रैव तिरोहितः । पुनश्च काशिराजगृहेऽवतीर्य **"धन्वन्तरिर्दैर्घ्यतम"** इति वाक्यादायुर्वेदं प्रवर्त्तितवान् । चकारादन्यदपि । अस्याऽवतारस्य धर्मरूपत्वमेव न धर्मिरूपत्वम् । तेनौषधादिद्वारा परम्परोपयोगः ।२१

व्याख्यार्थ—इनका लोकोपकार सर्व प्रत्यक्ष है इसलिये ये अवतार स्वरूप से ही कीर्त्ति हैं । 'च' से मोहिनीरूप भी इनका ही है । दोनों भगवान् का ही अवतार हैं । इनका धर्म (कर्तव्य)

कीर्त्ति है ही, तथापि इनको स्वयं कीर्त्तिरूपा भी कहा है इसका कारण यह भी है कि इनके नाम से महारोगग्रस्त मनुष्यों के रोग जल्दी दूर हो जाते थे। रोगों की संभावना इनमें ही होती है, इसलिये 'नृणां' कहा। नाम का उच्चारण करने वाले भी ये ही हैं; इसलिये ये भी वास्तव में तो तो शास्त्र के द्वारा सब के रोगों को हरते हैं। यही अर्थ ठीक है। नाम शास्त्र आयुर्वेद शास्त्र है? उपकार करने वाले वायु आदि सभी देवों के यज्ञ में भाग स्थापित किये गये हैं। इसी प्रकार धन्वन्तरि भगवान् के आरोग्य शास्त्र के निर्माण द्वारा उपकार कर यज्ञ में अपना भाग स्थापित किया[1]......................

आयुर्वेद शास्त्र भी इन्होंने बनाया। पहले समुद्र मंथन समय में प्रकट होकर वहाँ ही तिरोहित हो गये पर फिर काशीराज के घर में प्रकट होकर दैर्घ्यतम राजऋषि रूप से आयुर्वेद का निर्माण किया। 'च' से अन्य शास्त्र भी बनाये। यह अवतार धर्म रूप है, धर्मिरूप नहीं है; इसलिये औषधों के द्वारा इनका उपयोग हुआ, स्वरूप से नहीं ॥२१॥

आभास—कुन्तलानां स्वरूपमाह—

आभासार्थ—अब भगवान् के घुंघराले केशों का स्वरूप (अवतार) कहते हैं—

श्लोक—क्षत्रं क्षयाय विधिनोपभृतं महात्मा
ब्रह्मध्रुगुज्झितपथं नरकार्त्तिलिप्सु।
उद्धन्त्यसाववनिकण्टकमुग्रवीर्यं
त्रिःसप्तकृत्व उरुधारपरश्वधेन ॥ २२ ॥

श्लोकार्थ—ब्रह्मा ने ब्रह्मद्वेषि, सन्मार्ग के उल्लंघक, अतएव नरक पीड़ा भोगने-योग्य, जबरदस्त क्षत्रिय बल को नष्ट करने के लिये ही समेट कर धर रखा था। इसलिये भगवान् ने परशुराम अवतार लेकर अपने तीव्र धार वाले फरसे से उस उग्रवीर्य पृथ्वी के कंटक क्षत्र कुल का तीन सात (इक्कीस) वार नाश किया ॥२२॥

सुबोधिनी—क्षत्रमिति। कुञ्चितनीलत्वं धर्मः। कुञ्चितत्वं कुटिलता। नीलत्वं च श्यामता। क्षत्रियहन्तृत्वात्कुटिलता। भूमिकण्टकोद्धारकत्वाच्छ्यामतेति। अथवा। चतुर्भिर्विशेषणैः सहितानि कुन्तलानि धन्वन्तरिः। अमृतोद्गमत्वात् श्रीत्वात् यज्ञभागभुक्त्वात् अवतीर्णत्वाच्च। तत्र श्यामत्वं मथनान्निर्गतस्य। कुटिलत्वं स्त्रीरूपस्य। अमलत्वं यज्ञभुजः। आयुर्वेदकरणात्सर्वस्निग्धत्वम्। स्वस्याऽवतारबाहुल्याद्बहुवचनम्। मुखत्वं परशुरामस्य। स हि वैश्वानरस्याऽवतारः। अत एव सर्वक्षत्रियभक्षकः। विशेषेण रोमानत्वं धर्मरक्षाकरणात्। क्षत्रं क्षत्रियाः। क्षयायैव विधिना उपभृतं वृद्धम्। उप समीपे धृतं वा। यथा पशुर्ध्रियते।

1 इन कितनी ही पंक्तियों का अनुवाद अज्ञात विषय होने से नहीं किया।   — दे.र.शा.

"भवाय नाशाये"ति वाक्यात् । वधे हेतुः ब्रह्मध्रुगिति । ननु क्षत्रस्य कथं ब्रह्मद्रोहजनकत्वम् । तत्राऽऽह—उज्झितपथमिति । उज्झितः पन्था येन । सन्मार्गपरित्यागाद्ब्रह्मद्रोहे मतिः । तर्हि सन्मार्गबोधनेन कथं न व्यावर्त्यते ? तत्राऽऽह—नरकार्त्तिलिप्स्वति । नरकलक्षणामेवाऽऽर्ति वाञ्छति । परलोकदुःखमङ्गीकृत्योत्पथेन प्रवृत्तमतो न बोधनेन निवर्त्तते । अत एवोद्धन्ति ऊर्ध्वमुत्क्षिप्य तान् दूरीकरोति । अनेन यदेवाऽस्याऽमेध्यं तदपहन्तीति सूचितम् । महात्मेति अल्पद्रोहः प्रयोजनार्थं क्रियमाणो न तद्धृदयं बाधते । मूढा एव हि दृष्टप्रत्ययाः । महात्मानस्तु पर्यवसानबुद्धयः । असाविति यज्ञकर्त्ता । उद्धननं हि तेनैव क्रियते । किञ्च । एतत्क्षत्रं मारणीयमेव । अवनिकण्टकत्वात् । भूमिर्हि भगवतः पादौ । सर्वो हि स्वपादकण्टकोद्धारं करोति । यद्यपि सर्वात्मत्वात्तस्य व्यथा भवति तथाप्युग्रवीर्यः । न हि क्रौर्यावलम्बनव्यतिरेकेण कण्टकोद्धारो भवति । अनेन नैर्घृण्यमपि निवारितम् । त्रिःसप्तकृत्व इति । सप्तधा हननेनैकवारं भूमेर्निष्कण्टकता जाता । पुनर्ब्राह्मणादुत्पन्नाः सप्तधा हताः । पुनरेवमिति त्रिः । उरुधारपरश्वधेनेति । शस्त्रेण हननं परलोकार्थम् । परश्वधः परशुः । उरुधारत्वाद्बहुधा हननेऽपि न कुण्ठता । अनेन वधे क्लेशाभावो निरूपितः ॥ २२ ॥

व्याख्यार्थ—कुंचितत्व घुंघरालापन और नीलत्व, श्यामता ये दोनों धर्म हैं । क्षत्रियों का नाश करने से कुटिलता और पृथ्वी का कण्टक दूर करने से श्यामता कही । किन्तु इस पक्ष में कुछ अरूचि हुई, इसलिये दूसरा पक्ष कहते हैं—'अथवा' ब्राह्मण परशुराम विराट् भगवान् का आनन (मुख) है, अतएव मुख का सर्वत्र लीलावतारों में प्रवेश होना संभव हो सकता है, पर केवल धर्मों का धर्मी को छोड़कर सर्वत्र प्रवेश अरूचिकर है इसलिये पक्षांतर कहते हैं कि कुञ्चि तत्वादि चार विशेषणों से युक्त कुन्तल धन्वन्तरि हैं । कुन्तल धर्मी होने से अब अमृतोद्गम् स्त्रीत्व, यश भागभुक और अवतीर्ण होने से धन्वन्तरि कुन्तलरूप धर्मी हैं । केवल धर्म न रहे । मन्थन करने से प्रकट हुए इसलिये कुन्तलों को श्याम कहा । स्त्री (मोहिनी) होने से कुटिलता । यज्ञभोक्ता होने से निर्मलता और आयुर्वेदनिर्माता होने से वे सर्वस्निग्ध हैं । इनका अवतार अनेक तरह से हैं, अतएव 'कुन्तलै.' बहुवचन कहा ।

अब ये परशुरामजी भगवान् के मुख हैं । ये भगवान्मुखाग्नि वैश्वानर के अवतार हैं । अतएव सर्व क्षत्रियों के भक्षक हैं । विरोचमानआनन हैं । धर्म की रक्षा करने से शोभमानता है । उस समय क्षय के लिये ही यह क्षत्रिय समूह इकट्ठा किया गया था । उप समीप में रखा था । जैसे हवनीय पशु को हनन के लिये बांध रखते हैं । 'भवायनाशाय' इस वाक्यानुसार वध करने का कारण ब्रह्मद्वेष था । यदि कोई कहे कि क्षत्रिय तो ब्राह्मणों के रक्षक हैं, उनका द्वेष क्यों करते थे? इसके उत्तर में कहते हैं—'उज्झित पथम् ।' क्षत्रिय सन्मार्ग का त्याग कर देने से ब्राह्मणों का द्वेष करने लगे थे । यदि कहो कि सन्मार्ग का उपदेश करके उन्हें सुधारा क्यों न गया ? तो कहते हैं कि, 'नरकार्त्तिलिप्सु' । नरक की पीड़ा भोगने की ही वे इच्छा रखते थे । भले परलोक में दुःख भोगना पड़े पर सन्मार्ग में चलना छोड़ कुमार्ग में चलने लगे । अतएव उपदेश से द्वेष निवृत्ति न हुई और इसीलिये भगवान् को उतने उतने भाग को पृथक् 'उत्' कर मारना पड़ा । इससे यह स्पष्ट होता है कि जनता का जितना भाग अपवित्र था उसे दूर कर दिया । 'महात्मा' विशेषण का यह प्रयोजन है कि अपने प्रयोजन के परवश होकर यदि कोई किसी का थोड़ा द्वेष भी करे तो

उदार हृदयों का हृदय क्रुद्ध नहीं होता अल्पज्ञ लोग ही ऊपर की बातों से बहकते हैं, पर महात्माओं की तो फल पर दृष्टि रहती है। नरक में गिरने पर क्षत्रियों को महती पीड़ा भोगनी पड़ती, अतएव उदार हृदय परशुरामजी ने इन क्षत्रियों को मार मार कर यहां ही थोड़ा दण्ड दे दिया और इस नरकार्ति से उन्हें बचा लिया। यह महात्मा और अल्पद्रोह का तात्पर्य है। 'असौ' शब्द का तात्पर्य यह है कि अनेक यज्ञ भी इन्होंने किये और क्षत्रियों का उत्हनन भी इन्होंने हीं किया। पर क्षत्रिय समूह मारने योग्य ही था, क्योंकि वे पृथ्वी पर कंटकरूप हो रहे थे। भूमि भगवान् के चरण हैं। सब ही अपने पैर का कंटक दूर करता है। यद्यपि भगवान् ही सर्वरूप हैं क्षत्रसमूह भी वे ही है, अतएव उन्हें मारने में कुछ स्वपीड़ा भी हुई। तथापि उसीरूप में आप उग्र पराक्रम भी थे ही, अतएव यह पीड़ा सह्य थी। क्रूर पराक्रम स्वीकार किये बिना स्वशरीर का कंटक निकाला नहीं जा सकता। स्वशरीर का कंटक निकालते समय यदि कुछ पीड़ा भी हो तो कोई निर्दय नहीं कह सकता।

एक सात बार क्षत्रियों का हनन कर देने से पृथ्वी निःकंटक हो गई, पर फिर ब्राह्मणों से क्षत्रिय स्त्रियों में ये क्षत्रिय (क्षैत्रज) पुत्र उत्पन्न हुये, तब फिर मारने पड़े। फिर भी इसी तरह हुये और मारे। इस तरह तीन सात बार (इक्कीस वार) पृथ्वी को निःक्षत्रिय की। वे परशुशस्त्र से मारे गये, इससे उनका परलोक सुधर गया। फरसा की धार बड़ी और खूब तीव्र थी, इसलिये अनेक बार मारे तथापि धार भोंटी न हुई, और धार तीव्र होने से ही मारने वालों को बहुत क्लेश न हुआ ।। २२ ।।

आभास—हासपेशलत्वं निरूपयति—

आभासार्थ—अब हासपेशल भगवान् रामचन्द्रजी का निरूपण करते हैं—

श्लोक—**अस्मत्प्रसादसुमुखः कलया कलेश-**
इक्ष्वाकुवंश अवतीर्य गुरोर्निदेशे ।
तिष्ठन् वनं सदयितानुज आविवेश-
यस्मिन्विरुध्य दशकन्धर आर्त्तिमार्च्छत् ।। २३ ।।

श्लोकार्थ—हमारे (ब्रह्मादि देव के) ऊपर जब कृपा से हसन्मुख हुये तब इक्ष्वाकु राजा के वंश में अपनी कला (श्री सीता) को साथ लेकर श्री पुरुषोत्तम भगवान् प्रकट हुये और वहां से अपने पिता की आज्ञा मानकर श्री सीता और लक्ष्मण सहित वन में रहने लगे। उनके साथ ऐसी अवस्था में दशग्रीव रावण ने विरोध करके भारी पीड़ा भोगी ।। २३ ।।

सुबोधिनी—अस्मत्प्रसादसुमुख इति । हासो हि त्रिविधः । इतरगर्वनिवारक इतरव्यामोहकः प्रसादहेतुश्च । तत्र प्रथमं प्रसादहेतुमाह । यद्यपि रघुनाथचरित्रस्याऽनन्तत्वं तथापि हासत्वमात्रोपयोगाद्गुणत्रयकार्यं चरित्रत्रयमेवोपलक्षणत्वेन निरूप्यते । तत्र प्रथमं सात्त्विकं चरित्रमाह—**अस्मत्प्रसादसुमुखः** । ब्रह्मादीनां प्रसादार्थं सुमुखः प्रसन्नवदनः । अनेन ब्रह्मप्रार्थनया भगवानवतीर्ण इत्युक्तम् । कलया परमकांत्या सीतया वा । कलया वा कलेशः । यस्तु सर्वकलानिधिर्वैकुण्ठवासी विष्णुः स यस्य कलया । हासो हि कार्यस्याऽल्पत्वे भवति । तस्माद्रक्षाऽल्पं कार्यम् । तदर्थं भगवतः काचित्कला या वैकुण्ठे स्थिता पालयति । अनेन भगवान्पूर्ण एव रघुनाथोऽवतीर्ण इति सूचितम् । कला वा ऋष्यादयः । अतस्तेषां सङ्कटे तत्पतित्वादनेनैव निस्तारः कर्त्तव्य इति सूचितम् । कलानां वा सङ्कर्षणादीनामीशो वासुदेवः । सर्वकलानिपुणो वा लक्ष्म्या सहावतीर्णः । तदैव पेशलो भवति । स भगवानिक्ष्वाकुवंशेऽवतीर्य । इक्ष्वाकुर्भक्त इति नृसिंहपुराणे प्रसिद्धिः । यदर्थं श्रीरङ्गो ब्रह्मसदनात्समानीतः । तस्योद्धारार्थं तद्वंशेऽवतीर्णः । देवहितकार्यकर्त्तृत्वं धर्मज्ञानादिसाहित्यं स्वावतरणेन भक्तोद्धारो गुर्वाज्ञाकरणं वनवास एतावत्सात्त्विककार्यम् । अनुभावस्तु विरोधेन दशकन्धरार्त्तिः । सत्त्वविरोधे तमसो लयो युक्त एव । गुरोर्दशरथस्याऽऽज्ञा तस्यां स्थितः । व्रतमिव तत्पालनं कृतवानित्यर्थः । वनमाविवेश । नतु वने तस्य किंचित्कार्यम् । अपि तु वास एव कार्यमिति वनस्य कर्मता । दयिता सीता अनुजो लक्ष्मणस्ताभ्यां सहितः । अनेन कलया कलेश इति यावानागतस्तावान्वनं गत इति सूचितम् । इतरसहायाभावार्थं वा । आसमन्तात्प्रवेशो बहुकालस्थित्यर्थः । अत एव यस्मिन्रघुनाथे विरोधनिमित्तत्वमेव भगवतो नतु विरोधहेतुत्वम् । विरुध्य विरोधं कृत्वा । दशकन्धरो रावणः । अनेन महत्त्वं वा बहुत्वं वा न निस्तारहेतुरिति सूचितम् । आर्त्ति पीडां चिन्ताशोकादिकम् । त्रयाणां वनवास आरब्धः । देवानां कामनया तथा सङ्कल्पः कृतः । तत्र भार्यया सह स्थितस्य न मुख्यो वनवासो भवति । न भर्तृसहितायाः स्त्रियः। अत उभयोर्वियोगेन वनवासः प्रदर्शितः । वियोगजननादिरूपमेव विरोधः । प्रथमाऽऽर्त्तिस्तु खरादिमारणेन ।। २३ ।।

व्याख्यार्थ—भगवान का हास तीन प्रकार का है । दूसरों के गर्व को दूर करने वाला, दूसरों को मोह कराने वाला और दूसरों पर कृपा करने वाला भी । उनमें पहले प्रसाद हेतु हास का निरूपण करते हैं । यद्यपि श्री रघुनाथ के ऐसे चरित्र अनन्त हैं । तथापि हास के उपयोगी चरित्रों का ही यहां वर्णन हैं । सत्त्व, रज, तम तीन गुण के द्वारा ही हास हो सकता है । इसलिये उपलक्षण (नमूना) विधि से तीन चरित्र ही यहां लिये गये हैं । उनमें से पहले सात्त्विक हास चरित्र कहते हैं । 'अस्मत्प्रसादसुमुखः' इत्यादि । ब्रह्मादि देवों पर अनुग्रह करने के लिए प्रकट हुये इसलिये हर्ष से प्रसन्न मुख हुये । इससे यह भी सूचित किया कि ब्रह्माजी की प्रार्थना से श्रीराम का अवतार हुआ । अपनी परम कांति अथवा श्री सीताजी को साथ लेकर । अथवा जो अपनी एक कला से कलेश्वर होता है वह प्रकट हुआ । सब कलाओं का निधि जो बैकुण्ठवासी विष्णु है वह जिसकी कला मात्र है । हास्य तब आता है, जब कार्य अल्पतर होता है । देव रक्षारूप कार्य अल्पतर है । इसके लिये तो भगवान् की कोई एक कला ही जो बैकुण्ठ में स्थित हो, पालन कर सकती थी, पर ब्रह्मा ने तो पुरुषोत्तम से ही प्रार्थना की तब आपको हंसी आई ठीक है । मनोरथ पूर्ति तो करनी ही पड़ी इससे स्पष्ट होता है कि श्री रघुनाथ पूर्ण ब्रह्म ही अवतीर्ण हुए । ऋषि लाग भग-

वान् की कला है, उन पर संकट आने से अन्य प्रकार से निस्तार होता न देखा तब पूर्णावतार हुआ। संकर्षणादि चार अंशों के ईश भगवान् वासुदेव प्रकट हुये अथवा सर्वकलाओं में निपुण भगवान् अपनी लक्ष्मी सहित अवतीर्ण हुए तब ही सौन्दर्य निधि हो गए। 'कलयाकलेश' शब्द में सब ही पक्ष यहां सम्भव हैं। ये पक्ष पुराणांतर में प्रसिद्ध हैं। बैकुण्ठवासी विष्णु गुणावतार हैं। यह 'पालयति' से स्पष्ट हैं। इन मर्यादा पुरुषोत्तम ने इक्ष्वाकु के वंश में अवतार लिया। इक्ष्वाकु राजा भगवद्भक्त था। यह नृसिंह पुराणों में प्रसिद्ध है। जिसके लिए ब्रह्म सदन से श्री रंगजी की मूर्ति लाई गई। उस राजा के उद्धार के लिये उसके वंश में भगवान् प्रकट हुये। देवों का हितकार्य करना धर्म ज्ञान आदि साधनों का सहयोग अपने अवतार से भक्तों का उद्धार करना है। पिता की आज्ञा का परिपालन और वन में रहना इत्यादि, सात्त्विक चरित्र हैं। श्री रघुनाथ से विरोध करके रावण का नाश हुआ, यहां इनका स्वरूप प्रभाव है। सत्त्व का विरोध करने से तमस् का नाश होना ठीक ही है। 'तिष्ठन्' का तात्पर्य यह है कि अपने पिता की आज्ञा पालन व्रताचरण की तरह किया। 'वनम्' यहां वन को कर्मत्व है। इसका भी यही तात्पर्य है कि वन से उन्हें कोई विशेष प्रयोजन न था, तथापि पित्राज्ञा वैसी होने से केवल वहां निवास मात्र किया। "यस्मिन् विरुद्धय" का यह तात्पर्य है कि श्री रघुनाथ के समीप में विरोध का निमित्त था, इसलिये रावण का विरोध हुआ। भगवान् का उसके साथ विरोध करने का हेतु नहीं था। रावण का बड़प्पन किंवा बहु कुटुम्बता इसकी रक्षा करने के काम में न आई यह "दशकन्धर" शब्द से जानी जाती है। श्री सीताजी और लक्ष्मण को साथ में ले जाने का प्रयोजन यह है कि कला और अंश सहित जो अवतार हुआ था वह सब ही वन में गया। प्रभु ने अन्य किसी का साहाय्य नहीं ग्रहण किया। 'आविवेश' बहुत से समय पर्यंत वन में रहे 'आर्त्ति' चिंता, शोक दुःख और मरण पर्यंत भोगने पड़े। तीनों के वनवास करने में यह भी परस्वार्थ था कि रावण अपने परिवार सहित मारा जाय, यह देवगणों की कामना थी, यह तब ही बन सकता था कि जब कोई विरोध का प्रयोजक और वरोर्जित के मारण में सहायक भी साथ हो, इसलिये ये 'यथामां प्रपद्यन्ते' इस आज्ञा के अनुसार भगवान् ने विरोध प्रयोजक रूप दयिता (सीता) को और इन्द्रजित् के वधार्थ लक्ष्मण को साथ लेकर वनवास किया। किन्तु स्त्रीसहित पुरुष का और पुरुषसहित स्त्री का भी मुख्य वनवास नहीं कहा जा सकता, इससे शेष में अपने दोनों का परस्पर वियोग कराकर मुख्य वनवास दिखाया। परस्पर वियोग करा देना यही मुख्य विरोध करना हुआ। उसका फल प्रथमार्ति यह हुआ कि खर दूषण त्रिशरा आदि चौदह सहस्र उसके प्रिय राक्षस एक हस्त से मारे गये ॥ २३ ॥

आभास—एवं सात्त्विकचरित्रं भगवत उक्त्वा राजसमाह—

आभासार्थ—इस तरह राम के सात्त्विक चरित्र का निरूपण करके अब राजस चरित्र का वर्णन करते हैं—

श्लोक—**यस्मा अदादुदधिरूढभयाङ्गवेगो मार्गं सपद्यरिपुरं हरवद्दिधक्षोः ।**
दूरेसुहृन्मथितरोषसुशोणदृष्टया तातप्यमानमकरोरगनक्रचक्रः ॥ २४ ॥

श्लोकार्थ- जिस समय श्री सीता जी का हरण किया गया तब भगवान् श्री रामचन्द्र ने महादेव की तरह बैरी के शहर (लंका) को एकदम भस्म कर देने के लिये अपने घुटते हुये रोष से लाल नेत्र किये तो समुद्र भी मृत्यु भय से धूजने लगा और प्रत्तापाग्नि से उसके जल में रहते मत्स्य, सर्प, मगर आदि जीव समूह जलने लगे तब उसने श्री रघुनाथ को जाने का मार्ग दे दिया ।।२४।।

सुबोधिनी—यस्मा अदादिति । उदधिः समुद्रः यस्मै मार्गमदात् । **ऊढभयाङ्गवेगः** । ऊढं भयं येन । समुद्रशरीरस्य भयं भार्येव हृदये नविष्टम् । तादृशांगस्य अगे वा वेगः कम्पो यस्य । अथवा ऊढं यद्भयं मृत्युरूपं तस्याऽङ्गानि शरणादीनि तेषां वेगो यस्य । मृतप्रायो जात इत्यर्थः । सपदि तत्क्षणमेव । अरिपुरं लङ्काम् । हरवत् हरस्येव । महादेवसहितं वा पुरम् । दिधक्षोः दग्धुमिच्छोः । दूरे सुहृद्भार्या यस्य भ्राता वा भरतोऽन्ये वा सुहृदः । मथितो यो रोषस्तेन सुशोणा या दृष्टिस्तया तातप्यमानाः अतिशयेन तप्यमाना मकरादयस्तेषां चक्रं यस्मिन् । एवं ह्याख्यायिका । रावणेन सीतायां हृतायां दशकंधरवधार्थं प्रवृत्तस्य रघुनाथस्य मध्येऽन्तरायभूतः समुद्रः स्थितः । स स्वकीयैः पुरुषैः वृत इति तत्र पदात्रमणमकृत्वा प्रायोपवेशनं कृतवान् । स ह्यस्मदीयवंशेऽवतीर्णोऽस्मदवतारणेऽप्युपायं न जानाति स कथं रक्षांसि हन्यादिति । परमत्रैवाऽयं तिष्ठत्विति मार्गं न दत्तवान् । तदा भगवान् स्वबाणं सन्धितवान् । तदा तस्य नेत्रयोरारक्तिमा जाता तेन समुद्रस्य क्षोभो जात इति । मार्गदानं न प्रीत्येति भगवन्माहात्म्यज्ञापनार्थं भयादयस्तस्मिन्प्रविष्टास्तदा मार्गं दत्तवानिति । यदि महादेवः सहायमपि कुर्यात्स्वभक्तस्य स्वयं वा पुरे तिष्ठेत्तदा तेन सह पुरं ज्वालनीयमिति । रावणवधस्त्वल्पः । पुरमेव ज्वालनीयमितीच्छा । यस्मिन्पुरे दुःखिता सीता तिष्ठतीति । भगवतो रोषे दूरे स्थितानां सुहृदां दुःखं हेतुः । अमथिते हि दधनि क्वचिद्दृढता क्वचिज्जलं क्वचिन्मध्यभावो भवति । मथिते त्वेकरूपता । तथा परीक्षार्थं हितार्थं परमार्थतो वा विघ्ने कृते पूर्वं बहुधा विचारितत्वात्सीतोद्धारस्य अवश्यं कर्त्तव्यत्वान्न रोषप्रतिबन्धको विवेकादिर्जात इति सूचनार्थं मथितपदम् । दृष्टिमात्रेणैव समुद्रताप इति माहात्म्यम् । राजसचरित्रत्वाद्रोषकथा ।।२४।।

व्याख्यार्थ—समुद्र ने भी जिन भगवान् को जाने का मार्ग दिया । भार्या जैसे चाहकर ब्याही जाती है उसी तरह समुद्र ने भी मृत्युभय चाहकर अपने हृदय में घुसाया । उसके मारे सब अंगों में कम्प हो गया अथवा सिर पर समझ बूझकर लिये हुये मृत्युभय के लक्षण कम्प आदि जिसके सब शरीर में दीखने लगे । अर्थात् समुद्र मृतप्राय हो गया । तब उसी समय अरिपुर लंका हरवत् महादेव की तरह किंवा यदि महादेवजी भी भक्त की रक्षा करने आवे तो उनके सहित सारी लंका को जला देने की इच्छा वाले । दूर हुये हैं सीता भरत किंवा अन्य आत्मीजन जिसके । विचार द्वारा मथित क्रोध से एकदम लाल दृष्टि से मकरादि समूह जिसके जलने लगे ।

यह आख्यायिका यूं है । रावण जब श्री सीता को चुरा ले गया तब रावण वध के लिए चले तो मध्य में समुद्र ही रघुनाथ को विघ्नरूप उपस्थित हुआ । भगवान् ने विचारा इस समुद्र को

हमारे पूर्वजों ने तैयार किया है, हमें इस पर पदाक्रमण न करना पड़े। ये ही मार्ग दे दें तो ठीक है यों समझकर उसके तट पर प्रायोपवेश (धरना देकर बैठना) किया। पर वह वास्तव में जड़ ही था। समुद्र ने यह जानना चाहा कि ये हमारे निर्माताओं के वंश में पैदा हुये हैं। मेरे पार उतरने का उपाय भी न जानेंगे तो राक्षसों को क्या कैसे मारेंगे? इसलिये यहां ही रुक जाय तो ठीक है। इसलिये जाने को मार्ग न दिया तब भगवान् ने बाण अपने धनुष पर चढ़ाया और नेत्रों पर लालिमा भी आ गई। अब समुद्र को घबराहट हुई। समुद्र ने जो मार्ग दिया था वह कुछ प्रसन्नता से नहीं दिया था पर भगवान् के माहात्म्य को देखकर, यह दिखाने के लिये ही उसके हृदय में भयादि प्रविष्ट हुये, तब मार्ग दिया।

उस समय यदि महादेवजी भी रावण की सहायता करते, या स्वयं भक्त के शहर में आकर बैठ जाते तो उनके सहित ही पुर को जला देना यह निश्चय था। रावण का वध तो न कुछ है पर लंका शहर सब का सब ही जला देना, यह भगवदिच्छा थी। कारण कि उस पुर में सीता दुःखित होकर बैठी है। अपने प्रिय भक्तों को व सबको ही दूर कर दिये, इसलिए भगवान् को बहुत क्रोध आया। 'मथित' का विशेष तात्पर्य यह है कि दही को मथने से पहले उसमें कहीं तो गाढ़ापन, कहीं ढीलापन और कहीं पानी जैसा पतलापन रहता है। किन्तु मथ लेने पर सब इकसार हो जाता है। इस तरह सीता हरण के समय हृदय के रोष की गति भी इस तरह की थी। विवेक के द्वारा कहीं रोष तीव्र,कहीं मध्यम और कहीं मन्द रोष था। पर समुद्र ने जब विघ्न किया तब तो क्रोध में समान भाव धारण कर लिया। उस समय फिर रोष को टोकने वाले विवेक विचारादि की कुछ न चली। क्योंकि श्री सीता का उद्धार अवश्य कर्त्तव्य था। अब तो रोष का तापमान इतना बढ़ गया कि केवल क्रुद्ध दृष्टि मात्र से सारा समुद्र एकदम तप गया। यह चरित्र राजस है इसलिये रोष की चर्चा की है।। २४।।

आभास—एवं राजसचरित्रमुक्त्वा तामसमाह—

आभासार्थ—राजस चरित्र कहकर अब तामस चरित्र कहते हैं—

श्लोक—**वक्षस्थलस्पर्शरुग्णमहेन्द्रवाह-**
दन्तैर्विडम्बितककुब्जयरूढहासम् ।
सद्योऽसुभिः सह विनेष्यति दारहर्त्तु-
र्विस्फूर्जितैर्धनुष उच्चरतोऽधिसैन्ये ।। २५ ।।

श्लोकार्थ—दिशाओं को विजय करने के लिये जब रावण इन्द्रादि देवों के साथ युद्ध करता था तब उसकी छाती पर इन्द्रवाहन ऐरावत, हाथी दांतों से टक्कर मारता था, उसे कुछ परवाह नहीं होती थी। इस तरह दिशाओं को जीतकर रावण को बड़ा हास (गर्व) हो गया था। स्त्री को चोरने वाले और युद्ध में राम धनुष की टंकार मात्र से उछल जाते उस रावण के उस हास को श्री रामचन्द्रजी ने युद्ध में टंकार करते धनुष से ही गर्व दूर कर दिया। प्राणों सहित नाश कर दिया ।।२५।।

सुबोधिनी—वक्षस्थलस्पर्शेति। स भगवान् रघुनाथस्तस्य रावणस्य असुभिः प्राणैः सह हासं गर्वं विनेष्यति। दूरीकरिष्यति। दूरीकरणे हेतुः **दारहर्त्तु रिति**। प्राणहरणेऽप्येतदेव हेतुः। आततायित्वात्। नहि तन्मारणार्थे बाणा उपेक्ष्यन्ते किन्तु धनुषो विस्फूर्जितैरेव। धनुषो विशेषणम् **अधिसैन्ये उच्चरत इति**। उर्ध्वं चरतः। बाणरूपं मलं वा त्यजतः। अनेन तस्य गतिर्निवारिता। धनुषो माहात्म्यार्थं हासं विशिनष्टि। वक्षस्थलस्पर्शेन भग्ना ये महेन्द्रवाहस्यैरावतस्य दन्तास्तैर्विडम्बितो यः ककुब्जयो दिग्जयस्तेन रूढो यो हासः। तस्य हि सामर्थ्यद्वयं रावणस्य शारीरं शत्रुजयकृतं च। तत्र शारीरेण सामर्थ्येन शत्रुजय उपहस्यते। यतस्तस्य वक्षस्थलस्पर्शमात्रेणैवैरावतदन्ता भग्नाः। तादृशस्य दिग्विजयो नोत्कर्षहेतुः। तेन दिग्विजयिनां सामर्थ्यादप्यस्य महत्सामर्थ्यमिति महान् गर्वः। स गर्वो गच्छन् महाभिमानिनः प्राणैः सह गतः। न हि भगवतो हासस्याग्रेऽन्यो हसति। तस्मात्तदपगमनमुचितमेवेति भावः। एवं रघुनाथचरित्रमुपलक्षणविधया निरूप्य हासत्वं समर्थितम्॥२५॥

व्याख्यार्थ - ये भगवान् रघुनाथ वैसे रावण के भी हास को प्राणों के सहित नष्ट कर देंगे। ब्रह्मा नारद के संवाद के समय को लेकर यहां भविष्यत्काल का प्रयोग किया हैं। गर्व दूर करने में सीता का हरण ही कारण है, और प्राणों का नाश करने में भी यही कारण है। क्योंकि रावण स्त्री अपहर्त्ता होने से 'आततायी' था। ऐसे को मारने में बाणों की आवश्यकता भी न हुई। केवल टंकार करते किंवा ऊपर उछलते धनुष से ही मार गिराया। "अधि सैन्ये उच्चरत.' यह धनुष का जब विशेषण है तो ऊपर जाते किंवा बाणरूप मल का त्याग करते यह अर्थ करना। इस कथन से रावण की उत्तम गति को रोक दी यह निरूपित होता है। धनुष का माहात्म्य दिखाने के लिये रावण के गर्व का विशेषण कहते हैं। 'वक्षःस्थल' इत्यादि। रावण के वक्षःस्थल स्पर्श से महेंद्रादि के वाहन घबरा जाते थे। उनके दन्तादि टूट जाते थे। इस तरह वह अपने दिग्विजयों को प्रसिद्ध करता था और अपने ही विजय की हँसी उड़ाता था। अर्थात् उस रावण में दो तरह का सामर्थ्य था। एक तो उसका शरीरबल बड़ा जबरदस्त था और दूसरा अन्य प्रकार (विद्या) से भी शत्रु को हरा देना यह भी सामर्थ्य था। पर शरीरबल उसके शस्त्रादि सामर्थ्य का उपहास करता था। जिसके शरीर स्पर्शमात्र से इन्द्रादि देवों के वाहनों के दाँत झड़ जाते हैं उस बलवान् रावण ने अपने कमजोर वैरियों के लिये धनुर्विद्या का उपयोग किया? हँसी आती है, ऐसे बलशाली के ये दिग्विजय कुछ माल नहीं है। इस तरह दिग्विजयों से भी इसका सामर्थ्य बड़ा भारी था इसलिये इसको बड़ा गर्व हो गया था। इस अभिमानी का यह गर्व जाता जाता भी प्राणों के साथ ही गया। भगवान् के हास के आगे दूसरे का हास कब ठहर सकता है, इसलिये इसका जाना उचित ही हुआ। इस तरह भगवान् रामचन्द्र के एक दो चरित्रों का नमूने के तौर पर निरूपण करके श्रीराम श्री पुरुषोत्तम के हास रूप है यह समर्थन कर दिया॥ २५॥

आभास—एवं हासपेशलं निरूप्य अदीनलीलाहसितेक्षणोल्लसद्भ्रूभङ्गसंसूचितभूर्यनुग्रहं निरूपयति—**भूमेः सुरेतरेति** दशभिः। यद्यप्येकैकस्मिन्नवतारे अपरिमितानि चरित्राणि सन्ति तथापि विमर्शे येषामुपयोगस्ते निरूप्यन्ते। यत उद्देशे दशैव पदार्था निरूपिताः—अदीनत्वं, लीलात्वं, हसितत्वं, ईक्षणत्वं, उल्लसत्त्वं, भ्रूत्वं, भङ्गत्वं,

संसूचितत्वं, भूरित्वं, अनुग्रहत्वं चेति । अनेन दशविधा अपि लीला अस्मिन्नवतारे सन्तीति यावान्वा अयमात्मा तावानयमिति सूचितम् । अनेन दशविधलीलानामेकमुखत्वेनैकार्थत्वं च सूचितम् । तदुपपत्त्या निरूपणे उद्देशतो निरूपयिष्यति । तत्राऽदीनत्वं सर्गः । दीनो हि वस्त्वभावात् । यथासुखं वस्तुरूपेण स्वयमेव प्रादुर्भावाददीनत्वम् । अभिलषितवस्तुप्राप्तौ दीनत्वं गच्छति । न विद्यन्ते दीना यस्मादिति परार्थसृष्टावपि जीवानां दीनत्वं गच्छति सृष्टावेव । विसर्गो हि लीला स्पष्टा । हसितं स्थानम् । स हि भगवान्नाट्य इव प्रहसनरूपेण तत्तन्मर्यादया तांस्तान् स्थापयति स्वस्य हासार्थमेव । अन्यथा परमार्थे भगवत्स्वरूपे का मर्यादा । ईक्षणं पुष्टिः । भगवदीक्षिता एव हि पुष्टा भवन्ति । भ्रूरूपा ऊतिः । यथाऽन्तःकरणे वासना तथा भ्रूवोश्चलनम् । भङ्गो हि सद्धर्मः । स हि सर्वान् स्वस्थानाद्भञ्जयति । तदग्रे विस्तारयिष्यामः । उल्लसत्त्वमीशानुकथा । स हि वंशो भगवदुल्लासो भवति । यथाक्रमो वा । तदा ऊतिरुल्लासः । यथा प्रह्लादो धर्मश्च प्रमेयप्रमाणोल्लासौ । तदा सद्धर्मो भ्रूरूपो भवति । भङ्गश्च वंशः । आत्मा हि तत्र भग्नो भवति । संसूचनं निरोधः । तदग्रे उपपादयिष्यामः । भूरित्वं मुक्तिः । एको हि भगवानेव मुक्तः । अन्येऽपि तथा भवन्तीति । अनुग्रह आश्रयः । न हि सर्वथा अननुगृहीतः स्वस्मिन्कमपि स्थापयति । इयं च दशविधलीला कृष्णस्यैवेत्यवतारोऽप्ययं भगवानवतारी । अतः सर्गरूपमदीनत्वं प्रथमतो निरूपयति—

आभासार्थ—इस तरह हासपेशल भगवान् का निरूपण करके अब 'अदीनलीलाहसितेक्षणोल्लसद्भ्रूभङ्ग संसूचितभूर्यनुग्रहम' भगवान् का निरूपण करते हैं—भूमे सुरे आदि ।

दश श्लोकों से यद्यपि पुरुषोत्तम भगवान् के अवतारों के प्रत्येक के अपरिमित ही चरित्र हैं तथापि प्रथमाध्यायोक्त सूक्ष्मध्यानस्वरूप के विमर्श में (विचार में) जिनका उपयोग है उतने ही चरित्र किंवा धर्म इस सप्तमाध्याय में कहे गये हैं । उद्देशाध्याय (दशमाध्याय) में भगवत्स्वरूप के दश पदार्थों का लीला या धर्मरूप से निरूपण (कथन) किया है । सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति मन्वन्तर, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति और आश्रय? और इस विशेषण में भी अदीनत्वादि जो दश धर्म स्पष्ट हो रहे हैं वे सर्ग विसर्गादि लीलारूप ही हैं, यह श्लोकार्थों में स्पष्ट होगा । अतएव स्पष्ट है कि द्वितीयध्यानोक्त जो भगवान् जितना वहां कहा है उतना ही वही भगवान् इन श्लोकों में भी कहा गया है । दशमाध्याय में दशलीला (सर्गादि) और दशधर्म (अदीनत्वादि) दोनों का एक मुख से सम्मिलित रूप से निरूपण करके एक प्रयोजन कहेंगे, अर्थात् लीला भी और अदीनत्वादि धर्म भी भगवान् की पुरुषोत्तमता प्रकट करने के लिये हैं । यह सब उद्देशाध्याय में उपपत्ति के द्वारा स्पष्ट करेंगे । वहां इन धर्मों का अर्थ यों किया है—

अदीनत्व का अर्थ ही सर्गलीला है। भगवान् का अपना प्राकट्य दो तरह का है। अपने लिये और पर के लिये। भगवान् ही स्वयं जब सुखकर अपेक्षित वस्तुओं के रूप में प्रकट होता है तब दीनता दूर भाग जाती है। अभिलषित वस्तु की प्राप्ति से अदीनत्व है, अतएव यही स्वार्थ सर्ग है। परार्थ सृष्टि में भी अपेक्षित रूपों को धारण कर स्वयं प्रकट होने से जीवों की दीनता दूर हो जाती है। 'न विद्यन्ते दीना यस्मात्'। सर्ग से ही इनकी दीनता दूर होती है। इसलिये अदीनत्व ही सर्ग है। लीलात्व विसर्ग है। हसितत्व स्थान है, ईक्षण ही पोषण है। उल्लास ऊति है। अथवा भ्रू-रूपा ऊति है। भङ्गत्व मन्वन्तर (सद्धर्म) है। उच्वासधर्म ईशानुकथा है। संसूचितत्व निरोध है। भूरित्व मुक्ति है और अनुग्रह आश्रय है। सर्वव्यापक सर्वान्तः स्थित अव्यक्त परब्रह्म पुरुषोत्तम के दश धर्म सर्ग विसर्गादि हैं। परिच्छिन्न प्राकट्य वहिः स्थित प्रकट परब्रह्म श्री कृष्ण के दश धर्म अदीनत्व लीलात्वादि हैं। दोनों का अर्थ तात्पर्यतः एक हैं। उनमें सर्ग और अदीनत्व एक हैं यह पहले दिखा चुके। अब विसर्ग लीला है, यह स्पष्ट है। सारस्वत कल्प में लीलास्थ सब ही पदार्थ पुरुषरूप (कृष्णमय) थे, यह पुराणांतरों में और यहां भी आगे स्पष्ट होगा। 'विसर्गः पौरुषः स्मृतः'। स्थानलीला भगवान् का हसितत्व धर्म है। यह भगवान् ही अपने बनाये इस विश्वनाटक में अपने हास के लिये एक ही आत्मा को अनेक प्रहसन रूप से उन उन मर्यादाओं में स्थापित करता है। यदि यह विश्व प्रहसन या नाटक न होता तो पारमार्थिक एक ही भगवत्स्वरूप में वे मर्यादायें कैसी? 'गुणस्तूभय वर्जितः'। पुष्टिलीला ही ईक्षण धर्म है। भगवत्कृत ईक्षण (दर्शन) से ही जीव पुष्ट (स्वीकृत) होते हैं: भगवान् की निगाह से ही जीवों का पोषण होता रहता है। ऊति लीला भ्रूत्व धर्म है। जैसे जैसे भगवद्वासना होती है वैसे वैसे भ्रू (भवों) का चालन होता है। सद्धर्म (मन्वन्तर) भङ्ग है। भगवान् ही जीवों को अपने स्थानों से चलित करता है। उद्देशाध्याय में इसका विस्तार करेंगे। उल्लसत्व धर्म ईशानुकथा है। भगवदीयों का वंश भगवान् का उल्लास है अथवा क्रम प्राप्त ऊति है उल्लास धर्म है। जैसे प्रह्लाद चरित्र और वर्णाश्रम धर्म वर्णन क्रम से प्रमेय और प्रमाण का उल्लास है। इस क्रम में सद्धर्म भ्रूरूप है। वंशानुचरित ही भङ्ग है। वंश में आत्मा का भङ्ग (विस्तार) होता है। निरोध लीला ही कृष्णत्व में संसूचन धर्म है। श्लोक व्याख्यान में इसका उपपादन आवेगा। भूरित्व धर्म मुक्ति है। वास्तव में एक भगवान् ही मुक्त है पर अन्य भी मुक्त होते हैं। इसलिये मुक्ति को भूरित्व है। अनुग्रह धर्म आश्रय लीला है। यदि भगवान् सर्वथा अनुग्रह (आश्रय) धर्मयुक्त न हो तो किसी जीव को भी संसार से निकालकर अपने में स्थापित न करे। आश्रय न देवे। ये दश धर्मरूप लीलायें श्रीकृष्ण की कही हैं। इसलिये श्रीकृष्ण भगवान् प्राकट्य अवस्था में अवतार हैं तथापि अवतारी हैं।

इस तरह अव्यक्त और व्यक्त दोनों भगवान् धर्मतः एक हैं यह दिखाकर अब पहले सर्गलीला का अदीनत्व दिखाते हैं—

श्लोक—**भूमेः सुरेतरवरूथविमर्दितायाः**
क्लेशव्ययाय कलया सितकृष्णकेशः।
जातः करिष्यति जनानुपलक्ष्यमार्गः
कर्माणि चात्ममहिमोपनिबन्धनानि ॥ २६ ॥

श्लोकार्थ—राजन्य रूप दैत्य दानवादि लोगों से अतिशय कष्ट पाती इस भूमि का क्लेश दूर करने के लिये अपने अंशकलाओं सहित यह सित कृष्ण भगवान् इस भूतल पर व्यक्त (प्रकट) हुआ और फिर जिसकी स्वरूप गति किसी के भी समझ में न आ सकी। ऐसा यह भगवान् अपने माहात्म्य को प्रकाशित करने वाले अनेक चरित्रों को करेगा ॥२६॥

सुबोधिनी-सर्गो ह्यशरीरस्य शरीरस्वीकारः। तत्र न दीनो यस्मादिति द्वितीयोऽर्थो हेतुत्वेन। प्रविशति। तत्र त्रिविधा भक्ता दीनाः भगवदवतारे हेतवस्तदाह। भूमेः पृथिव्याः। सुरेतरा दैत्या दानवा राक्षसाश्च। सुरेतरत्वेनैव धर्मप्रतिपक्षाः क्रोडीकृताः। तैर्विमर्दिता। **प्रकटः परमानन्दो यदा भूमेस्तदैव हि। मर्दनक्लेशहानिः स्यादित्यानन्दः समागतः**। तस्याः क्लेशव्ययाय। कलया बलभद्रेण सह। सितकृष्णौ केशौ यस्य स वैकुण्ठस्थित एव समागत इति कश्चित्। वस्तुतस्तु यः सितकृष्णकेशः स गोविन्दस्य कलया। सङ्कर्षणरूपत्वात्। संहाररूपतामसशक्त्या सितकृष्णरूपस्य सङ्कर्षणस्य कलया कृष्णकेशरूपेणाऽऽपीति वक्ष्यते। इदमप्येकं प्रयोजनं कृष्णः केशो यथाऽवतीर्णो भवतीति। नतु तावन्मात्रम्। मर्दनक्लेशदूरीकरणासमर्थत्वात्। "**ताविमौ वै भगवतो हरेरंशाविहाऽऽगताव**"ति वाक्यविरोधात्। "**तदा वां परितुष्टोऽहममुना वपुषे**"ति वाक्यविरोधश्च। तस्मान्मर्दनक्लेशाभावार्थं साक्षादानन्दमयः। पुत्रत्वेन वंशजननार्थं प्रद्युम्नः। धर्मरक्षार्थमनिरुद्धो नारायणांशः। भूमिभारनिराकरणार्थं सितकृष्णकेशांशः। **जनानुपलक्ष्यमार्ग इति** प्रद्युम्नो वंशकृत्। **कर्माणि करिष्यतीत्य**निरुद्धः। चतुर्णामपि कार्यचतुष्टयं भारव्ययाय चेति चकारेण सूचितम्। तेनैकरूपेणैव चतुर्मूर्त्तेरपि चरित्रं निरूप्यते। एकमेव चरित्रं मोक्षभक्ती निरूपयति। भूमिभारहरणं, वसुदेवदेवकीकामनापूरणं, धर्मरक्षा चेति। विस्तरे तु प्रकरणभेदेन वक्ष्यति। एवं चतुर्मूर्त्तिर्भगवान् जातः। अनेन सर्वाण्येव वाक्यानि यथाश्रुतं समर्थितानि। अन्यथा प्रत्येकवाक्यानि **तयोरेको बलभद्रो बभूवेत्यादीनि** विरुद्धानि भवेयुः। जन्म कर्म च स्वस्य संपादयिष्यति त्रिविधदुःखदूरीकरणाय। **भूमिर्माता तथा चाऽन्ये दुःखभाजो हरिप्रियाः। कंसादेः कालतो ज्ञानत्रिधा दुःखं च तद्गतमिति** वक्ष्यते। भूमिस्तु कार्यरूपापि भवतीति विचारे सैवोक्ता। अदितिर्मातेति तस्या भूमित्वं स्पष्टमेव। अन्येऽपि भूमिसम्बन्धादेव दुःखिता। जनैरनुपलक्ष्यो मार्गो यस्य। जनाः साधारणाः। भगवन्मार्गस्य उपलक्षणमपि ते न जानन्ति। मार्ग एवंप्रकारेण भगवदागमनम्। कर्माणि च करिष्यतीति। चकाराज्ज्ञानं भक्तिं च कथयिष्यति। कर्माण्यनिरुद्धचरित्रत्वाय विशिनष्टि। आत्ममहिम्न उपनिबन्धनं येषु। आत्मात्वाज्ञानजनकत्वम्। महिमपदाद्भक्तिः। उप समीपे नितरां बन्धनाद्धर्मः। त्रिभिस्त्रिविधं दुःखं गच्छति। एवं भगवच्चरित्रं भगवन्माहात्म्यमेव सूचयति। एतावता सर्वे अदीना भवन्ति ॥२६॥

व्याख्यार्थ—अशरीर भगवान् जब शरीर को स्वीकार करते हैं तब वह सर्ग (सृष्टि) कहा जाता है। यह प्रकटा प्रकट दोनों भगवान् के विषय में समान है। पहले के विषय में विशेष सर्ग और दूसरे भगवान् के विषय में सामान्य सर्ग समझना चाहिये। इसी अर्थ में अदीनत्व अर्थ भी

सम्मिलित है । सर्गरूप धर्म से भगवान् की अवतारता सिद्ध होती है, पर अन्य धर्मों से भगवान् अवतारी ही रहते हैं । अदीनत्व भगवान् के सर्ग में (प्रकट होने में) हेतु होकर शब्दार्थ है । भगवान् के प्रकट होने से ही त्रिविध जीव दीन न हुये । न रहे ।

'भूमिर्माता तथा चान्ये दुःख भाजो हरेः प्रियाः ।' (१० स्कं. कारिका) इस कारिका के अनुसार पृथ्वी, देवकी और भक्त यादवादि दीन हो रहे थे पर भगवान् के सर्ग लेने से इनका अदीनत्व हो गया । यह सर्ग परार्थ है । भगवान् के अवतार लेने में अदीनत्व धर्म इस तरह हेतु होता है । यह बात श्लोकार्थ में स्पष्ट है । भूमि पृथ्वी । उसको सुरेतर (असुर) दैत्य दानव और राक्षसों ने मसल दिया था । देवों से अन्य, इस रूप में ही धर्म का नाश करने वाले सब ही दुष्ट यहां इकट्ठे समझ लेने चाहिये । दुष्टों ने अपने दोषों से इस पवित्र भूमि को भर रखी थी । तब इसके इस क्लेश को दूर करने के लिये आनन्दमय भगवान् प्रकट हुये ।

प्रकटः परमानंदो यदा भूमे स्तदैव हि ।
मर्दनक्लेश हानिः स्यादित्यानन्दः समागतः ।। (१०—का.)

भगवान् बलभद्ररूप अपनी कला को साथ लेकर प्रकट हुए । कोई टीकाकार यह कहता है कि सितकृष्ण केश जो बैकुण्ठ में रहते हैं वही कृष्ण में प्रकट हुये हैं । यह सिद्धांत नहीं है । सिद्धांत तो यह है कि 'सित कृष्ण केशः कलया' अर्थात् सित कृष्ण केश भगवान् संकर्षण व्यूहरूप हैं अतएव वे श्री गोविन्द की कला से युक्त हैं । श्री गोविन्द पूर्ण ब्रह्म हैं । अतएव उनमें सब कुछ विद्यमान हैं यह सम्भव है । संहाररूप तामस शक्ति की कला भी उनमें अपेक्षित है अतएव दुष्ट संहार किया। संकर्षण भगवान् की यह शक्ति है । यही सित कृष्ण केश हैं । किसी एक प्रयोजन के लिये यह भी ठीक हुआ है कि भगवान् का शुक्ल केश का भी अवतार हो । इसका यह तात्पर्य नहीं है कि सित कृष्ण रूप अंश से पृथ्वी का क्लेश दूर नहीं हो सकता । ब्रह्म वैवर्त पुराण में कहा है कि सित कृष्ण केश किंवा बैकुण्ठ स्थित भगवान् श्रीकृष्ण परब्रह्म का अंश है । यदि कहो कि तो फिर यहां इस विशेषण को देने का क्या प्रयोजन था ? इसका समाधान यह है कि संहार तामस शक्ति संकर्षण की भी यहां अपेक्षा थी इसलिये सित कृष्ण रूप संहार शक्ति के अंश को भी साथ लेकर प्रकट हुये। यदि ये सित कृष्ण ही पूर्ण होते तो 'ताविमौ वै भगवतो हरेरंशा विहागतौ' इस वचन में इनको हरि भगवान् के अंश नहीं कहते । अन्यथा इस वाक्य का विरोध आवेगा । और पूर्वजन्म में श्री नंद यशोदा को वर देते समय यह कहा है कि 'तदावां परितुष्टोऽहममुनावपुषा' इस वाक्य में साक्षात् पूर्ण से ही कृपा करने का कहा है, इस वाक्य का भी विरोध आवेगा । रूपया पूर्ण रूप है । उसमें ४ पावली (चवन्नी) उसके अंश भी रहते हैं ही । इसी तरह पूर्ण पुरुषोत्तम ने जब श्रीकृष्ण रूप से पूर्ण प्रादुर्भाव ग्रहण किया तब उनमें उनके अंश और उनके कार्य भी होने चाहिये । इस तरह किसी वाक्य का विरोध नहीं रहता । पूर्ण पुरुषोत्तम ने उन उन अपने भक्तों को ४ वर दिये थे । भक्तों के दुःख दूर करने का, पुत्ररूप से प्रकट होने का, धर्म रक्षा करने का और पृथ्वी का भार उतारने के लिये दुष्टों के मारने का । अब यदि भगवान् सर्वांश सहित प्रकट न होते तो सर्व मनोरथ पूर्ति न हो सकती । 'जातः' केवल प्राकट्य मात्र से भूमि के क्लेश का निवारण तथा निज स्वीकृत भक्तों के सर्व क्लेशों की निवृत्ति पुरुषोत्तम के अन्य अवतार से होना अशक्य थी, अतएव वासुदेव स्थित पुरुषोत्तम का अवतार हुआ और दुष्ट हनन के लिये, भूमि भार उतारने के लिये संकर्षण

सहित सित कृष्ण केश का अवतार हुआ। पुत्ररूप से वंश चलाने के लिये प्रद्युम्न आधिदैविक काम 'जनानुपलक्ष्य मार्गः' का अवतार हुआ और 'कर्माणि करिष्यति' धर्मरक्षा के लिये अनिरुद्ध (आचार्य) का प्रादुर्भाव हुआ। ये सब पुरुषोत्तम के ही अंश कला है अतएव पुरुषोत्तम के साथ इनका भी अवतार होना युक्त ही है। 'कलया (सह) सितकृष्ण केशः जातः' इत्यादि वाक्यों से चारों व्यूहों के कार्य भी सूचित कर दिये हैं। मोक्षदान, भक्तिदान, भूमिभार हरण, वासुदेवदेवकी कामनापूरण और धर्म की रक्षा ज्ञान के द्वारा मोक्षदान, श्री वासुदेव का कार्य, भक्ति (भजनानन्द) का दान पुरुषोत्तम का कार्य, भूभार हरण, संकर्षण का कार्य वासुदेव देवकी कामपूर्ति पुत्ररूप से होना या वंश चलाना प्रद्युम्न का कार्य और धर्मरक्षा अनिरुद्ध का कार्य। एक ही श्लोक में सर्ग का निरूपण करना है इसलिये तत्सम्बन्धी सब बातों को अतिसंक्षेप में सूचित कर दी है। निरोध स्कंध १० में तो विस्तार सब प्रकरण भेद से ही स्पष्ट कहेंगे। इस तरह चतुर्मूर्ति सहित भगवान् प्रकट हुए, यह सर्ग का निरूपण है। इससे अन्यत्र कहे गये वाक्य सब ही सार्थक हो जाते हैं। किसी का विरोध नहीं रहता। अन्यथा 'तयो रेकोबलभद्रो बभूव' इत्यादि वाक्य विरुद्ध हो जावेंगे। त्रिविधदूरीकरणार्थ अदीनत्व सम्पादन करने के लिये यह भगवान् अपना जन्म और अनेक कर्मों का सम्पादन करेंगे।

भूमिर्माता तथा चान्ये दुःख भाजो हरि-प्रियाः।
कंसादेः कालतोऽज्ञानात्रिधा दुःखं च तद्गतम् ॥

पृथ्वी, देवकी और अन्य यादवादि ये तीनों श्री भगवान् के प्यारे हैं। पर इन पर दुःख पड़ा कंसादिकृत दुःख भूमि पर, आकाशवाणी दुःख माता देवकी पर, और भगवान् के अवतार की खबर न होने से अन्य भक्तों पर दुःख हुआ। कार्यरूपा भी भूमि है और इस विवरण में उसी का ग्रहण किया है। माता, अदिति का रूप कही गई है और प्रादुर्भाव स्थान होने से भ्रू शब्द से ही यहां ले ली गई है और अन्य भक्त लोग भी इन दोनों से सम्बन्ध रखने वाले थे, अतएव दुःखी थे ही। साधारण यादवादि जन कहे गये हैं उन्हें भगवान् का मार्ग आगमन अनुपलक्ष्य था अर्थात् उन्हें यह न मालूम हो सका कि इस दुःखरूपी मार्ग से ही प्रकट होंगे। अतएव उन्हें अज्ञान से दुःख हुआ यदि वे जान लेते कि हमारे ऊपर आये हुये दुःखों को देखकर ही भगवान् अवतार लेंगे तो ज्ञान हो जाने से दुःख न होता। अतएव 'जनानुपलक्ष्यमार्ग' यह पद भगवान् वंशकृत प्रद्युम्न अवतार का बोधक है। 'आत्ममहिमोप निबन्धनानि कर्मणि च करिष्यति', यह वाक्य अनिरुद्ध और वासुदेव पुरुषोत्तमावतार बोधक है। 'आत्म महिम्नः उपनिबन्धनं येषु' जिन कर्मों में अपनी भक्ति का सम्बन्ध हो जाय ऐसे कर्म करेंगे यह प्रकटार्थ है किन्तु परोक्ष भाषा में आत्म शब्द से त्रिविध ज्ञान, महिमा शब्द से भगवद्भक्ति और उप समीपे नितरां बन्धनम् शब्द से कर्म का कथन है। ज्ञान का सम्बन्ध उपदेश द्वारा भगवान् वासुदेव ने कराया। भक्ति का सम्बन्ध लीलाओं के द्वारा श्रीकृष्ण ने कराया और कर्मोपदेश के द्वारा धर्म का सम्बन्ध या रक्षण भी अनिरुद्ध ने कराया। इन तीनों के द्वारा तीन दुःख दूर किये। भक्ति के द्वारा आधिदैविक दुःख दूर किया। ज्ञान के द्वारा आध्यात्मिक दुःख दूर किया और कर्मों के द्वारा आधिदैविक दुःख दूर किये। इस तरह भगवान् ने अपने सर्ग से सब को अदीन कर दिये। यह भगवान् का चरित्र इस तरह भगवान् के माहात्म्य का बोधन कराता है। इस भगवन्माहात्म्य के श्रवण से आज भी लोग अदीन होते हैं ॥ २६ ॥

आभास—लीलां निरूपयन् पूर्वोक्तस्य हेतुमपि निरूपयति विमर्शमध्यपातात्—

आभासार्थ—अब इन भगवान् का अदीनत्व के बाद दूसरा धर्म लीलात्व है। यह त्रिसर्गरूप है सो इसका वर्णन करते हुए पूर्व उक्त सब बातों का हेतु भी विचारगत है, इसलिये उसे कहते हैं—

श्लोक—तोकेन जीवहरणं यदुलूकिकायास्त्रैमासिकस्य च पदा शकटोऽपवृत्तः।
यद्रिङ्गताऽन्तरगतेन दिवस्पृशोर्वा उन्मूलनं त्वितरथाऽर्जुनयोर्न भाव्यम् ।२७।

श्लोकार्थ—यदि ये भगवान चतुर्मूर्ति होकर अवतार न लेते तो छः दिन के बालक से पूतना का जीवहरण कैसे बनता ? तीन महिने के बच्चे से शकट का भंजन कैसे होता और जो घुटनों से चलते समय चार पांच महीने के बालक ने बीच में आये गगन चुम्बी यमलार्जुन वृक्षों को उखाड़ फैंका यह कैसे बनता? ।।२७।।

सुबोधिनी—तोकेन जीवहरणमिति। यद्ययं भगवान् चतुर्मूर्त्तिर्न भवेत्तदैव तच्चरित्रचतुष्टयं न सङ्गच्छेत। पूतनाऽसुपयःपानेन तन्मोक्षः। शकटोपमर्दः। यमलार्जुनमध्यगमनं। तदुन्मूलनं च। न हि वासुदेवादन्यो मोक्षं दातुं शक्तः। न हि सङ्कर्षणादन्यः स्पर्शमात्रेण नाशकः न ह्यनिरुद्धादन्यो नारदशापविमोक्षार्थं सानिध्यनिरूपणेन वृक्षयारन्तरा गच्छति। न हि प्रद्युम्नादन्यः शापजन्ममूलोच्छेदपूर्वकं पूर्वस्थितदेवताजन्म संपादयति। भगवत्त्वं चैतेरेव स्थाप्यते। यतस्तोकेन बालकेन उलूकिकायाः पूतनायाः जीवहरणम्। यत्र हि कार्यं तत्र साधनमवश्यं भावि। यत्र पुनः साधनव्यतिरेकेणैव साध्यमुत्पद्यते तत्परब्रह्मस्वरूपमित्येवाऽवगन्तव्यम्। सर्वभवनसमर्थरूपत्वात्तस्य। किंच। उलूकस्य भार्या उलूकिका। उलूकदुहिता वा। उलूकरूपैव वा। सा हि दिवाभीतरूपा भवति। सन्मार्गविमुखा प्रतिपक्षा च। अनेन प्रमाणबलं तस्या मुक्तौ निवारितम्। तस्याः जीवानां हरणं स्वस्मिल्लयप्रापणम्। हृतं हि स्वस्मिन्नाऽऽनीयते। "**इहैव समवनीयन्ते प्राणा**" इति। मुक्तिश्चैषा। तस्मात्प्रमेयबलेन सा मुक्तेति मन्तव्यम्। प्रमेयं च शुद्धं परब्रह्म। न केनाऽप्यंशेन न्यूनम्। तथासति तादृशस्य मुक्तिदानसमर्थत्वं न सम्भवति। अतः साधनव्यतिरेकेणैव साध्यकरणान्मुक्तिदानाच्च साक्षात्पुरुषोत्तमः कृष्णः। किञ्च। **त्रैमासिकस्येति** मासत्रयपरिमितः। कालावयवास्त्रय एव भगवतः परिच्छेदका जाताः। ते हि स्वभावतोऽसमर्था मूर्त्तिभेदं संपादयन्ति। तेन शकटं निर्माय शकटे विहृत्य शकटं नाशितवानिति त्रिमूर्त्तिरुक्तो भवति। त्रयाणामपि नाशने हेतुत्वव्युदासाय पदेत्युक्तम्। संकर्षणेन योग्यत्वात्। अपवर्त्तौ विरुद्धतया पतनम्। अनेन महाबलनिरूपणेन पूर्णा क्रियाशक्तिरुक्ता। "**प्रवालमृद्वङ्घ्रिहतमि**"ति वाक्यात्साधनाभावः सूचितः। पूर्ववत्परब्रह्मत्वं पूर्णक्रियाशक्ति च सूचयति। एवं ज्ञानक्रियाशक्ती प्रतिपाद्य भक्तिमार्गसमर्थनायाऽऽचिन्त्यसामर्थ्यं प्रतिपादयति—**यद्रिङ्गताऽन्तरगतेनेति**। यदेतत्त्रयमितरथा न सम्भाव्यमित्यर्थः। रिङ्गता हस्तपादैश्चलता। तयोन्तरगतेन तयोरुन्मूलनं परब्रह्मत्वबोधकम्। पूतनायां मुखसम्बन्धोऽपि स्थितः। शकटे पादाग्रमात्रम्। अर्जुनयोस्तदपि न। किन्तु परम्परया दूरसम्बन्धः। उलूखलेन वृक्षयोः सम्बन्धः। रज्ज्वा चोलूखलस्य। भगवता च रज्ज्वाः। यदि बलेन कृतं स्याद्रज्जुत्रोटनं प्रथमं भवेत्।

अल्पबलत्वात् । उलूखलस्य वा । भगवत्संबन्धे विचारिते सर्वेषां वा । तत्राऽप्युन्मूलनं न सम्भावितम् । तिर्यगञ्चनस्य दृढ़भूमौ मध्यभङ्गहेतुत्वात् । इदमपि पूर्ववत्परब्रह्मत्वसाधकमिच्छाशक्तिसाधकं च । एषा हि भगवतो लीला ज्ञानक्रिये इच्छा च । इतरथा न भाव्यमिति सर्वत्राऽग्रिमश्लोकेषु केचिद्योजयन्ति । वस्तुतस्त्वत्रैव । अग्रे सम्बन्धबोधकपदाभावात् ।।२७।।

व्याख्यार्थ—यदि ये पुरुषोत्तम भगवान् ही चारमूर्ति धारण करके अवतार न लेते तो उनके ये चार चरित्र सङ्गत न होते । पूतना का प्राणों सहित दुग्धपान शकट का भंजन यमलार्जुन के मध्य में जाना और उनको उखाड़ फेंकना । वासुदेव भगवान् के सिवाय अन्य में मोक्ष देने की सामर्थ्य नहीं है । मोक्ष का दान किया इसलिये ये भगवान् वासुदेव थे । संकर्षण के सिवाय अन्य कोई भी स्पर्श मात्र से नाश कर देने वाला नहीं । वृक्षों को स्पर्श मात्र से उखाड़कर फेंक दिया इसलिये ये भगवान् ही सकर्षण हुए । दोष दूर करने के लिये अपना सामीप्य देने को उनके पास जाना यह अनिरुद्ध का कार्य है । नारद के दिये शाप से छुड़ाने के लिये भगवान् उन दोनों वृक्षों के मध्य में गये । इससे स्पष्ट है कि अनिरुद्ध भी आप बने । जन्मान्तर सम्पादन करना प्रद्युम्न का कार्य है । भगवान् ने यमलार्जुन शाप से हुआ वृक्ष रूप जन्म छुड़ाकर पूर्वस्थित नलकूवर देवजन्म का सम्पादन करा दिया अतएव भगवान् ने ही प्रद्युम्नरूप धारण किया यह स्पष्ट है । इनके इन चरित्रों से ही भगवत्कला होना प्रकट है । ये यदि भगवान् न होते तो मनुष्य आदि से ये चरित्र असम्भावित थे । छः दिन का बच्चा पूतना जैसी राक्षसी का जीव हरण कैसे कर सकता था । जहां कोई होता है वहां उसका कारण भी अवश्य होना चाहिये । पर जहां साधन के या कारण के बिना ही साध्य या कार्य हो जाता हो वहां उसे परब्रह्म का स्वरूप माना जाना युक्तियुक्त है । क्योंकि सब कुछ हो जाने की या सब कुछ कर सकने की सामर्थ्य एक परब्रह्म में ही है । ये परब्रह्म थे अतएव न बन सकने की बात भी अचूक बन सकी । पूतना को उल्लूकिका कहा है । उल्लूक की भार्या किंवा उल्लूक (घुघु) की लड़की । किंवा स्वयं ही उल्लूकिका (घुघी) थी । इसका तात्पर्य सब तरह से यह होता है कि यह प्रकाश से डरने वाली सन्मार्ग से अलग रहने वाली या सन्मार्ग की वैरिणी थी । वेद शास्त्रोक्त मार्गों से तो उसको मुक्ति हो ही नहीं सकती थी । तब भगवान् ने प्रमाण मार्ग के बल को छोड़कर प्रमेय बल 'निज सामर्थ्य' से इसकी मुक्ति की । जीवहरण का अर्थ यहां मुक्ति दान है । जीवानां हरणं जीवहरणम् । यहां जीव शब्द जीवोपाधि(अन्तःकरणादि) का वाचक है । उस पूतना ने अनेक बालकों का जीव नाश किया था वे सब इसके उदर में कारण रूप से विद्यमान थे । उसका अन्तःकरण प्राण आदि जीवोपाधि और उन बालकों के जीवोपाधि सब एक हो रहे थे, अतएव भगवान् ने उसके कृत्यों पर दृष्टि न देकर अपने अनुग्रह द्वारा अपने सामर्थ्य से ही उसे और उनको मुक्तिदान किया । इसका स्पष्टार्थ यह है-देह विलय हुए बिना जीव, शुद्ध चेतन ब्रह्मरूप नहीं होता । उसके कोई ऐसे साधन थे नहीं जिससे उसका देह छूट कर जीवात्मा ब्रह्मरूप हो । तब भगवान् ने अपने सामर्थ्य से इसके प्राणांत करणादि जीवोपाधि को अपने स्वरूप में मिला लिया । जीवों का हरण अर्थात् निकालकर अपने में धर लेना । 'इहैव समवनीयन्तेप्राणाः ।' इत्यादि श्रुति कह रहा है कि उसके प्राणादि लिंग शरीर यहां ही लय को प्राप्त हो जाते हैं वह मुक्त कहा जाता है । पूतना का भी जीवोपाधि लिंग शरीर भगवान् में लय प्राप्त हो गया । इसलिये यह भी मुक्त हो गई । पर यह मुक्ति प्रमेयबल से हुई, प्रमाणबल से नहीं । शुद्ध परब्रह्म को प्रमेय (वेदैकवेद्य) कहते हैं । यह अवतार साक्षात् परब्रह्म ही था किसी अंश में भी

न्यून नहीं था। यदि कोई अंश भी इसमें न्यून होता तो ऐसी दुष्टा को मुक्ति देने की सामर्थ्य कहां से होती। इसलिये साधनों के अभाव में भी साध्य को कर देने से और विरुद्ध साधन को भी मुक्ति दे देने से श्रीकृष्ण साक्षात् पुरुषोत्तम थे यह सिद्ध है इसका कारण और भी है। "त्रैमासिकस्य" इत्यादि। जिस समय गाड़े को औंधा कर दिया था, उस समय श्रीकृष्ण का वय ३ मास का था। अर्थात् काल के तीन अवयव (अंश) व्यतीत हुए थे। ये तीनों अंश स्वयं कुछ कर नहीं सकते थे। पर उन्होंने भगवान् को ही त्रिमूर्ति सम्पादन करने का साहाय्य (अवसर) दिया। अनन्त अपरिच्छिन्नकाल भगवत्रूप है किन्तु परिच्छिन्नकाल में प्राकृतिक अंश विशेष है। अतएव उसमें भगवत्सामर्थ्य नहीं है। तीन मास ये काल के तीन टुकड़े हैं। ये शकट का नाश नहीं कर सकते, अतएव भगवान् ने तीन मूर्ति धारण करके उनमें प्रवेश किया। एक से शकट का निर्माण, दूसरी से उसका उपभोग, तीसरी मूर्ति से उसका नाश किया। कोई भी तत्व भगवान् के प्रवेश किये बिना कार्य करने में समर्थ नहीं होते। पर भगवान् के प्रवेश करने पर भगवान् की ही सामर्थ्य से ही कार्यक्षम होते हैं। यह सिद्धांत भागवत् तृ० स्क० और वहां की सुबोधिनी में स्पष्ट है "गणांयुगपदाविषत्" काल के मासरूप अवयवों से शकट का नाश हुआ यह कोई न समझ बैठे, इसलिये (पदा) एकवचन कहा पद एक अंश को भी कहते हैं, अर्थात् प्राकृतकाल रूप से नहीं पर अपरिछिन्न अनन्त अतएव अप्राकृत काल रूप अपने साक्षात् एक अंश से भगवान् ने शकट को औंधा करके नष्ट कर दिया। यह सर्वनाशक सर्वभक्षक काल संकर्षण है। अर्थात् यह कार्य संकर्षण के ही योग्य था अतएव आने में हो रहे। संकर्षणाचरण से शकट का नाश किया। अपवर्त्त का अर्थ है—औंधा होकर गिरना (उस समय में व्रज में गृहस्थ लोग नेठमो भारी सामान रखने देने के लिए एक मजबूत गाड़ा बनवाकर उसके मजबूत पहियों को जमीन में आधे आधे गाड़कर रख देते थे और उस पर सैकड़ों मन सामान रखते उठाते रहते थे। जिससे कि समय पर सामान को ज्यों का त्यों किसी दूसरी जगह भी ले जा सके। श्री नन्दराय के गृह में भी ऐसे कई गाड़े थे। उसमें से एक गाड़े के पास ही पालने पर श्रीकृष्ण को सुलाकर श्री यशोदा घर के कामकाज के लिये चली गई थी) इधर भगवान् ने अपने चरण के धक्के से उस गाड़े को औंधा पटककर उसका नाश कर दिया। यह १० स्क० में कथा है। अब आप समझ सकते हैं, कि ऐसे गाड़े को औंधा पटककर नष्ट कर देने के लिए कितने भारी बल की अपेक्षा है। अत्र उस चरण में उतना बड़ा भारी बल मानना ही पड़ेगा। उस चरण में बड़ाबल और भारी क्रियाशक्ति दोनों थी, अतएव वह चरणरूप अंश भगवान् संकर्षण रूप थे, स्पष्ट हो जाता है, और उस स्थल में 'प्रवालमृद्वंघ्रिहतं न्यवर्तत' कोमल पत्र की तरह नरम भगवच्चरण का धक्का लगने से औंधा हो गया। यह वाक्य है। इससे स्पष्ट है कि नाश के साधन का अभाव हो था। ये सब बातें प्रमेयबल पूर्ण परमब्रह्मत्व और पूर्ण क्रिया शक्ति की सूचना देते हैं। अतएव कहना होगा कि श्रीकृष्ण पूर्णब्रह्म थे।

इस तरह पूर्णज्ञान क्रियाशक्ति आदि का प्रतिपादन करके अब भक्तिमार्ग का समर्थन करने के लिए इसी भगवान् की अचिन्त्य शक्ति का भी प्रतिपादन करते हैं—'यद्रिंगता' इत्यादि। पूर्वोक्त छः दिन के बालक से पूतना का मारना और तीन महीने के शिशु ने गाड़ा उलट दिया ये दो कार्य और यह अर्जुनभंग तीनों मिलाकर ये सब बातें भगवान् श्रीकृष्ण के परब्रह्म होने के बिना असम्भावित हैं। हाथ और घुटनों से चलते-चलते श्रीकृष्ण यमलार्जुन वृक्षों के मध्य में गये और वे दोनों उसी समय जड़ सहित उखड़ कर गिर गये। यह बात कह रही है, कि श्रीकृष्ण पूर्ण

परब्रह्म हैं। पूतना मारण में तो भगवान् के मुख का कुछ सम्बन्ध भी था। शकट भंजन में भी कुछ पादाग्र का सम्बन्ध हुआ, पर यमलार्जुन भंग में तो ये कुछ भी नहीं हुआ। भगवान् का सम्बन्ध बहुत दूर रहा। ऊखल का सम्बन्ध वृक्षों से हुआ, एक ओर रस्सी का सम्बन्ध ऊखल से था तो दूसरी ओर उसका सम्बन्ध श्रीकृष्ण की कमर से था। श्रीकृष्ण ने कुछ जोर भी नहीं लगाया। केवल वृक्षों के मध्य में होकर निकले और ऊखल वृक्षों के बीच में अड़ गई, बस इतना सम्बन्ध होते ही दोनों वृक्ष जड़ से उखड़ कर गिर गये। कहिये इसमें क्या समझा जाय? इसका मुख्य कारण भगवत्व ही है। यदि श्रीकृष्ण पूर्णब्रह्म पुरुषोत्तम न होते तो ये तीनों बातें नहीं हो सकती थी। यमलार्जुन के मध्य में भगवान् वेग से नहीं चले किन्तु साधारण रीति से बाल चापल्य से हाथ-पैरों को सरकाते हुए वहां पहुंच गये। उन दोनों के मध्य में पहुँचने मात्र से उनका जड़सहित उखड़ जाना हो श्रीकृष्ण का परब्रह्म होने का प्रमाण है।

पूतना-मारण के समय तो श्रीकृष्ण के मुख का सम्बन्ध भी था, शकटभंजन में भी चरण का सम्बन्ध था किन्तु यमलार्जुनभंग करते समय तो वृक्षों के साथ श्रीकृष्ण का साक्षात् सम्बन्ध भी न था, परम्परा से बहुत दूर का सम्बन्ध था। ऊखल से वृक्षों का सम्बन्ध, रस्सी से ऊखल का सम्बन्ध और रज्जू का भगवान् से साक्षात् सम्बन्ध था। इतने दूर तक सम्बन्ध रहते भी दोनों वृक्ष उखड़कर गिर गये यह भगवत्सामर्थ्य ही है। यदि श्रीकृष्ण अपना बल लगाते तो पहले रज्जू टूटती, क्योंकि रस्सी ही सबसे कमजोर थी। अथवा ऊखल टूटती। सो कुछ हुआ नहीं। यदि परमात्मा के बल का विचार किया जावे तब तो फिर रज्जू, ऊखल और वृक्ष सब का ही चूर हो जाना चाहिये था। इसमें भी जड़ सहित उखड जाना तो किसी तरह भी बन नहीं सकता। दोनों पेड़ों में ऊखल यदि आडी होकर फंसती और फिर यदि जोर लगता तो कदाचित् उखड़ना सम्भव होता पर सो कुछ नहीं हुआ। ऊखल सीधी की सीधी गई और निकल भी आई। पेड़ दोनों उखड़ कर गिर गये। यह भी पूर्व की तरह श्रीकृष्ण का परब्रह्मत्व बोध कराता है। अथवा भगवान् श्री कृष्ण की ही ऐसी इच्छा हुई यह दिखाता है। यह भगवान् की लीला है। यही उनकी इच्छा ज्ञान शक्ति और क्रियाशक्ति है।

कितने ही टीकाकार 'इतरथा न भाव्यं' इस वाक्य को आगे के सब ही श्लोकों में लगाते हैं किन्तु वास्तव में इस वाक्य का सम्बन्ध इस श्लोक से ही है। क्योंकि आगे के श्लोक में इस वाक्य से सम्बन्ध रखने वाला कोई पद नहीं दिखता॥ २७॥

आभास—एवं लीलां विनिरूप्य हसितं निरूपयति—

आभासार्थ—इस तरह लीला का निरूपण करके अब भगवान् के हसित धर्म को कहते हैं—

श्लोक—**यद्वै व्रजे व्रजपशून् विषतोयपीथान्**
बालानजीवयदनुग्रहदृष्टिवृष्ट्या।
तच्छुद्धयेऽतिविषवीर्यविलोलजिह्व
मुच्चाटयिष्यदुरगं विहरन् ह्रदिन्याम्॥ २८॥

श्लोकार्थ—पूर्णब्रह्म होने से इन श्रीकृष्ण ने विषमिश्रित जल पी लेने वाले पशुओं को अपनी अनुग्रह दृष्टि की वर्षा के द्वारा जीवनदान दिया। और जो भगवान् श्री यमुना को शुद्ध करने के लिए अतिशय विष के वीर्य से जिसकी जिह्वा चंचल थी ऐसे कालिय सर्प को खेल ही खेल में यमुना से निकालेंगे ।। २८ ।।

सुबोधिनी—यद्व्रजे व्रजपशूनिति । यद्य-स्मात्कारणाद्व्रजे गोष्ठे व्रजपशून् व्रजरूपान्-बालकान् पशूंश्च। स्वकीयान्वा। विषतोयपीथान् विषतोयस्य पीथं पानं येषाम् । यथा सोमपीथेन मृत्युग्रस्ता अमरा भवन्ति । तथा विषतो-यपीथानप्यजीवयत्। पशून्बालांश्चाऽजीवयदित्येक: पक्षः । **अनुग्रहदृष्टिवृष्टचे ति** साधनम् । तस्या यमुनायाः शुद्धये । अतिविषवीर्येण विलोला जिह्वा यस्य । तं कालियं विहरन्नेवोच्चाटयि-ष्यन् । अत्रेकारलोपश्छान्दसः । उच्चाटयिष्य-तीत्यर्थः । नुमभावो वा । विहरन्नुच्चाटयिष्य-न्नजीवयदिति सम्बन्धः । अत्र पशुपालजीवनम-नुग्रहदृष्टिवृष्ट्या साधनेन कार्यं निरूपितम् । इदं त्वल्पालौकिकम् । विहरणं च गरुडादिभिरपि सिद्धं भवति । योगिनोऽपि हि दृष्ट्या जीवयन्ति। उपसर्गनिपातसहितादटधातोर्वा आटयिष्यदिति लृङ्क्रियातिपत्तौ । यदा तं दूरीकरिष्यति तदा अजीवयत् । अन्यथा जीवितमप्यजीवितमेव । हास्यार्थमिदं चरित्रं भवति । वयं कृष्णं पाल-यिष्याम इत्येषां बुद्धिः । तदद्य स्पष्टमेव तान् पालयित्वा स्वयं तत्र प्रविष्टः कथमेते पालयिष्य-न्तीति । पश्चात्तानकिञ्चित्करान् दृष्ट्वा हस-तीति । अथवा । पशून्पालानिति ये पशुरूपाः पाला आधिदैविकास्तानजीवयत्। ते ह्यपराधिनः कालेन हताः । भगवद्भक्तानां विषपानहेतुत्वात् विषतोयस्य पीथं पानं येभ्य इति । कालस्तानेव ग्रसति नतु भगवदीयान्निरपराधिनः । मण्डूका-दयो मृतप्राया वृष्ट्योद्गच्छन्तीति दृष्टेवृष्टित्वम्। तेष्वनुग्रहो ब्रह्मत्वबोधकः । न ह्यन्य आधिदैविके-ष्वनुग्रहकरणसमर्थः । यदेतन्नभाव्यमिति च संयोजना सङ्गच्छते । लौकिकसाधनेषु मन्त्रा-दिना विषं दूरीकृत्य पश्चाज्जीवनं प्रसिद्धम्। अत्र सविषाणामेव जीवनं भगवत्कार्यमिति कश्चित् । हास्यमात्रत्वे न काचिच्चिन्ता ।।२८।।

व्याख्यार्थ—इस श्लोक में श्री वल्लभाचार्य श्री को 'बालान्' और 'पालान्' ये दोनों पाठ सम्मत हैं। पहले 'बालान्' पाठ स्वीकार कर एक पक्ष का निरूपण करते हैं। बाल और पाल दोनों में हसित सिद्ध होता है। जो स्वयं पाल्य है वे भगवान् के पालक बनते हैं यह हास्य ही है। जो स्वयं बालक हैं, वे भगवान् को बालक मानते हैं, यह भी हास है। यह लीला हसित धर्म क्यों है ? इसका उत्तर देते हैं कि 'यत्'। कारण कि गायों के खिड़क में व्रजरूप पशु और व्रजरूप बालकों को विष मिश्रित यमुना जल पी जाने से मृत्युग्रस्त हुओं को भी अपनी अनुग्रह की दृष्टि की वर्षा करके जिन श्रीकृष्ण ने जिला लिया। विष का पीथ (पान) कर लिया जिन्होंने। जैसे सोम रस के पान कर लेने से मृत्युग्रस्त देवगण अमर हो जाते हैं। इस तरह विष मिले जल को पी लेने वाले पशु और गोप बालकों को जिलाया। यह एक पक्ष है। 'अनुग्रह दृष्टि वृष्टि से' यह साधन है पशु और बालकों का जीवन साधन उनके पास कुछ नहीं था। किन्तु उनके जीवन का साधन भगवान् की कृपा दृष्टि की वर्षा ही हो गई।

इतना ही नहीं किन्तु उस यमुना की शुद्धि के लिये (निर्विष करने के लिये) अति पराक्रमी

होने से जिसकी जिह्वा चंचल हो रही थी ऐसे कालिय सर्प को खेल करते-करते ही यमुना में से अलग कर देंगे। यहां 'उच्चाटयिष्यत्' की जगह 'उच्चाटयिष्यति' ऐसा समझ लेना चाहिये इकार का लोप हो गया है। क्योंकि श्रीमद्भागवत् वेदवत् है। वेद में अनेक व्याकरणों से कार्य होते हैं। अथवा 'उच्चाटयिन्' ऐसा पाठ रखकर 'नुम्' का अभाव कर लेना। वेद होने से। और अर्थ तो अजीवयत् कर लेना अर्थात् विहार करने के लिये सर्प को हटाते हुए सबको जिवा लिया। 'उच्चाटयिष्यत्' और अजीवयत् ये दो-दो क्रियाओं का साहचर्य क्रियातिपति अर्थ दिखाने के लिए दिया है। किंवा उच्च यह निपात और आङ् उपसर्ग लगाकर अट् धातु का लृङ् लकार का रूप 'उच्चाटयिष्यत् होता है और फिर उसके साथ अजीवयत् है। इसका यह तात्पर्य होता है कि जब सर्प को यमुना से हटा देंगे तब ही पशु और पालों को जिवा लिया कहा जा सकेगा। अन्यथा आज जिवा लिया और कल पानी पीकर फिर मर जावेंगे तो यह जिवाना किस काम का?

यहां जो पशु और पालन करने वालों का जीवन हुआ है वह भगवान् की कृपा दृष्टि की वर्षा रूप साधन का कार्य कहा, किन्तु यह तो अल्प अलौकिक कार्य है। विहार में भी कुछ अपूर्वता नहीं है क्योंकि भगवान् का विहार तो गरुड़ादि देवों के साथ भी होता ही है। योगी लोग भी अपनी दृष्टि से मृत को जिवा लेते हैं इसलिये यहां 'उच्चाटयिष्यत्' इस क्रिया को क्रियातिपत्ति अर्थ में लृङ् लकार का रूप मानना उचित है। यह चरित्र समझदारों को किंवा भगवान् को अपने हास्य के लिए है। हम भगवान् की कृपा का पालन करेंगे, इस दृष्टि से कितने ही ग्वाल लोग श्री कृष्ण के साथ वन में आते थे। पर आज श्रीकृष्ण ने उनकी उस समझ की हंसी उड़ा दी। विषयुक्त यमुना जल का पानकर निर्जीव हो जाने वाले उन रक्षकों की स्वयं ने रक्षा कर अनि दान देकर आप उनमें ही सम्मिलित रहे और परीक्षा कर ली कि देखे ये लोग मेरी रक्षा करने वाले कैसे हैं, और जब वे किसी तरह भी रक्षा न कर सके तब उनके पालकत्व की हंसी उड़ाते हैं।

अथवा 'व्रज पशून पालान्' यह पाठ रखना अर्थात् पशु रूप पालों को जिवाया। तत्तद्देव रूप, जो आधिदैविक पशुरूप होने पर भी भगवदिच्छा से आधिभौतिक गोवत्सादि पशुरूपों में पैदा हुये थे, उन्होंने पूर्वजन्म में अपराध भी किये थे अतएव उन्हें काल ने इस निमित्त से मारे। अन्यथा भगवद्भक्त गोवत्सादि पशुओं को विषपान करने और अकस्मात् मरने में कोई कारण नहीं मिलता। इस पक्ष में 'विषतोयस्य पीथं पानं येभ्यः।' ऐसा समझना, और अर्थ भी ऐसा करना कि 'विष मिला हुआ जल जिनके लिये पिलाया गया। जिन्होंने अपराध किया हो और जिनके उस तरह से ही मारने की भगवदिच्छा हो उन्हें ही काल (मृत्यु) ग्रसता है। निरपराधियों को नहीं। इससे यह सिद्ध है कि जिन अपराधी पालों ने (देवों ने) भगवदिच्छा से व्रज में गोवत्सादि पशुरूप धारण किया था उन पर स्वतन्त्रेच्छ होने से श्रीकृष्ण परब्रह्म ने अपनी अनुग्रह दृष्टि की वृष्टि की और वे जी उठे। इसी तरह भगवान् श्रीकृष्ण की कृपा दृष्टि से गोवत्सादि जी उठे। अतएव दृष्टि को वृष्टिरूप से कहा।

ऐसे अपराधियों पर भी अनुग्रह किया यह कार्य श्रीकृष्ण को परब्रह्म पूर्ण पुरुषोत्तम कह रहा है। आधिदैविक और भगवदपराधियों पर अन्य कोई भी अनुग्रह नहीं कर सकता। पूर्ण ब्रह्म ही उन पर अनुग्रह कर सकता है। श्रीकृष्ण पूर्ण परब्रह्म हैं, यह सिद्ध है। 'यत् एतत् तन्न भाव्यं'

ऐसी संगति सब श्लोकों में जिन टीकाकारों ने लगाई है उन लोगों का कहना भी एक तरह से उचित हो सकता है। क्योंकि ये सब चरित्र भगवान् श्रीकृष्ण एक के ही किये हुये हैं। इसलिये कोई एक विद्वान् भी ऐसा कहता है कि मन्त्र आदि लौकिक साधनों से पहले विष दूर कर दिया जाता है फिर जीवन होता है, किन्तु यहां बिषयुक्त गोवत्सादि को जीवन दिया गया यह भगवच्चरित्र होने से विशेष है। यह भगवान् का हास्य मात्र है, इसलिये ऐसे आशय में भी किसी तरह की बाधा नहीं हो सकती ॥ २८ ॥

आभास—हसितं निरूप्य ईक्षणं निरूपयति—

आभासार्थ—इस तरह हसित धर्म का निरूपण कर अब ईक्षण कर्म का निरूपण करते हैं—

श्लोक—**तत्कर्म दिव्यमिव यन्निशि निःशयानं**
दावाग्निना शुचिवने परिदह्यमाने।
उन्नेष्यति व्रजमितोऽवसितान्तकालं
नेत्रे पिधाप्य सबलोऽनधिगम्यवीर्यः ॥ २६ ॥

श्लोकार्थ—जिस रात्रि के समय वन की अग्नि से मुंजवन सब का सब जलने लगा और उसके मध्य में आये हुये व्रजवासी लोग किंवा सारा व्रज का व्रज अपने अन्तकाल का निश्चय कर चुका था। उस समय बलदेवजी सहित श्रीकृष्ण भगवान् ने ही उन सब के नेत्र मिचवाकर उस व्रज को बचा लेना अतएव इनके बल का पार नहीं है ॥ २६ ॥

सुबोधिनी—तत्कर्म दिव्यमिवेति। तस्य भगवतः कर्म दिव्यमिव। दिवि भवं दिव्यं अलौकिकम्। इवेतीन्द्रादीनामप्यशक्यम्। यद्दावाग्निना ग्रीष्मसम्बन्धिनि वने परिदह्यमाने सति तन्मध्ये निशि निःशयानं व्रजमुन्नेष्यति ततोऽन्यत्र स्थापयिष्यति। इतः अस्मात्स्थानात्। इतो हेतोर्वा। अवसितः अन्तकालो येन। अस्माकमयमन्तकाल इति व्रजस्थैर्विचारितम्। इदं हि चरित्रं दावाग्निविमोचकं वारद्वयनिष्पन्नम्। कालीयह्रदसमीपे, मुञ्जाटव्यां च। तत्रैकत्र नेत्रे पिधाप्य मुञ्जाटवीं त्याजयित्वा समानीताः। अन्यत्र तु निशि निःशयानमिति। अन्यानि साधारणपदान्युभयत्र। ईक्षणमपि द्विरूपं नेत्रद्वयेन जन्यते। तस्मात्सङ्कटादुन्नेष्यतीत्युभयत्र साधारणम्। उन्नयनं हि देवार्थं पृथक्करणम्। तथैते स्वार्थं रक्षिताः। अग्निपानं ब्रह्मधर्मः अन्यत्र नयनं च। यदत्राऽग्निपानं न निर्दिष्टं तत्पुनः प्रश्नव्यावृत्त्यर्थम्। अन्यथा कथमग्निं पीतवानिति प्रश्नः स्यात्। अत एव दिव्यमिवेत्युक्तवान्। न तु स्वरूपम्। देवगुह्यं चैतत् ॥२६॥

व्याख्यार्थ—मुञ्जाटवी में से गोप गोवत्सादि व्रज को बचा लेना यह कर्म अलौकिक जैसा हुआ। पृथ्वी पर नहीं, पर स्वर्गादि में होने योग्य कर्म को दिव्य कहते हैं। इस लोक में किसी से

न हो सके ऐसा हुआ। 'इव' शब्द का तात्पर्य है कि स्वर्गादि में इन्द्र आदि लोकपाल भी ऐसा कर्म नहीं कर सकते। रात्रि के समय सोते यह और वह भी गरमी में शुष्क वन में दावाग्नि से सारा वन जलने लगा। उस वन के मध्य में व्रज के गोप गोवत्स आदि भी निश्चिन्त सो रहे थे और वे सब जगने पर उस प्रचण्ड अग्नि को देखकर अपना मरण निश्चित समझ चुके थे। ऐसी अवस्था में श्रीकृष्ण ने उन सबको वहां से हटाकर अन्यत्र पहुँचा कर बचा लिया। यह दावाग्नि से बचा लेना चरित्र दो बार किया है। पहला कालिय ह्रद (दह) पर और दूसरा मुंजवन में। वहां एक जगह तो जागृत अवस्था में नेत्र मिचवाकर मुंजाटवी से घर पर ले आये और दूसरी बार तो रात्रि को सोते हुओं को वनाग्नि में से निकाल कर अपने अपने स्थान पर ले आये 'शुचिवने' आदि साधारण पदों का अर्थ तो दोनों चरित्रों में समान ही है। दोनों लीलाओं को एक साथ कह देने का यह तात्पर्य है कि देखना 'ईक्षण' भी दो नेत्रों से एकरूप ही होता है। लीला यद्यपि द्विरूप है तथापि देखरेख रखना सबको बचा लेना एक ही है। संकट से उबार लेना दोनों वार समान है। देवता के लिए पृथक् कर लेना 'उन्नयन' कहा जाता है। गोप गोवत्सादि का उन्नयन किया इसका यह अर्थ है कि श्रीकृष्ण ने अपने उपयोग में लेने के लिए अपनी सेवा कराने के लिए उन सब को पृथक् कर लिया। इस लोला में अग्नि का पान कर जाना पूर्ण ब्रह्म का चिन्ह हैं और एक जगह से दूसरो जगह अपने आप पहुँचा देना भी परब्रह्म का धर्म है। दशमस्कन्ध में इस चरित्र में अग्निपान कहा है और यहां नहीं कहा इसका आशय यह है कि वैसा कहने पर किसी को फिर प्रश्न करने का अवसर आता। सो न हो, इसलिये उन्नयन मात्र कहा। यदि कोई कहे कि प्रश्न होता तो हानि क्या थी तो इसका उत्तर देते हैं 'देवगुह्यं चैतत्' मृत्यु से बचाना आदि विषय देवों की भी समझ में नहीं आ सकते तो फिर मनुष्यों का इस विषय में विशेष प्रश्न करना व्यर्थ है॥ २९॥

आभास- एवमीक्षणं विनिरूप्य उल्लसत्त्वं निरूपयति—

आभासार्थ—इस तरह ईक्षण धर्म का निरूपण करके अब उल्लसत्त्व धर्म का निरूपण करते हैं—

श्लोक—**गृह्णीत यद्यदुपबन्धममुष्य माता**
शुल्बं सुतस्य न तु तत्तदमुष्य माति।
यज्जृम्भतोऽस्य वदने भुवनानि गोपी
संवीक्ष्य शङ्कितमनाः प्रतिबोधिताऽऽसीत्॥ ३०॥

श्लोकार्थ—श्री यशोदा (श्रीकृष्ण की माता) श्रीकृष्ण को बांधने के लिये जो-जो और जितने-जितने बन्धन रज्जू लेती जाती थी वे वे उतने-उतने भी उस पुत्र के श्री अंग में पूरे नहीं होते थे कुछ कम होते जाते थे। अतएव बांधना पूरा होता भी नहीं था। और जिस समय श्रीकृष्ण ने जम्भाई ली उस समय उनके मुखारविन्द में जगद्वर्ती सब लोकों को देखकर श्री यशोदा पहले तो कुछ अचरज में आई पर पीछे सब कुछ समझ गई॥ ३०॥

सुबोधिनी—गृह्णीतेति । इदं हि चरित्रं भगवतो ब्रह्मत्वबोधकम् । अन्यत्तु योगमन्त्र-मण्यादिभिरपि सिद्धयतीति नैकान्तिकं भगवत्त्व-साधकम् । यथैतच्चरित्रद्वयं भगवत्त्वं साधयति तथा भाष्ये निरूपितमधिकरणद्वयेन । न हि यः सर्वात्मको न भवति येन रूपेण स हि तेन बंधनं नार्हतीति युक्तम् । यदेव बन्धनार्थं उपबन्धं रज्जुं गृह्णीत गृह्णाति तत्तदेव अमुष्य बन्धने न माति । भगवत एवाऽऽद्यन्तयोर्विद्यमानत्वाद्-बह्वोऽपि योजिता एकमिव भवन्ति । तस्य च परिदृश्यमानमुदरं सर्ववस्तुषु वस्तुस्वरूपमेव । आद्यन्तयोश्च विद्यमानं । तस्मादमानं युक्तम् । किञ्च । यस्य भगवतो जृम्भमाणस्य मुखे भुवनानि संवीक्ष्य शङ्कितमना: प्रतिबोधिताऽप्यासीत् । इदं हि चरित्रद्वयं विश्वाधारत्वमनुभव-मोहकत्वं च । यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वाणि भूतान्यन्तरयतीत्यन्तरः । स हि गोकुले तिष्ठन् गोकुलमन्तः स्थापयति । न चैतन्मायिकम् । श्रुतिसिद्धत्वात् । यशोदायाश्च तत्राऽप्यनुभवात् । विचारेणाऽपि **"अथो अमुष्यैव ममाऽर्भकस्ये"**ति वाक्याद्ब्रह्मधर्म एवाऽयम् । अस्तु वा तत् । तदानीमेव शङ्किता प्रतिबोधिताऽप्यासीत् । पुत्र एवाऽयं ममेति ज्ञातवती । नह्यनुभवस्य स्मृति-संस्काराजनकत्वं भगवन्मायाव्यतिरेकेण सम्भवति । अयमेव हि भगवत उल्लासः । जृम्भा च भगवतैव जनिता मुखविकासहेत्वर्थम् । अतो निमित्तान्तरेऽपि मुखविकासे जगत्प्रदर्शनं तदैव हि प्रतिबोधनम् । प्रथमप्रदर्शने तु **सुविस्मिते**-त्येवाऽध्यायसमाप्तिः । **'वैष्णवीं व्यतनोन्मायामि'**ति तत्रैवोक्तत्वात् । एवं चतुर्भिः श्लोकैः चतुर्मूर्त्तिर्भगवतः सङ्कर्षणा-निरुद्ध-प्रद्युम्न-वासुदेव-निर्णय उक्तः । सर्वे वा सर्वत्र ॥३०॥

व्याख्यार्थ—इस श्लोक में श्रीकृष्ण भगवान् के दो चरित्रों का वर्णन है । और ये चरित्र स्वरूप का उल्लास धर्म है और एक पक्ष यह भी है कि 'लोकेन्' 'यद्वै' 'तत्कर्म' और 'गृह्णीत' इन चार श्लोकों में पांच चरित्रों का वर्णन है । पूर्व श्लोक में तीन का और इस श्लोक में दो चरित्रों का । भगवान् ने अपने मुखारविन्द में दो बार विश्व दर्शन कराया है, किन्तु उन दोनों चरित्रों में सम्मिलित वर्णन एक ही है । २७वें श्लोक से ३०वें श्लोक पर्यन्त चतुर्व्यूहों का भी निरूपण है और ये सब चरित्र प्रेम दान करने के लिये किये गये हैं, इसीलिये श्रीकृष्ण पूर्णब्रह्म हैं, यह भी यहां स्पष्ट कर दिया है । चारों श्लोकों में प्रेम चरित्र तो स्पष्ट है ही ।

योग, मन्त्र, मणि और औषधादि का प्रभाव, अगाध है, और मनुष्य बुद्धि (समझ) में न आवे ऐसा होता हैं । जीवनदान, गाड़े को उलट देना, वृक्ष को गिरा देना, दावाग्नि को पी जाना आदि चरित्र तो योग मन्त्र आदि साधनों से भी बन सकते हैं, अतएव उन चरित्रों से श्रीकृष्ण का पूर्ण ब्रह्मत्व सिद्ध होना निश्चित् नहीं भी हो सकता । किन्तु 'गृह्णीत' श्लोकोक्त सर्व व्यापकता रूप धर्म तो श्रीकृष्ण को निश्चित पूर्ण ब्रह्म सिद्ध करता है । 'बन्धन में न आना' और 'जृम्भा में लोकदर्शन' ये दो चरित्र श्रीकृष्ण को पूर्ण ब्रह्म सिद्ध करते हैं, यह बात, वैयास सूत्र और उसके ब्रह्मवाद 'वल्लभ' भाष्य में दो अधिकारणों से सिद्ध कर दी गई है । उपनिषद् में 'यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानं मात्मानंवैश्वानरमुपास्ते, स सर्वेषु लोकेषु भूतेषु सर्वेस्वात्मस्वन्नमत्ति' । इत्यादि संदिग्ध श्रुतियां हैं । उनका निर्णय करने के लिए 'वैश्वानरः साधारणशब्द विशेषात्' । यह विचार सूत्र वेदव्यास ने कहा है । यहां मूर्धा चिवुक आदि अंगों में व्यापक वैश्वानर को पूर्ण ब्रह्म सिद्ध किया है और उसमें कारण दिया है, साधारण से विशेष शब्द को वैश्वानर आदि शब्द

साधारण हैं प्राकृत पदार्थों के भी वाचक हो सकते हैं, किन्तु उनसे भी विशेष प्रादेशमात्र' अभि-विमानं शब्द स्पष्ट ही वैश्वानर को पूर्ण ब्रह्म कह रहे हैं। विरुद्ध धर्माश्रय और सूक्ष्म रहते भी सर्व व्यापक ये दो धर्म खास पूर्ण ब्रह्म के ही है। छोटा सा होकर भी सबको अपने पेट में भरकर रहना यह पूर्ण ब्रह्म का लक्षण है। सो जृम्भालीला में श्रीकृष्ण ने अपने स्वरूप में दिखा दिया है।

यही बात 'आमनन्ति चैन यस्मिन्' सूत्र में भी सिद्ध की है । 'एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा योऽविमुक्ते प्रतिष्ठित:' इत्यादि वेदवाक्यों के सन्देह को दूर करने के लिए पूर्वोक्त सूत्र हैं । यहां भी मूर्धा चिबुक आदि में प्रतिष्ठित आत्मा को अनन्त कहा है इसलिये यह पूर्ण ब्रह्म ही हैं यह सिद्ध किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि जो आत्मा छोटा सा होकर भी नाप तोल में न आवे वह ब्रह्म का विरुद्ध धर्माश्रयता लक्षण किया है। सो बन्धन लीला में भी है। अतएव यह कहना उचित हो है कि ये दो चरित्र श्रीकृष्ण के निश्चित ब्रह्मत्व के बोधक हैं। भगवान् सर्वरूप हैं। सर्वत्र विद्यमान हैं। अतएव रस्सी प्रभृति अपने हो रूप से आप ही कैसे बंध सकते हैं ? उनका नाप कैसे हो सकता है ? यह तो कोई नियम है ही नहीं कि जिस रूप से जो सर्वात्मक न हो, वह उस रूप से बंधन में नहीं आता। भगवान् श्रीकृष्ण रस्सी रूप से सर्वात्मक (व्यापक) नहीं हैं इसलिये रस्सी से बंधन में नहीं आ सकते, यह कोई ब्रह्म वाक्य नहीं है। और न ऐसा कोई नियम ही है तथापि भगवान् सवा दो वर्ष के होकर बड़ी-बड़ी रस्सियों से भी नहीं बंध सके यह उनकी सर्वव्यापकता, सर्वरूपता ही है। जो भी रज्जू बंधन के लिए मां यशोदा लेती थी वही वही रज्जू इन छोटे से स्वरूप की कमर को बांधने में पूरी नहीं पड़ती थी। फिर उसे बड़ी बनाने के लिए आगे पीछे दोनों तरफ दूसरी रज्जू जोड़ी जाती तो भी वे सब आपस में एकता को प्राप्त हो जाती थी अतएव पूर्ववत् नाप की ही रहती थी और छोटी पड़ जाती थी। डोरी डोरी सब एक, सब ही भगवान्। आप ही अपनी गोदी में कैसे चढ सकता है। इसी तरह से अपने से ही आप कैसे बंध सकता है यह ठीक ही है। जैसे सुवर्ण, सब ही गहनों में उनका वस्तु स्वरूप ही है। क्योंकि वे सब तद्रूप है, सुवर्ण से ही बने हैं। इसी तरह जब सारा जगत भगवत्स्वरूप से ही बना है अतएव भगवद्रूप से बना है तो श्री कृष्ण का वह दीखता हुआ छोटा सा भी उदर सब पदार्थों का स्वरूप ही था। वस्तु तत्त्व से ही वस्तु तत्त्व का बन्धन नहीं हो सकता। वस्तु का स्व-निज रूप वस्तुतत्त्व कहा जाता है। जैसे गहने का स्व-रूप सुवर्ण वस्तु तत्त्व है। आद्यन्त में जो जोड़ी रस्सियां वे भी भगवान् ही थे । इसलिये उनका उसमें समा जाना नहीं होता था। यह प्रमेयोध्यास धर्म है । नपने में साधन रूप रज्जु पर्याप्त नहीं हुई यह प्रमेयोल्लास लीला है। इस लीला, इस धर्म का अन्तर्यामी ब्राह्मण में भी निरूपण है । प्रमेय भगवत्स्वरूप इतना उल्लसित-वर्धित हो जावे कि सबको अपने भीतर ले लेवे तो अब उसे कौन कैसे नाम में ले सकता है। प्रमेयोल्लास भगवान् का धर्म है।

अब दूसरी लीला का निरूपण करते हैं कि 'यज्जृम्भत:' जिस समय भगवान् ने अपना श्री मुख एकदम खुला किया उस समय उस मुख में गोपी श्री यशोदा ने सब लोक और भुवनों को देखा। और देखकर मन में अनेक शङ्कायें करने लगी। किन्तु फिर विचार करते-करते अपने पुत्र का ही कोई यह स्वाभाविक गुण है यों समझकर नि:शंक हो गई। मुख में सर्व जगत को दिखाना और अनुभव को मोहित कर देना ये दो चरित्र, श्रीकृष्ण भगवान् को विश्व के आधार और सबके अनुभव को भुलवा देने वाला कह रहे हैं। अन्तर्यामी ब्राह्मण में अन्त:स्थित ही सबको अपने भीतर

ले लेता है इस लीला को कहने वाली अनेक श्रुतियां हैं ; वह अन्तर्यामी जड़ चेतन सबको अपने भीतर ले लेता है। और उसको कोई पहिचान नहीं सकता यह कई बार कहा है।

यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरो, यं विज्ञानं न वेद यस्य
विज्ञानं शरीरं यो विज्ञान मन्तरो यभयत्येत आत्मान्तर्याम्यभृतः।

यहां सब ही श्रुतियों में दूसरी बार आये हुये 'अन्तरः' शब्द की व्युत्पत्ति अन्तरयतीति अन्तरः है। अर्थात् वहां के उस वाक्य का सम्पूर्ण अर्थ यह होता है कि जो सब चराचर जगत् में रहता हुआ भी सब भूत प्राणियों को अपने भीतर कर लेता है वह अन्तर्यामी भगवान् आनन्द स्वरूप है। यह अन्तः स्थापन रूपधर्म उस परब्रह्म का प्रमेयोल्लास (उल्लसत्व) धर्म है। सो ही धर्म श्रीकृष्ण ने यहां प्रकाशित किया है। सबके भीतर समाये हुए रहते हुए भी श्री गोकुल में स्थित रहते हुए भी गोकुल को अपने भीतर धरे हुए हैं।

यदि कोई कहे कि मुख में सर्व भुवनों को दिखाना मायिक है झूठा है तो उसके उत्तर में कहते हैं कि 'न श्रुति सिद्धत्वात्' यह दिखाना झूठ मायिक नहीं हो सकता, क्योंकि सर्व भुवन का अन्तःस्थापन श्रुतियों में भी कहा है, इसलिये यशोदा को मुख में प्रत्यक्ष भुवनों का अनुभव हुआ है श्री यशोदा ने 'अथोऽमुष्यैव ममार्भकस्य' इत्यादि वाक्यों से वहां ही उसका विचार भी कर लिया है। क्या यह माया है ? क्या मेरा ही कोई बुद्धि भ्रम है। सब तरह की तलाश कर लेने के बाद श्री यशोदा को यह निश्चय हुआ कि नहीं, यह तो मेरे इस बालक का ही कोई औत्पत्तिक (सहज) धर्म है। इसलिये वह ब्रह्म का ही धर्म था। यदि कोई कहे कि 'वैष्णवीं व्यतनोन्मायां पुत्रस्नेहमयीं विभुः।' इस वचन से मालूम होता है कि भगवान् ने अपनी माया का जाल यशोदा पर डाला था इसलिये मुख में जो कुछ देखा वह माया झूठा था यह कहने में क्या हानि है। इसके उत्तर में कहते हैं कि 'अस्तुवा तत्' भले मायाशक्ति से दिखाना ही क्यों न हो, तथापि यह दिखाना ब्रह्मत्व बोधक है। 'अभ्युपगम्यवाद से खण्डन करते हैं। पहले कुछ भूल में पड़ी, पर पीछे श्री यशोदा सब कुछ समझ भी गई यह मेरा पुत्र श्रीकृष्ण ही है और इसी का यह सब कुछ प्रभाव है। वहां के 'शङ्कित मनाः' पद से दशमस्कन्धीय मुख्यलीला में जो कुछ श्री यशोदा के मनोविचार हुये थे, उनका स्मरण होता है। वहां उसके मन में ये विचार हुये थे।

किं स्वप्न एत दुत देव माया किंवा मदीयो बत बुद्धि मोहः।
अथो अमुष्यैव मभार्भकस्य यः कश्चनौत्पत्तिक आत्मयोगः ।। इत्यादि
सद्यो नष्ट स्मृतिर्गोपी·······

यहाँ जो यशोदा को ज्ञान हुआ है वह न तो अपेक्षाजन्य ज्ञान है; और न संशय ज्ञान है, किन्तु संशयादि का सब विचार कर लेने के बाद यह निश्चय अनुभव हो गया कि नहीं; यह तो मेरा पुत्र ही है और इसी के माहात्म्य का प्रदर्शन है। और जब अनुभव हो गया तो उसके पीछे उस अनुभव का संस्कार या स्मृति हृदय पर रहना ही चाहिये पर वहाँ कहा है कि 'सद्योनष्ट स्मृतिः' स्मृति नष्ट हो गई। भला यह कैसे हो सकता है और हुआ तो है ही। अनुभव होने पर भी स्मरण न रहना यह माया का कार्य है। यह हम भी मानते हैं, पर विचार करना चाहिये कि यह माया क्या

पदार्थ है ? गत्या अगत्या कहना पड़ेगा कि भगवान् की माया भगवान् की शक्ति है। कारण के रहते हुए भी कार्य का न कराना, न होने देना यह ब्रह्म की 'अकर्तु' सामर्थ्य है। नहीं करने का भी सामर्थ्य ब्रह्म में ही है अन्य में नहीं, । श्रीकृष्ण ने अपने सर्वव्यापक सर्वाधार स्वरूप का अनुभव कराकर भी उसके संस्कार, उसके स्मरण को अपनी शक्ति से रोक दिया। न होने दिया यह परब्रह्म श्रीकृष्ण का अकर्तु सामर्थ्य है।

यह भगवान् का उल्लास धर्म है। इस लीला से सक्षम स्वरूप की व्यापकता स्पष्ट होती है। ऊति स्कन्ध के अन्तिमाध्याय में भावाद्वैत का निरूपण है—

''कार्यकारणवस्त्वैक्यमर्शनं पट तन्तुवत् ।
अवस्तुत्वाद्विकल्पस्य भावाद्वैतं तदुच्यते ।।'

विशेष बुद्धियाँ सब ही अवस्तु हैं पृथक नहीं है। तत्स्वरूप हो हैं। इसलिये कार्य और कारण रूप वस्तुओं का ऐक्य ही निश्चित है वही भावाऽद्वैत कहा जाता है। पटादि पदार्थ कार्य हैं और उनके कारण सूत आदि पदार्थ हैं किन्तु यदि तत्व दृष्टि से देखा जाय तो पट भी सूत्र ही है। यहाँ भावाद्वैत है। 'गृह्णीत' श्लोक के पूर्वार्द्ध में भी बन्धन में न आना द्वय भावाद्वैत का निरूपण है, रस्सी प्रभृति की भगवान् से एकता होने से। यह ऊति लीला है। अव्यक्त व्यापक पुरुषोत्तमत्व की अवस्था में उल्लास को ही ऊति नाम दिया है। (यह हम अध्याय के प्रारम्भ में ही कह चुके हैं।) सप्तम स्कंधोक्त सब लीलायें ऊति लीलायें हैं। और वही प्रकट पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण अवस्था में उल्लास धर्म किंवा लीला है सो बन्धन में न आना और मुख में विश्व दर्शन, दोनों उल्लास धर्म है। बिना प्रार्थना के स्वतः प्रसन्न होकर विश्व का प्रदर्शन कराना यह प्रमेयोल्लास है। उल्लसित होने से ही दिखाया है, यह उल्लास ही ऊति है। यह स्पष्ट करने के लिये इसकी कर्म जन्यता कहते हैं। 'जृम्भाच भग'। वासना दो प्रकार की है। भगवद्वासना और जीववासना। भगवद्-वासना का स्पष्टीकरण भगवत्कृत कर्मों से होता है और जीव वासनायें जीवकृत कर्मों से स्पष्ट होती है और तैयार भी की जाती है जमहाई भगवत्कृत् कर्म है। उससे भगवान् की जगत् प्रदर्शन वासना स्पष्ट हुई। मुखोल्लास होने के लिये भगवान् ने भी जिम्भाई पैदा की। मृत्साभक्षण आदि निमित्त से भी जहां मुख फाड़कर विश्व प्रदर्शन कराया]। वहां भी यही उल्लासरूप ऊतिलीला है। वहां दिखाकर श्री यशोदा को उल्लास समझा भी दिया है। ऊति शिशु अवस्था में जो जृम्भाली है वहां भी विश्व दर्शन कराया है पर वहां श्री यशोदा को 'सुविस्मिता' करके छोड़ दिया है। अध्याय की समाप्ति हो गई है। किन्तु दूसरी बार दोनों समय के विस्मय का समाधान कर दिया है। 'वैष्णवीव्यतनोन्मायां पुत्रस्नेहमयीं विभुः।' जगत् भगवान् की सन्तान है मुख में उसका प्रदर्शन कराकर वंश का उल्लास भी दिखा दिया। भगवान् पूर्ण पुरुषोत्तम चतुर्व्यूह को स्व स्वरूप में रख व्रजनन्द ग्राम में प्रकट हुए हैं। अतएव भगवान् की लीलाओं में उनके भी कार्य मालूम होते रहने चाहिये। और खास पुरुषोत्तम के भी।निःसाधनों को अपना प्रेम देना यह खास पूर्ण पुरुषोत्तम का कार्य है। यह कार्य अन्य शक्य नहीं। दुष्कृत विनाश कार्य संकर्षण का है। वंश प्राकट्य प्रद्युम्न का कार्य है। धर्म आदि का कार्य अनिरुद्ध का कर्त्तव्य है। और निःसाधनों को मोक्षादि फल दान करना वासुदेव का कार्य है। यहां पूर्वोक्त ४ श्लोकों में प्रत्येक में प्रत्येक व्यूह का कार्य कहा गया है यह प्रथम पक्ष है। और चारों श्लोकों में चारों के कार्य कहे गये हैं यह द्वितीय पक्ष है। 'तोकेन'

इस श्लोक में जीवहरण, अपवर्त्त, अर्जुनोत्पाटन कार्य संकर्षण का है। और द्वितीय पक्ष का व्याख्यान श्लोक में ही कर दिया है। 'यद्व' श्लोक में पशु और पालों को जिवाने से धर्मादि को रक्षा का कार्य अनिरुद्ध का कहा है। 'तत्कर्म' श्लोक में उन्नयन अर्थात् स्थिति स्थापक होकर प्रद्युम्न का कार्य दिखाया। दावाग्नि का नाश संकर्षण का मृत्युवारण वासुदेव का धर्मरक्षा और वंश स्थापन भी उसी से आ गया। 'गृहस्यति' श्लोक में स्वरूप ज्ञान कराना वासुदेव का कार्य है। यह प्रथम पक्ष और द्वितीय पक्ष में पुत्र बुद्धि को उत्पन्न करना प्रद्युम्न कार्य, मन की शंका धूजना प्रभृत्ति संकर्षण का मुख खोल देना माता की आज्ञा करना अनिरुद्ध कार्य। इन सब लीलाओं से आप सब निःसाधन व्रज को प्रेम भक्ति का दान करते हैं यह सर्वत्र श्री पुरुषोत्तम का कार्य स्पष्ट है ही।३०।

आभास—एवमुल्लासं निरूप्य भ्रुवं निरूपयति। भ्रूशब्देन हि भगवत्कृतं फलमुच्यते। "**तद्भ्रूविजृम्भः परमेष्ठिधिष्ण्यमि**"ति वाक्यात्। तत्फलं दुःखाभावसुखरूपम्। दुःखस्य परमा सीमा नरकादिः। सुखस्य परमा सीमा वैकुण्ठाख्यम्। तदुभयं भगवान् साधनरहितेभ्यः करोतीति विचारेण भगवत्त्वम्। तत्र दुःखाभावद्वयमाह—

आभासार्थ—इस तरह उल्लास धर्म का निरूपण करके अब भ्रू का निरूपण करते हैं। भ्रू शब्द से भगवदत्त फल लिया जाता है। क्योंकि भगवान् का भ्रूचलन ब्रह्मलोक हैं ऐसा वाक्य है। यह फल दुःखाभावपूर्वक सुखरूप है। दुःख की परम अवधि नरक पीड़ा आदि है और सुख की परम सीमा बैकुण्ठ प्राप्ति। ये दोनों फल श्रीकृष्ण ने साधनरहित गोप आदि को दिये इसलिये विचार से श्रीकृष्ण पूर्णब्रह्म हैं यह सिद्ध है। दोनों फल दान किये सो कहते हैं—

श्लोक—**नन्दं च मोक्ष्यति भयाद्वरुणस्य पाशाद्**
गोपान् बिलेषु पिहितान् मयसूनुना च।
अह्न्यापृतं निशि शयानमतिश्रमेण
लोके विकुण्ठमुपनेष्यति गोकुलं स्वम् ॥ ३१ ॥

श्लोकार्थ—वरुण के पाश रूप भय से तथा सर्प से नन्द को छुड़ा देंगे, और मयासुर के पुत्र ने जिन गोपों को बड़े गड्ढे में कैद कर दिये थे उन्हें भी इन श्रीकृष्ण ने ही छुड़ाये और यही श्रीकृष्ण भगवान् दिन में खूब गोचारणादि काम करके और अतिश्रम से थककर रात्रि को सोते हुये अपने गोकुल को बैकुण्ठलोक में पहुंचावेंगे ॥ ३१ ॥

सुबोधिनी—**नंदं च मोक्ष्यतीति**। भयात्-सर्परूपात् वरुणस्य पाशाच्च। उभयत्राऽपि नन्दो रक्षितो व्रते यात्रायां प्रवृत्तः। अनेनाऽन्ये धर्मा अस्वधर्माः। भगवद्धर्मा एव स्वधर्माः। अतो भगवानात्मा। तस्मात्परब्रह्मेत्यविवादम्। नन्दं चेति चकारो यशोदाया उद्धारं कृत्वा नन्दस्याऽपि समुद्धारं कृतवानित्युक्तसमुच्चयार्थः। नन्द एव वा वारद्वयं मोचित इति। वरुणस्य

पाशाद्यद्भयं तस्मात् । अन्येषामपि दुःखदूरीकरणमाह—**गोपान् बिलेषु पिहितान् मयसूनुना चेति** । मयसूनुर्व्योमासुरः । स हि गोपरूपः समागतो बालकान्मेषायितान्नीत्वा गुहायां स्थापितवान् । तत्र च तैनेव मार्गेण पातालगमने बिलानि सन्ति। तत उक्तं **बिलेषु पिहितानिति** । सर्पादयो वा तत्र निहितान्नयेयुरिति बिलपदम् । चकारादन्येऽप्युपद्रवा अनुक्ताः स्वयमूह्याः । एवं दुःखाभावमुक्त्वा परमसुखमाह—**अह्न्यापृतमिति**। अह्नि दिवसे आपृतं लौकिकक्रियया व्याप्तम् । **निशि शयानमतिश्रमेणेति** निर्भरनिद्रया रात्रौ व्याप्तम् । एवमहोरात्रं परलोकसाधनरहितं स्वमेव वैकुण्ठं व्यापिवैकुण्ठं उप समीप एव नेष्यति । स्वनिकट एव मायाजवनिकां दूरीकृत्य तत्रैव वैकुण्ठे नीतवान् । इदं चरित्रं न योगस्य, न मायायाः, न कालस्य, न मण्यादीनाम् । अतो ब्रह्मचरित्रमेवैतत् । नयने हेतुः **स्वमिति** । आत्मत्वेन भगवांस्तत्परिगृहीतवान् ।।३१।।

व्याख्यार्थ—सर्परूप भय से एक बार, और वरुण के पाश से दूसरी बार, दोनों जगह श्री कृष्ण ने ही नन्दगोप को बचाया । श्री नन्दराज भगवद्धर्मों को छोड़कर देवी के मेले में देवी की पूजा करने गये । यह अन्य धर्माश्रय श्रीकृष्ण को पसन्द न आया । तब वहां अकस्मात् अजगर उन्हें निगलने लगा । सब गोप बालकों ने छुड़ाने का प्रयत्न भी किया, पर कुछ हुआ नहीं । तब भगवान् ने अपने चरण को छुआकर उसकी मुक्ति की । इसी तरह भगवद्धर्म को छोडकर श्री नन्द एकादशी व्रत सविधि क ते थे । द्वादशी को पारण का समय अत्यल्प रह जाने से रात्रि में ही यमुना स्नान करने गये तब व ण के दूतों ने पकड़ कर उन्हें कैद कर दिया । उस समय भी श्रीकृष्ण ने वहां जाकर अपने पिता को छुड़ाया । इससे यह स्पष्ट होता है कि भगवदाश्रित के लिए अन्य शास्त्रोक्त धर्म स्वधर्म नहीं है, किन्तु भगवद्धर्म ही स्वधर्म है । इसलिये श्रीकृष्ण भगवान् आत्मा (परब्रह्म) कहे जाते हैं और वे परब्रह्म हैं यह भी निर्विवाद है । 'नन्दं च' यह चकार इसलिये कहा है कि यशोदा का उद्धार करके नन्द का भी उद्धार करेंगे अथवा नन्द का ही दो बार उद्धार करेंगे, इसलिये वरुण के पाश से जो भय प्राप्त हुआ उससे बचावेंगे । अपने अन्य आश्रित और गोपादि की रक्षा करेंगे यह कहते हैं–'गोपान्' । भय का पुत्र व्योमासुर गोपरूप धारण करके आया था और जो गोप-खेल में मेंढा बनकर उसके दाव में आते जाते थे, उन्हें दूर की गुफा में ले जाकर कैद कर देता और दरवाजे पर आडी शिला लगा देता था । उस गुफा में पाताल में जाने के बड़े-बड़े गडहे थे । अथवा बड़े-बड़े सर्पादि जन्तु ही उन्हें पाताल में ले जावें इस आशय से 'बिल' पद दिया है । दूसरा 'च' इसलिये दिया है कि उस व्योमासुर ने व्रज में और भी कई उपद्रव किये थे उन सबसे श्रीकृष्ण ने व्रजवासियों की रक्षा की । इस तरह दुःखाभाव का निरूपण करके अब परमसुख का वर्णन करते हैं—'अह्नि आपृतम्' इत्यादि । दिन में अपने लौकिक व्यवहार में गुथे हुए और रात्रि में खूब श्रम से थककर गाढी निंद्रा में मग्न रहने वाले अर्थात् इस तरह दिन रात में अपने उद्धार के लिए या परलोक के लिए कुछ भी साधन न करने वाले गोकुल को ख़ास अपने बैकुण्ठ में अति समीप बनाकर ले जावेंगे । अपने पास में ही माया जवनिका (पड़दा) को दूर कर वहीं के वहीं बैकुण्ठ में ले गये । यह चरित्र न योगबल का है, न माया का है, न कालशक्ति का है और न चिन्तामणि आदि का है किन्तु साक्षात् परब्रह्म की ही लीला है । बैकुण्ठ पहुँचाने में हेतु 'स्वम्' है । अर्थात् गोकुल को भगवान् ने अपना करके स्वीकार किया था । इसलिये अन्य साधनों की अपेक्षा ही नहीं की । वहां पूर्वार्द्ध में सद्धर्मरूपाभ्रू का निरूपण है और श्लोक के उत्तरार्ध में ऊतिरूपाभ्रू का निरूपण किया गया है ।। ३१ ।।

आभास—एवं भ्रुवं निरूप्य भङ्गं निरूपयति—

आभासार्थ—इस तरह भ्रू का निरूपण करके अब भङ्ग का उसकी चंचलता का निरूपण करते हैं—

श्लोक—**गोपैर्मखे प्रतिहते व्रजविप्लवाय-**
देवेऽभिवर्षति पशून् कृपया रिरक्षुः ।
धर्त्तोच्छिलीन्ध्रमिव सप्त दिनानि सप्त-
वर्षो महीध्रमनघैककरे सलीलम् ।। ३२ ।।

श्लोकार्थ—व्रजगोपों ने जब इन्द्र के यज्ञ को रोककर गिरिराज का उत्सव मना लिया तब इन्द्र ने व्रज के नाश के लिये व्रज पर भयंकर वर्षा करनी प्रारम्भ कर दी । उस समय गोवत्स आदि की कृपा कर रक्षा करने की इच्छा रखने वाले ये सात वर्ष के श्रीकृष्ण भगवान् सात दिन पर्यन्त खेल ही खेल में हे निष्पाप राजन् गिरिराज गोवर्धन पर्वत को अपने सर्वसमर्थ एक ही श्रीहस्त में धारण करेंगे ।। ३२ ।।

सुबोधिनी—**गोपैर्मखे प्रतिहत इति** । पूर्वसिद्धफलस्य भङ्गोऽत्र निरूप्यते । मखेन रक्षा । मखभङ्गेन क्लेशः । देवताप्रीतिश्च मखफलम् । नियतफलत्वं च तस्य निरूप्य तत्प्रतिघात उच्यते । गोपाः सर्वदा मखं कुर्वन्ति । तैरेव कृत्वा भगवांस्तं मखं दूरीकृतवान् । तस्मिन्मखे प्रतिहते रक्षकत्वात्तदभावे देवे अभिवर्षति व्रजनाश आरब्धः । अनेन देवताप्रीतिर्यागफलमिति निश्चितम् । समर्थावलम्बन एव मर्यादा त्यक्तव्येति सूचितम् । तदा कृपया रिरक्षुर्भगवान् जातः । तदा सप्तवर्षः सप्तदिनानि महीध्रं गोवर्द्धनमेककरे सलीलं धृतवान् **अनघेति** सम्बोधनमुक्तविश्वासाय । धर्त्ता धरिष्यति । **उच्छिलीन्ध्रमिवेति** । भाराभावाय । वर्षाकाले हि उच्छिलीन्ध्रोद्गमः । अलौकिकवर्षात्वादलौकिकोच्छिलीन्ध्रोद्गम इतीन्द्रो बोधितः । सप्तदिनानीति सप्ततन्तुर्यज्ञो बाधितः सप्तदिनानि दुःखं प्रयच्छतीति । यत्रैव धर्मबाधो दृश्यते तत्रैव सप्तदिनान्युच्यन्ते । निवर्त्यं चेद्दुःखं तदा सप्त दिनानि निरन्तरं दुःखं भवति । अग्रे निवर्त्तते । अनिवर्त्यं चेत्सप्तम एव दिवसे भवति । स्वयमपि सप्तवर्षः । सप्तधा परिच्छिन्नं कालमतिक्रांतवान् । अतएव सप्ततन्तुमखभङ्गः अन्यथा फलं च । मर्यादा हि साङ्गेन वेदेन जन्यते । अङ्गानि षट् । आत्मा चैकः । अयं च संवत्सरः प्रजापतिः स साङ्गवेदप्रवर्तक इति तमतिक्रम्य पश्चात्सप्ततन्तुमतिक्रान्तवान् । कालस्य भगवदवच्छेदकत्वाभावात्सप्तधर्मवेष्टनमेव सप्तवर्षत्वम् । अयं च धर्मः सप्तमो भङ्गात्मकः । एककर इति एकां क्रियाशक्ति स्थापितवान् । "**तेरयं साध्यतां मख**" इति वाचनात् । अन्यथा तथैव गोवर्द्धनं स्थापयेत् । **सलीलमिति** । वस्तुतस्तु यागस्य तथात्वाभावाद्भगवतैव तथा संपादनाद्भगवदिच्छयैव गोवर्द्धनः स्थितः । हस्तस्तु केवलं शास्त्रार्थत्वाय प्रदर्शितः । तथापि निरोधोपवासैर्दुःखावश्यकत्वं मत्वा तन्निराकरणाय लीलां कृतवान् । सा हि वेणुवादनरूपा भवति । सप्तरन्ध्रैरमृतपूरकः । तथा सति प्राणाभ्युदयनिःश्रेयसफलसिद्धिः । अतो निरोधदुःखमुपवासदुःखं वा न जातमित्यर्थः ।३२।

व्याख्यार्थ—गोपों के पूर्वसिद्ध फल का भङ्ग यहां निरूपण करते हैं। अर्थात् जीवकृत साधनों का फल भगवद्रूप (वासना से) अस्थिर भी हो सकता है। गोवर्धन यज्ञ के पहले इन्द्रयाग से गोकुल की रक्षा रहती थी और जब यज्ञ बन्द कर दिया गया, तब गोकुल पर क्लेश पड़ा। इसलिये स्पष्ट होता है कि यज्ञादि साधनों से देवों की प्रसन्नता से ही फल मिलता है। किन्तु यह फल नपातुला (सीमित)ही होता है। यह दिखाकर और अब उसका नाश कहते हैं। व्रज के लोग अपने गोवत्सादि की रक्षार्थ सदा से इन्द्रयाग करते चले आते थे। यह अन्याश्रय श्रीकृष्ण को सह्य न हुआ। इसलिये भगवान् ने उन गायों के द्वारा ही उस इन्द्रयाग का भङ्ग करा दिया। उसका होना बन्द कर दिया यज्ञ ही रक्षा करता था किन्तु यज्ञ बन्द हो जाने पर रक्षक के अभाव में इन्द्र ने भयंकर वर्षा से व्रज का नाश करना प्रारम्भ कर दिया।

इससे यह स्पष्ट होता है कि भगवज्ज्ञान रहित याग का फल ज्यादा से ज्यादा देवताओं की प्रीति सम्पादन करता है। वह परम पुरमपुरुषार्थ नहीं है किन्तु गोपों को जब सर्व समर्थ भगवान् श्रीकृष्ण का आसरा मिल गया, तब उन्होंने इन्द्रयाग करना बन्द कर दिया। इससे यह सूचित होता है कि विशेष सामर्थ्यवान् का आश्रय मिलने पर ही शास्त्रोक्त मर्यादा का त्याग करना चाहिये अन्यथा नहीं। तब भगवान् ने कृपा की और व्रज की रक्षा करने वाले हुए।

सात वर्ष के बालक भगवान् श्रीकृष्ण ने सात दिन पर्यन्त गोवर्धन पर्वत को खेल की तरह एक हस्त पर धारण कर लिया। राजा परीक्षित, निष्पाप हैं अतएव अन्तः शुद्ध होने से भगवन्माहात्म्य के वर्णन में इन्हें विश्वास हो सकता है यह दिखाने के लिए उन्हें 'अनघ' निष्पाप यह संबोधन दिया है। धर्ता अर्थात् धारण करेंगे। अनद्यतन भविष्यत् अर्थ होने से यहां धर्ता रूप दिया है। सांप की छतरी* की तरह पर्वत को धारण किया। यह उपमा, भार थोड़ा भी न मालूम होने के लिये दी। बरसात में चारों तरफ उच्छिलीन्ध (सांप की छतरी) उग आती हैं। व्रज में भी अलौकिक वर्षा हुई इसलिये उच्छिलीन्ध्र भी अलौकिक गोवर्धन को बनाया और इस तरह इन्द्र को यह दिखा दिया कि अवस्था बाल्य आदि रहने और वर्षा को रोकने के साधन न होने पर भी मैं अपने सामर्थ्य से सब कार्य सहज कर लेता हूं, अतएव ईश्वरेश्वर हूँ। वर्षा प्रभृति जितने कार्य होते हैं वे भी सब मेरी प्रेरणा से होते थे, इन्द्रादि तुम देवलोक तो निमित्त मात्र होने से वृथा ही अभिमान रखते हो, यह बात सूचित करते हैं कि 'सप्त दिनानि'। यज्ञ को सप्ततन्तु भी कहते हैं। सप्ततन्तु यज्ञ का बाध किया इसलिए सप्त दिन पर्यन्त व्रज को दुःख दिया। जहां धर्म का बाध किया जाता हैं वहां सात दिन का निर्देश आता है। जिस समय निवर्त्य (हट जाने वाला) दुःख होता है वह सप्त दिन पर्यन्त रहकर आगे निवृत हो जाता है। किन्तु अनिवर्त्य(न टलने वाला) दुःख सातवें दिन ही होता है। सप्त दिन पर्यन्त के दुःख को दूर करने के लिए श्रीकृष्ण के वय में सप्त वर्ष कहते हैं। 'स्वयमपि'—भगवान् श्रीकृष्ण भी उस समय सात वर्ष के थे। भगवान् का परिच्छेदक काल नहीं हो सकता, किन्तु काल की मर्यादा का अति क्रम करना है, अतएव भगवान् ने ही स्वयं काल के अवयवों को स्वीकार किया। छः ऋतु और सातवां काल इन सबका अतिक्रम किया। सप्त

---

* इसे लकड़ी का फूल और कुकर मुत्ता भी कहते हैं जो वर्षा में पैदा होता है।

टुकड़ों में बटा हुआ यह काल कुछ भी नहीं कर सका । अतएव सप्त तन्तु याग का भङ्ग हुआ और फल भी विरुद्ध ही मिला । प्रमाण मर्यादा सप्ताधीन है । छः वेदाङ्ग और सप्तमवेद इस सप्तात्मक वेदरूप प्रमाण से मर्यादा का निर्माण होता हैं । यह कालात्मक भगवान् (संकर्षण) संवत्सर नामक प्रजापति है । यही साङ्ग वेद का प्रवर्तक है । अतएव भगवान् ने अपनी पुरुषोत्तमता प्रकट करने के लिए ही दोनों का अतिक्रम किया । पहले वेद मर्यादा का अतिक्रम किया फिर सप्तात्मक काल का अतिक्रम किया । पहले इन्द्रयाग का भङ्ग कराया और फिर इन्द्र ने रोषकर वर्षा की तो सात दिन पर्यन्त गोवर्धन धारण करके ब्रज की रक्षा कर ली, इन्द्र का मान भङ्ग किया । सप्तधर्मों का स्वीकार ही सप्तवर्ष का वय है । प्रस्तुत प्रसंग में यह भङ्गरूप धर्म भी सातवां है । अदीन, लीला,हसित, ईक्षण, उल्लसत्, भ्रू और भङ्ग । पुरुषोत्तमावस्था में ये सात धर्मों का वेष्टन स्वीकार है । और संकर्षणावस्था में पूर्वोक्त । यही सात वर्ष का वय है ।

'एक करे' एक हाथ पर कहने का तात्पर्य यह है कि एक प्रकार की क्रिया शक्ति का ही उपयोग किया । भगवान् के श्री हस्त क्रिया शक्ति है । वाम दक्षिण भेद से क्रियाशक्ति दो प्रकार की है। वाम क्रियाशक्ति केवल प्रमेयोपयोगिनी है और दक्षिण क्रियाशक्ति प्रमाणानुरोधिप्रमेयोप योगिनी है । जो क्रियाशक्ति का उपयोग भगवान् सर्वथा न करते तब तो केवल इच्छा मात्र से ही गोवर्धन को सात दिन तक ऊपर का ऊपर ठहराया रखते किन्तु 'एक करे' कहने से मालूम होता है कि क्रियाशक्ति का उपयोग करना उन्हें इच्छित है, इसलिये प्रमेयोपयोगिनी एक ही क्रिया का उपयोग किया । यह भी गोप बालकों को दिखाने के लिए । प्रमाण बल से स्वरूप (प्रमेय) बल बलवान् है, अतएव क्रियाशक्ति का उपयोग नहीं करना चाहिये था किन्तु 'तैरयं साध्यतां मखः' हे! पिता नन्द रायजी आपने जो पदार्थ इन्द्र-याग के लिए तैयार किये हैं उन्हीं से ये गोवर्धन याग कर लीजिये । यह श्री मुख से कहा है । गिरिराज धारण में एक कर श्री हस्त का ही उपयोग किया है । वास्तव में जो याग किया गया वह प्रमाणानुरोधिन ही था अतएव उससे व्रज की रक्षा असम्भव थी । भगवान् ने ही उसे इस तरह कराया था और अपनी इच्छा से ही गोवर्धन को ठहरा लिया । तथापि मर्यादा वालों की दृष्टि में शास्त्र की रक्षा बनी रहे इसलिए एक श्री हस्त को पर्वत के नीचे छुआ रखा । जिससे मर्यादा वालों को भी संतोष बना रहे । यद्यपि व्रजवासियों को वर्षा कृत (कालकृत) दुःख न होने पाया, तथापि सात दिन तक एक जगह रुके रहना और उपवास करना आदि दुःख तो अवश्य होंगे यों समझकर भगवान् ने खेल किया । वंशी-वादन खेल से किसी को भी उन दुःखों का अनुभव न होने पाया । 'सलीलम्' । वंश में आत्मा का भङ्ग होता है । पुरुषोत्तम दृष्टि से यह भङ्ग,ईशानु कथारूप है । तीन-तीन त्रिक उत्पत्ति, स्थितिलयात्मक है, यह पूर्व में निरूपण कर चुके हैं । ईशानुकथा प्रलयात्मक है, अतएव यह भङ्गरूप हो सो ठीक ही है । बंशी में सात छिद्र होते हैं । उनमें भगवान् स्वकीय अधरामृत का पूरण करते हैं । वेणु वादन का श्रवण; गोवत्सादि व्रजवासीजन करते रहे, अतएव अमृतपान के द्वारा उनके पंचप्राण की रक्षा और अभ्युदय की प्राप्ति हुई । ऐहलौकिक और पारलौकिक अभ्युदय और पांच प्राणरक्षणों इस प्रकार सप्त फलों की प्राप्ति, सप्त छिद्रपूर्ण अधरामृत के दान से हुई और इसीलिए अर्थात् वेणु वादन लीला करते रहने से ही व्रजवासियों को निरोध और उपवासादि का दुःख न होने पाया । इससे यह भी स्पष्ट होता है । यहां अदीनत्वादि धर्म आधिदैविक सर्गादि रूप हैं ।। ३२ ।।

आभास—एवं भङ्गं विनिरूप्य संसूचनं निरूपयति—

आभासार्थ—इस तरह भङ्गरूप भगवद्धर्म का निरूपण करके अब संसूचन को कहते हैं—

श्लोक—**क्रीडन् वने निशि निशाकररश्मिगौर्यां**
रासोत्सुकः कलपदायतमूर्च्छितेन ।
उद्दीपितस्मररुजां व्रजभृद्वधूनां
हर्त्तुर्हरिष्यति शिरो धनदानुजस्य ।। ३३ ।।

श्लोकार्थ—वृंदावन में चन्द्रकिरणों से प्रकाशमान रात्रि के समय ये श्रीकृष्ण भगवान् शृंगार रस में संमग्न होकर रासक्रीड़ा करते हुए अपने मधुरतम गान की तानों से जिनका कामदेव बढ़ाया गया है ऐसी व्रज की श्रेष्ठ गोपांगनाओं को चोरकर ले जाने वाले कुवेर के अनुज के मस्तिष्क को काट लेंगे ।। ३३ ।।

सुबोधिनी—**क्रीडन् वने निशीति** । भगवतो हीदं संसूचनं स्वरूपफलार्थं । सम्यक्त्वं चाऽनिष्टनिवृत्तिमपि करोतीति । गोप्यो हि तत्र निदर्शनम् । ता एव हि भगवन्तं प्राप्तवत्यः । तत्सम्बन्धि चरित्रमेव भगवन्मार्गे फलसूचकम् । वने वृन्दावने । निशि रात्र्याम् । लौकिकवैदिकक्रियायां निवृत्तायां लोकेऽपि विनिवृत्ते तदा क्रीडति । तदाह—**क्रीडन् वने निशीति** । तन्निवर्त्तिका भक्तिरेव । अत एव निशाकरः । तस्य रश्मयो भक्तिप्रकाराः मनोरूपत्वादस्य चन्द्रस्य तदिच्छाविशेषाः । तै रश्मिभिर्गौरी रञ्जिता सर्वनिवृत्तिः । तादृश्येव निवृत्तिर्भगवत्क्रीडाहेतुः । अतएव भगवान् रासोत्सुकः । रासो नाम रसेन पूर्णः पदार्थोऽन्यसम्बन्धरहितः । स हि विचार्यमाणे प्रियाबहुस्त्रीकर्तृको नृत्यविशेषो भवति । तत्र भोगो वा । केवलं शृंगाररसाभिनिविष्टः । यथा भक्तगुणसौन्दर्याभिनिविष्टः । तदा अन्तः रसेन पूर्णस्तद्रसाविर्भावार्थं कलपदायतमूर्च्छनां कृतवान् । सा हि मूर्च्छनाऽन्येषां हृदये रसार्थं विवरं करोति । तस्मिंश्च विवरे भगवत्सम्बन्धाभावेन रसपूरणाभावात्तदर्थं भगवत्स्मरणात्मकः स्मरः प्रविष्टः । स हि विषयाभावाद्रोगत्वेन पर्यवसितः । सर्वो हि रसपूरकः स्वविषयमप्राप्य बुभुक्षादिवद्रोगतामापद्यते । अन्यथा देहनाशं मृत्युं वा न कुर्यात् । अनेन तासां मुख्योऽधिकारो निवारितः । भगवद्विषयकस्य कामस्य भगवद्धर्मं प्रवेशाभावात् । अत एव तादृशीनां भगवत्सम्बन्धप्रतिबन्धकः कामाधिष्ठातृदेवतारूपः । अर्थाधिष्ठात्रीदेवताया धनदरूपाया भ्राता । अनुजत्वात्सोऽपि तादृशः । स तासां प्रतिबन्धको जातः । एवमपि सति भगवान् स्वेच्छया प्रवृत्त इति व्रजभृद्वधूनां हर्त्तुः शङ्खचूडस्य शिरो हरिष्यति । गुणत्रयाविष्टानामेव तादृशरोगरूपकामसद्भावे तत्प्रतिबन्धो भवति नतु गुणत्रयातीते भगवत्यासक्तानामतस्तस्य शिरो हृतवान् । कला अव्यक्तमधुरा अनभिव्यक्तपरमानन्दप्रतिपादकाः शब्दब्रह्मरूपाः स्वराः । तेषां पदं स्थानं गीतादि । तथाभूतानि वा पदानि । वाक्यार्थस्य तत्राऽप्रयोजकत्वात्पदानामेव तत्र स्वातन्त्र्यम् । आयतमूर्च्छनं दीर्घमूर्च्छनम् । मूर्च्छना हि सङ्गीते प्रसिद्धा स्वराणाम् । तस्य आयतत्वं सर्वचित्तप्रवेशयोग्यरूपता । मूर्च्छितशब्दाच्च रसान्तरम-

विवेकादिकं वा नोत्पत्स्यत इति सूचितम् । उद्दीपितो यथाऽग्निर्दहति तथा स्मरेण तास्तथाभूता इव जाताः । अतएव स्मरस्य रोगत्वम् । व्रजमेव बिभ्रतीति न तद्भर्तृणां रक्षकत्वम् । वधूत्वात्तासामेवाऽतिक्षोभावेन प्रतिबन्धकनिवृत्त्यभावः सूचितः । अतएव स हर्त्ता जातः । एवं भगवान् मुख्याधिकाराभावेऽपि स्वलक्षणं फलं प्रयच्छतीति गोपिकासम्बन्धिचरित्रं संसूचकं भवति।३३।

व्याख्यार्थ—भगवान् ने स्वरूप फल के विषय में यह क्रीड़ा ही, सम्यक् सूचना की है । भगवान् के स्वरूप की प्राप्ति होना ही भक्ति मार्ग में मुख्य फल है । यह दो तरह से प्राप्त होता है । सहयोग और एकता । सहयोग कहो चाहे संयोग, दोनों का एक ही तात्पर्य है । मर्यादा में जीव भगवान् में, क्रम से मुक्त होता होता अन्त में मिल जाता है । 'आनन्दमानन्दमयोऽवसाने' किन्तु अनुग्रह मार्ग में कोई नियम नहीं है, भगवान् स्वतन्त्र है । उनकी जिस प्रकार से इच्छा होती है उसी प्रकार से जीव को अपना सहयोग देते हैं । मर्यादा मार्ग में स्वरूपात्मक फल-प्राप्ति आनन्दमय होकर होती है और पुष्टि मार्ग में भी भगवान् अपने स्वरूपानन्द का दान, जीव को आनन्दमय बनाकर करते है । केवल भेद इतना है कि मर्यादा में जीव के अन्यांश मुक्त होते होते केवल शुद्ध चैतन्य मात्र रह जाता है, तब उसको भगवान् आनन्दमय बनाकर स्वरूप कर लेते हैं किन्तु पुष्टि मार्ग का प्रकार भिन्न है । 'इहैव सभवनीयन्ते प्राणाः' श्रुति के अनुसार प्रभु जीव के देह में, इन्द्रियों में अन्तःकरण में और स्वरूप में प्रत्यक्ष ही आनन्द का प्रवेश कराकर आनन्द स्वरूप फल का दान करते हैं । अतएव भक्त लोग इस फल को उत्तम मानते हैं, और चाहते हैं । श्री गोपी जनों को भी स्वरूपात्मक फल का दान किया है । यह रास क्रीड़ा ही उस स्वरूपात्मक फल दान की सम्यक् सूचना (संसूचन) है ।

इस सूचना में सम्यकत्व उत्तमत्व अनिष्ट निवृत्ति है। लौकिकआनन्द सम्यक् नहीं है। वह दुःख संभिन्न (मिश्रित) है । अपत्यगार्हस्थ्यादि रोगादि अनेक अनिष्टों से वह फल घिरा रहता है । किंतु यह भगवत्क्रीड़ा अनिष्टों को दूर करने वाली है । अतएव इसे संसूचन कहा गया है । अनिष्ट परिहार पूर्वक इष्ट (स्वरूपानन्द) प्राप्ति का दृष्टांत श्री गोपी जन हैं । निःसाधन भक्तिमार्ग में इनको ही पूर्ण पुरुषोत्तम की प्राप्ति हुई । गोपी जन सम्बन्धी चरित्र ही निःसाधन भक्तिमार्ग में स्वरूपात्मक फल की सूचना देने वाला है । भगवत्स्वरूप का भोग ही सर्वोत्तम फल है । वह अनवतीर्ण पुरुषोत्तम का भी हो सकता है किन्तु उसकी सूचना लोक में न हुई और न होना सम्भव ही है । किन्तु श्री गोपी जनों ने जो भगवान् पुरुषोत्तम के स्वरूप का साक्षात् उपभोग किया यह सब लोगों को विदित हुआ इसलिये यह सम्यक् सूचन, संसूचन है ।

भगवान् ने यह क्रीड़ा वृन्दावन में रात्रि में की । वन में लौकिक क्रियाओं की निवृत्ति हो जाती है, गृहों-परकरादि के न होने से और रात्रि में वैदिक क्रियाओं की निवृत्ति हो जाती है,निषेध होने से इस तरह लौकिक और वैदिक दोनों तरह के विक्षेप विघ्न बाधायें नहीं रहती तब जीवन के साथ भगवान् क्रीड़ा करते हैं । 'वृन्दावने निशि' दोनों पद पास-पास कहने से यह तात्पर्य है कि लोक वेद की निवृत्ति मात्र होने पर ही श्री पुरुषोत्तम स्वरूप का उपभोग मिल सकता है । रात्रि में सर्व निवृत्ति हो जाती है । लौकिक वैदिक सर्व की निवृत्ति करा देने वाली भगवद्शक्ति है । भक्ति कुमुदिनी को खिलाने वाला निशाकर चन्द्रमा है । भगवान् का मन ही चन्द्रमा है । उसे यहां निशा-

कर पद से कहा है 'निशाकर रश्मिमौर्यां' भगवन्मन की रश्मि-किरणें मन की विविध इच्छायें हैं। उससे वह रात्रि रंगी हुई थी। इसीलिये उसने सबकी निवृत्ति कर दी और भक्ति की अधिष्ठाता चन्द्र देव ने लौकिक वैदिक आसक्तियों की निवृत्ति कर दी और प्रेम का रंग भर दिया। अतएव चन्द्रमा को यहां निशाकर कहा। भक्ति रंग से रंगी हुई सर्व निवृत्ति ही भगवत्क्रीड़ा का कारण हो सकता है। सब का तात्पर्य यह है कि जब भगवान् जीव के साथ रमण करना चाहते हैं तब निशा-कर मन) को आज्ञा करते हैं उस समय विविधोपभोग सामग्रियों की इच्छायें होती हैं। उनसे ही सब सामग्रियां इकट्ठी हो जाती है। तब जीव को भक्ति का फल पुरुषोत्तम के स्वरूप का भोग (अनुभव) मिलता है। यह प्रमेय का ही बल है प्रमाण का नहीं। फल का ही बल है साधनों का नहीं। भगवान् का ही सामर्थ्य है जीव का नहीं।

अतएव भगवान् रासोत्सुक हुए। रास ने भगवान् को क्रीड़ा करने का उत्साह दिलाया। 'रासेत्र उत्सुकः रासोत्सुकः। जिससे अन्य का सम्बन्ध न हो, ऐसे केवल रस से पूर्ण पदार्थ को 'रास' कहते हैं। उसके साध्य साधनों का जब भगवान् उपभोग करते हैं तब रास होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि अपनी प्यारी बहुत सी स्त्रियों का मिलकर नृत्य विशेष यही रास है। अथवा उन स्त्रियों में भोग ही रास है। भगवान् केवल श्रृंगाररस में मग्न हुए। जैसे भगवान् भक्तों के गुण और सौन्दर्य के वश हो जाते हैं। इसी तरह केवल श्रृंगार रस के पर वश हो गये। श्रृंगार रस भी भगवान् का ही स्वरूप है। तो इसका यह तात्पर्य हुआ कि भगवान् अपने स्वरूप के ही पर वश हुए। उस समय आप तो रसाभिनिविष्ट रस से पूर्ण थे किन्तु गोपी स्त्रियों में भी पूर्ण रस का आविर्भाव कराने के लिए सुन्दर कण्ठ से मीठे स्वरों की गतियों से उन्होंने अनेक तरह की(मूर्च्छना) तान प्रतान की। स्वरों की आरोही को ही (मूर्छना)तान प्रतान कहते हैं।

ये मूर्च्छनायें अन्य जातीय स्त्री-पुरुषों के हृदय में रस को भरने के लिए विवर (अवकाश) करती है। अब यदि ये जीव लौकिक काम की अधिकारी हों तो उस विवर में भगवत्सम्बन्ध न होने से भगवद्रस की पूर्ति नहीं होती। तब उस विवर को पूर्ण करने के लिए भगवत्स्मरणात्मक 'स्मर' काम का प्रवेश हो जाता है। स्मरण के लिए विषय की अपेक्षा होती है किन्तु वहां भगवान् रूप विषय होता नहीं, तब वहीं 'स्मर' रोग रूप में परिणित हो जाता है। जैसे भूख, भूखे को भरने के लिए यदि अन्नादि विषय मिल जावें तब तो देहादि धारण करने वाली हो जाती है किन्तु जो उसे उसका विषय न मिले तो वह भूख रोग हो जाती है। इसी तरह रसानुभव कराने वाले सब ही भाव यदि अपने-अपने विषयों को न न पा सके तो वे रोग हो जाते हैं। ऐसे रोगों से देहादि के नाश की सम्भावना रहती है।

कितनी ही गोपियों में लौकिक काम था। वे भगवान् श्रीकृष्ण को लौकिक नायकवत् चाहती थी। भगवान् उनके काम को अकाम (रस)करना चाहते थे। इसलिये उनके हृदय में अलौकिक रस था। आनन्द का प्रवेश कराना चाहते थे। अलौकिक आनन्द मात्र होने से अकाम है। किन्तु कतिपय गोपियां कामधिकारिणी थी अतएव भगवान् रूप विषय आनन्द वहां भरा नही गया। तब वह स्मरणात्मक काम भी रोग हो गया। अतएव भगवद्विरह में बहुत सी गोपियों के देहमास मृत्यु को प्राप्त हो गये। यह बात "धारनयति कृच्छ्रेण" भ्रमर गीत के प्रारम्भ में प्रभु ने श्री मुख

से कही है। वहां यह भी सूचित होता है कि कितनी गोपिकायें मर भी गईं। अलौकिकानन्द प्राप्ति में यह बात नहीं होती। वहां निर्वाण सुख को प्राप्ति होती है, किन्तु मरण नहीं होता। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि इन गोपिकाओं को मुख्य (निर्गुणता का)अधिकार नहीं है। इनका जो उद्धार हुआ है, वह पुष्टि मार्ग से हुआ है।

अतएव नित्य सिद्धाप्रभृति गोप किशोरियों के लिए लिखा है कि 'विशोका अहनी निन्युः' श्रीकृष्ण के मथुरा पधार जाने पर गोप किशोरियां अपने दिन रात सुख से निकालने लगी। यह अवस्था अलौकिक कामवालियों की है, लौकिक कामवालियों की नहीं। लौकिक काम में अनेक विघ्न बाधायें आती हैं। अलौकिक में नहीं।

शंखचूड़, कुबेर का छोटा भाई था। यह लौकिक काम का अधिष्ठाता देवता है। धनद (कुबेर) अर्थ का अधिष्ठाता देवता है। उसका अनुज शंखचूड़ कामाधिष्ठाता देवता। काम का साधन अर्थ है अतएव पहले अर्थ की अपेक्षा होती है। तदनन्तर काम की सिद्धि होती है। इसलिये शंखचूड़ को कुबेर का छोटा भाई कहा। जहां लौकिक काम होता है वहां भगवत्सम्बन्ध का प्रतिबन्ध आ खडा होता है। शंखचूड़ ने भगवान् के सम्बन्ध का प्रतिबन्ध किया। एकादश स्कंध में जहां भगवद्धर्मों का निरूपण किया है वहां भगवद्विषयक लौकिक काम की गणना नहीं की है। यदि यह काम होता है तो प्रतिबन्ध उपस्थित न होता। ये गोपियां लौकिक काम वाली थी। अतएव लौकिक काम का अधिष्ठाता देवता शंखचूड़ भगवत्सम्बन्ध में विघ्नरूप उपस्थित हुआ।

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि कैसा भी काम हो किन्तु जब वह भगवद्विषयक है, तब विघ्न क्यों उपस्थित हुआ और वह काम रोगरूप क्यों हुआ और उनका देहनाश भी क्यों हुआ ? ठीक है, यह आशंका हो सकती है। किन्तु यह प्रमाण मार्ग की बात है। प्रमेय मार्ग में तो भगवान् स्वयं काम लीला में इच्छा से प्रवृत्त हुए हैं। अतएव विघ्न आते रहते भी कोई हानि नहीं हो सकती। प्रत्युत उस विघ्न का ही भगवान् ने नाश कर दिया है। सो ही कहते हैं—'हर्तुर्हरिष्यतिशिरः'। व्रजस्त्रियों का हरण करने वाले कुबेरानुज के सिर को काट देंगे।

सत्वादि गुण विषयों में फंसे हुए जीवों को ही लौकिक काम रूप रोग होता है और विघ्न भी उपस्थित होता है। किन्तु गुणत्रय से अतीत भगवान् पुरुषोत्तम में आसक्त पुरुषों के प्रतिबन्धों को भगवान् स्वयं दूर कर देते हैं।

'कलपदायत मूर्छि'। अव्यक्त मधुर अर्थात् जिनका परमानन्द गूढ़ रहा हो उन स्वरों को 'कल'कहते हैं। गाने के पदों में ये स्वर रहते हैं। इन स्वरों की बहुत देर तक की जो आरोही अवरोही अवस्था है उसे आयत मूर्च्छना कहते हैं। वह सुनने वाले सबके हृदयों में प्रवेश कर गई थी, इसलिये मूर्छनाओं को आयत कहा। आरोही अवरोही को मूर्च्छना क्यों कहा, इसका उत्तर देते हैं कि अन्य रस और अविवेक आदि का हृदय में प्रवेश न होने पावेगा इसलिए। उद्दीपित अग्नि जैसे जला देता है गोपिका भी उद्दीपित होकर स्मर से जल गई जैसी हो गई। इसलिये वह स्मर रोग कहा गया। गोपियों को 'व्रजभृद्वधू' कहने का यह तात्पर्य है कि उनके पति व्रज का ही पालन करते थे, किन्तु वे गोपिकाओं के रक्षक नहीं थे। गोपियों के पतित्व विषय में तो गोपों का अभिमान मात्र था। गोपियों में भी जो वधु थी उनमें स्त्रीपना अतिशय था वे अपने प्रतिबन्ध को दूर नहीं कर

सकती थी, अप्रौढा थी। अतएव शंखचूड़ उनका हरण कर सका। इस तरह से भगवान् श्रीकृष्ण पर ब्रह्म ने श्री गोपीजनों का मुख्य अधिकार नहीं था तथापि पुरुषोत्तम स्वरूप का उपभोग रूप अधिकार उन्हें दिया। यह बात इस गोपिका सम्बन्धी चरित्र से जानी जाती है। इसलिये इसे 'संसूचन' कहा। सर्वात्मभाव को मुख्य अधिकार कहते हैं। अन्तः और बाहिर सर्वत्र परब्रह्म पुरुषोत्तम का साक्षात्कार सर्वदा रहे उसे मुख्य अधिकार कहते हैं मर्यादा में। पुष्टि मार्ग में तो मुख्य अथवा गौण किसी भी अधिकार की गणना हो नहीं है। क्योंकि वहां साधनों से फल-प्राप्ति नहीं होती। अतएव कहते हैं कि गोपियों को स्वरूप-फल प्राप्त करने का दान दिया। इतना ही नहीं किन्तु सारे निरोध (दशम) स्कंध में अविहित भक्ति का ही भिन्न भिन्न प्रकारों से निरूपण किया है अतएव स्वरूप फल प्राप्ति का किसी का भी मुख्य अधिकार नहीं है, तो काम क्रोध लोभादि भावों के होने से स्वरूपोपभोग में प्रतिबन्ध आने उचित नहीं हैं तथापि यदि भगवान् पुरुषोत्तम में इस प्रकार का दृढ़ भाव रहे तो भगवान् पुष्टिस्थ होने से उनके सब प्रतिबन्धों को दूर करके स्वरूपात्मक फल का दान करते ही हैं। यह संसूचन समग्र स्कंध में है ।। ३३ ।।

आभास—एवं संसूचनं निरूप्य भूरिभावं निरूपयति भूर्यनुग्रहं वा द्वाभ्याम्—

आभासार्थ—इस तरह 'संसूचन' धर्म का निरूपण करके अब भूरिभाव का किंवा भूर्यनुग्रह धर्म का निरूपण करते हैं—अथवा येच (भा० २/७/३४) इस प्रथम श्लोक में प्राप्ति क्रिया और क्रिया का कर्म दोनों नहीं हैं इसलिये 'भूरित्व' और 'अनुग्रह' दोनों धर्मों का सम्मेलन करके दो श्लोकों में निरूपण करते हैं—

श्लोक—**ये च प्रलम्बखरदर्दुरकेश्यरिष्टमल्लेभकंसयवनाः कुजपौण्ड्रकाद्याः ।**
अन्ये च शाल्वकपिबल्वलदन्तवक्रसप्तोक्षशम्बरविदूरथरुक्मिमुख्याः ।३४।

श्लोकार्थ—प्रलम्बासुर खर, दर्दुरासुर, केशी, अरिष्टासुर, मल्ल, कुवलया पीड हाथी, कंस, यवन, नरकासुर, मिथ्यावासुदेव और काशीराज आदि असुर और भी शाल्व, द्विविदवंदर वल्वल दन्तवक्र का भाई और रुक्मि आदि को लेकर जो असुर, और भी जो काम्बोज देशाधिपति, मत्स्य देशाधिपति, कुरुलोग कैकय देशवासी सृंजय और दशार्ण देशवासी असुर लोग जो युद्ध करने में चतुर और धनुषादि शस्त्र लेकर आये उन सबको बहुतसों को स्वयं श्रीकृष्ण ने और कितनों को बलदाऊजी, अर्जुन और भीमसेन आदि छलनाम धारण करने वाले भगवान् ने ही पहले उनको अदर्शन को विनष्ट किया, (मृत्यु को पहुंचाया) और फिर अपने बैकुण्ठलोक में पहुंचाया ।। ३४ ।।

सुबोधिनी—**ये च प्रलम्बेति** । एते सर्वे दैत्या दैत्यांशराजानश्च भगवता हतास्तदीयं निलयं वैकुण्ठं गताः । ये च पुनः प्रलम्बादयो बलभद्रादिभिर्हतास्तत्रापि ये भगवन्मुखारविन्दं

पश्यन्तः प्राणान् जहुः पार्थास्त्रपूता धर्मयुद्धेन हतास्तेऽपि वैकुण्ठमेव गताः । अन्ये ये प्रलम्बादयस्ते अदर्शनं गताः । अव्यक्ते प्रकृतौ लीना इत्यर्थः । अथवा । प्रथमश्लोकोक्ता भूरिरूपं प्रकृतिमेव गताः । तस्या व्यापकत्वाद्भूरित्वम् । द्वितीयोक्ता भगवन्तं गता इति । अथवा । उभये एते आवेशिनः प्रकृतिं गताः । अभिमानिनस्तु तदीय निलयं गता इत्यर्थः । खरो धेनुकः । दर्दुरः कश्चिदन्यो यथा बकस्तथा सोऽपि । बक एव वा जलवासात् । बकदर्दुरेति पाठे अघासुरो वा दर्दुर इति केचित् । अरिष्टो वृषभासुरः । मल्लाश्चाणूरादयः । इभः कुवलयापीडः । यवनः कालयवनः । यवना वा मुचुकुन्दात्समागत्य ये मथुरायां हताः । कुजो नरकासुरः । पौण्ड्रको मिथ्यावासुदेवः । आदिशब्देन काशिराजप्रभृतयः । एते स्वभावत एव हताः । न तु देवान्तरवरपुष्टाः । अतो वरपुष्टत्वविशेषणेन अन्यत्वम् । ते च शाल्वादयः । कपिर्द्विविदः । स रघुनाथभक्तोऽपि तद्भक्तसङ्गेऽपि दुःसङ्गाद्धतः। शम्बरस्तु मायाशतवित् । अत्रैव वा बल्वलः । सोऽपि यज्ञविघ्नकर्तृत्वादृषीणामप्यशक्यत्वाद्वरसिद्ध इति ज्ञातव्यम् । सप्तोक्षाः बलीवर्देषु प्रविष्टा दैत्याः । ते हि भगवत्स्पर्शमात्रेण हताः । अत एव तदर्थं सप्तरूपाणि कृतवान् । ते हि त्रिपुरवदेकक्षणे वध्याः अन्यथा अवध्या इति बलीवर्दा एव पश्चाद्वा मृता इति । अन्ये वा सप्त बलीवर्दाः । विदूरथो दन्तवक्त्रभ्राता । रुक्मी शालकः स मुख्यो येषां बिन्दानुबिन्दादीनाम् । एते ह्येकैकशो भगवता सह युद्धे तद्भ्रातृपुत्रैर्वा हताः ॥३४॥

व्याख्यार्थ—दोनों श्लोकों में जिनके नाम गिनाये हैं उन सब दैत्य और दैत्यों के अंश राजा लोगों को भगवान् ने मारे और अपने लोक बैकुण्ठ में पहुँचाये (भूरित्व का ही नामांतर मुक्ति व्यापक अप्रकट पुरुषोत्तम परब्रह्म के धर्म को मुक्ति कहते हैं, और एक देश में प्रकट परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के उसी धर्म को भूरित्व नाम दिया है। बहुता व्यापकता धर्म को ही भूरित्व कहना उचित है। यह व्यापकता जीवधर्म नहीं है किन्तु परब्रह्म अक्षर का स्वतन्त्र धर्म है। यह अक्षर ब्रह्म भगवान् पुरुषोत्तम का एक चरण है यह आगे के 'शश्वत' आदि श्लोकों में कहेंगे। यह भी व्यापक है, अनन्त है। जिस समय जीव को ब्रह्म-प्राप्ति होती है उस समय उसे उसके अन्य रूपों को त्याग कराकर ब्रह्म स्वरूप धर्मों की प्राप्ति होती है। यही मुक्ति कही जाती है। ससारावस्था में किंवा प्रकृति स्वरूप अवस्था में जो धर्म जीव में दीखते हैं और जिन्हें हम जीव के जानते हैं और कहते भी हैं बास्तव में वे जीव के नहीं हैं वे भी सब परब्रह्म के ही हैं। किन्तु 'नामानि रूपाणि विचित्य' आदि श्रुतियों के अनुसार परब्रह्म ही अपने रूप धर्म और नामों को छांट छांटकर पृथक् कर संसारावस्था में प्रकाशित होता है। इतना ही नहीं जगत्-जगत् का स्वरूप या धर्म किंवा नाम कुछ भी परब्रह्म से पृथक् स्वतन्त्र कुछ है ही नहीं। ये सब कुछ विद्यमान जगत् इसका स्वरूप और इसके धर्मादि सब परब्रह्म ही परब्रह्म है। 'जगत् क्रीडतियो यतः।' ये सब सिद्धांत आगे श्रुति स्तुति में स्पष्ट करेंगे।

हां तो व्यापकत्व प्राप्ति भूरित्व है। यह आश्रय की पहली अवस्था है और 'यत्प्रयन्ति' श्रुति का अर्थ है। अभिसंवेश आश्रय है। इसे ही अनुग्रह कहते हैं। ईक्षण रूप अनुग्रह पृथक् है और आश्रय रूप अनुग्रह पृथक् है। यह सब उद्देश्य लक्षणाध्याय में कहेंगे। वैकुण्ठ में जो पहुंचते हैं, वे सब अक्षर ब्रह्म में पहुँचते हैं। एक अक्षर के दो रूप हैं, एक अक्षर प्रकृत्यात्मक और दूसरा अक्षर पुरुषात्मक। यह बात 'द्विधा समभवत् बृहत्' समाधि भाषा से स्पष्ट है। सब कुछ मिलकर अक्षर

परब्रह्म है। अक्षर, पर, ब्रह्म आदि शब्द पुरुषोत्तम और अक्षर दोनों के लिए वेद में आते हैं। इसलिए जो रसिकत्वेन आकुलित लोग अक्षर और पुरुषोत्तम को भिन्न-भिन्न पदार्थ समझ कर सम्प्रदाय को अपसिद्धांत करना चाहते हैं। उन्होंने सम्पूर्ण सुबोधिनी का अवगाहन नहीं कर पाया है। ऐसा मालूम पड़ता है। पुरुषोत्तम का चरण अक्षर है यह ठीक है किन्तु अक्षर और पुरुषोत्तम दोनों भिन्न पदार्थ हैं। यह सर्वथा मिथ्या है और अपसिद्धांत है। इसका विशेष विवेचन हम अपने 'अक्षरब्रह्म' ग्रंथ में कर चुके हैं।

प्रकृति समिश्र अक्षर ब्रह्म भूरित्व है और शुद्ध किंवा केवल अक्षर ब्रह्म अनुग्रह है। पूर्वोक्त दोनों श्लोकों में श्री पुरुषोत्तम के दोनों धर्म को मिलाकर कहा जाता है। अव्यक्ता प्रकृति में जीवों की स्थिति होती है। यह भूरित्व है। मुक्ति है। वहां भी आनन्द का भोग अक्षरांश रहता ही है किन्तु अव्यक्त। उस स्थिति की ही एक नकल यहां गाढ़सुषुप्ति है। संघात के समूल नाश हो जाने से करूणाभाव से आनन्दानुभव प्रत्यक्ष नहीं होने पाता। पर स्वरूपावस्थान तो होता ही है। इसी तरह केवल अक्षरब्रह्म में जिनकी स्थिति होती है, उनका भी संघात लीन हो जाता है उन्हें भी अपने पूर्व रूप का स्मरणादि नहीं होता, तथापि स्वरूपावस्थान सुब्रह्मात्मता तो हो ही जाती है। किन्तु दोनों में इतना फरक तो रहता है। वासना सहित माया अविद्या का नाश किन्तु शुद्ध अक्षरैक्य न होने से नानात्व (स्वगत) जब विद्यमान रहता है। तब उसे भूरित्व कहते हैं और जो अनुगृहीत है अर्थात् भूरित्व के अनु-अनन्तर जिनको आधेय रूप से ग्रहण किया है उनको अक्षर ब्रह्म से अभेद-ऐक्य हो जाने से आश्रय रूप फल मिलता है। इसका विशेष विवेचन 'अनुग्रह मार्ग' ग्रंथ में पढ़िए। इन सब बातों को हृदय में रखकर श्रीमदाचार्यचरण सुबोधिनी में आज्ञा करते हैं— 'एते सर्वे' से प्रारम्भ कर 'प्रकृतौ लीना: पर्यन्त' दैत्य और दैत्यांश वाले क्षत्रिय राजा लोग जिन्हें श्रीकृष्ण ने अपने श्री हस्त से मारा वे सब भगवद्धाम बैकुण्ठ गये और प्रलम्बखर आदि असुर जिन्हें बलदाऊजी ने मारा, वे भी भगवन्मुखारविन्द का दर्शन करते हुए मरे। इसलिये, और भगवदावेशी अर्जुन के अस्त्रों से पवित्र होते हुए धर्मयुद्ध में मरे। भिष्मादिक भी बैकुण्ठ ही गये। और जो इनसे अन्य थे अर्थात् जिनका स्वरूप कुछ और प्रकार का था वे शाल्व, कपि, बल्वल आदि असुर, वे सब अदर्शन को प्राप्त हुए। प्रकृति में लीन हो गये। यह प्रकृति अव्यक्त है। यह भी अक्षर का ही अशांतर है। वेद में इसे ही तमस् शब्द से भी कहा है। इस व्यापक प्रकृति में और संसार की गुणत्रयमयी प्रकृति में बहुत भेद है।

किन्तु इस पक्ष में श्लोकों के क्रम का विरोध आता है प्रथम श्लोक में आसुर और आसुरावेशी लोग कहे गये हैं उनका भगवल्लोक में पहुँचना आता है, और दूसरे श्लोक में जिन्हें आसुरों का अभिमान मात्र है। वास्तव में आसुर नहीं हैं वो गिनाये हैं। उनका प्रकृति में लीन होना आता है। इसलिये दूसरा पक्ष कहते हैं—'अथवा प्रथम' इत्यादि।

अर्थात् प्रथम श्लोक में जो कहे गए पलम्बादि, कुज आदि और शासव कपि आदि हैं वे सब के सब भूरित्व को ही प्राप्त हुए, प्रकृति में ही पहुँचे। शुद्ध अक्षर में नहीं। यह व्यापक है अतएव 'भूरि' कहा है। यद्यपि ये लोग शुद्ध चेतन होने पर भी स्वगत भिन्न-भिन्न थे तथापि यह प्रकृति तमोमयी होने से तम के (अज्ञान के) अभिनिवेश से उन्हें अपने भेद का भान भी न होने पाया, इस तरह उसमें लय को प्राप्त हुये। आकाशवद्भूयान्' यहां आकाशादि पदार्थों को भी व्यापक कहा हैं।

इसलिये प्रकृति को भी व्यापक मानकर 'भूरि' कहा। आकाश आदि पदार्थ जैसे अल्पज्ञ मनुष्यों की दृष्टि में व्यापक दीखते हैं। अव्यक्त प्रकृति भी आपाततः व्यापक प्रतीत होती है। वास्तव में वह भी परिच्छिन्न है। तथापि पूर्वोक्त श्रुति में उसे आपात दृष्टि से ही पंचमहाभूतों की तरह व्यापक कहा है।

अब दूसरे श्लोकों में जिनका निरूपण है, वे सब काम्बोजमत्स्य आदि भगवद्धाम अक्षरब्रह्म भी भगवान् ही है यह हम पूर्व में कह चुके हैं (इसका निर्णय 'भगवान् अक्षरब्रह्म' ग्रन्थ में कर चुके हैं)।

यद्यपि इस पक्ष में श्लोकों के क्रम की रक्षा होती है,तथापि उन-उन स्थलों में कहे गये 'यतः एतद्विमुच्यते' 'तदेव रूपं दुखापमाप' इत्यादि बहुत से वचनों का विरोध आता है। इसकी अपेक्षा तो क्रम का विरोध आवे यह सत्य है, यों मानकर फिर पहले कहे पक्ष का ही समर्थन करते हैं— 'अथवा उभये' इत्यादि। सबों को मिलाकर दो प्रकार के ही जीव मानने उचित हैं, १. आवेशी और २. अभिमानी। प्रथम श्लोकोक्त किंवा द्वितीय श्लोकोक्त कोई भी हो, उन सब में से जो जो प्रलम्बादि और शाल्व आदि दोनों आसुरावेशी लोग हैं वे सब प्रकृति में लीन हुए 'अदर्शनं यास्यन्ति' और जो काम्बोज आदि 'आसुराभिमानी यास्यन्ति' क्रिया का अर्थवश से अनुवृत्ति कर लेनी चाहिये। धेनुकासुर को खर कहा है दुर्दशसुर एक दूसरा ही था। जैसे बकासुर वैसे ही वह भी था। अथवा जल में रहने से बक को ही दर्दुर कहा है। कितने ही 'बकदर्दुर' ऐसा पाठ मान कर दर्दुर शब्द से अघासुर को भी गिनते हैं। अरिष्ट वृषभासुर। चाणूरादि मल्ल पहलवान। इभ कुवलयापीड़ हाथी। यवनकाल यवन। यदि 'यवना' ऐसा पाठ माने तो फिर मुचकुंद की मुक्ति करके वापिस आने पर मथुरा में जिन यवनों को मारा वे लेने चाहिये। कुजनुरकासुर। पौण्ड्रक मिथ्या वासुदेव। आदि शब्द से काशी का राजा। ये सब किसी देव के वश से पुष्ट नहीं थे, किन्तु इनका स्वभाव ही आसुर था अतएव वे स्वभाव से ही मारे गये किन्तु शाल्व आदि तो देवताओं का वरदान लिये हुए थे, इसलिए उन्हें अन्य कहा। कपि द्विविद। यह श्रीराम का भक्त था और भक्तों का सङ्गी भी था, तथापि द्वापर में दुष्टों का सङ्ग हो जाने से मारा गया। शम्बरासुर तो सैकड़ों माया (जादू वगैरह) जानता था। इसी समय बल्वल को भी मारा। यह वरदान से सिद्ध बनकर ऋषियों के यज्ञों में विघ्न करता था। ऋषि लोग इससे घबरा गये थे इसलिये मारा। सात सांढ़ भी, बैलों में घुसकर बैठे असुर ही थे। वे भगवान् के स्पर्श से मारे गए। अतएव उनके लिये भगवान् ने भी सात रूप धारण किये। त्रिपुरासुर जैसे एक ही बार में मर सकता था अन्यथा नहीं इस तरह ये सांढ भी एक ही समय में मर सकते थे अन्यथा नहीं। अथवा ये बलीवर्द भिन्न ही थे। निदूरप्यदन्त वक्र का भाई। रुक्मी भगवान् का साला। और भी उसको आदि लेकर विन्दानुविन्द आदि भगवान् के साथ युद्ध में दाऊजी और भगवत्पुत्रों के हाथ से मारे गये। वे सब अपनी कक्षा के अनुसार गति को प्राप्त हुए।। ३४।।

आभास—अतः परं निमित्तान्तरेण भगवत्सारथ्ये युद्धे हतानाह—

आभासार्थ—अब यहां एक विचार होता है कि पूर्वोक्त असुरों के दो पक्ष मानने पर भी बात तो एक समान सी ही आती है फिर उसमें विशेष क्या है? इसका तात्पर्य यह है कि जैसे अब

इसके आगे युद्ध में भगवान् के रथ हांकते रहने से जिनकी मृत्यु और किसी निमित्त से भी हुई वे भी भगवल्लोक को गये सो कहते हैं—

श्लोक—**ये वा मृधे समितिशालिन आत्तचापाः**
काम्बोजमत्स्यकुरुकैकयसृञ्जयार्णाः ।
यास्यन्त्यदर्शनमलं बलपार्थभीम-
व्याजाह्वयेन हरिणा निलयं तदीयम् ।। ३५ ।।

श्लोकार्थ—और जो युद्ध में पराक्रम बताने वाले और धनुष धारण किये हुए कम्बोज, मत्स्य, कुरु कैकय पंचाल आदि देशों के क्षत्रिय वीर पहले अदृश्य रहे परन्तु बलराम, अर्जुन और भीम के बहाने मात्र से भगवान् ने उनको अपने ग्रह में भेज देंगे ।। ३५ ।।

सुबोधिनी—ये वेति । एतेषां भगवतैव सह युध्यमानत्वात् द्वेषभावाच्च मुक्तिर्युक्तापि । अन्ये तु निमित्तान्तरेण हता इति,ये वेत्यनादरः। समितिशालिनो युद्धे पराक्रमवन्तः । सप्तम्या अलुक् । अत एव मृधे संग्राम आत्तचापाः । धर्मनिष्ठता सूचिता । काम्बोजादयोऽर्णान्तास्त-त्तद्देशक्षत्रियाः । दशार्णा वा अर्णाः । सृञ्जयाः पाञ्चालाः । **सृञ्जयाद्या इति** पाठे धृष्टद्युम्न-प्रभृतयः । एकैकश उभयपक्षेऽपि हताः । अन्यथा पाण्डवानामर्थे मृतानां मुक्तिर्न स्यात् । प्रथमतः अदर्शनं गताः । यावद्भगवानत्र स्थितस्तावददृष्टा भूत्वा अत्रैव स्थित्वा भगवता सह गता इत्यर्थः । अत्र प्रलम्बो बलभद्रेण हतः खरश्च । मल्ल-यवना यथायथम् । शम्बरः प्रद्युम्नेन । रुग्मी च बलभद्रेण । काम्बोजादयो भीमादिभिः । अत्र सर्वत्र बलपार्थभीमा इति तेष्वाविष्टस्य भगवत एव नाम । परं व्याजेन । बलपार्थभीमेति व्या-जाह्वयानि यस्य । एतद्धननं भगवच्चरित्रम् । आत्मत्वात् । अतएव हननादिकमनुक्त्वैव तद्गृहे गमनं निरूपितम् । **"जातः कंसवधार्थाये"** त्यादि तु दृश्यमानाभिप्रायं कल्पांतराभिप्रायं वा ।। ३५ ।।

व्याख्यार्थ—पूर्व श्लोकोक्त आसुरलोक तो भगवान् के साथ ही युद्ध कर रहे थे, और कितनों को भगवान् से द्वेष भाव भी था अतएव पुष्टिमार्ग में उनकी मुक्ति होना सम्भव ही है । किन्तु कितने ही तो ऐसे थे जिनकी किसी अन्य कारण से ही मृत्यु हुई। इसे दिखाने के लिए इव शब्द दिया है । अर्थात् साधन दृष्टि से ये कुछ हल्के हैं । यह 'वा' का अनादर अर्थ है । समितिशालिनः अर्थात् युद्ध में पराक्रम दिखाने वाले । यहां सप्तमी का लोप नहीं हुआ और संग्राम में धनुष उठाने वाले । दोनों पदों से युद्ध करने वालों की धर्मनिष्ठता दिखाई । काम्बोज को आदि लेकर अर्ण पर्यन्त के सब उन-उन देशों में रहने वाले क्षत्रिय है । अथवा अर्ण शब्द से दशार्ण नाम के क्षत्रिय समझने । पांचाल देश के रहने वाले क्षत्रिय सृञ्जय । 'सृञ्चयाद्याः' पाठ यदि माना जाय तो आदि शब्द से धृष्टद्युम्न प्रभृति विराट् देशवासी क्षत्रिय भी ले लिये जाय । ये सब दोनों कौरव पांडवों के पक्ष के थे जो समय-समय पर एक-एक करके मारे गये । यदि ऐसा न होता तो इनका भी श्रीकृष्ण

के साथ कोई वैर भावादि न होने से पाण्डव पक्ष के इन धृष्टद्युम्नादि की मुक्ति न होती क्योंकि मुक्ति होने का कोई भी निमित्त न रहता।

पूर्व श्लोक सुबोधिनी में अदर्शन का प्रकृति अर्थ कर चुके हैं किन्तु वह शुद्ध मुक्ति नहीं कही जा सकती और इनमें से बहुत सों की मुक्ति होना अनेक वचनों से पाया जाता है इसलिए 'अदर्शन' का दूसरा अर्थ करते हैं। मारने के बाद जो-जो मरे वे सब पहले थोड़े समय तक दीखने बन्द हो गये और जब तक भगवान् श्रीकृष्ण भूतल पर प्रत्यक्ष रहे वहां तक अदृष्ट रहकर यहां ही रहे, किंतु जब भगवान् अपने धाम पधारे तब वे भी भगवान् के साथ ही भगवान् के लोक को चले गये। यहां प्रलम्बासुर और खर को बलदाऊजी ने मारा। मल्ल और यवनों को दाऊजी ने तथा भगवत्पुत्र प्रभृति ने मारे। शम्बरासुर को प्रद्युम्न ने मारा। रुक्मी को बलभद्रजी ने। काम्बोज आदि क्षत्रियों को भीमसेन ने मारे। यहां सब जगह भीम, पार्थ, बल आदि नाम भगवान् के ही हैं क्योंकि बल आदि में भगवान् ने प्रवेश किया था, अतएव भगवान् ने ही सबको मारा केवल भीमादि का बहाना मात्र था। कौरव पाण्डव आदि आदि का युद्ध मारण और पूर्वोक्त दुष्ट कार्य एवं समय-समय पर जो मरण हुए हैं वे सब भगवच्चरित्र ही हैं यह निश्चय समझना चाहिये। क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण परब्रह्म सबके आत्मा हैं। आत्मा का निर्वचन इस तरह है—

यच्चाप्नोति यदा दत्ते यच्च ति विषया निह।
यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति कीर्त्यते॥

आत्मा जगत् को सर्वत्र में पहुंचाता रहता है। जगत् के सब ही विषयों को आदान (ग्रहण भी) करता है और जगत् के सब विषयो को भर कर भी उनसे अनन्त गुना बाकी रहा आता है। इस परब्रह्म की सत्ता सब विश्व में नित्य वर्तमान रहती है इसलिये परब्रह्म को आत्मा कहा गया है। इस वचन से यह पुरुषोत्तम भगवान् सर्व विश्व का आदान करने वाला है, अर्थात् सबको आश्रय देने वाला है। इसीलिये दोनों श्लोकों में पूर्वोक्त असुरों का मारण आदि कुछ भी न कहकर सीधे भगवद्धाम में गमन मात्र कहा है। यहां यदि किसी को यह प्रश्न हो कि तुमने परब्रह्म का 'अनु-ग्रह' सर्वाधारता कहा सो ठीक है किन्तु 'जातः कंस वधार्थाय' 'विनाशाय च दुष्कृताम्' आदि वचनों में पुरुषोत्तम का प्राकट्य तो कंसादि दुष्ट मारण के ही लिए कहा है,सो कैसे? इसका समाधान करते हैं कि—'इष्यमानाभि' ये सब वचन दीखती हुई क्रिया और रूप के अभिप्राय से कहे गये हैं अथवा दूसरे कल्पों में खास पुरुषोत्तम का प्राकट्य कंसादि मारण के लिए भी हुआ है। इस अभिप्राय से भी कहे हैं। भगवान् श्रीकृष्ण पूर्ण ब्रह्म का आविर्भाव है और यह केवल असंकुचित रीति से सब को आश्रय देने के लिए ही हुआ है। वास्तव में पूर्ण पुरुषोत्तम का कार्य सबका आधार हो जाना सबको अपने आश्रय में रखना ही है किन्तु पूर्ण होने से वे अपने अंश कला और शक्तियों को साथ लेकर प्रकट होते हैं। इसीलिए असुरादि का नाश भी होता रहता है। ये अन्य कार्य उनमें ही रहे अंश कला आदि के द्वारा होते रहते हैं किन्तु सामान्य लोग इस रहस्य को जान, देख नहीं सकते। इसलिए उन उन कार्यों को भी श्रीकृष्ण का कार्य ही समझते हैं। बस इस दीखते हुए अभिप्राय को लेकर पूर्वोक्त वाक्य है और यदि सूक्ष्म विशेषों की दृष्टि छोड़ दे तो अंशों के कार्य भी अंशी के ही होते हैं। हाथ का कार्य भी मनुष्य का ही कहा जाता है। हाथ अंश है मनुष्य अंशी।

कहीं कहीं ये वचन कल्पांतर की दृष्टि से भी कहे गये हैं। श्रीमद्भागवत में सब कल्पों के श्रीकृष्ण चरित्रों को संग्रह कर एकत्र क्रमशः कह दिये हैं। कंसादि दुष्ट हनन के लिए भी श्रीकृष्ण का प्रादुर्भाव अन्य श्वेतवाराहादि कल्प में हुआ है। इस दृष्टि से कहे गये ये वचन हैं।

यहां तक प्रकट पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की दशलीला, दशधर्म या दश कर्त्तव्यों का निर्देश किया है। यहां इन 'अदीनत्वादि' धर्मों का निरूपण परस्पर निरपेक्ष रूप से ही किया गया है। किन्तु वास्तव में तो ये परस्पर सापेक्ष रहकर ही मुख्य फल (प्रत्यापत्ति) का दान करते हैं ।।३५।।

आभास— एवं भूर्यनुग्रहं निरूप्य चिन्तामयं निरूपयति—

आभासार्थ—इस तरह 'भूरि अनुग्रहं' विशेषण के अवतार का निरूपण करके अब 'चिन्तामयं' विशेषण का निरूपण करते हैं—

श्लोक—**कालेन मीलितदृशामवमृश्य नृणां**
स्तोकायुषां स्वनिगमो बत दूरपारः ।
आविर्हितस्त्वनुयुगं स हि सत्यवत्यां
वेदद्रुमं विटपशो विभजिष्यति स्म ।। ३६ ।।

श्लोकार्थ—द्वापर आदि काल ने लोगों के ज्ञान को अज्ञान से आच्छादित कर दिया है। अतएव क्षुद्र आयुष्य वाले पुरुषों को जब भगवान् का निश्चित् स्वरूप समझना बहुत दूर हो जाता है तब प्रत्येक नियत समय में यह भगवान् सत्यवती की कुक्षि से व्यासरूप से प्रकट होकर वेद कल्पवृक्ष को शाखाओं में विभक्त करेंगे ।।३६।।

सुबोधिनी—**कालेनेति**। भगवतो हि चिन्ता व्यासरूपा। व्यासो हि चिन्तया सर्ववेदार्थं विनिश्चित्य भगवत्स्वरूपं लोकेभ्य उपदिशति। कालेन द्वापरादिना मीलिता आच्छादिता दृष्टिर्येषां एतादृशानां नृणाम् स्वनिगमो दूरपारः आकलयितुमशक्य इति स्वयमाविर्भूतः। अनुयुगमिति वेदद्रुमं विटपशो विभजिष्यतीत्यनेन सम्बध्यते। प्रतिद्वापरान्तं वेदविभागः। अतः पुराणान्यप्येकस्य चतुर्युगस्य व्यवस्थां कथयन्तीति सूचितम्। **विटपश इति** वेदानां विभागे कृत्रिमत्वशङ्कानिवृत्त्यर्थम्। शाखास्वरूपं तु निबन्धे निरूपितम्। एकस्या भगवन्मूर्त्तेः स्वरूपप्रतिपादको वेदराशिः शाखेति। वेदस्य द्रुमत्वमपि पूर्वं निरूपितम्। स्मेति प्रसिद्धे। तस्मादत्र बहु न वक्तव्यमिति भावः ।।३६।।

व्याख्यार्थ—भगवान् के विचार ने व्यास रूप धारण किया। व्यासजी ने भगवदीय विचार से सर्व वेदों के अर्थ का पूर्ण निर्णय करके सब लोगों के आगे भगवत्स्वरूप का उपदेश दिया है। ब्रह्म कल्प के प्रथम मन्वन्तर में जब युगों की तीसरी आवृत्ति चल रही थी उस समय के द्वापर में अर्थात् जब भगवत्स्वरूप का निर्णय संदेहों से आच्छादित हो रहा था उस समय भगवान् की भक्ति का सर्वत्र प्रचार कराने के लिए वेदव्यासजी का प्रादुर्भाव हुआ है। वेद द्रुम की शाखा

विभाग और भगवत्स्वरूप का ज्ञान और उसका निश्चय अपेक्षित रहता है । किन्तु अनिश्चय और सन्देहों ने भगवान् के स्वरूप को समझ लेना लोगों को अशक्य हो रहा था तब भगवान् व्यासरूप से स्वयं प्रकट हुए । 'अनुयुगं' यह पद 'वेद द्रुमं विटपशः विभजिष्यति' इस वाक्य के साथ सम्बद्ध है, इसका यह तात्पर्य होता है कि प्रत्येक द्वापर युग के अन्त में वेदों का विभाग किया जाता है । इसलिए पुराण समूह भी युगों की एक चौकड़ी को व्यवस्थाओं का प्रकाश करते हैं, यह स्पष्ट होता है । 'विटपशः' कहने का तात्पर्य है कि वेदों का विभाग स्वतः सिद्ध है । किसी ने नवीन नहीं किया है । जैसे वृक्ष की शाखायें स्वतः सिद्ध होती है उन्हें कोई नवीन नहीं बनाता । इस तरह शाखाओं का स्वरूप निबन्ध में (सर्व निर्णय प्रकरण में) कह दिया गया है । अनन्त मूर्ति भगवान् हैं । उनमें से किसी एक मूर्ति का जहां निरूपण किया जाय, वह वेद का समूह शाखा कहा जाता है । वेद कल्पवृक्ष है, यह प्रथम स्कन्ध में आ चुका है । यह बात प्रसिद्ध है यह 'स्म' अव्यय कहता है । इसलिए इसे विशेष कहने की अपेक्षा नहीं है ।। ३६ ।।

आभास—इदानीमेतं निरूपयति—

आभासार्थ—अब एतं विशेषण का निरूपण करते हैं—

श्लोक—**देवद्विषां निगमवर्त्मनि धिष्ठितानां**
पूर्भिर्मयेन विहिताभिरदृश्यमूर्भिः ।
लोकान् घ्नतां मतिविमोहमतिप्रलोभं
वेषं विधाय बहु भाष्यत औपधर्म्यम् ।। ३७ ।।

श्लोकार्थ—दैत्य लोग कलियुग में ब्राह्मणों से भी जन्म लेते हैं, और लोगों को दिखाने के लिए वेदमार्ग में ही स्थित्त रहते हैं और जिनकी माया (कपट) समझी नहीं जाती । ऐसे तीन पुर किले बनाकर जब लोगों का नाश करने लगते हैं, तब भगवान् भी उन्हीं की तरह बुद्धि को भुला देने वाले सन्यास आदि कपट वेश को धारण कर बुद्ध रूप से औपधर्म्य धर्म जैसा दीखता अधर्म का बहुत उपदेश देंगे । अर्थात् इस तरह से उन्हें वेदमार्ग पर घृणा करा देंगे ।। ३७ ।।

सुबोधिनी—देवद्विषामिति । एषो (?) बुद्धः साम्प्रतं विद्यमानत्वात् । तस्य स्वरूपमिदमेव यदिदानीं वर्त्तते । अनेन ब्रह्मणोऽपि निरूपणसमयः कलिरेवेति । **वेदमार्गविरोधेन येषां करणमण्वपि । ते हि पाषण्डिनो ज्ञेया वेदार्थस्य विनिन्दकाः** । देवद्विषां दैत्यानाम् । ते हि देवान् द्विषन्ति । अनेन देवप्रार्थनया दैत्यमोहनार्थं बुद्धावतार इति सूचितम् । निगमवर्त्मनि धिष्ठितानां वेदप्रतिपादितमार्गे व्यवस्थितानाम् । यद्यपि वेद एव दैत्यव्यामोहनार्थं बहव उपाया निरूपिताः । तथापि सामान्यत एव वेदवैमुख्यार्थमयमवतारः । धिष्ठिता अधिष्ठाय स्थिताः । वयमेव वेदप्रवर्त्तका इति लोकानां व्यामोहार्थं आत्मानं वैदिकत्वेन ज्ञापयित्वा समागतान् व्या-

मोहयन्तीत्यर्थः । पूर्भिः त्रिपुररूपाभिः । अदृश्यमूर्भिः । मूर्माया । अतएव 'स्त्रियां क्तिन्' ति मूर्भिरिति भवति । मायाकार्यं किञ्चिदित्यर्थः। अदृश्या मूर्यासु ता अदृश्यमुरः ताभिः पूर्भिस्त्रिपुरैः । ता एव हि मयेन विहिताः । कृताः प्रेरिता वा । अनेन मार्गद्वयमपि ते नाशयन्तीति सूचितं वैदिकं लौकिकं च। अनेन सर्वथा तन्नाशः कर्त्तव्य इति भगवदवतारहेतुर्निरूपितः। किञ्च। न केवलं लोकहननमेव देवद्रोहाचरणम् । यज्ञाद्यकरणबोधनेन आत्मन एव वैदिकत्वेन देवत्वसम्पादकत्वं च । तथा चाऽयथा सृष्टिर्निरूपिता भवति । तयोः स्वरूपतो नाशे पुनस्तथैव भवन्तीति बुद्धिव्यामोह एव कर्त्तव्यः । अतो मतिविमोहं कृतवान् । अत्यन्तं प्रलोभो यत्र । अल्पेनैव साधनेन बहुफलनिरूपकं शास्त्रं कृतवान् । वेषं बुद्धवेषम् । अहं सर्वज्ञ इत्यात्मानं ख्यापयित्वा तेषां हृदयवार्त्तामुक्त्वा विश्वासमुत्पाद्य विपरीतोपदेशनं मतिविमोहनम् । मतिविमोहनेन सहितो मतिप्रलोभो वा । तथा सति विद्यमानाया मतेर्विमोहोऽन्यथाकरणमविद्यमानायाश्चाऽमार्गभूताया उत्पादनमिति । औपधर्म्यं पाषण्डधर्मान् ।। ३७ ।।

व्याख्यार्थ—'एत' के एतत् शब्द से बुद्ध भगवान् का अवतार लिया जाता है । एतत् शब्द का वर्तमान में उपयोग होता है । और कलियुग में बुद्ध का समय वर्तमान है इसलिये इसे 'एतं' कहा । अब यहां स्वरूप भी यही है कि जो वर्तमान है । इससे यह स्पष्ट होता है कि, ब्रह्मा ने नारदजी से जो यह निरूपण किया है वह भी कलियुग में ही किया है। यह मत पाषण्ड मत है क्योंकि वेद मार्गीय बनकर वेदमार्ग का ही युक्ति से विरोध करना यह ढोंग है । क्योंकि कहा है कि— 'वेदमार्ग का विरोध करके जिनका अणु मात्र भी काम हैं' वे सब पाखण्डी समझने चाहिये । ये सब कपट से वेद की निन्दा करने वाले हैं । 'दैत्य लोग दैवी सृष्टि से द्वेष करने वाले होते हैं । इसलिए स्पष्ट होता है कि भगवान् से देव लोगों ने प्रार्थना की तब दैत्यों को भुलावा देने के लिए ही बुद्धावतार ही हुआ है । उनकी आज्ञा से ही गौतम कणाद आदि भी बुद्ध को ही शाखा उपशाखा पैदा हुई है । ये लोग वेद प्रतिपादित सन्मार्गों में ही ऊपर से तो व्यवस्थापक रूप से स्थित रहते हैं । यद्यपि वेद में ही दैत्यों को भुलावा देने के लिए बहुत से उपाय कहे हैं । पर इस अवतार में तो लोक को सामान्य रूप से वेदमार्ग से विमुख कर देना है इसलिये ये अवतार पृथक् हुआ । 'धिष्ठितानां' का तात्पर्य यह है कि उन उन वेदों को(वेदवाक्यों के)हम ही आगे चलाने वाले हैं अर्थात् जो हम कहते हैं वही वेद भी कह रहा है, इसलिए हम वेद के प्रवर्त्तक हैं । इस तरह अपने आप को लोक में वैदिक रूप से प्रसिद्ध कराकर जो कोई इनकी युक्तियों में फंस जाते हैं उनको भुलावा दिलाते रहते हैं । उन्हें वेदमार्ग से बहिर्मुख कर देते हैं । उनकी त्रिपुररूपा माया है । पुराणांतरों से ज्ञात होता है कि पुराने समय में एक मयनाम जाति थी । उसके वंशज भी मय कहे जाते थे । यह गुण जाति थी । भुलावा देने का कार्य ही करती थी। जिस जिस मोहककार्य के द्वारा मनुष्य समाज अपने वैदिक धर्म का परित्याग करके केवल प्रवाह मार्ग में ही गिरता चला जाय वह मतिविमोह कार्य है । जैसे आजकल की यूरोपीय जाति । इसके सब ही कार्य मति को अति प्रलोभ देकर वैदिक सन्मार्ग से च्युत कर देने वाले हैं । जिस मनुष्य के सब कार्य मति विमोह (आश्चर्य) करने वाले होते हैं उसको प्रावाहिक जन समाज बहुत बुद्धिमान, सर्वश्रेष्ठ मानने लगता है । यह आजकल भी वर्तमान है । इनके आश्चर्यजनक कार्यों से जनसमाज की बुद्धि पर इतनी तो चकाचौंध छा गई है । आपामर की बुद्धि इन्हें अभी तक बड़ा बुद्धिमान् सर्वश्रेष्ठ मान रहा है । अपने इस

दबदबे में जनता को लाकर अपना महत्त्व जमा रखा है। अतएव प्रायः बहुत सी जनता इन्हीं की पद्धति पर चलना चाहती है। यह मति का अति प्रलोभ देकर भ्रष्ट कर देना है। इस मति प्रलोभन ने जन समाज के लौकिक और वैदिक दोनों मार्गों का नाश कर दिया है। समाज बन्धन शिथिल हो गया है और सनातन धर्म पर से श्रद्धा नष्ट हो गई है। फिर भी इनका मति प्रलोभक कपट या युक्तियां प्रकट नहीं होने पाती।

'अदृश्य मूर्भिः'। नहीं समझने में आती है माया (दावपेच) जिनकी। भूः माया को कहते हैं। लोक में जो पदार्थ लौकिक प्रत्यक्ष से दीख रहे हैं, अथवा जो माने जा रहे हैं, वह सब उनका वास्तविक है तो ब्रह्म वस्तु हैं। वह वस्तु, तत्वरूप में प्रत्यक्ष नहीं हो सकती। क्योंकि ब्रह्म पदार्थ का लौकिकेन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं होता। किन्तु वस्तु तत्व से व्यवहार भी नहीं चलता, इसलिए उस तत्व पदार्थ वस्तु में ही जाति और व्यक्तियों की कल्पना (वास्तविक नहीं) कर ली गई है। अब व्यवहार चला गया। सब गहनों का तत्व पदार्थ सुवर्ण वस्तु है। पर केवल सुवर्ण से व्यवहार नहीं चलता। स्त्री गहने चाहती है, वहां सुवर्ण गले में लटका देने से काम नहीं चलेगा। व्यवहार गहनों से ही चलता है। इसलिए सुवर्ण वस्तु में ही व्यक्ति गहनों की कल्पना कर ली गई। सुवर्ण तत्व ही अनेक रूप गहनों में प्रकाशित हुआ, बस यही व्यक्ति समझिये। वास्तविक में गहना या कलि कोई पृथक् पदार्थ नहीं है, सुवर्ण तो नाना रूप हो गया है। 'जातिव्यक्ति विभागोयं' यथा वस्तुनि कल्पितः।' इस कल्पना से ही कितनों को तृप्ति न हुई, तब उन्होंने उन व्यक्तियों में ही एक जाति पदार्थ की कल्पना और करली। उनका यह कहना है कि कड़ा भी गहना, कंठी भी गहना, मुद्रिका भी गहना, यह व्यवहार, बिना गहना जाति पृथक् माने बिना नहीं बनता। इसलिए व्यक्तियों से पृथक् एक जाति पदार्थ है। वास्तव में देखा जाय तो जाति और व्यक्ति दोनों ही पदार्थ सुवर्णादि पदार्थों से पृथक् मिलते नहीं। जो नहीं है उसे ही सिद्ध करके दिखा देना यही इन देव द्वेष्टा वेद विरुद्ध मत मतवादियों की माया है। और ये माया मुक्ति दावपेच या कपट, साधारण जनसमाज की समझ में आता नहीं। इसलिए इसे 'अदृस्य मूर्भि कहा है। इन्हें त्रिपुररूपा कहा है। जाति, व्यक्ति और वस्तु, तीन पुर इस माया की युद्ध स्थली है। जहां इच्छा पूर्ण होती हो वहां पुरु। सबको बहका देना यह इनकी इच्छा इन्हीं त्रिपुरमाया में पूर्ण होती है। ये तीनों पुर अदृश्य माया है। इन तीनों में आई हुई माया किसी के भी समझ में नहीं आती। 'एक सत्त्वे द्वयं नास्ति' 'विशेषण नाशे विशिष्टनाशः' 'कालिकसंबंध' और 'अनिर्वचनीयता' आदि इन लोकों की अनेक माया है। ये सब माया है। पहले पहल मय नामक दानव ने चलाई थी। बुद्धावतार ने इन्हीं युक्तियों का उपयोग करके लौकिक और वैदिक दोनों सन्मार्गों का नाश कर दिया, वास्तविकता में यह सन्मार्ग का नाश नहीं, प्रत्युत उन देव द्वेष्टा असुरों का ही नाश है। वे इन मायाओं के द्वारा बेदमार्ग से विमुख हो जाते हैं नष्ट हो जाते हैं। इसलिए वैदिक मार्ग में घुसे हुए ऐसे असुरों का नाश करना ही भगवान् के अवतार होने का कारण है। वास्तविक वेदनिन्दा हेतु नहीं है। भोले वैदिक लोगों का हनन रूप देवद्रोह करने वाले असुरों का इस तरह की माया किंवा कपट का भगवान् ने नाश किया। ये लोग जिस तरह लोक विद्या में अपने आप को महान् सिद्ध करना चाहते थे इस तरह अपने आपको परमवैदिक और देवरूप बना देने का भी ढोंग करने वाले थे। इसलिए भगवान् ने इनका मति विमोह कर दिया। और उस अपने मत में अत्यन्त प्रलोभ की बातें रख दी—

"हमारे शास्त्रोक्त साधनों का यदि कोई अनुष्ठान करेगा तो उसे अल्प साधनों से महान् फल मिलेगा।' इत्यादि महा लोभ दिया। वेष भी पण्डितों का सा बनाया। बुद्ध ज्ञानियों के समान वेष। मैं ही 'सर्वज्ञ' हूँ, इस तरह अपने आप को प्रसिद्ध करके उनके मन की बात लौकिक कल्पनाओं का निरूपण कर असुख वेशियों का विश्वास जमा लिया और फिर वैदिक विपरीत उपदेश कर उनकी मति का विमोह कर दिया यह सब अन्यथा सृष्टि के उपदेश हैं। विद्यमान बुद्धि को अन्यथा करके अविद्यमान असन्मार्ग रूप बुद्धि को पैदा कर देना ही मति विमोह है। इस तरह भगवान् बुद्ध ने असुरों की बुद्धि का विमोहित करने को पाषण्ड धर्मों की सृष्टि की ॥ ३७ ॥

आभास—एवमेतं निरूप्य ईश्वरं निरूपयति—

आभासार्थ—इस तरह 'एतं' का निरूपण करके अब 'ईश्वर' पद के अवतार का निरूपण करते हैं—

श्लोक—**यर्ह्यालयेष्वपि सतां न हरेः कथाः स्युः**
पाषण्डिनो द्विजजना वृषला नृदेवाः ।
स्वाहा स्वधा वषडिति स्म गिरो न यत्र
शास्ता भविष्यति कलेर्भगवान् युगान्ते ॥ ३८ ॥

श्लोकार्थ—जिस समय सज्जनों के घरों में भी भगवान् की कथा बन्द हो जायगी, ब्राह्मण लोग पाखण्डी हो जावेंगे। राजा लोग शूद्र हो जावेंगे और जब कहीं भी स्वाहा स्वधा और वषट् आदि शब्दों का सुनना भी बन्द हो जावेगा अर्थात् यज्ञ यागादि होने बन्द हो जावेंगे, तब कलियुग के अन्त में कलि के शासन करने वाले भगवान् अवतार धारण करेंगे ॥ ३८ ॥

सुबोधिनी—यर्ह्यालयेष्वपीति। बहिः सर्वत्र भगवत्कथा युगान्तरेषु स्थिताः। ततो द्वापरादिषु सतामालयेषु। कलिप्राचुर्ये सतामप्यालयेषु हरेः कथा न भविष्यन्ति, तदा शास्ता कल्किरूपेण भविष्यतीति। कलियुगस्याऽऽरम्भ एव परीक्षिति भगवानाविष्टः कलिनिग्रहं कृतवान्। तथापि तथा न निगृहीतः कलिः। भगवद्धर्माणां प्रवर्त्तमानत्वात्। ते हि कलिमलसंहतिकलनाः। न केवलं भगवद्धर्माभाव एव किन्तु वैदिकोऽपि धर्मो गत इति निरूपयति। धर्मो हि जन्यते ब्राह्मणैः। पाल्यते राजभिः। ते उभये नष्टाः। पाषण्डिनो द्विजजना जाताः। पाषण्डधर्मानेव कुर्वन्ति बोधयन्ति च। नृदेवा राजानश्च शूद्रा एव जाताः। तत्रापि वृषमेव लान्ति आददत इति वृषलाः। म्लेच्छा इति यावत्। धर्ममेव स्वय गृह्णन्ति नाशनार्थम्। कुर्वन्ति वा प्रमाणनाशनाय। ते हि नृणां देवाः पूज्याः। अनेन पाल्याः पालकाश्च उभये दुष्टा इति ज्ञापितम्। किञ्च। धर्माभासोऽपि गतः। सर्वत्र विधिच्छलरूपेणाऽनुकरणेन धर्माभासानेव कुर्वन्ति। तत्र देवादीनां सान्निध्याभावात् यागाभावेऽपि स्वाहादिशब्दाः श्रूयन्ते। तेऽपि यदा न श्रूयन्ते तदा भगवानवतीर्ण इत्याह—**स्वाहा स्वधेति**। स्वाहेति होमाः, स्वधेति श्राद्धानि, वषडिति यागाः।

राजसतामससात्त्विका एते । स्मेति प्रसिद्धाः । गिर इत्यर्थाभावः यत्र गृहेषु देशे वा । एवं कल्क्यवतारे हेतुत्रयम् । भक्त्यभावः, धर्माभावः, आभासधर्माभावो वेदाभावो वा । अनेन सत्ययुगे त्रयं प्रवर्तयिष्यतीति ज्ञापितम् । युगान्ते चतुर्युगसमाप्तौ । **भगवानिति** तस्मिन्नवतारे सर्वभगवद्धर्माविर्भावः ।। ३८ ।।

व्याख्यार्थ—अन्य युगों में बाहर सब जगह भगवान् की कथा होती रहती है । तदनन्तर द्वापर आदि में सज्जनों के घरों में भगवत्कथा होती थी । किन्तु जब घोर कलियुग वर्तेगा तब सत्पुरुषों के घरों में भी भगवान् की कथा नहीं होगी । तब सब दुष्टों के दमन करने वाले भगवान् कल्किरूप से प्रकट होंगे ।

कलियुग के आरम्भ में ही परिक्षित राजा में भगवान् ने प्रवेश किया और कलि को कैद कर दिया तथापि कलि का निग्रह पूरे तौर पर न हो सका । क्योंकि वहां तक श्रवण कीर्तन आदि भगवद्धर्मों का लोक में प्रचार हो रहा था । श्रवणादि भगवद्धर्म कलियुग के मैल के समूह को भी दूर कर देते हैं किन्तु जब भगवद्धर्म होने बन्द हो जाते हैं तब कलियुग का जोर बढ़ जाता है । उस समय केवल भगवद्धर्म होने बन्द हो जाते हैं, इतना ही नहीं, किन्तु वैदिक धर्म भी नष्ट हो जाता है, सो कहते हैं—'पाषण्डिन' इत्यादि, ब्राह्मणों के सहारे से वैदिक धर्म लोक में फैलता है । राजा लोग धर्म की रक्षा करते हैं । उस समय ये दोनों नष्ट हो चुके थे । ब्राह्मण वर्ग पाखंडी हो गया था । स्वयं पाखण्ड धर्म करते हैं और दूसरों के आगे भी पाखण्ड धर्मों का ही उपदेश करते हैं। और राजा लोग तो शूद्र ही बन गये हैं । उनमें भी वृषल हो गये । वृष-धर्म का ग्रहण करने वाले अर्थात् म्लेच्छ हो गये । धर्म पर ग्लानि दिलाने के लिए आप स्वयं ब्राह्मणादि धर्मों का ग्रहण करने लग जाते हैं । सबके पास से धर्म को छीन-छीन कर उसका नाश कर देते हैं । जिससे वेद मार्ग का नाश हो जाता है और ऐसे-ऐसे पाषाण्डी और धर्मनाशक ही मनुष्यों के पूज्य बन बैठते हैं । इसका तात्पर्य यह होता है कि पाल्य और पालक दोनों ही दुष्ट हो जाते हैं ।

घोर कलियुग में धर्माभास भी नष्ट हो जाता है । विधि सहित न होकर, केवल स्वाह, स्वधा आदि शब्द ही सुनने में आते हैं । सब शास्त्र अज्ञानी जीवों के लिए ही है । यज्ञ सब कामना से ही किये जाते हैं । स्वर्ग ही यज्ञादि का फल है और उसके साधन पूर्तदत्तेष्ट आदि धूम मार्गीय धर्म हैं । और इन्हीं धर्मों के कराने में वेद का तात्पर्य है। इस तरह वेद का च्छल रख कर जो धर्म किये जाते हैं, वे सब धर्माभास हैं । धर्म का अनुकरण मात्र है । कलियुग में पाषण्डी लोग धर्म का अनुकरण मात्र करते हैं । धर्माभास मात्र करते हैं । उनके यज्ञादि में देवताओं का आगमन नहीं होता । यज्ञ, श्राद्ध, सन्ध्या आदि शब्द मात्र रह जाते हैं । वस्तु नहीं रहती । किन्तु किसी समय इतना घोर कलिकाल आ जाता है, स्वाहा (यज्ञादि, होम) स्वधा (श्राद्धादि)और वषट् (संध्यादि) याग आदि शब्द भी सुनाई देने बन्द हो जाते हैं । होमादि धर्म राजस है । श्राद्धादि धर्म तामस है और सन्ध्यादि याग सात्विक धर्म है । इनका नाम भी नहीं सुनाई देता है । 'गिरः' शब्द इसलिए कहा है कलियुग में इन धर्मों में नाममात्र का तत्व रहता है । धर्म वस्तु नहीं होती 'यत्र' जिन घरों में या देश देश में ही ।

इस तरह से भगवान् कल्कि के अवतार लेने में तीन हेतु हैं। भक्ति का अभाव, धर्मों का अभाव और धर्माभासों का भी अभाव। अथवा वेद का ही अभाव, और इससे यह भी सूचित होता है कि जब सत्ययुग का प्रारम्भ होगा तब इन तीनों का प्रचार होगा यह सब चतुर्युग की समाप्ति में होगा। भगवान् कहने का तात्पर्य यह है कि इस अवतार में सब ही भगवद्धर्मों का आविर्भाव हो जाएगा ॥ ३८ ॥

आभास—एवं सर्वमेवान्तर्यामिणं सर्वधर्मसहितमुत्पत्त्या विचार्य **"यावन्मनो धारणयाऽवतिष्ठत"** इत्यंशं विचारयिष्यन् भगवतो माहात्म्यमाह— **सर्गे तपोऽहमिति** त्रिभिः।

आभासार्थ—एव सर्व मेवा 'तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत्' किंवा 'यस्य पृथिवी शरीरं' आदि श्रुतियों के अनुसार एक मध्यम पुरुष किंवा पुरुषोत्तम पदार्थ है जो सर्व धर्मों से युक्त है अन्तर्यामी कहा जाता है और सर्वव्यापक भी है। जब सम्पूर्ण विश्व का उत्पत्ति के द्वारा विचार किया गया तो युक्त है कि अन्तर्यामी पुरुष का भी उत्पत्ति से विचार किया जाय। सो इस अध्याय के ३८वें श्लोक पर्यंत उस अन्तर्यामी का पदशः विचार किया गया। इसीलिए इस अध्याय का नाम विवरणाध्याय है। 'केचित्' आदि श्लोकों के द्वारा जिस अन्तर्यामी का उद्देश रूप से पूर्व में निरूपण किया था उसी का यह पदशः विवरण है। उस अध्याय में जितने भी पद आये हैं 'प्रादेशमात्र' इत्यादि वे पद उस भगवान् के उन उन अंगों का निरूपण करने वाले हैं और जो इस अध्याय में उन्हीं के विवरण रूप जो वाक्य (पद्य) कहे गए हैं वे सब अंग आभूषण धर्म आदि के तात्पर्य को कहने वाले हैं। इस तरह सर्व धर्म सहित सर्व व्यापक अन्तर्यामी का विचार कर लिया गया। और अब इस विचार के द्वारा यह भी सिद्ध हो गया कि पद वाक्यादि शब्द जात सब ही भगवान् पुरुषोत्तम के माहात्म्य का निरूपण करते हैं यही अग्रिम तीन श्लोकों से प्रतिपादित किया जाता है—

श्लोक—**सर्गे तपोऽहमृषयो नव ये प्रजेशाः**
स्थानेऽथ धर्ममखमन्वमरावनीशाः।
अन्ते त्वधर्महरमन्युवशासुराद्या
मायाविभूतय इमाः पुरुशक्तिभाजः ॥ ३९ ॥

श्लोकार्थ—सृष्टि अवस्था में तपस्या, मैं (ब्रह्मा) और जो नौ प्रजापति मरीचि आदि ऋषिगण अपने पालन **अवस्था में धर्म, यज्ञ,** मनु, देवगण और राजा लोग, और संहार अवस्था में अधर्म, महादेव, मन्युवश आदि सर्प और असुर लोग, ये सब अनन्त शक्ति रखने वाले उस पुरुषोत्तम भगवान् की ही माया विभूतियां हैं ॥ ३९ ॥

सुबोधिनी-एतादृशभगवन्मूर्तिध्यानेन मनसोऽवस्थाने हेतुर्भगवन्माहात्म्यम्। न हि महान् बहुकालं तिष्ठति। अव्यवस्थितमनसा वा महान् चिन्तनीयो भवति। सम्यक्स्फुरणाभावेनाऽप-

राधप्रसङ्गात् । महतश्च धारणात् वैक्लव्यं भवतीति प्रकारत्रयेण निरूपणम् । तत्र प्रथमं महान् सर्वदा न तिष्ठतीत्यत्र को हेतुरित्याकांक्षायां स हि न सर्वदैकरूपः स्वगुणैः कालभेदेन नानाविधो भवतीति सर्वदा तस्य नैकरूपेणाऽवस्थानम् । तदाह । सर्गे सृष्टिनिमित्तं भगवानेतावन्ति रूपाणि करोतीत्याह । तपः । अहं ब्रह्मा । ऋषयो नव मरीच्यादयः । ये प्रजेशाः प्रजोत्पादने समर्थाः । गुणत्रयेण सृष्टिरिति त्रयो निरूपिताः । ऋषय इति वेदा वा । तथा सति चतुर्मूर्त्तिः सृष्टिं करोतीति । तत्र तपो वासुदेवः । **"यस्य ज्ञानमयं तप"** इति । प्रजेशाः सङ्कर्षणरूपाः । ऐश्वर्यं हि तत्र प्रतिष्ठितमिति । सृष्ट्यपेक्षया स्थाने बहुकार्यमिति तत्र पञ्च रूपाणि निरूपयति । स्थाने मर्यादापालनार्थम् । **अथेति** भिन्नक्रमे । धर्मः प्रथमोऽनिरुद्धः । मखो यज्ञः । धर्मो ह्यत्राऽऽचाररूपः प्रमाणशब्दश्रवणानन्तरभाविनी प्रवृत्तिः । मखस्तु प्रयत्नव्यङ्ग्यो भगवद्रूपोऽनन्तमूर्त्तिः । उत्पत्तौ यो वेदो गृहीतस्तदर्थोऽत्र साङ्गो गृहीतः । मनुर्धर्मप्रवर्तकः । तदन्तरस्य सद्धर्मत्वात् । अमरा देवास्ते स्वर्गपरिपालकाः । अवनीशा राजानो भूमिपालकाः । संहारे ततोऽप्यधिकापेक्षायामप्यनादरेण निरूपयति—**अन्त इति** । संहारार्थमधर्मः । हरो यज्ञप्रतिपक्षः । मन्युवशाः सर्पादयो मनुप्रतिपक्षाः । असद्रूपाः असुरा देवप्रतिपक्षाः । आदिशब्देन भूमौ नाशकाश्चोरव्याघ्रादयः । तेषामसुरपक्षपातित्वात्तदादित्वम् । ननु कथमेवमनेकरूपत्वं भगवतस्तत्राऽऽह— **मायाविभूतय इति** । मायायै विभूतयः मायायां मायायाः मायया वा । माया हि पूर्वं निरूपिता । इयं जगत्कारणभूता । स हि यदा जगद्रूपेण भवति । भगवतो वा निमित्तत्वमापद्यते तथाऽऽकृतिसमर्पणाय । भगवतो वा सेवार्थमुत्कृष्टानि साधनानि सम्पादयति। भगवत्कर्तृके वा जगति करणत्वमापद्यते । तदा तन्निमित्तमेतावन्ति रूपाणि भगवान् करोति । अन्यथा तस्याः करणत्वादयो नोपपद्येरन् । नन्वेतेषु समागतेषु तस्याः कार्यं नोपपद्यते। तत्राऽऽह-**पुरुशक्तिभाज इति** । सर्वभवनसमर्थाया मायाया एकस्मिन्नपि कार्ये सर्वसामग्र्या विद्यमानत्वात्सर्वं कार्यमेकदैव स्यात् । विलम्बे कारणाभावात् । भगवदिच्छाया निमित्तत्वेऽपि तस्या अदृष्टरूपाया नियामकान्येतानि रूपाणि, बोधकानि वा । एतेषां नियतसामर्थ्यान्न पूर्वोक्तदोषः ।। ३६ ।।

व्याख्यार्थ—अनन्त धर्म और अनन्त शक्ति सहित सर्वव्यापक अनन्त भगवान् का ध्यान करने में मन कहां तक कैसे ठहर सकता है? मन तो क्षण चंचल है उसका इतना ठहरना असंभव है । इसलिए उसके ठहरने का उपाय बताते हैं । इस प्रकार के भगवान् के स्वरूप का ध्यान करते समय मन को उतनी देर ठहराने का उपाय भगवान् का माहात्म्य ही है । भगवान् सर्वव्यापक है,अतिशय महान् है । वह बहुत काल पर्यंत किसी के पास ठहर नहीं सकता । यह प्रमेय विचार है । जो मन अव्यवस्थित है असंयत किंवा निरर्गल है, उस मन से महान् का ध्यान नहीं हो सकता । यह साधन विचार है । महान् पदार्थ को धारण करने में शुद्ध को घबराहट होती है । अतएव अच्छी तरह उसके स्वरूप और अङ्गों का भान होने नहीं पाता तब अपराध की संभावना रहती है । इसलिए इन असुविधाओं को दूर करने के लिए 'सर्ग' 'विष्णो' 'नान्तं' इन तीन अग्रिम श्लोकों में तीन प्रकार से निरूपण करते हैं । तीनों में भगवन्माहात्म्य हैं, जिसके सहारे मन ठहर सकता है ।

सबसे पहले इस बात का विचार करना है कि यह महान् सर्वदा हमारे ध्यान में क्यों नहीं

ठहरता? इसका कारण क्या है ? इसका उत्तर देते हैं कि—सर्ग । यह महान् सर्वदा एक रूप से नहीं रहता । अपने गुण धर्मों से और काल के भेद से नाना प्रकार का होता रहता है, इसलिए वह ध्यान में एक रूप से स्थिर नहीं रहता । सृष्टि की रचना करने के लिए यह भगवान् इतने रूपों को धारण करता है-तपस्या, ब्रह्मा और प्रजा का उत्पादन करने में समर्थ नौ मरीचि आदि ऋषिगण । तप सात्विक, ब्रह्मा राजस प्रधान, और ऋषिगण तमः प्रधान है । इसीलिए यहां तीन का निर्देश किया । ऋषि शब्द से वेदों का भी ग्रहण होता है । ऐसी अवस्था में एक ही स्वरूप को चारमूर्त्ति बनाकर, भगवान् सृष्टि-रचना करते हैं । यहां तप-आलोचने धातु से निस्पन्न तप शब्द से विचारमय ज्ञानरूप तप लिया गया है । चतुर्मूर्ति होकर भगवान् श्रीकृष्ण ही जगत् की सर्वव्यवस्था करते हैं । इस पक्ष में वासुदेव ही तप है, सङ्कर्षण ही प्रजापति रूप है, ब्रह्मा प्रद्युम्न रूप है और वेद ही अनिरुद्ध है । ये चारों मूर्ति सृष्टि व्यवस्था करते हैं ।

सृष्टि की अपेक्षा पालन में विशेष कर्त्तव्य रहता है । इसलिये पांच रूप धारण करके स्थिति रखते हैं सो कहते हैं—'स्थाने स्वकृतसेतुपरीप्साय' अपनी बनाई मर्यादाओं का जब पालन करना और कराना होता है तब । सृष्टि रचना से पालन और संहार का क्रम कुछ भिन्न ही है,यह दिखाने के लिये 'अथ' शब्द कहा । मर्यादा पालन करने कराने के समय सबसे प्रथम भगवान् का रूप धर्म है । पालन में विशेष कार्य केवल अनिरुद्ध का है। धर्म दो प्रकार का है। साधनरूप और साध्यरूप । दोनों अनिरुद्ध हैं । एक को यहां धर्म शब्द से कहा है और दूसरे को मख शब्द से । यहां धर्म शब्द से सत्प्रमाण सिद्ध मानस क्रिया किंवा मानस व्यापार विशेष समझना चाहिए । मख शब्द से सहस्र मूर्त्ति भगवान् धर्म यज्ञाधिदेव । जो सब तरह की प्रवृति किंवा प्रयत्नों से प्रकाशित होता है इसका ही अंशांश अतिशय है जो क्रिया के बाद हृदय में उत्पन्न या प्रकाशित होता है ।

उत्पत्ति (४) अध्याय में 'नारायणपरा वेदाः' इन श्लोकों से जिस वेद स्वरूप भगवान् का निरूपण हुआ है, अङ्गसहित वह अङ्गी पदार्थ ही यहां धर्म और मख शब्द से ग्रहण किया है । धर्म की प्रवृत्ति चलाने वाले भगवान् मनु कहे जाते हैं । क्योंकि मनु के मध्य का समय सद्धर्मरूप है । अमर शब्द से स्वर्ग के रक्षक देवगण । और अवनीश शब्द से राजा लोग जो पृथ्वी का पालन करते हैं (पृथ्वी को लूटने वाले नहीं) ।

संहार में उससे भी विशेष कार्य है यह निरूपण करते हैं तथापि संहार होने से अनादर का भाव दिखाने के लिए 'तु' शब्द कहा । संहार करने में पहला अधर्म । यह भी भगवान् का ही रूप है । यह धर्म प्रतिपक्षी है । दूसरा रूप महादेव । यह यज्ञ का प्रतिपक्ष है । मन्युवश आदि-सर्प आदि यह मनु के प्रतिपक्षी हैं असत् रूप असुर लोग, देवों के विरोधी है । आदि शब्द से पृथ्वी पर जिनका जन्म नाश करने के लिए ही हुआ है, वे सब चोर, हिंस्र जन्तु व्याघ्र आदि राजाओं के प्रतिपक्षी है । ये असुरों के पक्षपाती हैं । इसलिए इनको आदि कहा । ये संहार करने वाली भगवद्विभूति हैं । इस तरह एक ही भगवान् सृष्टि आदि अनेक कार्यों के लिए अनेक रूपों को धारण करता रहता हैं ।

यहां यह विचार होता है कि भगवान् एक ही अनेक रूपों को किस प्रकार से धारण कर लेता है? इसका समाधान करते हैं कि 'माया विभूतयः' माया के लिए ये सब भगवान् की ही विभूति हैं ।

'प्रकृति ह्यस्योपादानं' एकादशस्कन्ध में कहा है कि इस जगत् का उपादन कारण प्रकृति-माया है। उस समय प्रकृति ही जगत् की सृष्टि संहार करती है। किन्तु इन कार्यों के सम्पादन में माया के पास अपनी कोई सामग्री नहीं है तब भगवान् उसके कार्यों का निर्वाह करने के लिए अपने रूपों को निमित्त बना लेते हैं। इसलिये ये सब मायार्थ विभूतियां कहे जाते हैं। किसी कल्प में भगवान् उपादान होते हैं और माया निमित्त कारण होती है। उस समय मायायां विभूतयः। उसका सहंकार करने के लिए भगवान् अपनी विभूतियों को प्रकाशित करते हैं। किसी कल्प में माया ही जगत् का कर्तृ कारण होती है उस समय भगवान् अपनी पूर्वोक्त विभूतियों (रूपों)को उसका करण बना देते हैं। मायया विभूतयः। यह चतुर्थ पक्ष है। किसी कल्प में माया जगत् कार्य में करण होती है उस समय भगवान् की ये विभूतियां व्यापार की जगह रहती है। सो सब कहते हैं- 'मायाहि।' माया भगवान् की शक्ति है। यद्यपि यह भी अनन्त रूपा है तथापि इसके प्रधान रूप दो हैं। जगत्कारणभूता और मोहिका। 'माया विभूतयः' पद में जिसका निरूपण किया है यह माया जगत्कारणभूता है। कारणता अनेक तरह से हो सकती है। कर्त कारण, उपादान कारण निमित्त कारण और व्यापार आदि रूप से। भगवान् ही जब जगत् होता है उस समय माया निमित्त कारण होती है। अनेक आकारों का समर्पण करती है। जब वह कर्ता होती है, तब भगवान् की सेवा के लिए उत्तम-उत्तम साधनों का संपादन करती है। जब भगवान् जगत्कर्त्ता होते हैं तब यह मायाकरण हो जाती है। तब-तब यह भगवान् उसके उन उन कार्यों का निर्वाह कराने के लिए अपनी विभूतियों (रूपों) को इस तरह धारण करता है। यदि भगवान् इस तरह सर्वदा सर्वत्र अपनी विभूतियों से माया को सहाय न पहुँचावे तो माया के करणत्व आदि का निर्बाह ही न हो सके। इस तरह यह जो सृष्टि और सृष्टि के परिकर का चार तरह से वर्णन किया है वह राजा के प्रश्नों के अनुसार है। पूर्व में राजा परिक्षित् ने श्री शुक से प्रश्न किया है कि 'आत्मानं क्रीड़यन् क्रीडन् करोति निकरोति च' यह भगवान् अपने स्वरूप को जगत् कर लेता है। कभी एक रूप से दूसरे रूपों को विरुद्ध भी कर लेता है। कभी नहीं करता। और कभी अनेक कर लेता है। कभी अपने आप को खिलाने के लिए कुछ और ही कर लेता और कभी आप ही खेलने के लिए अपने आप को ही वैसा बना लेता है। इत्यादि।

अब एक यह प्रश्न होता है कि जब भगवान् ने पूर्वोक्त रूप (विभूतियां) प्रत्येक कार्य में मौजूद रहते हैं, तब फिर माया का कार्य कौनसा बाकी रह जाता है? इसके उत्तर में कहते हैं कि— 'पुरुशक्तिभाजः' भगवान् के पास अनेक शक्तियां सर्वदा रही आती हैं। उन अन्तशक्तियों की सर्वप्रधान शक्ति माया है। यह सर्व भवन समर्था है। एक ही कार्य में सर्व सामग्री विद्यमान रहती है। संहार कार्य में सृष्टि स्थिति की और सृष्टि कार्य में स्थिति संहार की भी सामग्रियां विद्यमान रहती है। क्योंकि इसका स्वरूप ही सर्व भवन सामर्थ्य है। सब कुछ हो जाने में विलम्ब रहे ऐसा कोई कारण भी नहीं है। ऐसी अवस्था में सृष्टि स्थिति आदि कार्य, एक ही समय में होते रहेंगे तो एक भी कार्य सम्पन्न नहीं होगा। इसलिए नियामक भी चाहिये। भगवान् की ये पूर्वोक्त विभूतियां कार्य नियामिका हैं। यद्यपि भगवान् की इच्छा से ही सब कार्य नियमित रूप से चलते रहें, यह संभव है, तथापि भगवान् की सर्व साधारण को अदृश्य 'पृथक् पृथक् कार्य होते रहें इसके लिए कोई सबकी समझ में आ सके' ऐसे कारण रहने की अपेक्षा थी, सो ये पूर्वोक्त विभूतियां (रूप) उन-उन

कार्यों का नियम कर देने वाली हैं। अब सब कार्य पृथक्-पृथक् होते रहते हैं। इन तप ऋषि और अजेश आदि भगवद्रूपों की शक्तियां नियत हैं इसलिए युग पत् सब कार्य होने नहीं पाते ॥ ३९ ॥

आभास—एवं भगवतः प्रतिक्षणं नानारूपत्वादेकविधा धारणा न तिष्ठतीति यावदित्युक्तम्। एवं महान् बहुकालं न तिष्ठतीति निरूपितम्। इदानीं अव्यवस्थित-मनसा वा महान्न चिन्तनीयो भवतीतीमं पक्षं विशदयति—

आभासार्थ—इस तरह से 'यावत्' का तात्पर्य कह दिया। उतनी देर तक धारणा कैसे ठहर सकती है? इसका उत्तर दे दिया कि यद्यपि भगवान् प्रतिक्षण नाना रूप होते रहते हैं इसलिए एक ही धारणा नहीं ठहर सकती तथापि पूर्वोक्त विभूतियां भी भगवन्माहात्म्य हैं इसलिए वह सबकी धारणा भी भगवद्धारणा ही है। इस तरह महान् पदार्थ बहुत काल पर्यंत अपने वश में नहीं ठहरता, इसका आशय कह दिया। अब अव्यवस्थित (निश्चित नहीं) मन से भी भगवान् का ध्यान नहीं हो सकता। इस पक्ष का विवरण करते हैं—

श्लोक—**विष्णोर्नु वीर्यगणनां कतमोऽर्हतीह**
यः पार्थिवान्यपि कविर्विममे रजांसि।
चस्कम्भ यः स्वरहसाऽस्खलताऽऽत्रिपृष्ठं
यस्मात्त्रिसाम्यसदनादुरुकम्पयानम् ॥ ४० ॥

श्लोकार्थ—जिस ब्रह्मा ने कार्य सृष्टि निर्माण के समय ब्रह्माण्डों के पार्थिव अणु का भी ज्ञान कर लिया था वह ब्रह्मा भी क्या पूर्ण पुरुषोत्तम के पराक्रमों की गणना करने योग्य है? अन्य पराक्रमों को जाने दीजिये किन्तु भगवान् का एक ही पराक्रम ऐसा है जिसका कोई विचार भी नहीं कर सकता? वह यह कि जिनके चरण के कहीं भी न रुकने वाले अपने वेग से गुणत्रय जहां समान रहते हैं ऐसे सत्यलोक से लेकर त्रिलोकी पर्यन्त सब ही सप्तलोक जो एकदम कँप कर गिरने वाले थे उन्हें जहां के तहां ठहरा दिये और आज तक ठहर रहे हैं ॥ ४० ॥

सुबोधिनी—विष्णोर्नु वीर्यगणनामिति। सर्वेषामेवाऽव्यवस्थितमनस्त्वात् को वाऽर्हतीत्युक्तम्। मनस एव तत्राऽसामर्थ्याद्योग्यताऽपि नाऽस्तीत्युक्तम्। जीवस्य तपोयोगादिभिः सामर्थ्यवृद्धावपि मनसो वा सहायबाहुल्ये स्वाभाविकधर्मस्याऽनिवृत्तत्वादत्यन्तं ब्रह्माऽपि न समर्थ इति तमप्प्रत्ययः। जगदाद्यर्थं सामर्थ्ये वर्त्तमानेऽप्यत्र भगवतः सर्वांशधारणे न सामर्थ्यमित्याह—**इहेति**। नन्वेवंरूपेण मनसा ज्ञानजननान्निश्चितपदार्थबोधकत्वे तत्रापि सामर्थ्यं भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—**नु इति**। एतदपि वितर्केणोच्यते ननु निश्चितम्। सामर्थ्ये हेतुमाह—**यः पार्थिवानीति**। कार्यसृष्टौ समर्थजीवानां गणनायां यः सृष्ट्यभिमानी ब्रह्मा। यत्र सहायतामापन्नानि तत्त्वानि ब्रह्माण्डं जनयन्ति स रजोगुणाधिष्ठाता कतमः। तेन हि पूर्वमस्मिन्ब्रह्माण्डे ये जीवा

उत्पाद्यन्ते तेषां भोगाद्दृष्टेन संस्कृतान्परमाणून् महाराशेरुद्धृत्य ब्रह्माण्डोपादानापरोक्षज्ञानेन भगवदिच्छयैव तादृशसामर्थ्येन ब्रह्माण्डमुत्पाद्यत इति परमाणुगणनसामर्थ्याद्वैलक्षण्यज्ञानाच्च तं तथात्वेनाऽऽशङ्क्य निराकरोति । विवेचनार्थं कविपदम् । रजांसीति दुर्लक्ष्यं सूक्ष्मत्वात् । तादृशस्याऽप्यसामर्थ्ये हेतुः— **चस्कम्भेति** । इयत्तापरिमाणवन्तो हि गुणा गणयितुं शक्यन्ते विवेचयितुं वा । भगवतस्त्वेकोऽपि गुण इयत्तारहितः । मनसोऽपि स्थूलत्वात्; निरवयवत्वाच्चाऽसङ्गित्वाच्च । तदाह । आत्रिपृष्ठं ब्रह्मलोकमभिव्याप्य । अस्खलता स्वरंहसा असाधारणवेगेन सर्वागम्येन वा । उरुकम्पो यानेषु यस्मिस्तादृशं त्रिपृष्ठं सर्वं च । ततः त्रिसाम्यसदनाद्गुणत्रयसाम्यावस्थसत्यलोकात्सर्वमित्यर्थात् । उरुकम्पयानं वा । चस्कम्भ उपर्येव स्तम्भितवान् । तस्मात्पातकेन गुणेन रक्षणमशक्यमिति मनसोऽप्याकलनाभावादियत्ताभावः। संख्यापरिच्छेदाभावस्त्वग्रे वक्ष्यते ।। ४० ।।

व्याख्यार्थ—मनुष्यों से लेकर देवपर्यन्त सब ही जीवों का मन सर्वदा अव्यवस्थित (आकुल-व्याकुल) रहता है । तो अब भगवान् के पराक्रमों का ज्ञान सम्पादन करने योग्य कौन रहा ? विचार किंवा ज्ञान में मन मुख्य है । जब वही संसार व्याकुल रहता है तो फिर ऐसे मनुष्यों को तो योग्यता भी नहीं कर सकते । यद्यपि तपस्या योगाभ्यास आदि करने से जीव की शक्ति बढ़ जाती है अथवा मन के लिए बहुत सी सहायसाग्री मिल जावे तो भी उसकी सामर्थ्य बढ़ सकती है तथापि जब मन का स्वाभाविक धर्म (कार्य व्याकुलता) दूर नहीं होता तो सबसे ऊँचा ब्रह्मा भी भगवद्वीर्य को समझने में असमर्थ है । यह तमप् प्रत्यय का अर्थ है । 'कतमः' शब्द में जो तमप् दिया है वह तार्किक योग्यता को मन में रखकर दिया है । इस तर्कना में सबसे ऊँचा ब्रह्मा ही हो सकता है, इसलिए 'कतमः' का ब्रह्मा अर्थ किया । यद्यपि कार्य जगत् निर्माण करने की सामर्थ्य ब्रह्मा में है तथापि भगवान् को सर्वांश से धारण कर सके, यह सामर्थ्य ब्रह्मा में भी नहीं है, यह दिखाने के लिए 'इह' कहा । अर्थात् और कार्य में रहे पर 'यहाँ' उसकी भी शक्ति नहीं है ।

यहाँ एक यह प्रश्न होता है कि कर्ता में उपादान का अपरोक्ष ज्ञान आवश्यक है । ब्रह्मा को जब कर्ता मान लिया तो उसमें ब्रह्माण्डों के उपादान पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान है यह भी मानना पड़ेगा । ऐसी अवस्था में मन के द्वारा ज्ञान हो जाने से निश्चित पदार्थ को समझ लेना भी उसमें सिद्ध है तो भगवद्वीर्य समझने में कौन सी हानि है ? मानना पड़ेगा कि ब्रह्मा भगवद्वीर्य (पराक्रम) गणना में योग्य हैं । इसके उत्तर में 'नु' कहा । नु का अर्थ वितर्क होता है । ब्रह्मा को उपादान का अपरोक्ष ज्ञान है यह भी हम तर्क-अनुमान या अन्दाज से ही कहते हैं वास्तव में वह भी उसमें है या नहीं, यह नहीं कहते । वह अन्दाज यह है कि—'यः पार्थिवानि रजांसि विममे' ।

आनुमानिक सामर्थ्य में कारण कहते हैं । कार्य सृष्टि जब से प्रारम्भ होता है तब उसके कर्त्ताओं में जब समर्थ जीवों की गणना की जाती है तो उनमें सबसे पहला सृष्टि का अभिमानी ब्रह्मा लिया जाता है । अभिमानी शब्द इसलिए कहा है, कर्ताओं का अभिमान मात्र है । वास्तव में तो उस समय भी परमात्मा ही कर्ता रहता है । उस सृष्टि में यथा संख्य तत्त्व, कर्ता को सहाय पहुँचाते हुए ब्रह्माण्डों की रचना करते हैं । यह ब्रम्हाण्डोसादन रूप कार्य रजोगुणाधिष्ठाता ब्रह्मदेव का कार्य है । इससे ही उसे 'कतमः' कहा । अर्थात् असहाय कर्तृत्व न रहते भी अभिमान है

अतएव कतमः उपेक्षित है। इससे यह स्पष्ट होता है कि इसके पहले के ब्रह्माण्ड में जिन जीवों को ब्रह्मा ने पैदा किये थे, उनका भोग करने का अदृष्ट (अतिशय भाग्य) बचा हुआ था। उस अदृष्ट के संस्कार वाले परमाणुओं को महासमूह में से निकाल कर ब्रह्मा ने दूसरी सृष्टि में ब्रह्माण्डों की रचना की। जिस समय ब्रह्माण्डों की रचना करने का समय आया उसी समय भगवान् की ऐसी इच्छा हुई कि इस इस ब्रह्मा को ब्रह्माण्डों के उपादान कारण का अपरोक्ष ज्ञान हो जावे। बस भगवदिच्छा से लब्ध उस सामर्थ्य से यह ब्रह्माण्डो की उत्पत्ति करता रहता है। बस यही ब्रह्मा में विविध परमाणुओं की गिनती कर लेने का सामर्थ्य है। और यही एक से दूसरे परमाणुओं की विलक्षणता देख लेने की समझ है। इस भगवद्दत्त सामर्थ्य और ज्ञान अन्दाज से ब्रह्मा धारण करने की भी सामर्थ्य होगी यह अनुमान किंवा आशंका करके निराकरण किया गया है। 'यः पार्थिवानि' इत्यादि अन्दाज है। और 'इह विष्णौ वीर्यगणनायां नु कतमः अर्हति'। न 'अर्हतीत्यर्थः' यह अन्दाज का खण्डन है।

कवि लोग किसी यथार्थ का विवेचन अच्छा करते हैं। ब्रह्मा भी अवान्तर सृष्टि के पदार्थों की विवेचना अच्छी करता है इसलिये उनको 'कविः' कह दिया है। अवान्तर सृष्टि में जो पूर्व के सूक्ष्म परमाणु होते हैं। उनसे ब्रह्मा स्थूल पदार्थों की रचना करता है। उन सूक्ष्म परमाणुओं को ही यहाँ 'रजस्' शब्द से कहा गया है। यद्यपि पूर्व सृष्टि के सूक्ष्म परमाणुओं की गणना और उनकी विविधता का प्रत्यक्ष ज्ञान ब्रह्मा को रहता है तथापि यह भगवान् की धारणा में और भगवान् के पराक्रमों को समझने में असमर्थ हैं, क्योंकि भगवान का सामर्थ्य जीव बुद्धि और अव्यवस्थित मन से जान लेने में अशक्य है यही कहते हैं—'चस्कम्भेति' इतने पन की अवधि जहाँ हो और नाप तौल जन्हों की हो सके ऐसे गुण गिने जा सकते हैं अथवा उनकी विवेचना हो सकती है; किन्तु भगवान् के गुणों में तो एक भी गुण ऐसा नहीं है जिसमें इतनेपन की अवधि आ सके। जिसकी नाप तौल हो; क्योंकि विवेचना और गिनती मन से हो सकती है किन्तु भगवान् और भगवान् के गुण तो मन से भी बहुत ही बहुत है। मन से भी विशेष निरवयव है। और मन से भी विशेष निर्लेप हैं। उन गुणों में से एक गुण का नमूना वामन अवतार में दिखाया गया है। विक्रम, भगवान् में विक्रम गुण भी निरवधि है जिस समय बलि राजा ने पृथ्वी नाप लेने को कहा तब वामन भगवान् ने अपने चरणारविन्द को उठाकर बढ़ाना प्रारम्भ किया। वह यहाँ तक बढ़ा कि ऊपर के सब ही लोक उसके भीतर आ गये और वह उनसे भी आगे बढ़ गया। इतना ही नहीं प्रत्युत् उस चरण के विक्रम से जब सत्य लोक से त्रिलोकी पर्यन्त धूज धूज कर नीचे गिरने की तैयारी कर रहे थे तब आपने अपने उस चरण से ही उन्हें जहाँ के तहाँ ठहरा दिये और वे आज तक ठहर रहे हैं। यह भगवान् का अपरिमेय असीम विक्रम (पराक्रम) है। त्रिलोकी से लेकर सब लोकों को कहीं भी न रुकते, असाधारण वेग से एकदम हिल गये। गुणत्रय की साम्यावस्था वाले, सत्यलोकपर्यन्त के लोकों को ऊपर के ऊपर थमा दिया। यहाँ पाताल गुण से रक्षण भी भी कर लिया। यह गुण मन से भी नहीं जाना जा सकता। या तो भगवान् के चरण वेग से सब लोग गिरते थे और या उसी से सबके सब जहाँ के तहाँ ठहर गये। यह परस्पर विरुद्ध बात मन से कैसे समझी जा सकती है? यह इतनेपन की अवधि का अभाव बताया है। आगे के श्लोक में संख्या के द्वारा समझने की शक्ति का भी निराकरण करेंगे ॥४०॥

आभास—एवं महद्‌गुणा अव्यवस्थितमनसा आकलयितुमशक्या इति धारणयेत्युक्तम्। धारणा हि यथाकथञ्चिन्मनसा परिकल्प्य क्रियत इति। महतश्च धारणाद्वैक्लव्यं भवतीत्यवतिष्ठत इति यदुक्तं तदर्थं महत्त्वं निरूपयति—

आभासार्थ—इस तरह महापुरुष भगवान् गुण अव्यवस्थित मन से जाने नहीं जा सकते यह कह दिया—'यावन्मनः'। और इसीलिये वह मन माहात्म्य की धारणा से स्थिर रह सकता है। यह भी 'अवतिष्ठते' इससे कहा। अब अति-अति महान् के धारण करने में जो विकल्वता होती है उसका कारण महत्व दिखाते हैं—

श्लोक—**नाऽन्तं विदाम्यहममी मुनयोऽग्रजास्ते**
मायाबलस्य पुरुषस्य कुतोऽपरे ये।
गायन् गुणान् दशशतानन आदिदेवः
शेषोऽधुनाऽपि समवस्यति नास्य पारम् ॥४१॥

श्लोकार्थ—इस मायावल वाले महापुरुष भगवान् की अवधि को न मैं जानता हूं और न ये तुम्हारे बड़े भाई सनत्कुमार आदि भी जानते हैं फिर अन्य कोई भगवान् के स्वरूप का पार पा सकें यह बन ही क्या सकता है। सब से पहले देव श्री शेष भगवान् भी अपने सहस्र मुखों से भगवद्‌गुणों का गान कर रहे हैं। तथापि आज तक भगवान् का पार नहीं पा सके ॥४१॥

सुबोधिनी—**नाऽन्तं विदामीति**। अहं ब्रह्मा सर्वदा भगवद्‌गुणानामेवाऽभिव्यञ्जकजगत्कर्ता। यावज्जन्मकार्याणि कुर्वन्नपि पुत्रद्वारा कारयन्नपि स्वतिरोभावे स्वस्य वाऽन्यस्य वा विनियोगादन्तं न विदामीत्यर्थः। मुनयोऽपि तथा। योगोऽपि मदन्तर्गतमेव फलं साधयतीति सुतरां त्वदग्रजा मत्पुत्राः सनकादयो मरीच्यादयो वा। ते हि मदंशभूता मदपेक्षयाऽल्पमेव विषयीकुर्वन्तीति। तेषां गणनेच्छानिवृतौ हेतुमाह-**मायाबलस्येति**। क्षणमात्रेण ब्रह्माण्डकोटिजननसमर्थाया मायाया अपि बलं यस्मात्। किञ्च। पुरुषस्य मायाभर्त्तुः। भगवदाहितमेव हि तेजः सा जनयतीति। कुतः अपरे कालादयः। तेषामपि भगवच्चेष्टारूपत्वात्। अस्मदादयो वा। पुरुषापेक्षया अपरतो कालादयः। स्वापेक्षया त्वस्मदायदः। अस्मदादीनां प्रथमत एव अनन्तत्वज्ञानान्निवृत्तावपि शेषो वेदाभिमानिनी देवता। सहस्रवदनः सहस्रप्रकारेणैकं पदार्थं वक्तुं शक्तः। अत एव आदिदेवः। तत्प्रतिपाद्या एव हि सर्वे देवाः। यावान् भगवान् तद्व्यतिरिक्तसर्वरूपः शेषः। सृष्टेरनादित्वात्तत आरभ्य गणनायामप्यद्याऽपि नाऽन्तं समवस्यति एतावन्तोऽग्रे गणनीया इति। अनन्तत्वात्सृष्टेरग्रेऽपि। अत आह—**नाऽस्य पारमिति**। अस्य गुणस्य। भगवतो वा। बहून् गुणान् गणयितुं प्रवृत्त एकस्याऽपि पारं न गतवानिति वा। एवं सर्वथा भगवतो महत्त्वं निरूप्य धारणाया अशक्यत्वात् यावदिति निरूपितम् ॥४१॥

व्याख्यार्थ—मैं (ब्रह्मा) सर्वदा भगवान् के गुणों को ही प्रकाश में लाता रहता हूं और इसी कार्य को जन्म पर्यन्त करता हूं पुत्रों (दक्षादि) के द्वारा भी भगवान् के गुणों को ही सर्वत्र फैलाता रहता हूं। मैं जब तिरोहित हो जाता हूं तो दूसरा ब्रह्मा किंवा भगवदिच्छानुसार कोई दूसरा उसी काम पर आ जाता है। गुणगान का कार्य कभी बन्द नहीं होने पाता, तथापि हम लोग भगवान् के अन्त को न जान सके। मुनि लोगों की भी यही दशा है। यद्यपि योगोत्पन्न ज्ञान से योगी लोग गत अनागत (भूत भविष्य) सबको देख लेते हैं पर वे सब मेरे ज्ञान के भीतर की वस्तु को ही देख सकते हैं। योग की सामर्थ्य भी मेरे भीतर आये हुये फल को ही साधते हैं। इसीलिए सनकादिक या मरीचि आदि मेरे पुत्र ये सब मेरे ही अंशभूत हैं। इसलिए मुझसे भी कम विषयों का साक्षात्कार करते हैं। यदि कोई कहे कि उनको गिनने की इच्छा भी फिर क्यों नहीं होती? उसका हेतु कहते हैं—'मायाबलस्य' इति। क्षणमात्र में जो माया कोटि ब्रह्माण्डों की रचना कर सकती है, उसका भी बल इस भगवान् से ही है, क्योंकि यह भगवान् भी पुरुष है। माया का भी पोषणकर्त्ता है। भगवान् के दिए हुए तेज को ही माया अन्यत्र पैदा करती है।

जब ब्रह्मा मुनि प्रभृति ही भगवान् के स्वरूप और गुणों का अन्त नहीं जान सके तो फिर काल आदि की तो बात ही क्या? क्योंकि काल तो भगवान् की चेष्टा रूप है। अथवा हम लोग भी ऊपर कहे जा सकते हैं। पुरुष की अपेक्षा से कालादि अपर है। और खास पुरुषोत्तम भगवान् की अपेक्षा से अपर हम लोग हैं। हम लोगों को (ब्रह्मा मुनि आदि को) 'भगवान् अनन्त हैं, इसका कहीं अन्त नहीं है' यह पहले से ही विदित है। इसलिए हम तो भगवान् के निःशेष ज्ञान से निवृत ही हैं कि वेदाभिमानिनी देवता शेष भी इस भगवान् के स्वरूप और गुणों को निःशेष नहीं जानते। 'सहस्र वदनः' विशेषण से उनका सामर्थ्य कहा है एक पदार्थ को एक हजार प्रकार से जानते हैं और कहने के लिए समर्थ है, इसलिए उन्हें आदि देव कहते हैं। सबसे पहले प्रकाशित रहने वाले हैं। वेद रूप शेष से ही सब देवताओं का प्रतिपादन होता है। जितना हमें जगद्रूप में भगवान् दिख रहा है उससे बाकी रहा सब हो भगवान् शेष रूप है। अतिरिक्त रूप भगवान् को ही शेष कहते हैं।

सृष्टि का आदि, किसी को भी मालुम नहीं है बस उसी दिन से आरम्भ कर सहस्रवदन आदि देव (ज्ञानरूप) शेष भगवान्, पुरुषोत्तम के गुणगान करते हैं पर आज तक गुणों के अन्त का निश्चय कर नहीं सके। सृष्टि के आगे हो वह अनन्त ही रहता है इसलिए अब आगे इतने गुण गिनने हैं यह निश्चय नहीं होने पाता। यही कहा है—'नास्य पारम्'। अस्य अर्थात् इस भगवान् का अथवा इसके गुण का एकवचन है। इससे यह सूचना होती है कि बहुत से गुणों को गिनती करने बैठें पर अभी तक एक गुण का भी अन्त न पाया, उसके पार न पहुंचे। इस तरह भगवान् का महत्व माहात्म्य सब तरह से सर्वदा रहता है तो किसकी शक्ति है कि उनकी धारणा ध्यान कर सके। अतएव 'यावन्मनो धारणयाऽवतिष्ठैत' वाक्य में 'यावत्' पद दिया है। इसका आशय यह है कि भगवान् के स्वरूप या गुणों की निःशेष धारणा न हो सके तो 'जितनी' हो सके॥ ४१ ॥

आभास—नन्वेतादृशत्वे भगवतः क्षणमपि धारणा न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—

आभासार्थ—अब यहां एक प्रश्न होता है कि जब भगवान् का महत्व अनन्त है, तो फिर इनकी धारणा तो एक क्षणमात्र भी होनी अशक्य हो जावेगी? इसका उत्तर देते हैं कि—

श्लोक—येषां स एव भगवान् दययेदनन्तः
सर्वात्मनाऽऽश्रितपदो यदि निर्व्यलीकम् ।
ते दुस्तरामतितरन्त्यथ देवमायां
नैषां ममाऽहमिति धीः श्वश्रृगालभक्ष्ये ।।४२।।

श्लोकार्थ—निष्कपट रहकर जिन लोगों ने उस भगवान् का सब तरह से चरणाश्रय लिया है । उन पर यदि वह अनन्त भगवान् ही दया करे तो वे भक्त लोग दया होने के बाद भगवान् की इस दुस्तर दैवी माया को तर जाते हैं । यह माया उनका कुछ बिगाड़ नहीं कर सकती; क्योंकि इनकी कुत्ते और सियारों के खाने योग्य इस देह आदि में 'मैं और मेरा' यह बुद्धि नहीं रहती ।।४२।।

सुबोधिनी—येषामिति । सर्वमार्गप्रवर्त्तकत्वाद्भगवतो मोक्षदातुः अवश्यं धारणा प्रवर्त्तनीयेति यान् पुरुषविशेषानात्मीयत्वेन गृह्णाति तेषां धारणायोग्यतेत्याह—**दययेदिति**। तेषामपि न साधनत्वेन तथात्वसम्पादनं किन्तु दययैव । **स एव भगवानिति** । यः सर्वमार्गप्रवर्त्तकः । न तु गुर्वादीनामपि क्रिया । भगवत्त्वात्स्वेच्छया तथा करणम् । अनियमेन करणप्राप्तावति-दुःखित्वेन दीनत्वे दयया तानेव योजयतीति दयायाः करणत्वम् । सर्वेषु च दयाभावः अनन्तत्वात् । तथा सत्यन्येषां गुणानामुपमर्दात् सर्वमुक्त्या सृष्टेरन्तवत्त्वे भगवतोऽनन्तत्वं भज्येत । ननु तथाविधानां किं धारणामात्रेण स्वयमेव तथा फलं प्रयच्छत्वित्याशङ्क्य साधनेनैव सर्वं भगवान् करोतीति साधनमुपदिशति—**सर्वात्मनाऽऽश्रितपद इति** । भगवद्दयाया ज्ञापकं धारणम् । तस्मिन् सति भगवदिच्छानुगुण्यादन्यानि साधनानि सिद्धिं प्राप्स्यन्तीति सवभावेन भगवत्प्रपत्तिः कर्त्तव्या । तदाह । सर्वात्मना आश्रितः पादौ यैः । व्यलीकं कापट्यं फलसम्बन्धो वा । सर्वात्मत्वेन फलार्थस्याऽपि भजनस्य प्राप्तत्वान्निर्व्यलीकमिति तन्निषेधः । तेषां फलसिद्धिमाह—**ते दुस्तरा- मिति** । अथाऽऽश्रयणानन्तरम् । पूर्वमेव दुस्तरत्वादथ शब्दो मध्ये निरूपितः । अथवा ते दुस्तरां मोहिकां मायां तरन्ति । तदा भगवद्भक्तिर्ज्ञान-सिद्धिर्भवति । **अथ** तदनन्तरम् । देवमायां देवरूपस्य भगवतो द्योतनात्कारणाद्वा क्रीडाद्यर्थं वा या माया तामाधिदैविकीं पश्चात्तरन्ति । भगवति सायुज्यं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । तेषां तरणेऽभिज्ञानमिदानीमाह— **नैषामिति** । एषां श्वश्रृगालभक्ष्ये न ममेति । इदमभिज्ञानं तरणे । स एव तरिष्यतीति ज्ञातव्यम् । अहं ममेति दौर्जन्यं न यस्य देहादौ । सर्वत्रैव हि महत्कार्येऽभिज्ञानेनैव प्रवृत्तिः । **"अह्नां विधास्यामि"** इत्यत्रोक्तम् । श्वश्रृगालभक्ष्य इति पर्यवसानेनाऽन्यदीयत्वनिश्चयार्थमुक्तं तत्तस्य पर्यवसितं फलम् । अन्यानि त्ववान्तरफलानि । तथा देहस्य स्वोपयोगोऽवान्तरफलमेव । तस्मात्स्वोपयोगोऽपि देहादेर्न मुख्यं फलम् । अतः फलार्थे यत्नो न कर्तव्य इति हेतुरपि सूचितः । श्वश्रृगालेति ग्रामारण्ययोर्भक्षका उपलक्षिताः । तेन यत्राऽयं देहस्तिष्ठति तदाश्रयाः सर्व एव गृह्यन्ते । तेन मत्स्यादीनामपि परिग्रहः । अथवा । तादृशस्य नाऽपमृत्युसम्भावनेति ग्रामारण्यभेदेन तावेव भक्षकौ । ताभ्यामुपरोधान्न काकादीनां प्रवेशः । बहुधा विनियोगसम्भवादुपलक्षणमेवेति निश्चयः ।।४२।।

व्याख्यार्थ—यह बात तो निश्चय है कि यह पुरुषोत्तम भगवान् सर्व मार्गों के प्रवर्त्तक हैं, और मोक्ष देने वाले हैं। अतएव इनकी धारणा ध्यान आदि अवश्य करना चाहिए। पर ऐसी योग्यता किसकी है? तो इसका उत्तर देते हैं कि यह भगवान् जिन भाग्यवान् पुरुषों को अपना समझकर स्वीकार करें वे इसकी धारणा करने योग्य हैं। 'दययेदिति'। इसका तात्पर्य यह है कि धारणा मार्ग की प्रवृत्ति करानी है। इसी से इनका आत्मीय रूप से ग्रहण किया है

यह दया का अर्थ यहां नहीं है किन्तु ये लोग असमर्थ हैं। धारणा नहीं कर सकेंगे इसलिए इन पर दया करनी चाहिए। मेरी दया से ये स्वरूप गुणों को कुछ जान सकेंगे सो समझकर दया करते हैं 'स एव' जो सब मार्गों को चलाता रहता है वही योगधारणामार्ग की भी इस तरह दया करके प्रवृत्ति कराता है। इसमें गुरु आदि प्रार्थना से भगवान् उन पर दया करता हैं सो नहीं। भगवान् स्वतन्त्रेच्छ है इसलिए स्वयं अपनी दया से ही उन्हें धारणा समर्थ करते हें।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि जब अपनी अपनी इच्छा ही कारण हो सकती है तो फिर दया को क्यों कारण बनाते हैं? इसका यह उत्तर देते हैं कि यदि दया का नियम नहीं रहेगा तो साधक लोग अपनी इच्छा से धारण कर सकेंगे क्योंकि भगवद्धारणा जीव को कृतार्थ करती है। ऐसी अवस्था में भगवान् के गुण अनन्त हैं, यह जब ज्ञात होगा तो ये लोग कोई धारणा को अशक्य समझकर छोड़ भी देंगे। इस तरह भगवद्धारणा नियम से सबको प्राप्त न होगी। इसलिए यह धारणा मार्ग भी सर्वदा चलता रहे इस आशय से भगवान् दया करते ही हैं। तो फिर भगवान् सबके ऊपर दया क्यों नहीं करते? इसका उत्तर देते हैं कि 'अनन्त त्वात्'। भगवान् सबके ऊपर दया नहीं करते। क्योंकि उन्हें अपना अनन्तत्व भी बनाये रखना है। यदि सबके ऊपर दया करते रहें तो अन्य सब गुणों का उपमर्द (दब जाना) हो जाय, और प्रायः सबको ही मुक्ति हो जाया करे तो सृष्टि का एक दिन अन्त भी आ जावे तो जगद्रूप भगवान् का अन्तत्वत्व ही न रहे। इसलिए धारणा करने वालों से कितनों ही के ऊपर दया करते हैं सब पर नहीं। इससे धारणा मार्ग भी चलता रहता है और भगवान् का अनन्त भी बना रहता है।

अब यहाँ यह भी प्रश्न है कि जो लोग भगवद्दया के पात्र हैं उनको धारणा से ही फल देना यह नियम क्यों? बिना धारणा के भगवान् स्वयं ही उन्हें फल दे सकते हैं? इसका उत्तर देते हैं कि 'सर्वात्मना श्रित पदः' भगवान् साधनमार्गों की भी रक्षा करते हैं अतएव सब फल साधनों के द्वारा ही देते हैं। चरणाश्रय हो साधन है जिनका। भगवच्चरणाश्रय को ग्रहण करना ही भगवद्दया का सूचक है। ब्रह्मा, चरणाश्रय साधन का उपदेश करता है। भगवद्दया का ज्ञापक भगवान् की धारणा है। यह भगवत्स्वरूप का धारण जब बन गया तब भगवदिच्छा के अनुकूल हो जाने से अन्य और भी साधन सिद्ध होते चले जाते हैं इसलिए सब तरह से भगवच्चरणारविन्द का आश्रय लेना ही आवश्यक है। यही बात 'आश्रितपदः' से कही गई है। 'सर्वास्मना 'आश्रितः पादो यैस्य' जिस भगवान का चरणारविन्द सब तरह से धारण कर लिया है। जिन पर भगवान् ने दया की है वे उसके चरण का सब तरह से आसरा ले लेते हैं और वे ही उसकी दुस्तर माया को तर जाते हैं।

'व्यलीक' कपट को कहते हैं अथवा फल का सम्बन्ध ही यहां व्यलीक है। चरणाश्रय लेने में किसी फल की आशा न रहनी चाहिए। फलप्राप्त्यर्थ भी चरण का सर्वात्मना भजन किया जा सकता

है किन्तु यह कपट है । सो न होना चाहिये । इसलिए 'निर्व्य लीकं' पद में उसका निषेध किया । ऐसों को जो फल सिद्धि होती है सो कहते हैं—'तेदुस्तराम्' 'अथ' आश्रयग्रहण के अनन्तर । चरण का आसरा लेने के पूर्व माया का तरण दुस्तर है इसलिये 'अथ' शब्द मध्य में दिया है । अथवा जिन पर भगवान् की दया हो जाती है वे दुस्तर मोहिका माया को तर जाते हैं । उस समय ज्ञान को सिद्धि भगवान् में भक्ति होती है । 'अथ' इसके बाद वे दूसरी देवमाया जो भगवान् के स्वरूप का प्रकाश करती है । अथवा अपने सहयोगियों के साथ क्रीड़ा करने के लिए ही रखी गई है । उसे तर जाते हैं । उस माया की क्रीडा में उनका भी सहयोग हो जाता है । भगवान् का सायुज्य हो जाता है । आधिदैविकी आनन्दमयी लीला में प्रवेश हो जाता है । सायुज्य में दो प्रकार है यह अनेक जगह कह चुके हैं ।

जिन्होंने माया का तरण कर लिया है उनकी पहिचान बताते हैं– "नैषामिति" । इन लोगों की देह में अहंता ममता नहीं रहती । केवल देह को ही अपना स्वरूप समझना यह अहंता-अहंभाव और उसको अपना स्वरूप समझकर अतिशय प्रीति रखना यह ममता । यह माया के तरने की पहचान है जिस देह में अहंभाव और झूठी प्रीति न रहे वही भगवन्माया को तरेगा यह जान लेना 'अहं ममेति दौर्जन्यं न यस्य देहादौ' ऐसा शास्त्रों का तात्पर्य भी है । गम्भीर बड़े कार्यों में पहचान मालूम हो जाने से लोकों की प्रवृत्ति होती है । यह बात 'अन्हां विधान्या' इस मीमांसा में कही गई है ।

'शृगाल भक्ष्ये' यह वाक्य, देहादि पदार्थ दूसरों के हैं अन्त में यह दिखाने के लिए ही कहा है । अर्थात् देहादि पदार्थों को दूसरे लोग अपने उपयोग में लावेंगे अतएव वे पदार्थ दूसरों के ही हैं । फिर चाहे वे कुत्ते और स्यारिये हों चाहे अन्य कोई । इसके मध्य में देह के जो कुछ गाड़ी घोड़ों पर बैठना, स्वादु भोजन करना आदि फल हैं वे सब अवांतर हैं । मुख्य आत्यन्तिक फल तो कुत्ते स्यारियों का बटवारा है । देह अपना आप भी उपयोग करता है यह भो अवांतर फल ही है । तात्पर्य यह कि स्वोपयोग भी देह का मुख्य फल नहीं है । अतः दैहिक फल के लिए यत्न करना उचित नहीं है । श्व (कुत्ता) शृगाल (सियार) शब्द से ग्राम में और वन में रहने वाले भक्षक सब ही ले लिये जावें । इससे यह सूचित होता है कि जिस जगह चाहे गांव में चाहे जंगल में, वहां-वहां जो-जो इसके आश्रय में हों अथवा जिन्हें-जिन्हें यह आसरा देता हो वे सब इसके भक्षक हैं । यह देह उन सब का माल है । इससे यह भी स्पष्ट है कि 'देहः किमन्नदातुर्वा क्रेतु' इत्यादि वाक्यों में जा देह के बटवारे बताये हैं तदनुसार यह दूसरों का ही है ।

अथवा भगवद्धारणा को धारण करने वाले की दुर्गति की सम्भावना नहीं है यों समझकर यहाँ ग्रामण्यस्थ जन्तुओं का निर्देश किया है क्योंकि प्रसंग भगवद्धारणा वालों का ही चल रहा है । उन्होंने जिसे बांट लिया है उस पर काकादि का भाग नहीं चल सकता । अनेक प्रकार से उपयोग हो सकता है इसलिये यह उपलक्षण ही है ।। ४२ ।

आभास—एवं "**यावन्मनोधारणयाऽवतिष्ठत**" इति सुनिरूपितम् "**एकैकशोऽङ्गानि धियाऽनुधारयेदि**"ति निरूपयति—**वेदाऽहमङ्गे**ति चतुर्भिः ।

आभासार्थ—इस तरह 'यावन्मनो धारणयाऽवतिष्ठते' इस वाक्य के आशय को अच्छी तरह कह दिया। अब 'एकैकशोऽङ्गानि धियाऽनु धारयेत्'। इस वाक्य के तात्पर्य का चार श्लोकों से निरूपण करते हैं—

श्लोक—**वेदाऽहमङ्ग परमस्य हि योगमायां यूयं भवश्च भगवानथ दैत्यवर्यः।**
पत्नी मनोः स च मनुश्च तदात्मजाश्च प्राचीनबर्हि ऋभुरङ्ग उत ध्रुवश्च
इक्ष्वाकुरैलमुचुकुन्दविदेहगाधिरघ्वम्बरीषसगरा गयनाहुषाद्याः।
मान्धात्रलर्कशतधन्वनुरन्तिदेवदेवव्रतो बलिरमूर्त्तरयो दिलीपः ॥४४॥
सौभर्युतङ्कशिबिदेवलपिप्पलादाः सारस्वतोद्धवपराशरभूरिषेणाः।
येऽन्ये बिभीषणहनूमदुपेन्द्रदत्तपार्थार्ष्टिषेणविदुरश्रुतदेववर्याः ॥४५॥

श्लोकार्थ—हे नारद ! इस परब्रह्म भगवान की योग माया को मैं जानता हूं, तुम सब जानते हो, श्री महादेव जानते हैं और आगे प्रह्लाद मनुपत्नी शतरूपा, स्वायंभू मनु, उनके पुत्र प्राचीनवर्हि राजा, ऋभु अङ्गराजा, ध्रुव, इक्ष्वाकु, ऐल, मुचुकुन्द, जनक, गाधिराजा, रघु, अम्बरीश, सगर, नहुष पुत्र, ययाति, यदु, मान्धाता, अलर्कराजा, शतधन्वा, रन्तिदेव, भीष्म बलि दिलीप, सौभरि, उत्तङ्क, शिविराजा, देवल ऋषि, पिप्पलादि ऋषि, दधीचि, उद्धव, पराशर, भूरिषेण और भी हनुमान, विभीषण, परीक्षित् राजा, अर्जुन, अष्टिषेण और श्रुतदेव ये सब भगवान् की माया को जान गये और तर भी गये ॥४३-४५॥

सुबोधिनी—तत्र त्रिविधा भक्ताः श्लोकत्रयेण संगृहीताः। भक्तभक्तास्त्वेकेन। एते हि भगवदंशधारकाः। एतादृशत्व एकांशधारणासिद्धिः। पूर्वाधिकारे सम्पन्ने उत्तराधिकारार्थं प्रयत्नः कर्तव्य इति। प्रथमं ब्रह्मा। अन्तिमः शुकः पक्षी। तत्र प्रथमं शुकाधिकारे सम्पन्ने तदनन्तरं क्रमेण ब्रह्मपर्यन्तमधिकारा भवन्ति। इदमेव पादादित्वेनोच्यते। अथवा। चरणसेवा ब्रह्मण एव सिद्धा। स एव हि तच्चरणक्षालनादिना पूजां विधाय गङ्गामुत्पादितवान्। हसितं शुकादयो भगवतश्चित्ररूपाः। तत्र प्रथमं परमसात्त्विका निरूपिताः। तदनु राजसास्तामसाश्च। भगवज्ज्ञाने भक्तिमार्गस्य मुख्यत्वात् भक्ता एव गण्यन्ते। तत्राऽऽपाततः किञ्चित्स्वरूपमहं वेद। परमस्य पुरुषोत्तमस्य। योगमायां जगज्जननार्थमाज्ञापितां मायाम्। सा हि प्रथमतो ह्याज्ञाकारिणी। तस्याः स्वरूपे ज्ञाते भगवान् ज्ञातो भवति। तद्द्वारैव हि लोके भगवदाविर्भावात्। ब्रह्मा जानातीत्यत्र गुणानां सृष्टिहेतुत्वात्सर्वगुणसिद्धये ब्रह्मा सर्वं करोतीति हेतुर्हिशब्देन सूचितः। मायाया आधिदैविकत्वज्ञापनार्थं योगपदम्। आध्यात्मिकत्वमिति केचित्। यूयं नारदेन सहिता मरीच्यादयः। भवश्च महादेवः। एते त्रयः सात्त्विकादयः। भवस्य भगवत्त्वं भक्तिविरुद्धाचारस्याऽभक्तत्वबोधनव्यावृत्त्यर्थम्। ज्ञाननिष्ठान् सनकादीन् गणयत्येकरूपेण— **अथ दैत्यवर्य इति**। अनेन दैत्यवर्यः सनकादिरेवेति विचारितम्। अन्यथा राजसेषु गणनीयः

स्यात् । दैत्यवर्यः प्रह्लादः । अथेति भिन्नप्रक्रमं प्राप्तः । भक्तमुख्यत्वात् । मनोः पत्नी शतरूपा निरूपिता । कायमित्यत्र स्त्रीलिंगस्य प्रथमनिर्देशात् । सर्वत्र चकारास्तदीयानां संग्राहकाः । तदात्मजाः प्रियव्रतोत्तानपादावाकूतिदेवहूतिप्रसूतयः । ऋभुर्विष्णुपुराणे प्रसिद्धः । अङ्गो वेनपिता । उतेति ध्रुवसिद्धिः स्पष्टेति । इक्ष्वाकुप्रभृतयो राजसाः । नाहुषो ययातिः । यदुप्रभृतय आदिशब्देनोच्यन्ते मान्धात्रादिरन्तिदेवान्तैः सहितो देवव्रतो भीष्मः । एकवद्भावो वाऽनपुंसकश्च । सौभर्यादयस्तदनन्तरभाविनः । मत्स्यसङ्गादिना तथात्वम् । उतङ्को भारते प्रसिद्धः । पिप्पलादः कश्चित् । सारस्वतो दधीचिः । उपेन्द्रदत्तः परीक्षित् । पार्थोऽर्जुनः । अन्ये च यथायथं प्रसिद्धाः ॥४३॥४४॥४५॥

व्याख्यार्थ—भगवन्माया को तरने वालों में तीन प्रकार के भक्त लोग हैं साक्षात्भगवान् की ही भक्ति करने वाले भक्तों को तीन श्लोकों में एकत्र कहे हैं । और एक श्लोक में भक्तों के भक्त को । ये सब भगवान् के एकांश को समझने वाले हैं । पूर्वोक्त अधिकार न हो और ऐसे भी हो जावे तो एकांश की धारणा सिद्ध हो जावे । इसमें भी अनेक अधिकार के भक्त हैं । सबसे पहले उत्तमाधिकारी ब्रह्मा और सबसे अन्तिम शुकपक्षी । 'तिर्यक् जन्म' आदि पद से जिसे कहा । उसका केवल शब्दमात्र से भगवान् की धारणा या आश्रय है । गोविन्द, राम, कृष्ण आदि शब्दों का ही उच्चारण करता है, इसलिए पहले सुआ का अधिकार सिद्ध होले तब उसके आगे के अधिकार को प्राप्ति के प्रयत्न करना चाहिये । पहला अधिकार मिल जाने पर आगे के क्रम से ब्रह्मा पर्यंत के अधिकार होते हैं । यही सब 'पादादियावद्धसितं गदामृतः' । इस वाक्य से कहा है अथवा चरणाश्रय ब्रह्मा को सिद्ध हुआ, यह पादादि का तात्पर्य है । ब्रह्मा ने ही भगवान् की चरणक्षालन आदि पूजा की और गंगा को प्रकट किया और शुक आदिक तिर्यक भगवान् के हसित हैं । 'वयांसियद् व्याकरणं विचित्रं' पक्षिगण भगवान् के मुख धर्मरूप हैं । हसित भी मुखधर्म है और यह विचित्र है,अगम्य है। इससे यह भी स्पष्ट है कि निरोध स्कंध में 'आरुह्य ये द्रुमभुजान्' मुनियों को द्रुमशाखाओं पर बैठकर भगवत्सेवा करने का जो अधिकार कहा गया है उसकी सूचना यहां भी की है । यह एकांगधारणा का फल है । धारणा से भक्ति हुई और उससे इस प्रकार भाव सम्पत्ति मिली । यद्यपि मुखाधिकार न होने से मुख्यफल नहीं मिला तथापि सेवा के उपयुक्त देह मिलना यह अधिकारानुसार फल मिलना ही है । यह ब्रह्मा से लेकर तिर्यक् पर्यंत को यथाधिकार मिलता है ।

यहां सबसे प्रथम परम सात्त्विक अधिकारियों का निरूपण है । उसके अनन्तर राजस और तामस भक्तों का निरूपण है । 'ज्ञानीत्वात्मैव मे मतं' इत्यादि वचनों के अनुसार ज्ञान हो जाने पर जब भक्ति होती है तब वह भक्तिमार्ग मुख्य कहा जाता है । इसलिए यहां ब्रह्मनारद शिव आदि भगवत्स्वरूप गुण ज्ञानवान् भक्तों को ही गिनाया है । ये सब लोग भगवान् के स्वरूप और गुणों के कुछ अंश को जानते हैं इसलिए आपाततः ज्ञान है । ब्रह्माजी नारद से कहते हैं कि उनमें से मैं भगवान् पुरुषोत्तम को योगमाया के स्वरूप को कुछ अंश में जानता हूँ । परम शब्द का अर्थ पुरुषोत्तम है । किसी कल्प में जिस माया को जगत् उत्पन्न करने के लिए आज्ञा देते हैं उसे योगमाया कहा है । भगवान् को आज्ञा को सबसे पहले धारण करने वाली यह योगमाया है । यह माया आधिदैविकी है । अर्थात् जितना सामर्थ्य भगवान् में है उतना ही इसी में भी है अतः योग

पद दिया है । 'योगमायां' इस माया के स्वरूप को जान लेता है वही भगवान् के स्वरूप को जान सकता है जानता है । लोक में भगवान् का जो प्राकटच होता है माया के द्वारा ही होता है । यह जो जगत् हमें दीख रहा है, सुना जा रहा है, वह सब तीनों तरह का भगवान् का ही प्राकटच है। और वह माया (सर्वभवन सामर्थ्य) के द्वारा ही होता है ।

'अहं वेद' इसका अर्थ होता है 'ब्रह्म जानाति' । भगवान् के स्वरूप को ब्रह्मा जानता है इस वाक्य से यह तात्पर्य है कि ब्रह्मा को ज्ञान होने में 'हि' शब्द यहाँ हेत्वर्थक है । इस विचित्र जगत् को पैदा करने में परस्पर विचित्र गुण ही हेतु है । यद्यपि ब्रह्मा रज: प्रधान गिना जाता है और कहा भी गया है तथापि वह सभी गुणों को जानता है। अतएव भगवान् के सब गुणों को प्रसिद्धि में लाने के लिए सर्व जगत् का निर्माण करता है । भले गुणों के कुछ अंशों की ही धारणा हो तथापि उतना ही जानता सब गुणों को है । अन्यथा विचित्र जगत् का निर्माण कैसे करे यह 'हि' शब्द से ज्ञात होता है । कितने ही इस माया को आध्यात्मिकी कहते हैं । वास्तव में यह ज्ञेया माया आधिदैविकी है । इसलिये ही योगमाया कहा है। ज्ञान निष्ठ प्रधान भक्तवर्ग को गिनाते हैं। 'यूयम्' नारद को लेकर मरीचि आदि सब ही प्रजापति ये सब भगवान् की माया को जानते हैं। भव अर्थात् श्री महादेव भगवान् भी पुरुषोत्तम की माया को जानते हैं। महादेव भी ज्ञान निष्ठ प्रधान भक्त हैं। कोई हलके आदमी श्री महादेव को कभी-कभी की भांति विरुद्ध तामस चर्या को देखकर कोई उन्हें अभक्त न समझ ले इसलिए भव के साथ भगवान् पद दिया है। इसका निर्णय प्रथम सुबोधिनी में कर चुके हैं। ब्रह्मा, नारदादि मुनि और महादेव भगवान्, ये तीनों सात्त्विक और प्रथम भगवद्भक्त हैं। अब केवल ज्ञाननिष्ठ चारों समकादि ऋषियों को एक रूप से गिनते हैं। दैत्यवर्य:' यहां 'दैत्यवर्य शब्द से सनकादि ही एक वार लेने और वे चारों एकरूप हैं इसलिये एक वचन से कहे, अन्यथा इन्हें भी राजस में गिना जाता सो राजसी भक्तों (इक्ष्वाकु आदि) में न गिन कर ज्ञाननिष्ठों में रखा । इससे मालूम होता है कि दैत्यवर्य शब्द से सनकादि को ही ग्रहण किया है। दैत्यवर्य शब्द की तन्त्र से आवृत्ति यहां अभीष्ट है । एक दैत्यवर्य शब्द से सनकादि का ग्रहण कर अथ शब्द का प्रयोग कर लेना और फिर दूसरे दैत्यवर्य शब्द से प्रह्लाद को ग्रहण किया है। यद्यपि ध्रुव पर्यंत ज्ञाननिष्ठ भक्तों की ही गणना है तथापि मध्य में अथ शब्द को लेकर जो दैत्यवर्य शब्द कहा है इसका तात्पर्य यह है प्रह्लाद, सब ज्ञान निष्ठ भक्तों में मुख्य है, इसलिए भिन्न क्रम दिखाया है ।

मनु की पत्नी शतरूपा और स्वयंभुमनु पति से, प्रथम पत्नी को गिनने का तात्पर्य यह है कि 'कायम्' शब्द से अनिर्दिष्ट विशेष्य 'का' कहा है और अनिर्दिष्ट विशेषण 'अयं' कहा है । तो प्रथम स्त्रीत्व का ही निर्देश किया है । लोक कार्य में स्त्री को ही प्राधान्य दिया गया है । सब जगह जो चकार दिये गये हैं उनसे उन उनके आत्मीयों का ग्रहण कर लेना चाहिये। मनु के पुत्र प्रियव्रत, उत्तानपाद, आकूति देवहूति प्रभृति प्राचीन वर्हिराजा, विष्णुपुराण प्रसिद्ध ऋभु, वेन का पिता अङ्गराज और ध्रुव । ध्रुव की सिद्धि सर्व प्रसिद्ध है इसलिये 'उत' शब्द कहा है । योगमाया को उन्होंने जानी और तरी भी ।

अब राजस भक्तों को गिनाते हैं। इक्ष्वाकु, ऐल, मुचकुन्द, विदेह, जनक गाधिराजा, रघु, अंबरीष और सागर राजा । गय और ययाति । आदि शब्द से यदु प्रभृति भी । मान्धाता, अलर्क

राजा, शतधन्वा, तदनंतर, रन्तिदेव और भीष्म पितामह । यहां एकवद्भाव न होना और नपुंसक भी न होना छांदस प्रयोग है । दिव्यशक्ति बलिराजा और दिलीप । सौभरि ऋषि, उतङ्क, शिवि, देवल ऋषि और पिप्पलाद । सारस्वत, दधीचि, ऋषि, उद्धव, पराशर ऋषि और भूरिषेण, और भी जो दूसरे विभीषण हनुमान परीक्षित राजा, पार्थ अर्जुन आर्ष्टिषेण विदुर श्रुतदेव भक्तवर्य । ये सब भगवन्माया को जानते हैं और उसको तर भी गये हैं । इतना ही नहीं स्त्री शूद्र आदि और हूणभील आदि पापवृत्ति लोग भी । सो आगे कहते हैं ।। ४३ ।। ४४ ।। ४५ ।।

आभास—तेषां फलमाह—

आभासार्थ—अब सबका फल कहते हैं—

श्लोक—**ते वै विदन्त्यतितरन्ति च देवमायां**
स्त्रीशूद्रहूणशबरा अपि पापजीवाः ।
यद्यद्भुतक्रमपरायणशीलशिक्षा-
स्तीर्यग्जना अपि किमु श्रुतधारणा ये ।। ४६ ।।

श्लोकार्थ—वे देवमाया को जानते हैं वे ही देवमाया के पार जाते हैं । स्त्री, शूद्र, हूण, शबर आदि जो पाप किये हुए हैं जो पाप से ही जीविका चलाने वाले हैं । यदि भगवान् के सेवक और शील की शिक्षा पाये हुए हैं ऐसे पशु पक्षी आदि भी तर जाते हैं तो जिन्होंने ज्ञान सुन-सुनकर उसे धारण किया है उनकी तो बात ही क्या है ।। ४६ ।।

सुबोधिनी—ते वै विदन्त्यतितरन्ति चेति । तां मायां ज्ञात्वा तामेव तरन्तीति । अस्मदादीनामपि तरणोपायमाह— **स्त्रीशूद्रहूणशबरा अपोति** । तामसेषु स्त्रियः सात्त्विक्यः । शूद्रो राजसः । हूणस्तामसः शबरादयस्ततोऽप्यधमाः। पापेनैव जीवन्तीति पापजीवाः । एते विदन्ति तरन्ति च । यदि अद्भुतक्रमस्य भगवतः परायणाः सेवकाः तेषां यदि शीलेन शिक्षिता भवेयुः । अद्भुतः क्रमः पादविक्षेपः क्रियाशक्तिर्यस्येति भगवतः सामान्यतः परायणत्वं यस्य कस्यचित्सुलभम् । तस्य परायणास्तु क्षणमात्रमप्यन्यचित्ता न भवन्ति । अन्यथाऽद्भुतक्रमत्वाद्भगवानन्यत्र गच्छेत् । तेषामपि न वचनमात्रेण शिक्षितं प्रयोजकं किन्तु शीलेन सह । यथा ते भगवत्परास्तथा चेत्तदाज्ञया तेऽपि भवन्ति । किञ्च । स्त्रियादिषु नासम्भावना कर्त्तव्या । यतस्तिर्यग्जना अपि मुक्ता भवन्ति । यथा नामादिपाठनेन शकादयः । श्रुतधारणाः श्रुतार्थालोचनसमर्थाः । तस्मादंशतो ज्ञाने सर्व एवाऽधिकारणः । सर्वथा ज्ञाने न कोऽपि । भगवद्भक्तसङ्गाभावे तु न किञ्चिज्जानन्ति ।। ४६ ।।

व्याख्यार्थ—ते वै विदन्ति । येमता भगवान् की उस माया को जानकर उसी को तर जाते हैं । हम सबको भी माया तरण का उपाय बताते हैं—स्त्रीशूद्रहूण आदि स्त्रीशूद्रवर्ग हूण जन शबर (भील) आदि भी माया को तर जाते हैं ।

तामसों में भी स्त्रियां सात्त्विक हैं शूद्र राजस है और हूण तामस है। शबर आदि इनसे भी हलके हैं। पाप से जो अपना जीवन चलाते हैं वे पाप जीव कहे जाते हैं, ये और पूर्व श्लोकोक्त सब लोग माया को जान लेते हैं और उसे ही जानकर तर भी जाते हैं। ये लोग भक्तों के भक्त हैं। अद्भुत पराक्रम भगवान् हैं। भगवान् की क्रिया शक्ति अचिन्त्य है। ऐसे भगवान् की भक्ति में जो तत्पर रहते हैं सावधान रहते हैं, वे अद्भुत पराक्रम परायण कहे जाते हैं। सामान्यतः भगवत्परायण होना हर एक के लिए सुलभ है। किन्तु अद्भुत पराक्रम भगवान् के परायण (तत्पर भक्त) तो एक क्षण के लिए भी अन्यचित्त नहीं हो सकते। क्योंकि ये यदि थोड़े क्षण के लिए भी अन्यमना होवे तो भगवान् अद्भुत पराक्रम होने ने अन्यत्र चले जाय। धारणा-वारणा सब कहीं की कहीं हो जाय। इसलिए ऐसे भगवान् के धारण करने वाले भक्त बहुत दुर्लभ हैं। ऐसे दुर्लभ भक्तों के आचरण ग्रहण करके जो स्त्री शूद्र हूण और पापजीव भी भक्त हों तो वे भगवन्माया को तर जाते हैं। अद्भुत पराक्रमों के उपदेश को ग्रहण कर और वे जिस तरह भगवान् के धारण में तत्पर रहते हैं। इस तरह ये भी उनकी तरह ही उपदेश के अनुसार उनके आचरणों को भो, सावधान दीनता पूर्वक तदनुसार करते रहें तो भगवन्माया को तर जाते हैं।

स्त्री, शूद्र, हूण और पाप जीव शबर आदि मनुष्य भगवद्भक्तों का आश्रय लेकर भगवन्माया को तर जावे इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि ये मनुष्य हैं, अतएव सुनी हुई बातों को समझ और धारण कर सकते हैं। किन्तु पशु पक्षी आदि जीव भी जो सुनी हुई बात को धारण नहीं कर सकते हैं वे भी यदि भगवद्भक्तों का आचरण अपने स्वभाव में ला सकें तो माया का तर जाते हैं। इसमें दृष्टांत शुक पक्षी है। शुक सारिका आदि पक्षियों को भी भगवन्नाम संकीर्तन से उत्तम गति प्राप्त हुई, यह प्रसिद्ध हैं। इस सम्पूर्ण ग्रन्थ से यह सिद्ध होता है कि बड़ों से लेकर छोटे-छोटे जीव पर्यंत जिन-जिन में दीनतापूर्वक सदाचार सम्पत्ति भगवान् का आश्रय होगा वे-वे जीव भगवान् की माया को पार कर जावेंगे। और वैसे देखा जाय तो माया का ज्ञान और तरण एक अंश में ही होता है। सर्वथा सब माया का ज्ञान तो असंभव ही है। और भगवद्भक्तों का संग भी यदि न करे तब तो कुछ भी न हो ॥ ४६ ॥

आभास—एवमेकैकशो धारणस्य स्वरूपमुत्पत्त्या विनिरूप्य **"जितं जितं स्थानमपोह्य धारयेदि"** त्यस्याऽर्थमुत्पत्त्या विचारयति—**शश्वदिति** द्वाभ्याम्।

आभासार्थ—इस तरह 'एकैकशोऽङ्गानि' के अनुसार एकांश धारणा का स्वरूप कहकर अब 'जितं जितं स्थानमपोह्य धारयेत्' इसके अर्थ का उत्पत्ति से विचार करते हैं।

श्लोक—**शश्वत् प्रशान्तमभयं प्रतिबोधमात्रं**
शुद्धं समं सदसतः परमात्मतत्त्वम्।
शब्दो न यत्र पुरुकारकवान् क्रियार्थो
माया परैत्यभिमुखे च विलज्जमाना ॥ ४७ ॥

श्लोक—**तद्वै पदं भगवतः परमस्य पुंसो**
ब्रह्मेति यद्विदुरजस्रसुखं विशोकम् ।
सध्र्यङ्नियम्य यतयो यमकर्त्तहेतिं
जह्युः स्वराडिव निपानखनित्रमिन्द्रः ।। ४८ ।।

श्लोकार्थ—सदा वर्तमान गुणत्रय की घबराहट से रहित, निर्भय, केवल अद्वैत ज्ञान स्वरूप, आनंद रूप, सतरूप कार्य, कारण भाव वाले स्वरूप से अलग और जिसे आत्मा का परमार्थ स्वरूप किंवा वस्तुतत्व कहते हैं; और जिसके वर्णन में सब कारक क्रियाओं सहित शब्द (वेदादि) राशि भी समर्थ नहीं होती और माया भी जिसके सामने आती लज्जित होकर दूर चली जाती है । यह पदार्थ भगवान् पूर्ण पुरुषोत्तम का चरणारविन्द है जिसको ब्रह्मवेत्ता पुरुषलोग और वेद ब्रह्म-अक्षर ब्रह्म नाम से जानते हैं । वास्तव में दुःखाभाव परम सुख रूप यह फल है ।।४७–४८।।

वशीकृत मन वाले यति लोग इस भगवच्चरणारविन्द अक्षर ब्रह्म को ग्रहण करके फिर अन्य फल और सुख के साधनों का परित्याग कर देते है; जैसे मेघों का राजा जमीन खोदकर जल निकाल लेने के साधनों को नहीं रखता ।

सुबोधिनी—स एव भगवदंशः स्वाधीनो भवति यः स्वात्मत्वेन स्वयमेव स्फुरति । अन्यथा बुद्धया व्यवस्थापितस्तदपगमेऽपगच्छेत् । पादादीनां च स्वरूपमेतदेव । तत्र प्रथमं पादस्वरूपे विचारितेऽन्यत्स्वयमेव ज्ञास्यतीति लक्षणेन प्रथमं पादस्वरूपं निरूपयति— **तद्वै पदं भगवतः परमस्य पुंस इति** । दश धर्मा भगवतश्चरणारविन्दे निरूपिता दशलीलारूपाः । तथा सति प्रत्येकावयवे दशलीला उक्ता भवन्ति । तत्र भगवच्चरणारविंदं कीदृशमित्यपेक्षायां यत्सर्वदा तच्चरणारविन्दं । यत्तु कदाचित्तन्न । अनेन कालेन भगवत्स्वरूपं निर्धारितं कालापरिच्छिन्नं तदिति यत्कालेन परिच्छिन्नं तन्न तत् । प्रशांत गुणत्रयक्षोभरहितम् । सत्त्वस्याऽपि दयादिना क्षोभात्तदभावाय प्रशब्दः । एवं प्रेर्यप्रेरकयोरपरिच्छेदो निरूपितः । इदानीं सर्वपरिच्छेदकस्य कालस्याऽत्रापरिच्छेदकत्वमाह— **अभयमिति** । भयरहितम् । एवं संसारधर्माभावनिरूपणेन दोषाभावमुक्त्वा स्वरूपमाह— **प्रतिबोधमात्रं शुद्धं सममिति** । प्रतिबोधमात्रमनुभवरूपम् । मात्रशब्देन प्रमातृप्रमाणप्रमेयसम्बन्धो निवारितः । त्रितयसम्बन्धरहिता या प्रमा तद्भगवत्पदमित्यर्थः । मात्रपदेनैव शुद्धताया उक्तत्वात् शुद्धमानन्दरूपम् । समं सद्रूपम् । एवं सच्चिदानन्दरूपमित्युक्तं भवति । अस्य पदस्य सर्वव्यवहारातीतत्वं वदति चतुर्भिर्विशेषणैः । व्यवहारोऽपि हि चतुर्द्धा भवति । प्रपञ्चत्वेन आत्मीयत्वेन शब्दत्वेन शब्दार्थत्वेन च । तत्र व्यवहारातीतत्वमाह—**सदसतः परमिति** । कार्यकारणभावात्परम् । प्रकृतेर्वा । आत्मीयो न भवतीति आत्मव्यवहारोऽपि नास्तीत्याह । आत्मनस्तत्त्वं परमार्थस्वरूपम् । व्यवहारस्तत्कृतस्तदन्यस्मिन्भवति । आत्मनः सिद्धत्वान्न तत्र व्यवहारः । शाब्दिकं व्यवहारं निराकरोति । **शब्दो न यत्रेति,**

भगवत्पदे कर्मत्वाद्यभावान्न कारकत्वम् । अक्रियारूपत्वात् तदव्यञ्जकत्वाद्वा न धात्वर्थत्वम् । अप्रयत्नरूपत्वान्न प्रत्ययार्थत्वम् । अनेन शब्दे प्रधानरूपत्वाभावे नामाख्यातार्थत्वाभावादुपसर्गनिपातार्थत्व दूरादेव निवारितम् । **कारकवान् क्रियार्थ इति** । नामाख्यातयोः सम्बन्धकथनाद्वाक्यार्थोऽपि न भवतीत्युक्तम्। भगवदाज्ञया मायाव्यवहार्यत्वे जीवानामिवाज्ञानादिनिवृत्तिद्वारा व्यवहार्यत्वं स्यात् । तदपि नास्तीत्याह— **माया परैति** दूरादेवापगच्छति । तस्या गमने हेतुः— **विलज्जमानेति** । इयं चरणदासी । ज्ञानरूपत्वाच्च भगवतः । इयं मोहिका । अत एव तस्या जनव्यामोहकत्वं भगवान् जानातीति । ये वा अभिमुखाश्चकारादनुचराश्च ज्ञानिनो भक्ताश्च तत्र सर्वत्रैव विलज्जमाना। विशेषतो लज्जा अंशतोऽपि कार्याकरणं द्योतयति । एवं दशभिर्विशेषणैर्भगवत्पदं लक्षयित्वा तस्य प्रसिद्धिमाह-**ब्रह्मेति यद्विदुरिति** । यद्भगवत्पदं सर्ववेदांतविचारका ब्रह्मेति विदुः । तस्मिन्नेव ब्रह्मणि ईश्वरत्वेन कश्चिदुद्गच्छेत्तदा स भगवान्। पूर्वोक्तं तु पदम्। स एव चेन्नियामको भवेत्तदा परमः । तत्पदम् । स एव चेद्भोक्ता तदा पुमान् । एवं विचारेण ब्रह्मविदोऽपि ब्रह्मेति तद्वदन्ति। एवं तस्य प्रसिद्धिमुक्त्वा तस्य सहजं फलमाह-**अजस्रसुख विशोकमिति** । परमानन्दो दुःखाभावाश्च फलं तदुभयरूपं तदित्यर्थः । तत्र साधनान्याह-**सध्र्यङ्नियम्येति** । सम्यगञ्चतीति सध्र्यङ् भनः । यदात्मानं संसारेऽञ्चति तादृशं मनो नियम्य। तद्भावं तस्य दूरीकृत्येत्यर्थः। इदमान्तरं साधनम् । बहिः साधनं संन्यासः । तदाह-**यतय इति** । एवं दोषाभावप्रभृति फलपर्यंतं पदं निरूप्य विजितार्थौ विचारितः । जितं जितं स्थानमपोह्येति विचारयति । तत्र जितानां स्वाधीनीकृतानां पदानां न परित्यागः । तथा सति पूर्वप्रयासवैयर्थ्यापत्तेः । किन्तु जितं स्थानं भगवच्चरणारविन्दाश्रयभूतं साधनसमुदायमपोह्य दूरीकृत्येत्याह। ससाधनस्य पदस्य जितत्वात्पदं स्थापनीयम् । साधनं त्यक्तव्यमित्यर्थः । नन्वस्य त्यागस्य किं प्रयोजनं तत्राऽऽह-**धारयेत्परम्परमिति**। अग्रिमावयवस्वाधीनीकरणार्थमुत्तरोत्तरसम्बन्धिनं धारणमिति दृष्टान्तेन स्पष्टयति-**स्वराडिव निपानखनित्रमिति** । यथा स्वराट् स्वर्गाधिपतिर्मेघादीनां स्वामी । निपानखनित्रं कूपखननसाधनं कुद्दालादि त्यजति। एवं भगवत्पदप्राप्त्यर्थं कृतानि क्षुद्राण्यपि साधनानि पदमाहात्म्यात् महाफलत्वेन पदे सम्पन्ने पूर्वमज्ञानात्क्षुद्रपदार्थसाधकानि संगृहीतानि त्यजतीत्यर्थः । स्वराट् साधकानि तु गृह्णात्येव । एवमुत्तरत्र सर्वांशे फले निष्पन्ने इन्द्रो भूत्वा परमैश्वर्यं प्राप्य सवमेव त्यजतीति भावः ॥४७॥४८॥

व्याख्यार्थ—धारणा के द्वारा जीते-जीते भगवान् के अवयवों को मूल स्वरूप में मिलाकर छोड़ते जाना, और फिर जप के बाद सबको एक स्वरूप में हो सर्वदा देखता रहना यह धारणा का स्वरूप है । इसी के विषय में कहते हैं कि भगवान् के स्वरूप का जो अंश अपनी आत्मा होकर स्वयं ही दृष्टि में सर्वदा आता रहे वही भगवदंश स्वाधीन हुआ कहा जाता है । ऐसा न होने पावे और अपनी बुद्धि से तर्क से जो उस स्वरूप को हृदय में बैठाया जावे तो अपनपे के साथ एक न हो जाने से जिस समय वह बुद्धि हटेगी उसी समय वह स्वरूप भी निकल जाएगा, स्थिर न होगा । बस चरण से लेकर श्री मस्तक पर्यंत सब ही पुरुषोत्तमांगों का स्वरूप यही है, जिसका निरूपण हो रहा

है। चरण शब्द सर्वसामान्य को समझाने के लिए है। पाद का अर्थ अंश[1] है। 'पादोस्य विश्वा भूतानि' इस श्रुति में इसका निर्णय हो चुका है। भगवान् के पाद अर्थात् किसी एक अंश का पहले स्वरूप विचार कर लिया जाय तो फिर अन्यांग भी तदनुसार हो स्वयमेव समझ में आ जावेंगे। इसलिए पहले भगवच्चरण का स्वरूप विचार करते हैं—'तद्वै पदं भगवतः यत् शश्वत्' इत्यादि।

भगवान् का यह पद (स्थान अंश) धाम आसन चरणाभरण, आयुध, लोक आदि अनेक रूपों से समय-समय पर प्रकाशित होता रहता है।

भगवान् के इस चरणारविन्द में ये शाश्वत् (सदावर्तमानता) आदि विशेषणों से कहे गये दस धर्म लीलारूप हैं। पुरुषोत्तम में सर्गविसर्गादि दस धर्म हैं। इस तरह इस पुरुषोत्तम के चरण में ये लीलारूप धर्म विशेष हैं। वेद में श्री पुरुषोत्तम और चरणरूप अक्षरब्रह्म दोनों में सर्गादि धर्मों का निरूपण है किन्तु इस चरण का यह रूप ऐसा होता है जिसमें ये दशधर्म विशेष हैं अनन्यादृश है। इतना ही नहीं भगवान् के श्री अंगों में ये लीलारूप दशधर्म रहते हैं। अस्तु यहां तो चरणारविन्द निरूपण चल रहा है। इसलिए इसके निरूपण में पहला धर्म 'शश्वत्' है। जो सदा वर्तमान रहे वह चरण। जो कभी नहीं वह चरण (भगवदंश) नहीं है। इससे काल से भगवान् के स्वरूप का निर्धार हुआ समझिए। काल के द्वारा उस चरण का नाप सर्वथा नाप नहीं हो सकता। बस यही उसका काल द्वारा निर्धार है। जिसका काल से परिच्छेद हो जाय वह भगवच्चरण नहीं। काला-परिच्छिन्नता ही काल से निर्धार है।

यह चरण 'प्रशांत' है। श्री पुरुषोत्तम प्रशांत अप्रशांत दोनों है, पर यह अक्षर चरण प्रशांत है। सत्वादि तीनों गुणों का कोई भी विकार यहां नहीं है। यद्यपि सत्व भी शांत कहा जा सकता है किन्तु दया सात्विक है। पर दया में क्षोभ हुए बिना नहीं रहता किन्तु यहां दयादि सात्विक विकार भी नहीं है यह दिखाने के लिए ही 'प्र' शब्द दिया है। 'प्रशांतम्'। इस विशेषण से प्रेर्य और प्रेरककृत परिच्छेद का निवारण किया है। प्रेरककाल और प्रेर्य सत्वादि। दोनों के द्वारा इस चरण का परिच्छेद (नाप) नहीं हो सकता। अब सर्वपरिच्छेदक काल (समष्टि) भी इसको नाप नहीं सकता यह कहते हैं—'अभयम्' यह चरण स्थान सर्व भयों से रहित है। अनित्यता विकार और भय से संसार के धर्म हैं किन्तु ये तीनों संसारि धर्म इस चरण में नहीं है। ये ही दोष है, जब ये इसमें नहीं है तब इसमें दोष मात्र नहीं है, यह सिद्ध है। अब दोषाभाव कहकर चरण के स्वरूप को कहते हैं—'प्रतिबोधमात्रं शुद्धं समम्' यह अक्षरब्रह्म भगवान् का चरण केवल अनुभवरूप है।

---

१. पाद किंवा अंश कहने से गिनती किंवा परिच्छेद हो जाता है और ब्रह्म तो अपरिच्छिन्न है 'यह शंका यहां हो सकती है और कितने ही अन्यत्र सांप्रदायिक 'गणितानन्द के वृहत्' इस वाक्य को लेकर मनमानी उड़ाते हैं किन्तु तृतीय सुबोधिनी में इसका समाधान श्री वल्लभाचार्य श्री ने ही कर दिया है और वेद में जहां आनन्द की गणना की है वहां 'स्यात्' पद देकर परिच्छेद की संभावना मात्र की है। वास्तविक गणना नहीं की है। भगवान् का कोई भी अंश या स्वरूप परिच्छिन्न और गणित नहीं है। अक्षरब्रह्म तो श्री पुरु-षोत्तम का सृष्ट्यर्थ रूपांतर है वही है अतएव जो लोग अक्षर को गणितानंद कहकर अवज्ञा करते हैं वे सर्वथा अल्पज्ञ हैं। असांप्रदायिक हैं।

किसी भी अनुभव में, प्रमाता (अनुभवकर्त्ता) प्रमाण (ज्ञान)और प्रमेय (अनुभव में आती वस्तु) ये तीन पदार्थ रहते हैं किन्तु इस चरण में अनुभव में, ये तीनों भेद नहीं है। किन्तु यह पद्रूप अनुभव प्रमाण, प्रमात, प्रमेय सम्बन्ध से रहित है, केवल अनुभव रूप हो है। तीनों तरह के सम्बन्ध से रहित जो प्रभा (अनुभव-ज्ञान) वही भगवत्पद है। 'मात्र' पद देने से ही प्रभा की विशुद्धता स्पष्ट हो चुकी है फिर 'शुद्ध' पद क्यों दिया? यह आशंका हो सकती है, पर यहां शुद्ध का आनन्द अर्थ है। अर्थात् यह पदरूप अनुभव आनन्द-स्वरूप है। आनन्दानुभव को ही भगवच्चरणारविन्द कहते हैं। और 'समं' अर्थात् सत् स्वरूप है। इस तरह उस भगवान् के चरणारविन्द को सच्चिदानन्द कहा। यह सद्रूप चिद्रूप और आनन्दरूप है। त्रिकाल में अबाधित आनन्द के अनुभव को भगवान् का चरणारविन्द अक्षरब्रह्म कहते हैं। यह सिद्ध हुआ।

अब आगे के विशेषणों से यह दिखाते हैं कि यह भगवत्पद सर्वव्यवहारातीत है। इसके स्वरूप में किसी तरह का व्यवहार नहीं किया जा सकता। दुनियां में साधारण रूप से पदार्थ मात्र का दो तरह का व्यवहार किया जाता है, या तो 'सत्' और या 'असत्'। कारण अवस्था में घटादि कार्य दीखता नहीं है इसलिए कितने ही उसे असत् कह देते हैं। कारण मृत आदि सर्वदा दीखते हैं अतः उसे सत् कहते हैं। पर यह भगवत्पद सत् और असत् दोनों से परे हैं। अतीत है। इस पद का केवल रूप में सबको प्रत्यक्ष नहीं होता इसलिए सत् (है) रूप से व्यवहार नहीं हो सकता और सबके साथ और अपनपे के रूप में सर्वदा अनुभव होता रहा है, इसलिए 'असत्' रूप से ही इसका व्यवहार नही हो सकता। 'सद्सतः परं'।

यहां सत् और असत् पद का परोक्ष अर्थ कारण-कार्य रूप हैं। दुनियां में दो प्रकार के पदार्थ ही दृष्टिगोचर होते हैं। या तो कार्य रूप या करण रूप, घट कार्यरूप है और मृत्तिका आदि कारण रूप है। वस्तु और वस्तु-तत्व। इन दोनों पदार्थों का एक और रीति से भी व्यवहार चल रहा है। वह चार प्रकार का व्यवहार है—१. प्रपंच रूप से, २. आत्मीय रूप से, ३. शब्द से और ४. शब्दार्थ रूप से। घट प्रपंच भी है, आत्मीय (हमारा) भी है, शब्द रूप भी है और शब्द का अर्थ रूप भी है। यही मृत्तिका भी है। पर यह भगवत्पद अक्षर ब्रह्म होकर भी पूर्वोक्त सब कुछ नहीं है। न कारण है, न कार्य है, न प्रपंच है, न आत्मीय है और न शब्द है और न शब्द का अर्थ रूप ही है। यदि सद्सत् पद का प्रकृति अर्थ करें तो यह किसी की प्रकृति भी नहीं है। प्रकृति से भी परे है। यहां, 'पर' किंवा 'अतीत' शब्द का अर्थ 'नहीं हैं' नहीं लेना, किन्तु अधिक बढ़ा हुआ किंवा 'अनन्त' अर्थ लेना। जो है उसे नहीं तो कह नहो सकते और जो सर्वरूप है उसे भी (नहीं) नहीं कह सकते। इसलिए यहां तन्मात्रता का भी निषेध है। अर्थात् यह पद कार्य ही नहीं है कारण ही नहीं है, प्रकृति ही नहीं है, प्रपंच ही नहीं है, आत्मीय ही नहीं है, शब्द ही नहीं है और शब्दार्थ ही नहीं है। किन्तु सब कुछ वही नहीं है अतएव निषेध शेष है। सत् असत् दोनों से पर हैं। अर्थात् प्रपंचातीत है प्रपच सत् और असत् दोनों हैं और यह अक्षरब्रह्म पद, सत् असत् दोनों ही न रहकर उनसे अतीत है, उनसे भी पर है। प्रपंच व्यवहार है। इस व्यवहार से यह पद अतीत है। पुरुष सूक्ताध्याय में इस ब्रह्म की अतीतता का निरूपण हो चुका है। यहां यह अतीतता किंवा परता का निषेध अर्थ करें तो पहले अध्यायों से विरोध आवे। इसलिए यहां 'सद्सतः परं' का अर्थ अधिक ही करना पड़ेगा। 'तन्मात्र नहीं है' यह अर्थ करना पड़ता है।

यह आत्मीय भी नहीं है जो आत्मा का सम्बन्धी है उसे आत्मीय कहते हैं । किन्तु यह अक्षरब्रह्म सबका आत्मा है । इसका कोई आत्मा नहीं है । इसलिए यह किसी का आत्मीय नहीं है। कदाचित् कोई कहे कि भले सबका आत्मा नहीं तो भी आत्मा रूप से तो व्यवहार हो सकता है ? तो अर्थात् यह व्यवहार्य कहा जायगा । तो इसके उत्तर में कहते हैं कि 'आत्मतत्वं' 'आत्मनस्तत्वं' न आत्ममात्र । यह ब्रह्म आत्मा भी नहीं है, आत्मा का भी तत्व है, सार है, गूढ़ रूप है । दुनियां में दो पदार्थ है वस्तु और वस्तु तत्व । जिसको हम समझ सकें जिसमें फेरफार कुछ हो सके वह वस्तु, और जिसे हम समझ हो न सकें और जिसमें कभी भी कुछ भी फेरफार न हो वह वस्तु का तत्व । जैसे सुवर्ण और गहना । गहना वस्तु है । उसे हम समझ सकते हैं और उसमें फेरफार भी होता देखा है । किन्तु सुवर्ण में फेरफार नहीं हो सकता और समझ में भी नहीं आता । इसका विस्तार हम नहीं करना चाहते इसलिए सुवर्ण उस गहने का तत्व है । ऐसे वस्तुतत्व बहुत हैं, अनन्त हैं । जैसे सुवर्ण, मिट्टी, रुई, बीज प्रभृति आदि । किन्तु वास्तव में देखा जाय तो ये भी वस्तु ही हैं । तत्व नहीं । क्योंकि सुवर्ण भी भस्म परिवर्तन होता है । और छेदने आदि से वह समझ में भी आता है, इसलिए वस्तु ही है तत्व नहीं । दुनियां के व्यवहार्य तत्व सुवर्ण आदि की सबकी यही दशा है । सब ही वस्तु है । वस्तुतत्व नहीं ।

वास्तव में सब वस्तुओं का तत्व आत्मा है । यद्यपि विस्तार करें तो इसको समझा सकते हैं किन्तु व्यर्थ हीं विस्तार करना उचित नहीं, यों समझकर कहना पड़ता है कि इसको मान लीजिए कि आत्मा सब का तत्व है । शास्त्र सिद्ध है । गीता में इसको युक्तियां दी गई हैं । छेदन, दाह, शोषण और भिगो देना आदि युक्तियों से वस्तुओं की परीक्षा होती है, इनका समक्ष होता ही है, उनमें फेरफार भी मालूम होता है, किन्तु यह आत्मा, चैतन्य तो अच्छेदय, अदाह्य, अक्लेदय और अशोष्य है ।

'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैव क्लेशयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ।।"

आत्मा को काटकर भी कोई समझ नहीं सकता । जलाकर भी ताप देकर भी इसे कोई समझ नहीं सकता । भिगोकर भी नहीं और सुखाकर भी नहीं समझ सकता । इत्यादि इत्यादि कारणों से यह आत्मा वस्तु नहीं, पर वस्तु-तत्व है, किन्तु यह भी यहां व्यष्टि आत्मा की चर्चा नहीं है किन्तु समष्टि व्यापक आत्मा की है । व्यष्टि आत्मा देही है । इसको चेतनता आदि का अनुमान या प्रत्यक्ष कर के कोई समझ लेता है । आरोपित ही सही । पर इसमें फेरफार सुखी दुःखी आदि हो सकता है । और मैं आदि शब्दों से इसमें व्यवहार भी हो सकता है किन्तु यह अतीत पर अक्षरब्रह्म रूप भगवत्पद तो किसी तरह समझ में नहीं आता । न इसमें फेरफार होता और न यह व्यवहार्य होता है । यह आत्मारूप से व्यवहार्य नहीं है किन्तु 'आत्मनः तत्वं' आत्मा का भी तत्व है वास्तविक तत्व को समझ लेने के लिए स्वरूप और लक्षण हम कह चुके हैं । आत्मीय रूप व्यवहार,अन्य कृत होता है, किन्तु आत्मा से अन्य कुछ है हो नहीं । आत्मा नित्य सिद्ध पदार्थ है, इसलिए वहां किसी तरह से भी व्यवहार नहीं हो सकता ।

शब्दकृत व्यवहार भी इससे भगवच्चरण में नहीं हो सकता सो कहते हैं—'शब्दोनयत्र' शब्द दो तरह का है। कारक और क्रिया। किन्तु यह भगवच्चरण कारक का भी अर्थ नहीं है और न क्रिया का ही अर्थ है। यह सुवन्त का भी अर्थ नहीं और तिङन्त का भी अर्थ नहीं है। कर्मत्व, करणत्व आदि भी इसमें नहीं है इसलिए यह कारक भी नहीं होता और यह अव्यङ्ग्य है, अज्ञेय है, अक्रिय है इसलिए क्रिया का भी अथ नहीं है। मानसिक क्रिया रहित है, अतएव प्रत्यय का भी अर्थ नहीं है। सुवन्त और तिङन्त दोनों का जब अर्थ नहीं है, क्योंकि शब्द-संसार में ये दोनों ही प्रधान है तब फिर अप्रधान उपसर्ग निपातादि का अर्थ तो यह कैसे सम्भव है? नाम (शब्द) और आख्यात (धातु) का सम्बन्ध जब दूर कर दिया तो फिर यह भगवत्पद वाक्य का अर्थ भी नहीं है यह सिद्ध है। 'अर्थ' शब्द यहां व्यङ्ग्य या फलवाचक समझना। अर्थात् सुवन्त से व्यङ्ग्य किंवा सुवन्त का फल, तिङ्न्त से व्यङ्ग्य किंवा तिङ्न्त का फल नहीं है। सबसे निर्लेप यह भगवच्चरण है।

अब यहां यह विचार होता है कि भले वास्तविकता कुछ भी हो किन्तु मायिक व्यवहार तो भगवत्पद में भी हो सकता है। 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इत्यादि श्रुतियों में व्यष्टिरूप शुद्ध चेतन को भी जब भगवान् की आज्ञा से माया आकर घेर लेती है तब अज्ञानादि अभूत धर्म भी उसमें आ जाते हैं और उनको दूर कराने के लिए गुरुपिता आदि ऐसे जीवों का शिक्षा आदि के द्वारा व्यवहार्यत्व होता ही। इसी तरह इस भगवत्पद में भी मायिक मूल प्रभृति दोषों की निवृत्ति के लिए व्यवहारिता होनी सम्भव है।

इसके उत्तर में कहते हैं कि—'माया परैति' मोहिका माया तो इसके दूर से ही दर्शन करके कहीं की कहीं भाग जाती है। दूर भाग जाने में कारण लज्जा है यह मोहिका माया भगवान् के चरणों की दासी है। भगवान् स्वयं अनन्त ज्ञान के निधि हैं और अन्यथा ज्ञान या अज्ञान (माया) भी ज्ञान के अंश हैं। ये सब प्रकार के ज्ञान उस ज्ञाननिधि के वशवर्ती है। अतएव माया चरण दासी है। ये भगवज्जनों को मोहना चाहती है। तब ही भगवान् इस कार्य को जान जाते हैं। इसलिए यह लजा कर दूर भाग जाती है। इस भगवच्चरण के आगे ही लज्जित हो जाती है। इतना ही नहीं पर जो इस चरण के सम्मुख हो गये ज्ञानी लोग, और जो इस चरण की सेवा करने वाले भक्त लोग उन सब के आगे भी यह लज्जित हो जाती है। "विलज्जमाना" पद में 'वि' देकर लज्जा का आधिक्य दिखाया है। इसका तात्पर्य इतना ही है कि इस चरण के आगे यह माया अपना मोहनादि कार्य एक अंश भी नहीं कर सकती। उसे इतनी अधिक लज्जा आ जाती है।

इस तरह 'शश्वत्' आदि दस विशेषणों से इस भगवत्पद का लक्षण किंवा स्वरूप कह चुके। अब उपनिषद् आदि वेदांतों में इस भगवत्पद की क्या प्रसिद्धि है सो कहते हैं 'ब्रह्मेति यद्वि दुः'। वेदांत का विचार करने वाले ऋषि लोग इस भगवत्पद को 'ब्रह्म' इस नाम से जानते हैं प्रसिद्ध करते हैं। यह ब्रह्म सर्वव्यापक है। अतएव इसी में जब कुछ समूह ईश्वर रूप से बाहर प्रकाशित होता है तब वह भगवान् कहा जाता है और यह पूर्वोक्त सच्चिदानन्द उस भगवान् का पद (चरण) कहा जाता है। और इसी में कोई नियामक होकर प्रकाशित होता है (हंसरूप) होता है तब 'परम्' कहा जाता है। और यह पुच्छ प्रतिष्ठा आदि कहा जाता है। और जब कभी इसी में कोई समूह भोक्तारूप होकर प्रकाशित होता है तब वह पुमान् (तृतीय पुरुष) कहा जाता है। यह लोक विश्व

भोग्य होता है। इसलिए इसी अक्षरब्रह्म को यदि किसी शास्त्र में ब्रह्म, भगवान्, परम्, पुमान, चरण, स्थान, विराट्, भोग्य और चरणाभरण आदि शब्दों से कह दिया हो तो विरोध नहीं समझना चाहिये। क्योंकि यह सर्वसमर्थ होने ब्रह्म व्यापक होने से सब कुछ हो जाता है। इसी से सर्व निर्णय निबन्ध में कितनो ही कारिकाओं में इस भगवत्पद का अनेक प्रकार का वर्णन किया गया है।

'मूला विच्छेद रूपेण तदाधार तथा स्थित:।' इस प्रकार प्रसिद्धि बताकर अब इससे सम्बन्ध रखने वाला सत्‌रूप फल क्या है? सो कहते हैं—'अजस्र सुखं विशोकम्'। यह भगवच्चरणारविन्द परमानन्द और दु:खाभाव रूप फल है। दुनियां में भी दो ही फल माने गये हैं—१. दु:ख न होना और २. अपरिमित सुख होना। सो यह भगवच्चरण भी अपरिमित सुखरूप और दु:खाभाव रूप है और फलात्मक भी हैं।

इतने ग्रंथों से यह स्पष्ट होता है कि यह भगवान् का चरण लौकिक वैदिक सब ही व्यवहारों से पृथक् है। तथापि वेदांत प्रसिद्ध भी है। गणितानन्द भी है, परमानन्द[1] भी है, ज्ञान स्वरूप भी है और आनन्द स्वरूप भी है। यह भी पुरुषोत्तम की तरह विरुद्ध धर्माश्रय है।

अब इस फल की साधना क्या है सो कहते हैं—'सध्र्यङ् नियम्य'। अविजित मन इस आत्मा (अपनपे) को संसार में खींचकर ले जाता है। इसलिए ऐसे मन को सध्र्यञ्च कहते हैं। उस सध्र्यञ्च मन को नियम में लाकर अर्थात् मन में वैसे भाव को दूर करने के बाद यति लोग साधनों का त्याग कर देते हैं। अन्यत्र भगवच्छास्त्रों में कहा है कि साधन मात्र इस अविजित मन को वश में करने के लिए ही कहे गये हैं, फल प्राप्ति के लिए नहीं 'दानं स्वधर्मो नियमो यमश्च श्रुतानि कर्माणि च सद्व्रतानि' 'सर्वे मनोनिग्रह लक्षणान्ता: परो हि योगो मनस: समाधि:।' आवरण हटने के बाद दु:खभाव सुखरूप फल तो प्राप्त हो हो जाता है। इसलिए "यतय:" जिन्होंने अपने मन को वश में कर लिया है वे लोग अकर्त्तावस्था प्राप्त कराने वाले नियमन जनक साधनों का परित्याग कर देते हैं। मन के विषम भावों को दूर करके निर्मल बना लेना यह भीतर के साधन हैं और त्याग या सन्यास बाह्य साधन है। भीतर का कार्य जब बन जावे मन निर्मल हो जावे तब वैसे मन और उन नियामक नियमों का भी परित्याग कर दे, यह त्याग या सन्यास है। दोषाभाव से लेकर सुख प्राप्ति रूप फल भगवत्चरणारविन्द विजित पदार्थ है। प्राप्त किया पदार्थ। सो उसका "शश्वत्" से लेकर "यतय:" पर्यंत विचार कर लिया। असंलग्न अवयवों का धारण निषिद्ध है, अतएव जब भगवत्पद का धारण विचार किंवा जय हो गया तो समझ लेना चाहिए कि सम्मिलित सर्वावयव भगवत्पदार्थ का ही धारण विजय किंवा विचार हो चुका। इसलिए कहा है कि 'विजितार्थ: विचारित:' भगवान् के चरण का सब ही स्वरूप 'यतय:' पर्यंत विचार लिया गया। पर अब 'जितं जितं स्थान मपोह्य धारयेत्' इत्युक्त उत्पत्ति का विचार करते हैं—'यमकर्त हेति' कितने ही

---

१. इसलिए जो कितने ही अल्पज्ञ इसको गणितानन्दकं वृहत् इस वाक्य के भुलावे में आकर गणितानन्द ही समझे बैठे हैं उन्हें उपनिषद् भागवत और सुबोधिनी निबन्ध आदि में खबर नहीं है। —दे०र०

असंप्रज्ञात समाधिमानी लोग यह मान बैठे हैं कि मन को वश में करने के लिए हरि आदि अभीष्ट मूर्ति (स्वरूप) प्रभृति का धारण करना उचित है, किन्तु जित-जित स्थानों का परित्याग भी कर देवे, तब अन्त में एकात्म समाधि होती है इसे ही असंप्रज्ञात समाधि कहते हैं, किन्तु यहां वह अर्थ नहीं है। यहां धारणा के द्वारा जिन भगवत्पदों को स्थानों को स्वाधीन कर लिया है उनका परित्याग कहना नहीं है। 'जह्युः' पद का यह अर्थ नहीं है। किन्तु साधन परित्याग अर्थ है। विजित धारित भगवत्पदों का ही यदि परित्याग कर दिया जाय तो फिर पूर्वकृत सब प्रयत्न ही व्यर्थ हो जावें। किन्तु 'जितं-जितं स्थान मपोह्य' यहां जो अर्थ है वही अर्थ यहां 'जह्युः' पद का भी है।

वहां यह अर्थ है कि साधनों के द्वारा भगवत्पदों का जय किया धारण किया। ऐसी अवस्था में भगवत्पद भी है और साधन समुदाय भी वहां ही रहे हैं। तब पदाश्चित साधन समुदाय को दूर करके 'अपोत्थ' 'धारयेत्'। अर्थात् साधन सहित पद को जब जीत लिया धारण कर लिया, तब भगवच्चरणारविन्दों को तो धारण कर लेवें और साधन समुदाय का परित्याग कर देवे। 'जह्युः' पद का भी यही अर्थ है क्योंकि उसी का यह विवरणाध्याय है।

यदि कोई प्रश्न करे कि यह साधन समुदाय का परित्याग क्यों? तो कहना चाहिए कि अग्रिम श्रीअंगों की धारणा करने के लिए। एक श्रीअंग दूसरे श्रीअंग से सम्बंध रखता है। पूर्व अंग का जब साधन द्वारा धारण कर लिया, जय कर लिया, तब फिर आगे के श्रीअंग का धारण करना उचित है। अतएव पूर्व साधनों का परित्याग करना ही चाहिए। 'धारयेत्परंपरं' का भी यही आशय था। और 'जह्युः' पद का भी यही है।

अब इसको दृष्टांत से स्पष्ट करते हैं—स्वराडिव निपानखनित्रं। जैसे स्वर्गादिक अधिपति मेघ आदि का स्वामी कुआ खोदने के साधन कुदाल फावड़ा टांकी प्रभृति का परित्याग कर देता है। जल प्राप्ति के लिए कुआ खोदने के साधनों का ग्रहण किया जाता हैं किन्तु जो अनन्त जलों का स्वामी हैं वह उनका परिग्रह क्यों रखेगा, त्याग ही करेगा। इसी तरह से जो साधक प्रारम्भ में भगवच्चरणारविन्द के माहात्म्य को नहीं जानता वह उस भगवद्प्राप्ति के लालच से क्षुद्र साधनों का भी परिग्रह करता है। धीरे-धीरे उच्चाधिकार प्राप्त होने से पद के माहात्म्य से ही जब पद की सम्पत्ति मिल जाती है तब वह समझता है कि पहले क्षुद्र साधनों को मैंने जो अनुष्ठान से किया है वह मेरी भूल से किया है। इसलिए उस अवस्था में उनका त्याग कर देता है। और स्वराट् साधक उच्च साधनों का ग्रहण करता है। फिर जब सर्वांश में फल की प्राप्ति हो जाती है। भगवत्स्वरूप की स्फूर्ति हो जाती है। तो इन्द्र (परमात्मा) बनकर परम ऐश्वर्य प्राप्त कर लेता है। ऐसी अवस्था में क्षुद्र और अक्षुद्र सब ही साधनों का परित्याग कर देता है ॥४७॥४८॥

आभास—एवमुद्देशाध्याये निरूपितस्य भगवत्स्वरूपस्योत्पात्त्या विचारमुक्त्वा साधनाध्याये "**अकामः सर्वकामो वे**"ति वाक्ये तदेव स्वरूपं पुनः फलसाधकत्वेनोक्तम्। तमंशमत्रोत्पत्त्या विचारयति—

आभासार्थ–इस तरह से उद्देशा (द्वितीया) ध्याय में निरूपण किये भगवत्स्वरूप का उत्पत्ति से विचार करके साधना (तृतीया) ध्याय में 'अकाम: सर्वकामो वा' जो निष्काम किंवा आत्मकाम हो वह तीव्र भक्ति योग के द्वारा पर पुरुष का यजन (सवो) करे। इस वाक्य से जिस भगवान् का, फल साधकरूप से स्वरूप वर्णन किया। उसके उस अंश का अत्र यहां उत्पत्ति से विचार करते हैं—

श्लोक—स श्रेयसामपि विभुर्भगवान् यतोऽस्य
भावस्वभावविहितस्य सतः प्रसिद्धिः।
देहे स्वधातुविगमेऽनुविशीर्यमाणे
व्योमेव तत्र पुरुषो न विशीर्यतेऽजः ॥४९॥

श्लोकार्थ—जिस भगवान् की आधार सत्ता से इस तत्व और स्वभावादि से तैयार किये इस सद्रूप जगत् का प्रकाश किंवा निर्माण हुआ है वह भगवान् ही सब पुरुषार्थों के देने में समर्थ हैं। देह किंवा ब्रह्माण्ड में से जब धातु किंवा तत्व जाने लगते हैं और जब यह पिण्ड या ब्रह्माण्ड छिन्न भिन्न होकर नष्ट होने लगता है तब वह अजन्मा अक्षर ब्रह्म भगवान् आकाश की तरह न जीर्ण होता है न छिन्न भिन्न होता है और न नाश को प्राप्त होता है जैसा था तैसा सर्वदा वर्तमान् रहता है ॥४९॥

सुबोधिनी—स श्रेयसामपि विभुरिति। स वस्तुत: स्वत: परमपुरुषार्थरूप:। एतादृशोऽपि यदि कश्चित्कामयते स्वर्गादिकमपि तदपि प्रयच्छति। यत: सर्वेषामपि श्रेयसां फलानामयमेव विभु: समर्थ उत्पादयितुं दातुं च। यतोऽयं भगवान् परमानन्दरूपोऽपि षड्गुणान् बिभर्तीति। तत्र हेतुमाह। यत: अस्य जगत: भावस्वभावविहितस्य सतो भगवत: सद्रूपादेव प्रकर्षेण सिद्धिरुत्पत्ति:। सर्वमेव हि जगद्द्विरूपम्। एकं भावविहितमन्यत्स्वभावविहितम्। भावो धात्वर्थ: क्रिया तदभिव्यङ्ग्यो वा। तेन निष्पद्यते किञ्चिज्जगत्। सामान्यक्रियाभाव:। तद्विकारा: भावविकारा उत्पत्त्यादय:। तेन ये केचनोत्पद्यन्ते प्राप्यन्ते अभिव्यज्यन्ते वा ज्ञायन्ते वा ते सर्वे भावविहिता:। ये तु नित्यनिरतिशयादिरूपा अक्षरकालादयस्ते स्वभावविहिता:। तेषां स्वरूपमेव भाव: क्रियादिरूपस्तेन विहिता:। स्वत: सिद्धा इत्यर्थ:। एवं क्रियात: स्वतश्च सिद्धा: सर्वे ब्रह्मण: सद्रूपादेव **प्रसिद्धा:** लब्धसत्ताका:। अन्यस्य सत्संपादकत्वाभावात्। तस्माद्भगवानेव सर्वफलानामुत्पादको दाता चेति युक्तम्। एवं स्वरूपादिफलान्त भगवत्स्वरूपं विचार्य फलदानप्रस्तावे फलं कस्येत्याकांक्षायां तच्चेत्फलं भगवत एव भवेत्तदा विचारप्रवृत्तिवैयर्थ्यापत्तिरिति जीवस्य फलमिति वक्तव्यम्। तत्र जीवो नाम क: पदार्थ इति जिज्ञासायां यो देहवान् स जीव इति लोकवेदप्रसिद्ध्या देहसम्बन्धी जीव इति निश्चीयते। तत्र सन्नियोगशिष्टत्वे देहेन सह उत्पद्यते। देहे लीयमाने विलीयत इति मन्तव्यम्। अन्यथा पृथगपि तस्य प्रतीति: स्यात्। **"अशरीरं वाव सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशत"** इति देहाभावे न कोऽपि पुरुषार्थ: सिद्ध्यतीति देहान्वयव्यतिरेकानुविधानादस्मिन्नेव देहे यदात्मन: फलं तत्फलं नाऽन्यदिति मतं

निराकरोति—**देहे स्वधातुविगम इति** । अयं हि देहो नाऽऽत्मा । किन्त्वात्मन आवरणरूपः । तत्सम्बन्धेनैव तस्य सुखदुःखजननात् । "**नित्यः सर्वगतः स्थाणुरि**"ति वाक्येन तस्य सर्वगतत्वादिश्रवणाच्च । तस्माद्यथा घट आकाशपरिच्छेदकस्तथा देहोऽप्यात्मपरिच्छेदकः । एवं यथा नोत्पत्तिस्तथा देहनाशेऽपि न तस्य नाशः । तथा च यदाकदाचित्तस्य फलं फलमेव । देहस्तु स्वधातुविगमेन विशीर्यते । तस्योत्पादका ये धातवः संस्कृतभूतावयवाः । अन्नादयस्तु तदुपष्टम्भकाः । ते हि धातवः स्वसमवेतं फलं जनयित्वा कृतार्थाः सन्तो निवर्त्तन्ते तदा तैः सह जातो निवर्त्तते । तथाऽयमात्मा देहेन सह जातः । यथा देहो धातुभिः । तस्मात्फले न काऽप्यनुपपत्तिरिति ।४६

व्याख्यार्थ—यह अक्षर ब्रह्म भगवान् वास्तव में स्वतन्त्र श्रेष्ठ में श्रेष्ठ सर्व पुरुषार्थ रूप है यह जिसे प्राप्त हो जाता है वह पुरुष फिर कृतकृत्य हो जाता है । तथापि यदि कोई सदोष हो अतएव स्वर्ग आदि लौकिक पुरुषार्थों की चाहना करे तो यह भगवान् उसे उन पुरुषार्थों का भी दान करता ही है । कारण कि यह भगवान् सब ही लौकिक अलौकिक पुरुषार्थों का स्वामी है, सब पुरुषार्थों का उत्पादक और दाता है । सर्व समर्थ है । अतएव इसे शास्त्रों में 'भगवान्' कहा है । यद्यपि यह केवल परमानन्द स्वरूप है तथापि भगवान् ऐश्वर्यादि छः गुणों का स्वाभाविक आधार भी है इसलिये सब पुरुषार्थों को देने में समर्थ है ।

यह भगवान् लौकिक प्राकृत पुरुषार्थों को भी क्यों देता है? इसके उत्तर में कहते हैं कि—'यतः अस्य' भाव स्वभाव से बनाये इस विश्व का यह उत्पत्ति स्थान है इसलिए । कितना हो जगत् भाव विहित है और कितना ही स्वभाव विहित है । यह अक्षरब्रह्म सत् चित् और आनन्दमय है । इसलिए इसके सत्रूप से यह सत्रूप विश्व पैदा होता है । अर्थात् इसका सत्रूप ही विश्व के रूप में फैल जाता है । जैसे सुवर्ण ही गहनों के रूप में । आधिदैविक और आध्यात्मिक किंवा स्वभाव रचित और भावरचित दो तरह का सब जगत् है । स्वभाव विहित जगत् में ही आध्यात्मिक जगत् का समावेश है । यह अन्यत्र कह चुके हैं । इसलिए दो तरह का कहा । धातु का जो अर्थ है वह भाव कहा जाता है । यही क्रिया हैं । क्रिया किंवा धात्वर्थ अनन्त है । क्रिया सत् का धर्म है। अस्ति भी क्रिया है और गच्छति भी क्रिया है । दोनों सद्भगवान् के धर्म हैं । कितना ही जगत् धर्मरूप है। भावविहित विश्व के जितने रूप और नाम हैं वे सब धात्वर्थ हैं, क्रिया हैं । कितनी ही क्रिया नित्य है और कितनी ही क्रिया त्रिक्षणावस्थायिनी हैं । अस्ति किंवा सत्ता आदि क्रिया ही है किन्तु ये नित्य क्रिया ही हैं इसलिये स्थिति रूपा मालूम देती हैं । जो क्रिया इकदम होती ही रहती है, वह स्थिति हो जाती है । आंच जलाकर जो बनेटी फिराई जाती है वहां युगपत नित्य क्रिया होने से एक चक्र मालूम देता है । अग्नि की गोलाकार स्थिति मालुम देती है । यह सारा जगत नित्य क्रिया रूप है इसलिये गच्छतीति रूप होकर भी स्थिति रूप है क्रिया रूप है । यह भाव विहित विश्व हैं किन्तु कितने ही हठाग्रही क्रिया को त्रिक्षावस्थायिनी ही मानते हैं, अनित्य ही मानना चाहते हैं । उनके मत से कहते हैं "तदभिव्यंङ्ग्यो वा" अथवा नित्य क्रिया किंवा अनित्य क्रिया से प्रकाश में आता हुआ पदार्थ (जगत्) भी भाव विहित है । सांख्य ने इस ही श्रौत मत का ग्रहण किया है । सांख्य मत वाले घटादि पदार्थ को क्रियाभिव्यंग्य मानते हैं, क्रियोत्पन्न नहीं । बस यह नित्यानित्य स्वरूपा सामान्यक्रिया ही भाव पदार्थ है । उत्पत्ति आदि को लेकर जो भाव विकार हैं वे सब इस सामान्य क्रिया या भाव के ही विकार हैं ।

इसलिए जो भी पदार्थ पैदा होते हैं, प्राप्त होते हैं, प्रकाशित होते हैं, किंवा जाने जाते हैं, वे सब भाव विहित हैं। क्रिया रचित हैं, अर्थात् विकार है। यह आदि भौतिक जगत् है। इसमें शशश्रृंगादि असत् पदार्थ भी आ जाता है।

अब दूसरा स्वभाव विहित विश्व है। यह आध्यात्मिक किंवा आधिदैविक विश्व है। अक्षर, काल भगवत्कर्म और स्वभाव आदि जो पदार्थ ये सब स्वभाव रहित हैं। अर्थात् स्वकीय हो सकता है, भगवान् का ही रूपांतर है। इन पदार्थों का स्वरूप ही भाव है। वही क्रिया आदि है। इनसे पृथक् कोई पदार्थ नहीं है, जिससे ये पैदा किये जावे। अर्थात् ये स्वतः सिद्ध पदार्थ हैं। ब्राह्मसृष्टि की रचना इनसे ही होती है। जिसे प्राथमिक सृष्टि कहा है।

इस तरह भगवत्क्रिया के द्वारा सिद्ध हुए और स्वतः स्वरूप सिद्ध सब ही प्रकार के जगद्वर्ती पदार्थ सद्रूप ब्रह्म से ही प्रसिद्ध हुए हैं। उनकी सत्ता तैयार हुई है। ब्रह्म से अन्य कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है जिसके द्वारा जगद्वर्ती पदार्थ तैयार किये जा सकें। तो अब ये सिद्ध हो गया कि एक भगवान् अक्षरब्रह्म ही सर्व फलों का उत्पादक है और दाता भी है, इसलिए परम पुरुषार्थ रूप भी यही है।

इस तरह स्वरूप से लेकर फल पर्यन्त भगवान् के स्वरूप का विचार कर लेने के बाद यह विचार होता है कि फलदान का समय आने पर यह फल किसका? यह फल किसके लिए? किसको दिया जाता है? यदि कहो कि यह भगवान् के लिए है। भगवान् को यह फल दिया जाता है तब तो यह सब पूर्वोक्त व्यर्थ हुआ जाता है। फलरूप स्वयं भगवान् अपने आपके लिए है। यह कहना एक प्रकार से सिद्ध-साधन है। इसका फिर विचार करना निरर्थक है। अतएव यह भगवान् रूप फल अन्य का हो सकता है। यह अन्य कौन? तो कहना पड़ेगा कि जीव ही अन्य है। जीव के लिए यह फल है। जीव को भगवान् अपना स्वरूप फल देते हैं।

यह जीव क्या पदार्थ है? तो इसके उत्तर में कहना पड़ता है कि जो देह वाला चेतन है यही जीव है। लोक और वेदशास्त्र दोनों में (जीव) शब्द से देही चेतन ही प्रसिद्ध है। जिस चेतन का देह के साथ सहयोग (संयोग)हुआ है वह देही चेतन ही जीव है। चेतन की देह के बिना प्रतीति नहीं होती इसलिए कितने ही यह मान बैठे हैं कि सन्नियोग शिष्ट होने से यह शुद्ध चेतन भी देह के साथ उत्पन्न होता है और देह का लय होने पर यह भी नष्ट हो जाता है। देह ही आत्मा है। चेतन कोई पृथक् पदार्थ नहीं है। अन्यथा देह के बिना भी इसकी प्रतीति (ज्ञान-खबर) होती सो होती नहीं। इसलिए देह ही आत्मा है। यह क्यों न माना जाय? वेद में भी इस बात को सहारा दिया गया है। 'अशरीरं' 'शरीरे वाव सन्तम्। शरीर-रहित चेतन को प्रिय और अप्रिय की कुछ भी खबर नहीं होती। किं बहुना देह रहित चेतन के लिए धर्मार्थ काम मोक्ष आदि कोई भी पुरुष व पुरुषार्थ ही नहीं हो सकते और न वे सिद्ध ही हो सकते हैं। अन्वय व्यतिरेक से इस देह में भी आत्मा को जो फल मिलता है वह फल है, केवल जीव या शुद्ध चेतन के लिए फल नहीं है। यह जिसका मत है उनका खण्डन करते हैं कि "देहे स धातु विगमेऽनु" इत्यादि। फल तो केवल आत्मा का है देह का नहीं, और यह देह ही आत्मा नहीं है। यह देह तो आत्मा का आवरण है, ढाक देने वाला है। आत्मा को जो भी सुख-दुःख होते मालूम देते हैं, वे भी आत्मा के रहने से ही। आत्मा

तो कभी नाश को प्राप्त नहीं होता। वह सर्वत्र व्यापक है। सब में रहता है। अतएव कहा है कि "नित्य: सर्वगत: स्थाणु:" आत्मा नित्य है, सर्व में समाया रहता है, व स्थिर है आकाश को तरह। इसलिए जैसे आकाश नित्य स्थिर और सर्वव्यापक है, तथापि घट मठ आदि पदार्थों से उसका परिच्छेद होता है, घटादि पदार्थ उसके परिच्छेदक (नाप-तौल करा देने वाले) हो जाते हैं। इसी तरह यह देह, इस आत्मा का परिच्छेदक हो जाता हैं। आकाश की तरह आत्मा स्थिर और सर्वगत है और उसका परिच्छेदक मात्र, घट की तरह देह है। केवल देह के सहयोग होने से उसका उतने देश में प्रकाश हो जाता है, न कि उत्पत्ति। इस तरह जैसे आत्मा को उत्पत्ति नहीं होती, उसी तरह इसका नाश भी नहीं होता। देह की ही उत्पत्ति और नाश होते रहते हैं। इसी से देह के रहते किंवा देह के न रहते भी जब कभी भी प्राप्त परम पुरुषार्थ रूप अक्षर रूप फल इसी का फल है।

अतिशयादि अनेक संस्कारों से बनाये गये जो सप्त धातु, ये धातु जब विपरीत संस्कारों से बिगड़-बिगड़ कर क्षीण होने लगते है, तब यह देह भी क्षीण होकर पृथक्-पृथक् भूतावयव रूपों में आ जाते हैं। धातु भी संस्कृत पंच भूतों के ही अवयव हैं। पंच महाभूतों के परमाणुओं में परस्पर एक-दूसरों का संस्कार होता रहता है और कर्मातिशयों का भी संस्कार होता रहता है। नियत संस्कारों से महाभूतावयव ही धातुरूपता को प्राप्त होते हैं और धातुओं की नियत क्रमिक स्थिति से ही देह की उत्पत्ति होती है। अन्न जलादि बाह्य पदार्थ तो उन संस्कृत महाभूत अवयवों के उपष्टम्भक, सम्भालने वाले या बढ़ाने वाले हैं। अन्न जल आदि के सजातीय परमाणुओं का संयोग होने से भूत सूक्ष्मांश ही उपचय को प्राप्त होकर देह का रूप और नाम धारण करते है। दिश् उपचये, धातु से देह शब्द बनता है। इन संस्कृत और उपचित भूत सूक्ष्मों से ही धातु भी बनते हैं। वे अपने स्वरूपानुसार भोग देकर अतिशयों के अनुसार अपने में रहे हुए काल को पैदा करके कृतार्थ हो जाते हैं और क्षीर्ण अपने यहां उपादान में चले जाते हैं। इनके साथ जो-जो पदार्थ पैदा होता है वह इनके साथ ही निवृत्त भी हो जाता है। यह आत्मा भी देह के साथ संयोग रूप से पैदा हुआ है। अतएव देह का वियोग होने से यह भी निवृत्त हो जाता है, जहां का तहां अव्यक्त हो जाता है। इसलिए ब्रह्मरूप फल मिलने में जीव को या आत्मा को कोई भी असुविधा नहीं आती ॥४९॥

आभास—उक्तमर्थमुपसंहरित—

आभासार्थ—अब पूर्वोक्त विवेचन का उपसंहार सिद्ध तात्पर्य कहते हैं—

श्लोक—**सोऽयं तेऽभिहितस्तात भगवान् विश्वभावनः।**
समासेन हरेर्नाऽन्यदन्यस्मात्सदसच्च यत् ॥५०॥

श्लोकार्थ—हे नारद मैंने सर्व पुरुषार्थ रूप और विश्व का उत्पादन और पालन करने वाले उस भगवान् का निरूपण तेरे आगे विस्तार से कर दिया। अब संक्षेप से उसका यही तात्पर्य है कि सत्-असत् किंवा कार्य कारणात्मक जो कुछ भी जगद्वर्ती पदार्थ है वह सब इस अक्षर ब्रह्म भगवान् से ही पैदा होता है दूसरे से नहीं, और जो कुछ दीखता न दीखता विश्व है वही वस्तु दृष्टि से वह हरि भगवान् ही हैं ॥५०॥

सुबोधिनी—सोऽयं तेऽभिहित इति। मयैतावता कालेन भगवानेव निरूपितो दशविधलीलायुक्तः। भगवत्त्वेन षड्गुणाः। विश्वभावनत्वेन चत्वार उत्पत्त्यादयो मोक्षश्च। धर्मादयो वा। तैरेव हि विश्वं भाव्यते। एवं विश्वभावनो भगवानेतावता प्रबन्धेन निरूपितः। श्रवणं तव सम्पादितमिति भावः। विस्तरेण निरूप्य संक्षेपेण निरूपयति बुद्धिसौकर्यार्थम्—**समासेनेति।** यावानर्थो मया विस्तरेण निरूपितस्तस्याऽयं समासः सक्षेपो भगवानेव सर्वं भगवत एव सर्वमिति। उपचारव्यावृत्त्यर्थं निषेधमुखेनाऽऽह— **हरेर्नान्यत्।** हरिरेव सर्वं हरेरन्यन्न। हरेरेव सर्वं नत्वन्यस्मात्। सदसत् उत्कृष्टमपकृष्टं च। चकारात्कालादिकमपि। **यदिति** प्रसिद्धम् ।।५०।।

व्याख्यार्थ—हे नारद! तुम्हारे आगे मैंने अभी तक दशविध लीलासहित भगवान् का ही यह सब निरूपण किया है। इसमें भगवान् से अन्य का अणु मात्र ही सम्बन्ध नहीं है। प्रथम भगवान् का सत् चित् आनन्द, स्वरूप और भगवान् होने से उन्हीं के ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य ये छः गुण धर्म भगवान् की तरह यह विश्व भावन भी है, इसलिए उत्पत्ति स्थिति संहार तथा मोक्ष। किंवा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इन स्वरूप धर्म साधन और फलादि के द्वारा ही भगवान् इस विश्व (जगत्) का भावन करता है। प्रकाशन पालनादि करता है। अतएव इसी क्रम से इस पूर्वोक्त ग्रन्थ से मैंने विश्व भावन भगवान् को कहा है। बस यही भागवत् है। भगवत इदं (ज्ञानम्)। इतने सुन लेने से तुम्हारा श्रवण तो सम्पादित हो चुका। इस तरह विस्तार से निरूपण की चर्चा करके बुद्धि के सुभीता के लिए अब संक्षेप से निरूपण करते हैं—समासे

जितना मैंने विस्तार से कहा उसका संक्षेप इतना ही है कि यह दीखता सुना जाता सब विश्व भगवान् ही है अन्य नहीं। और भगवान् से बनता है अन्य से नहीं। कोई इसे उपचार (बड़ाई) न समझ ले, इसलिए निषेध मुख से कहा है कि—हरि से अन्य नहीं है, हरि ही सब हैं। हरि से ही सब पैदा होता है। अन्य से नहीं। ऊंचा-नीचा, अच्छा-बुरा चकार से काल आदि पदार्थ भी। विशेष क्या, जो कुछ प्रसिद्ध है वह सब हरि हैं ।। ५० ।।

आभास—एवं संक्षेपविस्तराभ्यां निरूप्य शास्त्रमुपसंहरति—

आभासार्थ—इस तरह संक्षेप विस्तार से कहकर शास्त्र को समेटकर कहते हैं—

श्लोक—**इदं भागवतं नाम यन्मे भगवतोदितम्।**
संग्रहोऽयं विभूतीनां त्वमेतद्विपुलीकुरु ।।५१।।

श्लोकार्थ—यह भागवत नाम ग्रंथ है जो भगवान् ने मेरे लिये कहा है। यह भगवान् की विभूतियों का संक्षेप में वर्णन है तुम उसको विस्तार पूर्वक वर्णन करो ।।५१।।

सुबोधिनी—इदमिति। यदिदं मया निरूपितं तद्भागवतम्। भगवता प्रोक्तं भगवत्फलकं भागवतं नाम। तत्र तृतीयार्थमाह—**यन्मे भगवतोदितमिति**। यन्मे मह्यं भगवता उदितं स्वयमिति। अस्माद्धेतोः इदं भागवतं नाम। ननु भगवता हि स्वरूपं सर्वमेवोपवर्णितम्। तत्कथमेतावदेवेत्याशङ्क्याऽऽह—**संग्रहोऽयमिति**। अयं विभूतीनां संग्रहः संकोचः। संक्षेपविस्तरौ ह्यधिकारानुसारेण निरूप्येते। तत्र त्वमुत्तमोऽधिकारी। अतस्तुभ्यं संक्षेपेण निरूपितम्। त्वं त्वन्येषामर्थ एतद्विपुलीकुरु विस्तरेण वर्णय।५१।

व्याख्यार्थ—यह जो कुछ मैंने निरूपण किया यही भागवत है, भगवान् की समझ है। भगवान् ने जिसे कहा, और जिसके सुनने और समझने से भगवान् ही फल होता है यह भागवत कहा जाता है। भगवत इदं भगवान् का ज्ञान। भगवता प्रोक्तं भगवान् ने कहा (ज्ञान) और भगवत्फलकं भगवान् जिसका फल है ऐसा ज्ञान। ये तीनों भागवत शब्द की व्युत्पत्तियां हैं। उनमें से यहां तीसरी व्युत्पत्ति कही है—'यन्मे'। जो ज्ञान मुझे भगवान् स्वयं ने कहा उस ही कारण से इसका नाम भागवत है। यहां यह प्रश्न होता है कि भगवान् ने अपना सब ही स्वरूप कहा होगा आपने इतना सा ही क्यों कहा? इसका उत्तर देते हैं कि—'संग्रहोऽयम्'। यह मैंने विभूतियों को समेटकर कहा है। कल्प विकल्पों में जो-जो विभूतियां थी उन सब का संक्षेप से इकट्ठा करके यहां तुम्हारे आगे कह दिया है। विशेषण भूतिः विभूतिः। अनेक विशेषों को ग्रहण कर अनेक प्रकार से ही प्रकाशित होना विभूति कही जाती है। एक ही भगवान् भिन्न-भिन्न कल्पादि में विभिन्न विशेषों से विभिन्न प्रकार का प्रकट होता है। उन सबका यह संक्षेप है। संक्षेप और बिस्तार सुनने वाले के अधिकार को देखकर किये जाते हैं। तुम उत्तम अधिकारी हो, सर्वज्ञप्राय हो, इसलिए तुम्हारे आगे संक्षेप में ही कहा है। अब तुम अन्य अधिकारियों के आगे इसी को खूब बढ़ाकर कहो॥ १॥

आभास—विस्तारकथने हेतुः—

आभासार्थ—विस्तार से कहने का कारण कहते हैं कि—

श्लोक—**यथा हरौ भगवति नृणां भक्तिर्भविष्यति।**
सर्वात्मन्यखिलाधार इति सङ्कल्प्य वर्णय॥५२॥

श्लोकार्थ—सर्वरूप और सर्व विश्व के आधार हरि भगवान् में जिस प्रकार से स्नेह हो यह मन में संकल्प रखकर वर्णन करो हे नारद! ॥ ५२ ॥

सुबोधिनी-यथा हरौ भगवतीति। माहात्म्यज्ञानपूर्वकसुदृढसर्वतोधिकस्नेहस्य भक्तित्वान्माहात्म्यज्ञानव्यतिरेकेण तस्या अनुदयान्माहात्म्यज्ञाने विस्तारकथनस्य हेतुत्वान्माहात्म्यज्ञापनेन भक्तिजननार्थं विस्तारो वक्तव्यः। किं बहुना। यथैव भक्तिर्भविष्यति तथैव वक्तव्यः। अनेनाऽधिकारानुसारेण पदार्था वक्तव्या इत्युक्तम्। ननु निरूपितेऽपि माहात्म्ये सम्बन्धाभावात्कथं भक्तिर्भविष्यति। "**आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवती**" ति श्रुतेरात्मैव परमप्रेमाश्रयः। अन्यत्र तु तदुपाधिकं प्रेम। तद्भगवति कथं निरुपाधिकं प्रेमेत्याशङ्क्याऽऽह—**सर्वात्मनीति**। अयं भगवान् सर्वेषामात्मा। यथा सर्वात्मत्वं तदुपादितम्। एवमात्मत्वेन स्नेहविषयत्वं प्रतिपाद्य पुत्रादिसर्व-

विषयस्नेहप्रतिपादनार्थं भगवत्कृतमुपकारं दर्शयति—**अखिलाधार इति** । सर्वेषामाधारभूतो भगवान् सर्वप्रकारेण । अतस्तस्मिन्नुचितः स्नेह इति । यदा लोकेभ्यो भगवद्गुणा विस्तरेण वक्तव्यास्तदा फलांतरं नोद्देश्यं किंतु भगवद्भक्तिरेव सर्वेषां भवत्विति मनसि निश्चित्य गुणा वक्तव्या इत्याह—**इति सङ्कल्प्येति** । वर्णय एकैकं पदार्थं बहुभिः प्रकारैः कथयेत्यर्थः ॥५२॥

व्याख्यार्थ—महत्व (बड़प्पन) का ज्ञान पहले हो और फिर जो भगवान् में सुदृढ़ और सबसे अधिक स्नेह हो उसे 'भक्ति' कहते हैं । ऐसी अवस्था में स्नेह के उदय होने के लिए माहात्म्य (बड़प्पन) की समझ होनी ही चाहिये । माहात्म्य न जानने से भगवान् में प्रीति होगी ही क्यों ? और भगवान् का माहात्म्य जानने के लिए विस्तार से कहने की अपेक्षा रहती ही है । इसलिए माहात्म्य समझाकर भक्ति करने के लिए विस्तार से कहना चाहिए । विशेष क्या कहें? जिस प्रकार से भगवान् में भक्ति हो उसी प्रकार से सर्वत्र वर्णन करो । तुम उत्तमाधिकारी हो इसलिए विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है । तुम लोक में जैसा-जैसा अधिकार देखो, उसके अनुसार संक्षेप विस्तार से पदार्थों का निरूपण करो । यह तात्पर्य है ।

यहां एक यह आशंका होती है कि भगवान् के माहात्म्य का निरूपण किया भी जाय, किन्तु उसका लोगों के साथ क्या सम्बन्ध है? भगवन्माहात्म्य का लोगों के साथ कुछ सम्बन्ध तो मालूम देता नहीं तो फिर उनकी भगवान् में भक्ति कैसे होगी । वेद में कहा है कि 'आत्मनस्तु कामाय' अर्थात् अपने अपनपे को सुखी रखने के लिए सब कुछ प्रिय लगता है । प्रेम का परम आश्रय आत्मा है । आत्मा के सिवाय अन्यत्र जहां कहीं जो स्नेह होता है वह तो आत्मा के सम्बन्ध से होता है । अतः सोपाधिक है । भगवान् का आत्मा के साथ कौनसा सम्बन्ध है जो उनके माहात्म्य को सुनने से उनमें परम प्रेम होगा । इसके उत्तर में कहते हैं कि 'सर्वात्मनि' ।

यह भगवान् सबका आत्मा है । यह भगवान् ही सब पदार्थों में 'अतति' फैल रहा है । अतएव सबका आत्मा है । सब में यही कैसे समा रहा है, यह बात पीछे ही कह चुके हैं । इस तरह से जब सबका आत्मा यही है तो इसके माहात्म्य सुनने से इसमें निरुपाधिक स्नेह होना ही चाहिए । यह सिद्धांत कहकर अब पति-पुत्रादि सब विषय का स्नेह का आधार दिखाने के लिए भगवत्कृत उपकार को दिखाते हैं—'अखिला धारे' । भगवान् का स्नेह (आनन्द की लहर) सर्वत्र व्याप्त है । पति, पुत्र, स्त्री, देह, गेह, धनादि में जो है वह भी भगवदानन्द का ही है । सब ही जगत् का सब प्रकारों से आधार यह भगवदानन्द प्रेम ही है । इसलिए सर्व विषयक स्नेह इस परमात्मा में ही होना उचित है । हे नारद! अब तुम जहां कहीं लोक में भगवान् के गुणों का निरूपण करो तब दूसरे किसी भी फल का उद्देश्य मत रखो । 'इन श्रोताओं की भगवान् में निरुपाधिक प्रीति होवे', बस इतना ही उद्देश्य रखकर भगवद्गुणों का वर्णन करना चाहिए । 'इति संकल्प्य वर्णय' । इसलिए विस्तार से अर्थात् एक-एक भगवत्पदार्थ का बहुत-बहुत प्रकारों से वर्णन करना ॥ ५२ ॥

आभास—ननु विस्तारकथने तेषां भवतिः भक्तिः । मम किं स्यात्तत्राऽऽह—

आभासार्थ—निश्चय ही विस्तार से कहने में उनमें भक्ति होती है ।

श्लोक—**मायां वर्णयतोऽमुष्य ईश्वरस्याऽनुमोदतः ।**
शृण्वतः श्रद्धया नित्यं माययाऽऽत्मा न मुह्यति ।।५३।।

श्लोकार्थ—इस सर्वेश्वर भगवान् की माया सामर्थ्य का वर्णन करने वाले, कहते और सुनते समय प्रेम से अनुमोदन बखान करने वाले और श्रद्धा से नित्य श्रवण करने वाले का आत्मा जीव किंवा मन भगवान् की मोहिनी माया से मोहित नहीं होता ।। ५३ ।।

सुबोधिनी—मायां वर्णयत इति । एषा हि भगवतो माया। सर्वसामर्थ्यानामेव वर्णनीयत्वात्। दशविधलीलानां भगवच्छक्तित्वात् । मायां वर्णयत आत्मा न मुह्यतीति सम्बन्धः । ननु मायावर्णनेऽन्तःकरणस्य मोहो भवेन्न त्वमोह इति । तत्राऽऽह—**अमुष्य ईश्वरस्य मायामिति** । अन्येन वर्ण्यमानां वा अनुमोदतः । सम्यङ् निरूप्यत इति वस्तुतः शृण्वतोऽपि । यद्यपि मुख्यं फलं भक्तिस्तदभावे अन्तःकरणस्य मायया मोहस्तु सर्वथा न भवति तस्माल्लोकोपकारार्थं स्वार्थं च श्रवणादिकं कर्त्तव्यमिति सिद्धम् ।। ५३ ।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां द्वितीयस्कन्धे सप्तमोऽध्यायविवरणम् ।

व्याख्यार्थ—यह सब कुछ भगवान् की माया (सामर्थ्य, न कि मोहिका) है क्योंकि इस विश्व के वर्णन में भगवान् की सब ही सामर्थ्यों का वर्णन आ जाता है, करना भी पड़ता है । सर्ग विसर्गादि और शश्वत् प्रशांत आदि दश लीला किंवा दश धर्म भी भगवान् की सामर्थ्य रूप शक्ति ही है । इसलिए माया के वर्णन में मन मुग्ध नहीं होता यह अन्वय है । यदि कोई कहे कि माया के वर्णन में सबको मोह (भूलभुलैया) ही होता है, अमोह नहीं होता तो इसके उत्तर में कहते हैं कि 'अमुष्य ईश्वरस्य' । सबसे छिपकर रहने वाले सर्व समर्थ भगवान् की सामर्थ्य का वर्णन वाले का, सुनने वाले का किंवा अन्य श्रोता रहते बढ़ाई करने वाले का मन मोह को प्राप्त नहीं होता । यद्यपि भगवत्स्वरूप गुणों के वर्णन श्रवण आदि का मुख्यफल तो भगवत्प्रेम ही है, किन्तु यदि किसी कारण से वह न हो सके तथापि अन्तःकरण को माया का मोह तो सर्वथा नहीं होता । इसलिए लोक का उपकार करने के लिए और अपने लाभ के लिए श्रवण कीर्त्तन आदि अवश्य करने चाहिए ।।५३।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण के द्वितीय स्कन्ध के सप्तम अध्याय की देवर्षि शास्त्री श्री रमानाथ विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत) टीका हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद् भागवत महापुराण ●

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

द्वितीय स्कन्ध

मनन-प्रकरण (श्रवणाङ्ग स्कन्ध)

अध्याय—८

राजा परीक्षित द्वारा आक्षेप

कारिका—**एवं निर्द्धारभजनमुत्पत्त्या च विमर्शनम् ।**
द्वयं सिद्धं विराड्ब्रह्मरूपयोस्तत्त्वनिश्चये ॥ १ ॥

उपपत्त्या विमर्शस्तु त्रिभिरत्र निरूप्यते ।
आक्षेपसिद्धांतफलैः सोपपत्तिस्त्रिधा यतः ॥ २ ॥

अष्टमे सन्दिहानस्य प्रश्न आक्षेपगर्भितः ।
राज्ञो निरूप्यते प्रश्नास्तन्मूला अपरेऽपि च ॥ ३ ॥

कारिकार्थ—इस तरह से पूर्व और सप्तम अध्याय में सबके भजनों का निर्धार कर चुके हैं । प्रथम से लेकर चौथे अध्याय पर्यन्त, स्त्री पुत्रादि से लेकर ब्रह्म महादेवादि के भजनों का निर्धार कर दिया । ये सब अक्षर ब्रह्म के ही अवतार हैं । अक्षर ब्रह्म के दो अवतार है १. आध्यात्मिक और २. आधिभौतिक । विराट् पुरुष और प्रविष्ट पुरुष (अन्तर्यामी) बाह्य दीखते हुए पदार्थ प्रकृति से लेकर तृण पर्यन्त सब ही विराट् पुरुष के अवतार हैं । उनमें स्त्री, युवादि भी आ जाते हैं । परिच्छेद, विकार, अनि-

त्यतादि दोष दिखा-दिखाकर उनके भजन सेवन का निर्धार कर दिया कि नहीं करना चाहिए, इन सब का यथा योग्य उस समष्टि विराट् पुरुष के ही अंगों में समावेश कर लेना चाहिए, मुख्य परमात्मा के माहात्म्य को समझने के लिए । यही उसका भजन है

अब रहा प्रविष्ट पुरुष, आध्यात्मिक अंतर्यामी पुरुष, यह द्वितीय पुरुष है । इसके दो भेद होते हैं—१. अन्तर्यामी पुरुष और २. प्रकृति-भर्त्ता जीव पुरुष, जिसका निरूपण षष्ठाध्याय में 'विशुद्धं केवलं' पद्य में आ चुका है । देव और देवदेव सब इसके अवतार हैं । ये भी परिच्छिन्न और लौकिक फल के देने वाले हैं । इसलिए इनका भी भजन निर्धार तृतीयाध्याय में कर दिया । तदनन्तर उस आनन्द मय पुरुष-समष्टि अन्तर्यामी पुरुष के ही धर्म और स्वरूप के ही चौबीस और दश मुख्य अवतार हैं, यह सप्तमाध्याय में कह दिया । पांच, छः और सात इन तीन अध्यायों में पूर्वोक्त दोनों का उत्पत्ति के द्वारा विमर्श विचार है । यह हम पूर्व में कह चुके हैं । अनुपद ही इस सातवें अध्याय में भगवान् का भी उत्पत्ति से विमर्श हो चुका । इस तरह से स्थूल तत्व निश्चय और सूक्ष्म तत्व निश्चय, दोनों का ही निर्धार साधन फल और स्वरूप के द्वारा पूर्वोक्त अध्यायों में कह चुके हैं । विराट् पुरुष स्थूल तत्व(सार) है और अन्तर्यामी ब्रह्म तत्व है । ये दोनों ही विमर्श के द्वारा और भजन निर्धार के द्वारा परीक्षित राजा के हृदय में सिद्ध हो गये ।(उसने समझ लिये)

अब इन अष्टम, नवम और दशम तीन अध्यायों में उस विराट् और ब्रह्मतत्व का उपपत्ति के द्वारा विमर्श निर्धार किंवा निर्णय करना है । प्रश्न, उत्तर और सङ्गति से ही किसी वस्तु का स्वीकार किया या कराया जा सकता है । पूर्वोक्त कथन पर कुछ आक्षेप गर्भित प्रश्न, फिर उनका सांयुक्तिक सिद्धांत उत्तर और अंत में सबकी सङ्गति लगाकर सारे ग्रंथ का फल, परिणाम या तात्पर्य यही 'उपपत्ति द्वारा विचार' कहा जाता है । नवम और दशम दो अध्यायों में सिद्धांत और फल का निरूपण है ।

इस अष्टम अध्याय में राजा परीक्षित् के आक्षेपगर्भ प्रश्न कहे गये हैं । राजा को पूर्वोक्त सिद्धांतों में सन्देह था इसलिए उसने कुछ आक्षेप जैसे कई प्रश्न किये । राजा के प्रश्नों के अनुसार ही और भी प्रश्न इस अध्याय में हैं ।। १–३ ।।

आभास—उक्तप्रकारकस्थूलसूक्ष्मरूपाक्षेपे सर्वानुपपत्तिर्भविष्यतीत्याशङ्कां वक्तुं कथायां प्रोत्साहयति षड्भिः—**ब्रह्मणा चोदित इति ।**

आभासार्थ—उक्त प्रकार के स्थूल व सूक्ष्म आक्षेप होने पर सबकी सिद्धि हो जायगी ऐसी शंका को बताने के लिए ब्रह्मा द्वारा प्रेरित किये जाने पर छवों द्वारा कथा में प्रोत्साहन किया गया।

राजोवाच—श्लोक—ब्रह्मणा चोदितो ब्रह्मन् गुणाख्यानेऽगुणस्य च ।
यस्मै यस्मै यथा प्राह नारदो देवदर्शनः ।। १ ।।

श्लोकार्थ—हे ब्रह्मन्! ब्रह्मा ने जब नारदजी को निर्गुण भगवान् के गुणों का वर्णन करने की आज्ञा दी तब देववत् दर्शनीय नारदजी ने जिस जिस के आगे जिस प्रकार भगवतत्त्व का निरूपण किया, हे वेदवेत्ता शुकदेव! यह मैं जानना चाहता हूं।

सुबोधिनी-पूर्वाध्यायान्ते त्वमेतद्विपुलीकुर्विन्त्युक्तम्। तत्संक्षेपश्रवणेनैव यदा महती भक्तिरुत्पद्यते तदा विस्तरे किं भविष्यतीति परमादरेण पृच्छति—**ब्रह्मन्निति** सर्वज्ञत्वाय सम्बोधनम्। ब्रह्मणा प्रेरितो नारदो भगवद्गुणकथनार्थं यस्मै यस्मै यथा प्राह तत्कथयेत्यग्रेण सम्बन्धः। अगुणस्य च गुणाख्याने। सूक्ष्मरूपं त्वगुणम्। चकारात्स्थूलरूपं च। तस्य गुणानामुत्कर्षबोधक धर्माणामाख्याने कथने कथनार्थं ब्रह्मणा नोदितः। नानाधिकारेण वर्णनीयत्वाद्**यस्मै यस्मै यथा प्राहे**त्युक्तम्। अन्यथा कस्मै प्राहेत्येव ब्रूयात्। तस्य तथा कथने सामर्थ्यमाह—**देवदर्शन इति** ।। १ ।।

व्याख्यार्थ—पहले अध्याय के अन्त में 'त्वमेतद्विपुली कुरु' यह कहा। अर्थात् पूर्व अध्यायों में जो कुछ भगवान् के स्वरूप गुण कहे गये हैं वह संक्षेप से कहे हैं तुम इन्हें विस्तार से कहो। राजा परीक्षित का यह निश्चय हुआ कि जब भगवत्स्वरूप गुणों को संक्षेप से श्रवण करने में ही इतनी बढ़ी हुई भक्ति मेरे मन में उत्पन्न हुई तो फिर यदि उनका श्रवण विस्तार से किया जाय तो फिर कैसा आनन्द आवेगा? इसलिए राजा परम आनन्द पूर्वक श्री शुक से प्रश्न करता है—'ब्रह्मन्'! इस सम्बोधन का यह तात्पर्य है कि आप ब्रह्मरूप हो, सर्वज्ञ हो, इसलिए आप जितना सत्य, सुस्वादु और विस्तार से कहेंगे, वैसा कोई भी नहीं कह सकता, इसलिए 'ब्रह्मा के प्रेरणा करने पर नारदजी ने जिस-जिस के आगे भगवद्गुण, जिस प्रकार कहे, सो आप मुझ से कहो' यह आगे के श्लोक में जाकर अन्वय है।

भगवान् का सूक्ष्मरूप अगुण है। सृष्टि के पूर्व भगवान् सूक्ष्म रूप में स्थित रहते हैं। उस समय स्वरूप भूत गुण भी इतने सूक्ष्म रूप में रहते हैं कि वेदादि सब ही दृष्टाओं को वह अगुण ही दीखता है। अतएव वे उसे अगुण ही कहते हैं। ऐसे भगवान् का उत्कर्ष दिखाने वाले धर्मों (गुणों) को कहने के लिए जब ब्रह्माजी ने नारद को प्रेरणा की तब श्रोताओं के अधिकार भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, इसलिए उनके भिन्न-भिन्न अधिकार किंवा प्रकार से ही कहना होता है इसलिए 'यस्मै यस्मै प्राह' यह कहा। अन्यथा किससे कहा इतना ही कह देते। नारदजी में यथाधिकार भिन्न-भिन्न प्रकार से कहने की सामर्थ्य है यह दिखाने के लिए 'देव दर्शनः' कहा ।। १ ।।

आभास—नन्वनेन भवतः क्वोपयोगस्तत्राऽऽह—

आभासार्थ—अब यह प्रश्न होता है कि हे राजन्! तुम इस बात को सुनकर क्या करोगे? नारद कथित भगवान् के भगवत्तत्वों के श्रवण का तुम क्या उपयोग करोगे? भगवत्तत्व सुनने से तुम्हारा क्या उपकार होगा? इसका उत्तर देते हैं कि—

श्लोक—**एतद्वेदितुमिच्छामि तत्त्वं वेदविदांवर ।**
हरेरद्भुतवीर्यस्य कथा लोकसुमङ्गलाः ।। २ ।।

कथयस्व महाभाग यथाऽहमखिलात्मनि ।
कृष्णे निवेश्य निःसङ्गं मनस्त्यक्ष्ये कलेवरम् ।। ३ ।।

श्लोकार्थ— हे वेदविद्या के विद्वानों में श्रेष्ठ मुनिवर! यह सब मैं जानना चाहता हूँ।

हे महाभाग्य! अद्भुत पराक्रम भगवान् हरि की लोक का सुमंगल करने वाली कथा मेरे आगे अवश्य कहिये। मैं मानता हूँ उनके श्रवण करने से सर्वरूप सर्वात्मा भगवान् श्रीकृष्ण में अपने मन को सर्व सङ्ग निरास पूर्वक लगाकर इस शरीर का त्याग करूंगा ।। २ ।। ३ ।।

सुबोधिनी— **एतद्वेदितुमिच्छामीति** । इदं हि तत्त्वं कीदृशे अधिकारे कीदृशं वक्तव्यमिति । ज्ञातव्यं चैतत्स्वाधिकारार्थं परबोधनार्थं च । नन्वेतन्मया कथं ज्ञातव्यं, मया तु स्वाधिकारेण ज्ञातव्यमित्याशङ्कयाऽऽह—**वेदविदांवरेति** । वेदे हि स्वाधिकारेणाऽन्याधिकारेण च पदार्था निरूप्यन्ते । ते च सर्वे ब्राह्मणैर्ज्ञायन्ते । वसन्तादयः कालाः । यथर्ष्याधानमन्त्राः । अश्वमेधादयः क्रतवः। पुनःस्तोमादयश्च नैमित्तिकाः । तथैतदपि शास्त्रं सर्वाधिकारेण प्रवृत्तं तत्तदधिकारभेदेन पदार्थान्निरूपयति । वेदानुसारेण च तत्तदधिकारानुसारेण व्यवस्था । तत्सर्वं वेदविद्भिर्ज्ञायत इति सम्बोधनम् । एवं पूर्वोक्तार्थसम्बन्धिप्रश्नमुक्त्वा स्वाभिप्रेतं प्रश्नांतरमाह— **हरेरद्भुतवीर्यस्येति** सार्द्धेन । हरेः कथाः कथयस्व । आत्मनेपदेन स्वार्थमपि तद्भविष्यतीति ज्ञापितम् । ननु सर्वदुःखहर्तुर्भगवतः कथाः सर्वपुराणप्रसिद्धास्तत्किमद्य विशेषकथनेनेत्याशङ्कयाऽऽह—**अद्भुतवीर्यस्येति** । न हि भगवच्चरित्रं सुगमम् । अन्यथा करोत्यन्यथा च सम्पद्यते । तस्मात्स्वरूपतः पर्यवसानतश्च नानारूपत्वाद्भगवद्गुणा विविच्य ज्ञातव्याः । किञ्च । भगवत्कथा लोकसुमङ्गलाः । किञ्चिद्वस्तु पुरुषमात्रं सुमङ्गलं भवति यथा रक्षाबन्धनं अलङ्कारा वा । किञ्चिद्गृहमङ्गलं यथा गृहालङ्काराः। किञ्चिद्वंशस्य यथा पुत्रजन्म । किञ्चिद्ग्रामदेशानां यथा रक्षा वृष्टयादिर्वा । कथास्तु सर्वलोकसुमङ्गलाः । प्राणिनां भुवनानां च परमकल्याणं कुर्वन्ति । **महाभागेति** सम्बोधनं । तवैवैतादृशार्थकथनेऽधिकारो नत्वन्यस्य । अन्ये तु भगवता

तुच्छफलेऽधिकृतास्त्वं तु महाफल इति सम्बोधनम् । पूर्वं यथाधिकारेण वक्तव्यमित्युक्तत्वान्ममैतादृशोऽधिकारोऽस्ति तत्र यदुचितं तद्वक्तव्यमित्यभिप्रायेण स्वाधिकारमवस्थाभिप्रेतयुक्तं निरूपयति—**यथाऽहमखिलात्मनोति** । मम मनो रथ एतावान् । यदैहिकामुष्मिकसर्वविषयेभ्यो मन आकृष्य एकत्र भगवत्येव निवेश्य पश्चात्प्राणांस्त्यजामीति। एतस्मिञ्जन्मन्येतावत्कर्त्तव्यम्। एवं कृते यद्भविष्यति तदग्रे निरूपयिष्यति । नन्वेतत्सुलभं नाऽत्र शास्त्रमपेक्ष्यते।दृष्ट एव कृष्णो मनश्च महतां स्वाधीनमतः कृष्णे निवेश्यतां किं विलम्बेनेत्याशङ्क्याऽऽह— **अखिलात्मनोति** । कृष्णोऽस्माभिर्ज्ञातोऽप्यज्ञातोऽस्ति । परिच्छिन्नो वा ज्ञातः। स हि सर्वात्मना सर्वात्मत्वेन ज्ञातव्यः। तत्तु न पूर्वं वृत्तम् । "**तं यथायथोपासते**" इति श्रुतावुपासनानुसारेण फलस्योक्तत्वात्सर्वं फलं तदैव भवति यदि सर्वात्मत्वेनैवोपास्यते। अन्यथा त्वकृत्स्नो भवेत् । "**तद्धैतान्भूत्वाऽवती**" ति च सर्वतो रक्षा च सिद्धयति । न केवलं साधारणं मनो भगवति निवेशनीयम्। तथा सत्यशुद्धमनसः अशुद्धमेव फलं भवेत् । तस्माद्यथा मनो निःसंगं भवति । यथा वाऽसम्भावना विपरीतभावनाव्युदासेन सर्वात्मकत्वं हृदये स्फुरति तथोपायो वक्तव्य इत्यर्थः ।। २ ।। ३ ।।

व्याख्यार्थ—इस भगवत्तत्व का कैसे अधिकारी के आगे किस तरह से निरूपण करना चाहिए और निरूपण कर्त्ता ने अपने अधिकार का प्रकाश होने के लिए और दूसरों को समझाने के लिए भी यह बात जाननी चाहिए । जो पुरुष अधिकार की योग्यता और निरूपण का प्रकार नहीं जानता वह अपने अधिकार को क्या प्रकाशित कर सकता है ? और दूसरों को प्रबोध भी कैसे करा सकता है? आप श्रेष्ठ वक्ता हैं, अतएव आपको दोनों बातें विदित हैं ।

यदि कहो कि मुझे इन बातों के जानने का उपाय क्या है? मैं तो अपने अधिकार के अनुसार ही जान सकता हूं तो इसका उत्तर देते हैं कि 'वेदविदांवर" वेदों में कहीं अपने अधिकार के अनुसार और कहीं दूसरों के अधिकार के अनुसार भी पदार्थों का निरूपण पाया जाता है । उन सब अधिकारों को ब्राह्मण (ब्रह्मवेत्ता) लोग जानते हैं। जैसे बसन्तादि काल, जैसे ऋष्याधान मंत्र, अश्वमेधादि यज्ञ और नैमित्तिक पुनःस्तोमादि । इसी तरह यह भागवतशास्त्र भी सबके ही अधिकारों के अनुसार लोक में प्रवृत्त हुआ है । अतएव उन-उन के अधिकारों के अनुसार ही पदार्थों का निरूपण करता है । और व्यवस्था भी वेद के अनुसार तथा अपने अपने अधिकार के अनुसार ही करता है । इन सब बातों को वेदवेत्ता आप लोग जानते हैं, इसलिए राजा ने श्री शुकदेवजी को 'वेदविदांवर' यह सम्बोधन दिया है ।

इस तरह पूर्वोक्त पदार्थ से सम्बन्ध रखने वाले प्रश्न को कहकर अब अपने अभिप्राय के अनुसार दूसरा प्रश्नान्तर सार्धश्लोक से करते हैं—'हरेरद्भुत' भगवान् हरि की कथा कहो। कथयस्व, में आत्मने पद कहा है इसका यह तात्पर्य है कि यह मैं जो दूसरा प्रश्न कर रहा हूं यह आप का अपने लाभ के लिए भी होगा । यदि कहो कि सर्व दुःखों को दूर करने वाले भगवान्, कथा में सब पुराणों में प्रसिद्ध ही हैं फिर आज मेरे विशेष कहने से क्या प्रयोजन है? तो कहते हैं कि— "अद्भुत वीर्यस्य" भगवान् का चरित्र कुछ जल्दी समझ में आ जावे ऐसा नहीं है । किन्तु अद्भुत है । अन्यथा करते हैं और उसका फल अन्यथा ही दीखता है । उनकी वे ही जानते हैं । इसलिए भगवान् के गुण, स्वरूप से और परिणाम से भी अनेक रूप के अनेक प्रकार होते हैं उनको खूब विचारपूर्वक ही समझना चाहिए । एक दूसरी बात और है, भगवान् की कथाएं लोक को मंगल

करने वाली है। कोई वस्तु पुरुषमात्र के लिए सुमंगल होती है, जैसी राखी बांधना, आभूषण पहनना। कुछ पदार्थ घर को शोभा देने वाले होते हैं। जैसे तस्वीर प्रभृति घर के साज सामान। कोई वस्तु वंश के लिए मंगल होती है, जैसे पुत्र-जन्म। कोई वस्तु ग्राम किंवा देश के लिए मंगलकारक होती है, जैसे उनकी रक्षा रखने का बन्दोवस्त किंवा वर्षा होना। किन्तु भगवत्कथा तो सब का मंगल करने वाली है, प्राणीमात्र का और चतुर्दश भुवनों का मंगल ही करती है। 'महाभाग' सम्बोधन यह कह रहा है कि ऐसी भगवद्वारता कथन में आपका ही अधिकार है, अन्य का नहीं, क्योंकि अन्य लोगों को तो भगवान् ने ही तुच्छ (सांसारिक) फल का अधिकारी बनाया है और आप तो भगवद्रूप महाफल के अधिकारी हो। इसी से 'महाभाग' सम्बोधन दिया है। पहले यह कह चुके हैं कि श्रोताओं के अधिकार के अनुसार भगवत्कथा कहनी उचित है, इसलिए राजा अपना अधिकार प्रकाशित करता है—'त्यक्षेकलेवरम्' इत्यादि। मेरा इस तरह का अधिकार है। अब इस अधिकार के जो प्रकार उचित हों वह आपको कहना उचित है, यह समझकर राजा परीक्षित अपने अधिकार अवस्था और स्वाभिप्राय के योग्य प्रार्थना करता है कि 'यथाऽहमखिलात्मनि' इत्य दि। मेरा मनोरथ इतना ही है कि–मैं इस लोक के और परलोक के सब ही विषयों पर से मन को हटा कर भगवान् श्रीकृष्ण में ही लगाकर फिर इन प्राणों को छोड़ूं। बस इस जन्म में इतना ही कर्त्तव्य है। इतना कर लेने पर फिर पीछे जो होगा सो फिर कहूंगा।

यहां यह आशंका करते हैं कि यह तो तुम्हें सुलभ है। इसमें शास्त्र सुनने की क्या अपेक्षा है? हे राजन्! तुमने शतशः श्रीकृष्ण भगवान् के दर्शन किये ही हैं और आप जैसे बड़ों का मन भी स्वाधीन रहता है इसलिए मन को श्रीकृष्ण में लगाईये इसमें विलम्ब किस बात का है? इसका उत्तर देते हैं कि—'अखिलात्मनि' श्रीकृष्ण हमारी जान पहचान में रात दिन आ रहा है तथापि हमने उसे वास्तव में नहीं जाना अथवा नपा तुला जान रखा है। ऐसा तो वह वास्तव में है नहीं। वह तो सर्वात्मा है। जो सर्वव्यापक है, उसे सर्वात्मारूप से जान लेना ही जानना कहा जाता है। सो कुछ पूर्व में आज तक न हो सका। हम लोग भूल में ही रहे "तं यथायथोपासते' इत्यादि श्रुति में कहा है—उन भगवान् की जिस जिस प्रकार से आराधना की जाती है, वह भगवान् उनकी उस प्रकार से वैसा ही बनकर रक्षा करता है। यहां उपासना का फल होना कहा गया है। तो अब पूर्ण फल तब ही मिल सकता है, जब उन भगवान् की सर्वात्मा रूप से ही आराधना की जावेगी। जो परिच्छिन्न रूप से उपासना की जावेगी तो अकृत्स्न अपूर्ण होने से पूर्ण फल नहीं मिलेगा। 'तद्धैतान्' इत्यादि वेदवाक्य के अनुसार सर्वतः रक्षा हो सकेगी।

केवल मन को साधारण रूप से ही भगवान् में लगाना है किन्तु उसे विशुद्ध बनाकर। अशुद्ध ही मन को भगवान् में प्रवेश कराने से उसका फल भी अशुद्ध होता है। इसलिए जिस प्रकार मेरा मन निःसङ्ग हो सके अथवा जिस तरह असम्भावना विपरीत भावना आदि दूर होकर भगवान् की सर्वात्मकता हृदय में प्रकाशित हो, ऐसा उपाय कहना चाहिए ॥ २ ॥ ३ ॥

आभास—मनसो निवेशने अग्रिमं कार्यं स्वयमेव स्येत्स्यतीत्याह—

आभासार्थ—मन को भगवान् में लगा देने पर आगे का काम अपने आप ही सिद्ध हो जायेगा, सो कहते हैं—

श्लोक—**शृण्वतः श्रद्धया नित्यं गृणतश्च स्वचेष्टितम् ।**
कालेन नाऽतिदीर्घेण भगवान् विशते हृदि ।। ४ ।।

श्लोकार्थ—श्रद्धा से नित्य भगवान् का श्रवण करते रहने से और उनके निज चरित्र की प्रशंसा करते रहने से थोड़े ही समय में यह भगवान् हृदय में प्रवेश करता है ।। ४ ।।

सुबोधिनी—शृण्वतः श्रद्धयेति । यदा यस्मिन् यस्य मनो भवति कामात्प्रेरणया वा तदा तं शृणोति कीर्त्तयति च । श्रद्धा च तत्रोत्पद्यते । अतः श्रवणादिनिर्वाहकं मनोनिवेशनम् । श्रद्धा हि श्रवणकीर्त्तनयोरङ्गम् । दीर्घकालादरनैरन्तर्येण क्रियमाणस्यैव श्रवणादेः फलसाधकत्वात् । तदा दीर्घकालो नैरन्तर्यं च नित्यपदेनोच्यते । **गृणतश्चेति** चकारात्स्मरणादिकमपि संगृहीतम्। धर्मिव्यतिरेकेण धर्माणां प्रवेशाभावात्स्वगुणैः सह भगवान् शीघ्रमेव प्रविशति हृदयमिति । स्वानां यतोऽयं भगवान् । भगवतैव शास्त्रस्याऽस्य कृतत्वात् ।। ४ ।।

व्याख्यार्थ—जब किसी का भी किसी में मन लगता है तब इच्छा हो जाने से और इच्छा की प्रेरणा से वह उस अपने अभीष्ट का श्रवण करता है और कीर्त्तन भी करता है उसी में उसकी श्रद्धा भी उत्पन्न हो जाती है । इसलिए मानना पड़ेगा कि श्रवण कीर्त्तन का निर्वाह करने वाला आगे स्वतः ले जाने वाला मनोनिवेश है,मन का लगना है । श्रवण कीर्त्तन का अङ्ग श्रद्धा(विश्वास) है । बहुत समय तक भगवान् में आदर विश्वास की नित्यता रहने और फिर यदि श्रवण और कीर्त्तन किये जावें तो फल की सिद्धि होती है । ऐसे श्रवणादि ही फल साधक होते हैं ।

मूल का 'नित्य' पद श्रवणादि निरन्तरता और समय की बहुलता को कह रहे हैं । 'गृणतः च' पद में जो 'च' दिया है उससे स्मरण का भी संग्रह कर लेना चाहिए । अर्थात् जो साधक भगवान् श्रीकृष्ण का श्रवण, कीर्त्तन और स्मरण, सर्वदा और बहुकाल पर्यंत करता है तो भगवान् उसके हृदय में अपने आप आकर विराजते हैं । श्रवण कीर्त्तनादि भगवद्धर्म हैं और भगवान् धर्मी है । धर्मी के बिना धर्म रह नहीं सकते अतएव श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण जब हृदय में घुसते हैं तब धर्मों के साथ धर्मी भगवान् भी उसके हृदय में प्रवेश कर जाते हैं, कारण कि यह भगवान् अपने भक्तों के स्वामी है, रक्षक है और इन भगवान् ने ही इस भागवतशास्त्र का निर्माण किया है ।।४।।

आभास—ततः किमत आह—

आभासार्थ—भगवान् के हृदय में प्रवेश करने पर क्या होता है सो कहते हैं—

श्लोक—**प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण स्वानां भावसरोरुहम् ।**
धुनोति शमलं कृष्णः सलिलस्य यथा शरत् ।। ५ ।।

धौतात्मा पुरुषः कृष्णपादमूलं न मुञ्चति ।
मुक्तसर्वपरिक्लेशः पान्थः स्वशरणं यथा ॥ ६ ॥

श्लोकार्थ—अपने दासों का भगवान् यह श्रीकृष्ण अपने भक्तों के हृदय-भावकमल में जब कर्णछिद्रों के द्वारा प्रवेश कर जाता है तब फिर जैसे शरद ऋतु जल के मैल को धुन देती है, उसी तरह यह भी भक्त हृदय के सब मैलों को धो देता है, जिस पुरुष का इस तरह से अन्तःकरण निर्मल हो चुका है वह सब दुःखों से छूट जाता है, अतएव फिर श्रीकृष्णचरणारविंदों का आश्रय कभी नहीं छोड़ता । जैसे परदेस से दुःखी होकर आया हुआ राहगीर अपने घर को छोड़ना नहीं चाहता ॥ ५ ॥ ६ ॥

सुबोधिनी—प्रविष्ट इति । कीर्त्तनेऽपि श्रवणस्य विद्यमानत्वात् मुखस्य गुणनिर्गमनहेतुत्वात्कर्णरन्ध्रेणेत्युक्तम् । रन्ध्रशब्दः प्रवेशहेत्वर्थः । एकवचनमतिसावधानश्रवणार्थम् । यतो लोके सावधानश्रवणे एकैव कर्णशष्कुली व्याप्रियते तदेन्द्रियमेकमुखमेव भवति । **स्वानामिति** कृतात्मनिवेदिनाम् । न केवलं हृदयमात्रे प्रविशति । किन्तु भावसरोरुहे । भावो रतिरिति केचित् । धातुसामान्यार्थः सत्तारूपो भगवानित्यपरे । कारणरूपस्त्वविनाशीभावः । स निरन्तरश्रवणेन् हृदयरूपो जात इति । स चेत्पुनर्भक्त्या विकाशं प्राप्तः सरोवररूपो भवति । साधनरूपभक्तिः श्रवणसम्पुटिता यदि तस्मिन् बीजतामापद्यते । प्रेम्णा च हृदयं पूरितमेव तिष्ठति तदा बीजवद्धौ श्रवणादिना कमलं भवति। तदेव हि भगवदासनं गृहं च भगवतः। तदा तत्र प्रविष्टो भगवान् शमलं सर्वमेव धुनोति । यद्यपि पापक्षयः सर्वोऽपि पूर्वमेव जातस्तथापि शमलं तिष्ठति। शं अलं यस्मादिति शमलम् । ऐहिकामुष्मिकफलानि शंशब्देनोच्यन्ते शमादयश्च । केवलपुण्येन च भोगाभावात्तत्र नान्तरीयकपापसहितमेव पुण्यं भोगसाधनमिति तस्मिन् मूलभूते पापे विद्यमाने वैराग्यं कदापि न भवतीति तदा तद्भगवान् दूरीकरोति । ननु शमादिसाधकस्याऽपि गतत्वात् ज्ञानाभावे कथमग्रिमकार्यसिद्धिरिति । तत्राऽऽह—**कृष्ण इति** । सदानन्दरूपो भगवान् स्वयमेव पुरुषार्थरूपो न ज्ञानादिसाधनमपेक्षत इत्यर्थः । अत्र दृष्टान्तेन स्पष्टयति-**सलिलस्य यथा शरदिति।** सरःशब्देन यत्सलिलं तदत्रोच्यते । यथा शरदित्येव दृष्टान्तः । यथा लौकिकं जलं शरदा निर्मलं क्रियते न तु वर्षासु कथमपि निर्मलं भवति। तथा प्रेमरूपं यज्जलं तदपि भगवता निर्मलं भवतीत्यर्थः । यदाऽन्तःकरणं सर्वदोषरहितं भवति तदा नीरोगः पुरुषः कृष्णपादमूलं न मुञ्चति । न हि कश्चिन्नीरोगः सदानन्दं त्यजति । तस्य ग्राहक आत्मैव नीरोगः । यथा बुभुक्षाऽन्नस्य । अत एव भगवानन्तःकरणस्य आत्मेत्येव नाम धृतवान् । अतः स तदेकग्राहकः दोषवशादन्यान् गृह्णाति । यथा चक्षुः । तदा भक्तिमार्गानुसारेणैव मनः पदार्थान् गृह्णातीति कृष्णपादमूलेति पदम्। मूलपदेन चाऽयं सर्वोऽपि विलासस्तन्मूलक इति ज्ञापयति । ततो व्यापिवैकुण्ठे श्रीकृष्णचरणारविन्दे तद्रसामृततृप्तः सुखेन तिष्ठतीति फलितम् । परावृत्तिशङ्का तु नास्ति मुक्तपरिक्लेशत्वात् । अविद्यादिवशादेवाऽहरब्रह्मलोकं गता अपि निवर्त्तन्ते । परिशब्देन तत्रापि क्लेशशङ्का निवारिता । सर्वपदेन स्वाभीष्टसिद्ध्यानान्तरीयकोऽपि क्लेशो निवारितः। पन्थाः केवल मार्गदर्शी । शरणं गृहम् । स्वशब्देन पराधीनक्लेशो निवारितः । भगवदधीनत्वेन क्लेश इति शङ्का दृष्टान्तेन निवार्यते ॥ ५ ॥ ६ ॥

व्याख्यार्थ—कीर्त्तन भक्ति में कीर्त्तन करते समय अपना और दूसरों का श्रवण भी होता है, अतएव श्रवणेन्द्रिय के द्वारा भगवान् प्रवेश करते हैं,यह कहा । यद्यपि पूर्व में श्रवण कीर्त्तन स्मरण तीनों को भगवान् को प्रवेश का द्वार कहा, और यहां केवल कर्ण को ही प्रवेश का द्वार क्यों कहा? यह प्रश्न हो सकता है, तथापि कीर्त्तन श्रवण और स्मरण तीनों में श्रवण की अनुवृत्ति रहती है और कीर्त्तन में मुख भगवद्गुणों के निर्गमन में कारण हो जाता है और अन्य में तो द्वार ही नहीं है । इसलिए सर्वसहायक होने से श्रवण को आशय में रखकर 'कर्णरन्ध्रेण' कहा । प्रवेश में सुगमता दिखाने के लिए 'रन्ध्र' (छिद्र) शब्द कहा । भगवच्छ्रवण अति सावधान होकर करना उचित है, इसलिए 'रन्ध्रेण' एकवचन कहा । क्योंकि लोक में देखा गया है कि सावधान होकर सुनने में एक ही कर्णपुट का व्यापार रखा जाता है । ऐसे समय दोनों कानों की श्रोत्रेन्द्रिय एकमुख हो जाती है ।

'स्वानां' का अर्थ है जिन्होंने अपने अपनपे को भगवान् के अर्पण कर दिया है वे केवल साद्य भगवान् उनके हृदय मात्र में प्रवेश करते हैं, सो नहीं । किन्तु हृदय के भाव कमल में प्रवेश करते हैं । यहां कितने ही 'भाव' से रति अर्थ (प्रीति) लेते हैं । कितने हो कहते हैं कि 'भाव' शब्द की प्रकृति भू धातु हैं, इसलिए 'भाव' शब्द का अर्थ केवल धात्वर्थ सत्ता ही लेना चाहिए । पर वास्तव में तो कभी जिसका नाश नहीं होता, वह कारणरूप सच्चिदानन्द अक्षर ब्रह्म ही 'भाव' शब्द से लिया गया है, जिसे द्वितीय पुरुष 'विशुद्ध' (२-६-३८) में कहा है । यह पुरुष ही अपना निरन्तर श्रवण होते रहने से साधक का हृदय रूप हो जाता है । हृदय में घुल मिल गया वह द्वितीय पुरुष ही यदि फिर पुनः पुनः श्रवण से पैदा हुए प्रेम से विकास को प्राप्त हो जाय तो वही सरोवर रूप को धारण करता है । 'भावसरः' ऐसी अवस्था में मनन स्मरणादि सहयोगिनी प्रेमरूपा साधन-भक्ति यदि श्रवण सम्पुट में रखनी हुई बीज बन जाय, और प्रेम से सिंचा हुआ हृदय तो पहले से ही वर्तमान है ही, तो दोनों के सहयोग से उस समय उस बीज की वृद्धि होने पर वह 'भाव' ही, सरोरुह कमल हो जाता है । यह 'भाव' सरोरुह ही भगवान् का गृह और सिंहासन होता है ।

ऐसे भावकमल गृह में किंवा आसन पर भगवान् श्रीकृष्ण विराजते हैं और हृदय के शमल अन्य पुरुषार्थों की इच्छा को दूर कर देते हैं । 'शमल' शब्द से यहां अन्तराय विघ्न लिये गये हैं । ये विघ्न, तामस,राजस और सात्विक तीन तरह के होते हैं । उनमें से पापरूप तामस राजस विघ्न तो श्रवण कीर्त्तनादि से और भगवत्प्रवेश मात्र से पहले ही क्षय हो चुके हैं तथापि अभी शमल विघ्न रहे हैं । ('शं-सुखं शान्ति र्वा अतं पर्याप्त यस्मात् तच्छमलम्") इस लोक के और परलोक के फलरूप सुख भागों को 'शं' कहते हैं । अथवा शमादिकों को भी 'शं' कह सकते हैं किन्तु केवल पुण्य ही पुण्य से लौकिक सुख भोग हो नहीं सकते । उस सुख भोग में कुछ न कुछ पाप रहता ही है । शास्त्र का सिद्धांत है कि 'उभयमपि लक्ष्यते चोदनायां धर्मोऽधर्मश्च' । 'सत्यादिष्वमि व्यवहारस्य सन्निपातत्वात् कापटचम् । सर्वत्र विहितनिषेधात्कापटचम्' ।

नान्तरीयक पाप सहित धर्म ही लौकिक सुख भोग का साधन होता है। इसी से पुण्यकर्त्ताओं को लौकिक सुख भोगों के मिल जाने पर मूल में पाप छिपा हुआ रहने से कभी भी शांति और भोग से वैराग्य नहीं हो पाता । इस पुण्यान्तः पाति पापरूप शमल विघ्नो क भगवान् ही दूर करते हैं । 'धुनोति' ।

यहां एक प्रश्न हो सकता है कि शमन् शब्द से शमादि साधन भी ग्रहण किये जाते हैं तो फिर शमादि शमादि साधकों के भी चले जाने से ज्ञान नहीं हो सकेगा और ज्ञान के अभाव में मोक्ष आदि अग्रिम कार्य की सिद्धि कैसे होगी ? इसका उत्तर देते हैं—'कृष्ण:' सदानन्द स्वरूप भगवान् कृष्ण स्वयं ही जब पुरुषार्थ रूप होकर हृदय में विराजते हैं तब ज्ञानादि साधनों की अपेक्षा ही नहीं है।

इस बात को दृष्टांत से स्पष्ट करते हैं 'सलिलस्य यथा शरत्'। 'भाव सरोरुहं' पद में सरः शब्द से जिस जल की सूचना की थी वह सलिल यहां कहां है यथा शरत् यह दृष्टान्त है। वेद में 'सलिले एकोद्रष्टा' इत्यादि कहा है इसी तरह यहां भी दृष्टान्त दार्ष्टान्त में समझना चाहिए। जैसे शरद ऋतु लौकिक जल को निर्मल कर देती है किन्तु वर्षा में जल निर्मल नहीं रहता। इसी तरह अन्तःकरण में भरा हुआ प्रेम रूप जल भी भगवान् के प्रवेश करने से निर्मल हो जाता है और इस तरह से जब अन्तःकरण सर्व दोषों से मुक्त हो जाता है तब नोरोग पुरुष श्रीकृष्ण के चरणों का परित्याग नहीं करता। नीरोग पुरुष सदानन्द का त्याग नहीं कर सकता। श्रीकृष्ण सदानन्द का ग्राहक तो निरोग हुआ आत्मा ही है जैसे एक भूख ही अन्न का ग्रहण करने वाली हो सकती है, अन्य नहीं। इसलिए भगवान् ने अन्तःकरण का नाम आत्मा रखा है। इसी से यद्यपि यह अन्तः करण एक श्रीकृष्ण का ही ग्राहक है तथापि अनेक दोषों के घुस जाने से बाह्य पदार्थों को ग्रहण करता है,जैसे चक्षु। किन्तु निर्दोष हुआ अन्तःकरण मन तो भक्तिमार्गानुसारी पदार्थों का ही ग्रहण करता है अतएव केवल कृष्ण न कहकर 'कृष्ण पाद मूलम्' कहा है। इस पद से भगवान् का महत्व और भक्त का दैन्य बोधित होता है। मूल शब्द से सूचना की है कि विश्व का सब ही यह विलास भगवच्चरण मूलक है।

तब यह जीव व्यापी वैकुण्ठ (अक्षर) रूप भगवच्चरणारविन्द में उसके रसामृत से तृप्त हुआ सुख से रहता है यह तात्पर्य निकलता है। वहाँ से लौट आने की तो शङ्का भी नहीं की जा सकती। क्योंकि यह जीव पहले ही सब परिक्लेशों से छूट जाता है अविद्या कर्म वासना आदि को क्लेश कहते हैं। वेद में लिखा है कि यह जीव प्रतिदिन ब्रह्मलोक में जाता है किन्तु अविद्या-वासना आदि क्लेशों के कारण से फिर पीछे लौट आता है सो यहां सम्भावना ही नहीं है अतएव परिक्लेश में 'परि' शब्द दिया है। सर्व शब्द से अपनी इच्छित वस्तु की प्राप्ति कही है। शुद्ध भगवन्मार्ग को ही देखने वाला यहां 'पान्थ' कहा गया है। शरण शब्द का गृह अर्थ है। स्वशरणं में स्व शब्द का अर्थ अपना है जैसे अपना घर होने से पराधीनता का क्लेश नहीं होता और श्रीकृष्ण की अधीनता में तो क्लेश की शङ्का ही है यह दृष्टान्त से ही स्पष्ट है ।।५-६।।

आभास—एवं स्वार्थं मनोनिवेशनोपायं पृष्ट्वा सन्दिग्धान्साधारणानन्यापृच्छत्य-सम्भावनादिव्युदासार्थम्— **यदधातुमत** इत्यादिभिः। अत्र पूर्वं पदार्थत्रयं निरूपितम्। भगवतो रूपद्वयं फलार्थं जीवश्च। तत्र जीवे एकः प्रश्नः। सूक्ष्मे भगवति निःसन्दिग्धं पदार्थानां निरूपितत्वात् विशेषतो बुद्ध्यगोचरत्वाच्च शंकैव नोदेति। स्थूले रूपे तु सर्वे प्रश्नास्तद्याथात्म्यज्ञापकाः। तस्मात्प्रश्नद्वयम्। अत एवोत्तरे अध्यायद्वयमेव। तत्र जीवे सन्देहात्पृच्छति—

आभासार्थ—इस तरह से राजा ने अपने लिए भगवान् में मन लगाने का उपाय पूछ लिया। अब जिन्हों के विषय में कुछ सन्देह है उन साधारण विषयों में प्रश्न करता है। जिससे पर तरह असम्भावना विपरीत भावना जाती रहे।

'यद धातु०' श्लोक से अध्याय समाप्ति पर्यन्त इस सम्बन्ध में जो पहले प्रकरणों में तीन पदार्थों का निरूपण कर चुके हैं। भगवान् के स्थूल और सूक्ष्म द रूप और फल लेने के लिये जीव का स्वरूप। उन तीनों में से यह 'यद धातु मत:' प्रश्न जीव के विषय में एक ही है। भगवान् के सूक्ष्म रूप विषय में तो सन्देह रहित पदार्थों का खूब निरूपण कर दिया है और फिर इससे विशेष तो भगवान् का सूक्ष्म स्वरूप जीव बुद्धि के अगोचर है, अतएव शङ्का या प्रश्न का उदय ही नहीं हो सकता। अब रहा स्थूल रूप ब्रह्माण्ड। सो इसको यथार्थता जाननी है। इसका मूल जानने के लिये अनेक प्रश्न किये गये हैं। इसलिए समेटकर दो प्रश्न हुये। एक जीव विषयक, दूसरा ब्रह्माण्ड विषयक। इसलिये इनके उत्तर में भी दो अध्याय हैं ६ व १०। अत: राजा पहले जीव विषयक संदेह पूछता है।

श्लोक—**यदधातुमतो ब्रह्मन् देहारम्भोऽस्य धातुभि:।**
यदृच्छया हेतुना वा भवन्तो जानते यथा ॥७॥

श्लोकार्थ—हे श्री शुकदेव! यह जीव वास्तव में रस रक्तादि धातुओं से रहित है तो फिर यह धातुमय इसके देह का आरम्भ कैसे कबसे हुआ? क्या अपने आप या भगवदिच्छा से हुआ? किंवा किसी अन्य कारण से हुआ? आप जो कुछ जिस तरह से जानते हैं, वह कहिए ॥ ७ ॥

सुबोधिनी—यदधातुमत इति। अयं जीवो वस्तुतोऽधातुमान् धातुसम्बन्धरहित:। धातव: पूर्वं देहसम्पादका निरूपिता:। तै: सहाऽस्य नाऽदृष्टद्वारक: सम्बन्ध:। प्रथमसृष्टौ तदभावात्। अनादित्वे भगवच्छास्त्रविरोधात्। किञ्च। असङ्गश्रुत्या नाऽयं वस्तुत: सम्बध्यते। भगवदिच्छापक्षे हिताकरणादिदोषा:। तस्मात्केनाऽप्युपायेन धातुसम्बन्धनिरूपणस्याऽशक्यत्वात्प्रश्न:। **ब्रह्मन्निति** सम्बोधनं तदुपादानोच्छेदकपरिज्ञानार्थम्। अस्य जीवस्य देहारम्भ:। यदृच्छया भगवदिच्छया। अकस्मात्पक्षेण वा। हेतुना वा अनाद्यविद्यादिना वा। अत्र निर्णयो वक्तव्य इत्यर्थ:। परमार्थे बहुवादिविप्रतिपत्तित्वाद्भवन्तो यथा जानते तथा वक्तव्यमित्यर्थ: ॥ ७ ॥

व्याख्यार्थ—सबसे पहले जीव के देह को तैयार करने वाले धातु रस रक्तादि नहीं मिलते। कोई युक्ति यह सिद्ध नहीं कर सकती कि सबसे पहली सृष्टि में इसके देह के सम्पादक धातुओं के साथ इसका सम्बन्ध किस तरह और क्यों हुआ? वास्तव में यह जीव धातु सम्बन्ध रहित है। यह तो वेदशास्त्रों के प्रमाणों से सिद्ध है। यदि कहो कि अदृष्ट अपूर्व के द्वारा इसका धातुओं के साथ सम्बन्ध हुआ तो भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रथम सृष्टि में अदृष्ट कहां था? जिनके मत में अदृष्ट द्वारक धातु सम्बन्ध मानते हैं उनके यहां कर्म से अदृष्ट की उत्पत्ति मानते हैं और कर्म देह से किये जाते है। ऐसी अवस्था में अदृष्ट के द्वारा धातुओं का सम्बन्ध बन सकता है। किन्तु यह असम्भव

है। पहली सृष्टि में जब धातु का सम्बन्ध ही नहीं है, तब देह कैसा? कर्मकरण कैसा ? और उससे पैदा होने वाला अदृष्ट कहां? इसलिए अदृष्ट द्वारा इसको धातुओं का सम्बन्ध हुआ। यह पक्ष तो बन नहीं सकता। यदि कहो कि अदृष्ट अनादि है, इसलिए धातु सम्बन्ध हो सकता है, तो कहना पड़ेगा कि फिर वेद, गीता, ब्रह्मसूत्र, पुराण और श्रीमद्भागवत् आदि सब ही भगवच्छास्त्रों का इस मत में विरोध आता है। सब शास्त्रों में शुद्ध चेतन को स्वतन्त्र पदार्थ पृथक् ही माना है ब्रह्मांश माना है। 'असङ्गोह्ययं पुरुषः' आदि वेदवाक्यों में पुरुष जीव असग-अर्थात् देहादि सम्बन्धों से सर्वथा रहित कहा है। अन्य भगवच्छास्त्र वेदानुसारि है, अतएव वे भी इसे असंग धातु सम्बन्ध रहित माने, इसमें सन्देह नही। यदि कहो कि भगवान् की इच्छा से ही इसका देहादि के साथ सम्बन्ध हुआ है, तो इस पक्ष में भी कई दोष आते हैं— १. जीव अपना हित सदा नहीं कर सकता, प्रत्युत अपना अहित कर लेता है। यह क्यों? २. भगवान् ही जब इसका देहादि के साथ सम्बन्ध करते हैं, तो वे सर्वज्ञ और राग द्वेषादि दोषरहित हैं,अतएव इसका सर्वदा हित के साथ ही सम्बन्ध रहना चाहिए। अहित के साथ नहीं। सो होता नहीं, इसलिए मालूम होता है, भगवदिच्छा के हेतु से भी इसका धातु-सम्बन्ध नहीं है।

इसलिए किसी भी उपाय से धातु सम्बन्ध होना सिद्ध नहीं होता। तब इस विषय में प्रश्न करना ठीक है। 'ब्रह्मन्' यह सम्बोधन इसलिए दिया है, कि हे श्री शुक! इस प्रश्न के मूल कारण सन्देह को काटने का सामर्थ्य आप में है। यह यदि ज्ञान आपको है। प्रश्न का सारांश यह है कि इस जीव के देह का पहले पहल प्रारम्भ अकस्मात् हुआ, किंवा भगवान् की इच्छा से हुआ ? क्योंकि मूल के 'यदृच्छा' शब्द के दोनों अर्थ होते हैं। अकस्मात् पक्ष में पांच प्रश्न समाये हुए हैं। कारण बिना हुआ क्या, अपने स्वरूप से ही हुआ क्या? किसी स्वभाव से ही हुआ क्या ? अथवा झूठ-मूठ का ही सम्बन्ध है क्या? एक भगवदिच्छा भी यदृच्छा है। तो यदृच्छा पक्ष में पांच प्रश्न समाये हुए हैं। अब मूल में 'हेतुना वा' यह पद भी है। इसका 'कारण' अर्थ होता है। यह कारण अनादि अविद्या होता है, अर्थात् जीव का देह के साथ सम्बन्ध क्या अनादि विद्या के कारण हुआ ? इस तरह सब मिलाकर प्रश्न के कारण सन्देह में छः कोटियां होती है। अब इन सब का निर्णय आप करिए। वास्तविक कारणों में तो अनेक प्रतिवादियों के अनेक विरोध खड़े होते हैं। इसलिए मेरा मत यह है कि आप जैसा जानते हों, उस प्रकार मेरा सन्देह दूर करो ॥ ७ ॥

आभास—जीवस्य देहसम्बन्धः कथमिति प्रश्नार्थः । ईश्वरस्याऽपि देहसम्बन्धः किमर्थ इति । इच्छया देहग्रहणं तु सम्भवति । परं किमर्थमितीमं प्रयोजनप्रश्नं वक्तुं देहसम्बन्धस्थिरीकरणे कार्यहेतुकमनुमानं प्रमाणत्वेन निरूपयति—

आभासार्थ—जीव का देह का साथ सम्बन्ध कैसे हुआ? यह प्रश्न तो हो चुका। अब ईश्वर ने यह ब्रह्मांड रूप देह क्यों धारण किया? यह प्रश्न बाकी है। यद्यपि भगवान् स्वतन्त्र है,सर्वसमर्थ है, इसलिए उन्होंने देह ग्रहण क्यों किया? ऐसा प्रश्न नहीं हो सकता, तथापि किस प्रयोजन के लिए 'देहग्रहण किया' यह प्रश्न तो हो सकता है ? अपनी स्वतन्त्र इच्छा से हो देह का ग्रहण किया यह यह हो सकता है? पर किसलिए? यह प्रयोजन का प्रश्न बन सकता है,इसलिए देह सम्बन्ध के प्रयोजन को निश्चित करने के लिए कोई हेतु का अनुमान करते हैं—

श्लोक—**आसीद्यदुदरात्पद्मं लोकसंस्थानलक्षणम् ।**
यावानयं वै पुरुष इयत्तावयवैः पृथक् ।। ८ ।।
तावानसाविति प्रोक्तः संस्थावयववानिव ।
अजः सृजति भूतानि भूतात्मा यदनुग्रहः ।। ९ ।।

श्लोकार्थ—जिस भगवान् के उदर (नाभि) से लोकों की स्थिति रखना ही है स्वरूप जिसका ऐसा यह ब्रह्म (कमल) पैदा हुआ । अर्थात् ब्रह्माण्ड और ब्रह्माण्डाधिपति भगवान् दोनों का स्वरूप मुझे कहिए और यह भी कहिए कि नाप-तौल वाले अब यवों से पृथक् देखने में आता यह व्यक्त पुरुष (विराट् ब्रह्माण्ड) जितना है क्या उतना ही वह अव्यक्त, अक्षर पुरुष भी उतना ही शास्त्रों में कहा है? और जो यह उन संख्याओं से अंग प्रत्यंग वाला जैसा दीख रहा है सो क्या ऐसा ही है? और यह भी कहिए कि जिस तरह से यह आज भूतात्मा, ब्रह्मा जिमके अनुग्रह से इन सब जड़ चेतन पदार्थों को बनाता है? ।। ८ ।। ९ ।।

सुबोधिनी—आसीद्यदुदरात्पद्ममिति । प्रतिष्ठामात्रत्वं त्वस्य नाऽस्तीत्याह । लोकानां संस्थानमेव लक्षणं चिन्हं यस्य । लोकस्थित्यर्थमेव पद्मोत्पत्तिः । अनेन लोकस्थितिलक्षणस्य कार्यस्य विद्यमानत्वात्तदाधारपद्मकारणत्वेन शरीरसिद्धिः । न च तत्साकारमेव ब्रह्म केवलमाविर्भूतमिति मन्तव्यमिति शङ्कां वारयति—**यावानयं वै पुरुष इति** । अयं प्राकृतः पुरुषो यावान् करचरणाद्यवयवैः यावत्परिमाणवान् तावानसावपि। यदि तस्याऽऽविर्भावस्तदा अस्याऽपि सङ्घातस्य तथात्वे सति तस्य तिरोभावे फलानुपपत्तिस्तदवस्था । इयत्ता एतावत्त्वं हस्तद्वयं पादद्वयमित्यादि । पृथक् देहात् अन्योन्यं ब्रह्मणो वा । तथा भगवतोऽपि देहः तावान् तावत्प्रमाणकस्त्वया निरूपितः । ननु सहस्रोर्वङ्घ्रिबाह्वक्षोऽयं निरूपितः कथं प्राकृतवद्भविष्यति । तत्राऽऽह—**इवेति** । यद्यपि बाह्वादीनां सहस्रं निरूपितं तथापि बाहुत्वान्नातिरिच्यत इति प्राकृततुल्यता । किञ्च । नाऽयं देहरूपः किन्तु देहाद्व्यतिरिक्तः । ब्रह्मणः प्रसादहेतुत्वात्। तदाह-अजो ब्रह्मा । यदनुग्रहः यस्याऽनुग्रहयुक्तः। अनुग्रहादेव भूतात्मत्वम् । व्यष्टीनामात्मा । भूतानि व्यष्टिरूपाणि सृजति ।। ८ ।। ९ ।।

व्याख्यार्थ—लोक को ठहराने के लिए ही यह पद्म की उत्पत्ति हुई है, पर अपनी प्रतिष्ठा होने मात्र के लिए नहीं हुई है, क्योंकि लोकों की यथावत् स्थिति होना यह स्पष्ट ही इसका स्वरूप दीख रहा है । लोकों की स्थिति के लिए ही पद्म की उत्पत्ति है यह निश्चय है। भू, भुवः सुवः आदि लोकों की स्थिति किसी आधार के बिना नहीं हो सकती, क्योंकि ये सब रूप स्पर्शादि वाले पदार्थ है । स्थिति हो तो रही है, इसलिए लोकाधार रूप पद्म की उत्पत्ति सिद्ध है और 'तत्पुष्करपर्णेऽप्रथयत्' इत्यादि श्रुति में पृथ्वी का पुष्कर (कमल)पत्र पर होना कहा है । अब यदि फिर भी विचार किया जाय तो कहना पड़ेगा कि संस्थान युक्त लोक की उत्पत्ति शरीर वाला ही कर सकता

है। पञ्च रूप स्पर्शादि गुण युक्त संस्थान वाला लोक है, इससे सिद्ध है कि उसे शरीरयुक्त ईश्वर ने बनाया है और ईश्वर शरीरी होने से जीवतुल्य हो जाता है पर भी स्पष्ट है यह आक्षेप है। यह आठवां अध्याय आक्षेपरूप है। नवां अध्याय सिद्धांतरूप है और दसवां अध्याय फलरूप है। यह पहली कारिकाओं में कह चुके हैं। यही उपपत्ति है। यही मनन है। इसमें आठ प्रश्न हैं, किन्तु वे आक्षेप गर्भित हैं।

यदि कोई कहे कि ईश्वर को पृथक् शरीर की अपेक्षा नहीं है, यह तो साकार ब्रह्म हो ईश्वर रूप में बाहर प्रकाशित हुआ है, इसलिए सब कार्य भी हो जायेंगे और जीव तुल्यता भी नहीं आ सकती। इस प्रकार के समाधान के विरोध में राजा कहता है कि नहीं जीवतुल्यता रहती है। यह प्रकृत पुरुष विराट् ब्रह्माण्ड जितने कर चरण अवयवों से युक्त है, उतने ही नाप तौल कर चरण मुखादि अवयव वाला यह भी माना गया है। 'सहस्र शीर्षा पुरुषः' इत्यादि। इयत्ता (नाप-तौल) आविर्भाव तिरोभाव कर चरणादि आकार आदि से जीव तुल्यता रहती ही है। यदि कहो कि ऐसा होने पर भी वह नित्य वर्तमान रहता है। यह स्वरूप की उत्पत्ति नहीं हुई है। यह आवि-र्भाव (प्राकट्य) हुआ है। जैसा था वैसा का वैसा बाहर प्रकाशित हो गया है, इसलिए जीव तुल्यता नहीं होती। जीव के शरीर की तो उत्पत्ति होती है, तो इसके आक्षेप में राजा कहता है कि ऐसा मानने पर जीव को जो सुख दुःखादि फल मिल रहे हैं, उनकी अनुपपत्ति होगी। जब इस ब्रह्मारूप लोकाविर्भाव को जीव मानते हैं, तब तो दुःखादि फल मिलने युक्त हैं। किन्तु जब उसे ईश्वराविर्भाव मान लिया, तब दुःखादि फल किसको और क्यों? वे नहीं होने चाहिए पर हो तो रहे हैं, इसलिए जीव तुल्यता है।

यदि कहो कि यद्यपि यह ब्रह्म है पर इसका संघात तो शरीर ही है और शरीर ही अनित्य ही होता है इसलिए शरीर मात्र में अनित्यता मानने में क्या दोष है। भले उतने अंश में जीव-तुल्यता रही आवे तो कहते हैं कि यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि इन अवयवों में भगवान् का आविर्भाव मानोगे तो भगवान् नित्य है और निर्दुःख भी है, तो फिर जीवों को भी दुःखादि फल न होने चाहिए? और यदि जो सङ्घात् (देहादि) होता है, वह अनित्य होता है, इसलिए सङ्घात का तिरोभाव होने से भगवत्त्व भी नहीं रहेगा। फिर दुःखादि फल होने की सम्भावना है—यह कहो तो फिर ऐसे अनित्य जीवतुल्य विराट् की श्रवणादि भक्ति से अभयात्मक फल प्राप्ति मिलना असंभव है। यह दोष आवेगा। 'इयत्ता च अवयवाश्च' ऐसा समास है। अवयवों में इतना पन 'इयत्ता' कही जाती है। दो हाथ, दो चरण इत्यादि इयत्ता, और यह भी कहा कि देहस्थ अवयव देह से किंवा परस्पर एक दूसरे से पृथक् पृथक् है, किंवा ब्रह्म से पृथक् है? जिस प्रकार इस तरह का इस विराट् का देह आपने कहा इस तरह आपने ही तदन्तर्वर्ति-पुरुष भगवान् का भी उतना ही, वैसा ही, उतने नाप तौल का देह कहा। इससे सन्देह होता है, यह पुरुष प्राकृत पुरुष तो नहीं है? यदि कहो कि हजारों हाथ पैर आंख वाला कहीं प्राकृत पुरुष हो सकता है? कभी नहीं। तो कहते हैं कि 'इव'। देह अवयव वाला 'जैसा', न कि देहादि युक्त हो। देहादि वाला, जैसा दीखने से ही सन्देह होता है कि प्राकृत ही हो। यद्यपि हजारों की संख्या प्रभृति से प्राकृतत्व नही ठहरता, किन्तु हजार हों, चाहे लाख तथापि बाहु तो है? पैर तो है? आंख तो है? इनमें यदि कोई विशेष (फरक) नहीं है, तो फिर प्राकृत समानता और सन्देह बना ही है। सहस्रादि संख्या केवल अप्राकृत में ही

होती है, यह भी निश्चित नहीं है, क्योंकि सहस्रार्जुन जीव ही था, उसके भी हजार हाथ थे। अतएव बाहु आदि आकृतियों को देखकर सामान्य जनता को सन्देह हो सकता है। मेरी समझ में तो यह विराट् पुरुष देहरूप नहीं है किन्तु विराट से जुदा है, देह से पृथक् है, क्योंकि यह ब्रह्मा के ऊपर प्रसाद (कृपा) करने वाला है। ब्रह्माजी भगवान् के अनुग्रह से ही विश्व को उत्पन्न करते हैं। भगवान् का अनुग्रह ब्रह्मा पर होता है। जिसके बल से ब्रह्मा सम्पूर्ण भौतिक पदार्थ व्यक्तियों का आत्मा बनकर भूतरूप पदार्थ व्यक्तियों को पैदा करता है ।।८।।९।।

आभास—अस्य सामर्थ्यस्य स्वतस्त्वशङ्कां वारयति—

आभासार्थ—ब्रह्मा में भौतिक जगत् पैदा करने का सामर्थ्य स्वतन्त्र नहीं है, पर भगवान् के अनुग्रह से है। इस बात को दृढ़ करने के लिए स्वतः सामर्थ्य की शंका को दूर करते हैं—

श्लोक—**ददृशे येन तद्रूपं नाभिपद्मसमुद्भवः।**
स चाऽपि यत्र पुरुषो विश्वस्थित्युद्भवाप्ययः ।। १० ।।
मुक्त्वाऽऽत्ममायां मायेशः शेते सर्वगुहाशयः।
पुरुषावयवैर्लोकाः सपालाः पूर्वकल्पिताः ।। ११ ।।
लोकैरमुष्याऽवयवाः सपालैरिति शुश्रुम।
यावान् कल्पो विकल्पो वा यथा कालोऽनुमीयते ।। १२ ।।
भूतभव्यभवच्छब्द आयुर्मानं च यत्सतः।
कालस्याऽनुगतिर्या तु लक्ष्यतेऽण्वी बृहत्यपि।
यावत्यः कर्मगतयो यादृशीर्द्विजसत्तम् ।। १३ ।।

श्लोकार्थ—जिस अनुग्रह से नाभि कमलोत्पन्न ब्रह्मा ने भगवान् के रूप को देखा, वह अनुग्रह क्या पदार्थ है सो कहो ? और यह भी कहो कि जगत् की उत्पत्ति, स्थिति संहार करने वाला सब के भीतर रहने वाला मायेश वह अपने सामर्थ्य को शिथिल करके जहां सोता है, इस पुरुष के अवयवों से पूर्व-पूर्व कल्पित रक्षक सहित सब ही पृथिव्यादि लोक भी उस समय कहां रहते हैं ? इस पुरुष के अवयव (अंग) लोकपाल सहित लोक हैं, यह भी हम सुनते हैं, यह क्या बात है ? कल्प और विकल्पों का नाप तौल स्वरूप क्या है। भूत, भविष्य व वर्तमान् काल को कैसे पहचाना जाता है ? सद्रूप ब्रह्माण्डादि जगत् का आयुष्य परिणाम कितना है ? इस काल की जो सूक्ष्म और स्थूल गतियां मालूम हो रही हैं उनका भी स्वरूप कहो ? हे ब्राह्मणश्रेष्ठ ! कर्मों से जितनी भी गतियां मिलती हैं, उन सब का निरूपण करो।१०-१३।

सुबोधिनी—ददृशे येनेति । तस्य स्वकारणभूतस्य नारायणस्य रूपं येन प्रसादेन ददृशे । प्रसादादेव नाभिपद्मे समुद्भवो यस्य । एवं ब्रह्मण उत्पत्तिस्थिती भगवदनुग्रहेणैवेति निरूप्य तस्य शयनमपि तस्मिन्नेव रूप इति प्रतिदिनमुद्गमनतिरोभावाभ्यां तदनुग्रहस्तस्मिंस्थिर इति ब्रह्मणः शयनं निरूपयति । स चाऽपि ब्रह्माऽपि यत्र शेने तत्र ब्रह्मणो माहात्म्यमाह । विश्वस्य स्थित्युत्पत्त्यप्यया यस्मात् । पूर्वं भूतानां सृष्टिरेवोक्ता । इदानीं प्रलयांताः सर्वे भावविकारास्तत एवेति विशेषः। आत्मनो मायां सर्वकरणसामर्थ्यं निशायां तत् त्यक्त्वा शेते । निशा पुनस्तत्त्यागादेव भवति। तथा करणे हेतु—**मायेश इति** । मायाया नियन्ता । तस्या नियमनार्थमेव तां त्यजतीत्यर्थः । पतिरूपत्वं वा ईशत्वम् । तथा सति कार्यावस्थां तां त्यक्त्वा तया सह क्रीडार्थं शेत इत्यर्थः। मायात्यागे वा सामर्थ्यं बोध्यते—**मायेश इति** । नियामकस्त्वन्तर्यामित्वेवेति कथमस्य मायेशत्वम्? तत्राऽऽह—**सर्वगुहाशय इति** । सर्वेषां गुहासु हृदयेषु आशयः स्थानं यस्य । अन्तःकरणप्रेरणं वा । तस्मात्सर्वान्तिर्यामित्वान्मायेशत्वम् । तस्मात्तस्य देहसम्बन्धः किमर्थ इति प्रश्नः । सचाऽपीति वा नारायण एवोच्यते । यत्र प्रलयजले शेते प्राकृतवत्तस्याऽप्यवस्थानां विद्यमानत्वात्तस्य देहवत्त्वम् । एवं जीवब्रह्मणोर्देहनिमित्तं पृष्ट्वा शुकब्रह्मवाक्ययोरवांतरवैलक्षण्यं दूरीकर्त्तुं पृच्छति-**पुरुषावयवैरिति** "**भूर्लोकः कल्पितः पद्भ्यामि**"ति वाक्यात्पुरुषावयवैर्लोककल्पना निरूपिता । त्वया पुनः "**पातालमेतस्य हि पादमूलमि**'ति वाक्याल्लोकैरमुष्याऽवयवा निरूपिताः । तत्र निर्णयो वक्तव्य इत्यर्थः । यद्यपि भवतां ब्रह्मणश्च एकवाक्यतैव तथाऽस्माभिः श्रुतमिति स सन्देहो निवारणीय इत्युक्तं **शुश्रुम इति** । अतःपरं तदनुगुणा एव पदार्थाः पृच्छयन्ते—**यावान् कल्प इति** । कल्पः प्राकृतः । विकल्पो वैकृतः । यस्मिन् कल्पे ब्रह्मा उत्पद्यते यत्र च प्रतिबुध्यते तेषां प्रमाणं स्वरूपं च वक्तव्यमित्यर्थः । कालानुमानज्ञानं घटिकापरिज्ञानम् । यथा वक्ष्यति "**द्वादशार्द्धपलोन्मानमि**" ति । यावान्यथेति यथायोग्यं सर्वत्रैवाऽनुषज्यते । तेन भूतभव्यभवच्छब्दो यावान् यथेति वाक्यं भवति कालस्य विशेषणम्। **भूतभव्यभवच्छब्द इति** । भूतं भव्यं भवत् एते शब्दा यस्मात्स कालः कथमनुमीयत इति पूर्वेणैव सम्बन्धः । भूतादिपदानां प्रयोगनिमित्तं स्वरूपं पृच्छयत इति वा । आयुषः परिमाणं यत्तद्वक्तव्यमित्यग्रेण सम्बन्धः । सतो देवतिर्यङ्मनुष्यादीनाम् । **सत इति** पदं विद्यमानत्वधर्मं सूचयति । अनेनाऽऽविर्भूतः कः कियत्कालं तिष्ठतीति प्रश्नः सङ्गच्छते। अन्यथा वैनाशिकप्रक्रियाया अनङ्गीकारात्सर्व एव कालः सर्वस्याऽऽयुर्भवेत्। प्रश्नांतरमाह-**कालस्याऽनुगतिरिति** । कालस्य अनु अण्वी गतिः बृहती च । अणुः कालो महान् कालश्च कथं ज्ञायत इत्यर्थः । स्वभावतः कालो न ज्ञायते किन्तु कार्यद्वारा । इदमिदानीमिति कार्यद्वारा । सैव कालस्याऽनुगतिः कार्ये गच्छति तदनुवर्त्तनम् । तत्र स्थूलसूक्ष्माणां कार्याणां नित्यत्वात्। अवान्तराणामनियतकालत्वात् । कालस्याऽनुगतिर्या तां कथयेत्यर्थः । सूर्यगत्या तां वक्ष्यति । ननु कालस्य भेदा एव न सन्तीत्याशङ्क्याऽऽह—**या तु लक्ष्यत इति**। सर्वत्र इदानीमिति प्रतीतेः पदार्थानुवृत्तिः कालस्य लक्ष्यते । अन्यथा आकाशादिवत्तस्याऽप्यभिलापो न स्यात् । तस्या अण्वी बृहत्यपि । क्षणमात्रेण गतो महता कालेन गत इति । तथा च कालानुगतिरस्ति परं तत्र नियामकं वक्तव्यमिति प्रश्नः । कर्मणां नानाविधानां गतयः प्रवृत्तिप्रकाराः नानाविधयोनिसम्पादनेन सुखदुःखप्रदानेन च यावत्यो यादृशीरिति परिमाणप्रकारौ प्रश्नविषयौ । **द्विजसत्तमेत्ति** सम्बोधनं महत्या कर्मगत्येति ॥१०–१३॥

व्याख्यार्थ—अपने कारणभूत अर्थात् बनाने वाले नारायण भगवान् के स्वरूप को जिस अनुग्रह के बल से ब्रह्मा ने देखा, और भगवान् के अनुग्रह से ही ब्रह्मा को भगवान् की नाभि के कमल में जन्म मिला था, इस तरह से ब्रह्मा की उत्पत्ति और स्थिति दोनों भगवान् के अनुग्रह से ही होती है, यह कहकर अब यह कहते हैं कि ब्रह्माजी का शयन भी भगवान् के उसी स्वरूप में होता है और इससे यह स्पष्ट होता है कि प्रतिदिन ब्रह्मा को प्रकट करना और प्रतिदिन उसका तिरोभाव भी करना यह श्रम सहन करने से ब्रह्मा के ऊपर भगवान् का अनुग्रह सर्वदा स्थिर रहा है । इसलिए ब्रह्मा के शयन का निरूपण करते हैं । 'स चापि' भगवान् का अनुग्रह जिस पर पूर्ण हो जाता है,वह स्वयं भी भगवान् के सदृश हो जाता है । भगवान् में जो छः धर्म ऐश्वर्यादि रहते हैं, वे छहों धर्म अनुग्रहीत में भी आ जाते हैं, दीखने लगते हैं, किन्तु ये धर्म उस व्यक्ति के नहीं किन्तु भगवान् के अनुग्रहरूप के हैं । यह बात सब जगह समझ रखनी चाहिए ।

ब्रह्माजी भगवान् में ही शयन करते हैं । घड़ा मिट्टी में से ही प्रकाशित होता है और उसी में सो जाता है और रहता है । उतने समय मिट्टी रूप रहकर ही रहता है । इसी तरह ब्रह्मा का आविर्भाव भगवान् में से होता है और उसका तिरोभाव (शयन)भी भगवान् में ही होता है, और जितने समय ब्रह्मा विद्यमान रहता है उतने समय उसकी स्थिति भी भगवद्रूप रहकर होती है । यह दिखाने के लिए अब ब्रह्माजी का माहात्म्य कहते हैं ।

ब्रह्मा ही इस विश्व की उत्पत्ति, पालन, संहार करता है । ६वें श्लोक में पहले ब्रह्मा से प्राणियों की केवल सृष्टि होने का ही निरूपण आ चुका है किन्तु इस जगत् उत्पत्ति से लेकर प्रलय पर्यंत के सब ही भाव (विकार रूप)ब्रह्मा से ही होते हैं । यह कहा है । पैदा होना, रहना बढ़ना, बदलना, कम होते जाना और नष्ट हो जाना ये छः भाव विकार कहे जाते हैं । यह पाद्म सृष्टि की बात है । ब्रह्म कल्प की सृष्टि में भावरूप विश्व रहता है और पाद्मकल्प की सृष्टि में भावविकार विश्व रहता है, होता है । ब्रह्मकल्प में ब्रह्ममय विश्व रहता है,किंतु यमकल्प में कुछ विकार का अंश रहता है । 'यदुदरात्पद्म' 'नाभि पद्म समुद्भवः' 'मायेशः' आदि मूल के शब्द और सुबोधिनी के 'सर्वभाव विकाराः' शब्द से यह बात स्पष्ट होती है ।

शयन करते समय ब्रह्मा रात्रि में अपनी माया (सब करने की सामर्थ्य)को छोड़ कर सोता है । सब कुछ करने की सामर्थ्य को अलग धर देने से ही रात्रि होती है, कही जाती है । माया का त्याग क्यों कर देता है? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि 'मायेशः' यह माया को अपने वश में रखता है, इसलिए । जो त्याग कर सकता है, ग्रहण भी कर सकता है । वही वश में रखने वाला कहा जाता है । माया को नियम में रखने के लिए ही उसका त्याग करता है, अथवा स्वामीपन या पतिरूपता ही ईश्वरत्व होता है । अनुग्रहीत होने से इस कल्प में माया का पति ब्रह्मा है, इसलिए रात्रि को कार्य करने की अवस्था को छोड़कर माया के साथ रमण करने के लिए शयन करता है । माया का त्याग करने में सामर्थ्य दिखाने के लिए भी 'मायेश' कहा है ।

यहां पर प्रश्न होता है कि माया का नियामक तो अन्तर्यामी भगवान् है । फिर ब्रह्मा को मायेश कैसे कहा? इसका उत्तर देते हैं कि सर्व गुहाशयः । प्राणी मात्र के हृदयाकाश में यह हिरण्यगर्भ ब्रह्मा भी रहता है । इसका भी हृदय में स्थान है इसलिए मायेश कहा । अथवा इस कल्प में

सबके अन्तःकरण (बुद्धि आदि)की प्रेरणा करने वाला यहीं रहता है इसलिए अन्तर्यामी भी यही होता है। अतएव मायेश होना उचित ही है अब यहां प्रश्न का वास्तविक तात्पर्य यह है कि जिस ब्रह्मा पर भगवान् का इतना अनुग्रह हुआ है उसका प्राकृत देह के साथ सम्बन्ध क्यों हुआ? किस हेतु से देह सम्बन्ध हुआ ?

अथवा यहां नारायण के भी देह होने का प्रश्न है? इसलिए 'स चापि' का नारायण अर्थ करना। नाश जलसमूह है। शयन स्थान जिसका वह नारायण। इस व्युत्पत्ति से जलशायी नारायण ही कहे गये हैं। जल में सोते हैं और उनकी भी अवस्थाओं का वर्णन प्राकृतों की तरह आता है, इसलिए नारायण के भी देह होना चाहिए। यह देह सम्बन्ध किस कारण से हुआ, यह प्रश्न है? इस तरह से जीव और ब्रह्म दोनों का देह के साथ सम्बन्ध किस कारण से हुआ? यह प्रश्न करने के बाद यह आशंका होती है कि लोक कल्पना की कथा श्री शुक ने दूसरी तरह कही और ब्रह्माजी ने दूसरी तरह कही, यह अवांतर भेद क्यों? इसका उत्तर देते हैं कि 'पुरुषावयवैः' इत्यादि 'भूर्लोकः कल्पितः........' वाक्यों में ब्रह्माजी ने पुरुष के अवयवों से त्रिलोकी की कल्पना की और 'पातालमेतस्य हि पादमूलं' इत्यादि वाक्यों में श्री शुक ने भगवान् के अवयवों की कल्पना चतुर्दशश्लोकों के द्वारा की। यह एक ही वस्तु का दो तरह से वर्णन क्यों? इसका निर्णय करिए ? यद्यपि आपके और ब्रह्मा के वाक्यों की एक वाक्यता एक संगति होगी ही तथापि मैंने इस तरह सुना है, इसलिए इस सन्देह का निराकरण तो करना ही होगा। यह 'शुश्रुम:' इस क्रिया का तात्पर्य है।

अब इसके आगे श्री शुकदेवजी के निरूपण के अनुसार पदार्थों के विषय में प्रश्न करते हैं— 'यावान् कल्प' इत्यादि। मूल प्रकृति से प्रारम्भ कर सृष्टि के समय का जो काल विभाग वह कल्प कहा जाता है और प्रकृति के विकारों के सृष्टि समूह का जो काल का लम्बा टुकड़ा है उसे विकल्प कहते हैं। जिस कल्प में ब्रह्मा पैदा होता है और जिसमें सृष्टि रचनार्थ संज्ञान होता है सावधान होता है उन कल्पादि का स्वरूप और उनका नाप तौल भी कहिए? काल प्रत्यक्ष तो है नहीं तो अनुमान ही आज तक किया जा रहा है, किन्तु इस अनुमान का भी कोई मूल हेतु तो होगा ही वह क्या है? घड़ी, प्रहर, दिनादि का परिज्ञान कैसे किया जाय? 'यावान्' और 'यथा' दोनों शब्द सब के साथ लगाने चाहिए। इसका यह तात्पर्य होता है कि भूतभव्यभवच्छब्दः 'यावान् यथा कालः भवति' तत्कथय। अर्थात् भूत भविष्य और वर्तमान शब्दों से कहा जाता काल किस प्रकार का और कितना कहा गया है? भूत भविष्य और वर्तमान काल कितना क्या है? भूत भविष्य और वर्तमान ये तो शब्द हैं किन्तु इनसे वह वह काल किस तरह लिया जाता है। भूत आदि पदों का प्रयोग करने का प्रयोजन पूछा गया है। सत् पदार्थ देव पशु पक्षी आदि मनुष्यादि हैं। इनकी आयुष्य का नाप कितना है यह भी प्रश्न का विषय है ? नित्य जगत् न कहकर जो 'सत्' पद दिया है इसका यह तात्पर्य है कि दृष्टिगोचर व्यक्त पदार्थों का ही प्रश्न है जो अव्यक्त हो चुके हैं, विद्यमान नहीं, उनके विषय में प्रश्न नहीं है। इसका भी यह तात्पर्य है कि जो जो पदार्थ अव्यक्त अवस्था से व्यक्ति में आते हैं, दृष्टिगोचर होते हैं, वह कितने समय तक ठहरते हैं यह प्रश्न है ? आयुर्मान् प्रश्न न किया जाय और इस विषय को न समझा दिया जावे तो एक आपत्ति आ सकती है। नैयायिकों के मत के अनुसार पदार्थ की अनित्यता का सिद्धांत तो वास्तविक सिद्धांत है नहीं। यहां तो केवल

श्रौत सिद्धांत है। इसमें तो सर्व सत्य, सर्वब्रह्म और सर्वनित्यता का सिद्धांत है। ऐसी अवस्था में आयु का प्रमाण ज्ञान आवश्यक है, अन्यथा सर्व पदार्थ सर्वरूप होने से सब हो काल सबकी आयु हो सकता है। इसलिए खण्ड और अखण्ड दोनों तरह के काल का स्वरूप ज्ञान होना ही चाहिए।

इसके बाद काल की गति भी समझनी है। 'कालस्य अनु गतिः' काल को समझने के बाद उसकी गति भी समझनी है। काल की सूक्ष्म और बड़ी से बड़ी भी गति है, अर्थात् छोटे से छोटा काल और बड़े से बड़ा काल कैसे जाना जा सकता है। काल का स्वभावतः या स्वरूपतः ज्ञान कैसे जाना जा सकता है। काल आदि कार्य के द्वारा काल जाना जाता है। यही काल की अनुगति है। अनुगम है, लगान है। कार्य मात्र के साथ काल लगा हुआ रहता है। अति स्थूल कार्य और अति सूक्ष्म कार्य (पदार्थ) नित्य हैं। और मध्य के कार्यों का काल अनियत है; इसलिये सब ही काल किस तरह पदार्थ मात्र के साथ चलता रहता है यह कहिये। उत्तर के समय श्री शुकदेवजी इस काल की गति का निरूपण सूर्य की गति से करेंगे।

यदि कोई कहे कि काल के टुकड़े ही नहीं हैं तो कहते हैं कि 'लक्ष्यते' अर्थात् अब जब तब आदि शब्दों में काल के अवयव सबके अनुभव में आ रहे हैं। जो ये टुकड़े न होते तो जैसे कोई भी आकाश को नहीं कह सकता इसी तरह इस काल को भी कोई नहीं कह सकता था। पर काल को तो सब ही कह रहे हैं। इसकी सूक्ष्म और बड़ी दोनों गतियों को भी सब लोग कह रहे हैं। 'बड़ी जल्दी चले आये' 'बड़ी देर में पहुँचे' इत्यादि वाक्यों में स्पष्ट ही काल की छोटी बड़ी गति कही जा रही है। ये सब काल की अनुगति है पर इन सबका नियामक कौन है, बस यही पूछना है। सो कहिये।

नाना प्रकार के कर्मों की नाना प्रकार की गतियाँ भी किस प्रकार होती हैं। और सुख दुःखादि फल भी अनेक कर्मों से ही मिलते हैं। इन सब में कर्मों का नाप-तोल कितना होता है। और इन कर्मों-का प्रकार भी क्या-क्या होता है। अर्थात् किस तरह के कर्मों के द्वारा किस तरह के फल मिलते है। यह सब कहिये ॥१०-११-१२-१३॥

आभास—तज्ज्ञानावश्यकत्वं सूचयति—

आभासार्थः—इन सब बातों को जान लेना आवश्यक हैं सो कहते हैं—

श्लोक—यस्मिन्कर्मसमावायो यथा येनोपगृह्यते।
गुणानां गुणिनां चैव परिणाममभीप्सताम् ॥१४॥

भूपातालककुब्व्योमग्रहनक्षत्रभूभृताम्।
सरित्समुद्रद्वीपानां सम्भवश्चैतदोकसाम् ॥१५॥

प्रमाणमण्डकोशस्य बाह्याभ्यन्तरभेदतः।
महतां चाऽनुचरितं वर्णाश्रमविनिश्चयः ॥१६॥

अवतारानुचरितं यदाश्चर्यतमं हरेः ।
युगानि युगमानं च धर्मो यश्च युगे युगे ।।१७।।

नृणां साधारणो धर्मः सविशेषश्च यादृशः ।
श्रेणीनां राजर्षीणां च धर्मकृच्छ्रेषु जीविनाम् ।।१८।।

तत्त्वानां परिसङ्ख्यानं लक्षणं हेतुलक्षणम् ।
पुरुषाराधनविधिर्योगस्याऽऽध्यात्मिकस्य च ।।१९।।

योगेश्वरैश्वर्यगतिर्लिङ्गभङ्गस्तु योगिनाम् ।
वेदोपवेदधर्माणामितिहासपुराणयोः ।।२०।।

सम्प्लवः सर्वभूतानां विक्रमः प्रतिसंक्रमः ।
इष्टापूर्त्तस्य कामानां त्रिवर्गस्य च यो विधिः ।।२१।।

यो वाऽनुशायिनां सर्गः पाषण्डस्य च सम्भवः ।
आत्मनो बन्धमोक्षौ च व्यवस्थानं स्वरूपतः ।।२२।।
यथाऽऽत्मतन्त्रो भगवान् विक्रीडत्यात्ममायया ।
विसृज्य वा यथा मायामुदास्ते साक्षिवद्विभुः ।।२३।।

श्लोकार्थ—किस कर्म के मेल से पदार्थ और गुणों का परिवर्तन होता रहता है। सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण के परिणामरूप जो देव मनुष्य पशु आदि के देह हैं, उन्हें पाने की इच्छा रखने वाले जीव किस पाप-पुण्य आदि कर्मों को किस प्रकार करने पर उन-उन देहों की प्राप्ति करते हैं। यह मैं जानना चाहता हूँ।

पृथ्वी, पाताल, दिशा, आकाश, ग्रह, नक्षत्र, पर्वत, नदी, समुद्र और द्वीप कैसे उत्पन्न हुए और इनमें रहने वाले प्राणियों की सृष्टि कैसे हुई ? यह भी कहिये।

यह ब्रह्माण्ड भीतर और बाहर से कितना बड़ा है, बताइये। महापुरुषों के चरित्र सुनाइये। और ब्राह्मणादि चारों वर्णों का तथा ब्रह्मचर्य आदि चारों आश्रमों का और उनके धर्मों का वर्णन करिये। भगवान् के अवतारों का अद्भुत वृत्तान्त सुनाइये। प्रत्येक युग और उनके धर्मों को कहिये। युगों का नाप-तौल भी कहिये। मनुष्यों का साधारण धर्म क्या है ? वर्णों और आश्रमों के विशेष धर्म क्या हैं? भिन्न-भिन्न व्यवसायों से जीविका चलाने वालों के धर्म, व्यवहार और नियम क्या हैं ? राजर्षियों का धर्म और सबके आपत्काल के धर्म क्या हैं ? यह सब मुझसे कहिये।

प्रकृति आदि तत्वों की संख्या, स्वरूप और उनका लक्षण भी बताइये। पुरुष की आराधना, अर्थात् देवपूजा और अष्टांग योग आदि की विधि क्या है ? योगेश्वरों के ऐश्वर्य और उनकी गति का वर्णन कीजिये। योगियों के कारण शरीर का लय किस रीति से होता है, यह भी कहिये। वेद-उपवेद धर्म-शास्त्र इतिहास और पुराणों का स्वरूप कहिये। सब प्राणियों का अवान्तर-प्रलय और महाप्रलय कैसे होता है। सब प्राणियों की उत्पत्ति और स्थिति का निरूपण कीजिये। वैदिक और स्मार्त कर्म, अग्नि होत्रादि धर्म, काम्य कर्म और धर्म-अर्थ-काम इस त्रिवर्ग की विधि कहिये। जिनकी उपाधि (देहादि) का लय हो चुका है उन जीवों की फिर से सृष्टि किस प्रकार होती है, उसका वर्णन करिये। पाखण्ड की उत्पत्ति, जीव का बन्धन और मोक्ष, तथा शुद्ध चेतन की अपने स्वरूप ब्रह्म में आवस्थिति कैसे होती है सो कहिये। स्वतन्त्र भी भगवान् पुरुषोत्तम अपनी माया से किस प्रकार क्रीड़ा करते हैं। और प्रलय काल में किस प्रकार उस माया को छोड़कर साक्षी की तरह उदासीन रहते हैं। सो सब मेरे आगे कहिये ॥१४-२३॥

सुबोधिनी—यस्मिन्निति । यस्मिन्कर्मसमावाय इति प्रश्नांतरम् । गुणानां सत्वादीनां परिणामं देवतिर्यङ्मनुष्यादिरूपं अभीप्सताम् । गुणिनां कार्याणां गुणसमुदायरूपाणां मध्ये । यस्मिन्कर्मसमावायः । कर्मणां शुक्ललोहितकृष्णानां समवायो मेलनमित्येकः प्रश्नः । शुक्लं कर्म देवेष्वेव । कृष्णं पातालवासिनाम् । अन्तरिक्षस्थानां वा । समावायो मनुष्येष्विति वक्ष्यते । किञ्च । यथा कर्मसमवायः किं गुणानां समशो मेलनं न्यूनाधिकभावेन वा । किञ्च । येन कर्मसमवायः । केन वा कर्माणि योज्यन्ते उपगृह्यन्ते स्वीक्रियन्ते । जीवेन भगवता कालादिना वा । गुणिनामपि परिणाममभीप्सतामिति कथनार्थं गुणगुणिनोः सह निरूपणम् । यथा देवावतार इन्द्रावतार इति । भूपातालादीनां तदोकसां च सम्भवः यथा यावानिति प्रश्नः । अण्डकोशस्य प्रमाणं ब्रह्माण्डं कियत्प्रमाणकमिति कोशशब्देन पत्राणां विकाशाभावात् पत्रस्थानीय लोकपरिमाणमपि लोकानामुपर्यधोभावोऽपि निरूपणीय इति सूचितम् । बाह्यतः कियत् । आंतरतः कियत् । यथाऽन्तरप्रमाणं वक्ष्यति "**सूर्याण्डगोलयोर्मध्ये कोटयः स्युः पञ्चविंशतिरि**" ति । '**तथा बाह्यं दशोत्तरैरि**" ति । महतां सताम् । तेषामनुचरितं भक्तिः । चकाराज्ज्ञानिनाम् । विपरीतं वा । वर्णानामाश्रमाणां च विनिश्चयः आचारतः स्वरूपतश्च । अवताराणामनुचरितम् । तत्रापि यदाश्चर्यतमं कालियदमनगोवर्द्धनोद्धरणादि । युगानि । कानि कियन्तीति । युगमानं संवत्सरभेदेन । नृणां साधारणो धर्मः सत्यवचनादिः । सविशेषः यागादिसहितः । श्रेणीनामेकशिल्पोपजोविनाम् । राजर्षीणां राजानो भूत्वा ये ऋषयः । यथा मन्वादयः । तेषां साधारणो धर्मो विशेषधर्मश्च कथनीयः । धर्मकृच्छ्रेषु धर्मसङ्कटेषु । आपत्स्वित्यर्थः । जीविनां केवलजीववतां धर्मकरणासमर्थानां को धर्म इति प्रश्नः । तत्वानां प्रकृत्यादीनाम् । परिसङ्ख्यानं गणना । सांख्यमिति यावत् । तेषामेव लक्षणं व्यावर्त्तको धमः । तेषामेव हेतुपूर्वकं च

लक्षणं तथात्वं तस्य कुत इति । पुरुषाराधनविधिः भगवत्परिचर्याप्रकारः । तथा योगस्य विधिः। योगविशेषस्याऽऽध्यात्मिकस्य च विधिः। योगस्त्वष्टाङ्गः साधारणः । आध्यात्मिकस्तु श्रवणमनननिदिध्यासनैरधिकः । चकाराद्राजयोगादीनां लक्षणं कथयेति प्रश्नः । योगेश्वराणामैश्वर्यगतिं यथा कर्दमस्य । **लिङ्गभङ्गस्तु योगिनाम्** । लिङ्गशरीरस्य भङ्गः । यथा "न **देहं बुबुधे गतम्** ।" '**देहं तु तन्नचरमः स्थितमुत्थितं वे**"ति । वेदाश्चत्वारः । उपवेदाश्चत्वार आयुर्वेदादयः । धर्माणि धर्मशास्त्राणि । इतिहासो भारतादिः । पुराणं ब्राह्मादि । एतेषां लक्षणं परिमाणं च वक्तव्यमिति प्रश्नः। सम्प्लवो नाशः । यावान् यथेति प्रश्नः । सर्वभूतानां महतां भौतिकानां च विक्रमः पराक्रमः । कार्यं करणं भूतानामेव । प्रतिसंक्रमः कारणेऽनुप्रवेशः पूर्ववत् । इष्टं यागादि कर्मरूपेण क्रियमाणम् । पूर्त्तं खातादि । तयोरेकफलत्वात्सहप्रयोगः । कामानां अन्येषां काम्यकर्मणाम् । अथवा । कामानां विषयाणां यो भोगप्रकारः सः विधिः के विषया भोक्तव्याः के नेति। त्रिवर्गस्य धर्मार्थकामाख्यस्य । स्वतन्त्रपुरुषार्थपक्षेण त्रिवर्गनिरूपणान्न पौनरुक्त्यम् । एतेषां स्वरूपमुत्तरत्र वक्ष्यति । विधिः प्रकारः । नित्यनैमित्तिकादिविधयो वा । यश्चाऽनुशायिनां सर्गः । अनुशायिनो जीवविशेषाः । ये भगवच्छयनमनु शेरते त्रैलोक्यकर्मानुवर्त्तिनः । दैत्याः ज्ञानिनश्च तदनुवर्त्तिनश्च नाऽनुशायिनः । अन्ये जोवास्त्वनुशायिनः । अनुशायिनां यः सर्गः स यावान् यादृश इति प्रश्नः । पाषण्डस्य वेदमार्गविरोधिनः । चकाराद्विधर्मादेः सम्भव उत्पत्तिर्यादृश इति प्रश्नः । आत्मनो जीवस्य अनुशायिव्यतिरिक्तस्य बन्धमोक्षौ ज्ञानिनां मोक्षो दैत्यानां बन्ध उभयमुभयेषामिति वा प्रश्नः । **व्यवस्थानं स्वरूपतः** । बन्धमोक्षव्यतिरेकेण आत्मा कथं तिष्ठति कीदृग्रूप इति प्रश्नः । अस्योत्तरं-"**अशरीर वाव सन्तमि**"ति भविष्यतीति । भगवान् वा अत्र ब्रह्मांडे अवतीर्णः स्वतन्त्रोऽपि यथा आत्ममायया विक्रीडति । अवतीर्य भगवान् कथं क्रीडतीत्यर्थः । अथवा । वैकुण्ठेऽन्यत्र वा कथं क्रीडतीति । मायासम्बन्धे कीदृशं भगवच्चरित्रमित्यर्थः। मायां विसृज्य वा यथा भगवानुदास्ते। साक्षिरूपं हि सर्वं पश्यत्युदासीनं साङ्ख्यसिद्धांतगम्यं तदेकं भगवतो रूपम् । तद्वन्मूलरूपमप्याहोस्विन्नेति प्रश्नः । उभयकरणसमर्थत्वात्सन्देह इति विभुरित्यनेनोक्तम् ।।१४—२३।।

व्याख्यार्थ—पदार्थों में कर्मों का मेल कराकर किस प्रकार अनेक तरह के परिवर्तन होते हैं. यह एक दूसरा ही प्रश्न है । सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण ये तीनों जड़ व चेतन सब पदार्थों का स्वरूप या स्वभाव के परिवर्तन होने में सहायक कारण है । मनुष्य का देव पशु रूप हो जाने में पशु का देव या मनुष्य हो जाने में, किंवा देव का मनुष्य और पशु रूप हो जाने में सत्वादि कारण, कारण है यह ठीक हैं किन्तु उनमें कर्म का समवाय मेल हुये बिना वे परिवर्तन नहीं हो सकते । इसलिये यह प्रश्न है कि गुणियों में (पदार्थों में) जो जो मनुष्य, देव, पशु आदि परिवर्तन को चाहने वाले जीव हैं, उनमें किस-किस कर्म का किस प्रकार से मेलन होता है जिस परिवर्तन से वे बदल कर एक दूसरे के रूप में आ जाते हैं । जैसे मुख्य रुद्र आदि देव गण अपने-अपने भुवनों में बने रहते हैं। पर वे भो जब चाहते हैं तब स्त्री आदि के सम्बन्ध के बिना भी या होने से ही मनुष्यादि का रूप धारण करते हैं । जैसे कृपाचार्य रुद्रगण के अवतार हुए । साम्ब, गुहका अवतार हुआ । यह जो परिवर्तन हुआ वह कैसे कर्म समवाय से हुआ, किसने किया ? और किसने स्वीकार किया । कर्म का समवाय (मेल) शरीर में होता है किंवा जीव में । शुद्ध, अशुद्ध और शुद्धा शुद्ध (मिश्र) तीन

प्रकार के कर्म होते हैं। शुक्ल (शुद्ध) कर्म देवलोगों के होते हैं अशुद्ध कर्म पाताल वासियों (पशु-प्रभृति के भी) के होते हैं। और मनुष्यों के कर्म मिले हुए (शुद्धा शुद्ध) होते हैं। यह आगे कहेंगे। इस तरह जड़ पदार्थों में भी कृति के द्वारा ही परिवर्तन होते रहते हैं। उस कर्म से जो मेलन होता है वह क्या गुणों को बराबर रखकर मेलन होता है? किंवा कुछ न्यून अधिक नाप-तोल रखकर होता है? और यह भी कहिए कि उन कर्मों का गुण और गुणियों (पदार्थों) में योग कराने वाला कौन है? कर्म और गुण दोनों जड़ हैं उनका अपने आप योग हो नहीं सकता और गुणी जीव तो स्वयं योजना विषय होता है। अतएव आप ही स्वयं की योजना करने वाला बन नहीं सकता। तो अब कोई तीसरा होना चाहिए। क्या जीव ही किसी कारणांतर से दोनों का मेल कराने वाला है? या भगवान् ही गुण गुणियों का कर्म के साथ मेल कराने वाले हैं? किंवा काल आदि हो मेल कराने वाले हैं। गुणी (जीवादि पदार्थ) भी परिवर्तन चाहते हैं। यह निरूपण करने के लिए यहां गुण-गुणियों का साथ-साथ ही निरूपण किया है। देवावतार, इन्द्रावतार इत्यादि इत्यादि जो, जो गुणियों का परिणाम होने के लिए कर्म का समवाय होता है वह किस तरह किसके द्वारा किसने स्वीकार किया है यह प्रश्न का तात्पर्य है। आकाशवाणी के द्वारा भगवान् को आज्ञा हुई है कि 'भवद्भिरंशैर्यदुष्टपजन्यताम्' 'हे देवगणों! आप लोग अपने अपने अंशों से यादवों में जन्म लो'। ऐसी अवस्था में देवों का कौनसा अंश यादवों का शरीर हुआ और उस शरीर में भोला कौन हुआ? जीव भगवान् किंवा कालादि। यह बातें कर्म-समवाय सम्बन्धी हैं, इनका विस्तार से उत्तर दीजिये।

पृथ्वी पातालादि जो मनुष्य, दैत्य आदि के निवास स्थान हैं, उनकी उत्पत्ति कैसे और कितनी हुई? यह समस्त ब्रह्मांड कितने नाप तौल का है? यह भी कहिए। यहां 'अण्डकोश' शब्द से कमल की डोडी कही है। अर्थात् वह खिला हुआ कमल नहीं है। पत्र उसके भीतर ही समा रहे हैं। इसी तरह ब्रह्माण्ड के भीतर ही चतुर्दश या सप्तादि लोक भी समा रहे हैं इसी तरह ब्रह्माण्ड के भीतर ही चतुर्दश या सप्तादि लोक भी समा रहे हैं, यह समझना चाहिए। अतएव जिस प्रकार कमल के पत्तों में एक-दूसरे के ऊपर-नीचे ऊपर आ रहे हैं, इसी तरह ब्रह्माण्डान्तः स्थित लोक भी ऊपर नीचे होंगे ही। अतएव कौन-कौन ऊपर और कौन-कौन नीचे हैं यह भी कहिए और फिर बाहर से कितने लम्बे-चोड़े और भीतर से कितने? अन्यत्र यह कहा भी है कि 'सूर्य और पृथिव्यादि' गोलांडों का मध्य २५ करोड़ योजन है और इनके बाहर दस गुना लम्बा चौड़ाव है।

सन्तों का अनुचरित्र-भगवान् की भक्ति करने का प्रकार कहिए और ज्ञानियों की आराधना करने का प्रकार भी कहिए, और वे लोग जो नहीं करते यह भी कहिए। वर्ण और आश्रमों का आचार के द्वारा और स्वरूप के द्वारा जो निर्णय हो वह भी कहिए। अवतारों का दिव्य चरित्र, उनमें भी जो आश्चर्य करा देने वाले कालिय-दमन, गोवर्धन धारण आदि चरित्र हैं वे कहिये। युग (समय के भाग) कितने और कौन-कौनसे हैं? सम्वत्सर आदि के भेद से जो युगों का नाप है वह भी कहिए। सत्य बोलना आदि जो मनुष्यों के दश सामान्य धर्म हैं, उनका भो निरूपण करिए। याग आदि विशेष धर्मों को भी कहिए। शिल्प आदि एक जोविका से जीने वालों का भी वृत्तांत कहिए। राजा होकर जो ऋषिवत् हुये हैं, उन मनु प्रभृति का साधारण धर्म और विशेष धर्म कहना उचित है। धर्म संकट आकर उपस्थित हो उस समय मनुष्य के आपद्धर्म कौन-कौनसे

हैं? सो कहिए। जीव केवल प्राण-धारण मात्र करते हैं किन्तु धर्माचरण नहीं कर सकते। उनका कर्त्तव्य कौनसा है? सो भी कहिए। प्रकृति आदि तत्वों की संख्या कितनी है? अर्थात् सांख्यशास्त्र का निरूपण कीजिए। तत्वों के लक्षण भी कहिए और यह भी समझाइये कि उन-उन तत्वों का वैसा-वैसा लक्षण किस कारण से है? भगवान् की परिचर्या की विधि भी बताइये? साधारण योग का प्रकार बताइये और उससे जुदे आध्यात्मिक योग का भी प्रकार कहिए। अष्टांग योग, यम, नियम, आसन प्राणायाम, अल्पाहार, ध्यानधारणा समाधि ये तो सामान्य है, किन्तु वही श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि अंगों से विशेष हो जाता है और राजयोग आदि उपायों का भी लक्षण कहिए। योगेश्वरों की ऐश्वर्य गति कैसे होती है? जैसे कर्दम प्रजापति प्रभृति की हुई है। योगियों के देह का सम्बन्ध जीव के नहीं रहता, पर कैसे होता है? क्योंकि कई जगह कहा है कि 'अपने गिरे हुए देह को भी न जाना' 'आत्मस्थित चेतन गिरे हुए किंवा वर्तमान देह को भी नहीं जानता।' इत्यादि।

चारों वेद, आयुर्वेदादि, चार उपवेद, सब धर्मशास्त्र, भारतादि इतिहास, ब्राह्म आदि पुराण इन सब के लक्षण और नाप भी कहने चाहिए। सब जगत् का नाश किस प्रकार और कितने समय तक रहता है? छोटे से छोटे और बड़े से बड़े आकाशादि पदार्थों के और उनसे बने पदार्थों का वीर्य (शक्ति) क्या क्या है? ये आकाशादि क्या-क्या कार्य करते हैं? कर सकते हैं, यह सब कहिए? पदार्थों का अपने-अपने कारणों में समाते जाना यह 'प्रतिसंक्रम' (इसका अर्थ पहले की तरह ही जानना)भी कैसे होता है सो कहिए। 'इष्ट' नाम का यागादि कर्म जो किया जाता है वह क्या है ? बावड़ी, कुआ आदि खुदवाना (इष्ट और पूर्त्ति कर्म, इन दोनों का एकसा फल होता है, इसलिए दोनों को यहां एक ही साथ में कहा गया है) इन सब का भी स्वरूप कहिए। काम्य कर्मों की विधि भी कहिए (अथवा काम का अर्थ विषय लेवें तो) किन-किन विषयों को भोगना और किन को नहीं, यह भी कहिए। धर्म, अर्थ, काम इस त्रिवर्ग (गुट्ट) का भी वर्णन कीजिए। (स्वतन्त्र, परतन्त्र दो तरह के पुरुषार्थ होते हैं इसलिए उनको पुनः यहां कहने में पुनरुक्ति दोष नहीं है। इनका निरूपण आगे करेंगे। 'विधि' शब्द से यहां 'प्रकार' अर्थ समझना, अथवा नित्य, नैमित्यिक, काम्य आदि विधि का यहां प्रश्न है) 'अनशायिगण' एक दूसरे प्रकार के जीव होते हैं, ये भगवान् के शयन के बाद निश्चेष्ठ होते हैं। इसके पहले वे त्रिलोकी के कार्य में भगवान् के अनुवर्ती रहते हैं। दैत्य, ज्ञानी लोग और इन दोनों के अनुवर्ती जीवगण भगवत्कार्य में अनुशायी नहीं होते। इनसे अन्य जीव अनुशायी होते हैं। उन अनुशायी जीवों की सृष्टि कितनी और किस प्रकार की होती है? सो सब कहिए।

पाखण्ड-वेदमार्ग विरोधी मत और विधर्म, परधर्म, आभास, उपमा और छलरूप जो पाखण्ड हैं, ये कैसे हुए? और इनका स्वरूप क्या है? सो भी कहिए। अनुशायी जीवों को छोड़कर बाकी रहे जीवों का बन्ध मोक्ष, ज्ञानी और दैत्य जीवों का भी मोक्ष बन्ध, अथवा दोनों के दोनों कैसे होते हैं? सो कहिए और यह भी कहिए कि वह जीव बन्ध और मोक्ष की अवस्था से रहित होकर कैसे रहता है? और उस समय इसका स्वरूप कैसा रहता है ? सो कहिए। इसका उत्तर 'अशरीरं वा वसन्त' इत्यादि वेद से होता है।

भगवान् स्वतन्त्र है। वह इस विश्व में क्यों प्रकट होता है और किस प्रकार अपनी माया के

साथ क्रीड़ा करता है ? जगत् के रूप में किंवा जगत् कैसे रूप में प्रकाशित होकर यह स्वतन्त्र भगवान् कैसे क्रीड़ा करता है? यह कहिए अथवा बैकुण्ठ गोकुलादि में भी कैसे क्रीड़ा करता है, और यह भी कहिए कि माया के साथ सम्बन्ध कर लेने पर विभु भगवान् का चरित्र किस प्रकार का रहता है और माया को छोड़कर जब वे उदासीन होकर स्थिर रहते हैं, तब उनका चरित्र और स्वरूप किस प्रकार का रहता है? सो भी कहिए। जिस स्वरूप की सांख्य सिद्धांत ने प्राप्ति की है यह भी एक भगवान् का स्वरूप है। यह स्वरूप साक्षी कहा जाता है सम में रहता हुआ भी सब से पृथक् रहकर सबको देखते रहना यह विभु साक्षी का स्वरूप है। अब प्रश्न यह है इस कि रूप की तरह ही मूल स्वरूप भी है क्या ? अथवा उसका स्वरूप कुछ और ही तरह का है ? यहां 'विभुः' यह पद इसलिए दिया है कि यह भगवान् दोनों तरह से और रहने और करने के लिए समर्थ है। ऐसी अवस्था में सन्देह होना संभव है। यही आक्षेप गर्भ राजा का प्रश्न है ।।१४—२३।।

आभास—एवमत्यन्तोपयोगिनः प्रश्नान्निरूप्य सामान्यतोऽन्यान्पृच्छन्नुपसंहरति—

आभासार्थ—इस तरह अत्यन्त उपयोगी प्रश्नों को पूछकर राजा अब साधारण रूप से और भी प्रश्न करता हुआ उपसंहार करता है।

श्लोक—**सर्वमेतच्च भगवान् पृच्छतो मेऽनुपूर्वशः ।**
तत्त्वतोऽर्हस्युदाहर्त्तुं प्रपन्नाय महामुने ।।२४।।

श्लोकार्थ—हे भगवन् ! हे महामुने ! ये पूर्वोक्त सब और अन्य भी मेरे प्रश्नों का उत्तर आप क्रमशः वास्तविक देने में पूर्ण समर्थ हैं, यह मैं जानता हूं। मैं इस विषय में आपके शरण हूं, अतः उत्तर दीजिये।

सुबोधिनी—**सर्वमेतच्चेति**। एतत्पूर्वोक्तम्। चकारादपृष्टमपि। भगवन् भवान् पृच्छतो मे मम कार्यार्थम्। अनुपूर्वशः प्रश्नानुपूर्व्येण। यथाजिज्ञासमत्र प्रश्नाः कृताः क्रमेणोत्तरे तथा तथा चित्तं समाहितं भवतीत्यानुपूर्व्येणैव वक्तव्यमित्युक्तम्। अस्मदधिकारानुसारेण वा न वक्तव्यं किन्तु तत्त्वतः। अनेन मतान्तराण्यपि व्युदस्तानि। यद्यपि ममाऽधिकारो नास्ति श्रवणे तथापि त्वमुदाहर्त्तुमर्हसि। श्रोतुरप्यधिकारोऽपेक्ष्यत इति चेत्तत्राह-**प्रपन्नायेति**। प्रपन्नाय हि सर्वं वक्तव्यम्। नचैतदुपचारवचनम्। तद्भवानेव जानातीत्याह-**महामुन इति**। मुनिरन्तःकरणस्थितं जानाति। महामुनिस्तु भाव्यमपीति। मम यत्तत्त्वज्ञानं भाव्यं मम या वा प्रपत्तिस्तदुभयं भवान् जानातीति सम्बोधनम्।। २४ ।।

व्याख्यार्थ—यह पूर्व में जो कुछ पूछ चुका हूं उन सब का और जो नहीं पूछ चुका हूं, उसका भी आप उत्तर दीजिए। हे भगवन् ! मैं अपने कार्य के लिए पूछ रहा हूं। मैंने अपनी जिज्ञासा के अनुसार प्रश्न किये हैं। इसलिए प्रश्नों के क्रम से ही उत्तरों का क्रम भी रखिए (क्रम से उत्तर देने में क्रमशः ही मेरे हृदय को सन्तोष होता चला जायगा। (इसलिए यहां 'अनुपूर्वशः' पद कहा है।) उत्तर देने में आप मेरी असामर्थ्य किंवा मेरे अधिकार पर दृष्टि न दीजिये किन्तु वास्तविक पदार्थों

का निरूपण करिए। इससे यह स्पष्ट होता है कि अन्य मतों का निराकरण अपने आप हो जायगा। यद्यपि इतने उत्कृष्ट वक्ता से इतने उत्कृष्ट सिद्धांतों के श्रवण करने का अधिकार मेरा नहीं है, तथापि आपका अधिकार सिद्ध है इसलिए आप तो कहिए।

यदि आप कहें कि फिर भी श्रोता के अधिकार की भी अपेक्षा रहती ही है, इसलिये तुम्हारे अधिकार के अनुसार उत्तर देना ठीक रहेगा तो कहते हैं कि 'प्रपन्नाय'। मेरा कुछ भी अधिकार नहीं है तथापि मैं आपके शरण आया हूं। शरणागत के आगे सब कुछ तन्त्र करना उचित नही है, प्रपन्न के आगे गोपनीय कुछ नहीं है। यह मैं अपना दैन्य दिखाने के लिए बढ़ाकर नहीं कह रहा हूं, क्योंकि आप महामुनि हैं। सब कुछ जानते हैं। जो किसी के हृदय की बात जान जावे वह मुनि। पर आप तो महामुनि हैं, तीनों काल की बातें जान रहे हैं। तत्वों के विषय में जितना जो कुछ मेरा ज्ञान है, वह भी आप जानते हैं। और जैसी मेरी शरणागति है यह भी आप जानते हैं।

शुकाचार्य दोनों जानते हैं, यह सूचित करने के लिए ही यहां 'महामुने' सम्बोधन है ॥२४॥

आभास—ननु सर्वे मुनयः। सर्वे च सर्वज्ञाः। ते च नानाविधवक्तारः। यथा तेषां पाक्षिकं प्रामाण्यं तथा ममाऽपि भविष्यतीति न शङ्कनीयम्। तदाह—

आभासार्थ—यहां एक यह आशंका हो सकती है कि मेरे सिवाय और भी मुनि हैं, वे सब सर्वज्ञ कहे भी जाते हैं और नाना प्रकार के वक्ता भी हैं ही, तथापि उनका प्रामाण्य पाक्षिक ही है। क्योंकि एक ईश्वर के सिवाय अन्य किसी का भी पूर्ण प्रामाण्य नहीं होता। मैं भी मुनि हूं, वक्ता हूं तो फिर उनकी तरह मेरा भी प्रामाण्य पाक्षिक है, अपूर्ण ही है, इसका उत्तर राजा स्वयं देता है कि—

श्लोक—अत्र प्रमाणं भगवान् परमेष्ठी यथाऽऽत्मभूः।
परे चेहाऽनुतिष्ठन्ति पूर्वेषां पूर्वजैः कृतम् ॥२५॥

श्लोकार्थ—इस भक्ति मार्ग के विषय में तो मैं आपको ही पूर्ण प्रमाण मानता हूं, क्योंकि आप भगवान् हैं, भगवद् गुण युक्त हैं–जैसे परमेष्ठी ब्रह्मा सब की दृष्टि में पूर्ण प्रमाण (यथार्थ वक्ता) हैं, इसी तरह आप मेरी दृष्टि में हैं। मैं ही क्या? मुझ से भी श्रेष्ठ लोग आपके कहे सिद्धान्त के अनुसार चल रहे हैं, और उन्हीं सिद्धान्तों के अनुसार पूर्वों के भी पूर्वज (पुरखा) करते चले आ रहे हैं ॥२५॥

सुबोधिनी—अत्र प्रमाणं भगवानिति। प्रमाणशब्दः अबाधितज्ञाने वर्त्तते। बाधयोग्यव्यतिरिक्ते वा। तत्सम्बन्धी यः प्रमाता प्रमाकरणं वा प्रमाविषयो वा तत्सर्वं प्रमाणमित्युच्यते। केचित्तु प्रमाणशब्दं नानार्थमाहुः। तत्र येषां ज्ञानप्रामाण्यं न व्यभिचरति उत्पत्तिप्रभृत्यामरणं ते प्रमाणशब्देनोच्यन्ते। यथाऽस्मिन्नर्थे वेदव्यतिरिक्ते प्रमेये यथा आत्मभूः प्रमाणम्। यथा ऋषीणामन्योन्यं विरोधाः न तथा कस्यचिदपि ब्रह्मवाक्ये। तस्य परम-

प्रामाण्ये हेतुः—**आत्मभूरिति । परमेष्ठीति ।** परमे तिष्ठतीति । उत्पत्त्या स्थित्या च भगवत्पर इति तत्प्रामाण्यम् । एवं भगवानपि प्रमाणमित्यर्थः । ननु केवलं भगवद्वचनेन कथं प्रामाण्यं भविष्यति, जायमानं वा कथं सर्वजनीनं भविष्यतीत्याशङ्क्याह—**परे चेहाऽनुतिष्ठन्तीति** । परे च मत्तोऽपि ये महान्तः अधिगतपरमार्थास्तेऽपि त्वदुक्तेऽर्थे विश्वासं कुर्वन्त्यनुतिष्ठन्ति च तं पदार्थम् । इह अस्मिन् भक्तिमार्गे । तेषामपि पूर्वेषां पूर्वजैः कृतम् । त्वदुक्तोऽर्थः सर्वैरेवाऽनुष्ठितः सर्वैरेव क्रियते । अतस्त्वद्वाक्यं सर्वत्र प्रमाणम् । अथवा अस्माकं साक्षाद्भगवानेव प्रमाणम् । परे अन्ये तु स्वपूर्वेषामपि ये पूर्वजास्तैर्यत्कृतं तदेवाऽनुतिष्ठन्ति । **च**स्त्वर्थे । न तु प्रमाणं किञ्चिद्विचारयन्ति । अस्माकं तु त्वदुक्ते न सन्देह इत्यर्थः ।। २५ ।।

व्याख्यार्थ—जगत् के तत्व को समझाने के लिए पहला साधन ज्ञान है, पर वह बाध विरोध रहित होना चाहिये । ऐसे ज्ञान को ही प्रमाण कहते हैं । अथवा बाध योग्य ज्ञान से भिन्न ज्ञान को प्रमाण कहते हैं । तत्संबन्धी ज्ञान रखने वाला प्रमाता, किंवा वैसी बुद्धि, अथवा जानने योग्य अबाधित विषय, तीनों प्रमाण अर्थात् विश्वास करने योग्य कहे जाते हैं । कितने ही लोग 'प्रमाण' शब्द को बहुत अर्थ वाला कहते हैं । अस्तु तात्पर्य तो इतना ही है कि जिन महापुरुषों का ज्ञान उत्पत्ति से लेकर मरणपर्यंत कभी भी बाधित, विरुद्ध या भूल वाला नहीं होने पाया वे यहां 'प्रमाण' शब्द से कहे गये हैं । यथा अर्थात् वेद से विलक्षण इस भक्ति मार्ग में आप, और जैसे वेदार्थ के विषय में आत्म भू ब्रह्मा, आप दोनों प्रमाण कहलाते हैं । जिस तरह ऋषियों के वचनों का अनेक जगह परस्पर विरोध और बाध रहता है, वैसा किसी को भी ब्रह्मा के वाक्य में कभी विरोध और बाध नहीं होता । उसका कारण है कि वह 'परमेष्ठी' है । परमे तिष्ठतीति । अर्थात् उत्पत्ति से लेकर जब तक रहता है वहां तक वह सर्वदा परम श्रेष्ठ भगवान् में ही तत्पर रहता है । इसलिए उसको 'प्रमाण' कहते हैं। इसी तरह आप भी सर्वदा भगवत्पर रहते हो, इसलिए भगवान् हो और परम प्रमाण भी हो ।

कदाचित् कोई कहे कि केवल भगवान् का वचन होने से ही सबको प्रमाण कैसे हो सकता है? क्योंकि सबको भगवान् के वचन समझ में आवे तब न । जो समझ में ही न आवे वह 'प्रमाण' कैसे ?

इसके उत्तर में कहते हैं कि 'परेचेहानुतिष्ठन्ति' । मुझसे बड़े जिन्होंने परम तत्व को समझ लिया है वे महन्त लोग भी आपके कहे पदार्थ में व सिद्धांत में विश्वास करते हैं और उसके अनुसार अनुष्ठान भी करते हैं, और विशेषकर इस भक्तिमार्ग के विषय में उनके पुरखाओं के भी पुरखाओं ने स्वीकार किया है । अर्थात् आपके कहे सिद्धांत को सब ने स्वीकार किया और आज कर भी रहे

हैं, इसलिए आपका वचन सर्वत्र प्रमाण है। अथवा[1] हमारे लिये तो भगवान् (आप ही) प्रमाण हैं पर दूसरे लोग तो प्रमाण्याप्रण्यक विचार किये बिना ही अपने पूर्वज और पूर्वजों के पूर्वजों ने जो कुछ किया तदनुसार ही करते हैं। उनको सदाचार ही प्रमण है, किन्तु मुझे तो आपके वचन में सन्देह ही नहीं है ॥ २५ ॥

आभास—किञ्च। त्वद्वचनादेव जीवामि। अन्यथा मरणमेव स्यात्। तक्षकाख्य-महाभयस्य श्रुतत्वात्। तदाह—

आभासार्थ—विशेषकर मैं तो आपके वचनों से ही जी रहा हूं। अन्यथा तक्षक रूप महाभय का श्रवण कर चुका हूँ। अतएव उस भय से ही मेरा मरण हो जाता सो राजा कहता है—

श्लोक—**न मेऽसवः परायान्ति ब्रह्मन्ननशनादमी ।**
पिबतोऽच्युतपीयूषमन्यत्र कुपिताद्द्विजात् ॥२६॥

श्लोकार्थ—हे ब्राह्मण-श्रेष्ठ ! मैं आपके मुख से भगवत्कथा-सुधा का पान कर रहा हूं, इसलिये कुछ भी भोजन न करने पर भी मेरे प्राण ठहरे हुये हैं, निकले नहीं हैं। हां यह बात दूसरी है कि कुपित ब्राह्मण ने जो शाप दे दिया है उसमें कुछ फेर-फार नहीं हो सकता ॥२६॥

सुबोधिनी—न मेऽसवः परायान्तीति। मे असवः प्राणाः अनशनादपि न परायान्ति नाऽपगच्छन्ति। **ब्रह्मन्निति** सम्बोधनं तज्ज्ञानाय। अनशनं हि प्राणनिवारकम्। **अमीति** बाधितप्राणानां प्रदर्शनम्। राजत्वादेकेनैवोपवासेन क्लिष्टः। अगमने हेतुमाह— **पिबतोऽच्युतपीयूषमिति।** अच्युतस्य सम्बन्धि कथारूपं पीयूषम्। अच्युत एव वा पीयूषम्। अनेन स्वस्योत्तमाधिकारो द्योतितः। ननु यथेदममृतं क्षुधं निवारयति तथा शापमपि निवारयिष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह— **अन्यत्र कुपिताद्द्विजादिति।** अनेन कथामृतेन सर्व एव प्राणोपघातका निवर्त्तन्ते। परं यः कुपिताद्द्विजात् तक्षकाख्यो यः प्राणोपघातकः स न निवर्त्तते। अन्यथा स कोपस्तमेव द्विजं नाशयेत्। मृत्युना ह्याक्रांतः कोप एकं सर्वथा नाशयति। तत्र ब्राह्मणमरणापेक्षया स्वमरणमेव वरमित्य·

१. मुझे श्रीमद्वल्लभाचार्य के वचनों में पूर्ण विश्वास है कि वे संदिग्धार्थ का प्रतिपादन कभी नहीं करते। ग्रंथ में जहां कहीं पक्षांतर किया जाता है वहां अवश्य कुछ अरुचि रहती ही है और अरुचि का मूल संदिग्धार्थ होता है। वल्लभाचार्य के वचनों में संदिग्धार्थ नहीं है अतएव पक्षांतर भी नहीं है किन्तु सुबोधिनी के मूल भागवत् के बिना ही अनेक जगह 'अथवा' पक्षांतर पाये जाते हैं। मेरी समझ में ये सब पीछे से पण्डितों की चतुराई हुई है किंवा लेखक प्रमाद से सुबोधिनी में सम्मिलित हो गये हैं, किन्तु मुझे श्रीवल्लभाचार्य में पूर्ण प्रामाण्य रहते भी अपने आप पर विश्वास नहीं रहता अतएव इन पक्षांतरों का भी अनुवाद कर दिया है। यहां पक्षांतर में शास्त्र का अप्रामाण्य आता है।

— अनुवादक

स्मत्कामनया सर्वनिवारकमपीदममृतं तन्न निवारयिष्यतीत्यर्थः ।

एवमापाततः प्रश्नार्थो निरूपितः । अस्याऽध्यायस्य विमर्शमध्यपातात् विमर्शोपयोगी कश्चन पदार्थो वक्तव्यः । तत्रोपपत्तिविमर्शस्योपक्रांतत्वादुपपत्तोश्चिरूपत्वादाक्षेपसिद्धांतफलेषु प्रथममाक्षेपो वक्तव्यः । स सर्वाक्षेपकश्चेत् श्रोतुरधिकारं प्रच्यावयेदिति सप्ताध्याय्यां यत्प्रमेयं निरूपितं तत्र सम्मतस्य पर्यवसानपर्यन्तं स्वबोधं निरूप्य यत्रैव पर्यवसानज्ञानं तद्यथाश्रुतमाक्षिपतीति पूर्वपक्षाध्यायोऽयमिति मन्तव्यम् । अन्यथा पूर्वाध्यायानां स्वस्य वा वैयर्थ्यमापादयेत् । प्रश्नैतावत्त्वं चाऽसङ्गतं स्यात् । अनन्ता एव प्रश्नाः कर्त्तव्याः स्युः । ते आक्षिप्यन्ते । अन्ये च पर्यवसितार्थकथनेन स्वबोधविषया जाता इति बोध्यन्ते । अन्यथा शृण्वत इत्यादिश्लोकैर्निरूपितं प्रमेयं शुकेनाऽनिरूपितमित्यप्रामाणिकं स्यात् । गुरोर्वा शङ्कामुत्पादयेत् । तस्मात्सप्ताध्याय्येवात्र पूर्वपक्षेण विचार्यते । तत्र प्रथमं श्रोतव्यादीनीति श्लोकत्रयेण साधारणाधिकारं निवार्य अभयमिच्छतां य उपायः कथितः सोऽनुपपन्नः । ब्रह्मणा नानाधिकारेण प्रमेयवक्तव्यत्वोपदेशात् । तदाह—**ब्रह्मणा नोदित इति** । इदमेव हि तत्त्वमधिकारभेदेन सर्वं निरूपणीयमिति । अतः केषाञ्चिदधिकारः केषाञ्चिन्नाऽऽधिकार इति पक्षो न सम्भवति । "**सर्वेऽधिकारिणो ह्यत्र विष्णुभक्तौ यथा नृपे**"ति वाक्यविरोधश्च । अतः **एतद्वेदितुमिच्छामीति** । वचनम् । यदप्युक्तं केवलं भगवान् श्रोतव्य इति । तदप्यनुपपन्नम् । अद्भुतवीर्यस्यैव श्रोतव्यत्वात् । अन्यथेदं वक्ष्यमाणं फलमनुपपन्नं स्यात् । चरित्रमात्रत्वे भगवान् स्वभावत एव प्रविष्ट इति कस्याऽपि संसारो न स्यात् । शास्त्रवैफल्यं च । तदाह-**हरेरद्भुतवीर्यस्येति** । अद्भुतवीर्यस्य कथा अद्भुतवीर्यरूपाः । तथा सति श्रवणादीनां दृष्टमेव द्वारं स्यात् । अन्यथा त्वदृष्टकल्पना प्रसज्येत । दोषाणां प्रतिबन्धकत्वाच्च न फलम् । "**गुणानुषक्तं व्यसनाय जन्तोरि**"ति वाक्यविरोधश्च । तदाह—**यथाऽहमखिलात्मनीति** । श्रवणादिना भगवति मनोनिवेशने अस्मिन् जन्मन्येतावदेव फलम् । जन्मान्तरे त्वन्यत्। यदुक्तं अल्पेनैव कालेन कार्यं सिद्ध्यतीति । तदप्यसङ्गतम् । दृष्टोपाये भगवतो बहुकर्त्तव्यत्वात् । तदाह—**शृण्वत इति** । स्वार्थं तु मनोनिवेशनमेव । अत एव निर्धार्य वदति—**त्यक्ष्ये कलेवरमिति** । ततो भगवान् मनसा गृहीत इति जन्मान्तरे भगवत्सेवौपयिकं शरीरं निष्पादयति तदानीं **स्वानामिति** भविष्यति भावसरोरुहत्वं च । बहिःस्थितस्यैवाऽन्तःप्रवेशने कार्यसिद्धिर्न त्वन्तःस्थितेन कार्यम्। यथा **दार्वग्निना** । तदाह—**विशत इति** । अन्यथा प्रक्रियांतरे रागाभावो जन्मशतेऽनापि न स्यात् । शरीरेन्द्रियाणां गुणकार्यत्वात् । अस्यां प्रक्रियायां तु प्रकर्षेण आग्रहेण प्रविष्टः शमलं धुनोति । तदा च शिथिलावयवत्वे मूलबन्धात्प्रच्यावे गुणैरेवाऽग्रिमकार्यं स्यात् । अतो धुनोतीत्येवोक्तम् । तदा द्वितीयमभयं भवति । न भयं यस्मादिति अभयरूपो भगवान् मनसा प्राप्तः । अतो मृत्युगृहीतशरीराद्यभावात् न विद्यते भयं यस्येति द्वितीयं फलति। सिद्धांतफलैरग्रिमदशमस्कन्धार्थेऽवगते न भयमस्मादिति भयनाशक एव स्वयं भविष्यति । तद्वक्ष्यति—"**मृत्यवो नव धक्ष्यन्ति मृत्यूनां मृत्युमीश्वरमि**"ति । अन्यथा प्रथमपक्ष एव पर्यवसाने गुरोरप्रयोजकता स्यात्। तस्मादेतस्यैव त्रयं भवति । यदप्युक्तं जीवानां स्वभावक्रिययाऽनर्थो भवतीति । तदप्यसङ्गतम्। जीवानां किं स्वभावत एव देहादिसम्बन्ध ईश्वरेच्छया वेति । आद्ये सर्वेषामेवाऽनिर्मोक्षप्रसङ्गः । द्वितीये न ते पर्यनुयोगमर्हन्ति । भगवतैव तथा सम्पाद्यमानत्वात् । एतदभिप्रेत्याह—**यदधातुमत इति** । यदप्युक्तं श्रोतव्यं भगवद्विशेषणचतुष्टयं सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वर इति । तदप्यसङ्गतम् । तदाह-**आसीद्यदुदरात्पद्ममिति** । सर्वात्मा

भगवान् श्रोतव्यत्वेन निरूपितः। तस्योदराच्च पद्मजननं निरूपितम्। पद्माधारत्वेन तस्य पद्माद्भिन्नत्वात् जगतश्च पद्माधारत्वात् सर्वात्मत्वं नोपपद्यते। औपचारिकप्रयोगस्तु न फलजनक इति सिद्धम्। किञ्च। भगवत्त्वं च नोपपद्यते। तदाह–**यावानयं वै पुरुष इति**। प्राकृततुल्यत्वादित्यर्थः। हरित्वं च नोपपद्यते। तदाह—**अजः सृजतीति**। भगवदनुग्रहमपि प्राप्य यतोऽयमजः सर्वभूतजातं सृजति। महति कर्मणि व्यापृतोऽतिखिन्नः। भूतात्मा च जायते तत्तत्स्वभावं प्राप्नोति। एतदेवाऽग्रे वक्ष्यति— "**शयानो बहुचिन्तये**"ति। ईश्वरत्वं च नोपपद्यते। तदाह— **स चाऽपि यत्र पुरुष इति**। अस्याऽपि प्राकृततुल्यत्वं जगत्कार्यव्यापृतत्वं मायाग्रहणपरित्यागक्लेशः शयनं गूढस्थानस्थितिरिति। यदप्युक्तं पातालमेतस्येत्यादि। तदप्यसङ्गतम्। तदाह— **पुरुषावयवैरिति**। अन्योन्यविरोधादुभयमप्यसङ्गतमिति भावः। यदप्युक्तं इन्द्रादयो बाहव आहुरिति। तदप्यसङ्गतम्। कल्पभेदानां विद्यमानत्वात् प्रतिकल्पमिन्द्रादीनां नानात्वात् बाहूनामनियतत्वापत्तिः। अधिकारशब्दत्वेऽप्यधिकृतानां भेदात् स दोषस्तदवस्थः। इन्द्रत्वधर्मस्याऽबाहुत्वात्। यदप्याहुरित्युक्तं प्रमाणं। तदप्यसङ्गतम्। विकल्पानां विद्यमानत्वात्। विकल्पा युगभेदाः। ब्रह्मकल्पांतरकल्पा वा। उभयेषामपि प्रतिकल्पं भिन्नत्वान्न बाहुप्रमाणयोर्व्यवस्था। किञ्च। यदप्युक्तं कर्णौ दिश इति। दिशामव्यवस्थितत्वात्कर्णत्वं नोपपद्यते। दिशस्तु सूर्येण क्रियन्ते। "**सूर्येण हि विभज्यन्ते दिश**"इति वाक्याद्यत्रोदेति सा प्राचीत्यादि। अतः कालानुमापके सूर्ये विचार्यमाणे दिशो न सन्त्येव कुतस्तासां कर्णत्वम्। व्यवहारस्तत्वौपचारिकैरपि भवति। पदार्थनिर्णयस्तु नैवंविधः। यदप्युक्तं श्रोत्रममुष्य शब्द इति। तदपि नोपपद्यते। कालभेदेनैव शब्दानां प्रवृत्तत्वात्। तदाह—**भूतभव्यभवच्छब्द इति**। एते ह्येकदा न प्रवर्त्तन्त इति श्रोत्रं नियतं न स्यात्। शब्दविशेषस्य श्रोत्रत्वे तु सर्वरूपत्वमुपसंह्रियमाणमसङ्गतं स्यात्। यदप्युक्तं नासत्यदस्रौ परमस्य नास इति। अश्विनीकुमारयोरायुर्वेदप्रवर्त्तकत्वं वक्तव्यम्। तदाऽऽयुषः स्वरूपं विचारणीयम्। किं भगवद्दत्तमायुः प्राणिनां नियतमनियतं वेति। उभयथाऽपि नासत्ययोरप्रयोजकत्वम्। अतः स्वत आयुर्माने विचार्यमाणे अश्विनयोरेवाऽनिरूप्यत्वात् नासिकात्वं दूरे। एवं घ्राणोऽस्य गन्धो मुखमग्निरिद्ध इति। गन्धश्चाऽग्निश्च त्रिक्षणावस्थायां। अतः कालस्याऽनुगतिः स्थूला वा सूक्ष्मा वा यदि विचार्यते तदा गन्धाग्नी द्यौश्च न सङ्गच्छन्त इत्यर्थः। किञ्च। चक्षुरभूत्पतङ्गः पक्ष्माणि विष्णोरहनी उभे चेति पूर्ववत्। यतः कर्मगतिषु विचार्यमाणासु केनचित्कर्मणा सूर्यस्य परावृत्तौ सूर्यानिन्तत्वे च दिनरात्रिव्यवस्थायाः सूर्यगतिकृतत्वात् तस्याश्च कर्मरूपत्वात्। भगवच्चक्षुरेव नोपपद्यते न वा पक्ष्माणि। यादृशीरिति तस्यैवाऽवान्तरभेदः। किञ्च। यदुक्तं तद्भ्रूविजृम्भः परमेष्ठ्यधिष्ण्यमिति। तदपि कर्मसाध्यमेव। तदाह–**यस्मिन् कर्मसमावाय इति**। अयं ब्रह्मा गुणानां गुणिनां च कर्मसमावाय उक्तः। तत्र का भगवद्भ्रूविजृम्भा। एतेनैव आपोऽस्य तालू रस एव जिह्वेत्याक्षिप्तमेव। अनेन यानि कानि गोलकत्वेन निरूपितानीन्द्रियत्वेन च तानि सर्वाण्याक्षिप्तानि वेदितव्यानि। किञ्च। आपोऽस्य तालू इत्यारभ्याऽसुरानीकवर्य इत्यन्तेनोक्ताः पदार्था विशेषसामान्यविचारेण गतार्था भविष्यन्तीति विशेषपदार्थानाधाराधेयभावापन्नान् दशपदार्थान्निरूपयति—**भूपातालेति**। एतेषां दशपदार्थानां स्वकार्यसहितानां विचारे क्रियमाणे सामान्यतो ब्रह्माण्डे च विचार्यमाणे ब्रह्मांडमेवाऽऽयाति। न भगवान् भगवदवयवा वा केनाऽपि प्रकारेण सङ्गच्छन्ते। तस्मात्सिद्धं ब्रह्मांडं दूरीकृत्य पुरुषत्वकल्पना व्यर्थेति भावः। असुरानीकवर्य इत्याक्षिपति—**महतां चाऽनुचरितमिति**। ब्रह्माननमित्यादि वर्णाश्रमविनिश्चयेन। यदुक्तं नाना-

भिधाभीज्यगुणोपपन्न इति। अत्र यो यज्ञो निरूपितो भगवत्कर्मत्वेन तस्याऽप्राकृतत्वान्नित्यत्वाच्च पूर्वोक्तदोषसम्बन्धाभावात्तदेकमुपपद्यत इत्याशङ्क्य नवपदार्थविचारेण तदपि प्रत्युक्तं भविष्यतीति नवपदार्थान्पृच्छति— **अवतारानुचरितमिति** द्वाभ्याम् । यागो हि देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागात्मकः । तत्र देवता द्रव्यं क्रिया चेति त्रयं देशादयः षडङ्गानि एवं नव । तत्र देवता भगवदवतारेण विचारिता भवति । स चाऽवतारो लोक इति लौकिकः । युगानि तु विचारणीतानि । तेषु विचारितेषु द्रव्यमपि निराकृतं भविष्यति । यथा "**यज्ञवास्त्वभ्यवायन् ते पश्यन् पुरोडाशं कूर्मभूतं सर्पन्तमि**"ति । एतत्कर्म कदा। युगेषु वा युगेभ्यो भिन्नकाले वा । युगविशेषे चेत्ततः पूर्वं द्रव्याभावाद्यागो न स्यात्। एवमन्यत्राऽपि । युगमाने च विचार्यमाणे यागानामन्यथात्वात्क्रियैव न सङ्गच्छते । यथा त्रेतामुखे यज्ञोत्पत्तिः । किञ्च । युगधर्मः कालः । नृणां साधारणो धर्म इति देशः । सविशेषो यादृश इति द्रव्याणि गुणभेदभिन्नानि द्विधा निरूपितानि । श्रेणीनामिति कर्त्तारः । राजर्षीणामिति मन्त्राः । धर्मकृच्छ्रेष्विति कर्माणि । अत एव षट्सु धर्मप्रयोगोऽङ्गत्वख्यापनाय । यदप्युक्तं इयानसावीश्वरविग्रहस्येति । तदपि तत्त्वविचारेण प्रत्याख्यातं भविष्यति । तत्त्वानामेकदेशेन ब्रह्माण्डनिर्माणम् । तत्र "**न यतोऽस्ति किञ्चिदि**"ति वचनमनुपपन्नं स्यात् । अतःपरं द्वितीयाध्यायारम्भः । तत्रादावेव यदुक्तम् एवं पुरा धारणयेति । तदसङ्गतम्। तत्त्वानां लक्षणविचारेण । लक्षणं तेषां सृष्टिकरणसामर्थ्यम् । तस्यैवाऽसाधारणधर्मत्वात् । तस्मिन् ज्ञाते तदंशैरेव ब्रह्मणि प्रविष्टैः कार्यसिद्धेस्तस्य ज्ञानादीनां वैयर्थ्यापत्तिः । यदपि शाब्दस्य हि ब्रह्मण एष पन्था इत्यादिभिर्वैराग्यपुरःसरं स्वचित्ते स्थितं भगवन्तं चिन्तयेदिति । तदपि तत्त्वानां हेतुपूर्वकलक्षणे विचार्यमाणे पूर्ववद्भविष्यति । तत्र चित्तस्य मत्तत्त्वरूपत्वान्महति विद्यमान एव भगवांस्तत्र भवतीति स्वचित्ते कः सिद्धः । आत्मनश्च सिद्धिस्तत्र दूरापास्ता। "**चित्तं तन्महदात्मकमि**"ति हेतुलक्षणम् । यदप्युक्तं केचित्स्वदेहान्तर्हृदयावकाश इति । तदपि पुरुषपूजायां विचार्यमाणायां "**मनोमयी मणिमयी**"ति वाक्यान्मानसी मूर्त्तिः सा । स कथं भगवान् भवेदिति । स्थूलसूक्ष्मधारणासिद्ध्यर्थं योगद्वयं निरूपितम् । तदपि योगस्वरूपे विचार्यमाणे चित्तवृत्तिनिरोधत्वादसङ्गतमेव भविष्यति । यदप्युक्तं स्थिरं सुखं चाऽऽसनमास्थितो यतिरिति । तदप्यसङ्गतम् । जीवत एव योगिनः सर्वलोकगमनसम्भवात् किं मरणेन । यथा कर्दमस्य ऐश्वर्यपदेन चाऽर्जुनादयोऽप्यनेनैव देहेन स्वर्गं गताः परिगृहीताः । यदप्युक्तं आनन्दमानन्दमयेऽवसान इति । तदपि योगिनो लिङ्गभगे विचार्यमाणे असङ्गतं भवति । यदप्युक्तं भगवान् ब्रह्म कात्स्न्र्येनेति । तदपि वेदविचारे क्रियमाणे असङ्गतं भवति। यदि भगवानात्मा । सिद्धमेव तस्मिन् प्रेम । उपदेशश्च व्यर्थः । नाऽस्ति चेत्प्रेम तदा न स आत्मा । अज्ञानादात्माप्यात्मत्वेन न ज्ञात इति चेत्परात्मवत् । तदाप्यात्मत्वमेवोपदेष्टव्यम् । न च प्रेमार्थं यत्नः कर्तव्यः । यदपि कामानाभेदेन देवतांतरभजनमुक्तं तदपि वेदादिविचारे असङ्गतमिति तृतीयादिः । वेदे हि तदर्थमन्यदेव साधनं निरूपितमिति । भक्त्यर्थंनिरूपणं तु भक्तिनिराकरणेनैव निराकृतम् । यदप्युत्पत्त्या विमर्शनमुक्तं तदपि सम्प्लवादिविचारेण निराकृतं भविष्यति । यदिदं जगत् प्रलयं यास्यति प्रवृद्धं वा भविष्यति कारणे वा लीनं भविष्यति । तदा किं भगवतः सकाशादुत्पत्त्या । स्वत एवोत्पद्यतां अन्यथा वा । विशेषाभावात् । यदपि यज्ञादीनां स्वरूपनिर्वाहार्थं भगवदवयवकल्पना निरूपिता । सापि इष्टापूर्त्तादिविचारेण निवारिता भवति । लौकिकैरलौकिकैर्वा पदार्थैर्योगे निष्पन्ने भूतसंस्कारे आत्मसंस्कारे वा भगवत्संस्कारे वा फलतो वा न कश्चिद्विशेषः। भगवदीयत्वादेस्त्व-

न्यथैव सिद्धेः। यदप्युक्तमात्मानं सृजतीति, तदप्यनुशायिनां सर्गे विचार्यमाणे निराकृतं भविष्यति। यतस्ते भगवद्विलक्षणा वक्तव्याः। यदप्युक्तं तत्त्वं परं रूपवदस्वरूपमिति। तदपि पाषण्डधर्मे विचार्यमाणे निराकृतं भविष्यति। दैत्यानां व्यामोहनार्थे पाषण्डोत्पत्तिः। दैत्याश्च के भगवानन्यो वा। भगवांश्चेत् सापि भगवल्लीलेति पाषण्डत्वमेव न स्यात्। भक्तिरपि निराकृता भवति। पाषण्डत्वेऽपि स्थिरीभूते न दैत्यानां भगवत्त्वम्। यदप्युक्तं कर्णकषायशोषानिति। तदप्यसङ्गतम्। चिदात्मनो बन्धमोक्षौ विचार्येते। बन्धो भगवदिच्छया मोक्षश्च। तत्र किं कर्णकषायशोषणेन। भिन्नतया चाऽवस्थाने निरूपिते सर्वमेव साधनं व्यर्थं स्यात्। भगवद्रूपत्वात्तस्य। अवतारवर्णनं च व्यर्थम्। भगवतो मायायां क्रीडनमेव तादृशमिति सर्वमेव जगदवतारो भवति किं विशेषेण। मायापरित्यागे अवतारलीलामपि परित्यजेत्। यदप्युक्तं त्वमेतद्विपुलीकुर्विति। तदपि न वक्तव्यम्। यथा भवान् भक्तिरसेन वदति तत्किं कस्कचित्प्रेरणया। प्रामाण्यं च त्वय्येव सिद्धम्। तदाह—**अत्र प्रमाणमिति**। यदप्युक्तं मायां वर्णयत आत्मा न मुह्यतीति। तदप्यल्पमसङ्गतं च। यतो मम प्रायेणाऽपि प्राणा न गच्छन्ति श्रूयमाणमपि तक्षको भक्षयिष्यति ॥ २६ ॥

व्याख्यार्थ—हे ब्रह्मन् मेरे प्राण अभी तक दो दिन से न खाने पर भी निकल नहीं सके। आप सर्वज्ञ हैं। इसलिए इस बात को समझ सकते हैं यहां इसीलिये 'ब्रह्मन्' ये सम्बोधन दिया है। प्राणों को क्लेश पहुंच चुका है, यह दिखाने के लिए 'अभी' ये पद दिया है। परीक्षित राजा है इसलिए एक उपवास में ही दुःखी हो गया है। भोजन बिलकुल न करने से उसके प्राणों का निकलना सम्भव है, पर नहीं निकले या नहीं निकलते हैं। इसका कारण बताते हैं कि 'पिबतोऽच्युत' इत्यादि। अच्युत् श्रीकृष्ण से सम्बन्ध रखने वाली कथा सुधा का पान कर रहा हूं इसलिये। अथवा अच्युत श्रीकृष्ण ही अमृत रस है। इस पद से राजा ने अपना उत्तमाधिकार सूचित किया है।

यहां एक यह प्रश्न होता है कि यह कृष्ण कथारूप अमत जिस तरह क्षुधा का निवारण कर रहा है इसी तरह ब्राह्मण कोप से होने वाली मृत्यु का भी निवारण कर देगा? इसके उत्तर में राजा कहता है कि 'अन्यत्र'। यह बात नहीं हो सकती और न मैं यह चाहता ही हूं। यह बात ठीक है कि इस कथामृत से प्राणघातक सब ही विघ्न दूर हो जाते हैं किन्तु ब्राह्मण के कोप से प्राप्त होने वाला प्राणोपघातक दूर नहीं हो सकता। यह तक्षकरूप मेरी मृत्यु यदि हटे तो फिर वह उसका कोप उस ब्राह्मण का ही नाश कर दे। मृत्यु के वेग से दबा हुआ कोप एक का नाश तो जरूर करेगा। ऐसी अवस्था में ब्राह्मण का मरण हो उसकी अपेक्षा तो मेरा मरण हो यह अच्छा है, इसलिए मैं यह चाहता हूं कि यह सर्वघातकों का निवारण करने वाला कथामृत कोप रूप घात का निवारण न करे। और निवारण नहीं[1] ही करेगा यह मुझे निश्चय है ॥ २६ ॥

---

१. इसके आगे एक स्वतन्त्र लेख सुबोधिनी में सम्मिलित हो गया है, क्योंकि 'एवमापाततः प्रश्नार्थो निरूपितः।' यह प्रारम्भ स्वोक्त में अरुचि और अप्रामाण्य प्रकट करता है, सो श्रीवल्लभाचार्य की कृति में सम्भव नहीं। आक्षेपगर्भ प्रश्नों की सूचना तो सर्वत्र सुबोधिनी में ही कर चुके हैं। केवल आक्षेप ही आक्षेप तो युक्त भी नहीं।

—अनुवादक

आभास—एवं पूर्वपक्षे कृते भगवन्माहात्म्ये स्थिरीकृते शुकस्य सन्तोष एव जातो न क्रोध इत्याह—

आभासार्थ—इस तरह जब राजा ने पूर्वपक्ष किया तब श्री शुकदेवजी को क्रोध नहीं आया किन्तु राजा पर उन्हें सन्तोष हुआ। क्योंकि राजा ने केवल आक्षेप ही आक्षेप न करके प्रश्नों में ही भगवन्माहात्म्य को भी स्थिर कर दिया था इसलिए प्रसन्नता हुई सो कहते हैं—

सूत उवाच—श्लोक—स उपामंत्रितो राज्ञा कथायामिति सत्पतेः।
ब्रह्मरातो भृशं प्रीतो विष्णुरातेन संसदि ॥२७॥

श्लोकार्थ—सूतजी बोले—इस तरह भगवान् से रक्षित राजा परीक्षित ने जब शुकदेवजी को सन्तों के स्वामी श्रीकृष्ण की कथा कहने के लिये प्रेरणा की प्रार्थना की तब सभा में बैठे हुये श्रीशुकदेवजी राजा पर बड़े ही प्रसन्न हुए ॥ २७ ॥

सुबोधिनी—स उपामन्त्रित इति। स शुकः। उपामन्त्रितः प्रार्थितः। **"उपामन्त्रयन्त राज्येन पितरो यमि"**त्यत्र तदर्थनिर्द्धारात्। **इति** एवं-प्रकारकथायाम्। युक्तिपूर्वं भगवद्गुणा निरूपणीया इति। तथा सति भगवतो महत्सुखं भवति। सत्पतित्वात्। तथा सति निःसंदिग्धो भगवल्लीलाप्रत्ययो भवतीति भगवत्तोषहेतुरयं प्रश्न इति भावः। तत्राप्ययं ब्रह्मरातः ब्रह्मणा वेदेन रक्षितः। अस्मदर्थे युक्तिमयं कथयिष्यतीति। अत एव भृशं प्रीतः। मम जन्मसाफल्यं जातमिति। राजा च विष्णुरातः। विष्णुना एतदर्थमेवाऽयं संरक्षितः। यदयं क्षोदपूर्वं निःसंदिग्धं मां ज्ञास्यतीति। अत एव स्वजन्मसाफल्यार्थं सभायामेव पृष्टवान् ॥ २७ ॥

व्याख्यार्थ—श्री शुकदेवजी से राजा ने इस तरह प्रार्थना की। 'उपामन्त्रयन्त' इत्यादि वाक्य में उपामन्त्रण शब्द का प्रार्थना अर्थ निर्धार किया है। 'इति' का अर्थ है कि इस तरह कथा कहने के लिए। अर्थात् भगवान् के गुणों का निरूपण युक्ति पूर्वक कीजिए क्योंकि भगवान् सत्पति भक्तों के स्वामी है। अतएव जब कोई उनका भक्त युक्तिपूर्वक गुणों का निरूपण करता है तो उन्हें बड़ा सुख होता है, और इस तरह कहने से श्रोताओं के हृदय में सन्देह रहित भगवल्लीलाओं की समझ बैठ जाती है इसलिये यही भगवान् को संतोष होता है, राजा के प्रश्न का यह भी तात्पर्य है। उसमें भी ये शुकदेवजी ब्रह्मरात है, अर्थात् वेद ने इनकी रक्षा कर रखी है। वेद का कथन अति संक्षेप में एवं परोक्षरूप से होता है। श्री शुकदेवजी उस (वेद के) हमारे अर्थ को युक्तिमय बनाकर कह सकेंगे। इसलिए वेद ने इनकी रक्षा की है। श्री शुकदेवजो जीवन्मुख थे अतएव वेदार्थज्ञान ने ही उनका जीवन चला रखा था। श्री शुकदेवजो ने समझा कि राजा ने भगवन्माहात्म्य का प्रश्न करके मेरे जीवन को सफल बना दिया है, इसलिए वे खूब ही प्रसन्न हुए। राजा परीक्षित भी 'विष्णुरात' है। श्रीकृष्ण कथा सुनवाने के लिए ही श्रीकृष्ण ने ब्रह्मारम्भ से उसकी रक्षा की है। श्रीकृष्ण जानते थे कि यह परीक्षित मेरे विषय में खूब विचार-विचार कर ज्ञान सम्पादन करेगा। एतावता राजा ने भी अपने जन्म की सफलता रहने के लिए बीच सभा में यह प्रश्न किया ॥२७॥

आभास—एवं युक्तिपूर्वकं भगवत्कथायां वक्तव्यायां लौकिकी युक्तिरप्रयोजिकेत्युपपत्तिरूपं भागवतमेवोक्तवानित्याह—

आभासार्थ—इस तरह से युक्तिपूर्वक भगवत्कथा कहने का निर्णय हो चुका किन्तु इसमें लौकिक युक्ति किसी काम की नहीं, इसलिए शास्त्रों में जो उपपत्ति (युक्ति) पूर्वक भगवच्चरित्र (भागवत्) वर्तमान था, उसका ही निरूपण करना प्रारम्भ किया सो कहते हैं—

श्लोक—**प्राह भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम् ।**
ब्रह्मणे भगवत्प्रोक्तं ब्रह्मकल्प उपागते ॥२८॥

श्लोकार्थ—जिस समय ब्रह्म कल्प (समय का एक खण्ड) था उस समय भगवान् ने जो ब्रह्माजी से कहा वह भागवत श्रीशुक ने राजा से कही। यद्यपि यह भागवत नामक पुराण, पुराण रूप से ही कहा गया है पर वेद के अर्थ से नपा तुला था, अर्थात् वेदवत् था ॥२८॥

सुबोधिनी—**प्राह भागवतं नामेति** पुराणमिति प्रमाणम् । **ब्रह्मसम्मितमित्**युक्तिसहितम् । ननु कति भागवतानि सन्ति । बहुषु स्थलेषु भिन्नप्रकारेण भागवतकथनाच्छङ्का । तत्राऽऽह-**ब्रह्मणे भगवता प्रोक्तमिति** । विषयात्मकं तु भागवतमनेकधा । विमर्शात्मकं तु द्वेधा । तत्रोत्पत्तिप्रकारेण निरूपितं ब्रह्मणा नारदायोक्तम् । उपपत्तिप्रकारेण तु ब्रह्मणे भगवता प्रोक्तम् । अत्र स्थूले भागवते सर्वे प्रकारा उपनिबध्यन्ते । भागवतप्रवृत्तेरनेकधात्वज्ञापनाय । तत्राऽन्यस्य पदार्थस्य ब्रह्मणा स्वयमेव ज्ञातत्वादुपपत्तिः परं वक्तव्या नान्यदिति वक्तुं ब्रह्मकल्प उपागत इत्युक्तम् । ब्रह्मकल्पे समागते । तत्र हि शब्दब्रह्मण एव सर्वोत्पत्तिः । या उपपत्तिर्भागवते वर्त्तते ॥ २८ ॥

व्याख्यार्थ—'पुराण' शब्द से लोक के विश्वास करने की योग्यता कहकर प्रामाण्य कहा, और 'ब्रह्म सम्मितम्' कहकर युक्तिसाहित्य कहा । 'यदधीनोत्तद्घ्नो दधित्वं'[1] इत्यादि वेदवाक्यों में जो शास्त्रीय युक्तियां दी गई हैं, उन युक्तियों से उपपन्न भागवत का निरूपण किया ।

यहां यह प्रश्न होता है कि भागवत (भगवच्चरित्र और भगवत्स्वरूप) तो कितने ही हैं । बहुत से स्थानों से भिन्न-भिन्न प्रकारों से भागवत् भगवच्चरित्र गुण स्वरूपों का निरूपण आया है । ऐसी अवस्था में यहां कौनसे भागवत का निरूपण किया यह शङ्का बनी ही रहती है । इसका उत्तर देते हैं कि 'ब्रह्मणेप्रोक्तम्' । भगवान् ने ब्रह्मा के लिए जो कहा, सो भगवान् के स्वरूप का जो यथार्थ ज्ञान उसे भागवत कहते हैं । यह व्युत्पत्ति शब्द के द्वारा है, किन्तु विषय अर्थात्मक है और

---

१. जिन वेदवाक्यों का कहीं पता न मिला अतएव अर्थ समझ में न आया इसलिए उनका अनुवाद नहीं किया है ।
—अनुवादक

विषय तो स्वरूप गुण धर्म लीला आदि सब कुछ हैं, किन्तु उन सबको दो भाग में बांट दिया। विषयात्मक और विमर्शात्मक। उनमें विषयात्मक भागवत तो अनेक प्रकार का है पर विचारात्मक भागवत दो प्रकार का है। ब्रह्माजी ने नारद के लिये जो भागवत कही है वह उत्पत्ति रूप विचार भागवत है। ब्रह्मा के लिए भगवान् ने स्वयं कहा है वह भागवत उपपत्ति रूप विचार भागवत है, और अब यह जो परीक्षित से शुकदेवजी जो पाद्मकल्पीय भागवत कहेंगे यह तृतीय है। इस भागवत में सब ही पूर्वोक्त प्रकारों का निरूपण आवेगा। तब ही भागवत की अनेकधा प्रवृत्तियों का स्पष्टीकरण हो सकता है। ब्रह्माजी जगद्वर्ती पदार्थों के अवांतर उत्पादक हैं अतएव उनका ज्ञान तो उसे हो चुका है। अर्थात् उत्पत्ति रूप से भागवत की समझ उन्हें हो चुकी है, अब तो केवल उन-उन पदार्थों को उत्पत्ति और स्वरूप में उपपत्ति मात्र बताती है, सो भगवान् ने ब्रह्म कल्प में कही। यह दिखाने के लिए 'ब्रह्मकल्पे उपागते' कहा। ब्रह्मकल्प में सब जगत् की उत्पत्ति शब्दब्रह्म से ही होती है। शब्दब्रह्म (वेदादिशास्त्र) के द्वारा जो भागवत की उपपत्ति दिखाई है वह उपपत्ति इस भागवत में भी क्वचित् दिखाई गई है ।। २८ ।।

आभास—ततोऽन्यविषयोऽपि प्रश्न इति भागवतात्पृथगेव तं परिहृत्य पश्चाद्भागवतोपपत्तिं वक्ष्यतीत्याह—

आभासार्थ—ब्रह्म कल्पीय भागवतार्थ से अन्य विषय का भी प्रश्न राजा ने किया है इसलिए उस भागवत से पहले उन विषयों का पृथक् ही उत्तर देकर फिर पीछे भागवत की उत्पत्ति कहेंगे सो कहते हैं—

श्लोक—**यद्यत्परीक्षिदृषभः पाण्डूनामनुपृच्छति ।**
आनुपूर्व्येण तत्सर्वमाख्यातुमुपचक्रमे ।।२९।।

श्लोकार्थ—पाण्डव श्रेष्ठ राजा परीक्षित ने जो जो कुछ पूछा है—उन सबका उत्तर क्रम से देने के लिये श्रीशुकदेवजी ने कहना प्रारम्भ किया ।।२९।।

सुबोधिनी—**यद्यत्परीक्षिदिति**। पाण्डूनामृषभः भगवद्भक्तानां मध्ये मुख्यः। यद्यदनुपृच्छति पूर्वोक्तहेतुप्रश्नादिरूपम्। आनुपूर्व्येणैव तत्सर्वं वक्तुमुपक्रमं कृतवान्। यथाकांक्षमुत्तराणि दत्तवानित्यर्थः। चकारादधिकामपि युक्तिमुक्तवानिति भावः ।।२९।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां द्वितीयस्कन्धे अष्टमाऽध्यायविवरणम् ।

व्याख्यार्थ—भगवद्भक्तों में प्रधान राजा ने पूर्वोक्त कारणरूप प्रश्नों के विषय में जो जो प्रश्न किये उन सबका आनु पूर्वी से उत्तर देने का प्रारम्भ किया। अर्थात् राजा की जैसी चाहना थी तदनुसार उत्तर दिया। 'च' देने का तात्पर्य यह है कि इसके सिवाय भी जो युक्तियुक्त था सो भी कहा ।। २९ ।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण के द्वितीय स्कन्ध के अष्टम अध्याय की देवर्षि शास्त्री श्री रमानाथ विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत) टीका हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद् भागवत महापुराण ●

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

द्वितीय स्कन्ध

मनन-प्रकरण (श्रवणाङ्ग स्कन्ध)

अध्याय—९

जीव और ब्रह्म के संदेह का निवारण

कारिका—**नवमे तूत्तरं प्राह जीवब्रह्मस्वरूपयोः ।**
सन्देहवारकं पूर्वकथनस्याऽपि वस्तुताम् ॥१॥
पारम्पर्यकथा चाऽस्य शुद्ध्याधिक्यवगम्यते ।
नाऽन्यथेत्यस्य सन्देहनाशनाय निरूपिता ॥२॥

कारिकार्थ—अब इस नवम अध्याय में जीव और ब्रह्म के स्वरूप में जो सन्देहात्मक प्रश्न किया था, उसका सन्देह निवारणात्मक उत्तर देते हैं और पूर्व में जो कुछ कह आये, उसकी यथार्थता भी कहते हैं । इस नवमाध्याय में ही श्री भागवत् प्राप्ति की परम्परा भी कही है, ब्रह्मा की उत्पत्ति की परम्परा भी बताई है, ब्रह्मादि जीवों की शुद्धि दिखाकर उनका विशेषाधिकार प्रमाणित किया है । साक्षाद्भगवान् से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई है । खास उसको श्रीमद्भागवत का उपदेश भगवान् ने दिया है, इत्यादि परम्परा का निरूपण करके यह दिखाया है, जो जीव उत्पत्ति से शुद्ध एवं साधनों से शुद्ध होते हैं, वे भगवत्स्वरूप गुण लीला रूप भागवत-श्रवण के समझने के विशेष अधिकारी हैं । उनके आगे कहा गया, उपदेश ही सफल होता है । उनकी

समझ में ही भगवान् का कथन ठीक बैठता है। दूसरे पारम्पर्य कथा इसलिए भी कही गई है कि राजा के हृदय में किसी तरह का सन्देह न होने पावे। मैंने जो कहा है वह समूल है, भगवन्मूल है, यह राजा को निःसन्देह समझ में आ जावे ॥ १–२ ॥

आभास—अन्येषां सन्देहानां जीवब्रह्मसन्देहमूलत्वात्प्रथमं जीवसन्देहं वारयति—आत्ममायामृत इति त्रिभिः। यत्तेनोक्तं यदधातुमतो ब्रह्मन्निति। अस्य जीवस्य देहसम्बन्धः कथमिति। जीवत्वं कथमिति अन्यशब्देन प्राप्तम्। तत्र जीवत्वे जाते बहवो हेतवो भविष्यन्ति देहसम्बन्धे इति प्रथमं जीवत्वमुपपादयति—

आभासार्थ—जितने भी संदेहात्मक प्रश्न किये गये हैं, उनमें जीव-संदेह और ब्रह्म-संदेह मूल है। जीव के विषय में और ब्रह्म के विषय में यदि संदेह दूर हो जावे तो फिर अन्य विषयों में कोई संदेह न रहे, इसलिए पहले उनके संदेह का निरास प्राप्त है। उनमें पहले जीव के संदेह को दूर करते हैं 'आत्ममायामृते' इत्यादि तीन श्लोकों से।

राजा ने 'यदधातुमतो ब्रह्मन्' इत्यादि श्लोकों में यह पूछा था कि हे ब्रह्मन्! देह धातु सम्बन्धों से रहित इस जीव का धातुओं के द्वारा देह का आरम्भ क्यों कर हुआ? ब्रह्म का जीवत्व क्यों हुआ? इसका उत्तर जीव शब्द ही है। जीव-जीव प्राण धारणे इस प्रकृति प्रत्यय से जीव शब्द की सिद्धि हुई है। जिसका अर्थ होता है कि जब से शुद्ध चेतन को प्राणों के धारण में प्रयत्न करने का अभ्यास हुआ, तब से ही यह जीव कहा गया है। जब इसे जीवत्व प्राप्त हुआ तो फिर देह से सम्बन्ध कराने वाले कारण भी अनेक हो जायेंगे। इसलिए श्रीशुकदेवजी भी पहले चेतन को जीवत्व कैसे? इसका निरूपण करते हैं—

श्रीशुक उवाच—श्लोक—आत्ममायामृते राजन् परस्याऽनुभवात्मनः।
न घटेताऽर्थसम्बन्धः स्वप्नद्रष्टुरिवाऽञ्जसा ॥१॥

श्लोकार्थ—अनुभवरूप परब्रह्म (आत्मा) के साथ देहादि पदार्थों का सम्बन्ध बिना उसकी ही माया के और तरह से ठीक नहीं बैठता जैसे स्वप्न देखने वाले को उसकी भूल से ही स्वाप्निक अन्य पदार्थों के साथ सम्बन्ध हो जाता है। इसी तरह चेतनों को देह का सम्बन्ध भूल से होता है ॥ १ ॥

सुबोधिनी—आत्ममायामृत इति। तत्र सदानन्दरूपो भगवानेककोटिनिविष्टः। चिद्रूपश्चा परः। तस्य माया द्विविधेति पूर्वं निरूपितम्। तत्र चिद्रूपस्य माया व्यामोहिका। सा स्वपुरुषं व्यामोहयित्वा जीवतामापादयतीति। जीवतीति जीवः केवलं प्राणधारणप्रयत्नवान्। स हि मायया व्यामोहितो व्याकुलः सन् सदानन्दकृतसृष्टौ यः सूत्रात्मक आसन्यो दशविधप्राणरूपस्तमवलम्ब्य तिष्ठति तदा जीव इत्युच्यते। "**जीव प्राणधारण**" इति धातोः कर्तरि अच्-

प्रत्ययः। बोधरूपोऽप्ययमानन्दरूपस्य पृथग्भूतत्वादानन्दार्थं तया व्यामोहितस्तत्सम्बन्धादानन्दो भविष्यतीति बुद्धया तया सम्बध्यते। अयं च विभागो "**बहु स्यां प्रजायेये**" तीच्छया। इच्छाऽपि सर्वभवनसमर्थं स्वरूपमेव धर्मरूपेण भवत् इच्छारूपेणाऽपि भवति। तत्र सदंशस्य क्रियारूपा शक्तिः। चिदंशस्य व्यामोहिका माया। आनन्दरूपस्य जगत्कारणभूता। एतत्त्रितयरूपा शक्तिः सच्चिदानन्दरूपस्य भावत्वतलादिवाच्या। तथा भगवतो भावस्तु स्वरूपादेव निर्मितात्। न च सर्वदा भवतीति शङ्कनीयम्। आपादकहेतुभूतस्य कालस्याऽभावात्। जाते पुनः काले तस्यैव नियामकत्वान्न सर्वदा भविष्यति। पूर्वमेव जातत्वात् तत्संगे इच्छादीनामपि जातत्वादिच्छादयस्तदंशभूतास्तान् सदैकरूपान् स्थापयन्ति। तथा च तस्या अंशं परिगृह्णाति भगवानिच्छारूपम्। स एव कामः "**सोऽकामयते**"ति श्रुत्युक्तः। तया कृत्वा भेदरूपया सच्चिदानन्दा धर्माः स्वयं भिद्यमानाः स्वाश्रयमपि भिन्दन्ति। तदा स भगवान् सर्वतःपाणिपादान्तो भवति साकारतां चाऽऽपद्यते। भिन्नोऽपि तया मिलितः अभिन्नः इवाऽखण्डो भवति। तदपेक्षया कार्यरूपस्याऽल्पत्वात्। तानि त्रीण्यपि रूपाणि पूर्णशब्देनोच्यन्ते। अत एव सद्रूपस्य कार्ये प्रत्येकपर्यवसायित्वम्। "**प्रजायेये**" तीच्छया उत्कर्षापकर्षरूपेण जाताः। तत्र आनन्द उत्कृष्टः। तदेतरौ तं सेवमानौ जातौ ततश्च तयोर्धर्मौ ज्ञानक्रिये भगवच्छक्तिरूपे जाते। तदा स आनन्दो ज्ञानक्रियाशक्तिमान् जातः। तदा चिदंशस्य शक्तिरानन्दे गतत्वात् ज्ञानधर्मस्य तं व्यामोहयति तदा तस्य जीवत्वम्। सदंशस्तु क्रियाशक्तेर्गतत्वादव्यक्ततामापाद्यते। पश्चान्मूलभूतक्रियांशाभिः क्रियाभिर्यथायथमभिव्यज्यते। पश्चात्तस्यां तत्कृतधर्मे वा तिरोभूते स्वयमपि तिरोभवति। तदा तस्यां मूलेच्छया जातः शब्दोऽभिव्यक्त एव तिष्ठति जीवभगवद्बुद्धिषु। जीवे भगवति वा। एवं चिद्रूपोऽपि ज्ञानशक्त्यंशभूतैर्ज्ञानैरभिव्यज्यते तिरोभवति च। प्रयत्नस्तु तस्याऽपराधीन इति स जावग्रहणार्थं सर्वदा तिष्ठति। स चेद्भगवांस्तस्मै तां पूर्णां ज्ञानशक्तिं प्रयच्छेत् तदा तां मोहिकां मायां त्यजति। प्रयत्नं च त्यजति। स्वरूपे चिद्रूपे चाऽवतिष्ठते। अपराधीनश्च भवति। जगत्कर्तृत्वं तु न भवति। तस्य सा माया शक्तिर्न भवति। उत्कर्षोऽपि न भवति। आनन्दस्यैवोत्कृष्टत्वात्। हीनता त्वापाततो वर्त्तते। आनन्देन सह मिलितस्त्वानन्दोऽपि भवति। स चेत्स्वधर्मेण संगृह्णीयात्। इयं प्रक्रिया सर्वश्रुतिवाक्यानुरोधेन श्रुतार्थापत्तिसिद्धा सर्वत्रैवोपयुज्यते। अन्यथा प्रक्रिया तु वाक्यानि बाधते। जीवभेदं त्वग्रे निरूपयिष्यामः। एतदेवाऽऽह—आत्ममायां आत्मनः स्वस्य चिद्रूपस्य मायां व्यामोहिकामृते। अस्य चिद्रूपस्य। **राजन्निति** सम्बोधनं राजसत्वात्तव स्वरूपाज्ञानमिति दयां बोधयति। व्यामोहानन्तरमेव देहसम्बन्ध इति तादृशं विशेषमाह—**अनुभवात्मन इति**। वस्तुतस्त्वनुभवात्मा परं सामर्थ्यं भगवति गतमस्ति यतो व्यामोहो भविष्यति। अन्यथाऽर्थसम्बन्ध इव व्यामोहोऽपि न भवेत्। व्यामोहव्यतिरेकेण केवलशक्त्यभावेनार्थसम्बन्धो निरूपयितुमशक्यः। सहजशक्तिश्च सा। तस्या दोषत्वेन पर्यवसानं हीनभावात्। जीवस्य सामर्थ्यलाभेऽपि तस्या हीनभावापगमः पृथग्भूताया न भविष्यति। तया व्यामोहे तु अर्थेन देहादिना सम्बन्धः सुखेन घटते। मोहितस्याऽर्थसम्बन्धं दृष्टान्तेन स्पष्टयति-**स्वप्नद्रष्टुरिवेति**। निद्रया व्यामोहितो भगवत्कृतां मायिकीं सृष्टिं पश्यत्यभिमन्यते च। निद्रायाः सर्वत उद्गमाभावात् मूलभगवन्मायया वृत्वा सा शीघ्रं तिरोभूता भवति तदा स जागर्त्ति। एवं स्वप्नदृष्टान्तेन तस्य व्यामोहं निरूप्य दार्ष्टान्तिके विशेषमाह—**अञ्जसेति**। सामस्त्येन। स्वप्नकोटयोऽत्र मध्ये भवन्ति। इदं त्वेकमेव जन्मकोटिष्वनुवर्त्तते ॥ १ ॥

व्याख्यार्थ— वेदादि शास्त्रों से यह तो सिद्ध है कि परब्रह्म परमात्मा सच्चिदानन्द स्वरूप है। इस सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म में सदानन्दरूप भगवान् एक कोटि में है, और सच्चिद्रूप भगवान् दूसरी कोटि में है। ब्रह्म का सद्रूप और सद्धर्म दोनों, आनन्द और चेतन दोनों के साथ लगा हुआ रहता है। सत् का अर्थ है, नित्य, वर्तमान, सर्वदा अवाधित। इसका अर्थ यह है कि ब्रह्मरूप सर्वदा आनन्दमय है। यह ब्रह्म रूप सर्वदा ज्ञानमय है। यही अर्थ सदानन्द और सच्चित् शब्दों का है।

इन सदानन्द और सच्चिद्रूप ब्रह्म की दो प्रकार की ही मायाशक्ति है। यह सिद्धांत पूर्व में कह चुके हैं। उनमें चिद्रूप भगवान् की शक्ति व्यामोहिका (मोहिनी) माया है इसका भूल करवा देना ही कर्त्तव्य है। यह व्यामोहिका माया अपने वट में आये पुरुष (शुद्ध चेतन) को भूल में डाल कर जीव बना डालती है। केवल प्राण धारण करने के प्रयत्न में ही जो मचा रहे वह जीव कहा जाता है। इस माया से मोहित यह जीव इतना व्याकुल (घबराया) हो जाता है कि जिसके द्वारा अहित हुआ है, उसे ही अपना हितकारक समझ कर विशेष-विशेष उसमें लिपटता चला जाता है। भगवान् सदानन्द से बनी सृष्टि में सूत्रमय दश प्रकार का जो मुख्य प्राण है, बस उसे यह मोहित जीव अपना जीवन समझ लेता है। मुख्य प्राण हो दशेन्द्रियों में भिन्न-भिन्न रूप से स्थित रहता है। इन सबका मूल यह आसन्य प्राण है। यह सच्चित भगवान् जीवरूप इस आसन्य प्राण का ही आधार रखकर स्थित रहता है। इसलिए यह ब्रह्म से जीव हो जाता है कहा भी जाता है। (जीव धातु से कर्त्रर्थ में अच् प्रत्यय होने से जीव शब्द बनता है)।

कदाचित् कोई कहे कि बोध स्वरूप जीव को माया से मोह कैसे हो गया? तो कहना होगा कि यद्यपि यह चिद्रूप है, बोधस्वरूप है, तथापि इसका आनन्दस्वरूप इससे पृथक् हो चुका है, इसलिए आनन्द की प्राप्ति के लिए वह माया इसे भूल खवा देती है। यह समझता है कि इस माया के सम्बन्ध से मुझे आनन्द मिलेगा। यों समझकर यह आत्मा उस माया के साथ सम्बन्ध करता है। आशा ही आशा में इसके सम्बन्ध को छोड़ता नहीं यह प्रत्यक्ष सिद्ध है।

आनन्द का और चित् का यह विभाग 'एकोहं बहुस्यां प्रजायेय' आदि श्रुतियों से सिद्ध है। एक ही सच्चिदानन्द भगवान् को जब अनेक प्रकार से अनेक होने की इच्छा होती है तब एक स्वरूप के दो आदि भेद कर लेता है। यह इच्छा भी भगवान् का सर्वभवन सामर्थ स्वरूप ही है। जब इसे बहुत्व करना होता है तब उसके पहले यह स्वरूप ही धर्मरूप से प्रकाशित होता हुआ, इच्छा रूप से भी प्रकाशित होता है। बहु भवन के पूर्व यह इच्छा रूप धर्म,स्वरूप में ही सम्मिलित रहती है। जैसे हमारे नेत्रों की दृष्टि धर्म है तथापि वह नेत्र स्वरूप में ही सम्मिलित रहती है। माया प्रभृति सब ही शक्ति धर्मरूप से प्रकाशित होने के पहले भगवान् के स्वरूप में ही सम्मिलित रहती है। सत् चित् आनन्द धर्म भी है। स्वरूप भी। किन्तु पृथक् प्रकाशित होने के पहले ये स्वरूप में ही सम्मिलित रहते हैं। इनकी शक्ति भी पृथक्-पृथक् है।

उनमें क्रियारूपा शक्ति सद्रूप भगवान् की है। चिदंश की व्यामोहिका मायाशक्ति, है और आनन्दमय भगवान् की शक्ति सर्वभवन सामर्थ्य है। यही जगत् का कारण है। ये तीनों शक्तियां सच्चिदानन्द परब्रह्म के भाव, प्रत्ययत्त्वतलादि धर्म ही है। अर्थात् ब्रह्मत्व ब्रह्मता आदि रूप धर्म ही है। यह भी एक तरह का बहुभवन नहीं है और यह भाव(भवन) स्वरूप से ही सिद्ध है। स्व-

रूप को ही जब जैसा बनाना चाहता है, बना लेता है। यह शक्ति भगवान् में स्वतः सिद्ध स्वभाव है। यदि कोई कहे कि यह सर्वभवन सर्वदा क्यों नहीं होता? तो यह कहना होगा कि 'जब-तब' ही इसका उत्तर है। 'सर्व भवन का जब काल आता है, तब सर्व भवन होता। अब वैसा काल नहीं रहता. तब सर्व भवन तिरोभूत हो जाता है। काल जब प्रकट हो जाता है तब वही सर्व भवन का नियामक हो जाता है। इसलिए सर्वदा सर्व भवन होने नहीं पाता। इच्छानुसार तत्काल में वे वे कार्य होते रहते हैं। सबसे पहले धर्मों में काल का आविर्भाव होता है। काल का संग होने से इच्छादि धर्म भी प्रकाशित हो जाते हैं। बहु भवनादि इच्छा प्रभृति भगवान् के ही अंश हैं। ये इच्छादिक, अन्य पदार्थों को जो परब्रह्म के ही अंश हैं, उन्हें सदा अपने अपने स्वरूप में रखते हैं। भगवान् की इच्छा के बिना जगत् का एक पत्ता भी इधर-उधर नहीं हिलता।

इससे यह सिद्ध हुआ कि, उन्हीं शक्तियों के एक अंश इच्छा रूप को भगवान् ग्रहण करता है जिससे बहु भावनादि सृष्टि के कार्य प्रचलित होते हैं। यही 'सोऽकामयत' आदि श्रुतियों में कहा हुआ 'काम' पदार्थ है। यही 'सद्वितीयमैच्छत्' स ऐक्षत' 'एकोहं बहुस्यां' आदि श्रुतियों में इच्छा रूप से कहा गया है। भिन्न-भिन्न स्वभाव वाली इस इच्छा से ही उस सर्वाश्रय सच्चिदानन्द पर ब्रह्म के सत् चित् और आनन्द धर्म भी स्वरूप से जुदे पड़ जाते हैं और जुदे होकर अपने अपने आश्रय स्वरूप को भी पृथक् कर देते हैं। स्वरूप और धर्मों के जुदे-जुदे होने से ही वह परमात्मा भगवान् सर्वतःपाणिपाद और परिच्छेद वाला हो जाता है, और साकार स्वरूप भी होता है। अब यह त्रिविध भगवान् धर्मयुक्त धर्मी हो जाने से क्रियावान्, सर्वज्ञ और आनन्दवान् कहा जाता है। यद्यपि त्रिविध यह भगवान् भिन्न भिन्न स्वरूप है तथापि थोड़े स्वरूप को छोड़कर सर्वत्र मिलित अखंड सा ही रहता है। जो भिन्न रूप है वह इनका कार्य रूप है विश्वरूप है। 'पादोस्य विश्वा भूतानि' श्रुति के अनुसार यह भेद वाला विश्व स्वरूप तो इस व्यापक भगवान् का एक अंश है। पाद है, और उसका बाकी रहा त्रिपाद, अंश तो सर्वदा सम्मिलित रूप ही रहता है।

ये क्रियावान् सच्चित् और सदानन्द रूप तीनों भगवान् 'पूर्ण' शब्द से कहे गये हैं। यह बात श्रुति में इस तरह कही गई है—

'पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णं मुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवाव शिष्यते ॥'

अर्थात् सर्वव्यापक और अव्यक्तरूप जो ज्ञानैकघन परब्रह्म है, वह पूर्ण है। सब अंश कला धर्मों से भरा हुआ है और सर्वत्र व्यापक है। आकाश की तरह और यह दीखता हुआ, सद्रूप विश्व रूप ब्रह्म भी पूर्ण है। व्यापक है। अंशकलादि से भरा हुआ रहता है। पूर्वोक्त इन पूर्ण शब्द वाच्य दोनों एकपात् त्रिपात्विभूति रूप ब्रह्मों से पूर्णभूत् पूर्णानन्द अभयानन्द भगवान् पुरुषोत्तम सेवित होता है। अर्थात् क्रियाज्ञान साधनों द्वारा आनन्दमय भगवान् फलरूप होता है। आनन्दरूप फल की सेवा 'सद्रूप' 'चिद्रूप' करते हैं। इसलिये इन्हें कहीं कहीं उपनिषत् में पुच्छरूप कहा है। यही आनन्द की फलरूपता श्रुति के उत्तरार्ध में स्पष्ट की है।

पूर्वोक्त पूर्णभूत पुरुषोत्तम के प्रसाद से उसके ज्ञानादि धर्मों की प्राप्ति करके फिर ये भगवान् पूर्ण होकर स्थिर होते हैं, अर्थात् सत् और चित् आनन्द का सायुज्य सहयोग प्राप्त हो जाता है।

'आनन्दमानन्दमयोऽवसाने' 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति', 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' । सद्रूप भगवान् विश्व-रूप कार्य में प्रत्येक पदार्थ के साथ सर्वदा वर्तमान है । 'है है है' आदि रूप से ।

यहां तक 'एकोहं बहुस्यां' इस इच्छा का, एकांश का विवरण किया । अब 'प्रजायेय' इस द्वितीय प्रकार का विवरण करते हैं ।

इस श्रुति में 'बहुस्यां' और 'प्रजायेय' दो अंश हैं । दोनों का एक ही अर्थ मान लेने में तो पुनरुक्ति दोष आता है, इसलिए मानना पड़ेगा कि बहुभवन के ही दो प्रकार हैं । एक का बहुत रूपों में प्रकाशित होना और बहुरूपों का भी प्रकर्ष (उच्च) अपकर्ष (नीच) भाव से प्रकाशित होना क्रिया धर्मवान् सद्रूप ब्रह्म, ज्ञान धर्मवान्, चिद्रूप अक्षर ब्रह्म और आनन्द (प्रीति) धर्मवान् आनन्द-मय भगवान् इन तीनों का बहुभवन हुआ । सद्रूप और उसकी क्रिया भी बहुत और बहुत प्रकार की हुई । ज्ञान भी जीवादि रूप से और ज्ञान धर्मरूप से बहुत और बहुत प्रकार का हुआ । और आनन्दरूप भगवान् भगवान् भी स्वर्गादि लोकादि रूप से और अलौकिक स्वरूपानन्दरूप से बहुत और बहुत प्रकार से हुआ किन्तु इनमें आनन्द उत्कृष्ट हुआ, और सत् और चित् अपकृष्ट हुए । आनन्द फलरूप है और ज्ञानक्रिया उसकी सेवा करते हैं । साधन है । यह पूर्वोक्त श्रुति के दोनों प्रकार हैं । दोनों ही प्रकार बहुभवन और द्वितीय भवनादि के ही अंश हैं : उत्कर्षापकर्ष होना भी बहुभवन का ही प्रकार है । क्रिया भी उत्कृष्ट, अपकृष्ट, ज्ञान भी उत्कृष्ट अपकृष्ट और आनन्द भी उत्कृष्ट अपकृष्ट देखने में आ रहा है । सत् और चित् दोनों के धर्म क्रिया और ज्ञान, उस आनन्द भगवान् की ही शक्तिरूप हो गये । उस समय यह आनन्द भगवान् ज्ञान क्रिया शक्तिमान् हो गया, और सत् क्रिया धर्मवान् और चित् ज्ञान धर्मवान् रहा ।

और फिर जिस समय तीनों का पुनर्विभाग काल आया, उस समय चिदंश को मुख्य शक्ति आनन्द में सहयोग पा चुकी थी, इसलिए चिदंश की माया व्यामोहिका ने उसके ज्ञान धर्म का व्यामोहन किया । 'षडैश्वर्यान्तर्गत ज्ञान धर्म के भुलावे में पड़ जाने से चिदंश को जीवत्व प्राप्त हुआ, और सदंश की क्रियाशक्ति भी आनन्द में ही जा चुकी थी, इसलिए यह सदंश (जड़) अव्यक्त हो गया । अर्थात् प्रकृति और प्रकृति के तत्त्वों का रूप धारण कर लिया । चिदंश का जीवत्व भी व्यष्टि जीवत्व नहीं, किन्तु मुख्य जीवत्व हुआ, जिसे 'तन्माया फल रूपेण' इस वाक्य में पुरुषतत्त्व कहा है । जिसका स्वरूप और धर्म 'ज्ञान मात्रं परं ब्रह्म' इत्यादि भागवत में कहा गया है ।

तदनन्तर सृष्टि के प्रारम्भ में यह अवान्तर सदंश ही सर्वफल पूर्ण सदंश ब्रह्म की क्रियांशरूप क्रियाओं के अनेक प्रकार से प्रकाशित होता है, जिसे जगत् कहते हैं और वह पुरुषरूप मुख्य-मुख्य जीव भी अनेक संख्य व्यष्टि जीवों के रूप में अभिव्यक्त होता है । इनको जीवता मुक्ति पर्यंत रहती है उसके पहले निवृत्त नहीं होती । इसका कारण सदंश प्रकृति के द्वारा मोहन हो जाना सदंश का आविर्भाव क्रिया के द्वारा होता है । जैसे घट का रूप, क्रिया के द्वारा प्रकाशित होता है, किन्तु इस क्रिया का प्रकार श्रौत और पौराण द्विविध है । श्रौत प्रकार भी दो तरह का है—१. 'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गाः' आदि श्रुतियों में युगपत्सृष्टि का प्रकार कहा है, और २. 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' आदि श्रुतियों में क्रम सृष्टि का प्रकार है ।

तृतीय स्कंध आदि में पौराण प्रकार नाभि कमल आदि के द्वारा सृष्टि रचना आदि प्रकार कहा है । यह क्रम सृष्टि का एक ही प्रकार है ।

यहां एक यह प्रश्न होता है कि वेद में सृष्टीच्छा का निरूपण 'बहुस्यां' में आ गया है किन्तु पालनेच्छा और संहारेच्छा का निरूपण कहीं देखा नहीं, तो क्या श्रौत मत में सर्वदा सृष्टि ही होती रहती है, कभी भी स्थिति और संहार होता ही नहीं? नहीं, नहीं। स्थिति संहार भी होते हैं। स्थिति और संहार के बिना सृष्टि हो नहीं सकती इसलिए ये दोनों तो अन्यथा उपपत्ति से ही सिद्ध हैं, केवल आविर्भाव तिरोभाव मात्र का सहारा होता रहता है। सृष्टि का आविर्भाव 'स्थिति' और सृष्टि का तिरोभाव 'संहार'। क्रिया के आविर्भाव से घट की सृष्टि स्थिति, और क्रिया के तिरोभाव से किंवा आकार के तिरोभाव से घट का तिरोभाव या संहार। सदंश की क्रिया किंवा उसके धर्मों के तिरोभाव होने पर फिर वह सदंश अव्यक्त का अव्यक्त हो जाता है।

अव्यक्ताद् व्यक्तय: सर्वा: प्रभवन्त्य हरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवा व्यक्त संज्ञके ।।

निष्क्रिय सदंश जो ब्रह्मरात्रि में अव्यक्त हो चुका है, उसी से ब्रह्मा के दिन में सारे व्यक्त पदार्थ प्रकाशित होते हैं और फिर रात्रि आने पर उसी अव्यक्त में ये सब व्यक्तियां समा जाती है। पूर्वरूप का तिरोभाव, अन्य रूप का आविर्भाव, इन दोनों शक्तियों से ही सृष्टि, स्थिति, संहार होते रहते हैं। एक सदंशरूप भगवच्चरण ऐसा ही है, जहां यह खेल सर्वदा होता रहता है, बन्द नहीं होता। ये दोनों उस मूलरूप भगवान् के अनुग्रह और उपेक्षा पर निर्भर है। कहा भी है कि—

"यदनुग्रहत: सन्ति न सन्ति यदुपेक्षया।"

सृष्टि राशि के जितने भी पूर्व-पूर्व सृष्टि के शब्द जात हैं, घट पटादि वे सब मूलेच्छा से ही भगवान् में किंवा जीव की बुद्धि में बने रहते हैं! यही अन्तर्भूत वेद है, ज्ञान है। जब पुनः सृष्टि रचना होती है, तब 'वेद शब्देभ्य: एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे' के अनुसार अभिव्यंजक क्रिया के द्वारा सब कुछ होता है। शब्द समूह सबका सब रहता है, इसलिए प्रत्यय (ज्ञान) का भी अभाव नहीं होता। सृष्टि का उच्छेद भी नहीं होने पाता।

यही बात चिदंश में भी है। चिद्रूप व्यष्टि जीव मूल चित्त ब्रह्म के ज्ञानांश और शक्तिरूप के मोहक ज्ञानांशों के द्वारा आविर्भाव होने पर प्रकाशित होता है। ये ज्ञान विशिष्ट ज्ञान है। विषयों का सर्वथा स्वीकार कर लेना उनका अभिमान कर लेना ही जीव का जन्म या आविर्भाव है और 'मृत्युरत्यन्त विस्मृति' के अनुसार सब कुछ एकदम भूल जाना अभिमान का न रहना ही तिरोभाव या उसका मरण है। यदि कोई कहे कि सब कुछ ज्ञान का तिरोभाव ही हो जाता है, तो जीव मुक्त क्यों नहीं हो जाता ? तो कहना होगा कि आंतर और बाह्य प्रयत्न (कोशिश) उसका स्वतन्त्र है। वह सर्वदा रहता है, इसलिए यह तिरोभाव में आंतर और आविर्भाव में बाह्य प्रयत्न वाला बना रहता है, इसलिए जीवत्वग्रहण के लिए तैयार रहता है मुक्त नहीं होने पाता। हां यदि मूल भगवान् ही यदि इस पर क्षमा करें, अपनी पूरी ज्ञानशक्ति इसको भी दें, तब तो यह उस व्यामोहिका माया को छोड़ देता है जीवत्व के प्रयत्न का भी त्याग कर देता है। अपने स्व स्वरुप चिद्रूप में स्थित हो जाता है और स्वतन्त्र भी हो जाता है, पर जगत्कर्तृत्व शक्ति इसमें नहीं आती क्योंकि सर्वभवन सामर्थ्यरूपा शक्ति इसकी नहीं है। वह शक्ति आनन्दरूप भगवान् की है। यह

सर्व श्रेष्ठ भी नहीं होता; क्योंकि सर्वश्रेष्ठ तो आनंदमय भगवान् ही है। हीनता तो केवल देखने मात्र की है। भगवान् यदि चाहे और अपने आनंदादि धर्मों से इसका भी सहयोग करलें, तो यह भी आनंदरूप होकर सर्वोत्कृष्ट हो सकता है, पर यह पराधीन है।

यह सृष्टि की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में प्रमाण, श्रौतार्थापत्ति है। सब श्रुतियों की एक वाक्यता, यह सिद्धान्त मानने से ही होती है। "सदेव सौम्येदमग्र आसीत्" आत्मावा इदमेक एवाग्र आसीत्" आदि श्रुतियों में स्पष्ट है कि सृष्टि के पूर्व एक ही परब्रह्म पुरुष था, फिर 'तदैक्षत' 'सो कामयत' इत्यादि इच्छा ही बहुभवन में कारण थी। यह भी स्पष्ट है। और 'प्रजायेय' आदि से उस बहुभवन का आकार प्रकर्षापकर्ष भी स्पष्ट ही है। 'तदात्मानं स्वयम कुरुत' इत्यादि श्रुति से एक ही भगवान् जगत् का उपादान और निमित्तादि कारण है यह भी सिद्ध है। 'पूर्णमिदं' आदि श्रुतियों में सच्चिदानन्द के सदसद् तीनों अंश पूर्ण हैं, यह भी सिद्ध है। 'सर्व एवात्मनो' आदि से युगपत् सष्टि और 'तस्मा द्वा' आदि श्रुति से क्रम सृष्टि भी सिद्ध ही है। 'नामरूपे व्याकरवाणि' श्रुति से विविधता संकेत करण और प्रवेश भी कह दिया है। 'पादोस्य विश्वाभूतानि' श्रुति सबको ब्रह्म का स्वांश भी कह दिया। 'मुह्यतीव लेलायतीव' श्रुति से जीव का बन्ध और 'तमक्रतुं पश्यति वीत शोकः धातु प्रसादात्' आदि श्रुति में भगवत्कृपा से जीव का मोक्ष भी बता दिया है। इस तरह पूर्वोक्त सिद्धान्त श्रौत है यह स्पष्ट है। इन सिद्धान्तों में से जो भी सिद्धान्त न स्वीकारा जावे तब ही उस श्रुति का विरोध आवेगा ही। इससे स्पष्ट है कि इससे जुदी प्रक्रियायें श्रुति-विरुद्ध हैं। जीव भेद का निरुपण आगे करेंगे।

यही बात मूल श्लोक में संक्षेप से कही है। कि 'अपने चिद्रूप स्वरूप की माया के मोह के सिवाय इस चिद्रूप भगवान् को देह का सम्बन्ध नहीं हो सकता। 'राजन्' संबोधन देकर दिखाया है, कि तुम राजस हो, तुम्हें भी माया ने मोहित कर रखा है। स्वरूप का अज्ञान है, इसलिये दया के पात्र हो। व्यामोह के अनन्तर ही शुद्ध चेतन को देह का सम्बन्ध होता है। इस विशेष की सूचना करने वाला विशेषण कहते हैं—'अनुभवात्मनः' 'अनुभव स्वरूपो शुद्ध चेतन को। यह जीवात्मा भी वस्तु दृष्टि से तो अनुभव स्वरूप है, तथापि अनुभव रूप सामर्थ्य धर्म आनन्द भगवान् में चला गया है; इसलिये इसे मायाकृत व्यामोह हुआ है। यदि ऐसा न होता तो जैसे देह का सम्बन्ध नहीं होता इसी तरह व्यामोह भी नहीं होता। क्योंकि पदार्थों के ज्ञान की तरह इसे स्वरूप का भी अनुभव रहता ही तो फिर व्यामोह क्यों होता ? केवल शक्ति का अभाव रहता और माया से व्यामोह न होता तो—देह का संबंध-निरुपण करने के लिये कारण न मिलता।

अब यह प्रश्न हो सकता हैं, कि-भले शक्ति संबन्ध रहने पर भी जबरदस्तो देह संबन्ध को नहीं होता, व्यामोह मत मानों तो कहते हैं—कि ठीक है। ऐसी अवस्था में व्या मोह तो होता नहीं,' केवल शक्ति का अभाव ही रहता तो सद् ंश की तरह जड़वत् यह भी पदार्थ रहता। उसे देह-संबन्ध न होता, इसलिये व्यामोह की अपेक्षा थी। व्यामोह-विपरीत ज्ञान को कहते हैं। विपरीत ज्ञान के होने से जीव का देह के साथ सम्बन्ध हो गया। यह अनुभव रूप शक्ति चेतन की स्वाभाविक शक्ति है। इसलिए अनुभव शक्ति के जाने के अनन्तर हो तुरंत व्यामोह हो गया। यदि अनुभव शक्ति का साहचर्य रहता तो व्यामोह न होता। "प्रजायेय" इस भगवदिच्छा से ही हीनभाव हुआ है, और हीनभाव होने से ही माया दोषारुप हो गई। वास्तव

में सहज शक्ति होने से यह दोष नहीं, गुण ही है। तो फिर अनुभव रूप सामर्थ्य को प्राप्ति के लिये ही उपाय करना चाहिये, माया को दूर करने के लिये नहीं, यह प्रश्न बना ही रहता है तो कहते हैं कि—भले' अनुभव शक्ति के प्राप्त कर लेने पर भी जो माया के द्वारा जीव का हीन भाव आ गया है। वह नहीं जायगा। क्योंकि वह भगवान् से पृथक् होकर रही है। इसे बन्धन करने का अधिकार भगवान् ने दिया है। और भगवान् की इच्छा अप्रतिहत होती है। जहाँ तक इसे अधिकार दे रक्खा है, वहाँ तक तत्कृत् व्यामोह हुए बिना नहीं रह सकता। इसलिये इस माया को तर जाने का उपाय तो करना आवश्यक ही है ?

माया के द्वारा जब चेतन का व्यामोह हो जाता है, तब देहादि के साथ सम्बन्ध होना सुन्दर हो जाता है। मोहित को अर्थ का सम्बन्ध सहज हो सकता है। यह बात दृष्टान्त देकर दिखाते हैं:—स्वप्न द्रष्टुः इव। निद्रा से व्यामोहित जीव जैसे स्वप्न में भगवत्कृत मायिकी आन्तर सृष्टि को देखता है और उसे उसका अभिमान् भी रहता है। कदाचित् कोई कहे कि निद्रा की तरह यदि माया है तो जैसे कालादि के द्वारा निवृत्त हो जाती है इसी तरह माया का मोह भी थोड़े समय में अपने आप दूर हो जायेगा इसके लिये पृथक् उपाय करने की क्या आवश्यकता है ऐसा कहे तो ठीक नहीं है। क्योकि माया में और निद्रा में भेद है। निद्रा बुद्धि की वृत्ति है। एक देश स्थित है। सर्व देश में उसका उद्गम नहीं है। इसलिये उसकी निवृत्ति काल से हो जाती है। किन्तु माया भगवच्छक्ति है। भगवान् की आज्ञा से ही जीवों को व्यामोह करती है। यह व्यापक है। इसलिये इसके मोह का काल से दूर होना अशक्य है अतएव इसके दूर करने के लिये उपायान्तर करना चाहिये। इस मूल भगवन्माया के द्वारा निद्रा का तिरोभाव होता है, अत एव मनुष्य जागता है। इस तरह इस मूल भगवत्माया का उनके द्वारा दूर होना अशक्य है।

इस तरह से स्वप्न के दृष्टान्त से स्वाप्निक जीव का व्यामोह का निरुपण करके अब उसको इस सृष्टि में दिखाते हुए उससे कुछ विशेष दिखाते हैं। 'अञ्जसा'। जैसे निद्रा के द्वारा यह जीव भगवान् की बनाई स्वप्न सृष्टि को अपने से जुदी देखता है और निन्द्रा से ही उसे अपनो समझता हैं, इसी तरह मूलचिदंश की माया से यह व्यष्टि जीव भगवान् की सदंश सृष्टि को जगत्कर्तृ माया-प्रचुर देखता है, और उस भूल के द्वारा ही उसे अपनी मानता है। यही स्वप्न में और जगत् में विशेष है ऐसे-ऐसे करोड़ों स्वप्न इस सृष्टि में होते रहते हैं और यह एक ही (माया) करोड़ों जन्मों में एक ही एक ही बनी रहतो हैं और इनका व्यामोह भी बना ही रहता है। यह माया क्षेत्र की 'जगत् की' दर्शन कराने वाली है, बनाने वाली नहीं है ॥ १ ॥

आभास—एवं तस्याः सम्बन्धमात्रं निरूप्य कार्यं निरूपयति—

आभासार्थ—इस तरह उस जगन्मोहिनी माया का संबन्ध जीव के साथ होता है, यह कह कर उसका अब कार्य बताते हैं:—

श्लोक—**बहुरूप इवाऽऽभाति मायया बहुरूपया ।**
रममाणो गुणेष्वस्या ममाहमिति मन्यते ॥२॥

श्लोकार्थ—यह जीव इस बहुरूपा वाली व्यामोहिका माया के प्रभाव से आप भी बहुरूप वाला दीखने लगता है और जब उसके गुणों (विषयों) में रमण करने लगता है, तब मैं और मेरा यह भाव करने लगता है ।। २ ।।

सुबोधिनी—**बहुरूप इवेति** । सा ह्याभासमूलमाया बहुरूपा भवति । तया सम्बद्धोऽयं स्वयमपि बहुरूपो भवति । **इवेति** वचनं तस्याः सम्यक्स्वरूपसमर्पकाभावात् । तदा आनन्दार्थं तस्या गुणेषु रममाणः । तस्याः गुणान् गृहीतुमिच्छुः । **ममाहमिति** । ममेति गुणेषु । अहमिति मायायाम् । सम्बन्धप्रतिपादकावेतौ शब्दौ तस्य स्वरूपेऽर्थं समर्पयतः ।। २ ।।

व्याख्यार्थ—इस व्यामोहिका का मूल आभास है—कुछ का कुछ दिखा देना, किन्तु ये माया जगद्वर्ती पदार्थों को बनाती नहीं है, इसलिए इसे आभास मूल माया कहा है । जगत्कर्त्री माया जुदी है, यह सिद्धांत नृसिंहोत्तर तापिनी में 'जीवेशावाभासेन करोति' 'माया चा विद्या च स्वयमेव भवति' इत्यादि श्रुतियों से कहा गया है । कुछ का कुछ दीखना यह आभास का अर्थ है । अर्थात् अन्यथा दर्शन, विपरीत ज्ञान, उल्टी समझ ये सब आभास के ही अर्थ हैं । अर्थात् यह मोहक माया आभास से विपरीत ज्ञान से जीव और ईश को करती है । अर्थात् कुछ का कुछ दिखाती है । यह वहां सिद्धांत है । माया को दिखाने का निमित्त मात्र कहा है, किन्तु उपादान नहीं कहा । उपादान कारण तो परमात्मा ही है । वहीं इसके आगे ही कहा है कि 'तस्मादात्मन एवं त्रैविध्यं-योनित्वमपि' अर्थात् यह परमात्मा ही माया अविद्या और जीव, इन तीनों रूपों को धारण करने वाला है और सबका उपादान कारण भी यही है ।

यह मोहक माया बहुरूप है, अनेक तरह के रूपांतरों को दिखाने वाली है । अतएव जब यह व्यष्टि जीव उसके साथ सम्बन्ध करता है, तब आप भी बहुरूप जैसा दीखने लगता है और अनेक रूपांतरों वाला अपने आपको मानने लगता है, हो जाता है । रोगी, बलिष्ट, दरिद्री, धनी वगैरः । 'इव' जैसा शब्द इसलिए दिया है कि यह माया इस जीव को वास्तविक (सच्चा) स्वरूप देने में असमर्थ है । यह स्पष्ट करने के लिए 'इव' पद है । आनन्द की चाहना रखने वाला यह जीव, यह समझता है कि उसके साथ सम्बन्ध करने से मुझे आनन्द मिलेगा? और उसके साथ सम्बन्ध कर लेता है । तब आप भी बहुरूप होकर उसके गुणों (विषयों) में रमण करने लगता है । माया के गुणों को आप ग्रहण करना चाहता है, इसलिए 'मैं' और 'मेरा' यह भाव करता है । गुण माया के हैं । वे इसके हाथ कैसे लग सकते हैं । अतएव उनके आप अपने बनाने के लिए, माया में अहं भाव अपनपा जोड़ता है । और उसके विषयों में मेरापन ममत्व जोड़ता है । मैं और मेरा ये दो शब्द माया के साथ सम्बन्ध बनाने वाले हैं ।

इस श्लोक में अज्ञानी और वैसे जीवों को देह सम्बन्धी ज्ञान का प्रकार कैसा होता है ? यह दिखाया है । अर्थात् ऐसे जीव देह को ही अपना स्वरूप समझते हैं, और देह सम्बन्धी पदार्थों को अपने सम्बन्धी समझते हैं ।। २ ।।

आभास—एवं तस्याः कार्यमुक्त्वा तत्परित्यागोपायमाह—

आभासार्थ—इस तरह माया का कार्य बताकर अब उसके त्याग का उपाय बताते हैं—

श्लोक—**यर्हि वाव महिम्नि स्वे परस्मिन् कालमाययोः ।**
रमेत गतसम्मोहस्त्यक्त्वोदास्ते तदोभयम् ।।३।।

श्लोकार्थ—भगवदिच्छा वश जब कभी यह जीव चिद्रूप काल और माया को भी नियम में रखने वाले अपनी महिमा रूप आनंद भगवान् में मोह को छोड़कर रमण करता हैं, तब ही अहं मम भाव को छोड़कर उदासीन होकर रहता है । अर्थात् माया से मुक्त हो जाता है ।। ३ ।।

सुबोधिनी—**यर्हि वावेति** । यर्हि कदाचिन्मूलभूतस्य इच्छावशात् । **वावेति** निश्चयेन । स्वे महिम्नि स्वस्य महिमरूपे भगवति आनन्दे । गुणक्षोभककालस्य मोहिकाया जगत्कर्तृकाया मायाया नियन्तरि । तयोः कार्यं स्वेच्छया दूरीकृत्य प्रसन्नतया स्थिते यदि रमेत । तत्रापि भगवानेनं प्रति सर्वथा स्वमाहात्म्यं न बोधयतीति तस्य स्वामित्वे यदि सन्देहं न कुर्यात्, तदा गतसन्देह उभयं त्यजति । व्यामोहिकां मायां, गुणान्, तत्कार्यं देहादिकं वा, ममाहमिति भावं वा त्यक्त्वा उदास्ते तस्यामासक्तिं न करोति तदा निस्तार इति भावः ।। ३ ।।

व्याख्यार्थ—जब कभी सबके मूल भगवान् की इच्छा से । भगवदिच्छा से ही सब कुछ होता है, यह निश्चय है । यदि व्यष्टि जीव का महिमा महत्व भगवान् आनन्द है और सत्वादि गुणों को उभारने वाला काल है, और जगत् को करने वाली सर्वभवन सामर्थ्य माया है । किन्तु इन दोनों को अपने वश में रखने वाला वह भगवान् है । यह आनन्दमय भगवान् उन काल और माया के कार्यों को अपनी स्वतन्त्र इच्छा से ही दूर छोड़कर सर्वदा स्थिर रहता है । ऐसे भगवान् के स्वरूप में जब यह व्यष्टि जीव भी रमण करने लगता है, और भगवान् के प्रति कभी भी सन्देह नहीं करता अर्थात् भगवान् सबके मालिक हैं किन्तु मुझे अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं कराते हैं, तब वे कैसे स्वामी? इस तरह भगवान् के मालिकपन में सन्देह न करे, तब 'अहं मम' भाव को छोड़ देता है । तर जाता है । भगवान् में जब निश्छल प्रीति सम्पादन करता है, तब व्यामोहक माया और उसके गुण, किंवा माया के कार्य और देहादिक किंवा अहं मम भाव दोनों को छोड़कर किसी में भी आसक्ति नहीं करता; तिहाधत की तरह रहता है, जीवन्मुक्त हो जाता है, कृतकृत्य हो जाता है ।।३।।

आभास—एवं जीवसन्देहं परिहृत्य ब्रह्मसन्देहं निवारयति—**आत्मतत्त्वविशुद्ध्यर्थमित्यारभ्य न विमुह्यति कर्हिचिदित्यन्तेन**—

आभासार्थ—इस तरह जीव सन्देह दूर करके अब 'न विमुह्यतिकर्हिचित्' श्लोक पर्यन्त ब्रह्म विषय का सन्देह दूर करते हैं—

श्लोक—**आत्मतत्त्वविशुद्ध्यर्थं यदाह भगवानृतम् ।**
ब्रह्मणे दर्शयन् रूपमव्यलीकव्रतादृतः ।।४।।

श्लोकार्थ—आत्मा के यथार्थरूप की विशुद्धि होने के लिए भगवान् ने ब्रह्मा के लिए अपना सत्य स्वरूप दिखाते समय जो कुछ निष्कपट भाव पर प्रसन्न होकर कहा है, सो मैं कहता हूं सुनिये—॥ ४ ॥

सुबोधिनी—अत्राऽपि मुक्तिरस्माभिः प्रक्रियया निरूपितैव । स्वरूपमेवाऽग्रे निरूप्यते । तत्र प्रथमं ब्रह्मणोऽपि देहसम्बन्धाज्जीवतुल्य इति यद्दूषणं सर्वात्मकत्वानुपपत्तिर्वा तदत्र निराक्रियते । आत्मनस्तत्त्वं यथार्थं रूपं तस्य विशुद्ध्यर्थम् । लौकिकानां ज्ञानेन लौकिकभावेनाऽन्यथा प्रतिभानलक्षणां शुद्धिं दूरीकृत्य विशेषशुद्धिं सम्यग्बोधलक्षणां जनयितुम् । यदाह । न केवलं वचनं किन्तु ऋतं सत्यं स्वस्याऽऽनन्दरूपं ब्रह्मणे प्रदर्शयन् यदाहेति सम्बन्धः । प्रदर्शने कथने च हेतुः—**अव्यलीकव्रतादृत इति** । निष्कपटव्रतेन आदृतः सेवितः सन्तुष्टो वा ॥४॥

व्याख्यार्थ—इस देहादियुक्त अवस्था में भी जीव की मुक्ति हमने एक प्रक्रिया से कह दी है । इस विषय में एक दूषण पहले कह चुके हैं । यदि ब्रह्म को भी देह का सम्बन्ध होता है तो वह भी जीव के तुल्य ही रहा, और ऐसी अवस्था में वह ब्रह्म सर्वात्मक सर्वव्यापक नहीं हो सकता । ये सब दोष इस प्रकरण में दूर करने हैं ।

यही कहते हैं कि आत्मा का जो यथार्थ तत्व वास्तविक रूप उसकी विशुद्धि के लिए भगवान् ने ब्रह्मा को अपना सपरिकर रूप दिखाया और उपदेश भी किया । किसी विशेष के द्वारा वस्तु को पहचान लेना यह विशुद्धि कही जाती है । लौकिक अन्वेषणकर्त्ताओं का ज्ञान किंवा अन्वेषण (खोज) लौकिक भावयुक्त रहता है, अतएव वे लोग जो आत्मतत्व की शुद्धि (खोज) करते हैं वह शुद्धि कही जाती है । पर जीव जिस तरह आत्मतत्व समझता है, वह उसका प्रतिभान (समझ) लौकिक है, ऊपर-ऊपर का है । अतएव भगवान् ने उस समझ को दूर कर वास्तविक आत्म पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को दिखाया और उस विषय में उपदेश भी दिया । वह यही आत्म तत्व की 'विशुद्धि' है । इतने से ब्रह्मा को भगवतत्व का अच्छी तरह बोध हो गया । केवल उपदेश ही दिया हो सो नहीं, पर अपना आनन्दस्वरूप का दर्शन कराते हुए कहा । भगवान् ने ब्रह्मा को अपना स्वरूप दिखाया और आत्मतत्त्व कहा भी । इसका कारण बताते हैं कि भगवान् 'अव्यलीकव्रतादृतं' हैं । ब्रह्माजी ने जब भगवान् की आदर सहित सेवा की तब प्रसन्न होकर उन्होंने अपना स्वरूप दिखाया ॥४॥

आभास—एवं भगवद्वचनं वक्तव्यत्वेनोपक्षिप्य सन्तोषार्थमव्यलीकव्रतं ब्रह्मणो निरूपयति—

आभासार्थ—इस तरह से आगे के प्रकरण में भगवान् का वचन कहना है यह सूचना करके अब ब्रह्मा ने भगवत्संतोषार्थ जो निष्कपट व्रत किया उसका निरूपण करते हैं—

श्लोक—स आदिदेवो जगतां परो गुरुः स्वधिष्ण्यमास्थाय सिसृक्षयैक्षत ।
तां नाऽध्यगच्छद् दृशमत्र संमतां प्रपञ्चनिर्माणविधिर्यया भवेत् ॥५ ।

श्लोकार्थ—आदि देव और जगत् के श्रेष्ठ गुरु वह ब्रह्मा अपने स्थान में हो बैठा हुआ सृष्टि रचना की इच्छा से विचार करने लगा था कि प्रपंच का निर्माण कैसे किया जाय? किन्तु बहुत विचारने पर भी जिस दृष्टि (समझ) से प्रपंच का निर्माण करने की विधि मिल जाय, ऐसी योग्य उपाय दृष्टि उसकी समझ में न बैठी, विश्व सर्ग करने का उपाय ब्रह्मा को न सूझा ॥ ५ ॥

सुबोधिनी—स इति । नियमविशेषे व्रतशब्दः प्रवर्त्तते । सत्वत्र सर्वेन्द्रियाणां प्राणस्य च सर्वविषयपरित्याजनेन निरोधात्मकः । स चेत्स्वरूपतः फलतश्चैकविषयो भवति तदा निर्व्यलीकः । अयं च ब्रह्मा भगवदर्थं सृष्टिं करिष्यामीति संकल्प्य पश्चात्साधनान्यालोचयितुं प्रवृत्तस्तानि साधनानि भगवदात्मनि भगवदिच्छानुसारेण कार्यं कुर्वन्तीति यादृशमयं चिकीर्षति तादृशं भगवतो नाऽभिप्रेतमिति ते पदार्था न स्फुरिताः । तदा सन्निकर्षाभावात्तद्विषयकः साक्षात्कारो न जात इत्याह—स ब्रह्मा । यतोऽयं स्वयमेव प्रसिद्धः । तस्मात्प्रसिद्धस्याऽन्यस्याऽभावान्न ततः सन्देहनिवृत्तिः । **आदिदेव इति** । देवतान्तरोपासनापि निवारिता। गुरुरप्यन्यो नास्ति यतस्तदुपदेशेन वा कार्यं सिद्धयति । यतोऽयमेव सर्वस्याऽपि गुरुः । तीर्थाद्याश्रयणमपि नाऽस्तीत्याह—**स्वधिष्ण्यमास्थायेति** । अथवा । सर्वैरेतैर्विशेषणैरहमेव महान् किं ममाऽन्येन साधनेनेति मङ्गलादिकमप्यकृत्वा केवलं सिसृक्षया स्रष्टुमिच्छया साधनान्यैक्षत तदा पूर्वोक्तन्यायेन साधनोपस्थित्यभावात् तादृशं नाऽध्यगच्छत् । आलोचनादिकं त्वनुमानतर्कादिरूपं प्रकृतोपयोगि न भवति । उपादानगोचरापरोक्षज्ञानस्यैव साधनत्वात् । तदाह—**प्रपञ्चनिर्माणविधिर्यया भवेदिति** : यया दृशा प्रपञ्चस्य निर्माणमुत्पादनं तत्र विधिः प्रकारो यया भवति तां न प्राप्तवानित्यर्थः ॥ ५ ॥

व्याख्यार्थ—लोक में किसी विशेष नियम को 'व्रत' कहते हैं । ब्रह्मा ने व्रत धारण किया यह पूर्व श्लोक में कह चुके हैं । ब्रह्मा ने निष्कपट व्रत किया इसका यह अर्थ होता है कि अपने सब ही इन्द्रियों के सब तरह के विषयों का परित्याग करके प्राण और इन्द्रियों को रोक लिया जहां के तहां ठहरा रखे । साधन और फल की एकमुखता जब होती है, तो वह व्रत या साधन निष्कपट कहा जाता है । ब्रह्मा ने व्रत तो किया पर उसका स्वरूप और फल एक विषय नहीं रहा, इसलिए पहले भगवान् प्रसन्न न हुये उसे प्रपंच निर्माण की बुद्धि न मिली ।

ब्रह्मा के हृदय में प्रपञ्च और भगवान् के भेदभाव था । प्रपंचवर्ती पदार्थ कुछ दूसरे पदार्थ हैं और परमात्मा, कुछ और ही पदार्थ है । अतएव ब्रह्मा ने समझ रखा था कि मैं भगवान् के लिए सृष्टि बनाऊंगा और यों विचार कर सृष्टि के साधनों का अन्वेषण करने लगा । किन्तु साधन तो भगवन्मय थे भगवान् ही साधन और भगवान् ही फल (कार्य) रूप थे, भगवान् के अवयवों में हा प्रपञ्च निर्माण के साधन समा रहे थे, वे सब सर्वदा भगवान् की इच्छानुसार ही कार्य करने के अभ्यासी थे । ब्रह्मा जिस प्रकार उनके द्वारा प्रपंच निर्माण करना चाहता था वह प्रकार भगवान् को पसंद नहीं था, इसलिए उसका तप (व्रत) निष्कपट नहीं हुआ । प्रपंच निर्माण के पदार्थ साधन बुद्धि में न फुरे । भगवदभीष्ट पदार्थों के साथ ब्रह्मा की बुद्धि का सम्बन्ध होने न पाया, इसलिए साधनरूप पदार्थों का साक्षात्कार न हुआ । पदार्थों का साक्षात्कार न होने में तीन बातें बाधक थी

ब्रह्मा, आदिदेव जगतां परो गुरुः। जीव को जहां तक उससे श्रेष्ठ के द्वारा उसके संदेहों का निराकरण न हो ले वहां तक यथार्थ पदार्थों की स्फूर्ति नहीं होने पाती। यही बातें ब्रह्मा के आगे आई। वह स्वयं ब्रह्मा (ब्रह्म) शब्द से प्रसिद्ध था। उससे पृथक् अन्य कोई भी था ही नहीं, जिसके द्वारा संदेह निवृत्ति होती, अतएव उसे शुद्ध ज्ञान न हुआ और फिर उस समय वह आदिदेव था। आप ही केवल देव था। इसलिए अन्य देव को उपासना करके भी वास्तविक ज्ञान सम्पादन नहीं कर सकता था और दूसरा कोई उसका शिक्षक भी नहीं था, जिससे सीखकर कुछ समझ सके। क्योंकि वह आप ही सारे जगत् का एक ही श्रेष्ठ गुरु था। तीर्थ आदि का आश्रय लेने से श्रेष्ठ गुरु का मिलना संभव है किन्तु ब्रह्मा से वह भी संभव नहीं हो सका सो कहते हैं—'स्वाधिष्ण्यं' इत्यादि ब्रह्माजी ने अपने स्थान में ही स्थित रहकर सृष्टि रचना के साधनों का विचार किया था।

कहने का तात्पर्य इतना ही है कि 'ब्रह्मा' इत्यादि सभी विशेषणों से यह सूचित होता है कि "मैं सबसे श्रेष्ठ हूं सबसे बड़ा हूँ, मुझे सृष्टि साधनों को समझने में अन्य अलौकिक साधनों से क्या प्रयोजन है? यों गर्व करके ब्रह्मा ने भगवान् के शरण जाना प्रभृति मंगल आचरणादि कुछ भी न करके केवल सृष्टि के रचना की इच्छा से सृष्टि के साधनों का साक्षात्कार करना चाहा। ऐसी अवस्था में भगवदिच्छा परतंत्र सृष्टि के साधनरूप पदार्थ, इसकी जानकारी में न आये। प्रपञ्च के बनाने का उपाय ब्रह्मा की समझ में न आया।

कितने ही अर्ध नास्तिक तार्किक लोग 'अध्यगच्छत्' का अर्थ तर्क, अनुमान आदि आलोचन करते हैं। कहते हैं कि ब्रह्मा ने तर्क अनुमान के द्वारा प्रपञ्च निर्माण विधि जाननी चाही सो न हो सकी, किन्तु यहां अनुमान तर्कादि प्रस्तुत कार्य को सिद्धि में उपयोगी है ही नहीं, इसलिए यहां अधिगमन का अर्थ अपरोक्ष ज्ञान किंवा साक्षात्कार ही है। किसी भी वस्तु को बनाने में उसके उपादान निमित्त आदि कारणों को देख पाने पर ही कार्य-सिद्धि होती है। अपरोक्ष ज्ञान ही निर्माण का साधन हो सकता है, तर्क नहीं। यही कहते हैं कि 'प्रपंच निर्माण' इत्यादि। प्रपंच बनाने का प्रकार जिसके द्वारा समझ में आ जाय ऐसी दृष्टि अर्थात् परोक्ष ज्ञान किंवा साक्षात्कार उसे न हो सका ॥ ५ ॥

आभास—प्रकारः सर्वोऽपि ज्ञानेनैव सम्पाद्यते तदा तमेवाऽर्थं चिन्तयामास। यथा भगवच्चिन्तया भगवान् प्रत्यक्षो भवति तथा साधनचिन्तया साधनान्यपि प्रत्यक्षाणि भविष्यन्तीति। अनेन यः साधनमेव चिन्तयति न तु साधनसाधनं स भ्रान्तो भवतीति ज्ञापितम्। तदा भगवान् मदर्थमयं प्रयासं करोतीति तस्मै साधनमुपदिष्टवान्। तद्भगवन्मुखनिर्गतं वाक्यं मन्त्ररूपमिति मन्त्रोद्धारप्रकारेण तन्निरूपयति—

आभासार्थ—निर्माण का प्रकार सब ही ज्ञान से ही प्रायः सम्पन्न होता देखा गया है, इसलिए ब्रह्मा ने प्रपञ्च-निर्माण के प्रकार का खूब ही विचार किया। जैसे भगवान् की चिंतवना करने से भगवान् मिल जाते हैं, इसी तरह साधनों की चिन्तना करने से साधन भी मिल जायेंगे, उनका भी साक्षात्कार हो जाएगा। यह भावना ब्रह्मा के हृदय में थी, किन्तु यह भावना भूल है। इससे यह सूचित होता है कि जो साधनों की चिन्ता में ही मग्न रहता है, साधनों के साधनों का

विचार ही नहीं करता वह साधक भ्रम में पड़ जाता है उसका कार्य निष्फल रहता है। जब भगवान् ने देखा कि यह ब्रह्मा न जानकर भी मेरे साक्षात्कार करने के लिए ही ये सब मेहनत कर रहा है तब कृपाकर उन्होंने उसको अपने साक्षात्कार होने का साधन कहा। यह भगवान् के मुखारविंद से निकला हुआ, वचन मन्त्ररूप है, इसलिए मन्त्रोद्धार की तरह श्री शुकदेवजी इसका वर्णन करते हैं—

श्लोक—**स चिन्तयन् द्व्यक्षरमेकदाऽम्भस्युपाशृणोद्द्विर्गदितं वचो विभुः।**
स्पर्शेषु यत् षोडशमेकविंशं निष्किञ्चनानां नृप यद्धनं विदुः ॥६॥
निशम्य तद्वक्तृदिदृक्षया दिशो विलोक्य तत्राऽन्यदपश्यमानः।
स्वधिष्ण्यमास्थाय विमृश्य तद्धितं तपस्युपादिष्ठ इवाऽऽदधे मनः ॥७॥

श्लोकार्थ—खूब सावधान चित्त वाले ब्रह्माजी ने एक समय उस प्रलयकालीन जल के मैदान में एक दो अक्षर का वचन, दो वार बहुत समीप में ही कहा गया सुना। जो स्पर्श अक्षरों में से १६वाँ 'त' और २१वां 'प' है। अर्थात् 'तप' कहा जाता है। और हे राजन्! जिसे निष्किचन महात्मा लोग अपना धन समझते हैं। 'तप' 'तप' का वाक्य सुनते ही ब्रह्मा ने बोलने वाले का मुख देखने की इच्छा से दिशाओं का चारों तरफ निरीक्षण किया। किन्तु कुछ भी न देखा। केवल अपने और जल के सिवाय। तब तो फिर अपने स्थान में आकर निश्चल स्थित हुआ और अपना हित इसी में समझकर मानों किसी ने मुझे 'तप' करने का उपदेश किया है। यह निश्चय कर तप करने में मन लगाया ॥६-७॥

सुबोधिनी—स चिन्तयन्निति। पूर्वोक्तप्रकारेण स ब्रह्मा चिन्तयन्। अम्भसि जलमध्ये लीनो यथा वदति तद्वाक्यमिव द्व्यक्षरमुपाशृणोत्। द्वे अक्षरे यस्मिन् पदे तादृशमेकं पदमशृणोत्। तदपि द्विर्गदितं वारद्वयमुच्चारितम्। अनेन पदभेदो निवारितः। पदनित्यता च निरूपिता। तदा द्विरुक्तं पदं वाक्यरूपं जातमिति वच इत्युक्तम्। ननु व्याकुलश्चिन्ताकुलितश्च कथं जल उत्पन्नं तं शब्दमर्थादिपुरस्सरेण निर्धारितवांस्तत्राऽऽह—**विभुरिति**। अक्षरद्वयस्योद्धारमाह—**स्पर्शेषु यत्षोडशमेकविंशमिति**। स्वराणां द्विरूपता। स्वतन्त्रता इतरप्रधानाङ्गता च। तत्राऽक्षरद्वयस्य स्वतन्त्रतया निरूपणात्साङ्गमेव स्पर्शद्वयं भवति। तत्रापि प्रथमातिक्रमे कारणाभावादकारसहितं भवति। तत्र कादयो मावसानाः स्पर्शाः पञ्चविंशतिः पञ्चवर्गात्मकाः। तत्र चतुर्थपञ्चमयोरादिवर्णौ षोडशैकविंशरूपौ भवतः। तकारपकारावित्युक्तं भवति। तत्र साच्कस्यैवाऽर्थसमर्थकत्वात् निर्णयार्थं तदर्थमाह—**निष्किञ्चनानामिति**। अदृष्टजनकतापस्य कृच्छ्रादेस्तपधात्वर्थत्वात्तज्ज्ञापकाऽप्रत्ययाभावेऽपि धातुमात्रं लक्षणयाऽर्थपरमित्यभिप्रेत्याऽऽह। न विद्यते किञ्चिन येषाम्। किञ्चतु तापस्य निवारकम्। अतः स्वरक्षितस्य पदार्थस्य प्रतिबन्धकनिवृत्तेरावश्यकत्वात् तपःकर्त्तारो निष्किञ्चना एव भवन्ति। तदाह—**निष्किञ्चनानां धनमिति**। **नृपेति** सम्बोधनं तस्य धनस्य माहात्म्यदर्शितवात्। **यदिति** प्रसिद्धम्। सर्वप्रकारेण

तद्रक्षणीयमिति धनम् । धनकार्यकर्त्तृत्वाद्वा । तत्र प्रमाणमाह—**विदुरिति** । यतो लोके तपोधना इति प्रसिद्धाः । तद्धि पदमवश्यं स्पष्टवर्णात्मकमिति न वायुजलसम्बन्धादुत्पद्यते किन्तु वक्त्रा केनचिदुक्तमिति निश्चित्य तद्वक्तृदिदृक्षया दिशो विलोक्य तत्राऽन्यमपश्यमानः स्वयं तु नोक्तवानिति ज्ञात्वा अन्यं चाऽपश्यन् तदन्वेषणार्थं स्थलान्तरेऽपि गत्वा परितो वा भ्रमणं विधाय । पुनः स्वधिष्ण्यमास्थाय वक्तृचिन्तां परित्यज्य पदं विचारितवान् । तत्र पदचतुष्टयमध्ये आख्यातमेव अद्भवतीति निश्चित्याऽन्यस्य तादृशरूपाभावाल्लोट् परस्मैपदमध्यमपुरुषैकवचनं द्विरुक्तमिति निश्चित्य लोडर्थविचारे विध्यादिष्वर्थेषु प्रथमातिक्रमे कारणाभावात् विध्यर्थ एवाऽयमिति निश्चित्य अत्रैव विध्यर्थ इति परोक्षापरोक्षभेदेन क्रियाया लिङ्लोटोर्विधानात् । प्रेर्यपरोक्षापरोक्षभेदेन च प्रथमपुरुषमध्यमपुरुषयोर्विधानात् भवच्छब्देऽप्याज्ञापरोक्षत्वबोधनात् । प्रत्यक्षतया प्रत्यक्षं मां पश्यन् मदग्रे तपः कुर्विति तपस्युपादिष्ट इव तपसि मन आदधे ।। ६ ।। ७ ।।

व्याख्यार्थ—पूर्व प्रकरण की रीति से ब्रह्मा ने बहुत विचार किया। विचार करते-करते उसे ऐसा मालूम पड़ा कि मानो कोई जल में डूबा हुआ कह रहा है ऐसे दो अक्षर समीप में ही सुनें। जिस वाक्य में दो अक्षर हैं ऐसा पद सुना । वह भी दो बार कहा गया। इससे स्पष्ट होता है कि पद का भेद नहीं था अर्थात् एक पद का अन्वय एक क्रिया में, और दूसरे पद की सङ्गति दूसरी क्रिया के साथ। सो नहीं,किन्तु एक पद 'तप' सुबन्त दूसरा तिङन्त। अर्थात् तप का आचरण करो। 'तपः तप' इससे यह भी सूचित होता है कि अक्षरों की तरह पदों को भी नित्यता है। इस पक्ष में नास्तिकों की तरह वर्ण और पद दोनों इस सिद्धांत में अनित्य नहीं हैं। 'तप तप' यह दो बार कहा गया पद वाक्य रूप हो गया अर्थात् तिङ् सुबन्त का समूह किंवा कारक युक्त-क्रिया हो गई।[1]

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि चिन्ता में निमग्न अतएव व्याकुल चित्त इस तरह से पैदा हुये शब्द को अर्थ और अन्वयादि सहित वाक्य समझने में सावधान कैसे हुआ? इसके उत्तर में कहते हैं "विभुः" परब्रह्मोत्पन्न होने से यह समझने की उसमें सामर्थ्य थी। मन्त्र का जैसे उद्धार होता है इस तरह भगवद्वाक्य का भी उद्धार बताते हैं—'स्पर्शेषु' । इत्यादि । स्वरों को दो तरह से स्थिति रहती है। स्वतन्त्र रूप से और व्यञ्जन को प्रधानता देकर। अ, यह स्वतन्त्र स्थिति है और की मे भी ई की स्थिति है पर व्यञ्जन को प्रधानता देकर । व्यञ्जन की स्थिति अन्य चिरस्थायिनी होने से बोलने में सुगमता नहीं होती। इसलिये स्वर को अ प्रधान भी रखकर व्यञ्जन बोला जाता है। तप तप शब्दों में साङ्ग व्यञ्जन का निर्देश है, क्योंकि उच्चारणकर्त्ता ने इन दोनों व्यञ्जनों का स्वतन्त्र रूप से पृथक् ही उच्चारण किया है इसलिए ये दोनों साङ्ग स्पर्श द्वय कहे गये है।

क से म पर्यन्त २५ व्यञ्जन व्याकरण की परिभाषा में स्पर्श कहे जाते हैं। त और प दोनों स्पर्श हैं। एक सोलहवां है दूसरा इक्कीसवां है। तप। क वर्ग आदि पांच वर्ग माने जाते हैं एक-एक वर्ग में पांच-पांच व्यञ्जन हैं। सब मिलकर २५ व्यञ्जन हैं। इन सब का 'स्पर्श' नाम रखा गया

---

१. 'तिङ् सुबन्त चयो वाक्यम्' और 'क्रिया वा कारकान्विता' के प्रमाणानुसार।'

है। उनमें चतुर्थ और पंचम वर्ग के आद्य व्यंजन ये 'तप' हैं। व्यंजन मात्र स्वर सहित हों तब सार्थक माने जाते हैं। स्वर का त्याग करने में कोई कारण है नहीं, इसलिए अकार सहित ही वे कहे गये, अर्थ भी अनेक होते हैं तो यहां जो वह 'तप तप' शब्द कहा इसका अर्थ क्या है? अर्थ शब्द का भी अर्थ-प्रयोजन है। यह प्रयोजन अर्थ भी उसका सामान्य है। उसके विशेष अनेक हैं किन्तु प्रयोजन सबके साथ लगा हुआ है। जब तप के धात्वर्थ पर दृष्टि देते हैं तो कहना पड़ता है कि, तप धातु का अर्थ क्लेश है। किसी अदृष्ट फल के लिए किये जाते भूखे रहना प्रभृति जो कृच्छ्र हैं वे सब क्लेशात्मक ही है किन्तु क्लेश तो किसी की भी चाहना का विषय नहीं हो सकता। इसलिये वह सार्थ नहीं है यह कहना पड़ेगा। किन्तु जहां अर्थता का बोध कराना होता है, वहां उसके साथ अस्य प्रत्यय लगा दिया है 'तपस'। त्वं तपस् तप। हे ब्रह्मा तू अदृष्ट फल के लिए क्लेश सहन कर। किन्तु यहां तो तप तप केवल धातु मात्र का बोधन कराया है। अर्थ बोधक प्रत्यय का साहचर्य नहीं है, पर वह शब्द से न ही निकलता है तथापि लक्षणा से भी लाना है अन्यथा निरर्थक पद का प्रयोग माना जायगा। शक्य सम्बन्ध में लक्षणा होती है। यह क्लेश किसी के भी साथ सम्बन्ध रखता होना चाहिये, तब ही सार्थ कहा जायगा। ऐसी अवस्था में तप को भी अर्थना-विषय लक्षणा से बताते हुए कहते हैं कि 'निष्किंचनानां यद्धनं विदुः'।

हे राजन्! जो तप निष्किंचनों का धन माना गया है। जिनके पास कुछ भी लौकिक पदार्थ नहीं हो, उन्हें लोक में निष्किंचन कहते हैं। पर कुछ तो ताप निवारक होना चाहिये। क्लेश भी किसी ताप का निवारक रहना चाहिये, अन्यथा निष्किंचन होकर भी क्लेश का परिग्रह क्यों करे? वे परिग्रह करते हैं-इसलिए मालूम होता है कि क्लेश भी किसी ताप का निवारक होने से निष्किंचनों की अर्थना का विषय है। जिसकी वह रक्षा करते रहते हैं (स्वानन्द) उसमें कोई भी प्रतिबन्ध न आवे इसलिए किंवा उसमें आते हुए विघ्नों को दूर करने के लिए उन्हें उस कृच्छ्रादि तप की भी आवश्यकता है ही। इसलिए निष्किंचन लोग ही वास्तविक तप करने वाले होते हैं और उसकी रक्षा वे धन की तरह करते हैं। लौकिक पुरुष जैसे द्रव्यादि धन की रक्षा करते हैं, इस तरह निष्किञ्चन महात्मा लोग तप की रक्षा करते रहते हैं। अतएव उनका वही धन कहा गया है। हे राजन्! तुम धनवान् और धन सम्बन्धी काम करते रहते हो, इसलिए इसके माहात्म्य को तुम ही जानते हो इसलिए 'नृपः' यह सम्बोधन दिया गया है। 'विदुः' कहकर लोक का प्रामाण्य दिया है। लोक में निष्किचनों का तपोधन यह नाम प्रसिद्ध है। यत् (जो) शब्द से अवश्य रक्षणीयता कही गई है।

वायु किंवा जल के सम्बन्ध से भी कभी-कभी शब्द हो जाता है, किन्तु 'तप तप' यह शब्द तो स्पष्ट वर्ण वाला था इसलिए मालूम होता है, किसी चेतन वक्ता ने ही कहा है यह निश्चय करके ब्रह्मा ने चारों तरफ दिशाओं को देखा तो किसी वक्ता को न देखा। मेरे मुख से भी न निकला, न कोई दूसरा बोलने वाला दीखता है इत्यादि खूब विचार करके और इधर-उधर उसने भ्रमण करके भी निश्चय कर लिया। अब तो अपने स्थान पर बैठकर ही वक्ता की चिन्ता को छोड़कर वह उस 'तप' पद का ही विचार करने लगा।

आख्यात अर्थात् तिङन्त, क्रियावाचक पद होता है। अन्य का ऐसा रूप हो नहीं सकता, यह निश्चय करके उसने यह समझ लिया कि तप धातु के लोट् लकार के मध्यम पुरुष का एकवचन

'तप' है और इसे दो बार कहा है, अब जो लोट् के अर्थों का विचार किया जाय तो विधि (आज्ञा) आदि ब त से अर्थ प्राप्त होते हैं किन्तु सर्वप्रथम आज्ञा अर्थ है; उसे छोड़ देने का कोई कारण मालूम होता नहीं। अतः यह 'तप' विध्यर्थक ही है। यह निश्चय ब्रह्मा ने कर लिया। प्रत्यक्षार्थक विधि में लोट् और परोक्षार्थक विधि में लिङ् का विधान है और प्रेर्य (आज्ञा देने के योग्य) की परोक्ष अवस्था में प्रथम पुरुष और प्रेर्य की प्रत्यक्ष अवस्था में मध्यम पुरुष का विधान है। 'भवत्' शब्द का प्रयोग रहते भी आज्ञा में अपरोक्ष काल माना गया है। यहां 'तप' क्रिया का प्रयोग अपरोक्ष आज्ञार्थक मध्यम पुरुष के एकवचन में किया गया है। प्रत्यक्ष रीति से प्रत्यक्ष हुए मेरे आगे मेरा दर्शन करते हुए तप कर। इस तरह मानो किसी अदृष्ट पुरुष ने आज्ञा की है। इस तरह निश्चय कर ब्रह्मा ने तपस्या करने में मन लगाया ॥ ६ ॥ ७ ॥

आभास—तदा तपः कृतवानिति—

आभासार्थ—तब फिर वह तप करने लगा, यह कहते हैं—

श्लोक—दिव्यं सहस्राब्दममोघदर्शनो जितानिलात्मा विजितोभयेन्द्रियः ।
अतप्यत स्माऽखिललोकतापनं तपस्तपीयांस्तपतां समाहितः ॥ ८ ॥

श्लोकार्थ—जिसकी समझ कभी खाली नहीं गई ऐसे (अमोघ दर्शन) ब्रह्माजी ने प्राण और मन को वश में किया, ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों जीते। इस तरह से उस तपस्या करने वालों में श्रेष्ठ ब्रह्मा ने अखिल लोकों को तपा देने वाला तप दिव्य, हजार वर्ष पर्यन्त किया और वह साथ में आप फल के विषय में सावधान भी रहा ॥ ८ ॥

सुबोधिनी—दिव्यं सहस्राब्दमिति। सन्तापजनका योगज्ञानप्राणाः। तस्य त्रयमपि सम्पन्नमिति वक्तुं त्रयं विशेषणतया निरूपयति। **अमोघदर्शन** इति ज्ञानम्। अथवा। यस्तेन पदार्थनिर्धारः कृतः स तस्य इति वा निरूप्यते। **जितानिलात्मेति** योगजनितस्तपःशुद्धिर्वा। विजितोभयेन्द्रिय इत्यपि। जितोऽनिल आत्मा अन्तःकरणं येन। विशेषेण जितानि ज्ञानकर्मेन्द्रियाणि येन। अतप्यत आहारपरित्यागेन प्राणनिरोधेनाऽऽत्मानं संतप्तं कृतवान्। तदा तस्मिन् विद्यमाना लोकाः संतप्ता जाताः। यथा घर्मेण वस्त्रशोषणे जाड्यं गच्छति तथा लोकानाम्। तदाह—**अखिललोकतापनमिति**। अखिललोकस्य तापनं यस्मात्। तपसि सहजा ये दोषाः क्रोधग्लान्युद्वेगादयस्ते तस्य न जाता इति तदर्थं विशेषणं तपतां मध्ये अतितपीयानिति। **समाहित इति** सावधानः फले। यथा पाचको रसनिष्पत्तिं ज्ञात्वा पश्चान्न तपति। तदर्थं च दत्तदृष्टिर्भवति। तथाऽयमपीत्यर्थः ॥ ८ ॥

व्याख्यार्थ— श्रम सहने का सन्ताप कहना उचित है, योग (एक-चित्तता) ज्ञान एवं प्राणों को रोकने से श्रम होता है, यह तीनों तरह का श्रम ब्रह्मा से (सन्ताप) बन सका यह ब्रह्मा के तीन विशेषणों से सूचित किया है। 'अमोघ दर्शनः' जिसका ज्ञान कभी खाली न जावे इस विशेषण से

ब्रह्मा के ज्ञान की प्रशंसा की है अथवा ब्रह्मा ने जो पहले पदार्थों का निर्धार कर रखा था उसकी प्रशंसा में यह कहा है—'जितानिलात्मा' जिसने प्राण और अन्तःकरण को जीता है, इस विशेषण से और 'विजितोभयेन्द्रियः' जीत ली हैं, दोनों तरह की इन्द्रिय अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय जिसने, इस विशेषण से ब्रह्मा की योग के द्वारा प्राप्त शुद्धि और तप से प्राप्त शुद्धि दोनों तरह की शुद्धि दिखाई है। 'अतप्यत' इस क्रिया का तात्पर्य यह है कि सब इन्द्रियों के नियत आहार विषयों का परित्याग कर देने से ब्रह्माजी ने अपने देहादि को खूब ही संतप्त कर लिया। ऐसी अवस्था में ब्रह्माजी में विद्यमान् भू भुवादि लोक भी संतप्त हो गये। जैसे धूप में वस्त्रों को सुखा लेने से उनका गीलापन जाता रहता है, इसी तरह ब्रह्माजी के तप करने पर तत्स्थित लोकों का भी जाड्य जाता रहा। यही बात 'अखिल लोक-तापनः' सर्व लोकों को तपा देने (शुद्ध कर देने) वाले इस विशेषण में कही है।

तपस्या से साधारण जीवों में क्रोध, ग्लानि, उद्वेग किंवा अहंकारादि दोष आ जाते हैं किन्तु ब्रह्मा असाधारण जीव था इसलिए उनमें पूर्वोक्त दोष न आवे यह बात 'तपतां तपीयान्' इस विशेषण से कह दी है। अर्थात् ब्रह्माजी तपस्या करने वालों में अतिश्रेष्ठ तपस्या करने वाले थे और फल प्राप्ति होने में सावधान भी थे। जैसे रसोई बनाने वाला रसोइया रसोई में रस आने पर्यन्त सब तरह की निगाह रखता है और रस निष्पत्ति हो जाने पर ताप सहन करना भी छोड़ देता है, यही बात ब्रह्मा में भी रही। ये भी वैसे ही थे ॥ ८ ॥

आभास—एवं क्रियमाणे फलं जातमित्याह—

आभासार्थ—इस तरह तप करने पर जो फल प्राप्त हुआ सो कहते हैं—

श्लोक—**तस्मै स्वलोकं भगवान् समाहितः संदर्शयामास परं न यत्परम्।**
व्यपेतसंक्लेशविमोहसाध्वसं स्वदृष्टवद्भिर्विबुधैरभिष्टुतम् ॥ ९ ॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने भी सावधान रहकर ब्रह्मा को अपने लोक के दर्शन कराये। इस लोक से अन्य कोई भी लोक श्रेष्ठ नहीं है। यही सर्वश्रेष्ठ लोक था। इस लोक में अविद्यादि क्लेश रजोगुण कृत भूल भुलैया और सत्वगुण कृत उच्छाह से घबरा जाना कुछ भी दोष नहीं रहते और परमात्मदर्शी महात्मा लोक ही इसकी स्तुति करते रहते हैं ॥ ९ ॥

सुबोधिनी—तस्मै स्वलोकमिति । स हि भगवदर्थं सृष्टिं कर्तुं विचारयति । भगवांस्त्वेतादृशे लोके तिष्ठति न ह्येतादृशो ब्रह्मशक्यः । अतस्तस्य गर्वपरिहारार्थं स्वलोकं प्रदर्शितवान् । अ यथा अ त्मानमेव प्रदर्शयेत् । कृत्रिमवैकुण्ठस्य लक्ष्म्या अधिकृतत्वात् स्वलोकपदेन व्यापिवैकुण्ठमेवोच्यते । यद्यपि तमेव प्रदर्शयति तथापि तत्प्रदर्शनं न भगवतः किञ्चित्कार्यं जनयति किन्तु तस्यैव भक्तिजनकम् । अत आह—**तस्मा इति** । **भगवानिति** प्रदर्शनसामर्थ्यार्थ-

मुक्तम् । अन्यथा तददृश्यं कथं दृश्यं भवेत् । **समाहित इति** । स्वदृष्टिं तद्दृष्टौ योजयित्वा लोकं प्रदर्शयन्नप्यग्रे स्वदृष्टेः पृथक्करणार्थं यथा तद्दृष्ट्यैकं न प्राप्नोति तथा सावधान इत्यर्थः । लोकस्य वा तिरोभावस्वभावात्तद्दृष्टिस्पर्शेऽपि यथा न तिरोहितं भवेत् तदर्थं वा सावधानः । परं कृत्रिमवैकुण्ठात् । ब्रह्मस्वरूपं वा । **प्रभुत्वेन हरेः स्फूर्तौ लोकत्वेन तदुद्भव** इत्यक्षररूपं वा । **न यत्परमिति** ।न विद्यते यतः परमुत्कृष्टमन्यत् । अक्षरस्याप्यनेकधा प्रदर्शनसम्भावनयाऽप्येतदुक्तम् । तस्य गुणातीतत्वकथनार्थं गुणासाधारणधर्मान्निवारयति-- **व्यपेतेति** । विशेषेणाऽपेताः संक्लेशादयो यस्मात् । सम्यक् क्लेशा अविद्यादयस्तमसः । विशेषेण मोहो रजसः । साध्वसं सत्त्वस्य । साधु रस्यते क्षिप्यतेऽनेनेति साध्वसम् । सर्वस्मादेवाऽकार्यात् साधुस्तेन भयेन पृथक् क्रियत इति । व्यवहारेणाऽपि तस्य सगुणत्व निवारयति—**स्वदृष्टवद्भिरिति** । स्वस्यैव स्वस्मिन् वा दृष्टं दर्शनमात्मज्ञानं तद्वद्भिः । ब्रह्मविद्भिरेव तत्रापि स्तोत्रेण व्यवह्रियत इति न ब्रह्मत्वक्षतिः । तद्द्वाराऽन्यव्यवहारोऽपि भविष्यतीत्याशङ्क्य विशेषेण बुधैरित्युक्तम् । अभितः स्तुतिः सर्वोऽपि परिकरस्तादृश इति ।। ६ ।।

व्याख्यार्थ—ब्रह्मा ने भगवान् की क्रीड़ा के लिए सृष्टि रचने का विचार किया किन्तु भगवान् इस प्रकार के लोक में विराज रहे हैं, कि उस लोक का पता पड़ना ब्रह्मा के लिए अशक्य था। इसलिए भगवान् ने ब्रह्मा के गर्व को दूर करने के लिए पहले अपने लोक का दर्शन कराया। अर्थात् यह दिखाया कि ब्रह्मण: तुम मेरी क्रीड़ा होने के लिए लोक-रचना करना चाहते हो; किन्तु पहले यह तो देख लो कि मैं किस योग्यता के लोक में निवास करता हूँ। मेरे निवास करने के लिए किस योग्यता का विश्व चाहिये। अर्थात् भगवान् ने ब्रह्मा के गर्व को दूर करने के लिए पहले अपने निवास के योग्य निज लोक का दर्शन, ब्रह्मा को कराया। यदि भगवान् को अपने निवास के लिए स्वयोग्य लोक की रचना न कराना होता तो अपने लोक के दर्शन क्यों कराते ? केवल अपने स्वरूप के ही दर्शन करा देते। इससे स्पष्ट होता है कि ब्रह्मा को लोक रचना करने का जो गर्व था, उसे दूर करने के लिए उन्होंने निवास के योग्य अपने लोक का दर्शन कराया। आध्यात्मिक आधिभौतिक लोकों को भी स्वरूप और सामर्थ्य प्रदान करने वाला आधिदैविक लोक दिखाया।

कृत्रिम वैकुण्ठ श्रीलक्ष्मीजी के अधिकार में है। अतएव वह उनका है, किन्तु यहां 'स्वलोक' शब्द दिया गया है इसलिए मालूम होता है, अपने निज का रहने का व्यापिवैकुण्ठ (मुख्य अक्षर) धाम दिखाया। यद्यपि केवल ब्रह्मा को ही दिखा रहे हैं और मुख्य लोक का ही दर्शन करा रहे हैं, तथापि इस दर्शन से कुछ भगवान् का कार्य अधिक हो जावेगा? सो नहीं है। किन्तु इस स्वमाहात्म्य के प्रदर्शन से ब्रह्माजी की अपने में भक्ति होगी। इसलिए ही 'तस्मै' यह पद कहा है। 'भगवान्' यह पद भगवान् के लोक-प्रदर्शन सामर्थ्य को प्रकट करने के लिए कहा। अन्यथा जो व्यापिवैकुण्ठ लोक जीव सामर्थ्य से अदृश्य (देखने में न आवे) है, वह दृश्य कैसे हो? अर्थात् ऐसा होने पर भी भगवान् ने अपने सामर्थ्य से ही यह दिखाया। 'समाहितः' पद देने का कारण यह है कि इस समय तो प्रभु ने अपनी दृष्टि को ब्रह्मा की दृष्टि में प्रवेश कराकर अपने लोक का दर्शन करा दिया, किन्तु फिर आगे इस कार्य के अनन्तर ही यह मेरी दृष्टि पृथक् रही आवे, इसका दृष्टि में मिल न जाय, इस बात की भी सावधानी भगवान् ने रखी। दूसरी बात यह भी थी कि इस अक्षरात्मक व्यापि वैकुण्ठ का स्वभाव भी यह है कि जीव की दृष्टि के सामने आते ही वह छिप जाता है। कहीं ऐसा

न हो कि मैं ब्रह्मा को प्रदर्शन कराऊं और यह लोक उसके आगे प्रकट ही न हो। बस इस बात से ही भगवान् समाहित (सावधान) रहे। 'पर' शब्द का यह तात्पर्य है कि कृत्रिम वैकुण्ठ से यह लोक श्रेष्ठ था। अथवा अक्षर ब्रह्मरूप था। यह नियम है कि जब श्री पुरुषोत्तम प्रभु[1] स्वामी रूप से प्रकाशित होते हैं, तो अक्षरब्रह्म उनके लोकरूप से प्रकट होता है। अक्षरब्रह्म की भी अनेक स्फूर्त्तियां (स्वरूपदर्शन) होती रहती है किन्तु यहां तो सर्व मुख्य स्वरूप का ही दर्शन कराया। इसी हेतु से 'नयत्परं' जिससे अन्य कुछ भी श्रेष्ठ नहीं है, यह वाक्य दिया है।

यह भगवान् का अक्षरात्मक लोक गुणातीत है, प्राकृतिक गुण रहित है, इसलिए प्राकृतिक गुणों के असाधारण धर्मों का निषेध करते हैं 'व्यपेत्' इत्यादि से। सङ्क्लेश, विमोह और घबराहट ये प्रकट गुण के कार्य हैं। ये वहां नहीं थे। उलटी समझ (अविद्या) आदि दोष तमोगुण के हैं। चित्त की एकदम विचित्रता भ्रान्तता रजोगुण से होती है और साध्वस अर्थात् हर्ष के वेग से किसी अकार्य में भी प्रवृत्त हो जाना. अकार्य के भय की खबर न रहना यह सत्व गुण का प्रभाव है। 'साधु अस्यतेयेन, अच्छी तरह अर्थात् श्रेय के मिस से जो स्थिति से अन्यत्र फेंक दे, वह साध्वस।

स्वरूप और कार्य से भगवत् धाम की निर्गुणता कह दी। अब व्यवहार से भी वह निर्गुण ही है सो कहते हैं, कि 'स्वदृष्टवद्भिः' इत्यादि। इस लोक में व्यवहार से भी सगुणता नहीं है। अपने आप में किंवा स्वरूप भूत परमात्मा का जिन्होंने दर्शन किया है, ऐसे ब्रह्मवेत्ता लोग जिसका व्यवहार करते हैं, जिसको उपयोग में लाते हैं। यदि यह धाम सगुण होता तो ब्रह्मवेत्ता लोग उसके पास भी न जाते। ब्रह्मवेत्ता विद्वान् लोग इस भगवद्धाम की सर्वदा स्तुति करते रहते हैं, वे विशेषेण बुध हैं इसलिये प्रत्यक्षानुभव के सिवाय इन लोगों को भगवद्धाम के द्वारा अन्य व्यवहार होने की अपेक्षा ही नहीं है। 'अभिष्टुतं' का अर्थ है चारों तरफ से स्तुति। अर्थात् इस भगवद्धाम के चारों तरफ के पदार्थ इतने उत्तम हैं कि ब्रह्मवेत्ताओं को भी इसकी चारों तरफ से स्तुति करनी पड़ती थी॥ ९॥

आभास—एवं गुणकार्यं निवार्य गुणानपि निवारयति—

आभासार्थ—इस तरह गुण के कार्यों की सत्ता का निषेध करके अब यह कहते हैं कि यहां गुण भी नहीं है।

श्लोक—**प्रवर्त्तते यत्र रजस्तमस्तयोः सत्त्वं च मिश्रं न च कालविक्रमः।**
न यत्र माया किमुताऽपरे हरेरनुव्रता यत्र सुरासुरार्चिताः॥ १०॥

श्लोकार्थ—इस भगवद्धाम व्यापिवैकुण्ठ में रजोगुण तमोगुण सत्त्वगुण और इनके मेल का भी प्रवेश बिलकुल नहीं है। यहां काल का पराक्रम नहीं चलता और

---

१. यह कारिका तत्वदीप निबन्ध की है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सुबोधिनी टीका के पहले तत्वदीप निबन्ध का मूल भाग बनाया गया था और सुबोधिनी प्रभृति ग्रंथों की रचना कर लेने के बाद निबन्ध का प्रकाश बनाया गया। —दे. व. र.

की बात क्या? यहां माया भी नहीं है। इस धाम में तो सुर और असुर दोनों से सेवित हरि (भगवान्) के सेवक गण रहते हैं ॥ १० ॥

सुबोधिनी—प्रवर्त्तते यत्रेति । यत्र लोके रजस्तमश्च न प्रवर्त्तते । सत्त्वं च न ताभ्यां मिश्रम् । अनेन शुद्धं सत्त्वं तत्र प्रवर्त्तत इति ज्ञापितम् । तदपि ब्रह्मत्वबाधकमिति चेत् । न । वासुदेववदक्षरस्याऽप्युद्भवे शुद्धसत्त्वस्याऽऽधारत्वेनाऽपेक्षितत्वात् । अन्यथा निराकारे साकारता न सम्पद्येत । तावताऽपि न तस्मिन् गुणसम्बन्धः । आकारसमर्पणार्थमेव तत्सम्बन्धात् । यथा प्रतिकृतिसम्बन्धः पित्तलादीनाम् । तथापि प्रतिमादौ तदाकृतिव्यतिरेकेण न तत्राऽन्यो धर्मोऽस्ति । न च तत्राऽन्तर्बहिः पित्तलस्य व्यतिरेकेणाऽन्यः पदार्थो विद्यते । तस्माद्ब्रह्मत्वमविरुद्धम् । सम्बन्धश्च भगवदिच्छयेति न तद्गतो दोषः । अक्षरस्वरूपं च निबन्धे निरूपितम् । किञ्च । गुणास्तत्रैव भवन्ति यत्र तत्क्षोभकः कालो भवति । अन्यथा तेषां स्थितिर्व्यर्था स्यात् । कार्यार्थमेव हि तेऽङ्गीक्रियन्त इत्यभिप्रायेणाऽऽह—**न च कालविक्रम इति** । कालस्याऽपि तत्र विक्रमो नास्ति । कालस्तु वर्त्तते सत्त्ववत् । अन्यथा कदाचिदेव कथमभिव्यज्येत **आनन्दांशतिरोभावः सत्त्वमात्रेण तत्र** हीति निरूपणाच्चिद्रूपं तदित्युक्तं भवति । गणित श्चाऽऽनन्दस्तत्रोपपद्यते । अतो मोहिका माया तत्र सम्भविष्यतीत्यत आह—**न यत्र मायेति** । माया ह्यानन्दार्थं परिगृह्यते । अक्षरस्य च सामर्थ्यं न भगवता गृहीतम् । "**एतस्याऽक्षरस्य प्रशासने गार्गी**" त्यादिश्रुतेः । "**ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः । स एको ब्रह्मण आनन्द**" इति च । तस्मादस्य सालोक्य एव ब्रह्मभावः । अतस्तस्य तत्रत्यानां च मायाकार्याभावान्न तत्र व्यामोहिका माया । यत्र मायैव नास्ति तत्र किमुतापरे बद्धा जीवाः । ननु भगवत्सेवकानां पराधीनत्वादिभिर्बन्धसम्भवात्कथं ते निषिध्यन्त इत्यत आह—**हरेरनुव्रता यत्रेति** । हरेरनु पश्चाद्व्रतं येषाम् । यथा हरिस्तथा ते । अनशनात्मकं शरणागतपालनात्मकं व्रतं येषाम् । यथा भगवानुद्गच्छति सर्वोद्धरार्थम्, तथा तेऽपि लोकेभ्यो भक्त्युपदेशार्थं स्वावेशेन भक्तिजननार्थं चाऽऽविर्भवन्ति । किञ्च । यत्र वैकुण्ठे ते विद्यमानाः सुरासुरार्चिता भवन्ति । सत्त्वरजःपरिणामा ह्येते । तमसस्तत्र सम्भावनैव नाऽस्ति । यदि ते राजसास्तामसा वा भवेयुस्तदा तादृशैरर्चिता न भवेयुः । न ह्युत्कर्षाभावे समानैरर्चनं सम्भवति । असुरा अप्याविर्भूतेन भगवता सह युद्धार्थमागताः कियत्कालं भगवत्सम्बन्धे परमं सुखमनुभूय पश्चात्पराजिता अपि कदापि तादृशसुखस्याऽननुभवात्तत्र नित्यसम्बन्धान् स्तुवन्ति धन्या एत इति । साक्षादपि पूजनं प्रह्लादादिभिः । सुरैस्त्वावरणत्वेन पूज्यन्त एव ॥ १० ॥

व्याख्यार्थ—अक्षररूप इस भगवद्धाम में रजोगुण और तमोगुण का प्रवेश नहीं है और रजस्तम से मिला हुआ सत्त्वगुण भी वहां नहीं है। इससे यह स्पष्ट होता है कि विशुद्ध सत्व की प्रवृत्ति तो वहां होती है। यहां यदि कोई कहे कि यह विशुद्ध सत्व यदि अक्षर के ब्रह्मत्व में बाधक होता हो तो इसकी सत्ता वहां क्यों मानी जाय ? तो कहते हैं कि नहीं। यह शुद्ध सत्व अक्षरात्मक ही है, इसलिए यह ब्रह्मत्व का बाधक नहीं, प्रत्युत बहुत सी बातों का साधक है। जैसे वासुदेव भगवान् को बाहर प्रकट होने में इस विशुद्ध सत्व की आधाररूप से अपेक्षा है इसी तरह अक्षरब्रह्म भी जब बाहर प्रकट होता है, भगवल्लोकरूप होता है। उस समय उसको भी आधार की जगह विशुद्ध सत्व

की अपेक्षा रहती ही है, जो ऐसा न हो, तो व्यापिवैकुण्ठादि में आकार ही न होने पावे। अक्षरब्रह्म अप्रकटाकार है अतएव वही जब लोकरूप होवे उस समय उसमें आकार का समर्पण क्या होवे ? इसलिए आकार-समर्पण करने के लिए विशुद्ध सत्व की अपेक्षा है ही। यद्यपि आकार समर्पण के लिए इस अक्षरात्मक व्यापिवैकुण्ठ में शुद्ध सत्व की सत्ता है तथापि स्वरूप के साथ सत्व का कोई भी मेल नहीं होता। उसमें आकार आ जाय बस इतना ही सत्व का सम्बन्ध होता है। लोक में सोने, चांदी, पीतल के ढालवा पात्र आदि बनाये जाते हैं। उसमें पित्तल प्रभृति द्रव्यों के साथ ढालने के संचा वगैर: का सम्बन्ध होता है, जिसके द्वारा उन पित्तल वगैरह द्रव्यों में घड़े थाली वगैरह का आकार तो आ जाता है, किन्तु लोहे का या उससे बने सांचे का और कोई अंश पात्रादि में चौंटता नहीं है। यही बात यहां भी समझ लेने की है। भगवद्धाम, अक्षरमय है, किन्तु अक्षर-ब्रह्म तिरोहिताकार निराकार है. अतएव उसको लोकात्मक बनाने के लिए उसका विशुद्ध सत्व के साथ सम्बन्ध भगवान् कराते हैं। उस सत्व सम्बन्ध से उसमें आकार तो आ जाता है, पर उसमें और कुछ भी गुण का सम्बन्ध नहीं आता। जैसे पीतल वगैर: के बासनों में बाहर-भीतर कहीं भी पीतल ही पीतल रहता है, अन्य कोई पदार्थ नहीं रहता, इसी तरह यहां भी अक्षरब्रह्म साकार व्यापिवैकुण्ठ हो जाता है, किन्तु इसके बाहर-भीतर सर्वत्र अक्षरब्रह्म के सिवाय अन्य कोई भी पदार्थ नहीं है अत: ब्रह्मत्व में कोई विरोध नहीं आता। यह सत्व का सम्बन्ध भी कोई जबरदस्ती कर्मवश होकर नहीं होता, किन्तु क्रीड़ार्थ भगवान् की इच्छा ही ऐसी होती है कि सत्व का सम्बन्ध हो।

सर्व निर्णय प्रकरण निबन्ध में अक्षरब्रह्म का निरूपण कर दिया गया है—

"प्रकृति: पुरुषश्चोभौ परमात्माऽभवत्पुरा।
यद्रूपं समधिष्ठाय तदक्षर मुदीर्यते ॥"

एक बात दूसरी और भी है कि जिस पदार्थ में पदार्थ मात्र को क्षोभ दिलाने वाला काल जहां पहुंच सकता हो वहां ही गुण रह सकते हैं। काल के द्वारा उत्तेजित हुये गुण जगत् का कार्य चलाते हैं। काल यदि इनको क्षोभ न दिलावे तो गुणों की स्थिति ही व्यर्थ हो जावे। जगद्रूप कार्य के लिए ही उनका परिग्रह किया है और क्षोभ हुए बिना ये गुण कोई भी कार्य नहीं कर सकते, ऐसी स्थिति में काल के बिना गुणों की स्थिति निरर्थक ही है तो अक्षररूप व्यापिवैकुण्ठ में जो सत्व की स्थिति मानी वह भी निरर्थक ही समझी जा सकती है? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'न च काल विक्रम:।' इस अक्षरात्मक भगवद्धाम में आकार समर्पण के लिए यद्यपि विशुद्ध सत्व की स्थिति मानी गई है, तथापि काल का पराक्रम वहां नहीं है। साधारणकाल भगवान् का ही एक रूपांतर है। अतएव वह सत्व की तरह भगवान् अक्षर में ही रहता है वहां उसका विक्रम नहीं चलता। यदि अक्षर में काल की स्थिति सर्वथा न रहती तो फिर 'कदाचित्' कभी कभी उसका यह व्यापि-वैकुण्ठरूप में परिवर्तन क्यों होता? सर्वदा ही ऐसा का ऐसा रहता। कदाचित् ही इसका प्रकाश होता है इससे मालूम होता है कि काल स्वरूप से विद्यमान रहते भी विक्रम नहीं चल सकता। काल का किया क्षोभ इस भगवद्धाम में नहीं है।

भगवान् सच्चिदानन्द स्वरूप हैं। जब सृष्टि रचना करने की इच्छा होती है तब अपने सम्मिलित स्वरूपात्मक धर्मों को इच्छा से पृथक् करते हैं। तब वह धर्मात्मक सच्चिदानन्द अक्षर

'ब्रह्म' कहा जाता है, किन्तु जब भगवान् ब्रह्म की इच्छा सृष्टि के व्यापृत होने लगती है तब उसका आनंदांश कुछ छिप सा जाता है कुछ सत्व वृद्धि हो जाती है। उस सत्व से ही आनन्द कुछ दब सा जाता है। लोक में भी ऐसा होता है। जब मनुष्य हँसी खुशी में बैठा हुआ होता है। तब आनन्द बढ़ा हुआ रहता है, किन्तु जब इसे कुछ आवश्यकीय कार्य उपस्थित होता है, उस इच्छा से आनंद कुछ कम हो जाता है। हां चित (ज्ञान) बढ़ा हुआ रहता है। इसी तरह अक्षर में भी सृष्टि के समय में सत्व से आनन्द का तिरोभाव सा हो जाता है और उपासना परोक्षादि ज्ञान बढ़ा हुआ रहता है। अतएव 'स एको ब्रह्मण आनन्दः' आदि आनन्दवल्ली में कही हुई ब्रह्मानन्द की गिनती ठीक ठीक बैठ जाती है। यदि आनंद अंश तिरोहित (इव) जैसा न हो जाता तो आनन्द की गिनती कैसे हो सकती थी। तिरोहित जैसा कहने का यह तात्पर्य है, कि यह आनंद की गिनती उपचार मात्र है, वास्तविकी नहीं है। 'यतो वाचो निवर्तन्ते' आदि श्रुति में ब्रह्मानन्द को अपार कहा है अमेय कहा है। तथापि जिज्ञासुओं को ब्रह्मानंद समझाना ही है। ऐसी औपचारिक गिनती करके समझाना ही श्रुति ने उचित समझा। अतएव वहां की गिनतियों में सर्वत्र 'स्यात् स्यात्' (संभावनार्थक लिङ्) का उपयोग किया है। अन्दाज से की गई गिनती वास्तविक नहीं हो सकती। अस्तु गिनती कैसे भी हो किन्तु अक्षर ब्रह्म गणितानंद है, यह ठीक ही है।

इस पर कोई पूछ सकता है कि फिर तो मोहिका माया भी वहां भगवद्धाम में रही होगी ? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'न यत्र माया' मोहिका माया भी वहां नहीं है। लोक में आनन्द के लिये माया का ग्रहण किया जाता है। तमाशा वगैर: किन्तु भगवान् ने वास्तव में अक्षर का सामर्थ्य हटाया नहीं है। उसके आनंद का दिया सामर्थ्य जैसा का तैसा मौजूद रहता है यह बात 'एतस्याक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावा पृथिवी विधृते तिष्ठतः' श्रुति में 'प्रसाशन' शब्द से स्पष्ट है। आनंद के ही सब सामर्थ हैं। अक्षर का प्रशासन सर्वदा स्थिर रहता है : क्योंकि 'स एको ब्रह्मण आनन्दः' इत्यादि में अक्षर में भी छिपी हुई आनंद की नित्य सत्ता स्वीकारी गई है, इसलिये जब इस अक्षर का सालोक्य हो जाता है, अर्थात् अक्षरात्मक व्यापि वैकुण्ठ लोक में जब जीव (शुद्ध-चेतन) पहुँच जाता है, तब ही इसे ब्रह्म-स्वरूप-प्राप्ति होती है। ऐसी हालत में यदि वहां माया का प्रवेश होता तो वहां पहुंचने पर चेतन को ब्रह्मभाव कैसे होता ? इसलिये कहना पड़ता है, वहां पहुंच जाने वालों में किंवा उस लोक में माया का कोई भी कार्य देखने सुनने में नहीं आता, इसलिये वहां माया व्यामोहिका नहीं है यह स्पष्ट है। जब माया ही नहीं है, तो फिर माया में बंधे हुये अन्य जीवों की तो वहां बात ही कैसी ?

यदि कोई यह कहे कि भगवान् की सेवा करने वाले पराधीन है यह तो मानना ही पड़ता है। ऐसी अवस्था में पराधीनों को बद्ध जीव कहना भी ठीक होता है तो उनका निषेध क्यों करते हो ? उसके उत्तर में कहते हैं—'हरे रनु व्रता' इत्यादि उन भगवद्भक्तों का व्रत भी भगवान् के सदृश होता है। अनशन (उपवास) को लोक में 'व्रत' कहते हैं। भगवान् का स्वभाव शरणागत पालन व्रत है और वह अनशनात्मक भी है। जिस अवस्था में जो रहना चाहता या आना चाहता है उस जीव को उसी अवस्था में रहने देना आने देना और फिर उसका हित कह देना यह शरणागत पालन है। 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांतथैव भजाम्यहम्' गीता का भी यही तात्पर्य

है। शबरी, चैद्य आदि को उसी अवस्था में रखते हुये उनका वास्तविक हित किया। यह सामर्थ्य केवल भगवान् में है; किन्तु व्यापि वैकुण्ठ में रहने वाले नारदादि फिर पार्षद प्रभृति भी ऐसे हैं। क्योंकि वे भगवान् के 'अनुव्रत' हैं। भगवान् का दिया हुआ ही बल उनमें हैं, भगवान् के अनुपश्चात् अर्थात् उनके सामर्थ्य से ही इनका व्रत है। जैसे भगवान् वैसे उनके भक्त भी हैं। भगवान् का व्रत शरणागत पालन है,अनशनात्मक हैं,ता भक्तों का भी ऐसा ही हैं। जिस तरह भगवान् सर्वोद्धार करने के लिए लोक में प्रकट होते हैं, इसी तरह में आज्ञानुवर्ती भगवदीय भी लोक में सबका उद्धार कराने के लिए प्रकट होते हैं। लौकिक भोग किंवा कर्मफलों का भोग न करना, यही अनशनात्मक व्रत भगवान् का है। 'अनश्नन्नन्यः अभिचाकशीति' श्रुतिः। ऐसा ही व्रत इन भागवतों का है। ये भी कर्मवश हो कर न तो प्रकट होते हैं और न उन्हें कर्मफल भोगने ही पड़ते हैं।

और दूसरी बात यह भी है कि जिस समय ये भगवद्भगण भगवल्लोक वैकुण्ठ में निवास करते हैं उस समय सुर और असुर दोनों इनकी पूजा करते हैं, आज्ञा धारण करते हैं। सुरगण सत्त्वगुण का परिणाम (फल) हैं। और असुर लोग रजोगुण के परिणाम स्वरूप हैं तमोगुण की तो वहां संभावना भी नहीं हैं। ऐसी अवस्था में यदि भगवान् के अनुचरों में भो विशुद्ध सत्त्व के सिवाय प्राकृत सत्त्व और होते तो फिर सात्विक राजस सुरासुर, इनकी अर्चना क्यों करते। भगवद्भक्त भी सात्विक, राजस और सुरासुर भी सात्विक राजस। फिर तो दोनों समान हो गये पूजा कैसी ? किसी तरह का भी उत्कर्ष न होने से समान समान की पूजा नहीं करता। भगवान् जब लोक में अवतार लेते हैं, तब असुर उनके साथ युद्ध करने के लिए आते हैं। और किसी तरह से भी हो, पर कितने ही समय पर्यन्त भगवान् के सम्बन्ध से परमसुख का अनुभव कर जब पीछे हार जाते हैं तो फिर उन्हें वैसा सुख का अनुभव होता नहीं है, इसलिए वैकुण्ठ में भगवत्संबन्ध के परमसुख का नित्य अनुभव करते भगवद्भक्तों को देखकर वे लोग उनकी स्तुति करते हैं। उनकी इस तरह पूजा करते हैं:—'वाह वाह ! ये लोग धन्य हैं, जो इस तरह सर्वदा भगवत्सुख का अनुभव करते हैं'। इत्यादि, इत्यादि। प्रह्लाद आदि असुर तो भगवद्भक्तों की साक्षात्पूजा भी करते हैं। और सुरगण तो भगवान् के आवरण (परिवार) रूप से भक्तों का पूजन करते हैं ॥१०॥

आभास—तेषां भगवत्तुल्यरूपं निरूपयितुमनुवर्णयति

आभासार्थः—अब भगवद्भक्तों का रूप भगवान् के समान है। इसका स्पष्ट निरूपण करते हैं—

श्लोक—**श्यामावदाताः शतपत्रलोचनाः पिशङ्गवस्त्राः सुरुचः सुपेशसः।**
सर्वे चतुर्बाहव उन्मिषन्मणिप्रवेकनिष्काभरणाः सुवर्चसः।
प्रवालवैडूर्यमृणालवर्चसः परिस्फुरत्कुण्डलमौलिमालिनः ॥११॥

श्लोकार्थ—श्याम और स्वच्छ स्वरूप वाले, पीताम्बर धारण किये हुये शीत मधुर प्रकाश युक्त कोमल श्री अंग वाले, सब के सब चार चार भुजाओं से शोभित, चमचमाते मणि श्रेष्ठों से जड़े हुये सुवर्णाभरण धारण किये हुये, आत्मकान्ति से शोभित प्रवाल वैडूर्य, मणि, और मृणाल के समान हैं प्रभा जिन्हों की ऐसे, और चमकते हुये कुण्डल और मस्तक की रत्नमालाओं से शोभित, भगवद्भक्त पार्षद लोग वहां सर्वदा निवास करते हैं ॥११॥

सुबोधिनी—**श्यामावदाता इति** । भगवतः षोडशगुणाः प्रसिद्धाः सच्चिदानन्दानां प्रत्येकं पञ्च गुणाः समुदायस्यैक इति । तत्र भगवत्सेवकानां दश गुणाः । अक्षरस्य सच्चिद्रूपत्वात् । तान् दश गुणान्निरूपयति—**श्यामावदाता इति** । लोकत्वेन तदुद्गमान्नाऽत्र श्यामादीनामुपपत्तिर्वक्तव्या । श्यामाश्च तेऽवदाताश्च । इन्द्रनीलमणिवत् । मध्यन्दिनसवितृमण्डलमध्यवत् । यथा वीतार्चिषोऽग्नेर्नीलोपकाशो(?)चिस्तद्वद्वा । एवं शुद्धरूपता निरूपिता । सौन्दर्यं निरूपयति—**शतपत्रलोचना इति** । कमलनयनाः । एवं स्वरूपतस्तुल्यत्वमुक्त्वा सामग्र्यापि तुल्यतामाह—**पिशङ्गवस्त्रा इति** । सर्वे पीताम्बराः । सूर्यमण्डलस्याऽपि श्यामावदातत्वात्तस्य यथाऽशीतला रुक् तद्वन्न भवति । न वा चन्द्रस्येवाऽल्पा रुक् । किन्तु सुरुचः । शोभना रुचो येषाम । न च तद्दर्शने घटादिवद्विषयसंस्कारकं तेजोऽपेक्ष्यते । किञ्च । **सुपेशसः** अतिकोमलाः । **रूपं गन्धश्च शब्दश्च रसश्च स्पर्श एव च । सत्त्वस्यैते पञ्च गुणाः सर्वोत्कृष्टा निरूपिताः** । **चिदंशस्याऽपरे पञ्च सर्वोत्कृष्टा भुजादयः** । सर्वे चतुर्बाहवः । धर्मार्थकाममोक्षास्तेषां हस्तप्राप्ता इति निरूपणार्थं चतुर्भुजत्वम् । उन्मिषन्तो मणिप्रवेका मण्युत्तमाः निष्कादिपदकाद्याभरणेषु येषाम् । यद्यपि गृहादिष्वलङ्कारा भवन्ति तथापि पदकादयश्चेतनानामेव । **सुवर्चसः** । वर्चश्चेतनकान्तिः । यथा महापुरुषाणां दिव्यस्त्रीणां वा तदेव वर्चःशब्देनोच्यते । सुष्ठु वर्चो येषाम् । सर्वोत्तमदेहकान्तयः । सर्वेषामेकरूपत्वं प्राप्तं विशेषेण निवारयति—**प्रवालवैडूर्यमृणालवर्चस इति** । यथा प्रवाले भ्योऽन्तःस्निग्धा गौरकान्तिर्निर्गच्छति तथा तेभ्योऽपि श्यामावदातेभ्यो गौररूपा कान्तिर्निर्गच्छति । ते बहुभिर्विषयैर्भगवद्भक्तिकर्त्तारस्तथात्वं बोधयितुं तत्र तादृशकान्तिमन्तो भवन्ति । एवं वैडूर्यस्य स्निग्धार्धपीतश्यामच्छविकान्तिः । व्रततीर्थादिभिः सेवया च ये पूर्वं भक्ताः ये ज्ञानेन भक्तास्ते मृणालवर्चसः । एवमेकरूपत्वेऽपि पूर्वकृतभक्तिप्रकारभेदादनेकरूपास्त इति निरूपितम् । परमोत्साहयुक्तास्त इति तेषामन्तःकरणधर्मनिरूपणार्थं विशेषणान्तरमाह । परितः स्फुरतां कुण्डलानां मौलीनां च या मालास्ता विद्यन्ते येषु । कुण्डलपरिभ्रामणेन मुकुटपरिभ्रामणेन च सोत्साहभगवत्परिचर्याकर्त्तार इति भजनानन्दस्तेषु निरूपितः ॥ ११ ॥

व्याख्यार्थ—भगवान् के सोलह गुण प्रसिद्ध हैं । भगवान् सच्चिदानन्दात्मक हैं अतएव एक एक के धर्मात्मक स्वरूप के पांच पांच गुण होने से १५ पन्द्रह । और समुदाय का एक गुण, यों सोलह, । यह अक्षरात्मक भगवल्लोक सम्पूर्ण सच्चिद्रूप है । आनंदांश तिरोहित है, यह पहले कह चुके हैं । इसलिये सच्चिदात्मक लोक के सच्चिदात्मक पार्षदों के गुण दश ही हैं । आनंदांश पृथक् हो गया हैं, इसलिये भगवदीयों के उन दश गुणों का निरूपण करते हैं । "श्यामावदाताः ।' इत्यादि ।

यह अक्षर ब्रह्म लोक रूप से प्रकाशित हुआ है, इसलिये श्यामत्वादि के लिये युक्ति देने की आवश्यकता नहीं है। यहां के निवासी पार्श्वद लोग इन्द्रनील मणि की तरह श्याम और स्वच्छ स्वरूप थे। मध्याह्न के सूर्य मण्डल के मध्यभाग की तरह किंवा जिस अग्नि की ज्वाला निकल चुकी है। ऐसे अग्नि के नील प्रकाश की तरह वे नीलोज्वल थे। इस तरह उनकी शुद्धता निरूपण की। अब सौंदर्य निरूपण करते हैं। कमल के पत्तों की तरह मनोहर गुलाबी और तीखे नेत्र वाले। इस तरह सब ही पार्षदगण स्वरूप से समान हैं'। यह कह दिया। अब उनकी अन्य सामग्री भी समान है यह कहते हैं—'पिशङ्गवस्त्राः' सबके सब पीत वस्त्रों को धारण कर रहे थे।

यहां किसी को यह प्रश्न हो सकता है कि सूर्य मण्डल के मध्यभाग की तरह श्यामावदात स्वरूप बताये तो उनका प्रकाश भी बड़ा गरम होगा। असह्य होगा ? तो इसका उत्तर देते हैं—'सुरुच'। असह्य प्रकाश नहीं था और चन्द्र की तरह अल्प प्रकाश भी नहीं था, किन्तु सबकी ओज कान्ति शीतल और सप्रकाश थी। जैसे घटादि पदार्थ को प्रकाशित करने के लिये बाह्य उजाले की जरूरत होती है, इस तरह इनका दर्शन होने के लिये अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं थी, ये स्वयं प्रकाशमान थे। ये सब अति कोमल थे। दिव्य*, रूप, गन्ध, शब्द, रस और स्पर्श ये ५ गुण विशुद्ध सत्व के हैं, सो इनमें विद्यमान थे। यह पांच विशेषणों से कह दिया।

अब चैतन्य के भी पुरुषार्थादि पांच गुण है। उनका भी 'सर्वे चतुर्वाहवः' आदि पांच विशेषणों से निरूपण करते हैं—

सब ही भगवद्भक्त लोग चार भुजा युक्त थे। अर्थात् यह स्पष्ट होता था, कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पुरुषार्थ इन लोगों को हस्त प्राप्त थे और चमकते हुये, अत्युत्तम हीरा, प्रभृति मणि इनके सुवर्ण के पदकों में जड़े हुये थे। इस तरह के आभूषण इन लोगों ने धारण कर रखे थे। यद्यपि गृह आदि जड़ पदार्थों की भी रत्नादि से शोभा बनाई जाती है, तथापि यहां पदक कहे गये हैं। हारों में पदक चेतनों के ही होते हैं। जैसे महापुरुषों की और दिव्य-स्त्रियों की देह में से चैतन्य कान्ति देह में से प्रकाशित होती रहती है, इस तरह ये भी 'सुवर्चा' थे। अर्थात् इनके देह में से भी चैतन्य कान्ति बाहर प्रकाशित होती रहती थी किन्तु परस्पर कुछ भेद था। अभी तक सब ही विशेषणों से इन सब का तुल्य ही स्वरूप था, ऐसा मालूम हुआ, किन्तु नहीं। सब में ही अपने अपने विशेषों से परस्पर कुछ भेद भी था, यह कहते हैं:—'प्रवाल' इत्यादि।

प्रवाल की कान्ति दूसरी और वैडूर्य मृणाल की कान्ति दूसरी होती हैं। जैसे प्रवालों के गुलाबी रंग में से एक गोर कान्ति निकलती है। इसो तरह पार्षदों के भी श्री अंगों में से एक तरह की श्याम और गौर स्वच्छ कान्ति निकलती थी। ये लोग भिन्न साधन विषयों को लेकर भगवान् की भक्ति करने वाले थे। यह दिखाने के लिये यहां इनकी कान्ति के भेदों का प्रदर्शन कराया है। वैडूर्य मणि (लेसनियां) की रंगत कुछ गंभीर, पीली कुछ श्याम, ऐसी अनेक तरह

---

* १. रूपं=श्यामावदाता २. गन्धः=शतपत्रलोचनाः ३. शब्दः=पिशंगवस्त्राः। वासः छन्दोमयं सम्य वेदस्य शब्द रूपत्वात् ४. रसः=सुरुचः ५ स्पर्शः=सुपेशलाः (पो. कण्णमणि शास्त्री)

की होती है। मृणाल की कुछ हरित कान्ति और प्रवालों की हलकी गुलाबी होती है। कितने ही व्रत तीर्थादि के द्वारा भगवद्भक्त हुये हैं कितनों ही में परिचर्या (चाकरी) के द्वारा भगवद्भक्ति प्राप्त की है, और कोई-कोई भगवन्माहात्म्य को जानकर ही भक्त हुये हैं अतएव भक्ति के प्रकार भी अनेक हो गये हैं। यद्यपि सबके सब भक्त हैं, पार्षद हैं, समान रूप हैं, तथापि पूर्व में की हुई भक्ति के साधन और भक्ति के प्रकार अनेक होने से ये अनेक रूप थे। इन विशेषणों में इनके आध्यात्मिक और आधिदैविक स्वरूपों का भी परोक्ष रूप से वर्णन है। भक्ति इनका आध्यात्मिक स्वरूप है और आनंद आधिदैविक। भगवत्सेवा करते समय चलन होने से, इनके कुण्डल और मस्तक की रत्नमालायें चमकती जाती थी। रत्न जटित मुकुट के चलन होने से और कुण्डलों के भ्रमण से मालूम होता है कि भगवान् की सेवा करने में इन्हें पूर्ण उत्साह था। इससे मालूम होता है कि भजन (सेवा) का आनंद इनमें प्रतिष्ठित था ॥११॥

आभास—एवं तत्रत्यानां भगवत्सेवकानां निर्दोषत्वमुक्त्वा लोकत्वाय वैकुण्ठस्य गुणानाह—**भ्राजिष्णु भिरिति** द्वाभ्याम्।

आभासार्थ—इस तरह वहां रहने वाले सेवक लोक निर्दोष हैं। यह दिखाकर इस लोक की भगवल्लोकता सिद्ध करने के लिये अब वैकुण्ठ के गुणों का वर्णन करते हैं, दो श्लोकों में:—

श्लोक—**भ्राजिष्णुभिर्यः परितो विराजते लसद्विमानावलिभिर्महात्मनाम्**
विद्योतमानः प्रमदोत्तमाद्युभिः सविद्युदभ्रावलिभिर्यथा नभः ॥१२॥

श्लोकार्थ—यह व्यापि वैकुण्ठ लोक सर्वज्ञ प्राय पार्षदों के उत्तमोत्तम सुन्दर देदीप्यमान विमानों की पंक्तियों से बड़ा शोभित है। और जैसे बिजली सहित मेघ पंक्तियों से आकाश शोभायमान चमकता रहता है,इस तरह यह लोक भी दिव्य महिला सहित पार्षदों से शोभायमान हो रहा है ॥१२॥

सुबोधिनी—सेवकानां भगवतश्च क्रमेण विषयानन्दो निरूप्यते। तत्रापि भगवान् प्रथमं सेवकानेव सानन्दान् करोतीति तेषामेव विषयानन्दनिरूपणम्। विषयेषु तावदबला इति तदाधारेषु विमानमिति स्वस्य च परिज्ञानमितीश्वरकृतभयाभाव इति चतुर्भिगुणैर्विषयोत्कर्षः। अन्नादीनां तु दोषाभावे प्रवेशः। रसादीनां त्वेतदङ्गत्वम्। तदाह। भ्राजिष्णुभिः कान्तिमद्भिर्विमानावलिभिर्विमानपंक्तिभिर्यो लोकः परितो विराजते। वैकुण्ठशोभाधायकानि विमानानि भगवतैव निरूपितानीति न तत्र कापि शङ्का। लसन्तीति सर्वोत्कृष्टानि। महात्मनामिति सर्वज्ञानाम। परिच्छेदं परित्यज्य पूर्णत्वं वा प्रापितानाम्। किञ्च। प्रमदोत्तमाद्युभिः। प्रमदोत्तमास्तेषां भोगहेतवः। अन्यथा भोगरागो न भवेत्। किन्तु विषयकृतरागेणैव रागवत्त्वमिति भगवदिच्छयैव तथात्वमिति निरूपितम्। तासां कान्तिभिरयं लोको विद्योतमानः। लोकापेक्षयाऽपि तासामतिकान्तित्वं निरूपितं भोगार्थमेव। तासामपि कान्तिः पुरुषसहितानामेव न केवलानामिति दृष्टान्तेनाऽऽह—यथा विद्युत्सहिताभिरभ्रावलिभिर्मेघपंक्तिभिर्नभ आकाशं सर्वतो व्याप्तं तद्वदित्यर्थः ॥ १२ ॥

व्याख्यार्थ—सेवकों का और भगवान् का विषयानन्द क्रम से कहा जाता है। इसमें भी भगवान् पहले अपने सेवकों को ही सुखी हुये देखना चाहता है, इसलिए पहले सेवकों के विषयानन्द का निरूपण किया जाता है।

विषयभोग रागादि में प्रधान प्रमदागिनी जाती है और उनके रहने के स्थानों में विमानों की भी गणना प्रथम है, पर ये सब भगवत्कृत हैं। अतएव ईश्वर की तरफ से आते हुए मृत्यु आदि का कुछ भी भय यहां नहीं है और इसीसे उन्हें अपना और सब पदार्थों का विज्ञान बना हुआ है। इस तरह चार तरह के गुणों से विषयानन्द का उत्कर्ष दिखाते हैं। प्राकृतिक, गुणकृत, कर्मवश होकर जो विषयानन्द प्राप्त होता है, उसमें न तो उत्तम फल है, न उत्तम साधन है, न उत्तम भोक्ता है और न उत्तम विषयानन्द है। यहां चारों प्रकार से उत्तमता विद्यमान है। आत्म परमात्म ज्ञान सहित भोक्ताओं का निरूपण 'महात्मनां' शब्द से कर दिया और 'लसद्वियाना वलिभिः' तथा 'प्रमदोत्तमाद्युभिः' उत्तम विषयानन्द का निरूपण करा दिया और यह सब भगवद्रूप है, भगवत्कृत है, अतः साधन और फल की उत्तमोत्तमता कह दी गई।

यदि कोई कहे कि विषयकोटि में तो खान, पान प्रथम गिना जाता है, तो फिर यहाँ अन्नादि का वर्णन क्यों नहीं किया ? इसके लिए कहते हैं कि अन्नादि की तो शेष में गणना की गई मुक्त जीव निर्दोष होते हैं। अतएव यहां अन्न, रस आदि का निरूपण नहीं किया। अन्न का ही अंग रस है। यही सब विशेषणों के द्वारा कह दिया गया है। चमचमाते विमानों की पंक्तियों से यह लोक सब तरह से शोभित था। अपने वैकुण्ठलोक की शोभा बढ़ाने वाले विमान आदि पदार्थ भगवान् ने ही प्रकट कराये थे, इसलिए यहां भय, दुःखादि की शंका नहीं है। ये विमान और प्रमदोत्तमा आदि भी भगवान् ने अपने सर्वज्ञ भक्तों को भोगने के लिए दिये हैं।

अथवा महात्मा शब्द का यह अर्थ है कि 'जो लोग[1] परिच्छेद को छोड़कर पूर्णता को प्राप्त हुए हैं, वे महात्मा, उत्तम, उत्तम महिलागण इनके भोग के लिए दी गई हैं। प्रमदोत्तमाओं के बिना विषय भोग में राग हो नहीं सकता। इसलिए इन लोगों को जो विषय का भोग करने में राग हुआ है, वह विषयकृत है, कर्मकृत नहीं है। विषय स्त्री आदि तो भगवदिच्छा से भगवत्कृत है, अतएव दोषाभाव भयाभाव है। आनन्दवल्ली उपनिषद् में पर ब्रह्मानन्द को समझाने के लिए आनन्दों की कई बार अन्दाजन गणना की है, अतएव सर्वोत्कृष्ट आनन्द का निरूपण अक्षरब्रह्म में 'स एको ब्रह्मण आनन्दः' कहा है। उस विषयानन्द को पृथक् दिखाने के लिए ही पुल्लिंग का निर्देश है। यदि स्वरूपानन्द को कहना होता तो 'ब्राह्मण आनन्द' होता, ब्रह्म का आनन्दरूप विषय पृथक् है और वह सर्वश्रेष्ठ है। 'रसोप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते' इत्यादि में यही आशय है। यही बात यहां है। ब्रह्म का आनन्द ही यहां विषय है। उसके रस को जानने वाले ये महात्मा भगवद्भक्त पार्षद लोक हैं। अतएव भगवत्कृत भगवद्विषयानन्द का रागतः स्वरसतः वे लोग भोग करते हैं। विषयकृत अर्थात् भगवद्धर्म आनन्द ने ही अपने में इन लोगों की आसक्ति (राग) कराई है, यह भगवदिच्छा ही है। इसलिए निर्दोषत्व निर्भयता विद्यमान है।

---

१. पक्षान्तर मिदं पूर्वाशयेऽरुचिं प्रकाशयतीति मन्ये लेखक प्रमादादापतितम्। न च प्रस्तुतार्थ परिपोषकं च। दे. र. ना.

इन प्रमदोत्तमाओं की कान्ति से यह लोक प्रकाशमान हो रहा है। यद्यपि लोक भी अपने प्रकाश से प्रकाशित है ही, तथापि प्रमदोत्तमाओं का प्रकाश उससे भी विशेष है। जिससे उनके भोग में राग होता है। इन प्रमदोत्तमाओं की कान्ति भी पुरुष सहितों की ही है। इसको दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं—'सविद्युदभ्रावलिभिः' इत्यादि। जिस तरह बिजली सहित मेघ समूहों से आकाश की शोभा होती है। इस तरह इस लोक की शोभा हो रही थी॥ १२॥

आभास—एवं सेवकानां महोभोगमुपपाद्य तत्र भगवतो महाभोगोपपादनार्थं लक्ष्मीमनुवर्णयति—

आभासार्थ—इस तरह सेवकों के महाभोग का उपपादन करके अब भगवान् का भी महाभोग कहते हैं—

श्लोक—**श्रीर्यत्र रूपिण्युरुगायपादयोः करोति मानं बहुधा विभूतिभिः।**
प्रेङ्खं श्रिता या कुसुमाकरानुगैर्विगीयमाना प्रियकर्म गायती॥ १३॥

श्लोकार्थ—जिस वैकुण्ठ में साकार प्रत्यक्ष हुई श्री लक्ष्मी अपनी विभूति रूपा सहेलियों को साथ लेकर भगवान् के चरणारविन्दों का बहुत तरह से सम्मान करती रहती है; और बसन्त के परिकर भ्रमरों से अपनी स्तुति कराती हुई, आप स्वयं अपने प्रेष्ठ स्वामी भगवान् के चरित्रों का गान हिन्डोला पर झूलती हुई गाती है।१३॥

सुबोधिनी—श्रीर्यत्रेति। यदा भगवान् स्वशक्तिरूपेणाऽऽविर्भूतस्तदा शक्तीनां मध्ये श्रीः प्रथमा। सा शरीर एव बलवत्पूर्वं स्थिता। यदा भगवान् प्रभुत्वेनाऽऽविर्भूतस्तदा साऽपि भोग्यत्वेनाऽऽविर्भूता भार्यैव। तदाह-**रूपिणीति**। साऽपि सच्चिद्रूपा स्वार्थम्। तस्याः शरीरं तु ब्रह्मानन्दरूपम्। अत एवोरुगायपादयोर्विभूतिभिर्मानं करोतीति। सा ह्यक्षरस्याऽऽनन्दरूपा। अक्षररूपौ च पादौ। अतः सा स्वात्मचरणावेवाऽऽनन्दयुक्तौ करोति। इदमेव हि सम्माननम्। **उरुगायेति**। उरुभिर्मन्त्रैर्गीयत इति। "**तद्विष्णोः परमं पदम्**।" **विष्णोर्नु कं वीर्याणि**"त्यादि "**त्रेधोरुगाय**" इत्यादिभिः सर्वश्रुत्यर्थ उरुगायः पुरुषोत्तमः। तस्य तु चरणावक्षरमिति निरूपितम्। बहुधेति पञ्चभिरेव गुणैर्भक्त्या च। एवं तस्या भगवदर्थमानन्दरूपायाः प्रयोजनमुक्त्वा स्वार्थं चिद्रूपायाः प्रयोजनमाह—**प्रेङ्खं श्रियेति**। या लक्ष्मीः प्रेङ्खं हिन्दोलां श्रिता तत्रोपविश्य सर्वथा चित्तनिवृत्त्यर्थं कुसुमाकरानुगैर्वसन्तसेवकैर्भ्रमरैः स्वयं गीयमानाऽपि। सर्वावयवस्थितपुष्पाद्यामोदार्थं समागता भ्रमरा बहुकालं निकटस्थित्यर्थं तां वस्तुतो गायन्ति। स्वयं तु भगवत्कर्माणि गायति। अन्यथाऽक्षरे लीना स्यात्। अत एव साक्षात्सम्बन्धाभावाय प्रेङ्खं श्रिता। तस्यालयव्यावृत्त्यर्थं सैव गुणान् गायति। तत्रत्यः कुसुमाकरः फलपूर्वावस्थारूपः परमनिवृत्त्यात्मा। तस्याधिष्ठात्र्यो देवता एनामानन्दरूपां स्तुवन्ति। स्वस्याऽपि फलरूपत्वात्। अनेनाऽक्षरकृतं भयं व्यावृत्तम् यतस्तदीया मन्यन्त इति। यदा मानावसरो नास्ति तदा स्वरक्षार्थं प्रियकर्माणि गायति। एकवचनं तु स्वोद्धाराभिप्रायम्॥ १३॥

व्याख्यार्थ—जिस समय भगवान् अपनी इच्छादि द्वादश किंवा अनेकों शक्तियों के रूप में प्रकाशित हुआ, उस समय उन शक्तियों में सर्व प्रथमा 'श्री' हुई। जैसे मनुष्य का बल, प्रयोग के पूर्व उसके शरीर में ही विद्यमान रहता हे, इसी तरह यह 'श्री' शक्ति भी पहले भगवान् के स्वरूप में ही सम्मिलित थी। किन्तु जब भगवान् पुरुषोत्तम व्यापिवैकुण्ठ स्वामी होकर प्रकट हुए, तब 'श्री' भी उनकी भार्या की तरह भोग्य रूप से प्रकट हुई। यही कहते हैं कि 'रूपिणी'। यह भी सत्‌चित्-रूपा है। इसका शरीर (आकार) आनन्दरूप है। इसीलिए यह अपनी विभूतियों से भगवान् के चरणारविन्दों का बहुमान करती है। वास्तव में यह लक्ष्मी अक्षरब्रह्म का ही एक आनन्द है। भगवान् के चरणारविन्द भी अक्षरानन्दरूप है। यह कह चुके हैं। अतएव यह उनका बहुमान करती है। इसका यह तात्पर्य है कि वह अपने एक भाग का ही सन्मान करती है। अपने चरणों को ही आनन्दयुक्त करती है। यही सन्मान कहा जाता है। जैसे लोक में स्त्री आनन्दरूपा गिनी जाती है। तथापि उसे आभूषण और सुन्दर वस्त्रों से विशेषकर आनन्दप्रदा बनाई जाती है। बस इसी तरह अक्षरात्मक आनन्दरूप भगवच्चरणों को यह श्री अपनी विभूतियों से और भी आनन्द-युक्त करती है। भिन्न-भिन्न श्रुतिवाक्यों ने जिनका गान किया है, वह भगवान् 'उरुगाय' है। 'तद्विष्णोः परमं पदम्' 'विष्णोर्नु कं वीर्याणि' 'त्रेधोरुगायः'। इत्यादि सब श्रुतियों का अर्थ भगवान् पुरुषोत्तम हैं। इन्हीं के चरण अक्षरब्रह्म है यह 'शश्वत् प्रशान्तं' आदि श्लोक में कह चुके हैं।

इस तरह आनन्दरूपा इस लक्ष्मी का तो भगवान् के लिए प्रयोजन था। उसका निरूपण करके अब चिद्रूपा उसी लक्ष्मी का अपने लिए जो प्रयोजन है, उसका निरूपण करते हैं–'प्रेङ्खश्रिता' जो लक्ष्मी हिन्डोला पर बैठी हुई चित्तविनोदार्थ भगवद्गुण गाती है। जिस समय श्री भगवती हिन्डोले पर बैठती है, तब वसन्त ऋतु के सेवक भ्रमरगण आते हैं और लक्ष्मी के पृथक्-पृथक् श्री अंगों में आभूषण रूप से धारण किये पुष्पों की सुगन्ध लेने के लिए तथा बहुत काल पर्यन्त हमारे निकट रही आवे, इसलिए भी उसके गुणों का गान करते हैं। इस तरह भ्रमर अपने स्वार्थ के लिए लक्ष्मीजी का गान करते हैं, तो स्वयं लक्ष्मी अपने स्वार्थ के लिए प्रभु के चरित्रों का गान करती है। पृथक् स्थिति ही लक्ष्मी का स्वार्थ है। अन्यथा यदि ऐसा न करें तो अक्षरानन्दरूपा होने से वह अक्षर में समा जाय। इसीलिए अक्षर के साक्षात्सम्बन्ध को बचाने के लिए प्रेङ्ख पर स्थित होती है। यह लक्ष्मी मन को अक्षर से पृथक् पुरुषोत्तम में लगाये रहती है। उनके गुणगान द्वारा। इसलिए अक्षरासक्ति नहीं होने पाती अन्यथा 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति' के अनुसार ब्रह्मलय मुक्ति हो जाय। इस लय को बचाने के लिए यह आप स्वयं भगवद्गुणों का गान करती रहती है। यहां वसन्त फल की पूर्वावस्थारूप है। अर्थात् भगवत्प्राप्तिरूप फल के पूर्व में जो एक तरह का परमसुख होता है, वही यहां वसन्त ऋतु समझना चाहिए। इसके अधिष्ठाता देवगण ही भ्रमररूप इस आनन्दरूपा लक्ष्मी की स्तुति करते हैं क्योंकि यह उनकी भी फलरूपा है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि अब अक्षरैक्य का भय नहीं रहा। श्री पुरुषोत्तमासक्त भगवद्भक्त गण अक्षर सायुज्य से डरते रहते है। श्री भगवदीय है भगवदासक्त है इसलिए अक्षरैक्य से डरती है और इसीलिये बचने के लिये पुरुषोत्तम के गुणों का ही गान करती है। ऐसी अवस्था में अक्षरैक्य का भय निवृत्त हो गया। जब लक्ष्मीजी को भगवान् के बहुमान (सेवादि) का कार्य नहीं रहता, उस समय अक्षरैक्य से अपनी रक्षा करने के लिये अपने प्रिय पुरुषोत्तम की लीलाओं का गान करती रहती है। कर्माणि न कहकर कर्म कहा (किंवा 'गायती' में जो) एकवचन कहा उसका यह तात्पर्य मालूम होता है कि लक्ष्मी अपना उद्धार चाहती है ॥ १३ ॥

आभास—एवं भोग्यरूपां तां निरूप्य तस्या भोक्तारं भगवन्तं निरूपयति—

आभासार्थ—इस तरह भोग्यरूपा लक्ष्मी का निरूपण करके अब उसके भोक्ता भगवान् का वर्णन करते हैं—

श्लोक—**ददर्श तत्राऽखिलसात्वतां पतिं श्रियः पतिं यज्ञपतिं जगत्पतिम् ।
सुनन्दनन्दप्रबलार्हणादिभिः स्वपार्षदमुख्यैः परिसेवितं विभुम् ॥१४॥
भृत्यप्रसादाभिमुखं दृगासवं प्रसन्नहासारुणचारुलोचनम् ।
किरीटिनं कुण्डलिनं चतुर्भुजं पीताम्बरं वक्षसि लक्षितं श्रिया ॥१५॥**

श्लोकार्थ—उस व्यापि-वैकुण्ठ में ब्रह्माजी ने सब सात्विकों के पति लक्ष्मीजी के पति, यज्ञपति और सर्व जगत् के हो पति, श्री भगवान् को सुनन्द, नन्द, प्रबल, अर्हण आदि अपने पार्श्वद श्रेष्ठों से सेवित देखे । वे सुप्रसन्न होकर दासगण के ऊपर अनुग्रह करने के लिये तैयार थे । उनके सुन्दर नेत्र कमल निर्मल हास से गुलाबी हो रहे थे। उनका देखना ही लोगों को मस्त करने वाला था । श्री मस्तक पर किरीट कानों में कुण्डल धारण कर रक्खे थे । चार भुजाओं से शोभित थे और पीताम्बर धारण किये थे । वक्षस्थल में लक्ष्मी का चिन्ह भी शोभित था । ॥१४–१५॥

सुबोधिनी—ददर्श तत्रेति । पूर्वोक्तमपि सर्वं ब्रह्मा दृष्टवान् । लोकस्य प्रदर्शितत्वात् । तत्र स्थितं भगवन्तं सर्वसामग्रीसहितमनुवर्णयति । तत्र सच्चिदानन्दरूपो भगवान् यदाविर्भूतस्तद्-ब्रह्मणे तत्तत्प्रयोजनपरिज्ञानार्थमेव । तत्र प्रथमं सर्वे ये सात्वता भगवत्सेवकाः देवा धर्मपराः सात्त्विकाश्च त्रयाणामपि पतिः । अनेन यदा कदाचिद्भगवानवतरति तदैतेषामेव कार्यार्थेऽव-तरतीति ज्ञापितम् । किञ्च । **श्रियः पतिं** लक्ष्म्याः पतिम् । यदा भगवान् स्वभोगार्थं जगत्करोति तदा सर्वं लक्ष्मीरूपमेव करोतीति बोधितम् । अनेनाऽवतारेषु भोग्या लक्ष्मीरूपा एवेति । स्वरूपत आवेशतो वा । किञ्च । यज्ञानां पतिर्भगवान् । यदा भगवान् वेदान् करोति तदा स्वस्य भोगार्थं करोति । अनेन सर्वे यज्ञा भगवदर्था एवेति । किञ्च । जगतः पति-भगवान् जगद्यत्करोति तत्तत्र क्रीडार्थमेव करोति । तस्यैव पतित्वात् । वैकुण्ठे पुनस्ते मूर्त्तिरूपाः सच्चिद्रूपा इति ज्ञापनार्थाः । अखिल-सात्वताः लक्ष्मीर्यज्ञो जगच्चेति चत्वार एते भगवद्भोग्याः । एतदनुप्रवेश एव भगवति सम्बन्ध इति सर्वत्र ज्ञेयम् । अत एव निरोधे जगत्सात्वतयज्ञलक्ष्मीरूपाः पूर्वलीलासमयसङ्कुच-याऽऽभिमूर्त्तिभिरध्यायार्थाः सन्तो भगवद्भोगा-योपयुक्ता निरूपिताः । ते चत्वारो मूर्त्तिरूपाः भगवता परिगृहीता ब्रह्मणे प्रदर्शिताः । किञ्च । सुनन्दनन्दादयो भगवद्भक्तिरूपाः । ते सख्येन सहिताऽष्टविधाः श्रवणाद्यधिष्ठातारः । पार्षदाः सर्वे तदधिष्ठिताः श्रवणादयः । तत्र चत्वारो नामतो गणिताः । लोके त एव प्रभविष्यन्तीति । तत्र सुनन्दनन्दप्रबलाः कीर्त्तनश्रवणस्मरणा-त्मकाः । श्रवणादयो वा विपर्ययेण चतुर्थस्तु

अर्हणरूप: । नामसामान्यात्स एव गृह्यते । अ दिशब्देन चाऽन्ये । एतेषु सिद्धेषु पुनर्वैकुण्ठे गतानामितरसिद्धिर्ज्ञापिता । विभु प्रभुरूपम् । एवं सर्ववेष्टितोऽपि भृत्येभ्य एव प्रसादं दातुमभिमुख: सर्वापेक्षया भृत्या एव प्रिया इति । अनेन सहजप्रसादो भृत्येषु । अन्येषु तु धर्मार्थकाममोक्षरूपेषु चतुर्षु क्रमेण प्रसाद: । तत्र धर्मो यज्ञ:, अर्थो जगत्, कामो लक्ष्मी:, सन्त इति भृत्या भक्तिरिति,पञ्च पदार्था निरूपिता: । पञ्चानां भोगो नियामकत्वं च । विशेषस्तु भृत्यप्रसादाभिमुखत्वम् । किञ्च । अन्येषु चतुर्षु सर्वेषु वा दृगासवं दृगेव आसवो मादको यस्य । भगवता दृष्टा आत्मानं न स्मरन्ति । अनेन ज्ञानस्य यत्प्रपञ्चविस्मारकत्वं तद्भगवद्दृष्टिरूपस्यैव नाऽन्यस्येति सूचितम् । एते पदार्था ब्रह्मणो बोधार्थं निरूप्यन्ते मूलोपपत्तिरेतादृशीति । अथवा । भक्तेषु प्रसाद: कामिषु माद इति । किञ्च । **प्रसन्नहासारुणचारुलोचनम्** । प्रसन्नो यो हासस्तद्युक्तं अरुणवर्णं चारु मनोहरं लोचनं यस्य । भगवति हास: प्रसन्न: । हासो हि जनोन्मादकरी माया निरूपिता । इयमागन्तुकशक्तिरन्यैव । सा हि प्रसन्ना स्वकार्यकरणेऽतिसमर्था । तेन भगवन्मायया सुतरामुन्मत्ता: सन्तो ब्रह्मण: कार्यतामापत्स्यन्त इति सूचितम् । अरुण इत्यारक्तिमा अल्पप्रकाश: । तदेव चारु मनोहरम् । जगद्धि आपाततो ज्ञातं सुखकरं भवति । न तु सर्वथा ज्ञातमज्ञातं वा । ज्ञातोत्तमत्वे पुनर्भगवन्नेत्रनिष्ठे । कालवशादेव ज्ञात: समीचीनश्च भवतीति ज्ञापितं न तु सर्वथाऽज्ञात: कश्चित्समीचीनो वा भवतीति सूचितम् । किञ्च । भगवानाधार आधेयश्च । तत्र पञ्चानामाधारोऽन्येषामाधेय इति । तत्राऽऽधाररूपाणि पञ्च गणयति—**किरीटिनं कुण्डलिनं चतुर्भुजं पीताम्बरं वक्षसि लक्षितं श्रियेति** । किरीटं शिरसि धार्यम् । कुण्डले कर्णधार्ये । ततोऽधस्ताच्चत्वारो भुजा: । ततोऽप्यधस्तात्पीताम्बरम् । एवं ये भगवदवयवभूता लोकास्ते चतुर्मूर्तेर्भगवत आश्रिता इति । तावता सर्वमेव कार्यं भगवदाश्रितमिति ज्ञापितम् । एतावता विराड्भगवानिति ब्रह्मा बोधित: ।। १४ ।। १५ ।।

व्याख्यार्थ:—यद्यपि वैकुण्ठ स्थित सब ही दिव्य पदार्थों का ब्रह्मा ने प्रत्यक्ष किया । क्योंकि भगवान् ने इसलिये ही अपने लोक के दर्शन उन्हें कराये थे । अब लोक में विराजमान और सर्व सामग्री युक्त भगवान् का वर्णन करते हैं ।

लोक में और भगवान् के परिकर में विश्व की रचना सामग्री आ जाती है यह आगे स्पष्ट होगा । भगवान् ने अपना आविर्भाव सच्चिदानन्द होकर ही किया । इसका आशय इतना ही है कि विश्व की रचना करने में सदात्मक चिदात्मक और कुछ आनंदात्मक पदार्थों की भी अपेक्षा रहेगी, इसलिये उसका परिज्ञान ब्रह्मा को पहले से ही हो जाय । उनमें पहले भगवान् को सात्वतपति कहा है अर्थात् विशुद्ध सत्व के निधि भगवान् हैं । सत्वात्मक पदार्थ अनेक हैं उन सबके स्वतंत्र उपयोग करने वाले भगवान् हैं । भगवत्सेवक देवगण धार्मिकगण और सात्विक इनमें तीनों के भगवान् पति हैं । भगवान् के जितने भी लोक में अवतार होते हैं वे सब इन पूर्वोक्त-जीवों की कार्य-सिद्धि के लिये होते हैं ।

भगवान् लक्ष्मीपति हैं । जब भगवान् अपने भोग के लिये जगत का निर्माण करते हैं तब सबको लक्ष्मीरूप ही बनाते हैं । 'श्रीर्यत्र' इस श्लोक में लक्ष्मी का स्वरूप अक्षर ब्रह्म का आनंद कह चुके हैं । और इस श्लोक में यह कहा कि—भगवान् जब अपने भोग के लिये जगत् बनाते हैं,

तब उसे लक्ष्मी सा ही बनाते हैं। इसका यह गूढ़ तात्पर्य है कि पहली ब्राह्म सृष्टि अक्षरमय है। यही आध्यात्मिक है। सबमें वस्तु तत्व रूप से अक्षर ब्रह्म सना रहा है। यह सृष्टि भगवद्भोग्या है। आध्यात्मिक और आधिदैविक दोनों तरह का जगत् सबका सबका सब लक्ष्मीरूप है। अक्षरानंदात्मक है। इससे यह सूचित किया गया है कि रामकृष्णादि अवतारों में जो जो उनके भोग योग्य स्त्रियां उपस्थित होती हैं, वे लक्ष्मी रूपा हैं। चाहे स्वरूप से हों चाहे आवेश से हों।

भगवान् यज्ञ के पति हैं, भोक्ता हैं। जब भगवान् वेदों को बनाते हैं, तब अपने भोग के लिये यज्ञ भी बनाते हैं। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि यज्ञ मात्र भगवान् के लिये हैं, और चौथा सिद्धान्त यह है कि भगवान् जगत् के पति भी हैं। यह जगत् भी भगवान् का भोग्य है। भगवान् इस जगत् में जो जो पदार्थ बनाते हैं, वे सब उनकी क्रीड़ा के लिये हैं। जगत् तीन प्रकार का है। पहला केवल जीव क्रीड़ार्थ, जीव भोग्य आधिभौतिक जगत्। दूसरा केवल भगवद्भोग्य, भगवत् क्रीड़ार्थ आधिदैविक जगत्। और तीसरा उभय भोग्य उभय क्रीड़ार्थ आध्यात्मिक जगत्। आध्यात्मिक और आधिभौतिक जगत् अनुप्रवेश्य है और आधिदैविक जगत् अनुप्रवेशक है। वास्तव में आधिदैविक जगत् के ही पति-भोक्ता भगवान हैं। और वैकुण्ठ में तो ये सब पदार्थ मूर्तिरूप हैं और सत् चित् रूप हैं। यह बात नमूना की रीति से इस लोक में भी दिखाई है। चारों में पति शब्द देकर यह कहा है कि पूर्वोक्त अखिलसात्वत, लक्ष्मी, यज्ञ और जगत् ये चारों पदार्थ भगवान् के भोग्य हैं। आधिदैविक हैं। भगवत्क्रीड़ार्थ हैं। इन आधिदैविक पदार्थों का अनुप्रवेश्य होने पर ही आधिभौतिक आध्यात्मिक पदार्थों का भगवान् से सम्बन्ध होता है।

निरोध स्कंध (दशम स्कंध) में भगवान् का जगत्, सात्वत, लक्ष्मी और यज्ञ इन चारों के साथ, सम्बन्ध वर्णन किया गया है। वह सब इनके अनुप्रवेश्य होने से ही, इस अध्याय में, जिन पूर्वोक्त चार पदार्थों का निरूपण हो रहा है वे अनुप्रवेशक हैं और दशम स्कंध में जिनका सतत्तर (७७) अध्यायों में निरूपण किया गया है वे अनुप्रवेश्य हैं। पहले जन्म प्रकरण के स्वरूप प्रतिपादक ४ अध्यायों को छोड़कर तामस प्रकरण के स्वरूप प्रतिपादक ४ अध्यायों को छोड़कर तामस प्रकरण से गुण प्रकरण पर्यन्त ७७ अध्याय होते हैं वे निरोध प्रतिपाद्य पदार्थ भी यद्यपि जगत् सात्वत् लक्ष्मी यज्ञ स्वरूप हैं पर वे अनुप्रवेश्य हैं और ये इस अध्याय में कहे गये जगत्सात्वतादि पदार्थ अनुप्रवेषक हैं। इस अध्याय में कहे गये, इन पूर्वोक्त पदार्थों के अनुप्रवेश करने पर ही निरोध स्कंधीय पदार्थ भगवद्भोग के उपयुक्त हुए। उस आगे की लीला में उनका भगवत्संबन्ध निरूपित है। अत एव इस श्लोक में उनके मूलभूत आधिदैविक मूर्तिरूप पदार्थों का निरूपण किया है। ब्रह्मा के द्वारा सब तरह का सर्ग कराना है, अतएव मूर्तिरूप सात्वतादि चारों पदार्थों का इस समय ब्रह्मा को प्रदर्शन कराने के लिये भगवान् ने पार्षदादि रूप में ग्रहण कर रक्खा है। अखिलसात्वता 'पति' श्रियः पतिं; यज्ञपतिं, जगत्पतिं, इन चार विशेषणों में जिन ४ पदार्थों का निरूपण है, वे सब आधिदैविक रूप होने से अनुप्रवेशक होने से इस लोक में साकार मूर्ति होकर विद्यमान् हैं।

फिर वहां के स्वामी भगवान्, अपने पार्षदों के मुख्य सुनन्दादि से सर्वदा सेवित हैं। क्योंकि भगवान् विभु सर्व सामर्थ हैं, पार्षदादि का भी सामर्थ्य भगवान् का ही है। सुनन्द, नन्द, प्रबल प्रबल और अर्हण ये सब भगवद्भक्तिरूप हैं। और सख्य भक्ति को साथ लेकर ये आठ प्रकार के हैं।

ये सुनन्द नन्दादि सब पार्षदगण केवल श्रवणादि-भक्ति रूप नहीं हैं किन्तु श्रवणादि भक्तियों के अधिष्ठाता देवता हैं और श्रवणादि भक्तियां तदधिष्टित हैं। इनके नियमन में हैं, चार पार्षदों की गणना नाम लेकर की गई हैं, पर अन्यों का नाम निर्देश नहीं किया, क्योंकि भक्त जनता में इन चारों का प्रभाव विशेष है और आगे लोक में इनका प्रभाव बढ़ता रहेगा। सुनन्द, नन्द, प्रबल ये तीनों कीर्तन श्रवण और स्मरणात्मक भक्तिरूप हैं अथवा श्रवण कीर्तन स्मरणों का क्रम उलटा लेना। स्मरण कीर्तन श्रवण। चौथी अर्हणरूपा भक्ति 'अर्हण' नाम से ही पार्षदों में ग्रहण की है। नाम की समानता होने से यह पार्षद अर्हण (पूजन) रूपा भक्ति ही ग्रहण किया है। आदि शब्द से पादसेवनादि का ग्रहण है। चार को ही नाम ग्रहण पूर्वक गिनाया है। इससे स्पष्ट होता है कि श्रवणादि इन चारों में जब सिद्ध हो जाये और फिर वैकुण्ठ में पहुंचे तब बाकी रही भक्तियां सिद्ध होती है। यहां इन सबके स्वामी भगवान् पुरुषोत्तम हैं। यद्यपि ये इस तरह अपने सब ही परिकर से वेष्टित होकर विराजते हैं, तथापि अनुग्रह की वर्षा करने के लिये तो भृत्यों के तरफ ही झुके रहते हैं। अर्थात् भृत्य चाकर लोग ही, सबकी अपेक्षा भगवान् को अधिक प्रिय हैं। इससे स्पष्ट होता है कि भृत्यों पर सहज स्वाभाविक प्रसाद (कृपा) है और अन्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप पुरुषार्थों पर तो क्रम से साधनादि परंपरा से अनुग्रह होता है। यहां धर्म शब्द से यज्ञादि, अर्थ से जगत्, काम शब्द से लक्ष्मी और मोक्ष शब्द से भगवदीय भृत्य लिखे गये हैं और पांचवीं प्रेमरूपा भक्ति। इस तरह सपाद एक श्लोक से पूर्वोक्त पांच पदार्थों का निरूपण करने में आया है। इन पांच पदार्थों का भोग और इनको अपने नियम में चलाना, यह भी इसी श्लोक में निरूपित है। विशेषकर भृत्यों पर ही प्रसाद करते हैं यह इसमें स्पष्ट है।

एक बात और भी है कि भृत्येत्तर अन्य धर्मादि चार पदार्थों पर किंवा भृत्येत्तर अन्य सब ही पदार्थों पर भगवान् की दृष्टि आसव होती है, मस्ती कर देने वाली हो जाती है। भगवान् ने जिन्हें देखा फिर उनको अपने आत्मा का स्मरण नहीं रहता। जैसे मदमत्त को। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि प्रपञ्च को भुला देने वाला जो ज्ञान कहा गया है, वह भगवद्दृष्टि रूप ज्ञान को ही कहा है। सामान्य ज्ञान मात्र को नहीं। ये सब पदार्थ जो कहे गये हैं वे सब ब्रह्मा को समझा देने के लिए कहे गये हैं, क्योंकि सर्वमूल सपरिकर भगवान् के स्वरूप भी सयुक्तिक संगति ऐसी ही है। अथवा भृत्यों पर प्रसाद करते हैं और कामना रखने वालों को मस्त बनाते हैं। यह भिन्न-भिन्न क्रम समझना चाहिए और फिर ये भगवान् निर्मल हास युक्त गुलाबी सुन्दर नेत्रों से सुशोभित थे। भगवान् का हास निर्मल और कृपायुक्त है।

सूक्ष्म ध्यान प्रसंग में कह चुके हैं कि भगवान् का हास उन्मादकारी माया है। यह माया-शक्ति अन्य मायाओं से जुदी है। जब यह प्रसन्न होती है तब अपने कार्य करने में अति समर्थ होती है। इसका कार्य जन को उन्माद करा देना है। यह स्वाभाविकी शक्ति नहीं पर पीछे से आती है। भुलावा देने वाली एक माया शक्ति और भी है, किन्तु यह माया शक्ति कुछ दूसरी तरह की है। इसका भुलावा देना कुछ और है। यह हासरूपा माया कृपायुक्त है और लोगों को एकदम मस्त कर देने वाली है। कामि लोगों पर इसका चक्र चल जाता है। सामान्य जगत् को छोड़कर सात्वत लक्ष्मी और यज्ञ ये तीन कामी हैं, कामना वाले हैं। इन पर उन्मादकारी माया अपना असर पहुंचाती है। सात्वत भक्त भगवत्कामना वाले हैं। इनको यह माया ऐसा उन्माद (मस्ती) करा देती

है कि ये लोग भगवान् अपने प्रिय के सिवाय सब जगत् को भूल जाते हैं। यज्ञ में भी स्वर्गादि कामना है। यज्ञादि करने वाले भी कामी होते हैं। उन पर माया अपना जाल डालकर ऐसा मस्त कर देती है कि वे उत्तरोत्तर कर्मासक्त ही रहते हैं। लक्ष्मी भी आगन्तुक कामिनी है। भगवान् का भोग संपादन कराते रहना यह लक्ष्मी का कार्य है। इस पर भी माया अपना उन्माद फैला देती है। अतएव लक्ष्मी मस्त होकर स्वरसतः भगवान् के भोग को सर्वत्र संपादित करती रहती है। यही माया का स्वकार्य है। जब यह प्रसन्न होती है, भगवत्प्रसादयुक्त होती है तब ही इत्यादि-इत्यादि कार्य करने में अति समर्थ होती है। सात्वत यज्ञ और लक्ष्मी ये तीन भगवदीय पदार्थ हैं इन्हें उन्माद करा देना सामान्य मोहिका माया का कार्य नहीं है। इसलिए भगवान् अपने प्रसन्न हास इस माया शक्ति से कार्य कराते हैं। इस जनोन्मादकरी माया के द्वारा उन्माद में आये लोग, ब्रह्म के कार्य में सम्मिलित हो सकेंगे। ब्रह्मा के द्वारा कार्य तो करवाना ही है तो इस युक्ति से क्यों न कराया जाय, यों समझकर भगवान् प्रसन्न हासयुक्त अरुण सुन्दर नयनों को स्वीकार करते हैं। प्रसन्नहासारुण चारु लोचनम्।

अरुण शब्द से कुछ थोड़ी ललाई ली गई है और उस ललाई का अल्पप्रकाश भी सूचित होता है। यही नयनों की मनोहरता है। अरुणरंग का अल्पप्रकाश कहने का यह तात्पर्य है कि जगत् का वास्तविक तत्त्व साक्षात्कार लौकिक जनता को सुखकर नहीं होता किन्तु उसका अल्प प्रकाश ही सामान्य जनता को सुखकर होता है। जगत् को एकदम न जाने तब भी सुख की ओर प्रवृत्ति न हो। इसलिए यहां उसका अल्प प्रकाश ही सूचित किया है।

शतत्व और उत्तमत्व ये दोनों धर्म भगवान् के नेत्र में रहते हैं। 'चक्षुरमूत्पतङ्गः' इस वाक्य के अनुसार और 'चासौ आदित्य एकविंशः' इस श्रुति के अनुसार कालाधिदैव सूर्य भगवान् का नेत्र है। इसका तात्पर्य यह है कि जगदन्तःपाती पदार्थ काल में निहित है, अतएव कालवश होकर ही जाना जाता है। उत्तम भी होता है। सर्वथा अज्ञात पदार्थ समीचीन नहीं होता।

यहां तक आधेय भगवान् का वर्णन हुआ। अब आधारस्वरूप का वर्णन करते हैं। भगवान् आधार भी है और आधेय भी है। 'सुनन्दनन्द' इत्यादि विशेषणों से आधेय का निरूपण हुआ। अब आधाररूप का निरूपण करते हैं—पांच पदार्थों का आधार भगवान् है—किरीट, कुण्डल, चार-भुजा, पीतांबर और लक्ष्मी का चिन्ह। सो ही कहते हैं—'किरीटिनं कुण्डलिनं' इत्यादि। किरीट मस्तक पर धारण किया जाता है, कानों में कुण्डल। उनके नीचे चार भुजाएं हैं। उनसे भी नीचे पीतांबर है। मध्य में लक्ष्मी का चिन्ह समझना। जिन-जिन लोकों को भगवान् के अवयव कह चुके (श्री अंग) वे-वे सब इस चतुर्मूर्ति भगवान् के आधार पर स्थित हैं। वेद भगवान् का किरीट है। आधिदैविक वेदों का स्थान सत्यलोक है। यह भगवान् के श्री मस्तक आधार पर है। योग सांख्य रूप कुण्डलों का आधार भगवान् के कर्ण हैं। ये श्री मुख में ही आ रहे हैं। ये दोनों तपलोक और जनलोक हैं और इनके भी सग्रीव भगवन्मुख ही आधार है और महः आदि चार लोकों का आधार भगवान् की चार भुजायें हैं। श्री का आधार आनन्द (सुख) रूप स्वर्ग का आधार भगवान् का वक्षस्थल है। इस तरह से सब ही यह विश्व कार्य, भगवान् के आधार पर ठहरा हुआ है। इतने निरूपण से यह सिद्ध होता है कि भगवान् से अपने विराट् रूप भगवान् का वास्तविक रूप से ब्रह्मा को साक्षात्कार कराया। जिससे उसे आगे सृष्टि रचना करने में सरलता हो सके ॥१४॥१५॥

आभास—आधेयं निरूपयति—

आभासार्थ—आधेय स्वरूप का निरूपण करते हैं—

श्लोक—**अध्यर्हणीयासनमास्थितं परं वृतं चतुःषोडशपञ्चशक्तिभिः ।**
युक्तं भगैः स्वैरितरत्र चाऽध्रुवैः स्व एव धामन् रममाणमीश्वरम् ।१६।

श्लोकार्थ—ब्रह्मा ने पूज्य आसन पर विराजमान चार सोलह और पांच शक्तियों से घिरे हुये अन्यत्र अनित्य और भगवान् में ध्रुव अपने षट् ऐश्वर्यों से युक्त और अपने धाम में ही रमण करते हुये भगवान् को देखा ।।१४।।१५।।१६।। श्लोकों का एक अन्वय है ।

सुबोधिनी—अध्यर्हणीयासनमास्थितमिति । अधि अधिकं अर्हणीयं सर्वैरेव धर्मादिभिः पूज्यम् । तत्सम्बन्धेन वा पूज्यम् । तादृशमासनमास्थाय स्थितम् । तदधिष्ठातृदेवताव्युदासायाऽऽह—**परमिति** । तेभ्य उत्तमम् । नियन्तारं वा । मुख्यं तदक्षरात्मकम् । अक्षरं हि लोकात्मकमासनात्मकं चरणात्मकं चेति । आधिभौतिकमाध्यात्मिकमाधिदैविकमिति । तस्यांऽशाः पञ्चविंशतितत्त्वानि । तान्यग्रे निरूपयिष्यन्ते । पीठांशत्वेन च । तदाह—**वृतं चतुःषोडशपञ्चशक्तिभिरिति** । तत्र चत्वारः प्रकृतिपुरुषमहदहङ्काराः प्रथमावरणरूपाः चतुर्दलकमलवत् । ततः षोडश एकादशेन्द्रियाणि पञ्चतन्मात्राश्चेति द्वितीयावरणम्- षोडशदलकमलवत् । ततः पञ्चभिर्महाभूतैर्वृतम् । एवमावरणत्रयं निरूपितम् । तान्यतिक्रम्य यो भगवत्समीपे गच्छति स गच्छति । एवं सर्वतत्त्वसहितमक्षरमासनमिति निरूपितम् । किञ्च । **युक्तं भगैः स्वैः** । ऐश्वर्यादयः षड्गुणा मूर्तिमन्तो भगवन्तमावेष्ट्य तिष्ठन्ति । ते चैश्वर्यादयो भगवदेकनिष्ठा नाऽन्यत्राऽऽविष्टा भवन्ति । इतरत्र च पार्षदादिषु अध्रुवैः । चकाराद्राजादिष्वपि । एतावता भगवच्छब्दप्रयोगः सर्वत्र । तथापि ध्रुवा ऐश्वर्यादयो भगवत्येव । अध्रुवास्त्वन्यत्र । तेन तरतमभावेनैव भगवत्त्वम् । अनेन "**ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति**" । **यो यच्छ्रद्धः स एव सः**" । "**स आत्मानं यच्छती**"ति सर्वे पदार्था व्याख्याताः । अतः असाधारणानि भगवत्येव । मुक्तापेक्षयाऽपि भगवान् महानिति ज्ञापितम् । न हि तदानीं कृपया चाता ऐश्वर्यादयो नित्या भवन्ति । एवं सर्वसामग्र्यां विद्यमानायामपि स्वस्मिन्नेव रमते । आनन्दमयत्वात् । ननु सुखानुभवः फलम् । स्वस्यत्वानन्दत्वेऽप्यनुभावाभावात्कथं भोगस्तत्राऽऽह—**धामन्निति** । तेजोरूपे प्रकाशक स्वस्मिन् । अप्रकाशे हि ज्ञानं प्रकाशकमपेक्ष्यते । न तु स्वप्रकाशे । अनेन जीवानां भगवान् भोग्य इति पक्षो व्युदस्तः । एवमपीश्वरं नियन्तारम् । यद्यपि स्वस्य क्वापि रमणापेक्षा नास्ति तथापि सर्वनियन्ता ।।१६।।

व्याख्यार्थ—धर्मादि सब साधनों से अधिक पूजनीया किंवा धर्मादि साधनों का आसन के साथ सम्बन्ध होने से जो आसन सबको अधिक पूजनीय है, उस आसन पर विराजे हुये । कोई आसनाधिष्ठाता देवता को भगवान् न समझ ले । इसलिये 'परं' विशेषण दिया । अर्थात् भगवान्

सबसे परे हैं, अगम्य हैं, सबसे श्रेष्ठ भी हैं । अधिष्ठात्री देवता प्रभृति पदार्थों से भगवान् उत्तम है सबका नियामक भी है । यह आसन भी मुख्य अक्षररूप है । यह अक्षरब्रह्म जब लोक में प्रकाशित होता है तब लोकात्मक आसनात्मक और चरणात्मक होता है । यद्यपि वैकुण्ठादि लोक आधिभौतिक है । आसन आध्यात्मिक स्वरूप है और भगवच्चरणारविन्द आधिदैविक अक्षर है ।

इस आध्यात्मिक स्वरूप आसन के अंश पच्चीस तत्व हैं । इन तत्वों का निरूपण आगे तृतीय स्कंध में आवेगा । पादपीठ पर्यन्त के अंश ये पच्चीस तत्व हैं । सो कहते हैं । 'वृत्तं चतुः' भगवान् के सिंहासन के तीन आवरण हैं । कमल की तरह गोलरूप में । प्रकृति पुरुष महतत्त्व और अहङ्कार ये चार, चतुर्दल कमल की तरह पहला आवरण है । फिर एकादश इन्द्रिय और पांच तन्मात्रा (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द) इस तरह सोलह पदार्थ षोडश दल वाले कमल की तरह दूसरा आवरण है । अब तीसरा आवरण पांचों महाभूत (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश) है । इस तरह इस आसन के चारों तरफ तीन आवरण हैं । इन तीनों आवरणों का उल्लंघन करके जो जा सके वह भगवान् के समीप पहुंचता है । यह भगवान् का आसन सर्व तत्वों युक्त अक्षर ब्रह्मात्मक है ।

ऐसे आसन पर विराजमान भगवान् का ब्रह्मा ने दर्शन किया । भगवान् के चारों तरफ मूर्त्ति धारण किये ऐश्वर्यवीर्य यश श्री ज्ञान और वैराग्य ये छहों ऐश्वर्य सेवक होकर स्थित थे । ये ऐश्वर्यादि छः गुण एक भगवान् में ही नित्य वर्तमान रहते हैं । अन्यत्र किसी भी जीवादि में इनका आवेश नहीं होता । जिन पार्षद, देवगण और राजा प्रभृति को भगवान् इनका दान करते हैं वहां भी ये रहते हैं । किन्तु अस्थिर । जिन-जिन को भगवान् अपने ऐश्वर्यादि का दान करते हैं, तब उतने समय पर्यन्त वे भी भगवान् कहे जाते हैं । जैसे भगवान् नारद । तथापि वे वहीं क्षणिक ही रहते हैं । नित्य वर्तमान स्वाभाविक ऐश्वर्यादि तो भगवान् में ही रहते हैं ।

इससे यह स्पष्ट है कि भगवान्पन भी भेदभाव से रहता है । भगवान् का भगवान्पन दूसरे प्रकार का है और अन्य देव मनुष्यादि में भगवान् पन दूसरे प्रकार का रहता है । 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' 'यो यच्छ्रद्धः स एव सः' 'स आत्मानं यच्छति' इत्यादि वाक्य समूहों में जो भगवान्पन दिया गया है, या साधनों के द्वारा प्राप्त किया गया है, वह सब साधारण है; अध्रुव ही है और भगवान् का भगवत्त्व किंवा उनके ऐश्वर्यादि छः गुण असाधारण हैं । युक्त जीवों से भी भगवान् महान् है यह स्पष्ट है ।

कृपा से प्राप्त हुये ऐश्वर्यादि भी नित्य नहीं होते । इस तरह भगवान् के पास भोग की सब सामग्री विद्यमान् रहती है, इसलिए ये अपने धाम में ही रमण करते हैं, क्योंकि इनका स्वरूप ही आनन्दमय है ।

यहां एक विचार होता है कि सुख का अनुभव रहते सुखभोग फल कहा जाता है । यद्यपि भगवान् आनन्दमय हैं, सुखरूप हैं तथापि आनन्द अपनी ही भोगक्रिया में कर्त्ता नहीं हो सकता । अनुभव किये बिना सुखभोग कैसे कहा जाय? इसका उत्तर देते हैं कि 'स्व एव धामन्' । यह भगवान् अपने ही तेजोरूप प्रकाश में रमण करता है । अप्रकाश अवस्था में ही दूसरे प्रकाश की अपेक्षा

रहती है, किन्तु जो स्वयं प्रकाश है, उसे प्रकाशांतर की आवश्यकता नहीं होती। ये भगवान् स्वयं प्रकाशरूप है। सर्वसमर्थ है अतएव अपने आनन्द भोग में दूसरे कर्त्ता की अपेक्षा नहीं है। अपने आनन्द का आप ही भोग करने में समर्थ हैं। इससे यह भी सूचित होता है कि जीवों का भगवान् भोग्य है। यह मत भी ठीक नहीं है। जो स्वप्रकाश है, वह जीवकृत साधनों से प्रकाश्य किंवा भोग्य नहीं हो सकता। जैसे आकाश। वह स्वयं अपने स्वरूप से अपनी इच्छा प्रकाश्य भी भोग्य भी हो जाय यह बात दूसरी। स्वप्रकाश रहते भी सबका नियन्ता है। सबको अपने वश में रखता है, अपने नियम में चलाने वाला है। इसको किसी के साथ कहां भी रमण करने की अपेक्षा नहीं है, तथापि सबका नियमन तो करता ही है ॥ १६ ॥

श्लोक—**तद्दर्शनाह्लादपरिप्लुतान्तरो हृष्यत्तनुः प्रेमभराश्रुलोचनः ।**
ननाम पादाम्बुजमस्य विश्वसृग् यत्पारमहंस्येन पथाऽधिगम्यते ॥१७॥

श्लोकार्थ—जो भगवान् परमहंसों के मार्ग से जाना जा सकता है, उस भगवान् के दर्शन करने से ब्रह्मा का हृदय हर्ष में मग्न हो गया, शरीर में रोमञ्च हो गया। प्रेम प्रवाह के अश्रुओं से नेत्र भर गये और ऐसी अवस्था में ही विश्वसृष्टा ब्रह्मा ने भगवान् के चरणकमलों में प्रणाम किया ॥ १७ ॥

सुबोधिनी—एवं सर्वसन्देहनिवर्त्तकं भगवत्स्वरूपं दृष्ट्वा तद्दर्शनेन य आह्लादः आनन्दानुभवेन यः सन्तोषः तेन परिप्लुतमन्तरं यस्य तादृशो भूत्वा ननामेत्यग्रेण सम्बन्धः। तपो हि किञ्चित्कामनार्थं करोति। तया च कामनया हृदयं साकाङ्क्षमपूरितं तिष्ठति। तदानन्दानुभवेन फलरूपेण कामितापेक्षयाऽप्यधिकफलत्वादन्तःकरणं परिप्लुतम्। तथा महापूरे सर्वमेव गर्त्तजातं पूर्णं सत् उच्छलितं भवति। तथा ब्रह्मणोऽपि चित्तं जातमित्यर्थः। अत एव तस्याऽग्रे वचनासामर्थ्यम्। किञ्च। अन्तःपूर्ण आनन्दो बहिरप्युद्गत इत्याह—**हृष्यतन्नुरिति**। तदा ज्ञानशक्तिरप्यानन्दे निमग्ना न फलान्तरं बोधयतीति ज्ञापयितुं **प्रेमभराश्रुलोचन** इत्युक्तम्। प्रेमभरेण जातानि यान्यश्रूणि तानि लोचनयोर्यस्येति। पूर्वं भगवति प्रेम स्थितं तदाधारे परिप्लुते ततो निर्गतं सन्नेत्रयोर्ज्ञानजनकत्वात्तत्र परिचयमिव प्राप्य तद्द्वारा जलरूपेण निर्गतमिति : भरो भारः। भाराक्रान्ते स्वेदो भवत्येव। तदाह। प्रेमभरेणाश्रूणीति। स्वभावतो न स्रवन्तीत्यश्रुत्वम्। तदा कर्त्तव्यान्तराभावात् **ननाम पादाम्बुजमिति** भक्तिप्रकारेण। **अस्येति** पूर्वोक्तरूपस्य ब्रह्मणोऽपेक्षितरूपस्य। अपेक्षामेव बोधयति—**विश्वसृगिति**। विश्वं सृजतीति। नन्वेवं दर्शने नमनमेव कुतः कृतवान् सायुज्यं कुतो न प्राप्तवानितीयमपि शङ्का निवारिता। यतोऽयं विश्वकृत्। अधिकारित्वान्न प्राप्तवानिति भावः। ननु चरणारविन्दस्य तुल्यत्वात् समर्थत्वाच्चाऽधिकारे कुतो न सायुज्यमत आह—**यत्पारमहंस्येन पथाऽधिगम्यत इति**। परमहंसमार्गेणैव दृष्टं चेत् तदैव पादाम्बुजं प्राप्यते। नतु प्रकारान्तरेण दृष्टं सायुज्यहेतुर्भवति ॥१७॥

व्याख्यार्थ—भगवान् का यह स्वरूप विश्वसर्ग की रचना करने के सब सन्देहों को दूर करने वाला था। अतएव इसका दर्शन करके ब्रह्मा को बड़ा ही हर्ष हुआ और उस आनन्दानुभव से जो संतोष हुआ उससे ब्रह्मा का हृदय सराबोर हो गया, अतएव प्रणाम किया।

किसी तरह की कामना होने से ही मनुष्य कुछ श्रम करता है । जहां तक सिद्धि नहीं होती तब तक हृदय, उस कामना से कुछ साकांक्ष और अपूर्ण रहता है। ऐसे समय यदि आनन्दानुरूप फल की प्राप्ति हो जाय तो फिर जितना चाहिए था उससे भी अधिक फल मिल जाय तब तो तप करने वाले का हृदय आनन्द से परिप्लत हो जाता है । जिस प्रकार नदी में महापूर आने पर छोटे-छोटे गड्ढे भर जाकर एकदम उभरने लगते हैं। इसी तरह की स्थिति ब्रह्मा की भी हुई। उसका भी चित्त पूर्व में कामना से इच्छा वाला और अपूर्ण था, किन्तु जब चाहना से भी अधिक सपरिकर उसको सामग्री सहित भगवान् का दर्शन-रूप फल मिल गया, तब तो हर्ष भार से चित्त उभर आया और इसी से ब्रह्मा को कुछ बोलने का भी सामर्थ्य थोड़ी देर न रहा।

आनन्द ने जब अन्तःकरण के कोने-कोने को भर दिया तब वह बाहर भी प्रवाहित होता चला सो कहते हैं—'हृष्यन्तनुः।' शरीर हर्ष से रोमाञ्चित हो गया । ऐसी अवस्था में ज्ञानशक्ति भी आनन्द में डूब गई। अतः अन्य इत्यादि फल को भी उसने न होने दिया। यह स्पष्ट करने के लिए 'प्रेमभराश्रुलोचनः' कहा। प्रेम प्रवाह से उत्पन्न हुए अश्रु ब्रह्मा के नेत्रों में भर गये। पहले भी ब्रह्मा का भगवान् में प्रेम था पर प्रवाह आने से जब हृदयरूप आधार पूरा-पूरा भर गया तब वहां से निकलकर वह आनन्द नेत्रों में आया । नेत्र ज्ञानोत्पत्ति में सहायक हैं। अतएव वहां उसका परिचय कराकर उनके द्वारा जलरूप से निकल पड़ा। प्रेम का भार जब बढ़ा तब भार न सहने से स्वेद पसीना भी हुये। सर्वदा आने का इनका स्वभाव नहीं है, इसलिए 'अश्रु' शब्द का प्रयोग किया है। ऐसी अवस्था में ब्रह्मा को अन्य कर्तव्य की कुछ सूझ न पड़ी, तब भगवच्चरणों के आगे नम्र हो गया। प्रणाम भी भक्तिमार्ग के अनुसार किया, इसलिए 'पादाम्बुज' कहा । ब्रह्मा को जिस रूप के दर्शन करने की आकांक्षा थी उसीके चरणों के आगे प्रणाम किया, यह दिखाने के लिए 'अस्य' इस सामान्य शब्द का प्रयोग किया । अपेक्षा को दिखाते हैं—'विश्वसृक्'। ब्रह्मा को विश्व की रचना करनी है अतएव विश्व के मूलरूप को देखने की अपेक्षा थी। सो उसकी पूर्ति भगवान् ने कर दी। यहां एक यह प्रश्न हो सकता था कि दर्शन हो जाने पर सायुज्य (अभेदभाव-ऐक्य) क्यां न हो गया? नमन ही कैसे किया? इस प्रश्न का भी उत्तर 'विश्वसृक्' पद से दे दिया। फलदान करना भगवान् ने अपने हाथ में रखा है। ब्रह्मा को भगवान् ने विश्व-रचना करने के लिए उत्पन्न किया है, यह विश्व-रचना करने का अधिकारी है, अतएव इससे काम लेने के लिए सायुज्य न दिया गया।

फिर भी आशंका रहती है, कि भगवच्चरणारविन्द तो सब के प्रति समान हैं और समर्थ भी हैं, तो फिर भले विश्व-रचना करने का अधिकार रहा आवे, सायुज्य क्यों न मिला? इसका समाधान करते हैं कि 'यत्पारमहंस्येन' इत्यादि । परमहंस (ज्ञान) मार्ग से ही दर्शन प्राप्त होने पर उसको प्राप्ति (सायुज्य-एकता) होती है, सो यहां कुछ है नहीं। ब्रह्मा का मार्ग ग्रहण का है, परम हंसों का मार्ग त्याग का है। वे लोग विश्व को विश्वरूप में त्यागना चाहते हैं और ब्रह्मा विश्व का उस रूप में ग्रहण करना चाहता है, इसलिए भगवत्साक्षात्कार हो जाने पर भी इसको सायुज्य न मिला ।। १७ ।।

आभास—एवं नमनं कृत्वा ब्रह्मणि तूष्णीम्भूते किञ्चिदपि वक्तुमसमर्थे स्वयमेव भगवांस्तदभीप्सितमुक्तवानित्याह—

आभासार्थ— इस तरह नमस्कार करके जब ब्रह्माजी चुप हो गये और कुछ भी बोल न सके, तब स्वयं भगवान् ने ही ब्रह्मा के मन की बात को बाहर प्रकाशित की—

श्लोक—**तं प्रीयमाणं समवस्थितं तदा प्रजाविसर्गे निजशासनार्हणम् ।**
बभाष ईषत्स्मितशोचिषा गिरा प्रियः प्रियं प्रीतमनाः करे स्पृशन् ।१८।

श्लोकार्थ—भगवान् के दर्शन पा जाने से ब्रह्मा प्रसन्न हो रहे थे और प्रजा का निर्माण करने के लिए तैयार बैठे थे, ऐसे समय सर्वप्रिय भगवान् अपनी आज्ञा का पालन करने योग्य और अपने प्रिय ब्रह्मा से उसके हाथ का स्पर्श करते हुए कुछ हंसने से प्रकाश वाली वाणी से बोले ।। १८ ।।

सुबोधिनी–तं प्रीयमाणमिति । यत्र साधनमभीप्सितं फलं च तत्र प्रकारान्तरव्यावृत्त्यर्थं प्रारब्धफलसिद्ध्यर्थमेव तस्य प्रोत्साहनम् । अन्यथात्वे तु भगवतस्तूष्णीम्भावः । प्रसन्नत्वाद्यथाभिलषितदानम् । अत्र तु साधनमपि स्वोपदिष्टमिति तस्या वरयाचनप्रेरणम् । अन्यथा स्वाभिलषितमात्रत्वे निर्बन्धेन करणे पदार्थज्ञानेऽप्यन्यथाकरणमापद्येत । अतः स्वयं स्वेच्छासमानविषयां तदिच्छामुत्पाद्य तद्द्वारेणैव स्वाभिलषिवं करिष्यामीति भगवदिच्छया ब्रह्मणस्तूष्णीम्भावः । भगवत्याविर्भूते वस्तु माहात्म्यात्सम्बन्धाद्वा अभिलषितार्थसिद्धिहेतुत्वाद्वा भगवद्दर्शनेन प्रीयमाणः परमप्रीतियुक्तो ब्रह्मा । सम्यक् चाऽवस्थितो नतु तपसा क्लिष्टः । अन्यथा आज्ञापि न देया स्यात् । दोषरहितो वा । तदेत्युभयत्र सम्बन्धः । पूर्वं क्लिष्टोऽपि तदा न क्लिष्टः । अत एव तदैव प्रजानिर्माणार्थं निजाज्ञाकरणसमर्थः । एतादृशं ब्रह्माणं ज्ञात्वा स्वरूपयोग्यतामवगत्य तस्य सहकारियोग्यतासम्पादनाय बभाषे उक्तवान् । भाषणमेव प्रयोजनं न भवतीति वाचः करणतामाह–**गिरेति** । भगवद्रूपे दृष्टे उत्तमे चाऽधिकारे सम्पन्ने भगवद्भाव तत्त्वज्ञानेनैव भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह–**ईषत्स्मितशोचिषेति** । सर्ववस्तुषु वस्तुस्वरूपं यत् तदज्ञानार्थं मोह इति ईषत्पदेनोक्तम् । यद्यपि तदेव महत् तथापि ब्रह्मण इच्छामात्रेणैतद्भविष्यतीति तत्कार्यस्याऽल्पत्वम् । स्मितमपि मन्दहासस्तस्याऽपि ज्ञानम् । परं न फलपर्यवसायि । भवत्वस्य वस्तुस्वरूपज्ञानं तथापि यत्तस्य फलं तदिदानीं मा भवत्विति स्मितम् । फलेऽपि मोक्षलक्षणमेव फलं मा भवतु सर्वज्ञत्वमलौकिकतेजस्त्वं भवत्विति शोचिषेत्युक्तम् । स्मिते एव शोचिर्यस्येति । स्मितमिव वा । यदसाधारणं स्वकर्त्तव्यं तदन्येन न कर्त्तव्यमित्याशङ्क्य प्रियेण तदपि कर्तव्यमिति **प्रियमित्युक्तम्**। तस्य प्रियत्वं भगवतः सम्बन्धात् स्वभावतो वा यदि स्यात् तदा शास्त्रं विरुद्ध्येतेति ब्रह्मगतं स्नेहं स्वस्नेहे हेतुत्वेन निरूपयति–**प्रिय इति** । **"ये यथा मां प्रपद्यन्त"** इत्ययमर्थः सूचितः । भगवद्वाक्ये भगवन्मन उत्पादकमिति तस्याऽप्रसादे वागप्यप्रसन्ना स्यात् । तथा च **"उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमि"**तिवद्ब्रह्मणो वाक्यार्थप्रतीतिर्न स्यात् । अत आह–**प्रीतमना इति** । प्रीतं मनो यस्य । स्वकार्यं ब्रह्मणा जन्यत इति । **करे स्पृशन्निति** क्रियाशक्त्याधानम् । ज्ञानशक्तिस्तु वाक्यात् एवमुभयसम्पन्नं स्वाभीष्टं करिष्यतीति ।। १८ ।।

व्याख्यार्थ—किसी भी कार्य के सम्पादन में तीन की अपेक्षा रहती है । साधन, फल और प्रकार की । यहां भगवान् को ब्रह्मा के द्वारा विश्व रचना करानी है । विश्व रचना हो जाना यह फल है, तदर्थ साधनों की सम्पत्ति भगवान् ने अपने स्वरूप में दिखा दी । अब प्रकार बाकी रहता है । उसके लिये कहते हैं कि 'यत्र' इत्यादि । पूर्वोक्त साधन सम्पादन का और ब्रह्मा से भाषण करने का तात्पर्य कहते हैं कि जिस विषय में साधन और फल दोनों सम्पादन करके हृदय में रख लिये हैं, उस विषय में प्रकार कुछ का कुछ न हो जाय, हमारा अभीष्ट ही प्रकार है, इसलिए और विश्व रचना रूप फल की सिद्धि के लिए ही यह पूर्वोक्त साधन, दर्शन और भाषण ब्रह्मा को उत्साह दिलाना है । यदि ये सब अभीष्ट न होता तो भगवान् चुप ही रहते । किन्तु नहीं, भगवान् ने उसका स्पर्श करके भाषण करते हुए ब्रह्मा का उत्साह बढ़ाया ही । ब्रह्मा ने भी उत्साह सम्पन्न होकर भगवत्सम्पादित साधनों में जो कुछ अपना इच्छित प्रयोजन था । उसे आगे जाकर कहा । भगवान् उस पर प्रसन्न थे अतएव पहले करें पीछे भी जो-जो ब्रह्मा ने चाहा सो सब दिया ।

यद्यपि भगवान् ने अपने लोक और सपरिकर स्वरूप में विश्व रचना के साधनों का दर्शन ब्रह्मा को करा दिया है, तथापि लोकरीति से जहां तक इस विषय में उपदेश न करे वहां तक ब्रह्मा भी भगवान् के अभीष्ट प्रकार से विश्व की रचना नहीं कर सकता । इसलिए भगवान् ने चार श्लोक में परोक्ष भाषा द्वारा साधन सम्पादन का भी उपदेश कर दिया । अब तो अपने इच्छित कार्य के विषय में वर याचना बाकी थी, सो उसके लिए भगवान् ने इसके हृदय में प्रेरणा की । यदि भगवान् अपने इच्छित कार्यानुसार प्रेरणा न करते तो कार्य कराना भगवान् का अभीष्ट रहते भी ब्रह्मा तो आज्ञा के परवश होकर जबरदस्ती करता, इसमें प्रकारांतर से हो जाने की संभावना थी । पदार्थों का दर्शन कर लेने पर भी, समझ लेने पर भी विश्व रचना का प्रकार कुछ का कुछ हो जाता । इसलिए भगवान् की यह इच्छा हुई कि मेरी इच्छा के सदृश इच्छा ब्रह्मा के हृदय में पैदा कराकर उसके द्वारा ही अपना इच्छित कार्य कराना उचित है । बस इस भगवदिच्छा से ही ब्रह्मा कुछ बोल न सकता । 'प्रियमाणं समवस्थितं' । भगवान् ने जब ब्रह्मा को दर्शन दिये तब भगवद्वस्तु के महत्त्व से हो, चाहे भगवान् के साथ सम्बन्ध रहने से हो, किंवा अपने इच्छित मनोरथ की सिद्धि हो जाने से हो, किसी तरह से भी हो, पर ब्रह्माजी उस समय भगवान् के दर्शन करके खूब ही प्रीति युक्त हो रहे थे । तप का श्रम कुछ न रहा । स्वस्थ होकर बैठे थे । यदि प्रसन्न और स्वस्थ न रहते तो भगवान् आज्ञा ही न करते । अतएव मानना पड़ेगा कि ब्रह्माजी उस समय सर्व दोष रहित हो चुके थे । ऐसे समय भगवान् उससे बोले । पहले कुछ हृदय में क्लेश था भी, पर भगवान् के दर्शन कर लेने से सब क्लेश दूर हो चुका था ।

क्लेश रहित और सुखी स्वस्थ होकर जब बैठे तब ही भगवान् ने समझा कि प्रजा निर्माण के लिए हमारी आज्ञा का पालन करने का सामर्थ्य इसमें है । इस तरह के ब्रह्मा को देखकर और उसकी स्वरूप योग्यता को समझकर अपने कार्य में सहकार करने की योग्यता दिखाने के लिए कुछ बातचीत आरम्भ की । निष्प्रयोजन भी कुछ न कुछ बात करना ही प्रयोजन नहीं था; किन्तु यह बोलना महत्प्रयोजनक था । यह दिखाने के लिए 'गिरा' इस वाणी को करण (साधन) मात्र रखा ।

यहां एक यह आशंका होती है कि ब्रह्मा ने भगवान् के दर्शन पा लिये । स्वयं उत्तमाधिकारी तो है ही और फिर ऊपर से भगवान् का प्रवचन सुनेगा तो ब्रह्मा को वास्तविक तत्वज्ञान हो

जाएगा। ऐसी अवस्था में विश्व रचना का कार्य भी शिथिल हो जायगा। इसका समाधान करते हैं, कि 'ईषत्स्मित' इत्यादि। विश्ववर्ती सब ही पदार्थों (वस्तुओं) में एक वास्तविक वस्तु स्वरूप (तत्व) पृथक् ही रहता है। उसकी समझ हो जाने से फिर जीव निकम्मा हो जाता है। भेदभाव जाता रहता है। क्रियायें शिथिल हो जाती हैं। सो न होने पावे, इसलिए भगवान् ने अपने भाषण में मुसक्यान को साथ रखा। भगवान् की मुसक्यान माया का मोह है, यह पहले कह चुके हैं। यद्यपि भगवान् के वचनामृत से ब्रह्मा को तत्वज्ञान हुआ, किन्तु मन्दहास से कुछ मोह भी रहा। यह 'ईषत्' पद का तात्पर्य है। यद्यपि माया का मोह सब कुछ भुला देने के लिए समर्थ है, तथापि यह जगत्कार्य तो ब्रह्म (भगवान्) की इच्छामात्र से ही होगा, इसलिए मोह का कार्य अल्प ही हुआ। सामान्य जीवों के समान एकदम न हुआ। भगवान् ने मन्दहास किया है—हास का क्या स्वरूप है, यह ब्रह्मा को समझ में आया अतएव उसको वैराग्यादि होना था, सृष्टि कार्य कैसे हुआ? यह प्रश्न हो सकता है। यह ज्ञान फल पर्यन्त न पहुँचने पाया, क्योंकि 'ईषत्स्मित' था। भले ब्रह्मा को वस्तु-स्वरूप का ज्ञान हो जावे, पर इसका फल वैराग्य, मोक्ष आदि इस समय न हो, यह मन्दहास का आशय है। फल भी अनेक हैं। उनमें ब्रह्मा को मोक्षरूप फल ही न होवे, किन्तु सर्वज्ञपन और अलौकिक तेज भले ही हो, यह 'शोचिष' शब्द का तात्पर्य है। स्मित में ही है प्रकाश जिसका, किंवा स्मित की तरह है प्रकाश जसका, यहां दोनों ही समास हो सकते हैं।

जो कार्य असाधारण हों और स्वयं अपने ही करना हो वह दूसरे के हाथ नहीं सौंपा जा सकता, उसे दूसरा नहीं कर सकता। ऐसी आशंका मानकर 'प्रिय' शब्द कहा है। अर्थात् जो अपना प्यारा हो वह उस असाधारण कार्य को ही करता है। विश्व रचना करना यह कार्य केवल भगवान् का ही कर्तव्य है, ब्रह्मा यदि भगवान् को प्रिय न होता तो विश्व-रचना नहीं कर सकता था। किन्तु यह भगवान् को प्रिय है। अतएव वह भगवान् के कर्तव्य को ही करता है। इसलिए ब्रह्मा को 'प्रिय' कहा। अब यहां यह विचार होता है कि, भगवान् को ब्रह्मा जो प्रिय है सो पुत्रादि सम्बन्ध से है, किंवा स्वभाव से प्रिय ही प्रिय है। दोनों में से भी एक तरह मानने 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तास्तथैव भजाम्यहम् (गीता) इस प्रतिज्ञा शास्त्र का विरोध आवेगा। यह शास्त्र तो कह रहा हैं, मुझे स्वभाव से किंवा सम्बन्ध से कोई प्रिय नहीं है, किन्तु जो कोई भी सुरासुर मनुष्य आदि मेरा जिस प्रकार से भजन (सेवा) करते हैं, मैं भी उनका उसो प्रकार से भजन करता हूँ। यहां केवल स्नेह मात्र को कारण कहा है। अतएव यहां भो ब्रह्मा को 'प्रिय' कहकर अपने आप को भी 'प्रियः' कहा है। अर्थात् ब्रह्मा भगवान् में स्नेह करता है, इसलिए प्रतिज्ञानुसार भगवान् भी ब्रह्मा में स्नेह करते हैं। ब्रह्मा में रहा हुआ स्नेह, अपने स्नेह में कारण कहा। 'प्रियः' इति। इससे 'ये यथा मां' इस प्रतिज्ञा का आशय स्पष्ट कर दिया गया है।

तो भी यहां एक प्रश्न और भी होता है कि जैसे 'उतत्वः पश्यन्न ददर्श वाचं' के अनुसार साधारण अधिकारी भगवद्वचनों का साक्षात्कार कर लेता है, तथापि उनके अर्थ किंवा आशय को नहीं जानता। यहां अर्थावगम नहीं होता यह कहा है, वैसे ही वहां भी भगवान् के बोलने पर भो यदि ब्रह्मा उसके अर्थ किंवा आशय को न समझै तो क्या हो? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं, कि 'प्रीतमनः' भगवत्कर्तव्य को ब्रह्मा करना चाहता है, इसलिए भगवान् का मन प्रसन्न हो गया। इस-लिए प्रसाद से ब्रह्मा को भगवान् के वाक्यों का अर्थावगम भी हुआ ही। 'करे स्पृशन्' हाथ से हाथ

को छूकर, इसलिए कहा कि भगवान् ने अपनी क्रियाशक्ति ब्रह्मा को प्रदान की । ज्ञानशक्ति तो वाक्यों के द्वारा पहुंच ही जायगी । इस तरह से क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति दोनों संपत् मिल चुकी तो ब्रह्मा भगवदिच्छित कार्य कर सकेगा, यह भरोसा हो गया ।। १८ ।।

आभास—मनसो बहिरस्वातन्त्र्यात् वाचमाह—

आभासार्थ—बाहिर कार्य करने में मन स्वतन्त्र नहीं होता किन्तु वाणी बाहर का कार्य कर सकती है, इसलिये अब भगवान् की वाणी का निरूपण करते हैं—

श्लोक—**श्रीभगवानुवाच—त्वयाऽहं तोषितः सम्यग्वेदगर्भ सिसृक्षया ।**
चिरं भृतेन तपसा दुस्तोषः कूटयोगिनाम् ।।१९।।

श्लोकार्थ—हे अन्तर्ज्ञान सम्पन्न ! तुमने मुझे विश्व रचना करने की इच्छा प्रकट करके और चिरकाल तपस्या करने से प्रसन्न कर लिया है, जो कूट योगी उपाय चतुर नहीं होते, वे मुझे स्वाभाविक संतोष नहीं पहुंचा सकते ।।१९।।

सुबोधिनी—त्वयाऽहं तोषित इति । सृष्ट्यर्थं तपःकरणे भगवतो वरदानं कुत्रोपयुज्यत इत्याशङ्क्य तेन तपसा अहमेव प्रीत इत्याह । अयमेवाऽस्मिन् शास्त्रे मुख्यः सिद्धान्तः । यो भगवत्कर्त्तव्यं करोति महता प्रयत्नेन स मुख्यः । यस्तु भगवत्सेवां करोति स मध्यमः । यस्तु स्वार्थं भगवन्तं सेवते सोऽधम इति । ब्रह्मणा त्वाद्यः पक्षः कृत इति भगवानतितुष्टः । तदाह—**सम्यगिति** । कथं ब्रह्मणाऽयमर्थो ज्ञात इति तत्राऽऽह—**वेदगर्भेति** । वेदा गर्भे यस्य । वेदानामिदमेव तात्पर्यं यद्भगवत्कार्यं कर्त्तव्यमिति । अत एव सर्वत्र—**"प्रजापतिरकामयत प्रजाः सृजेयेति"** । **"ऋतवो वै प्रजाकामाः प्रजां नाऽविन्दन्त तेऽकामयन्त प्रजां सृजेमहि प्रजामवरुन्धीमहि प्रजां विन्देमहि प्रजावन्तः स्यामे"**ति । **"अग्निहोत्रं जुहोति"** । **"यदेव किञ्च यजमानस्य स्वं तस्यैव तद्रेतः सिञ्चति प्रजनन"** इति । अन्यथा लौकिकार्थपरत्वे वेदानामनुवादकत्वेनाऽप्रामाण्यं स्यात् । अत एवाऽऽपाततो ये वेदज्ञास्ते नेममर्थं जानन्तीति तद्व्यावृत्त्यर्थं गर्भपदप्रयोगः । तत्र हि वेदाः स्थिराः बुद्धौ तु त्रिक्षणावस्थायिन इति। सिसृक्षयैवाऽहं तोषितः। तत्रापि तदर्थं महान् क्लेशः कृत इति सुतरामेवाऽहं तुष्ट इति हेत्वन्तरमाह—**चिरं भृतेन तपसेति** । यद्यपि सिसृक्षासम्बन्धव्यतिरेकेण केवलतपसा तोषो न भवति । तथा सति सिसृक्षा तत्रैवाऽङ्गं भवति । तथापि मुख्या सेति पृथग्घेतुत्वम् । तपस्तु सन्तापात्मकं सकृदेवोत्पद्यते । तदेव यदि प्रयत्नेन तिरोभावमप्रापयत् ध्रियते तदोत्कर्षो भवति । विरम्य विरम्य प्रारम्भस्तु प्रथमतुल्य एव । अभ्यासेन संस्कारः परं वर्द्धते न तु फलम् । अतस्तद्व्यावृत्त्यर्थमाह—**चिरं भृतेनिति** । एकमेव तपो मध्ये प्रयत्नान्तररहितं सञ्जातस्य शोषकत्वेनाऽधिकारं सम्पादयत् तोषहेतुर्भवति । सामर्थ्यविशेषं वा । अतो दीर्घकालधरणैकवचनानि तपसि युक्तानि भवन्ति । केवलतपसैव भगवत्तोषमाशङ्क्य प्ररोचनार्थमेव भगवान्वदतीति ब्रह्मणो बुद्धिं परिहर्त्तुमाह—**दुस्तोष इति** । तपोधारकत्वेन योगोऽपेक्ष्यते । तपःस्वरूपं चाऽग्रे वक्ष्यते । अतो ये भगवत्कार्यं

न कुर्वन्ति ते तपस्विनो न भवन्ति। तेषां योगे तपसोऽभावात् शून्य एव स योगस्तपःसहित इति भ्रमाद्भासते। अतस्ते कूटयोगिन इत्युक्तम्। तेषां दुस्तोषः दुःखेन तोषो यस्य। योगस्य निर्बन्धात्मकत्वात् ते स्वात्मानं पीडयन्तीति तद्दयया निर्बन्धेन सन्तोषः। यथा प्रायोपवेषिनः ॥१९॥

व्याख्यार्थ—ब्रह्मा ने तो विश्वरचना के लिये तप किया था, वर मांगने के लिये नहीं, फिर भगवान् ने वरदान दिया इसका कारण क्या ? इस आशंका का उत्तर देते हैं कि त्वया अहं तोषितः। सिसृक्षा के लिये जो तप किया बस उसी से मैं प्रसन्न हो गया हूँ। पुराणादि सृष्टि-शास्त्रों का यहि मुख्य सिद्धान्त है कि जो अपने सम्पूर्ण प्रयत्न से भगवान् की इच्छा के अनुसार कार्य करें वही भगवान् के यहां प्रधान पुरुष समझा जाता है, जो भगवान् की प्रसन्नता के लिये भगवान् की सेवा करता वह मध्यम पुरुष है और जो अपने स्वार्थ के लिये ही भगवान् की सेवा करता वह अधम है। ब्रह्मा ने प्रथम पक्ष का स्वीकार किया है इसलिये भगवान् उस पर अति प्रसन्न हुये। कहने का तात्पर्य इतना ही है कि यद्यपि तीनों ही भगवान को सेवा करते है तथापि भगवच्चिन्तित भगवच्चिकीर्षित कार्य में साहाय्य करै, पूर्ण प्रयत्न करके भी भगवदिच्छानुसार कार्य करै वह सेवकों में उत्तम है। लोक और शास्त्र में भी यही सिद्धान्त स्वीकृत है।

उत्तमश्चिन्तितं कुर्यात्प्रोक्तकारी तु मध्यमः।
अधमोऽश्रद्धया कुर्वन्तकर्तोच्चरितं पितुः ॥नीति॥
य एषां पुरुषः साक्षादात्म प्रभवमीश्वरम्।
न भजन्त्यवजानन्ति स्थाना दभ्रष्टाः पतन्त्यधः ॥भा.एका.॥

मनुष्य मात्र का पिता भगवान् है। पिता के इच्छित कार्य को करने वाला उत्तम पुत्र हैं, कहने पर करने वाला मध्यम, अश्रद्धा से करने वाला अधम है। और न करने वाला तो मूत्र की तरह त्याज्य है। ब्रह्मा भी भगवान् का आत्मज है अतएव ब्रह्मा को आत्मभूः कहते हैं। भगवान् के हृदय में सृष्टि रचना करने की है। तदनुसार विश्व रचना करने को ब्रह्मा के मन में भी इच्छा हुई और उसके लिये ब्रह्मा ने अपने सम्पूर्ण प्रयत्न से चिरकाल पर्यंना दुष्कर तप किया तब भगवान उस पर अति प्रसन्न हुये यह ठीक ही है। अतएव मूल में 'सम्यक्' कहा है। अर्थात् हे ब्रह्मन् ! तुमने मुझे अच्छी तरह प्रसन्न किया है।

यहां यह विचार होता है कि ब्रह्मा को इस सिद्धान्त का प्रकाश कैसे हुआ ? इसके उत्तर में कहते है कि 'वेद गर्भ' ! भगवान ने पहले ही ब्रह्मा के हृदय में वेदों को पहुंचा दिया है। ब्रह्मा के गर्भ में वेद भरे हैं और वेदों का यह सिद्धान्त है कि सृष्टि के सब ही समझदार पुरुषों का कर्तव्य है कि वे भगवत्कार्य करें, विश्व रचना करना यह इस समय भगवान का कार्य है। उसी को ब्रह्मा भो करना चाहता है, यही बात वेदों में कही गई है। 'प्रजा पतिरकामयत' इत्यादि। प्रजापति ने चाहा कि मैं प्रजा की रचना करूं। ऋतुओं की अभिमानी देवताओं ने प्रजा की चाहना की। उन्हें प्रजा (विश्व) न मिली, तब उन्होंने मिल कर उद्योग किया, 'हम प्रजा पैदा करें' इत्यादि। सृष्टि में वर्तमान यह यज्ञकर्ता पुरुष अपने सर्वस्व रूप वीर्य को विश्व रचना में ही लगाता चला आ रहा है। विश्व रचना भगवत्कार्य है इन श्रुतियों में विश्व रचना की ही चर्चा है, व्यक्तिगत पुत्रोत्पादन स्वार्थ की नहीं। व्यक्तिगत पुत्रोत्पादन स्वार्थ

सेवा है, और विश्व रचना भगवत्कार्य है, भगवत्सेवा है । कितने ही मीमांसक 'रेत: सिञ्चति' इन श्लिष्ट शब्दों को देखकर उन श्रुतियों का अर्थ लौकिक पुत्रोत्पादन में ले जाते हैं, यह उनका भ्रम है । यदि ये श्रुतियां लौकिक बात को ही कहतो तो अनुवाद हो जाने से अप्रमाण हो जातीं । अनुवाद में स्वतंत्र प्रामाण्य नहीं होता । अतएव 'गर्भ' शब्द दिया है, इसका तात्पर्य यह है कि जो लोग ऊपर-ऊपर से ही वेद को जानते हैं, वे उसके अन्तर्वर्ती आशय को नहीं जानते । उनका सिद्धान्त ग्राह्य नहीं है । ब्रह्मा को ही वेदों का स्थिर ज्ञान है, और तदन्य पुरुषों की बुद्धि में जो वेद (ज्ञान) आया है, वह अनित्य है । पूर्वोक्त सिद्धान्त पुराणों से पुष्ट हुआ है, निर्बल नहीं है ।

भगवान आज्ञा करते हैं कि ब्रह्मन ! तुम्हारे हृदय में विश्व रचना करने की इच्छा हुई, बस इतने से ही मैं प्रसन्न हो चुका था । उस पर भी फिर जो तुमने तप रूप महान क्लेश सहा, इससे तो मैं बहुत ही संतुष्ट हुआ हूं । यह बात 'चिरंभृतेन तपसा' वाक्य से कही । भगवान को सन्तोष होने में पृथक-पृथक दो कारण कहे 'सिसृक्षा' 'चिरंभृत तप' । विश्व रचना की इच्छा और बहुत काल तपस्या । इसमें विश्वरचनेच्छा मुख्य कारण है, क्योंकि यदि ब्रह्मा के हृदय में सृष्टि रचने की इच्छा पैदा न होती तो केवल तप करने से भगवान प्रसन्न होते या न भी होते । अतएव 'सिसृक्षया' वहां[1] हो अंग हो जाती है तथापि सिसृक्षा मुख्य तो है ही इसलिये सिसृक्षया यह हेतु प्रथक कहा । इन्द्रियों, वृत्तियों को सन्ताप के द्वारा नियमित कर देना ही तप कहा जाता है । वह समूहात्मक एक बार में ही पैदा होता है । बीच-बीच में कुछ अन्तर पड़ जाने से उसके तिरोभाव की आशंका रहती है,किन्तु साधक के प्रयत्न से यदि वह निरंतर चलता रहे तिरोभाव को प्राप्त न हो, तो बहुत उत्कर्ष को प्राप्त होता है । ठहर ठहर कर किया गया तप तो शुष्क तप की तरह व्यर्थ ही है । ऐसे तप से कुछ संस्कार जमा रहे यह हो सकता है, किन्तु उससे फल की प्राप्ति होना अशक्य है । ब्रह्मा के तप को कोई ऐसा न समझ ले इसलिये 'चिरं भृतेन' तपस्या के बीच में (मध्य में) अन्य प्रयत्न से रहित एक का एक ही तप देह को नियमित बनाता हुआ, जीव का भगवत्कार्य में अधिकार सम्पादन करता है, अतएव भगवान को सन्तोष पहुँचाया और विशेष सामर्थ्य कर दिया । इसलिये तप को दीर्घ काल पर्यन्त चलता रखना चाहिये, इत्यादि जो शास्त्र के वाक्य हैं वे ठीक हैं ।

यहां ब्रह्मा को एक आशंका हो सकती है, कि मेरे केवल तप करने मात्र से भगवान को संतोष हुआ है, और सिसृक्षा की चर्चा तो भगवान ने मुझे खुश करने के लिये की है' । ऐसी ब्रह्मा को बुद्धि न हो जाय, इसलिये इस बुद्धि को दूर करने के लिये कहते हैं कि 'दुस्तोष: कूट योगिनाम्'। तप के धारण करने के लिये योग की अपेक्षा है । चित्तवृत्ति की एकाग्रता अपेक्षित है । सिसृक्षा की एकाग्रता तप के धारण करने का आधार है । विश्व रचना करने की इच्छा भगवत्कार्य है । इसलिये जो योगिजन भगवत्कार्य नहीं करते केवल निराधार श्रम मात्र करते हैं, वे वास्तविक तपस्वी नहीं कहे जा सकते । तप का स्वरूप आगे स्पष्ट कहेंगे । जिस योग में तप न हो वह शून्य हो है । ऐसा योग भ्रम से तप: सहित मालूम देता है । ऐसे योगी कूट (झूठे) योगी कहे जाते हैं । भगवान

---

१ सिसृक्षार्थं तप: कृतमिति परार्थत्वात् सिसृक्षा मुख्यमङ्गीत्यर्थ: तपस्त्वङ्गम् । तथापि सुबोधिन्यां 'तत्रैवाङ्ग भवतीति' उच्यते । सिसृक्षा मुख्यमित्यपि उच्यते । तत्रैवेत्यनेन तपो गृहीते अङ्गी भवतीति पंक्तेराशयो नावगम्यते । दे.र.ना.

कहते है कि- ऐसे योगियों से मैं दुस्तोष हूं। अर्थात् दुःख से प्रसन्न होता हूं। पश्जाताप का दुःख बना रहता है। प्रसन्न भी होना पड़ता है, क्योंकि उनका वह योग-एकाग्रहता-जबरदस्ती का है हठ का है। अतएव ये विचारे अपने देह को व्यर्थ ही पीड़ा दे रहे हैं, और देते रहेंगे भी इसलिये उनके देह पर दया खाते हुये मुझे पसन्न होना पड़ता है'। जैसे कोई किसी के यहा धरना (खाये पिये बिना) देकर बैठ जाये, और तो फिर उसे दुःखी देखकर वे मन से भी उसका कहां करना पड़ता है। इसों तरह ॥१६॥

आभास—एवं स्वसन्तोषमुपपाद्य वरार्थं प्रेरयति—

आभासार्थ——अब भगवान् ब्रह्मा को वर मांगने के लिये प्रेरणा करते हैं—

श्लोक—**वरं वरय भद्रं ते वरेशमभिवाञ्छितम् ।**
ब्रह्मन् श्रेयःपरिश्रामः पुंसां मद्दर्शनावधिः ॥२०॥

श्लोकार्थ—हे ब्रह्मन्! मैं सब पुरुषार्थों का देनेवाला हूँ इसलिए जो तुम्हारी इच्छा में आवै वैसा वर मांग लो। तुम्हारा श्रेय होगा। साधक लोग जो श्रेय के लिये परिश्रम करते हैं, वह परिश्रम मेरे दर्शन होने के पहले पहले हैं। दर्शन होने के अनन्तर सब परिश्रम दूर हो जाता है ॥२०॥

सुबोधिनी—वरं वरयेति। अन्यकामनयैव कार्यं कर्त्तव्यमिति भगवदिच्छा । वरस्तु स्वकामितपदार्थः। कामनया च नाश इति न शङ्कनीयमित्याह—**भद्रंत इति**। वृतेऽपि वरे मदर्थमेवोपयोगात्तव न कापि चिन्ता। अतस्तव भद्रमेव। **वरेशमिति**। वरस्तु भगवत्स्वरूपावधिः। तत्राऽन्यस्याऽसामर्थ्यमतोऽहमेव वरेशः। अन्ये तु वराभासेशाः कूटयोगिवत्। तत उक्तमभितो वाञ्छितमिति। सर्वथा वरत्वेन प्रतिपन्नम्। ननु पूर्वकृततपसा भवान्प्रसन्नः। एवं पुनस्तपसाऽभीप्सितार्थसिद्धिरपि भविष्यति। किं वरेण? तत्राऽऽह—**ब्रह्मन् श्रेयःपरिश्राम इति**। ब्रह्मन्निति सम्बोधनमुक्तार्थसम्बोधाय। श्रेयोनिमित्तं यः परिश्रामः स तु मद्दर्शनमेवाऽवधिर्यस्य तथोक्तः। पुंसामित्यन्येषामपि। मच्छब्देन च पुरुषोत्तमोऽभिप्रेतो न त्ववतारः। तेन तृतीयस्कन्धे "**भूयस्त्वं तप आतिष्ठे**" तिवचनं न विरुद्धम्। तस्य पुरुषावतारत्वात्। एवमन्यत्राऽपि ॥२०॥

व्याख्यार्थ—वर की इच्छा से ही कार्य करते रहना चाहिये। किन्तु वर तो अपनी इच्छा का पदार्थ है; इसलिये कामना करने से मेरा नाश न हो जाय, ऐसी शङ्का मत करो—'भद्रंते'। तुम्हारा कल्याण होगा। भले तुम वर मांगो, तुम्हें मैं तुम्हारी इच्छा के अनुसार वर दूंगा। फिर भी तुम्हारी कुछ भी हानि नहीं होगी, तुम्हारा श्रेय ही होगा। चिन्ता करने की कोई बात ही नहीं है; क्योंकि मैं जानता हूँ कि उस वर का उपयोग तुम मेरे कार्य में ही करोगे। वर मांगना मेरे स्वरूप प्राप्ति पर्यन्त का हो सकता है। इन सब वरों के दान करने का सामर्थ्य अन्य किसी में भी नहीं है; इसलिये वह सामर्थ्य मैंने अपने हस्त में ही रक्खी है। अन्य देवगण भी वर देते हैं पर वे

उनके दिये हुये वर नहीं वराभास हैं, क्योंकि उनसे उन लोगों की इच्छा पूर्ति नहीं होती । इच्छा का दुःख दुगना चौगुना होकर लगा रहता रहता है और उनके दिये हुये वर का सुख दुःख मिश्रित ही रहता है । इसलिये ऐसा वर देने वाले वे वरेश नहीं पर वराभासेश हैं, झूठे योगियों की तरह । इसलिये वर का विशेषण 'अभिवाञ्छित' कहा है । अर्थात् यह वर तुम्हारी इच्छा के अनुकूल हो और वास्तव में श्रेष्ठ हो ।

यहां एक प्रश्न होता है कि इस समय जो आपका संतोष हुआ है, वह तप करने से हुआ है । तो फिर अब जब कभी मुझे कुछ चाहना होगा तो पुनः तप करने से उसकी प्राप्ति हो जावेगी, वर मांगने का क्या प्रयोजन है ? इसका उत्तर देते हैं कि 'ब्रह्मन्-श्रेयः परिश्राम' इत्यादि । श्रेय के लिये जो परिश्रम करते हैं, वह मेरे दर्शन कर लेने पर्यन्त होता है । अर्थात् मेरे दर्शन कर लेने के बाद उसके सब श्रेय पूर्ण हो जाते हैं, उसका कोई भी कल्याण बाकी नहीं रहता । फिर उसे अपने कल्याण के लिये परिश्रम नहीं करना पड़ता । प्रमान् कहने का तात्पर्य यह है, कि ब्रह्मा एक तुम ही नहीं, पर कोई पुरुष मात्र भी यदि मेरे दर्शन कर ले तो फिर उसे भी अपने कल्याण के लिये श्रम नहीं करना पड़ता । 'मद्दर्शन का अर्थ पुरुषोत्तम-दर्शन है; पुरुष-दर्शन या अवतार-दर्शन नहीं । अर्थात् पुरुष (अक्षरादि) किंवा वामनादि अवतारों का दर्शन कर लेने पर नहीं; किन्तु पुरुषोत्तम के दर्शन हो जाने के बाद ही फिर जीव को कुछ परिश्रम नहीं करना पड़ता, इसलिये तृतीय स्कंध आदि में जहां 'भूयस्त्वं तप आतिष्ठ' इत्यादि भगवान् ने कहा है, वहां कहने वाले पुरुषोत्तम नहीं हैं, पर उनके अवतार पुरुष हैं । वे शेषशायी भगवान् पुरुषावतार हैं । पाद्म (कला) सृष्टि द्वारक हैं, और ब्राह्म सृष्टि पुरुषोत्तम द्वारक हैं । इस तरह अन्य स्थलों में भी विरोध का परिहार कर लेना चाहिये ।।२०।।

आभास—नन्वन्यथाऽर्थे सिद्धे ईश्वरप्रार्थना न क्रियते । लोके हि कष्टेनाऽपि पदार्थाः साध्यन्त इत्याशङ्क्य न प्रकारान्तरेणाऽयमर्थः सेत्स्यतीति वक्तुं पूर्वं जाता अपि पदार्था न केवलं तपसा जाताः किन्तु मदिच्छयेत्याह—

आभासार्थ—'यहां एक यह आशंका होती है कि और तरह से यदि अपना मतलब सिद्ध हो जाता हो तो फिर बड़े लोगों से भीख क्यों मांगनी चाहिये ? बहुत से लोग उद्योग करने पर परिश्रम से अपने इच्छित पदार्थ की प्राप्ति करते देखे ही गये हैं । इस आशंका का उत्तर देते हैं कि यह तुम्हारा इच्छित पदार्थ अन्य प्रकार से सिद्ध नहीं हो सकता । इसके पहले जो मेरे लोक रूप में भी जो विश्व-संबधि पदार्थों की उत्पत्ति हुई है, वह तुम्हारे तप करने से नहीं हुई है, पर ऐसी मेरी ही इच्छा थी । यह कहते हैं :—

श्लोक—**मनीषितानुभावोऽयं मम लोकावलोकनम् ।**
यदुपश्रुत्य रहसि चकर्थ परमं तपः ।।२१।।

श्लोकार्थ—मेरी आज्ञा को सुनकर जो तुमने एकान्त में बैठकर परम तपस्या

की और फिर जो मेरे लोक व्यापि वैकुण्ठ का दर्शन किया यह सब मेरी इच्छा का ही प्रभाव है। तुम्हारा तप और मेरे लोक का दर्शन दोनों मेरी इच्छा से हुआ है[1]।

सुबोधिनी—मनीषितानुभावोऽयमिति। मनीषितस्य अनुभावः। ममैवैषेच्छा यदयं वैकुण्ठं पश्यत्विति। अन्यथा अक्षरात्मकस्य चक्षुषा दर्शनमुपायसहस्रेणाऽपि न भवति। **"पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूरि"** ति श्रुतेश्च। बहिः स्थितोऽपि पदार्थो योग्य एव गृह्यते नाऽयोग्यः। न हि योगिनोऽपि चक्षुषा आकाशं पश्यन्ति। सामर्थ्याधानमप्यर्वाक्पदार्थेषु न त्वक्षरेऽपि वा। ननु मनीषितेऽपि कथमेवम्? तपस इच्छायाश्च भगवच्छक्तित्वेन तुल्यत्वात्। तत्राऽऽह—**अनुभावोऽयमिति।** न केवलं मनोषया शक्तितुल्यत्वादिदं कार्यं किन्तु तस्या अनुभावः। सर्वासां शक्तीनां मध्ये इच्छाशक्तिरुत्कृष्टा। सर्वमूलत्वात्। अन्यास्तु तत्साध्याः। अतस्तस्या एवाऽयमनुभावो मम लोकस्य वैकुण्ठस्याऽवलोकनं दर्शनम्। नन्वेवं सति तपो व्यर्थं स्यात्। तथा सति पूर्वमेव कथं न दर्शनं लोकस्य। अत इच्छोत्पादकत्वेन साक्षाद्दर्शनहेतुत्वेन वा तपोऽवश्यं वक्तव्यमित्याशङ्क्याऽऽह—**यदुपश्रुत्येति।** तपो हि मयैवोपदिष्टं। यतस्तपतपेति मद्वाक्यं श्रुत्वा। रहसि एकान्ते। उभयत्रैतद्विशेषणम्। **परमं तपश्चकर्थ।** पूर्वत्र विशेषणत्वे एकान्तवचनत्वात्तत्कथनं विश्वासाय। उत्तरत्र तु गुप्ततयैव तपःकरणं कीर्तनेन क्षरणशङ्काभावाय। **परममिति** स्वरूपतः फलतश्चोत्कृष्टम्। इदमपि मनीषितानुभावरूपम् ॥२१॥

व्याख्यार्थ—मेरे मनोरथ का यह प्रभाव है। मेरी ही यह इच्छा हुई कि यह ब्रह्मा मेरे लोक का दर्शन करले। यदि मेरी ऐसी इच्छा न होती तो अक्षर ब्रह्मात्मक मेरे लोक का नेत्रों से दर्शन हजार उपाय करने से भी नहीं होते। यह तो प्रमेय सामर्थ्य है। प्रमाण बल में तो ऐसी श्रुति-वेद वाक्य है कि 'पराञ्चि खानि'। अर्थात् भगवान् ने चक्षु आदि इन्द्रियों को बाह्य पदार्थों को देखने वाली बनाकर काट दी। अतएव जीवेन्द्रियां बाहर देखती है। आत्मा में आये हुये पदार्थों को नहीं देख सकती। वास्तव में देखा जाय तो लौकिकेन्द्रियां बाह्य पदार्थों को भी सम्पूर्ण रीति से नहीं देख सकती। जितनी उनकी योग्यता है उतना ही देख सकती हैं। योगी लोगों की आंखें भी अपने चक्षु बल से आकाश को नहीं देखते। आकाश ही स्वयं ऐसा पदार्थ है, जो स्वयं सबकी आंखों में आ जाता है।

यदि कोई कहे कि असामर्थ्य रहने पर भी तप आदि का सामर्थ्य आ जाने से फिर आंखें देख सकती हैं। यह भी ठीक नहीं है। सामर्थ्याधान भी अक्षर के पूर्व-पूर्व के पदार्थों को दिखा सकता हैं; किन्तु अक्षर ब्रह्मस्थ पदार्थों का दर्शन विपुल सामर्थ्य से भी नहीं हो सकता।

यहां एक यह आशंका हो सकती है कि भगवान् को इच्छा होने पर भी ऐसा क्यों हुआ? तप और इच्छा दोनों ही भगवान् की शक्तियां हैं। तुल्य हैं। फिर तप करने से तो दर्शन नहीं हो

१. २०, २१ दोनों श्लोकों से यह सिद्धान्त स्पष्ट होता है कि साक्षात् प्रकट होकर यदि भगवान् आज्ञा करे तब ही सेवक भगवान् से याचना करे अन्यथा कभी भी किसी तरह की प्रार्थना प्रभु से न करे।

सकते और इच्छा होने से हो सकते है, यह क्यों ? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'अनुभाव: अयम्' समान शक्ति होने, यह कार्य केवल मेरी इच्छा से हीं नहीं हुआ है, किन्तु यह इच्छा का प्रभाव है। सब शक्तियों के मध्य में इच्छा शक्ति सर्वोत्कृष्ट है। इच्छा शक्ति सब का मूल है। अन्य शक्तियां तो इच्छा शक्ति के अधीन हैं। साध्य हैं। इसलिये यह ठीक है कि मेरे लोक का जो दर्शन हुआ है, वह मेरी इच्छा का ही प्रभाव है। इच्छा का प्रभाव पृथक है और सर्वोत्कृष्ट है।

अब यदि कोई कहे कि जो इच्छा से ही भगवल्लोक का दर्शन हुआ तो फिर ब्रह्मा का तप करना व्यर्थ हुआ ? और यदि ऐसा ही था तो फिर तप करने के पहले ही उसे बैकुण्ठ दर्शन क्यों न हो गया ? इसलिये माननां पड़ेगा कि वैसी इच्छा को पैदा करने के लिये किंवा स्वतन्त्ररीति से भगवल्लोक दर्शन का कारण होने से तप भी यहां कहना था। इसका उत्तर कहते है कि 'यदुपश्रुत्य' तप करने की आज्ञा मैंने ही दी थी। जिस समय तुम्हारी दृष्टि में कुछ नहीं आता था, उस समय 'तप तप' इन शब्दों को सुन कर उसी शून्य अवस्था में तुमने परम तप किया था। 'रहसि' यह विशेषण आगे पीछे दोनों बार लगाया है। इसका यह तात्पर्य है कि जिस समय 'तप तप' यह शब्द सुना तब एकान्त था, कोई दूसरा था ही नहीं, इसलिये यह शब्द भगवान् का ही था, यह विश्वास हो जाय। और तदन्तर एकान्त का यह तात्पर्य है कि एकान्त में किया हुआ तप स्थिर रहता है। सबको विदित हो जाने से बड़ाई होती है और उससे उसका नाश हो जाता है। यह तप स्वरूप और फल दोनों दृष्टियों से उत्कृष्ट हुआ, इसलिये 'परम' कहा, और ऐसा होना भी भगवान् की इच्छा का ही प्रभाव था ॥२१॥

आभास—नन्वेवं सति मनीषा अप्रयोजिका तपसः कृतत्वादित्याशङ्क्याऽऽह—

आभासार्थ—ऐसी अवस्था में जब आपने ही तप की आज्ञा की तो फिर लोकावलोकन में आपकी इच्छा कहां रही ? आपकी आज्ञानुसार तप किया और तप से दर्शन हुये। इसका उत्तर कहते हैं—

श्लोक—**प्रत्यादिष्टं मया तत्र त्वयि कर्मविमोहिते ।**
तपो मे हृदयं साक्षादात्माऽहं तपसोऽनघ ॥२२॥

श्लोकार्थ—हे अनघ ? (निष्पाप) ब्रह्मन् ! तुम जिस समय कर्त्तव्यविमूढ़ हो रहे थे, तब मैंने ही तप करने की आज्ञा दी। इससे तप के द्वारा दर्शन देना, यह मेरा ही मतलब था। तप मेरा हृदय है, और तप का आत्मा भी मैं हूँ ॥२२॥

सुबोधिनी—प्रत्यादिष्टमिति । कर्मणा विमोहित: कर्मविमोहित:। सृष्टीच्छया व्यापृतो ब्रह्मा प्रयोजनसन्देहेन विमोहित: किं स्वार्थं परार्थं वा कर्त्तव्यमिति। तदा कर्मजनितमोहव्यावृत्यर्थं तप उपदिष्टं न तु कार्यार्थम्। कार्यविलम्बस्तु मोहाभावार्थः। एवं तपःप्रयोजनमुक्त्वा तपःस्वरूपमाह—**तपो मे हृदयमिति।** यथा भगवान् षड्गुणस्तथा तपोऽपि षड्गुणम्। तथा सति तस्य षड्गुणत्वे ज्ञाते तपसैव कार्यं भविष्यति किं भगवतेत्याशङ्का निवृत्ता भवि-

ष्यति। तपसः षड्गुणानाह। तपो मे हृदयमन्तरङ्गा शक्तिः। हृदयमेव वा। साक्षादिति उपचारनिवृत्तिः। "यस्य ज्ञानमयं तप" इति श्रुतेः। ज्ञानात्मकत्वं हृदयस्यैव। मद्धृदयत्वं तस्यैश्वर्यम्। किञ्च। अहमेव तस्यात्मा। मदात्मकत्वं तस्य वीर्यम्। यद्यपि भगवान् सर्वस्याऽऽत्मा तथापि न स्वरूपात्मत्वमत्र विवक्षितं किन्तु कार्यात्मत्वम्। ततश्च यत्किञ्चिदहं कर्तुं शक्तस्तत्सर्वं तपसाऽपि भवति। अतोऽवतारवद्रूपान्तरं तप इत्यर्थः ॥२२॥

व्याख्यार्थ—ब्रह्मा अपने कर्त्तव्य से ही बेखबर थे। विश्व रचना करने के लिये व्याकुल तो थे, किन्तु उन्हें प्रयोजन का सन्देह हो रहा था कि क्या अपने लिये विश्व बनाऊं या दूसरों के लिये बनाऊं ? तब प्रयोजन सन्देह रूप बेखबरी को दूर करने के लिये तप की आज्ञा हुई। कार्य के लिये नहीं, अर्थात् तप से प्रयोजन का सन्देह दूर हो गया, पर कार्य करने की शक्ति तो भगवन्मनीषित से प्राप्त हुई। इस तरह तप का प्रयोजन कह कर, अब तक का स्वरूप कहते हैं—'तपो मे हृदयम्'। जैसे भगवान् ऐश्वर्यादि ६ गुण वाले हैं, इसी प्रकार तप भी ऐश्वर्यादि ६ गुण वाला है। इस तरह जब तप के षट गुण आदि की समझ हो जाती है, तब फिर तप से क्या हो सकता है ? यह आशंका अपने आप दूर हो जाती है; अर्थात् जैसे भगवान् सब कुछ कर सकते हैं, इसी तरह तप भी सब कुछ कर सकता है, यह विश्वास हो जाता है। 'तप मेरा हृदय है'। अन्तरङ्ग शक्ति है। 'साक्षात्' कहने से बढ़ा कर कहने की आशंका दूर कर दी गई है। अर्थात् तप साक्षात् भगवान् स्वरूप ही है। 'यस्य ज्ञान मयं तपः' जिस भगवान् का तप ज्ञानमय है। इस वाक्य में हृदय को ज्ञान तपोमय कहा है। भगवान् का हृदय ज्ञान का वैभव (ऐश्वर्य) है। तप का उपादान भी भगवान् ही है। जिस तरह भगवान् का स्वरूप उपादान होता है, उसी तरह भगवान् स्वरूप उपादान होता है इसी तरह भगवान् के धर्म भी उपादान होते हैं। सारा जगत् भगवत्स्वरूपोपादानक है, किन्तु यहां स्वरूप की तरह धर्म भी तपोरूप में कार्योपादान हुआ है। इसलिये उस दृष्टि से उसे आत्मा कहा है। इसका तात्पर्य यह होता है कि जो कार्य भगवान् कर सकते हैं, उसे तप भी कर सकता है, क्यों कि अवतारों की तरह भगवान् का ही एक रूपान्तर तप है ॥२२॥

आभास—ननु तथापि न भगवत्तुल्यता तपसो जगदकर्तृत्वादित्याशङ्क्य उत्पत्तिस्थितिप्रलयकर्तृत्वं तस्याऽऽह–**सृजामीति। बिभर्मि तपसा विश्वमि**त्यन्तेन।

आभासार्थ—फिर भी यहां एक विचार होता है कि क्या भगवान् के बराबर ही तप का भी सामर्थ्य हो सकता है ? भगवान् तो सब जगत् का कर्त्ता है। क्या तप भी विश्व रचना कर सकता है ? वहां कहते है—'सृजामि बिभर्मि' इत्यादि।

श्लोक—**सृजामि तपसैवेदं ग्रसामि तपसा पुनः।**
बिभर्मि तपसा विश्वं वीर्यं मे दुःसहं तपः ॥२३॥

श्लोकार्थ—मैं तप से सब जगत् को सृजता हूँ, फिर तप से रक्षण करता हूँ, और तप से ही इसका प्रलय करता हूँ; इसलिये यह तप मेरा दुःसह पराक्रम है ॥२३॥

सुबोधिनी—यद्यपि करणत्वं सृष्ट्यादौ, तथापि "**स्वव्यापारे हि कर्तृत्वं सर्वत्रैवाऽस्ति कारक**" इति न्यायेन कर्तृत्वमपि। एवं स्वरूपगुणकार्याणि तस्य निरूपितानि। तथा सति भगवतस्तस्य वा वैयर्थ्यमाशङ्क्याऽऽह—**वीर्यमिति**। तपस्तु मम पराक्रमो धर्मरूपः। न हि कार्यसाधकधर्मेण धर्मी धर्मो वाऽन्यथासिद्धो भवति। आश्रयस्य प्रयोजकस्य चाऽवश्यमपेक्षणात्। अतस्तपसो मद्रूपत्वात्पूर्वमपि मया स्वस्वरूपमेवोपदिष्टम्। परमेतावान्विशेषः। किञ्चिन्मम स्वरूपं क्रिययाऽभिव्यज्यते किञ्चिज्ज्ञानेनेति। तपस्तु क्रियया। तस्माद्यत्तपसा जायते मदुपदिष्टेन तन्मयैव जायत इति वैलक्षण्यार्थं नाऽतीवाऽऽग्रहः कर्त्तव्यः॥२३॥

व्याख्यार्थ—यद्यपि सृष्टि रचना में तप करण (साधन) ही है तथापि 'करणादि कारक भी अपने व्यापार में कर्त्ता हो जाते हैं' इस नियम से वह कर्त्ता भी है। इस तरह तप का स्वरूप और उसके कार्य कह दिये। ऐसी अवस्था में भगवान् और तप दोनो समान हो जाते हैं, तो फिर यह आशका बनी ही रहती है कि विश्व रचना कार्य में एक से ही काम चल जायगा, दो को क्या अपेक्षा है? या तो तप व्यर्थ है, या भगवान् व्यर्थ है। इसका समाधान करते हैं कि 'वीर्यम्' अर्थात् तप तो मेरा पराक्रम रूप धर्म है। मेरा धर्म ही कहीं कहीं धर्मी हो जाता है, यह बात दूसरी है, किन्तु वास्तव में धर्म से धर्मी मैं तो जुदा ही हूं। कार्य साधक धर्म से धर्मी व्यर्थ नहीं हो सकता, और न वह साधन भी व्यर्थ हो सकता है। अपने अपने व्यापार में दोनों ही अपेक्षित हैं। धर्मों के रहते भी उनके उपजीव्य आश्रय किंवा प्रेरण कर्त्ता की अपेक्षा अवश्य है, इसलिये यह सिद्ध है, कि तप भी मेरा ही रूपान्तर है। जब मैंने तप करने की आज्ञा दी थी, तब भी स्वरूप का ही उपदेश किया था, यह समझना चाहिये। दोनों में बस इतना फरक है कि कुछ मेरा स्वरूप क्रिया के द्वारा प्रकाश में आता है, और कुछ स्वरूप ज्ञान के द्वारा प्रकाशित होता है। तप रूप तो क्रिया के द्वारा ही प्रकाशित होता है, इसलिये जिसे करने के लिये मैंने उपदेश दिया है, उस तप से जो होता है वह मुझ से ही होता है। इस भेद को समझ कर तुम्हें भी बहुत आग्रह करना उचित नहीं है॥२३॥

आभास—एवं सोपपत्तिकवरप्रार्थनायामाज्ञप्तो ब्रह्मा आज्ञापने प्रतीतं दोषं परिहृत्य वरं प्रार्थयते **—भगवन् सर्वभूतानामि**त्यादि पञ्चभिः—

आभासार्थ—इस तरह जब भगवान् ने युक्ति-प्रदर्शन पूर्वक ब्रह्मा को वर मांगने के लिये आज्ञा दी तब ब्रह्मा भी पहली आज्ञा में जो उसे भूल से दोष मालूम दिया था, उसका परिहार करता हुआ वर की प्रार्थना करता है—'भगवान् सवभूतानां' इत्यादि पांच श्लोकों से—

श्लोक—**ब्रह्मोवाच—भगवन् सर्वभूतानामध्यक्षोऽवस्थितो गुहाम्।**
वेद ह्यप्रतिरुद्धेन प्रज्ञानेन चिकीर्षितम्॥२४॥
तथापि नाथमानस्य नाथ नाथय नाथितम्।
परावरे यथा रूपे जानीयां ते त्वरूपिणः॥२५॥
यथाऽऽत्ममायायोगेन नानाशक्त्युपबृंहितम्।
विलुम्पन् विसृजन् गृह्णन् बिभ्रदात्मानमात्मना॥२६॥

क्रीडस्यमोघसङ्कल्प ऊर्णनाभिर्यथोर्णुते ।
तथा तद्विषयां धेहि मनीषां मयि माधव ॥२७॥
भगवच्छिक्षितमहं करवाणि ह्यतन्द्रितः ।
नेहमानः प्रजासर्गं बध्येयं यदनुग्रहात् ॥२८॥

श्लोकार्थ—हे भगवन् ! आप सब प्राणियों के साथी हो । अतएव प्रत्येक के हृदयाकाश में विराजते हो, और मेरे भी । अतएव अपने अनिवार्य विज्ञान के द्वारा मेरे कर्त्तव्य की इच्छा को भी जान ही रहे हो । तथापि जो कुछ मैं मांगू, उस मेरी मांग को पूरी करो । मेरी यह याचना है कि अरूपी आपके दो रूप हैं । एक असङ्ग, और सबसे अलग रहने वाला, और दूसरा ससङ्ग और सबके समझ में आ सके, ऐसा । इन दोनों रूपों को पर और अपर कहते हैं । अतएव पहली मांग तो यह है कि मैं आपके इन दोनों रूपों को समझ जाऊं । दूसरी मांग का खुलासा यह है कि आप अपनी निज शक्ति को सम्मिलित रख कर और उसकी अवान्तर अनेक शक्तियों से युक्त होकर इस आत्म रूप जगत् को अपने आप ही कभी छिपा लेते हो, कभी बाहर छोड़ देते हो, कभी ग्रहण करते हो, कभी पोषण पहुंचाते हो । इस तरह अव्यर्थ इच्छा वाले आप मकड़ी जैसे अपने जाले से खेल करती है उस ही तरह आप भी खेल करते रहते हो । मैं चाहता तो हूं कि हे ऐश्वर्यपति; इन सब विषयों की बुद्धि मुझ में भी धर दी जावे । और एक यह भी प्रार्थना है कि प्रजासर्ग के विषय में आप कुछ मुझे शिक्षा दीजिये । आप की शिक्षा को मैं सावधान रह कर पालन करूंगा, और जिस सिखावन के अनुग्रह से मैं विश्व रचना करते समय उस कार्य में आसक्त फंस न जाऊं ॥२४-२८॥

सुबोधिनी—चत्वारोऽर्थाः प्रार्थनीयाः । दोषपरिहारार्थं चाऽऽद्यः । तमाह—हे भगवन् । पूर्वं सहसा भगवद्दर्शनेनाऽऽगतसाध्वसोऽसमर्थो जातः । इदानीं भगवद्वाक्येन स्पर्शेन च सावधानः सोपपत्तिकं वदति—**भगवन्निति** सम्बोधनं स्वरूपपरिज्ञापकम् । त्वं हि सर्वान्तरात्मा सर्वेषां हृदयं जानासि । अतो यन्ममाऽभिप्रेतं तत्तव ज्ञातमेव । तथा च ज्ञातृज्ञापनं पिष्टपेषः । तथापि याचितमेव देयमिति यदि । अथवा । न ज्ञायतेऽस्य तत्त्वं किमित्येवमाह भगवानिति । तस्मिन्नपि पक्षे भगवदाज्ञा कर्त्तव्येति प्रार्थनमावश्यकम् । तद्वक्ष्यति—**तथापिति** । सर्वभूतानामध्यक्षः । सर्वकार्येषु प्रेरको नियामको वा । यथा लोके कर्माध्यक्षस्तथा भगवान् सर्वाध्यक्षः । अनेन भगवदाज्ञाव्यतिरेकेण न कस्याऽपि कोऽपि धर्मोऽन्तर्बहिर्वोत्पद्यते । अतः कामनाऽप्युत्पन्ना त्वयैवोत्पादितेति तत्पूरणमपि त्वयैव कर्त्तव्यमिति न मम भारः । स्वपुत्रान् हि सर्व एव पुष्णन्ति । किञ्च । **गुहामवस्थितः** हृदयाकाशमधिष्ठाय स्थितः । अतः सर्वं तव विदितम् । किञ्च ।

चिकीर्षितमपि भवान् वेद । यतोऽप्रतिरुद्धेन कालादिभिः प्रतिरोधो यस्य ज्ञानस्य नास्ति । कार्यबोधने उत्पत्तौ वा प्रत्यासत्त्यर्थं वा केनाऽप्यंशेन प्रतिरोधो नास्ति । अतो ज्ञातत्वात् ज्ञानोत्पत्तिस्थान एव विद्यमानत्वादिच्छायाश्चोत्पादकत्वाद्भगवता न प्रष्टव्यं न वा वक्तव्यं तथापि तवाऽऽज्ञापरिपालनार्थं कथयिष्यामीत्याह—**तथापीति** । परमेकमेव प्रार्थ्यते । याचितं देयं न तु युक्तमयुक्तं वेति विचारणीयम् । तदाह—**नाथितं नाथयेति** । "नाथृ" याच्ञायाम् । अतो नाथितं याचितम् । नाथय प्रयच्छ । अवश्यदाने हेतुः—**हे नाथेति** । स्वामी हि सेवकेभ्यः प्रयच्छत्येव । अनन्यगतिकत्वात्तेषाम् । एवं प्रार्थयित्वा प्रथमं द्वयं प्रार्थयते—**परावरे यथा रूपे इति** । ममाऽयं महान् सन्देहः कस्त्वं परः कोऽपर इति । किंवा तव पुरुषोत्तमरूपं किं वेदं परिदृश्यमानमिति । एते परावरे रूपे । पुरुषोत्तमाक्षररूपे आविर्भूतानाविर्भूतरूपे अवतारावतारिरूपे वा यथा जानीयां तथा वरो देयः । नन्वेतानि रूपाणि वेद एव प्रसिद्धानि वेदानुसन्धानादेव ज्ञातव्यानि किमिति वरत्वेन प्रार्थ्यते ? तत्राऽऽह—**ते त्वरूपिण इति** । तुशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति । न तद्रूपमस्तीश्वरे यत्र वेदे श्रुतमस्तीत्येकस्येश्वरस्य सर्वाणि रूपाणि वेदे प्रतिपाद्यन्ते । अन्ये वीर्यादयः पञ्च । भगवांश्चाऽनुक्त एव तिष्ठति । तस्मादेतानि षडपि न पृच्छ्यन्ते साम्प्रतम् । किञ्च । मूलरूपस्य धर्माकारेणाऽप्यजातस्य यत्परं रूपं, यद्वा सर्वरूपेण जातस्य पश्चाज्जायमानमवरं रूपं ते ज्ञातुं प्रार्थयामीत्यर्थः । अनेनाऽऽद्यन्तरूपपरिज्ञानं भवति । तथा च सत्येतावत्कर्त्तव्यमिति ज्ञातं स्यात् । तच्च ज्ञानं कर्माङ्गमिति प्रसिद्धम् । एवमाद्यन्तरूपज्ञानं प्रार्थयित्वा मध्यस्थानि सर्वाण्येव रूपाणि ज्ञातुं प्रार्थयते । तथा सति तत्तदुपयोगार्थं सृष्टिकरणं सुगमं स्यात् । सृष्टिज्ञानं तु पूर्वमेव वर्त्तत इति न तत्प्रार्थ्यते । सिसृक्षायां वा प्रार्थयिष्यते अंशभेदेन । यथा आत्मनः स्वस्य पुरुषोत्तमस्य माया कार्यकारणरूपिण्यनन्ता । तस्याः सर्वतो योगेन तस्यास्त्रिगुणात्वात्तत्सम्बन्धेन नानाभावमुत्पत्त्यादिरूपं शक्त्यादिरूपं च तेनोपबृंहितमात्मानं विसृजन् विशेषेण कुर्वन् । गृह्णन् बिभ्रत् । आत्मानमेव गृह्णन्नुत्पन्नमात्मसात्कुर्वन् । बिभ्रत् आत्मानमेवोत्पन्नं भाररूपं स्वयमेव धारयन् । यदा पुनर्भारं वोढुं नेच्छति तदा विशेषेण लुम्पन् स्वयमेव कर्तृकर्मकरणरूपः क्रीडसि । तथा क्रीडाज्ञानं ममाऽस्त्विति प्रार्थना । तथा सति कृतिः सुगमा भवति । ननु भगवानेव यदि सर्वं करोति तदा ब्रह्मणा किं कर्त्तव्यमित्याशङ्क्याऽऽह—**अमोघसङ्कल्प इति** । अमोघः सङ्कल्पो यस्य । सङ्कल्पमात्रेणैव भगवान् करोति । कृत्या तु मया कारयतीत्यर्थः । नन्वेक एव कथमनेकानि रूपाणि करोत्यतो ब्रह्मादिरूपाणि स करोतीति मन्तव्यमित्याशङ्क्याऽऽह दृष्टान्तेन—**उर्णनाभिरिति** । यथोर्णनाभिः साधनान्तरनिरपेक्षः स्वरूपभूतयैवोर्णया क्रीडति ऊर्णामेवोत्पादयति स्थापयति भक्षयति च । तथा भगवानप्यात्मानं करोति । कृतिमात्रे दृष्टान्तः । स्वरूपं त्वज्ञातमेव । दृष्टान्ते तु ऊर्णारूपमेव सृज्यादिभावं प्राप्नोति न तूर्णनाभिः । आश्रयं चाऽपेक्षते । दुष्टत्वं चोत्पादितस्य भवति अतस्तस्य स्वरूपं ज्ञातव्यम् । अन्यानपेक्षतामात्रे दृष्टान्तः । नाऽपि तस्य सर्वानपेक्षता । देशादीनामपेक्षितत्वात् । अतो दृष्टान्तमात्रेण ज्ञानं न भवतीति भवानेव तत्सम्पादयत्विति प्रार्थयते—**तथा तद्विषयां धेहीति** । भगवान्करोतीत्यविवादम् । श्रुतिरपि कृतिमेवाऽऽह नतु स्वरूपम् । अतस्त्वमेव तां मनीषां बुद्धिं धेहि मयि स्थापय । न तूपदेशेन तत्सिद्धिरिति भावः । मदुक्तं पित्रा भवता कर्त्तव्यमेवेति सम्बोधयति—**माधवेति** । यथा लक्ष्मीपतिर्भक्तिं करोति तथा पुत्रोक्तं कर्त्तव्यमिति । एवं ज्ञाने वरद्वयं प्रार्थितं निरूप्य क्रियायामपि वरद्वयं प्रार्थयते शिक्षां गर्वाभावं

च। तत्र प्रथमं शिक्षामाह—भगवच्छिक्षितमिति। भगवता अहं शिक्षणीयः एवंप्रकारेण सृष्टिं कुर्विति। शिक्षा नाम बोधिका क्रिया विषयान्तरव्युदासेनाऽभीष्टविषयपरा। तस्याः कर्त्ता शिक्षकः। शिक्षितस्त्वाश्रयः। तत्र क्रियाया गुणभूताया अपि कर्मत्वेन विवक्षितायाः कर्मभावं परित्यज्य आश्रयभावमेवाऽवलम्बते सैव क्रिया। तस्यास्त्वाश्रयः कर्मभावमवलम्बते। पठने शिक्षितो देवदत्तो लिखने शिक्षित इति। प्रकृते तु क्रियायाः कर्मत्वेनैव विवक्षितत्वात्तद्विषय एवाऽऽश्रयतां प्राप्तः। न तु तदाश्रयो ब्रह्मा। स च विषयो जगद्रूपः। तथा सति तस्मिन् जगति यथा शिक्षोचिता तथा कुर्वित्यर्थः। पश्चात्तथा शिक्षां प्राप्य यथोचितं मया कर्त्तव्यम्। तथा फलकादावतिबालकशिक्षायां गुर्वादिरेव प्रथमतोऽक्षराणि लिखति तदुपर्येव बालकस्तथाऽङ्गुलिचालनं करोति। हस्ते धृत्वाऽङ्गुलिचालनं गुरोः प्रयासाधिक्यजनकं भवति। फलके तु सुगमम्। संस्कारेण हृदये तदुल्लेखापेक्षया जगत्येव तदुल्लेखनं सुगमं ममाऽपि हितकरम्। अद्याऽपि मानेन पदार्थकर्त्तारो न बध्यन्ते। तथा अहमपि भगवता येन प्रकारेण निष्पादितं जगत्तेनैव प्रकारेण स्वक्रियामपि तत्र सम्पादयिष्याम्यग्रे शिक्षार्थम्। नन्वेवं करणे आलस्यं भवति, ज्ञात्वा करणे त्वनालस्यमत आह—**अतन्द्रित इति**। तन्द्रामप्राप्त एवाऽहं करिष्यामि। युक्तोऽयमर्थः। भगवता शिक्षिते न कस्यचित्तन्द्रा भवति। ननु किमित्येवं प्रार्थ्यते? तत्राऽऽह—**नेहमान इति**। प्रजासर्गमीहमानो निष्पादनार्थं व्यापृतः यस्य शिक्षणस्य भगवतो वा अनुग्रहान्न बध्येयम्। अन्यथाकरणादेव बन्धः। वैषम्यनैर्घृण्ये प्रजासर्गे भगवतस्ततो बन्धः। शिक्षायां तु नाऽस्य वैषम्यं न नैर्घृण्यम्॥

॥२४-२८॥

व्याख्यार्थ—इस वाक्य समूह से ब्रह्मा ने चार पदार्थ चाहे हैं। उनमें पहली प्रार्थना दोष दूर करने के विषय की है। सो कहता है कि 'हे भगवान!' पहले सहसा भगवान के सामने आ जाने से वक्ता को कुछ घबराहट हो गई थी, इसलिए कुछ भी बोल न सका। बोलने का सामर्थ्य दब गया। अब जब आपने बातचीत की और इसका स्पर्श भी किया तब वह सावधान होकर अपनी बात को युक्ति सहित निवेदन करता है। भगवन्! इस सम्बोधन का प्रयोग करके ब्रह्मा यह स्पष्ट करता है, कि मैं आपके इस समय के स्वरूप को समझ गया हूं। आप ऐश्वर्यादि युक्त हो। आप सबके आन्तरिक आत्मा हो। सब के हृदय की बातों को जानते हो इसलिए जो कुछ मेरा मनोरथ है उसे आप जान ही रहे हैं, तो फिर समझी हुई बात को कहना पिसे हुये को पीसना मात्र है। अब मैं क्या निवेदन करूं? फिर भी यदि आप की यही इच्छा हो कि 'यह कुछ मांगे तो देऊं' यह बात दूसरी है।

अथवा किसी को यह संदेह हो कि भगवान् का तत्व लोक क्यों नहीं जान सकते? तो ब्रह्मा कह सकता है 'भगवान्!' अर्थात् आप भगवान् हैं, इसलिये आपका रहस्य जानना कठिन है इस पक्ष में भी भगवान् की सर्वज्ञता प्रकट की अतएव अपना मनोरथ कहने की अपेक्षा नहीं हैं, किन्तु आपकी आज्ञा का पालन करना तो आवश्यक है। यह बात दूसरे श्लोक में स्वयं कहेगा। अभी तो भगवान् के विषय में जो कुछ समझा है उसे प्रकाशित करता है। वर्तमान सब ही पदार्थों के आप अध्यक्ष हैं। अर्थात् सब को सब कार्यों में प्रवृत्त करते हो, और सबको अपने नियम में रखते हो। जैसे लोक में कर्माध्यक्ष (हाकिम) होते हैं, इस तरह से आप सारे विश्व के अध्यक्ष हैं। इससे यह स्पष्ट किया कि भगवान् की आज्ञा के बिना पदार्थों का कोई भी बाह्य किंवा आन्तर धर्म पैदा नहीं होता। मेरे हृदय में जो कामना उत्पन्न हुई है, उसे आपने ही पैदा की है, और अब आप ही उसकी

पूर्ति भी करोगे। इसका भार मुझ पर नहीं है। अपने पुत्रों का भरण पोषण सब कोई करता है। और फिर आप सब के हृदयाकाश को अपने स्वरूप से भरकर बैठे हो, इसलिये आपको सब की इच्छायें समझ में आ रही हैं और आगे क्या अपना और क्या सबका कर्त्तव्य है, सो भी आप जानते हैं; क्योंकि आपका ज्ञान सर्वोत्कृष्ट है और कालादि से न रोका जा सके ऐसा है। कार्य को समझने के समय, कार्य को करने के समय, और उसके सर्वांशों तक पहुंचने के लिये भी किसी अंश में भी आपके ज्ञान की कोई भी किसी तरह भी रूकावट नहीं कर सकती। सब की इच्छाओं को आप ही पैदा करते हैं। जहां इच्छायें पैदा होती हैं, उसी स्थान पर विराजमान रहते हो, अतएव आपका सब कुछ जाना हुआ है। इसी से न तो आपको कुछ पूछने योग्य है, और न मुझे कुछ कहने का है, तथापि आपने जो आज्ञा की उसका पालन करने के लिये तो कुछ करना ही होगा, सो कहता है, 'तथापि'। केवल एक विनय है कि मेरी याञ्चा योग्य है व अयोग्य, इसका विचार करिये मत। मैं जो कुछ मांगू उसे कृपा कर दे दीजिये। [यहां 'नाथृ' धातु याञ्चा अर्थ में है। मांगा हुआ अवश्य देना ही चाहिये। इसका कारण कहता है कि 'हे नाथ'! सेवकों को अपने मालिक के सिवाय दूसरी गति ही नहीं है, इसलिये स्वामी का कर्तव्य है कि वह अपने सेवक की मांग को दे ही। इस तरह प्रार्थना का सामान्य स्वरूप कह कर अब दो प्रार्थना विशेष कहता है—'परावरे' इत्यादि। मुझे इस बात का बड़ा सन्देह रहता है कि सर्वश्रेष्ठ आप कौन है ? और आपसे अश्रेष्ठ पदार्थ क्या हैं ? आपका पुरुषोत्तम रूप क्या है ? और यह दीखता हुआ रूप क्या है ? ये दोनों पर और अवर रूप जानना चाहता हूँ। कहने का तात्पर्य यह है कि पुरुषोत्तम पर रूप और अक्षर अवर रूप प्रकट अवर रूप और अप्रकट वर रूप अवतार अपर रूप और अवतारी पररूप। इन सबके स्वरूप को मैं जानना चाहता हूं। आप मुझे ऐसा वर दीजिये कि मैं ये सब कुछ समझ जाऊं।

यदि कोई कहे कि ये सब ईश्वर के रूप तो वेदों में ही प्रसिद्ध हैं। वेद के अनुसन्धान करने पर समझ में आ सकते हैं। वहां से ही जान लीजिये, वरदान मांगने की क्या अपेक्षा है ? इसके उत्तर में कहते है कि—'ते त्वरूपिणः'। 'तु' शब्द कहता है कि वेद के अन्वेषण से आपके वास्तविक स्वरूप का बोध होना अशक्य है। वेद में जितने भी रूपों का निरूपण है वे सब ईश्वर के हैं। आपका ऐश्वरीय स्वरूप भी एक है। अतएव वेदोक्त वे सब रूप ऐश्वर्य सम्बन्धी ही हैं। ईश्वर के ही हैं। वेद प्रति पादित सब रूप एक ईश्वर के ही हैं। वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य धर्म सम्बन्धी पांच रूप आपके अन्य भी हैं। इतना होते भी आपका निरूपण पूरा नहीं हो जाता। आप तो अनिरूपित अकथित ही रह जाते हो। मैं इस समय आपके इन धर्म (गुण) सम्बन्धी छहों रूपों का प्रश्न नहीं कर रहा हूं, किन्तु पर और अवर रूपों को जानना चाहता हूं। जिस समय आपके निज स्वरूप का अनेक धर्म रूपों में बहु भवन हुआ उस समय के वे धर्म रूप छै हों ? किंवा अनन्त हों ? भले रहें आवें। मुझे उनके विषय में जिज्ञासा नहीं है।

मैं तो यह जानना चाहता हूं कि जो धर्माकार से भी कभी प्रकाशित नहीं हुआ है, सर्वथा बुद्धि और शब्द दोनों से अभी अस्पृश्य है, उस मूल रूप का जो सर्व श्रेष्ठ स्वरूप है, वह क्या है। वह रूप 'पर' कहा जाता है, और दूसरा अवर रूप वह है, जो—धर्माकारादि रूपों से प्रकाशित होने के अनन्तर जगद्वर्ती सब ही रूपों के द्वारा सर्वत्र फैल चुका है। वह है। इन दोनों के जान

लेने का वर मैं चाहता हूं। इससे मुझे आपके सर्वादि और सर्वान्तिम रूप का परिज्ञान हो जायगा। और साथ में मुझे यह भी समझ में आ जायगा, कि मेरा इतना कर्तव्य हैं। यह समझ हो जाना भी मेरे कर्म का अंग है। क्योंकि यह ज्ञान पदार्थ (कर्म के लिये) है 'शेषः पदार्थत्वात्' इस न्याय के अनुसार 'पर' ज्ञान कर्म का अंग है।

इस तरह से ब्रह्मा भगवान् के आदि रूप और अन्तिम रूप के ज्ञान की प्रार्थना करके अब मध्यस्थ सब ही भगवान् के रूपों को जान लेने की प्रार्थना करता है:—यथाऽऽत्ममाया—इस तरह भगवत्कृपा से सब ही भगवान् के रूपों को जब ब्रह्मा जान लेगा, तब उन उन भगवद्रूपों के उपयोग के लिये कौन कौन सी सृष्टि बनानी होगी? यह सुगम हो जायगा। सृष्टि रचना किस तरह करना? और कैसी सृष्टि करना यह ज्ञान तो ब्रह्मा को पहले से है ही, इसलिये वह सृष्टि के ज्ञान की प्रार्थना नहीं करता। किंवा आगे सृष्टि करने की इच्छा के समय एक एक अंश रूप से उसकी भी प्रार्थना करेगा। मध्यस्थ रूपों के ज्ञान की प्रार्थना का ही स्वरूप विवरण डेढ़ श्लोक में है। जिस प्रकार से आप अपनी साक्षात् पुरुषोत्तम स्वरूप की कार्यकारणरूपा, सर्व-भवन सामर्थ्य-माया का सब तरह से उपयोग करके उस त्रिगुण स्वरूपा के ही तीनों गुणों के सम्बन्ध से नाना पदार्थ, उत्पत्ति आदि, और अनेक शक्ति आदि को उन भावों से युक्त अपने रूप को भी विशेष रूप से बाहर प्रकाशित करते हैं। शक्ति आदि के सहयोग से भगवान् का रूप ही विशिष्ट (विशेष युक्त) दिखने लगता है, यह तात्पर्य है। ब्रह्म अपनी आत्मा को ग्रहण करता है। इसका तात्पर्य यह है, कि विशेष रूप से प्रकाशित हुये उस आत्मा को आप स्वीकार करता है। अर्थात् ब्रह्म विशेष रूप से प्रकाशित हुये उस आत्मा को आप ही स्वीकार करता है। जैसे कोई ग्राहक नवीन अज्ञात वस्तु को ग्रहण करता है। बिभ्रत् का तात्पर्य है कि उत्पन्न हुये अपने ही स्वरूप को भार रूप से आप ही धारण करता है। आप ही कर्ता, आप ही करण, आप ही कर्म, आप ही आधार और आप ही आधेय होता है। यह ब्राह्म सर्ग की व्यवस्था है। जिस समय आप इस भार को धारण करने की इच्छा नहीं रखते तब विलुम्पन सब सृष्टि का लोप कर देते हो। इस तरह आप ही सर्व कारक रूप में क्रीड़ा करते हो। यह आपकी क्रीड़ा का ज्ञान मुझे हो जाय यह मेरी प्रार्थना है। यदि ऐसी कृपा आप कर दें तो मेरा कार्य सुगम हो जायगा।

यहां एक प्रश्न हो सकता है कि यदि भगवान् ही सब कुछ कर देंगे? तो फिर ब्रह्मा क्या करेगा? इसका उत्तर देते हैं कि-'अमोघसङ्कल्पः' इति। सफल है, संकल्प जिसका ऐसे भगवान् हैं। भगवान् मन के विचार मात्र से सब कुछ कर देते हैं, केवल कृति ही ब्रह्मा से करवाते हैं। यहां एक यह भी प्रश्न होता है कि-भगवान् ही अकेले सब कुछ जगत् की रचना करते होंगे, इसलिये मालूम पड़ता है कि वह तो ब्रह्मा आदि के रूपों को बना लेता होगा और ब्रह्मा सब अन्य निर्माण करता होगा? इसके उत्तर में दृष्टांत सहित कहते हैं कि 'ऊर्णनाभिः' जिस तरह मकड़ी किसी अन्य साधन की अपेक्षा रखे बिना अपने स्वरूप भूत लार (डोरी) से ही जालादि बनाती है, और क्रीड़ा करती है। लार के डोरा का जाल बुनती है, उसकी रक्षा करती है और जब चाहती है उसे खा जाती है। इसी तरह से भगवान् भी अपने स्वरूप से जगत् बनाता है, अपने स्वरूप से रक्षा करता है और जब चाहता है, तब अपने स्वरूप में उसे समेट लेता है। यह दृष्टांत केवल एकाकी के जगत् बनाने मात्र में है, किन्तु प्रकृति का प्रकार स्वरूप और भगवान् का वह स्वरूप तो फिर भी मेरी

समझ में नहीं आया । इसलिए मुझे दो समझ की चाहना है।। आश्रय ज्ञान को और स्वरूप ज्ञान की ! ऊर्णनाभि का दृष्टांत तो चेष्टा मात्र में दिया है । एक बात और भी है कि लोक में देखा गया है कि पदार्थों में दोष भी है, इसलिए सम्भव है कि भगवान् से उत्पन्न हुए विश्व में भी दोष हो सकते हैं । अतएव इसका स्वरूप भी अवश्य जान लेना चाहिये । यह माना कि-कार्य करने में किसी की भी भगवान् अपेक्षा नहीं रखता, इस विषय में मकड़ी का दृष्टांत दिया है, किन्तु फिर भी आश्रय रूप देश काल आदि की अपेक्षा तो रहती ही है । इसलिये उत्पादित वस्तु का भी स्वरूप ज्ञान होना आवश्यक है । दृष्टांत मात्र से इन सब बातों का ज्ञान नहीं हो सकता और मैं इसमें असमर्थ हूं, इसलिए ये सब ज्ञान आप ही मुझे दे दीजिये । यह प्रार्थना करता है । 'तथातद्विषयां धेहि' इति । भगवान् ही जगत् को बनाता है इसमें तो कोई झगड़ा है नहीं । 'यतोवा इमानि' इत्यादि श्रुति भी केवल भगवान् जगत् को बनाता है, इतना मात्र कहती है, किन्तु उस जगत् का स्वरूप नहीं बताती । अतः आप ही मेरे हृदय में उस ज्ञान को मेरी बुद्धि में स्थापन कर दो । केवल उपदेश दे देने से ही कार्य सिद्धि नहीं होगी । आप मेरे पिता हो । मैं प्रार्थना करूं तदनुसार आपको करना उचित है । यह सम्बोधन के द्वारा सूचित करता है । 'हे माधव!', 'हे महालक्ष्मी के धव = पति! लक्ष्मी के आप पति हो तो लक्ष्मी का कहा आपको करना पड़ता होगा । मैं भी आपका पुत्र हूँ, इसलिए मेरा कहा भी आपको करना उचित है ।'

इस तरह से ब्रह्मा ज्ञान के विषय में प्रार्थित दो वरों का निरूपण करके अब क्रिया के विषय में भी दो वर मांगता है । शिक्षा और गर्वाभाव । 'मैं आपकी इस आज्ञा के अनुसार जगद्रचना करूं वैसी कुछ शिक्षा मिलनी चाहिये और जगद्रचना से मुझे कभी भी अभिमान न होने पावे' । इसमें पहले शिक्षा के विषय में कहता है—'भगवच्छिक्षित' मिति । आप मुझे सिखाइये कि इस प्रकार से सृष्टि की रचना करो। अन्य विषयों को छोड़कर केवल इच्छित कर्तव्य विषय कर बोध कराने वाली क्रिया का नाम 'शिक्षा' है । उस क्रिया का बोध कराने वाला 'शिक्षक' कहा जाता है । जिसको शिक्षा दी जाती है, वह शिक्षित उस क्रिया ज्ञान का आश्रय होता है । यहां पढ़ने में या खेलने में 'शिक्षां प्राप्तः शिक्षितः' ऐसी जगह यद्यपि शिक्षा कर्म भाव को प्राप्त हुई है, तथापि वह गौण हो गई है, अतएव वही क्रिया कर्म भाव को छोड़कर आश्रय भाव को ही प्राप्त हो रही है और उस क्रिया का आश्रय (लिखन व पढ़न) कर्म भाव को प्राप्त होता है । यहां तो पहले कोई शिक्षा दी गई नहीं है । अब आगे देना चाहता है और जो दी जायगी, तो वह कर्मभाव को ही प्राप्त होगी । इसलिए उसका आश्रय तो विषय ही होगा । उसका आश्रय ब्रह्मा नहीं होगा । यह विषय जगत्रूप है । ऐसी अवस्था में यह तात्पर्य होता है—हे भगवान्! जिस जगत् को पैदा किया जावेगा, उसमें जैसी शिक्षा उचित हो, वह मुझको आप दें । पीछे मैं उस तरह की शिक्षा लेकर जैसा उचित होगा वैसा करूंगा । चटसाल प्रभृति में गुरु लोग पट्टी पर अक्षर लिख देते हैं और बच्चे से कहते हैं कि, इस अक्षर पर हाथ की पेंसिल वाली अंगुली फेरते रहो । यह बालक तदनुसार अंगुली फेरता रहता है । अक्षर लिखना आ जाता है । छपे हुए अक्षरों पर भी गुरु बच्चे का हाथ अपने हाथ में लेकर अंगुली फिरवा सकता है और ऐसा कोई-कोई करते भी हैं किन्तु उसमें बहुत मेहनत करनी पड़ती है और पट्टी पर अक्षर लिख देकर उसके ऊपर उसकी अंगुली फिरवाकर सिखाने में गुरु को मेहनत कम पड़ती है । मेरे हृदय पर जगत् के संस्कार पैदा करके मुझे उस पर सिखाया जाय, उसकी अपेक्षा तो अपनी इच्छानुसार जगत् बनाकर मुझे सिखाया जाय यही सहज है, इसमें मेरा हित भी

है । नमूने के अनुसार पदार्थ बना देने वाला कसूरवार नहीं होते । इसी तरह आप जिस प्रकार का जगत्[1] बनाकर देंगे, मैं भी उसी प्रकार से आगे सीखने के लिए उस पर वैसी ही अपनी क्रिया करूंगा ।

यहां कोई कहे कि इस तरह करने से कदाचित् तुम्हें आलस्य हो जाय और हृदय में ज्ञान-सम्पादन करके पैदा करने में आलस्य न होगा, तो इसका उत्तर देता है कि 'अतन्द्रितः' । मैं कुछ भी आलस्य न करता हुआ आपकी आज्ञा का पालन ही करूंगा । और यह ठीक भी है । अर्थात् आपकी आज्ञा पालन करने में किसी को भी आलस्य नहीं हो सकता । यहां यह प्रश्न होता है कि ऐसी प्रार्थना क्यों करते हो? तो ब्रह्मा उत्तर देता है कि 'नेहमानः' । इति । विश्व के सर्ग को तैयार करने में जब लग जाऊंगा तब आपकी शिक्षा के किंवा आपके ही अनुग्रह से बंधन न होवे, इसलिए ऐसी प्रार्थना करता हूं । भगवान् की शिक्षा से विरुद्ध करने से ही बंधन हो सकता है और जब आपकी शिक्षा के अनुसार ही कार्य करूंगा तब आपके अनुग्रह से ही सृष्टि में आसक्ति न होगी । यदि कोई भगवान् के विषय में कहता हो तो उसका भी यही उत्तर है कि प्रजा सृष्टि में यदि विषमता किंवा निर्दयता आवे तब ही भगवान् को उस प्रजासर्ग से बन्ध प्राप्त हो, किन्तु शिक्षा देने में तो भगवान् को वैषम्य और निर्दयता प्राप्त नहीं हो सकती ।। २४-२८ ।।

आभास—एवं क्रियायां शिक्षां प्रार्थयित्वा तथाकरणे यो दोषस्तदभावं च प्रार्थयते—

आभासार्थ—इस तरह जगत् बनाने की शिक्षा में शिक्षा की प्रार्थना करके अब जगत् बनाने में जो दोष आता है, सो न आने पावे, यह प्रार्थना करता है—

श्लोक— **यावत्सखा सख्युरिवेश ते कृतः प्रजा विसर्गे विभजामि भोजनम् ।**
अविक्लवस्ते परिकर्मणि स्थितो मा मे समुन्नद्धमदोऽजमानिनः ।।२९।।

श्लोकार्थ—शिक्षा-दान, ज्ञान-सम्पादन आदि के द्वारा आपने सखा के समान मुझे अपनी समानता दे दी, अतएव मैं इस विविध जगत् की रचना में विविध प्रजाओं का विभाग करूंगा और उनके भोग्य पदार्थ भी रचूंगा । मैं आपकी सेवा में अक्लेश

---

१. ब्राह्मकल्पीय जगत् आधिदैविक है और साक्षात् भगवद्रूप है । इसमें जगत् का स्वतंत्र कोई भी अंश नहीं है । इसी जगत् का निरूपण 'न यदिदमग्र आस' इत्यादि श्रुति स्तुति में किया है । यह प्राथमिक जगत् है ब्रह्म रूप है आनंदमय है और केवल सत्य है । इस पर से द्वितीय जगत् होता है यह पाद्म जगत् है । जिसकी प्रतिज्ञा यह ब्रह्मा कर रहा है और जिसकी शिक्षा भगवान् देंगे । फलक पर अक्षरों की तरह, वह प्राथमिक मूल जगत् है । ब्रह्मा का बनाया मायाकरणक द्वितीय जगत् आध्यात्मिक है । इसकी ही सूचना ब्रह्मा कर रहा है । 'भगवच्छिक्षित महं करवाणि' ।। २८ ।।

सावधान स्थित होऊंगा, किन्तु मेरी यह प्रार्थना है कि- 'मैं अजन्मा हूं, सृष्टिकर्त्ता हूं' यह दृढ़ अभिमान मुझे न होने पावे ऐसी कृपा करो ।। २९ ।।

सुबोधिनी—यावत्सखेति । सखा सख्युर्यावत्करोति तथा भगवान्मां कृतवान् । मम पुरस्कारं वा । किमतो यद्येवं तत्राऽऽह— **प्रजाविसर्गे विभजामि भोजनमिति** । यदा सख्युः स्वसाम्यमापादयति सखायं स्वसमानं करोति । वस्तुतश्चिदानन्दयोः समानता । तत्र भगवानानन्दो ब्रह्मा चिद्रूपः । एवं वस्तुतः सख्येऽपि क्रियाज्ञानशक्ती भगवत्येव सिद्धे इति । इदानीं भगवान् क्रियाज्ञानादिभिः स्वसमानं कृतवान् । तदा सर्वशक्तिसम्पन्नो विविधसर्गे प्रजाः विभजामि । सत्त्वरजस्तमोगुणभेदेन, ऐश्वर्यादिधर्मेषु उच्चावचभेदेन, धर्मादिपुरुषार्थोपयोगिभेदेन च प्रजा विभजामि । तेषां भोजनं भोग्यवस्तूनि च विभजामि । प्रजासृष्टिसमय एव वा तेषां भोजनं विभजामि । यद्यप्यत्र तथा ते त्वया कृत इति नास्ति तथापि अर्थात् यावत्सखा सख्युरित्युक्ते करोतीति प्राप्यते । तथा **इवेति** पदेनाऽपि तावत्प्राप्यते । अतो न न्यूनता । केचित्तु यावद्विभजामीति योजयन्ति तावन्मदो मा समुन्नद्ध इति सम्बन्धं च वदन्ति । तत्रापि तावदित्यध्याहारस्तुल्यः । कालावच्छेदेन च मदाभावप्रार्थनाऽयुक्ता । ततोऽपि किमत आह । ते परिकर्मणि अविक्लवश्च स्थितः त्वत्सेवारूपे आज्ञारूपे वा कर्मणि स्थितः । एवमेते त्रयः पदार्थाः । सख्येन तच्छक्तिलाभः । प्रजादिविभागसामर्थ्यम् । तव सेवायां चाऽविक्लवः अवैक्लव्यम् एतत्त्रयं यद्यपि गुणभूतं तथापि मादृशस्य तुच्छत्वाद्दोषरूपं भवति । अतस्त्रिभिर्दोषैरजमानिनः अहं न कस्माज्जातोऽतोऽज एवाऽहमिति । भगवत्सकाशात्प्राप्ता एते गुणा दूरे । भगवतः सकाशात्स्वस्य जन्माऽपि न मन्यते । तादृशस्य सम्यगुन्नद्धो मदो भवति । स मे मा भवत्विति प्रार्थना ।।२९।।

व्याख्यार्थ—सखा अपने सखा के लिए जितना कुछ कर सकता है, उतना भगवान् ने मुझे कर दिया । अर्थात् जगत्कर्तृत्व की जगह मुझे स्थापन करके मेरा पुरस्कार किया । ठीक है : : ऐसा होने से भी हुआ क्या? तो कहता है कि 'प्रजा विसर्गे विभजामि भोजनम्' । जब सखा ने अपनी समानता दे दी । भगवान् ने मुझे अपनी बराबरी दे दी । तब मैं भी इनकी सेवा ही करूंगा । वास्तव में चित और आनंद दोनों भगवद्धर्म समान ही हैं । उनमें भगवान् आनंदरूप हैं और ब्रह्मा चिद्रूप हैं, किन्तु क्रिया ज्ञानशक्ति दोनों आनंद की होने से भगवान् में ही रही । अब ब्रह्मा जगत् की सृष्टि कैसे कर सकें । क्रिया और ज्ञानशक्ति दोनों आनंद धर्म की ही है, तो चित और आनन्द की वास्तव में मित्रता रहते भी भगवान् आनन्दरूप हैं, इसलिए वे दोनों शक्ति भगवान् के पास ही रही ब्रह्मा के पास न आई । तब भगवान् ने पूर्व प्रार्थना के अनुसार ज्ञानादि शक्तियों का भी दान करके ब्रह्मा को अपने समान कर दिया । अर्थात् जगत्सर्ग करने में समर्थ बना दिया । तब ब्रह्मा सर्व शक्ति सम्पन्न होकर बोला कि हे भगवान्! अब मैं इस विविध जगत् में प्रजाओं का विभाग करता हूँ । जड़ चेतन आदि सब ही पदार्थ प्रजा है । 'प्रकर्षेण जायन्ते ताः प्रजाः?' बहुतायत से जो पैदा होवे प्रजा । जड़ चेतन दोनों ऐसे हैं । ऐसा होने पर भी इन दोनों में आपस में उच्चनीच भाव भी होता है । इसलिए भी प्रजा कहाती है । यह भेद और प्रकर्षापकर्ष क्या है ? कितने ही जीव और जड़ पदार्थ सात्विक होते हैं, कितने राजस और कितने ही तामस भी होते हैं । यह गुण कृत भेद है । ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य आदि में उच्च नीच का भाव होने से

विविधता हो जाती है और फिर धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप धर्म, जो कि पुरुषार्थों के उपयोगी हैं, उनका भी भेद होने से प्रजा में विविधता आती है। इस प्रकार से मैं प्रजाओं का विभाग वर्गीकरण करूंगा और उनके उपयोग में आने की वस्तुयें भी विविध प्रकार से तैयार करूंगा। अथवा जिस समय प्रजाओं का सर्ग करूंगा, उसी समय उनके उपयोग में आने के पदार्थों का भी निर्माण करूंगा।

यद्यपि भागवत के उक्त मूल श्लोक में मुझे आपने अपना सखा बना लिया यह साक्षात् ब्रह्मा ने नहीं कहा है। अथवा सखा के लिए सखा जितना करता है, उतना आपने कर दिया,यह साक्षात् नहीं कहा है। तथापि 'यावत्' सखा 'सख्यु' इन तीन पदों के कहने से 'करोति' अपने आप आ जाता है। अर्थात् 'जितना, सखा, सखा के लिए' ये तीन पद आ जाते हैं, तब करता है, यह अपने आप आ ही जाती है। और इव पद से भी 'तावत्' 'उतना' यह अर्थ आ जाता है। कितने ही टीकाकर्त्ता 'यावत्' शब्द को विभजामि के साथ जोड़ते हैं और अर्थ करते हैं, कि जहां तक मैं प्रजाओं का विभाग करता हूं, वहां तक मुझे अभिमान न चढ़े। इस तरह से पदों का सम्बन्ध करते हैं किन्तु वहां भी तावत् पद का अध्याहार तो करना ही पड़ता है और थोड़े से काल के लिए मद न आवे, यह प्रार्थना करना ठीक भी नहीं है। उक्त अर्थ करने में तो पद की न्यूनता भी नहीं है।

अस्तु इससे भी क्या लाभ है ? इस प्रश्न का उत्तर देता है—'ते परिकर्मणि'। मैं यह भी चाहता हूँ कि आपकी सेवा में या आज्ञा में बिना घबराहट के स्थिर होकर रहूं। इस तरह भगवान् के सख्य मिलने से मुझे यहां ये तीन पदार्थ प्राप्त हुए, जगत् को उत्पादन करने की शक्ति का लाभ, प्रजाओं के विभाग करने की सामर्थ्य और आपकी सेवा में किसी तरह की घबराहट न होना। यद्यपि ये तीनों लोक में गुण कहे जाते हैं, तथापि मुझ जैसे तुच्छ के लिए तो ये ही दोषरूप हो जाते हैं। अतएव इन दोषों से मुझे यह अभिमान होगा कि मैं किसी से भी नहीं पैदा हुआ 'अज हूं'। अतएव अजन्मा ही हूं। ये गुण मुझे भगवान् की कृपा से प्राप्त हुये हैं, यह अहसान मानना तो दूर रहे, किन्तु ऐसा अभिमान से तो ब्रह्मा भगवान् से अपना जन्म भी नहीं मानता। यह बढ़ा-चढ़ा अभिमान है, किन्तु मैं आपसे प्रार्थना करता हूं कि यह अभिमान मुझे न हो ॥ २६ ॥

आभास—एवं परावरज्ञानं, क्रीडाज्ञानं,शिक्षा, गर्वाभावश्चेति चत्वारः प्रार्थिताः। तत्र क्रमाज्ज्ञानद्वये श्लोकद्वयम्। शिक्षायां चतुःश्लोकी। अनेनैव गर्वाभाव इत्यन्तिमः श्लोकः। एवं सप्तभिः श्लोकैश्चतुर्णामुत्तरं भवति। तत्र प्रथमं ज्ञानद्वये उत्तरमाह—

आभासार्थ—इस ब्रह्मा ने श्री भगवान् से चार वर मांगे, पर अवर का ज्ञान,क्रीड़ा का ज्ञान, जगत् को रचना सिखाना और गर्व न होना। इन वरों में क्रम से दो ज्ञान में दो श्लोक हैं। अर्थात् 'ज्ञानं परम गुह्यं में' इस श्लोक में भगवान् ने ब्रह्मा को पर अवर रूप का ज्ञान दिया। 'यावान हं' इस दूसरे श्लोक में भगवत्क्रीड़ा का ज्ञान का दान दिया। जगत् की रचना में चतुःश्लोकी कही है और इन सबको समझ लेने से ही गर्व का भी अभाव हो जायगा, यह बात अन्तिम श्लोक में कही है।

अब पहले दोनों प्रकार के ज्ञान का निरूपण करते हैं—

श्लोक—**श्रीभगवानुवाच—ज्ञानं परमगुह्यं मे यद्विज्ञानसमन्वितम् ।**
सरहस्यं तदङ्गं च गृहाण गदितं मया ।।३०।।

श्लोकार्थ—हे ब्रह्मन् ! विज्ञान सहित मेरे स्वरूप का ज्ञान, उसका रहस्य और अङ्ग भी मैं तुझे कहता हूँ सो ग्रहण कर ।।३०।।

सुबोधिनी—ज्ञानमिति । मे पुरुषोत्तमस्य यज्ज्ञानं तत्परमगुह्यं वक्तव्यं न भवति । यादृशं मां पश्यसि तादृश एवाऽहं पुरुषोत्तमः । इदमेव ममाऽदिरूपं अन्तिमं रूपं च । इदं मदन्यः कोऽपि न जानाति । अतो मयैव गदितं सामान्यतो निरूपितं त्वं गृहाण । भगवद्बुद्धौ सिद्धं भगवद्गुणज्ञानावताररूपं भगवज्ज्ञानं गृहाणेत्यर्थः । भगवतो हि ज्ञानं गदितमपि कृपाव्यतिरेकेण न प्राप्यत इति सिद्धवत्कारेण ददाह—**गृहाणेति** । उपदेशपूर्वकं ब्रह्मणे ज्ञानं दत्तवानित्यर्थः । तस्य ज्ञानस्य परिकरमाह—**यद्विज्ञानसमन्वितमिति** । विविधं ज्ञानं विज्ञानम् । अस्याऽनुभवस्य जातत्वादस्यैव ज्ञानरूपत्वाद्-विज्ञानं नाऽनुभवः किन्तु अखिलसात्वतां पतिमित्यादि पतिचतुष्टयज्ञानं विज्ञानं तेन समन्वितं ज्ञानम् । तस्य रहस्यं सुनन्दनन्दादिवेष्टितत्वम् । भक्तिरिति यावत् । तस्याऽङ्गं "भृत्यप्रसादाभिमुखमि"त्यादिभिर्निरूपितानि प्रसादादीनि । चकारस्त्वनुक्तसर्वसमुच्चयार्थः । किं बहुना । यत्किञ्चित्त्वया वैकुण्ठे दृष्टं तस्य सर्वस्य ज्ञानं तव भवत्वित्यर्थः ।।३०।।

व्याख्यार्थ—मुझ पुरुषोत्तम का जो ज्ञान है, परम गुह्य है । बहुत ही छुपा हुआ है । वह वाणी से कहने में नहीं आता । अब इस समय जैसा तू मुझे देख रहा है, वैसा ही मैं पुरुषोत्तम हूँ । यही मेरा रूप पहला है और यही अन्तिम भी है । इस रूप को मेरे सिवाय अन्य कोई भी नहीं जानता । इसलिये अब मैं ही तेरे आगे अपने स्वरूप को साधारण रीति से कह देता हूं, सो तू ग्रहण कर, अर्थात् भगवान् की बुद्धि में सिद्ध ही स्थित रहा जो भगवान् के गुणों का ज्ञानावतार रूप भगवत् ज्ञान उसको तू ग्रहण कर । भगवान् के सब ही पदार्थ सिद्ध हैं । बने बनाये नित्य तैयार हैं । साध्य बनाये जाने योग्य नहीं है । इसलिए कहा कि भगवान् के हृदय में स्थित जो भगवत्स्वरूप का ज्ञान मैं तेरी बुद्धि में धर देता हूं, सो ग्रहण कर । भगवान् की समझ यदि कहो जाय तो भगवत्कृपा बिना समझ में नहीं आती, इसलिए भगवान् ही ब्रह्मा को कृपा करके वर की तरह देते हुए कहते हैं, कि 'गृहाण' । यह तू ले । अर्थात् भगवान् ने अपने स्वरूप ज्ञान को उपदेश पूर्वक ब्रह्मा को दिया उस ज्ञान के परिकर को कहते हैं—यद्विज्ञान समन्वितम् । जो लोग ज्ञान का अर्थ स्वरूपज्ञान अर्थ करके विज्ञान पद का अर्थ, उसी का अनुभव अर्थ करते हैं, सो ठीक नहीं है । क्योंकि उस ज्ञान का अनुभव तो अभी हो चुका ही है, फिर विज्ञान का अर्थ अनुभव नहीं हो सकता किन्तु 'ददर्श तत्राखिल सात्वतां पति' इस प्रकरण में जो भगवान् को चार प्रकार के पति कह आये, उन चारों प्रकार के पति सम्बन्धी ज्ञान को ही यहां विज्ञान शब्द से कहा है । उस पति चतुष्टय ज्ञान में सम्पूर्ण विश्व और विश्वपति विविध ज्ञान आ चुका है । इस समय भी भगवान् ने ब्रह्मा को वही विविध ज्ञान सहित गुह्य ज्ञान दिया । उस ज्ञान का रहस्य सुनन्दनन्दन आदि पार्षद हैं । इनका भक्तिरूप भी एक स्वरूप है । अर्थात् भगवान् के स्वरूपज्ञान के साथ भगवान् ने ब्रह्मा को अपनी

भक्ति का भी दान किया। ज्ञान का रहस्य भगवान् की भक्ति है। इसके साथ उनके अंग का दान भी दिया। 'भृत्यप्रसादाभिमुखं' आदि श्लोकों में भगवान् की कृपा आदि का जो निरूपण किया, वह भगवत्कृपा इस ज्ञान का अंग है। सो भी भगवान् ने ब्रह्मा को दिया। मूल श्लोक में 'च' कहा है। वह इसलिए कहा है कि बाकी जो कुछ रह गया हो, वह सब कुछ यहां ले लिया जावे और विशेष क्या? हे ब्रह्मन्! वैकुण्ठ में जो कुछ तुमने देखा उस सब का तुम्हें ज्ञान हो जावे ।। ३० ।।

आभास—द्वितीयं ज्ञानमाह—

आभासार्थ—अब दूसरे ज्ञान का निरूपण करते हैं—

श्लोक—**यावानहं यथाभावो यद्रूपगुणकर्मकः ।**
तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहात् ।।३१।।

श्लोकार्थ—जितना मैं हूँ; जिस प्रकार की मेरी सत्ता है, और जिस रूप और गुणों की सत्ता मुझमें है, उन सबका वास्तविक ज्ञान तुझे मेरे अनुग्रह से हो जावे ।

सुबोधिनी—**यावानहमिति** । प्रमाणतो यावानहं परिमाणतोऽपि । यथाभावः यादृशो मम कारणभूतो भावः सर्वकार्यकरणाय सर्वशक्तिरूपः । यावन्ति रूपाणि गुणाः कर्माणि च यस्य । यानि वा गुणादीनि । एतदपि पूर्ववत् । तदाह—तथैव ते मदनुग्रहात्तत्त्वविज्ञानमस्तु। तत्त्वतो विशेषेण ज्ञानं सर्वेषां याथार्थ्यं तव स्फुरत्वित्यर्थः ।।३१।।

व्याख्यार्थ—जितने नाप-तौल का मैं हूँ, जितना लम्बा चौड़ा मैं हूं, और सब कार्य करने के लिये जिस प्रकार का मेरा सर्वशक्ति रूप भाव (स्थिति) है, और जो जो मेरे रूप, गुण, कर्म आदि हैं; उन सब का तात्विक वास्तविक ज्ञान, मेरी कृपा से ही तुझे हो जाओं । अर्थात् मेरे स्वरूप गुणों का, मेरी शक्तियों का, मेरे रूपों का और मेरी लीलाओं का यथार्थ ज्ञान (अनुभव) तुझे सब तरह से हो जाओ ।।३१।।

आभास—एवं ज्ञानद्वयं निरूपयितुमशक्यत्वान्निरूपणे वा ब्रह्मणो हृदये स्फुरणासम्भवात् स्वयमेव दत्त्वा शिक्षार्थं चतुःश्लोकीमाह—

आभासार्थ—इस तरह भगवान् के दोनों ज्ञानों का निरूपण करना किसी के भी शक्य नहीं है । कदाचित् भगवान् ही उनका निरूपण करें, तो भी ब्रह्मा के हृदय में उनका स्फुरण प्रकाशित होना असम्भव है; इसलिये भगवान् ने ही उनको वर की तरह दिया और तदनन्तर अब शिक्षा के लिये आगे के चार श्लोक कहते हैं—

श्लोक—**अहमेवाऽऽसमेवाऽग्रे नाऽन्यद्यत्सदसत्परम् ।**
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम् ।।३२।।

श्लोकार्थ—सृष्टि के पहले मैं ही था और मैं था ही। मुझसे अन्य कुछ नहीं। सत्, असत् और उससे परे सब कुछ मैं ही था। सृष्टि के पीछे भी मैं ही हूँ। जो कुछ यह है वह भी मैं हूँ, और जो बाकी रहता है, वह भी मैं ही हूँ ।।३२।।

सुबोधिनी—अहमेवाऽऽसमेवाऽग्र इति । याहग्रूपं भगवान् जगत्करोति तच्छिक्षायां प्रार्थितम् । तत्राऽऽह । अहमेव तद्रूपो जातः। नाऽन्यदिति। अन्यथाभानं च मन्माययेति। जडे देहादौ मध्ये जीवप्रतीतिश्च घटादावाकाशप्रतीतिवत्। आधाराधयभावो बाह्याभ्यन्तरभेदहेतुश्चाऽहमेवेति । स्वरूपतो मूलभूतं जगत् । प्रतीतितो मायारूपं अनुप्रवेशको जीव इति सर्वं जगत्सर्वप्रकारेणाहमेवेति ज्ञात्वा स्वस्वरूपमपि तथा ज्ञातव्यम्। इयमेव शिक्षा । एवं मद्रूपो भूत्वा मद्रूपं चेज्जगत्करोति तदा गर्वो न भवतीति तद्धेतुभूतो मोहोऽपि न भवतीति पञ्चश्लोकानामर्थः। तत्र सर्वं जगत्कथं भगवानित्याकांक्षायां तज्जलानिति हेतुं विस्तरेण वदति। सृष्टेः पूर्वं अहमेव। **"एको नारायण आसीन्न ब्रह्मा न च शङ्करः।" "वासुदेवो वा इदमग्र आसीन्न ब्रह्मा न च शङ्कर"** इति श्रुतेः सृष्टेः पूर्वमहमेव । किञ्च । मत्तोऽपि पूर्वमिति नाऽऽशङ्कनीयम्। यथा जगतः पूर्वमहं मत्तोऽपि पूर्वमन्यदिति तदैवं भवेत् यदि कदाचिदप्यहं नाऽऽसम् । तत्तु मम न सम्भवति । सद्रूपेणैव निरूपणात्। **"सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाऽद्वितीयमि"** ति श्रुतेरासमेव । अग्रे सृष्टेः पूर्वम्। **"असद्वा इदमग्र आसीत्ततो वै सदजायते"** त्यादीनां पश्चात् प्रतीयमानजगतः पूर्वमेताहशरूपेणाऽनवस्थिततत्वप्रतिपादकत्वात् । अन्यथा असतः सत्ताबोधकत्वे विरोधः । **"नाऽसतो विद्यते भाव"** इति वाक्यात्। **"नाऽसदासीन्नो सदासीत्तदानीमि"** त्यादेस्तु स्थूलसूक्ष्मकार्यपरत्वम्। **"आपो वा इदमग्रे सलि मासीदि"** ति त्ववान्तरकल्पाभिप्रायेण। आपो नानाविधानि जलानि इदं तत्कार्यं च जगत्सर्वं सलिलं प्रलयोदकरूपमेवाऽऽसीदित्यर्थः । **"अव्यक्तादीनि भूतानी"** ति तु अव्यक्तरूपं ब्रह्मैव। लोनत्वकल्पकस्य पश्चादेव सिद्धेः पश्चादेव पूर्वलीनत्वं सिध्यति। न पूर्वम् । अनेन **"प्रकृतिं पुरुषं चै"** त्यपि निरस्तम् । मतान्तरत्वात्। **"आसीज्ज्ञानमथो ह्यर्थ"** इति वाक्यविरोधाच्च । **"तम आसीदि"** ति तमोऽपि ब्रह्मैव। सर्वतः सुप्तत्वेन साम्यात्। न प्रकृतिः। **"किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्नि"**ति कार्याश्रयप्रयोजनाभावात् तस्याः कार्यैकोन्नेयस्वरूपाया अभावात् । एवमन्यान्यपि वाक्यानि तत्तद्भावप्रकारेण बोधयन्ति पूर्वमेकरूपे भगवति न बाधकानि भवन्ति। अत एव श्रुतिसिद्धत्वादन्यानि तत्काले निषेधति—**नाऽन्यदिति**। सदसतोः श्रुतौ पूर्वसिद्धत्वेऽपि न तयोरन्यत्वम्। तदाह— **सदसदिति**। सच्छब्देनाऽसच्छब्देन च ब्रह्मैवोच्यत इत्यर्थः । **"योऽस्मात्परस्मात्पर"**इति परशब्देनापि न कालादिरुच्यते । किन्त्वहमेव। तस्मात्पूर्वमहमेवेति सिद्धम्। अभावास्त्वन्मते तिरोभावातिरिक्ता न भवन्तीति तस्य च भगवच्छक्तित्वात् **"पूर्ववद्धे"**ति न्यायेन शक्तिधर्माणामपि तदोद्गतत्वाभावेन कालस्याऽपि निरूपणसमय एव तथावचनात्प्रकृतितुल्यत्वेन भगवानेक एव सिद्ध इत्यविवादम् : किञ्च। पश्चादहं । सर्वभवनसमर्थात्स्वरूपादेव चेष्टावत्प्रादुर्भावः कालस्य पश्चाद्गुणरूपेण शक्तिरूपेण च पश्चात्कार्यरूपेण। **"स आत्मानं स्वयमकुरुते"**ति श्रुतेः। असतः सत्तानङ्गीकाराच्च । **यदेतदिति** परिदृश्यमानं सर्वम्। चकारादपरिदृश्यमानमप्रसिद्धं च। अनेन जीवा अपि संगृहीताः। **त्वमेतच्चेति** पाठे जीवजडात्मकं सर्वमहमेवेत्यर्थः। अयं मुख्यो ब्रह्मवादः। ननु पदार्थविरोधे शब्दो न प्रमाणम्।

भगवांश्च सर्वदोषरहितः । विकारादयश्च दोषाः । सर्वशब्दे सङ्कोचाभावादुपदेश्याभावः शास्त्रोच्छेदश्च । प्रयोजनाभावात् हिताकरणादिदोषप्रसक्तिः । पुरुषोत्तमत्वाभावश्च । तस्मादनेकदोषदुष्टत्वाद्ब्रह्मवादोऽनुपपन्न इति नैतमेवम्। **प्रत्यक्षादृष्टविषये पदार्थाः श्रुतिबोधिताः । परस्परं विरुद्धास्ते नैकशेषं भजन्ति हि । उभयोर्वैदिकत्वेन कः स्यादत्र नियामकः । विचारकाणां बुद्धिस्तु सोपजीव्या श्रुतेः सदा । क्रियाविद्यापरत्वे तु विकल्पेनैकवाक्यता । दुष्टोऽप्याश्रीयते पक्षो विकल्पाख्यः श्रुतेर्बलात् । तथैव भगवद्रूपं यथा हस्तादयः पृथक् । यथा सर्वाविरोधः स्यात्तथैवाऽत्र विचारणम् । सर्वरूपसमर्थत्वमतो ब्रह्मणि गीयते । अन्यथा प्रतिभानं यदुच्चनीचादिभेदतः । तद्भानं तस्य कर्त्ता च हरिरेव तथाविधः । यत्किञ्चिद्दूषणं त्वत्र दूष्यं चाऽपि हरिः स्वयम् । विरुद्धपक्षाः सर्वेऽपि सर्वमत्रैव शोभते । योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहमिति।** उद्भूतस्य सर्वस्य तिरोभावप्रापणे यत्तिरोभूतं न भवति, तिरोभावस्तदाश्रयो वा, अंशभेदेन वा तदप्यहमस्मीत्यनेन सर्वा एव क्रियास्तद्विषयश्चाऽहमिति ज्ञापयति ।। ३२ ।।

व्याख्यार्थ— जिस रूप का जगत् भगवान् को बनाना है, उसके सिखाने की प्रार्थना, ब्रह्मा ने शिक्षा में कर दी । उसका उत्तर भगवान् देते हैं । अहमेव । मैं ही जगत्रूप हो गया हूँ । जगत् कोई दूसरा पदार्थ नहीं है । यह जो इसका रूप और तरह का दीख रहा है । यह मेरी माया से दीखता है । जैसे घट में आकाश मालूम पड़ता है । इसी तरह जड़ देहादि के मध्य में जीव की प्रतीति भी माया से ही हो रही है । घट और आकाश में किंवा देह और जीव में, जो आधाराधेयभाव दीख रहा है, किंवा घट बाह्य है और आकाश भीतर है, किंवा देह बाह्य है और जीव आंतर । यह जो बाह्याभ्यंतरभाव दीख रहा है, इसका कारण भी मैं ही हूं । अर्थात् मैं ही (भगवान् ही) आधार आधेय और बाह्य आंतर हूं । सब कुछ मैं ही हूँ । स्वरूप से सब कुछ जगत् मूल भगवान् है, किन्तु इसकी प्रतीति (समझ) और तरह की हो रही है, वह माया से हो रही है और अनुप्रवेश करने वाला जीव है । इसका तात्पर्य यह है कि प्रवेश अनुप्रवेश दो वस्तु हैं । एक रूप से भगवान् सर्वत्र देहादि में प्रविष्ट हैं ही । किन्तु पुनः वही भगवान् जीव रूप धारण करके फिर से प्रवेश करता है, इसलिए यहां जीव को अनुप्रवेशक कहा । यह बात आगे 'यथा महान्ति' श्लोक में स्पष्ट करेंगे । इस तरह जब सब कुछ जगत् सर्व प्रकार से भगवान् ही भगवान् है । तब ही कहते हैं कि 'अहं (भगवान्) ही सब कुछ है, यह समझकर, हे ब्रह्मन्! तुम्हें अपना स्वस्वरूप ब्रह्मस्वरूप जानना चाहिये । यही शिक्षा है । इस तरह तू अपने आपको भगवान् का स्वरूप मानकर भगवत्स्वरूप इस जगत् को प्रकट करेगा, तो तुम्हें गर्व न होगा और गर्व के कारण जो भूल होती है, वह भूल भी न होगी । यह पांच श्लोकों का सम्मिलित तात्पर्य है । यह पूर्वोक्त आशय प्राथमिक ब्राह्म सृष्टि के विषय में कहा है ।

अब यहां भगवान् ही सम्पूर्ण जगत् कैसे हो जाता है, इस प्रश्न का उत्तर देते हुये, 'तज्जलान' इस वेदोक्त हेतु को विस्तार से कहते हैं । अब प्रथम श्लोक का अर्थ करते हैं कि सृष्टि के पहले मैं ही था और कुछ नहीं था । वेद में कहा है, कि सृष्टि के पहले 'एक नारायण ही था, न ब्रह्मा और न शंकर ।' 'यह सम्पूर्ण जगत् सृष्टि के पहले वासुदेव भगवान् था न ब्रह्मा और न शंकर ।' इससे स्पष्ट होता है कि सृष्टि के पूर्व में एक मैं (भगवान्) ही था । मुझसे भी पूर्व कुछ था यह शंका भी नहीं करनी चाहिये । जगत् के पहले मैं और मुझसे भी पूर्व कोई अन्य पदार्थ था, यह

आशंका तो तब हो सकती है कि जब मैं कभी भी न होऊं, सो यह मेरे विषय में सम्भव ही नहीं हैं। वेद में भी भगवान् को सर्वदा वर्तमान कहा है। इसलिए मूल में कहते हैं कि 'सृष्टेः पूर्वं अहं आसं एव'। अर्थात् सृष्टि के पहले मैं था ही। कभी भी ऐसा न हुआ कि मैं न होऊं। वेद के एक और भी वाक्य में कहा है कि अग्रे सृष्टि के पूर्व में हे सौम्य! यह सारा जगत् सद्रूप भगवद्रूप था और एक अद्वितीय था' अर्थात् भगवान् था और भगवान् के सिवाय कुछ भी अन्य नहीं था।

यदि कोई कहे कि श्रुति में कहा है कि 'यह जगत् पहले असत् था फिर असत् से सत् हुआ'। इसका उत्तर यह है कि यह श्रुति तो कहती है कि आजकल जैसा जगत् दीख रहा है, सृष्टि के पूर्व में इस तरह व्यवस्थित रूप में नहीं था। यदि बिलकुल ही असत् होता तो उससे सत् कैसे पैदा होता। असत् से सत् की उत्पत्ति होने में 'नाऽसतो विद्यते भावः' इस वाक्य में विरोध आवेगा। गीता में कहा है कि असत् का कभी भाव सत्ता नहीं होता। यदि कहो कि 'नासदासीत्' अर्थात् प्रलय के समय असत् और सत् दोनों ही नहीं थे। इस श्रुति में असत् और सत् दोनों के ही होने का निषेध है, तो इसका उत्तर देते हैं कि यह श्रुति तो स्थूल, सूक्ष्म कार्य पदार्थ का निषेध कर रही है। स्थूल कार्य को सत् कहते हैं और सूक्ष्म कार्य को असत् कहते हैं। यदि कहो कि 'यह सम्पूर्ण जगत् पहले जल ही था' इस श्रुति में सृष्टि के पहले जल का निरूपण है, तो इसका भी यह उत्तर है कि यह अवांतर सृष्टि के निरूपण में कहा है। प्राथमिक सष्टि में तो भगवान् ही था जल नहीं। अवांतर (बीच की) सृष्टि में, सृष्टि के प्रारम्भ में यह जगत् अनेक प्रकार के जल ही था। यह इस श्रुति का तात्पर्य है। 'अव्यक्तादीनि भूतानि' इस गीता के वाक्य में तो अव्यक्त शब्द से ब्रह्म का ही निर्देश है। जहां कहीं भी जगत् का किसी पदार्थ में लीन होने का कहा है, वहां भी उसकी सत्ता ही कही गई है। यह जगत् अव्यक्त में लीन हो गया। इस कहने का भी यही तात्पर्य है कि पहले था, फिर पीछे उसमें लीन हो गया। पहले से ही लीन था, यह अर्थ नहीं होता। 'प्रकृतिं पुरुषं चैव' इस गीता के वाक्य में भी अवांतर कारण का निरूपण है। सांख्य के मत का अनुवाद करके मतांतर का ही निरूपण किया है। 'आसीत् ज्ञानमयोह्यर्थः'। इस भागवत के वाक्य में ज्ञानमय परब्रह्म, सबके पहले था, यह कहा है। इसलिए इसके विरुद्ध गीता का सिद्धांत नहीं हो सकता। अन्यथा इसका विरोध आवेगा। 'तम आसीत्' इस श्रुति में जो तम का निरूपण है, वह भी प्रकृति का नहीं है, किन्तु तमः शब्द वाच्य ब्रह्म ही कहा है। 'किमावरीवः' इस श्रुति में भी विकल्प रूप में ब्रह्म का ही निरूपण है। किस पदार्थ को ढके और किसके सुखार्थ ढके' इस श्रुति में प्रकृति का होना निषेध किया है। प्रकृति को कार्य का आश्रय कहने का प्रयोजन हो नहीं सकता क्योंकि कार्य से प्रकृति का अस्तित्व माना गया है। जब कार्य ही प्रथम नहीं है तब प्रकृति कहां से आई। जो कार्य से ही अन्दाज की जाती है वह कार्य के पूर्व में नहीं हो सकती है।

अब और भी जो कोई भी वाक्य बच गये हों वे भी सब उन-उन अनेक रूपों से ब्रह्म का ही निरूपण करते हैं, इसलिए सृष्टि के पूर्व में एक रूप से रहे ब्रह्म की सत्ता में बाधक नहीं हो सकते। सृष्टि के पहले एक भगवान ही था, यह सिद्धान्त श्रुति सिद्ध है, इसलिये उस समय अन्य पदार्थों का मूल में निषेध करते हैं। 'नान्यत्' इति ब्रह्म से अन्य कुछ नहीं था। यद्यपि वेद में सत् और असत् का निरूपण आता है; तथापि वह भगवान् से अन्य नहीं था किन्तु ब्रह्म रूप ही था। अतएव कहा कि 'सद सत्परम्'। सत् और असत् और इन दोनों से पर श्रेष्ठ काल आदि सो

भी ब्रह्म से अन्य नहीं था, ब्रह्म से अन्य कुछ भी नहीं था। जो कुछ था, वह मैं (भगवान्) ही था। यह सिद्ध हुआ। यदि कहो कि कुछ नहीं था, इस कहने से पहले अभाव था, यह तो मानना ही पड़ेगा तो कहते हैं कि वेद वेदान्त के सिद्धान्त में तिरोभाव से पृथक् अभाव कोई पदार्थ है ही नहीं। यदि कहो कि तिरोभाव ही सही। तिरोभाव तो सृष्टि के पूर्व मानना पड़ेगा तो उत्तर देते हैं, कि आविर्भाव और तिरोभाव तो उस ब्रह्म की ही शक्ति है, और 'पूर्ववद्वा' उस अधिकरण से कहा गया है कि ब्रह्म की शक्ति और ब्रह्म के धर्म भी सृष्टि के पूर्व निकले नहीं थे। आगे शब्द से जो काल की सत्ता मालूम पड़ती है, वह भी निरूपण के समय के काल को लेकर ही समझाने के लिये कहा गया है। काल की सृष्टि भी प्रकृति की तरह अवान्तर सृष्टि है; इसलिये अब यह सिद्ध हुआ कि सृष्टि के पूर्व में भी भगवान् एक ही था।

अब सृष्टि की अवस्था में इस जगत् का क्या स्वरूप है? यह कहते हैं। कि–'पश्चादहं यदेतच्चेति'। अर्थात् सृष्टि होने के अनन्तर भी मैं ही हूं। यह सम्पूर्ण जगत् मेरा ही स्वरूप है। मेरा स्वरूप ही सब कुछ होने की सामर्थ्य रखता है, इसलिये सबसे पहले चेष्टारूप से काल का आविर्भाव हुआ। फिर उस मेरे स्वरूप का ही सत् चित् आदि गुण रूप से, मोहिनो प्रकृति आदि शक्ति रूप से और फिर इस विद्यमान जगत् रूप से प्रादुर्भाव हुआ। यह बात—"स आत्मनं स्वयम कुरुत" 'उस भगवान् ने अपने स्वरूप को ही विविधरूपों में प्रकट किया—इस वेद वाक्य में कही है। असत् पदार्थ की कभी सत्ता नहीं होती। ससला के सींग असत् हैं, वे कभी सत्य नहीं हो सकते; इसलिये भगवान् हीं सब कुछ जगत् हो जाता है यह ठीक है। 'यदेतत् च'। यह सामने दीखता हुआ जगत् भी मैं ही हूं। न दीखता हुआ और प्रसिद्धि में न आया बाकी रहा जगत् 'च' कार में ले लिया गया है। अर्थात् वह सब कुछ भी मैं ही हूं। इसमें जीव भी आ गये। 'त्वमेतच्च' ऐसा पाठ हो तो जीव जड़ रूप सब ही जगत् मैं (भगवान्) हूं। यह अर्थ समझना। यह मुख्य ब्रह्मवाद है। ब्राह्म सर्ग है। आधिदैविक विश्व है।

यहां एक यह प्रश्न होता है कि पदार्थों की स्थिति और शब्द प्रमाण में विरोध आता हो तो शब्द प्रमाण मान्य नहीं हो सकता। यह इस तरह कि भगवान् सर्व दोषों से रहित हैं और जगद्गति विकार आदि दोष हैं। जगत् को भगवान् मानने में भगवान् में ये दोष आवेंगे। इसलिये 'अहमेवासमेवाग्रे' यह शब्द प्रमाण, प्रमाण नहीं हो सकता। दूसरी अड़चन यह आवेगी कि जब निःसंकोच सब ही विश्व ब्रह्म माना जायगा तब उपदेश देने योग्य कोई नहीं रहेगा। क्योंकि सब ही भगवान् हो जायेंगे और जब उपदेश्य ही न रहेगा, तब शास्त्र की भी अपेक्षा न रहने से शास्त्र का उच्छेद हो जायगा, और जगद्हित करने की भी अपेक्षा न रहने से हित न करने का दोष भी सर्वत्र फैल जायगा। सब ही भगवान् हो जायेंगे तो कोई एक पुरुषोतम नहीं रहेगा। इसलिये अनेक दोषों से दूषित होने से यह ब्रह्मवाद मानने योग्य नहीं है। इस आशंका का उत्तर कहते हैं कि—

जहां मनुष्य का प्रत्यक्ष ज्ञान न पहुंचता हो, वहां श्रुति के कथनानुसार ही पदार्थों की व्यवस्था मानना उचित है वेद में 'तदे जति तन्नेजति' इत्यादि वाक्यों से एक ही ब्रह्म में परस्पर विरुद्ध धर्म कहे गये हैं; इसलिये वेदानुयायी को एक ही धर्मी में विरुद्ध धर्म मानने

चाहिये, क्योंकि वे दोनों धर्म वेद ने ही कहे हैं। अनुकूल धर्म मुख्य हैं। और विरुद्ध धर्म गौण है। यह अपनी बुद्धि से की गई व्यवस्था प्रमाण नहीं हो सकती है; क्योंकि प्रत्यक्ष गम्य विषय में ही मनुष्य बुद्धि की व्यवस्था चल सकती है। ब्रह्म और ब्रह्म के धर्म प्रत्यक्ष गोचर नहीं हैं, इसलिये गौण मुख्य भाव का नियम कौन कर सकता है? ब्रह्म के विषय में विचार करने वालों की बुद्धि भी सर्वदा वेद के वाक्यों का ही आश्रय लेगी। यदि कहो कि 'उदिते-जुहोति' 'अनुदिते जुहोति', 'अतिरात्रे षोड़शिनं गृह्णाति' 'नातिरात्रे षोड़शिनं गृह्णाति' इन विरुद्ध वाक्यों की जैसे शाखान्तर कर्म मानकर व्यवस्था करदी गई है, इसी प्रकार यहां भी कितने ही वाक्यों को उपासना परक मानकर प्रमाण की समानता मान ली जाय, विरुद्ध धर्म क्यों माने जावे? तो उत्तर कहते हैं कि उपासना परक मानकर भी विरुद्ध धर्मों को झूठे या उपाधि में नहीं मान सकते। क्योंकि वेद ने उन्हें खास ब्रह्म में और सत्य माने हैं। विरुद्ध धर्मों को उपाधि में मान लेने से किंवा कल्पित मान लेने से श्रुति का प्रामाण्य अमान्य हो जाता है। और उपाधि को ब्रह्म से पृथक मानने में द्वैत मानना होगा। यदि उपाधि को झूंठी मानो तो फिर वे विरुद्ध धर्म ब्रह्म में ही मानने होंगे। इसलिए श्रुति को ही स्वतन्त्र प्रमाण मानकर व्यवस्था करना उचित है और यह ठीक भी है। 'नातिरात्रे' इत्यादि पूर्वोक्त विरुद्ध श्रुतियों को ही बलवत् प्रमाण मानकर जैसे शाखान्तर विकल्प पक्ष माना है और व्यवस्था की है। इसी तरह यहां भी 'तदेजति' आदि वेदवाक्यों को स्वतन्त्र प्रमाण मानकर ब्रह्म को सर्व विरुद्ध धर्मों का आश्रय मानना ही पड़ेगा। मनुष्य के देह इन्द्रियों में विद्यमान एक एक पदार्थ परस्पर विरुद्ध वर्तमान हैं; तथापि प्रत्यक्ष बल से उन्हें मानने ही पड़ते हैं। और उसे एक मनुष्य मानना ही पड़ता है। इसी तरह ब्रह्म के विषय में भी श्रुति के बल से ब्रह्म को विरुद्ध धर्माश्रय मानना उचित है। भगवान्, भगवान् रहते भी जगद्रूप होते हैं। यह ठीक ही है, क्योंकि श्रुति कहती है। जिस विचार से किसी भी उचित वाक्य का विरोध न आवे सबका समन्वय हो जावे, वैसा ही विचार, विचार कहा जाता है। 'यः सर्वशक्तिः' इत्यादि वाक्यों में भगवान् को सर्वसमर्थ कहा है। यह सर्वशक्तित्व ही श्रौत मीमांसा है। भगवान् को सर्वशक्ति मान लेने में सर्व ही विरुद्ध वाक्यों को और सब ही धर्मों की व्यवस्था अपने आप हो जाती है।

ब्रह्म के स्वरूपों में जो कुछ अन्यथा दीखता है, जो कुछ ऊंचा, नीचा भेदभाव दीखता है वह सब दीखना ब्रह्म ही है। उसका दिखाने वाला भी भगवान् है, क्योंकि भगवान् का स्वरूप ही तादृश है। हमें हमारी दृष्टि से यहां जगत् में जो कुछ दूषण किंवा दूषित पदार्थ दीखते हैं, वह सब कुछ भगवान् ही हैं। ऐसा होने पर भी वह निर्दोष है, निर्गुण है, सर्व समर्थ है।

जितने विरुद्ध पक्ष हैं वे सब इस परब्रह्म में शोभित हैं। इसमें सब कुछ सुन्दर ही हो जाता है। इस तरह उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय तीनों अवस्था में एक ब्रह्म ही ब्रह्म है। यह ब्रह्म-वाद सिद्ध करके अब कहते हैं कि 'सोऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्'। अर्थात् तीनों अवस्थाओं के अनन्तर जो बाकी रहता है, वह भी मैं ही हूं ॥२२॥

आभास—एवं तज्जलानिति हेतुं विविच्य सर्वमात्मैवेति प्रमेयं विनिश्चित्य प्रमाणवैयर्थ्यमाशङ्क्य प्रवृत्तिशङ्कोचपरत्वात् गुणदोषविषयत्वात् सोऽप्येका भगवल्लीलेति मायां निरूपयति—

आभास—एवं तज्जलानिति हेतुं विविच्य सर्वमात्मैवेति प्रमेयं विनिश्चित्य प्रमाणवैयर्थ्यमाशङ्क्य प्रवृत्तिसङ्कोचपरत्वात् गुणदोषविषयत्वात् सोऽप्येका भगवल्लीलेति मायां निरूपयति—

आभासार्थ—इस तरह 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस वेद वाक्य में दिये गये 'तज्जलान्' इस हेतु का विवेचन करके यह सिद्ध कर दिया कि सम्पूर्ण जगत् ही परब्रह्म है और यह आत्मा ही प्रमेय भी है। तो अब यह आशंका होती है कि फिर ये वेद आदिशास्त्र किस लिये बनाये गये ? सब कुछ ब्रह्म ही ब्रह्म है तो फिर भेद को लेकर चलने वाले शास्त्र, 'यह करो, यह मत करो' 'यह अच्छा और यह बुरा' इत्यादि प्रमाण शास्त्र व्यर्थ हो जाते हैं, तब इसका उत्तर देते हैं कि, यह भी एक भगवान् की ही लीला (क्रीड़ा) है। सब कुछ ब्रह्म है। सब कुछ एक ही है तो फिर एकता में भगवल्लीला नहीं हो सकती और प्रवृत्ति का संकोच भी नहीं हो सकता। यह करने योग्य है और यह नहीं करना चाहिये। यह प्रवृत्ति का संकोच तो रहना चाहिये। अतएव उस एक ब्रह्म स्वरूप में भी गुण और दोषों का निर्माण करके भगवान् अपनी माया से ही सब क्रीड़ा को चला रहा है। उस माया का निरूपण करते हैं—

श्लोक—**ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत न प्रतीयेत चाऽऽत्मनि।**
तद्विद्यादात्मनो मायां यथाऽऽभासो यथा तमः ॥३३॥

श्लोकार्थ—वस्तु के बिना ही जो कुछ समझ में आता है और जो वस्तु ही समझ में नहीं आता और आत्मा में भी जो कुछ का कुछ समझ में आता है, और आत्मा समझ नहीं, यह उस भगवान् की माया शक्ति है। जैसे आभास प्रतिबिम्ब और अन्धकार ॥३३॥

सुबोधिनी—**ऋतेऽर्थमिति**। यद्वस्तु स्वरूपे अन्यथा प्रतिभासते तत् आत्मानां जीवानां व्यामोहिका या माया पूर्वं निरूपिता तस्याः कार्यम्। सा हि जीवं व्यामोहयित्वा तत्सम्बन्धिनमन्तःकरणबुद्ध्यादिकमपि व्यामोहयति तया व्यामोहिता बुद्धिः पदार्थानन्यथा मन्यते। न तु पदार्था अन्यथा भवन्ति। बुद्ध्यर्थमेव हि प्रमाणानि साधनानि च। कानिचिद्बुद्धिजनितदोषनिवर्त्तकानि। कानिचिद्गुणाधायकानि। माया च द्विधा भ्रमं जनयति। विद्यमानं न प्रकाशयति। अविद्यमानं च प्रकाशयति देशकालव्यत्यासेन। तदाह—**अर्थमृते यत्प्रतीयेत न प्रतीयेत च**। अर्थादर्थः। अर्थो न प्रतीयते। अर्थमृते प्रतीयत इति। तस्मात्पदार्थानां याथात्म्यज्ञापनार्थं प्रमाणमित्युक्तं भवति। ननु वस्त्वेव कुतो न तथास्तु। कैश्चिद्वादिभिर्जगतो मायिकत्वस्वीकारादिति चेत्। भवेदेतदेवं यदि विचारे पर्यवस्यति। प्रमाणभूतो वेदः "**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**" वे"त्याह। ब्रह्मविदां प्रतीतिरपि तथा। भ्रान्तप्रतीतेस्तु नाऽर्थनियामकत्वम्। अन्यथा भ्रमदृष्ट्या गृहीतं जगद्भ्रमरूपमेव स्यात्। अतो विषये विषयता काचित्स्वीकर्त्तव्या यया दृष्टिः सविषया भवति। अन्यथा पदार्थानां स्थिरत्वाद्भ्रमदृष्टिर्निर्विषया स्यात्। अतोऽन्यत्रैव सिद्धभ्रमिर्मायया पुरःस्थिते विषये समानीयते। दृष्ट्यनुरोधित्वात्तस्याः। अतो

यथाऽधिकारं जीवसृष्टिं पुरस्कृत्य व्यामोहिकया मायया व्यत्यासेन पदार्थाः सम्पाद्यन्ते । एवं सर्वत्र जगति सा बुद्धिभ्रमं जनयति अन्यत्राऽन्यविषयतां सम्पादयति । विषयता मायाजन्या । विषयो भगवान् । मायायामेव विषयतारूपं भगवतः स्वरूपं प्रकटितमिति । तदपि न निःस्वभावम् । आत्मशक्तित्वान्मायाऽपि न निःस्वभावा । चिद्विलासत्वाद्बुद्धेः परं तामेव व्यामोहयति यावन्न ब्रह्मभावः । सा हि भगवदीयैः सर्वैरेव पदार्थैर्विरुध्यते । ते हि भगवद्विषयकं ज्ञानं जनयन्ति । अतो विषयताजनितं ज्ञानं भ्रान्तं विषयजनितं प्रमेति । एवं यथा जगति, आत्मन्यपि तथेत्याह– **चाऽऽत्मनीति** । आत्मनि च विद्यमानं न प्रकाशयति । अविद्यमानं प्रकाशयति ननु सर्वजनीनप्रतीत्यनुरोधेन जगद्रूपोऽयं विषयो ब्रह्मणो भिन्न एव कुतो नाऽङ्गीक्रियते तत्राऽऽह—**तद्विद्यादात्मनो मायामिति** । यस्मात्कारणादविद्यमानमेव बोधयति विद्यमानं न बोधयति तस्मात्कारणात्तां मायामेव विद्यात् । न हि विषयश्चक्षुर्वा जडं नियतस्वभावमन्यथाप्रतीतिहेतुर्भवति । तत्र दृष्टान्तमाह-**यथाऽऽभासो तथा तम इति** । यथा द्विचन्द्राद्याभासो माययैव जन्यते । न तु प्रतीत्यनुरोधेन चन्द्रद्वयं कल्प्यते । एवं विषयताऽपि मायया जन्यते । बुद्धिस्तु चिद्विलास इति न मायाजनिता । अन्यथा ब्रह्मविदोऽपि बुद्धिस्तथा स्यात् । ततश्च सर्वविप्लवः। सा च विषयता द्विधा । आच्छादिकैका । अन्यथाप्रतीतिहेतुश्चाऽपरा । सा उभयविधाऽपि माययैव जन्यते यथाऽऽभासः । ननु मायायाः कथमेवं पदार्थजनकत्वम् । व्यामोहजनकत्वमेव तस्याः । न च विषयातिरिक्ति विषयता क्वचिदुपलब्धेत्याशङ्क्याऽऽह— **यथा तम इति** । यथाऽन्धकारः पदार्थस्तेजोऽभावे जन्यते । यत्रैव तेजोऽभावस्तत्रैवाऽन्धकारं जनयति माया । इयमेव व्यामोहिका । अत एव दिवाभीतान्प्रति नाऽन्धकारं जनयति । ते तु तेजोऽभावमेव गृह्णन्ति । तेषां दृष्टेः कोमलत्वाद्बलवत्तेजो दृष्टिप्रतिबन्धकं भवति । तदभावे सुखेन विषयान् गृह्णन्ति । अस्मदादीनामपि तेजो न विषयसंस्कारकं । न वा चक्षुषः । किन्तु तेजोऽभावे मायया तमोजननात् सैव दृष्ट्या विषयीक्रियते न तु विषयः । अतस्तमोनिवृत्त्यर्थमेव तेजः । तथैव लोकप्रतीतिः । सा च विषयता चक्षुषा गृह्यते । विषयाद्भिन्नतया स्वात्मसात्क्रियते । परिभ्रमणे तथा सिद्धेः । **"यथा हि भानोरुदयो नृचक्षुषामि"** ति वाक्ये चक्षुःसम्बन्धिन एव तमसो नाशकत्वम् । न तु स्वभावत एव किञ्चितमः । अन्यथा स्पर्शनाऽपि ज्ञाने तत्प्रतिबन्धकं स्यात् । स्पर्शेन वा तद्गृह्येत । तम इति चोपलक्षणम् । आदर्शे च मुखं जनयति । न च परावृत्तं चक्षुर्मुखमेव गृह्णातीति मन्तव्यम् । तथा सति दर्पणान्तरे साभासस्य प्रतीतिर्न स्यात् । न चेदमेव मुखमुभयत्र प्रतिबिम्बित इति वाच्यम् । असम्मुखदिक्कानामपि प्रतिबिम्बदर्शनात् । अयमेव वा आभासः । तस्माद्दर्पणे मुखजननवत्तेजोऽभावेऽन्धकारजननवन्माया मोहितपुरुषबुद्धावपि विषयताद्वयं जनयतीत्यर्थः । तत्रैका ब्रह्मरूपतां न प्रकाशयति । एका तु जगद्रूपा विषयता । तदुभयव्यावृत्त्यर्थं सर्वाणि प्रमाणानीति भावः ॥ ३३ ॥

व्याख्यार्थ—वस्तु स्वरूप में जो कुछ कुछ का कुछ भान होता है, वह भगवान् की मोहिनी माया है। यह जीवों को भूल कराती रहती है। वास्तव में वस्तु में कुछ का कुछ दिखाना इसका ही कार्य है। यह माया जीव को मोहित करके जीव सम्बन्धी अन्तःकरण बुद्धि आदि को भी भूल में डाल देती है। इस माया से मोहित हुई बुद्धि जगद्वर्ति पदार्थों को कुछ का कुछ समझ बैठती है, किन्तु पदार्थ अन्यथा नहीं होते। बुद्धि को मोक्षार्थ तैयार करने के लिए ही तो वेदादि प्रमाण हैं और वेद शास्त्रोक्त साधन भी बुद्धि को तैयार करने के लिए ही है। कितने ही प्रमाण और साधन,

बुद्धि जनित दोषों की निवृत्ति करने वाले हैं और कितने ही प्रमाण साधन बुद्धि में गुणों का आधान करने वाले हैं। यह माया भी बुद्धि में ही दो प्रकार से भ्रम (भूल) पैदा कराती है। विद्यमान को प्रकाशित न होने देना और जो नहीं है उसे प्रकाशित कर देना। किसी देश की बात किसी स्थान में और किसी काल की बात किसी काल में दिखाती है।

यही बात मूल में कहते हैं—'अर्थं ऋतेयत् प्रतीयेत, न प्रतीयेत च'। अर्थात् पदार्थ में वह पदार्थ तो नहीं दीखता, अर्थ के बिना कुछ अन्य ही दीखने लगता है। ऐसी अवस्था में पदार्थों की यथार्थता को दिखाने के लिये वेदादि प्रमाणों की रचना भगवान् ने की है।

यहां यदि कोई पूछे कि उस पदार्थ को वैसा क्यों नहीं मान लेते, भ्रम क्यों मानते हो? इसलिए ही कितने ही वादी जगत् और जगद्वर्ती पदार्थों को मायिक झूठे मानते हैं। इसका उत्तर देते हैं कि ठीक है ऐसा हो सकता है, यदि विचार में बैठ जाय? सबको यथार्थ ज्ञान कराने वाला वेद सम्पूर्ण जगत् को ब्रह्म कह रहा है और ब्रह्म वेत्ताओ का अनुभव भी ऐसा ही होता है। भ्रान्त मनुष्यों को जो दिखाई दे रहा है वह तो वस्तु की यथार्थता में प्रमाण नहीं माना जा सकता। यदि भ्रम दृष्टि को प्रमाण मान ली जाय तो जगत् को भी भ्रम मानना पड़ेगा और भ्रम रूप ही मिले, सो मिलता नहीं। कालान्तर देशान्तर में जगत् जगद्रूप ही मिलता है, भ्रम नहीं। इसलिए मानना पड़ेगा कि जगत्रूप विषय में कोई एक दूसरी ही विषमता आकर बैठ गई है। विषय पर जब कोई अन्य विषमता आ जाती है और जब उस विषमता सहित विषय का ग्रहण जब दृष्टि करती है, तब वह विषयता के रूप में ही उस विषय (पदार्थ) को देखती है। यही अन्यथा भान कहा जाता है। यदि यह कोई दूसरी ही विषयता नेत्र के आगे न आती तो पदार्थों के अपने स्वरूप में स्थिर रहने से भ्रम दृष्टि निर्विषयया ही रहती। अर्थात् कहीं भी भ्रम नहीं होता। इसलिए यह सिद्ध होता है कि कहीं दूसरी जगह रहा हुआ भ्रम माया के द्वारा आगे आये हुये पदार्थ पर लाया जाता है, क्योंकि यह माया दृष्टि का ही अनुरोध करने वाली होती है। इसलिए अधिकार के अनुसार जीव सृष्टि को आगे रखकर यह व्यामोहिका माया पदार्थों को उलटा सुल्टा दिखाती है। इस तरह यह सारे जगत् में बुद्धि के भ्रम को फैलाती है। अर्थात् अन्यत्र स्थित विषयता को अन्यत्र ले आती है। विषयता माया जन्य है और विषय भगवान् है। जैसे सीप में चांदी का भान। चांदी में चांदीपन रहना चाहिये। सीप में सीपपन। सीप भी भगवद्रूप पदार्थ है और चांदी भी। किन्तु माया चांदीपन के भान को सीप पर ला देती है। अन्यत्र स्थित विषयता को अन्यत्र ले आती है यह भ्रम है, यह माया जन्य है। जगद्वर्ती पदार्थ भगवान् है। इनका एक स्वभाव स्थिर है, किन्तु विषयता (भ्रम) निःस्वभाव है। यह स्थिर नहीं है। डोरी में सर्प का भ्रम थोड़ी देर ही रहता है क्योंकि उसका वह स्वभाव ही नहीं है। यह माया आत्मा की ही शक्ति है, इसलिए यह भी निःस्वभाव नहीं है। भूल खवा (खिला) देना यही इसका स्वभाव है, क्योंकि बुद्धि मात्र चैतन्य की ही क्रीड़ा है। यह माया उस बुद्धि को ही मोहित कर देती है। जब जीव में ब्रह्मभाव प्रकाशित होता है तब यह माया बुद्धि को मोहित करना छोड़ देती है। जगद्वर्ती भगवदीय पदार्थ भगवद्विषयक ज्ञान पैदा करते हैं, इसलिए व्यामोहिका उन सब पदार्थों के विरुद्ध रहती है। इससे यह सिद्ध होता है कि विषयता से पैदा हुआ ज्ञान भ्रम है और विषय जनित ज्ञान यथार्थ होता है।

यह बात जैसी जड़ जगत् में हैं आत्मा के विषय में भी वैसी ही है। सो कहते हैं कि—चाऽऽत्मनि। इति। यह माया आत्मा में स्थित वस्तु को भी नहीं प्रकट करती है। किन्तु जो नहीं है उसको प्रकाशित करती है। यहां एक यह प्रश्न हो सकता है कि—यह जगत् रूप विषय, ब्रह्म से जुदा ही है यह क्यों न मान लिया जाय? इसका उत्तर देते हैं कि—"तद्विद्यादात्मनो मायां" इति। वास्तव में जगत् ब्रह्मरूप है। किन्तु यह इसका रूप प्रकाशित नहीं होता और कुछ का कुछ रूप ही प्रकाशित हो रहा है। यह दोनों कार्य माया के हैं। जगत् झूठा नहीं हैं पर माया इसे असत्य दिखाती है, सत्य स्वरूप नहीं दिखाती है। यह दोष, वस्तु स्वरूप जगद् ब्रह्म का नहीं है। यह दोष माया का है, इसलिये इसे माया ही जानिये। इस माया के दोष से जगत् को ही ब्रह्म से जुदा पदार्थ मानने की आवश्यकता नहीं है। सीप में चांदी का जो भ्रम हो रहा है, इस भ्रम-ज्ञान में सींप किंवा चांदी कारण नहीं हैं, क्योंकि वे दोनों निश्चित स्वभाव के ही हैं, और भ्रम तो नियत स्वभाव नहीं है। विषय जगत् और चक्षु दोनों नियत स्वभाव हैं, इसलिये वे भ्रम के कारण नहीं हो सकते। भ्रम का कारण तो माया ही है। इस विषय में दृष्टान्त देते हैं कि—

"यथाऽऽभासो यथा तमः"। जैसे कभी कभी दो चन्द्र का भ्रम होता है। यह माया से ही होता है। दो चन्द्र दीखते हैं, इस प्रतीति के अनुरोध से कोई भी बुद्धिमान पुरुष दो चन्द्र नहीं मान लेता; किन्तु उसे भ्रम माया या भूल ही मानता है। इसी तरह जगत् में जो विषयता जुदो दीख रही है वह माया से पैदा हुई है। बुद्धि तो चैतन्य का विलास है, इसलिये माया जनित नहीं हो सकती। यदि बुद्धि माया जनित होती तो ब्रह्मवेत्ता को भी बुद्धि तो होती ही है तो उसको भी भ्रम होना चाहिये। सो किसी ब्रह्मवेत्ता को भ्रम नहीं होता और बुद्धि तो रहती ही है। इसलिये बुद्धि माया जन्य नहीं है विषयता ही माया जन्य होती है। यदि ब्रह्मवेत्ता को भी भ्रम मान लिया जाय तो फिर ज्ञान मात्र भ्रम हो जायेगा और ब्रह्मज्ञान भी भ्रम समझा जावेगा। कुछ रहेगा ही नहीं।

यह विषयता दो प्रकार की है, एक आच्छादिका–ढ़क देने वाली और दूसरी कुछ का कुछ दिखा देने वाली। ये दोनों तरह की विषयता माया से ही पैदा होती है। जैसे–आभास–प्रतिबिंब। आभास रूपा विषयता कुछ का कुछ दिखा देने वाली है। यहां एक यह प्रश्न होता है कि विषयता तो केवल बुद्धि को बहका देने वाली है तो फिर उससे पदार्थ कैसे पैदा हो जाता है? आभास में तो एक पदार्थ और पैदा हो जाता है। दूसरी आंशका यह भी है कि विषय को छोड़ कर कहीं भी विषयता नहीं देखी। घट में ही घटत्व रहता है। घट को छोड़ कर घटत्व कहीं अन्यत्र जाता नहीं देखा। इसका उत्तर मूल में देते हैं कि—"यथा तमः"। जैसे अन्धकार। यह अन्धकार विषयता ही विषयता है। यह तेज के अभाव में दृष्टिगोचर होता है। यह भी मायाजन्य विषयता ही है। जहां ही प्रकाश का अभाव है वहां ही यह माया अपनी विषयता अन्धकार को पैदा करती है। यही माया व्यामोहिका है, इसलिये उलूक पक्षियों के प्रति माया अन्धकार पैदा नहीं करती। उल्लू तो तेज के अभाव का ही ग्रहण करते हैं। उनकी दृष्टि कोमल होती है, इसलिये बहुत विशेष प्रकाश उनकी दृष्टि का बाधक हो जाता है। अतएव ये पक्षी प्रकाश के अभाव में पदार्थों को सुख से देख लेते हैं। पदार्थों को देखने के लिये प्रकाश न तो विषय (देखने की वस्तु) का कुछ सुधार करता है और न हमारी दृष्टि का कुछ सुधार करता है। केवल दृष्टि का सहकारी मात्र

है। किन्तु रात्रि आदि में जब तेज का अभाव होता है तब माया वहां अपनी विषयता अन्धकार को पैदा कर देती हैं, तब हमारी दृष्टि उस अन्धकार का ग्रहण करती है, वस्तु का ग्रहण नहीं करती। इसलिये अन्धकार को दूर करने के लिये प्रकाश को अपेक्षा होती है और लोक में भी यह प्रतीति इसी तरह से है।

यह अन्धकार रूप विषयता चक्षु से ही ग्रहण की जाती है अन्य इन्द्रियों से नहीं। अर्थात् वस्तु से जुदा अन्धकार को ग्रहण करती है। यह बात भ्रमण में स्पष्ट हो जाती है। जब हम अपने आपको चक्कर देकर खड़े होते हैं तो मकान वगैर: फिरते दीखते हैं। यहां मकान प्रभृति से जुदा भ्रमण है, यह स्पष्ट हो जाता है। शास्त्र में भी 'यथैव भानो रुदयो नृ चक्षुषां तमो निहन्यान्नतु तद् (सद्) विद्यते'। इस वाक्य में तम को एक मायिक जुदा ही पदार्थ माना है और वह असत् है, सत् नहीं। यह तम चक्षुः सम्बन्धी ही है इसी को सूर्य का उदय नाश कर देता है। स्वभाव से ही अन्य जगद्वर्ति पदार्थ की तरह तम कोई सत्य पदार्थ नहीं है। किन्तु माया जन्य असत् है। यदि कोई सत्य पदार्थ होता तो स्पर्श भी होता और उस समय भी वस्तु ज्ञान का प्रतिबन्धक होता। सो होता नहीं। अन्धकार का स्पर्श नहीं होता और न वह किसी वस्तु का स्पर्श करने में बाधक होता हैं। तम यह एक नमूना दिखाया है। इस तरह के और भी पदार्थ ले सकते हैं। जैसे प्रतिबिम्ब। कांच में जब हम अपना मुंह देखते हैं तब वह मोहिनी माया बीच में एक दूसरा मुख पैदा कर देती है। कितने ही कहते हैं कि वह कोई दूसरा मुख नहीं है, किन्तु चक्षु की किरणें जब कांच से रुक कर पीछी लौटती हैं तब अपने ही मुख को देखती है। मनुष्य भूल से दूसरा मुख मान लेता है, किन्तु यह मत ठीक नहीं है। जहां आगे पीछे या आडे टेढ़े अनेक दर्पण रख लिये जाते हैं वहां सेकड़ों प्रतिबिम्ब और कांच वगैर: दीखने लगते हैं। चक्षु की परावृत्ति मानने में ये नहीं हो सकता। सन्मुख स्थित कांच से अटककर अपना चक्षु ही यदि अपने मुख को देखता तो सम्मुख में ही दीखता और एक ही मुख दीखता। क्योंकि मुख तो एक ही है। अनेक दीखते हैं और आडे टेढ़े रखने पर भी दीखते हैं। इसलिये प्रतिबिम्ब एक मायिक पदार्थ ही जुदा है, जिसे माया ने पैदा कर दिया है और असत्य है। यह वस्तु ही ऐसी है, न होते रहते भी दीखती है।

अथवा यही आभास पदार्थ माना जाय। इसलिये कहना होगा कि दर्पण देखने के समय द्वितीय मुख पैदा हो जाने की तरह, किंवा तेज के अभाव में अन्धकार रूप पैदा कर देने की तरह भगवान की माया मोहित पुरुष की बुद्धि में दो तरह की विषयता पैदा कर देती है, १ आच्छादिका और २ अन्यथा भासिका। उनमें एक विषयता वस्तु की ब्रह्म रूपता को प्रकाशित नहीं होने देती और दूसरी विषयता जगद्रूपा कुछ का कुछ है। यह ब्रह्म रूप विषय के आडे आ जाती है, तब दृष्टि उसे ही देखती है। ब्रह्मरूप को नहीं देख पाती। इन दोनों तरह की माया जन्या विषयता को दूर करने के लिये वेद शास्त्रादि प्रमाण बनाये गये हैं।।३३।।

आभास—एवं प्रमेयं प्रमाणं च निरूप्य विषयं निरूपयति—

आभासार्थ—इस तरह प्रमेय भगवत्स्वरूप प्रमाण वेदादि का निरूपण करके अब विषय जगद्रूप भगवान् का निरूपण करते हैं—

श्लोक—**यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु ।**
प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम् ॥३४॥

श्लोकार्थ—जैसे समस्त छोटे-बड़े भौतिक पदार्थों में महाभूत उनके कारणभूत से प्रविष्ट होते हुए भी अप्रविष्ट ही हैं, उसी प्रकार मैं भी सम्पूर्ण प्राणियों में आत्मरूप से स्थित हुआ भी वास्तव में उनसे पृथक् ही हूं ॥३४॥

सुबोधिनी—यथा महान्ति भूतानीति । वेदेन हि प्रकारद्वयेन पदार्था निरूप्यन्ते-साकारो निराकारः, सावयवो निरवयवः,पूर्णः परिच्छिन्न इत्यादिप्रकारेण । तदुभयमपि यथा विषयो भवति तदर्थमिदमारभ्यते । अन्यथैकपक्षो विषयता स्यात् । तथा सति वेदानामंशतोऽप्रामाण्यं भवेत् । अतः सर्ववेदप्रामाण्यसिद्धये उभयविधो विषयो निरूप्यते । यथा महान्ति भूतानि आकाशादीनि भूतेषु घटादिषु उच्चावचेष्वनेकरूपेषु स्थूलसूक्ष्मदीर्घह्रस्ववक्रर्ज्वादिभिन्नेषु कारणत्वेन प्रविष्टानि, पुनरनुप्रविष्टानि भवन्ति, ततोऽप्यप्रविष्टानि भवन्ति । तथा अहं सर्वत्र कारणभूतः सर्वत्राऽनुप्रविष्टोऽपि न कारणभूतो नाऽनुप्रविष्ट इत्यर्थः । **तेष्विति** पुनर्वचनं वाक्यद्वयबोधार्थम् । अन्यथा नकारः पूर्ववाक्य एव सम्बध्येत । कारणं हि कार्येऽनुप्रविशति । कार्यं च कारणे समवेतमुत्पद्यते । अन्यथा पटस्य निराधारतयोत्पत्तिः स्यात् । तथा सति नोत्पद्येत । उत्पद्यमानं वा सर्वत्रोत्पद्येत । यथा घटो भगवान् यथा शब्दः । कुम्भकारकृतया प्राकृत एव घट उत्पद्यते । विषयतावत् । ननु भगवद्रूपः सिद्धत्वात् । शब्दोऽपि ताल्वोष्ठपुटव्यापारेणोत्पद्यमानः सर्वत्रैव श्रोतेषूत्पद्यते । एवं निराधारः पटोऽपि भवेत् । तथा सति तन्त्वाधारतयोत्पन्ने पटे यदि तन्तवो न प्रविशेयुस्तदा पटे तन्तुप्रतीतिर्न स्यात् । जायमाना वा भ्रान्ता स्यात् । अबाधितत्वाच्च न भ्रान्ता । शुष्का तु युक्तिः क्वापि पदमलभमाना स्वयमेव भ्रान्ता भवति । अत एकस्यैवाऽऽधारत्वमाधेयत्वं च कारणकाले कार्यकाले च व्यवस्थितं भवति । एवं महाभूतेषु त्रयम् आधारत्वं, आधेयत्वं, विशेषत आधेयत्वमिति । तदाह— **प्रविष्टान्यप्रविष्टानीति ।** अथवा महाभूतेषु पञ्चधा कारणत्वेन पूर्वमेव तत्र विद्यमानत्वेन महाभूतत्वेन चेत्यप्रवेशस्त्रेधा । कारणप्रवेशवत्प्रवेशत्वेन पृथक्प्रवेशत्वेन च प्रवेशो द्वेधा । तथा तेष्विति पञ्चधाऽपि । न तेष्विति पुनः पञ्चधा । एवं भगवति दशधा भवति । तथा सति सर्वत्र जगति भगवान् दशविधलीलायुक्तो दशधा ज्ञातव्यः ॥ ३४ ॥

व्याख्यार्थ—वेद में दो दो प्रकार से पदार्थो का निरूपण किया है । साकार निराकार, सावयव निरवयव, पूर्ण और (परिच्छिन्न) नपातुला । ये दोनों जिस प्रकार ज्ञान का विषय हो जाय अर्थात् जिस निरूपण से ये दोनों समझ में आ जावे उस प्रकार के निरूपण का यह आरम्भ है। यदि यह निरूपण न किया जाय तो दोनों में से एक पक्ष (पदार्थ) मायिक हो जाय । वेद तो दोनों को ब्रह्म कहता है। ऐसो दशा में यदि एक साकार या निराकार मायिक ठहर जाय तो वेद को एक अंश में झूठा होना पाया जाय । सो होने न पावे, दोनों तरह का भगवान् वेद का विषय रहा आवे । सब ही वेद को प्रमाणता सिद्ध हो जाय, इस-

लिये विषय¹ का निरूपण करते हैं—'यथा महान्ति'। पृथ्वी, जल, अग्नि आदि महा भूत स्थूल, सूक्ष्म, हृस्व, दीर्घ, सरल, वक्र आदि कार्यों में कारण रूप से प्रविष्ट हैं और फिर कार्यरूप से अनेक प्रकार अनुप्रविष्ट हुए हैं और प्रथमतः विद्यमान रहने से अप्रविष्ट ही है, और कहीं-कहीं अनुप्रविष्ट नहीं भी हैं।

इसी प्रकार से ही मैं भी (भगवान भी) सदादि स्वरूप से सर्वत्र विद्यमान रहते भी कारण रूप से (तत्व रूप से) प्रविष्ट होता हूं और जीवादिरूप से अनुप्रविष्ट होता हूं। वास्तव में तो सर्वत्र पहले से ही विद्यमान होने से प्रविष्ट नहीं हूँ, न कारणरूप हूं। प्रविष्ट और अनुप्रविष्ट के अन्वय को लेकर दो वाक्य होते हैं, इसलिये पुनः शब्द कहा है, किंवा महाभूत और भगवान् दोनों के दो वाक्य होते है और दोनों में न कार का अन्वय है, इसलिये पुनः शब्द कहा, अन्यथा नकार का अन्वय 'महान्ति भूतानि' इसके साथ ही होता।

कारण कार्य में प्रवेश करता है और कार्य भी कारण में मिला ही पैदा होता है। यदि कार्य में कारण का पीछे भी प्रवेश न रहता तो पटरूप कार्य की उत्पत्ति निराधार माननी पड़ती, किन्तु ऐसा नहीं है। तन्तु कारण रूप से प्रथम विद्यमान रहते है, किन्तु पट कार्य हो जाने पर भी वे प्रवेश करते ही हैं, पहले उनका कारण रूप है, और होने के अनन्तर उनका रूप आधार रूप है। यदि आधार रूप से कारण का अनुप्रवेश न हो तो पट की उत्पति हो न हो। और जो पट समवेत रूप से न पैदा होता हो तो फिर हर कहीं पैदा होने लगे। तन्तुओं सेही पट, मिट्टी से ही घर पैदा

१. वेदेन हि' यहां से लेकर 'विषयोनिरूप्यते' पर्यन्त ३, ४ पंक्ति सुबोधिनी में 'यथा महान्ति' इस श्लोक का निचोड़ परोक्ष भाषा में कह दिया है। वह इस तरह से-पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश बड़े भूत हैं और घट आदि पदार्थ छोटे भूत हैं किन्तु ये सब जुदे-जुदे मालूम पड़ते हैं। पृथ्वी से अग्नि, अग्नि से जल इत्यादि और जो इन महाभूतों से बने छोटे भूत घट आदि हैं वे भी पंच महाभूतों से बने रहने पर भी जुदे-जुदे दीखते हैं इसका क्या कारण है? इसका उत्तर देते हैं कि— प्रतिष्ठानि अनुप्रविष्टानि, अप्रविष्टानि। मूलभूत आप श्री कृत महाभूत तो किसी के प्रत्यक्ष में आते ही नहीं है। जो भी प्रत्यक्ष में आ रहे हैं वे सब पञ्चीकृत हैं। सुपञ्चीकृत महाभूत साक्षात् ब्रह्म हैं जो सच्चिदानन्द है। उन सच्चिदानन्दात्मक महाभूतों से ये पञ्चीकृत महाभूत और सम्पूर्ण जगद्वर्ति पदार्थ तैयार हुये हैं। इनमें साकार निराकार सावयव निरवयव पूर्ण परिच्छिन्न सब पदार्थ आ रहे हैं। ये सब भगवान् हैं और इसका वेद वर्णन करता है। पञ्चीकृत पदार्थों में आकाश है। यह सब पदार्थों से पृथक् दीखता है और निराकार भी है, यह क्यों? तो इसका उत्तर यह है कि प्रविष्टानि अप्रविष्टानि। पंजीकरण में प्रत्यक्ष महाभूत प्रत्येक महाभूत में भागतः प्रविष्ट है। ऐसा होने से ही वे अपने-अपने दर्शनीय स्वरूप में आये हैं। फिर जब इनसे कार्य होते हैं तब ये उन कार्यों से कहीं पुनः प्रविष्ट होते हैं और अप्रविष्ट भी हैं। घड़े में मिट्टी की अवस्था से ही प्रकाश प्रविष्ट है, किन्तु फिर भी घटाकाश रूप से वह अनुप्रविष्ट है और अपने स्थान में पहले से ही विद्यमान था, इसलिये वह अप्रविष्ट ही है। इसी प्रकार से परब्रह्म भगवान् भी सत्चित् आदि रूप से सम्पूर्ण जगत् में प्रविष्ट है और फिर देहादि कार्यों के बन जाने पर जीव और अन्तर्यामी रूप से अनुप्रविष्ट है। किंवा तत्वों में भी देवरूप से पुनः प्रविष्ट होते हैं और सृष्टि के पहले ही नित्य वर्तमान हैं इसलिए अप्रविष्ट ही रहते हैं यह श्लोक का सम्पिण्डित तात्पर्य है।

होता है—यह नियम न रहे। कारण में कार्य, समवाय सम्बन्ध से मिला हुआ ही पैदा होता है। इसलिये ही पूर्वोक्त नियम प्रत्यक्ष हैं, जैसे घट भगवान्, तैसे शब्द। शब्द के कारणों में शब्द पहले से ही वर्तमान है और मिला हुआ ही प्रकाशित होता है। यदि कोई कहे कि घड़ा नित्य कहां है, उसे तो कुम्हार बनाता है, नित्य होता तो बनाया कैसे जाता ? इसका उत्तर देते हैं कि कुम्हार तो प्राकृत विषयता रूप, किंवा सत्यासत्य घट को बनाता है भगवद्रूप घट को नहीं बनाता। भगवद्रूप घट तो नित्य है। नित्य ही घट पश्चात् उसमें अनुप्रवेश करता है। 'गणं युगपदा विशत्' 'तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत्' आदि भागवत वेद आदि के वचनों से यह स्पष्ट है शब्द भी नित्य है किन्तु तालु, ओष्ठ पुट आदि की चेष्टा से अभिव्यक्त होता हुआ श्रोत्रों में उत्पन्न कहा जाता है। यही अनुप्रवेश पट में भी है अन्यथा पट निराधार पैदा होता, पर होता नहीं है। यदि तन्त्वाधार पट में आधार रूप से तन्तु प्रविष्ट न हुये होते तो तन्तुओं की प्रतोति पट में न होती, पर होती तो है। अथवा भ्रान्त मानी जाती, किन्तु सो नहीं है। प्रतीति होती है और वह भ्रम भी नहीं है। इस प्रमाण सिद्ध पदार्थ को असिद्ध करने के लिये यदि युक्ति लड़ाई जाय तो वह स्वयं भ्रम रूपा सिद्ध होगी।

यद्यपि ब्राह्म और पाद्म दोनों विश्व भगवद्रूप हैं तथापि दोनों भिन्न-भिन्न हैं। जैसे घटित पात्र और पूरित पात्र। यद्यपि दोनों ताम्र से ही बने हैं तथापि भिन्न-भिन्न हैं। वेदोक्त ब्राह्म जगत् में भी दो क्रम हैं। युगपत और क्रमिक सर्ग, और पौराणिक सर्ग में भी दो भेद हैं। पूरित पात्र की तरह जो पाद्म सर्ग हैं वह उसमें कुछ माया का भी अंश है और जैसे पूरित पात्र में आकार संचा का रहता है और सब अंश ताम्र ही ताम्र है। इस पौराण पाद्म सर्ग में दो बीज हैं। आत्मा और माया। वैदिक ब्राह्म जगत् में माया का कोई भी अंश नहीं, सब कुछ आधार आधेय ब्रह्म ही ब्रह्म हैं। जैसे घटित पात्र में आकार आदि सब कुछ घड़ के तैयार किये जाते हैं। इस तरह ब्राह्म जगत् में भी 'एको हं बहुस्यां' इस इच्छा से और 'तस्माद्वा एतस्मात्' इस वाक्य समूह से क्रम से सब कुछ भगवान् होता जाता है। इसमें अन्य का किसी का सम्बन्ध नहीं है। इसी ब्राह्म सृष्टि में दूसरा युगपत्सर्ग है। 'यथाग्नेः क्षुद्राः' 'तथाऽक्षरात् संभवतीह विश्वं' इत्यादि वाक्यों में ब्राह्म युगपत्सर्ग का निरूपण है। इसमें भी दूसरे किसी का सम्बन्ध नहीं है। शुद्ध ब्रह्म ही ब्रह्म है।

'इदं सर्व यदयमात्मा' 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' 'पुरुष एवदं सर्वम्' 'स आत्मानं स्वयमकुरुत' इत्यादि श्रुति समूह केवल ब्रह्म से ही विश्व की उत्पत्ति कह रहो है। शुद्ध ब्रह्ममात्र है।

किन्तु पाद्म सर्ग पुराणोक्त है। यह पूरित पात्र की तरह द्विबीज है। जैसे पात्र बनाने वाले पात्र का संचा बनाकर पीतल के रस को उसमें भर देते हैं। वह रस संचे में जाकर पात्र का आकार ग्रहण करता है। इसमें दो कारण हैं, पीतल और संचा। इसी तरह ब्रह्म अपनी माया (प्रकृति) शक्ति का सहयोग करता है तब यह विश्वाकार हो जाता है। इसमें दो बीज हैं। ब्रह्म और माया

यह सत्यानृत का मेल है। इस विषय में 'द्वे अस्य बीजे' 'द्विधा समभवत् बृहत्' 'माया[1]नाम महाभाग ययेदं निर्ममे विभुः' 'सद सद्रूपया[2] चासौ गुणमय्याऽगुणोविभुः' इत्यादि पुराण वाक्य प्रसिद्ध हैं। इस तरह ये तीन प्रकार के सर्ग हैं। इनकी पारमार्थिकी सत्ता है। अब एक अन्य भी विश्व है जो माया मनोमय है और जिसके विषय में 'विद्धि माया मनोमयम्' 'मायामयं वेद स वेद वेदम्' इत्यादि पुराण वाक्य हैं। इसको प्रतिमासिक सत्ता है, किंवा वाचनिकी सत्ता है। यह जगत् केवल कहने मात्र का है, वास्तव में असत् है। इस तरह चार प्रकार का जगत् है और तीन प्रकार को सत्ता है। यह सिद्ध होता है। यदि ख पुष्पादि की वाचनिक सत्ता को भी सत्ता स्वीकार किया जावे तो फिर चार ही प्रपंच और चार ही सत्ता होती है। उनमें दो प्रपंच उत्कृष्ट (ब्रह्म) सत्ता वाले हैं। एक वैदिक ब्राह्म कल्पीय जगत् और दूसरा पाद्म कल्पीय पौराण प्रपंच। तीसरा पौराण प्रपंच निकृष्ट मायिक व्यवहारिक सत्ता वाला विश्व है। चौथा विश्व बिलकुल असत् है। जिसकी सत्ता केवल वाचनिक है, तथापि सब प्रपंचों में भगवान् की स्थिति तो है ही, कहीं किसी रूप से तो कहीं किसी रूप से। ये बात 'सोनु प्रविष्टो भगवान्' 'परेण विषता स्वेन मानया' इत्यादि भागवत् में सिद्ध है।

इसलिए एक ही महाभूत को आधारत्व आधेय और विशेष आधेयत्व सिद्ध है। कारण काल में और कार्यकाल में सब ही पृथ्वी आदि महाभूतों को आधारत्व और आधेयत्व है। इस पक्ष में सप्रभेद ही होते हैं, इसलिये पक्षान्तर कहते हैं कि 'अथवा'। पृथ्वी आदि पांचो महाभूत पांच प्रकार से कारण हैं, इसलिये वह अप्रवेश है। वहां कार्यों में पहले से ही विद्यमान है। इसलिए इस तरह भी अप्रवेश है और स्वयं महाभूत हैं ही, इसलिए भी अप्रवेश कहा जाता है। यह अप्रवेश तीन प्रकार का है और प्रवेश दो प्रकार का है। कारण प्रवेश सहित प्रवेश और विशेष रूप से पृथक् प्रवेश होने से। इस तरह 'तथातेषु'। इस मूल के कथनानुसार पांच प्रकार हुये। अब 'न तेषु' भी मूल में पद है। तदनुसार पांच प्रकार अन्य भी होते हैं। इस तरह जैसे पंच महाभूत दस प्रकार (कार्य और कारण) से विद्यमान है, यही दस प्रकार भगवान् में भी है। इससे यह सिद्ध होता है कि सम्पूर्ण विश्व में दशविध लीलायुक्त भगवान् दस तरह से ज्ञातव्य हैं। इस तरह निरूपण करने में वेदों को किसी अंश में भीं अप्रामाण्य नहीं आता है ॥ ३४ ॥

आभास—एवं प्रमेयं प्रमाणं विषयं च निरूप्य निरूप्यान्तरशङ्कां वारयन् त्रिष्वप्युपपत्तिं वदति—

---

१. शुद्धातु भगवल्लीला, भगवानेवैवं प्रकारेण भवतीति। योग मायोपबृंहिता तु, इदं जगदेकं रूपं भगवतः प्रवाहानादि प्रकारेण आविर्भाव तिरोतिरोभावयुक्तमनाद्यनन्तं वर्तते। तेनैकदेशे एव भगवति विश्वस्य लय उक्तो भवति। आविर्भावेपि तथा।

२. वैदिके तु स्वधर्म स्वशक्ति काल कर्म स्वभावानां सृष्टिः प्रथमा। अतो अनन्तगुण पूर्व एव भगवान् स्वस्य मायया शक्त्या सर्वभवनसामर्थ्यरूपया इदमात्मभूतं जगत् सृष्टवान् मायायाः स्वरूपमाह—सदसद्रूपयेति। सात्युच्चनीच सर्व प्रकृति रूपा। तस्यामात्मानं संयोज्य प्रकटी कुर्वन् जगद्रूपेण जायते। एवं सति सुगमा सृष्टिर्भवति। सुवर्ण कारणां प्रतिमादि निर्माणवत्। सा हि भगवन्निकटे तिष्ठति। वेदेनु माया साधन राहित्यैव स्वत एवात्मानं जगद्रूपं करोतीत्युच्यते। घटित पूरण वद्वैदिक पौराणिक जगतो भेदः।

आभासार्थ—इस तरह से भगवत्स्वरूप का वेदों का और विषय जगद्रूप भगवान् का निरूपण करके कहीं कुछ निरूपण करने से रह गया हो तो उसकी आशंका दूर करने के लिये प्रमेय प्रमाण और विषय तीनों में युक्ति कहते हैं—

श्लोक—**एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनाऽऽत्मनः ।**
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत्स्यात्सर्वत्र सर्वदा ।। ३५ ।।

श्लोकार्थ—परमात्मा के तत्त्व को जानने की इच्छा रखने वाले को इतना जानना आवश्यक है कि अन्वय और व्यतिरेक से जो सब जगह और सब काल में विद्यमान रहता हो वही असल तत्त्व है और वही परमात्मा भी है ।। ३५ ।।

सुबोधिनी—**एतावदेव जिज्ञास्यमिति** । निरूपणं तु जिज्ञासानुरोधेन । जिज्ञासा तु त्रिष्वेव न तु शास्त्रान्तरवत् षोडशधा । तस्यात्मोपयोगाभावात् । आत्मार्थमेव हि जिज्ञास्यम् । तदाह—**तत्त्वजिज्ञासुनाऽऽत्मन इति** । प्रमेयं ज्ञानम्, प्रमाणं वैराग्यम्, विषयो दशविधलीलाभक्तिः । आत्मनस्त्वेतावदेवोपयुज्यते । अन्यत्तु देहाद्यर्थम् । एवं निरूप्याऽऽन्तरं निराकृत्य त्रिष्वप्युपपत्तिमाह—**अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत्स्यात्सर्वत्र सर्वदेति** । अन्वयव्यतिरेकाभ्यामित्युपपत्तिः । यदित्यादि त्रयमुद्देश्यम् । तत्र सर्वं भगवान् कथमित्याकांक्षायामन्वयव्यतिरेकाभ्यामिति । सर्वत्र भगवतोऽन्वयोऽस्ति । घटः सन् पटः सन् भासत इति प्रियमिति च सर्वत्रैवैकस्याऽन्वयः । अन्यथा एकशब्दानुवृत्तिः प्रतीत्यनुवृत्तिर्वा न स्यात् । विशेषेणाऽतिरिच्यत इति व्यतिरेकः । घटादिभ्यः किमतिरिच्यते । घटस्तु घटान्नाऽतिरिच्यते तथा पटः पटात् । किन्तु सद्घटादप्यतिरिच्यते पटादपि । एवं सर्वत्र यत्सर्वं सत्सर्वस्मादतिरिच्यते तद्ब्रह्मैव । नन्वेकमेव ब्रह्मत्वसाधकमस्तु किं द्वाभ्यामिति चेन्न । अन्वयेन ब्रह्मत्वं न सिद्धयति । जगति जगतोऽप्यन्वयात् । यद्यपि घटादेर्व्यतिरिच्यते जगत्तथापि जगतो न व्यतिरिच्यते । खपुष्पादिकं तु जगतो व्यतिरिच्यते परं नाऽन्वेति । सत् जगतो व्यतिरिच्यते । भगवतोऽपि सत्त्वात्कारणस्याऽपि सत्त्वात् । अतो यस्याऽन्वयव्यतिरेकौ तदेव सर्वम् । किञ्च । यत्सर्वत्र स्यात् । यद्वा सर्वदा देशकालौ यस्य परिच्छेदकौ न भवतः । तत्राप्यन्वयव्यतिरेकाभ्याम् । माया ह्यन्वयेन परिच्छिद्यते । न हि मायाविषये आभासे सदन्वयोऽस्ति । न चाऽऽभासः सतो न व्यतिरिच्यते स्वस्यैवाऽसत्त्वात् । भगवांस्तु मायायामप्यस्ति । अतिरिक्तेऽपि । एवं कालेऽपि । विषये घटे सत्कारणम्, सत्कार्यम्, सदाधारः, सदाधेयम् । सत्त्वेऽप्यतिरिक्तता । न हि मृदेव घटः । तदा मृदवस्थायामपि घटप्रतीतिः स्यात् । घटशब्दप्रयोगश्च । एवं कार्ये सर्वदा पञ्चधा भगवानन्वेति । पञ्चधा च व्यतिरिच्यते । घटो हि पटादिभ्यो व्यतिरिच्यते । कारणादपि व्यतिरिच्यते । घटान्तरादपि व्यतिरिच्यते । आविर्भावात्तिरोभावाच्च व्यतिरिच्यते । घटस्य ह्याविर्भावस्तिरोभावश्च । अत एकस्मिन्घटे आविर्भावतिरोभावाभ्यां दशधा भगवानस्ति । एवं सर्वत्र दशलीलायुक्तो भगवान् । अनेन स्वरूपं भगवान् । देशप्रतीतिस्तु मायिकी । कालप्रतीतिस्तु लीलया । एवं देशकालवस्त्वपरिच्छिन्नं देशकालवस्तुरूपं चाऽहमेवेति । एतावदेव जिज्ञास्यम् । इदमेवोपपत्त्या विचारितम् । उत्पत्त्या च । "**पुरुष एवेदं सर्वम्**" "**विततस्तम-**

धितिष्ठती" ति । उद्देशे च "न यतोऽस्ति किञ्चित्" "प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तमि" ति च । एवं भगवतो ब्रह्मणः शिक्षा निरूपिता । ब्रह्मरूपं जगज्ज्ञातव्यं जगतो व्यतिरिच्यत इति न तत्राऽऽसक्तिः कर्त्तव्या । एकस्मिन्नपि पदार्थे सर्वलीलासहितो भगवानस्तीति च देशकालवस्तुरूपः सन् देशकालवस्तुभ्यो व्यतिरिच्यत इति ।। ३५ ।।

व्याख्यार्थ—एतावतेव जिज्ञासामिति–जिज्ञासा के अनुसार ही वस्तु का निरूपण होता है। यहां श्री भागवत शास्त्र प्रमेयादि तीन पदार्थों की ही जिज्ञासा की गई है। अन्य मोहक शास्त्रों की तरह सोलह पदार्थों की नहीं। सोलह पदार्थों की जिज्ञासा का आत्मा के लिए कुछ भी उपयोग नहीं है। आत्मा के लिए ही सब कुछ विचारणीय होता है। सो कहते हैं—'तत्व जिज्ञासुनाऽऽत्मनः' १. भगवान् का स्वरूप ही प्रमेय है। ज्ञान का साधन होने से, ज्ञान का विषय होने से और ज्ञानरूप होने से। यहां प्रमेय शब्द से भगवत्स्वरूप लिया गया है। अर्थात् भगवत्स्वरूप का उपयोग ज्ञान रूप से होता है। २. प्रमाण अर्थात् वेद और वेदोक्त साधन यज्ञादि वेद कर्म का प्रतिपादन करते हैं और भगवद्भक्त को काम्यादि कर्मों से वैराग्य है, अतएव वैराग्योपयोगी होने से वेदादि प्रमाण को यहां वैराग्य शब्द से कहा है और ३. विषय शब्द से दशविध लोला में भक्ति (स्नेह)। सम्पूर्ण विश्व ही विषय है, यह विरुद्ध धर्मों का आधार है। यह दश प्रकार की लीलाओं की भक्ति में उपयोगी होता है। इसलिए विषय शब्द से विश्वरूप दशविध भगवल्लीलाओं की भक्ति कही गई है। बस आत्मा के उद्धार में इन तीनों का ही उपयोग है और जो कुछ शास्त्रोक्त साधनादि हैं, वे सब देहादि के उपयोगी हैं। इस तरह इन प्रमेयादि के निरूपण से ही अन्य शास्त्रोक्त आंतर साधनादि का निराकरण करके इन तीनों के विषय में उपपत्ति (युक्ति) का निरूपण करते हैं। 'अन्वयव्यतिरेकाभ्यां' इत्यादि। अन्वय व्यतिरेकाभ्यां यह युक्ति है और 'यत्' शब्द से अप्रमेयादि उद्देश कहा है। अनु एति इति अन्वयः। पदार्थ मात्र के साथ जो लगाव है वह अन्वय, और जो सब से बढ़ जाय वह व्यतिरेक।

इस विश्व में असल तत्व क्या है? इसका उत्तर इतना ही है कि जो तत्व इस सारे विश्व के साथ लगा हुआ रहे और जो इससे बढ़कर भी विद्यमान रहे वह तत्व ही असल तत्व है। यही इस सिद्धान्त को समझने के लिये उपपत्ति (युक्ति) है। भगवान परब्रह्म सच्चिदानन्द है। यह वेद से सिद्ध है। सत् चित् आनन्द इन तीनों में से पहले 'सत्' भगवान् को ही लेते हैं। इस विश्व में सत् का अन्वय है अर्थात् यह सत् भगवान् सबके साथ लगा रहता है। घट है, पट है, जल है, वस्तु है, इत्यादि सम्पूर्ण जगत् के साथ है। 'है' का अन्वय हो रहा है। केवल सत् का ही नहीं चित्त और आनन्द का भी अन्वय हो रहा है। सब ही पदार्थों के साथ ज्ञान लगा हुआ है, और सब हो पदार्थ के साथ प्रियता लगी हुई है। ये अस्ति भाति प्रिय, सत् चित् आनन्द तीनों सब जगद्वर्त्ति पदार्थों के साथ लगे हुये हैं। इस तरह सर्वत्र सच्चिदानन्द भगवान् का ही अन्वय है। इस अन्वय से सिद्ध होता है सम्पूर्ण जगत् सच्चिदानन्दमय है। यदि सब जगत् भगवद्रूप न होता तो सत् चित् आदि पद साथ में न लगाये जाते और उनका अनुभव भी न होता।

अब व्यतिरेक अपने विशेष से जो सबसे अधिक ही रहता रहै वह व्यतिरेक। अब विचारना यह है कि घट पटादि जगत् से क्या अधिक रहता है। घट से घट तो अधिक है नहीं,

और पट से पट भी अधिक नहीं है, किन्तु सत् ही घट से अधिक रहता है। घटः सन् पटः, सन् घट है, पट है। यहां घट से अधिक सत् ही रहता है। इस तरह जो पदार्थ सर्वत्र सबसे बढ़ा हुआ रहे वह ब्रह्म ही है। इसलिए ब्रह्म का ही सर्वत्र अन्वय है और ब्रह्म ही सबसे बढ़ता रहता है, इस-लिए सबका वस्तु तत्त्व ब्रह्म ही है।

यहां यह प्रश्न होता है कि ब्रह्मत्व को सिद्ध करने के लिए एक अन्वय ही बहुत था फिर दो क्यों कहते हो, तो उत्तर देते हैं कि केवल अन्वय से जगत् का ब्रह्मत्व सिद्ध नहीं होता। क्योंकि जगत् में जगत् का भी अन्वय रहता है इसलिए व्यतिरेक भी साथ में दिया है। यद्यपि घट से जगत् व्यतिरिक्त है तथापि जगत् से जगत् व्यतिरिक्त नहीं हो सकता। आकाश कुसुम वन्ध्या पुत्र आदि यद्यपि जगत् से व्यतिरिक्त है। तथापि उनके साथ सत् का अन्वय नहीं है। सत् तो जगत् से व्यतिरिक्त है और उसका अन्वय भी है। भगवान् भी सत् है और कारण भी सत् है। अब इससे यह सिद्ध हो चुका कि जिसका अन्वय और व्यतिरेक हो वह भी सब कुछ है। सदादि रूप से भग-वान् का अन्वय व्यतिरेक है, इसलिए भगवान् ही विश्वरूप हैं।

एक बात और भी है जो वस्तु सर्वस्थलों में विद्यमान् रहता हो वह वस्तु ही सब कुछ है और यह भी अन्वय व्यतिरेक से। देश काल से जिसका नाप तौल न हो सकता हो, वह ही सब कुछ है। माया में अन्वय का परिच्छेद है, किन्तु माया के विषय आभासादि में सत् का अन्वय नहीं है। यदि कहो कि आभास सत् से व्यतिरिक्त नहीं है सो नहीं, किन्तु व्यतिरिक्त है ही। इसका उत्तर यह है कि आभास स्वयं ही असत् है और भगवान् तो सम्पूर्ण जगत् में है, माया में भी है और सबसे अतिरिक्त सदादि में भी है। इस तरह काल में भी विद्यमान् है। अब यह सिद्ध हो गया कि एक ही घट रूप विषय में ही कारण भी सत् है, कार्य भी सत् है, आधार भी सत् है और आधेय भी सत् ही है और सत् (वर्तमान) रहकर भी व्यतिरिक्त है। दृष्टान्त भी यही है। मृत्तिका ही घट नहीं है। यदि ऐसा होता तो मृत्तिका अवस्था में भी घट को प्रतीति होती और घट का उपयोग भी होता। न प्रतीति होती और न कोई घट कहता भी। इसलिये मृत ही घट नहीं है। घट कोई अलग है भी। इसी तरह दृष्टान्त में भगवान् भी जगत् में पांच प्रकार से अन्वय को प्राप्त होता है। भगवान् कारण, भगवान् कार्य, भगवान् आधार, भगवान् आधेय और इनसे अतिरिक्त के साथ भी भगवान् का अन्वय है।

दृष्टान्त में घट का व्यतिरेक कभी ५ प्रकार से है। घटादि पटादि से व्यतिरिक्त है। कारण से व्यतिरिक्त है। अन्य से भी व्यतिरिक्त है और आविर्भाव से व्यतिरिक्त है तथा तिरोभाव से भी व्यतिरिक्त है। घट का आविर्भाव भी होता है और तिरोभाव भी है। यही बात दृष्टान्त में भी है। एक ही घटादि जगत् में पूर्वोक्त प्रकार से आविर्भाव तिरोभाव के द्वारा दस प्रकार से भगवान् विद्यमान है। इस प्रकार से भगवान् दश लीला सहित ही सब जगत् में विद्यमान रहता है। इस रीति से इस विश्व का वास्तविक स्वरूप भगवान् है। देश (अधिष्ठान) को प्रतीति तो मायिक है (प्रातिभासिक है) और काल की प्रतीति लीलाकृत है। "चेष्टा माहुः"। इस तरह सिद्ध हुआ है कि देश काल और वस्तु से नपा तुला नहीं और देश काल वस्तुओं का वस्तु स्वरूप अहं (भगवान् में) ही हूं और यह सर्वात्मा भगवान् ही जिज्ञास्य (जानने योग्य) है। यह उपपत्ति ग्रन्थ (पंचमाध्याय

से दशमाध्याय पर्यन्त) से विचारा गया है और यही पहले प्रथमाध्याय से चतुर्थ पर्यन्त के ग्रंथ में विचारा गया है। एव श्रुति वाक्य भी सम्पूर्ण जगत् को भगवद्रूप कहती है। "पुरुष एवेदं सर्वं" "वितस्तिमधितिष्ठति" "न यतोस्ति किञ्चित्" "प्रादेश मात्रं पुरुषं वसन्तम्" इति च।

इस तरह भगवदत्त ब्रह्मा का शिक्षा निरूपण हुआ। इसका सार यह है कि सम्पूर्ण जगत् भगवान् का ही स्वरूप जानो किन्तु भगवान् तो जगत् से भी अधिक है इसलिए जगत् में ही आसक्ति न करनी चाहिये। एक-एक पदार्थ में सर्व लीला सहित भगवान् विद्यमान् है और देश काल वस्तु रूप होता हुआ भी देश काल वस्तुओं से अधिक अलग ही रहता है॥ ३५॥

आभास—एवं शिक्षा निरूप्य गर्वाभावे एतदनुसन्धानमेव कारणमित्याह—

आभासार्थ—इस तरह शिक्षा का निरूपण करके अब यह कहते हैं कि जगत्कर्त्तापन के गर्व को दूर करने के लिये भी इस शिक्षा का अनुसन्धान ही उपाय है।

श्लोक—**एतन्मतं समातिष्ठ परमेण समाधिना।**
भवान् कल्पविकल्पेषु न विमुह्यति कर्हिचित्॥ ३६॥

श्लोकार्थ—"सब कुछ भगवद्रूप हैं, अन्यथा, प्रतीति माया से होती है। भगवान् सर्व लीला सहित और सर्व दोष रहित हैं।" इस प्रकार के मेरे मत में परमोक्ष समाधि के द्वारा तुम प्रतिष्ठित हो। सभी जगत् के कल्प विकल्पों में मेरी माया तुम्हें कभी भी बाधक नहीं होगी॥ ३६॥

सुबोधिनी—एतन्मतमिति। सर्वं भगवान्। अन्यथाप्रतीतिर्मायया। सर्वत्र भगवान् सर्वलीलासहितः सर्वदोषविवर्जित इति एतन्मतं मम भगवतः। इदं हि भगवच्छास्त्रं मम आतिष्ठ। यथा तत्तन्मतानुसारिणस्तत्र तत्र प्रतिष्ठितास्तथा भवानप्यस्मिन्मते प्रतिष्ठितो भवतु। अतः कुतर्का बहव उत्पत्स्यन्ते ते सर्वेऽनुभवेनैव दूरीकर्त्तव्याः। तदाह—**परमेण समाधिनेति**। समाधिश्चित्तैकाग्र्यम्। सूक्ष्मदृष्ट्यैव तज्ज्ञातव्यम्। आपाततो दृष्ट्या विचारेण वा नैतन्मतं ज्ञातं भविष्यति। ज्ञाते त्वस्मिन्महाकल्पेऽवान्तरकल्पेषु च सृष्टिप्रलययोर्न मुह्यति। किञ्च। कर्हिचिदपि न मुह्यति कदाचिदपि माया तं न व्यामोहयति। अस्य मतस्य मायायाश्च विरोधात्। तत्रैव माया यत्रैवैतन्मतं नास्तीत्यर्थः॥ ३६॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ही सब कुछ है। इस भगवत्स्वरूप में जो कुछ अन्यथा भान हो रहा है वह भगवान् की माया से हो रहा है। इस जगत् में सब जगह सर्व लीला सहित भगवान् ही विद्यमान है और वह सब दोषों से रहित है। यह मेरा भगवान् का मत है। इस मेरे मत को भगवच्छास्त्र समझकर दृढ़ स्वीकार कर। जिस प्रकार उन-उन मतों में वे-वे मतानुसारी लोग प्रतिष्ठा पा रहे हैं। इसी प्रकार हे ब्रह्मन्! इस मेरे मत में तुम प्रतिष्ठा पाओ। ध्यान रखना इस मत में विभिन्न बुद्धियों कुतर्क बहुत से उपस्थित होंगे, उन्हें तुम अपने अनुभव से दूर करते रहना। सो ही कहते हैं—

'परमेण समाधिना'। चित्त की एकाग्रता को समाधि कहते हैं। इस बात को सूक्ष्म दृष्टि से समझना। ऊपर-ऊपर से देखने या विचारने से यह मेरा मत समझ में नहीं आवेगा। जब यह मेरा मत समझ में आ जायगा तब तुम या कोई भी महाकल्प और अवान्तर कल्पों में भी सृष्टि प्रलय के समय भूल न खाओगे। अथवा कभी भी न भूलोगे। जिसके हृदय में यह मत समा गया है उसे मेरी माया न भुलावेगी। इस मत का और माया का परस्पर विरोध है। जहां यह मत नहीं है वहां ही मेरी माया मोह करा देती है।। ३६ ।।

आभास—एवमुपदिश्य यत्कृतवांस्तदाह—

आभासार्थ—इस तरह भगवान् ने ब्रह्मा को उपदेश देकर जो कुछ किया सो कहते हैं—

श्लोक—**श्रीशुक उवाच—संप्रदिश्यैवमजनो जनानां परमेष्ठिनम् ।**
पश्यतस्तस्य तद्रूपमात्मनो न्यरुणद्धरिः ।। ३७ ।।

श्लोकार्थ—अजन्मा भगवान् पुरुषोत्तम ने प्रजाओं को परम पति ब्रह्मा को इतना आदेश देकर ब्रह्मा के देखते-देखते श्री हरि ने अपना स्वरूप छिपा लिया।३७।

सुबोधिनी—संप्रदिश्यैवमिति । एवं सम्यक्प्रकारेणाऽनुभवारूढपर्यन्तं स्वमतमुपदिश्य स्वयं तिरोदधे बाह्यतः। ननु सर्वरूपो भगवान् सर्वप्रतिकृतिवत् तत्कथं न स्थापितवान् । तथा सति सृष्टिः सुगमा भवति? तत्राऽऽह—**अजन इति**। न जनः अजनः। जनाद्व्यतिरिक्तः । इदं हि रूपं न विश्वरूपं किन्तु तस्माद्व्यतिरिक्तं तस्याऽऽधिदैविकम् । अत एतद्ध्यानादेव कार्यं नत्वेतद्दृष्ट्वा कर्त्तव्यम् । अप्रतिकृतिरूपत्वात्। जनस्तु जनस्य प्रतिकृतिर्न त्वजनः । तर्हि कथमयं जनसृष्टिं ज्ञास्यति? तत्राऽऽह—**जनानां परमेष्ठिनमिति** । जायन्त इति जनास्तेषां परमो नियामको भावः। यतस्ते **जायन्ते** तिष्ठन्ति तदधीनाश्च भवन्ति तस्मिन्पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी जनोत्पादनाद्यधिकारी । तस्येदं रूपं ध्यानेनोपयोगि न तु साक्षात्। तादृशनिर्माणे त्वस्य न सामर्थ्यम्। यतः पश्यत एव तस्य तद्रूपं न्यरुणत् आवृतवान्। ननु परमकृपालुः किमिति तद्रूपमावृतवान्? तत्राऽऽह—**हरिरिति**। ब्रह्मणो जनानां च सर्वदुःखहर्त्ता। अतो निर्बन्धनिवृत्त्यर्थमुपसंहृतवानित्यर्थः।।३७।

व्याख्यार्थ—इस प्रकार अच्छी तरह अनुभव में आ जावे वहां पर्यन्त अपना मत ब्रह्मा को कह कर श्री हरि भगवान् ने अपना रूप बाहर से छिपा लिया। यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि जो भगवान् सर्वरूप है तो सब की छवि जैसे यहां रखी है वैसे ही अपने रूप को भी इस जगत् में क्यों न स्थापित रहने दिया। ऐसा करते तो सृष्टि का कार्य सुगम हो जाता ? इसका उत्तर देते हैं—'अजनः'। भगवान् साधारण जन नहीं है। जनों से पृथक् है । भगवान् का जो रूप ब्रह्मा ने देखा था वह विश्वरूप नहीं था। वह तो जगद्वर्ती सब ही रूपों से जुदा रूप, आधिदैविक रूप था। इसलिए इसके ध्यान करने से ही जगन्निर्माण कार्य हो सकता है किन्तु देखकर करने से नहीं हो सकता। क्योंकि यह प्रतिकृति (छवि)रूप नहीं है। दुनियां में जो जन हैं वे तो जप की प्रतिकृति हैं। अजन

नहीं है। तो फिर ब्रह्मा जन सृष्टि में निर्माण को कैसे समझ सकेगा? तो कहते हैं कि—'जनानां परमेष्ठिनाम्' अर्थात् पैदा होने वाले प्राणियों का ब्रह्मा परम नियामक है। आन्तरपति है।

'परमे पदे तिष्ठति स: परमेष्ठी'। जिससे जन पैदा होते हों, जिसके सामर्थ्य से स्थिर रहें और जिसके अधीन रहते हों। उस पद पर जो स्थित हो वह परमेष्ठी कहा जाता है। अर्थात् ब्रह्मा जनों की उत्पत्ति आदि का अधिकारी है। अतएव भगवान् का वह रूप ध्यान के द्वारा जगन्निर्माण कार्य में उपयोगी होगा। साक्षात् नेत्र के सामने रहने की अपेक्षा नहीं। यदि नेत्र के सामने वह रूप रहता तो भी वैसा जगत् तो ब्रह्मा फिर भी नहीं बना सकता था। इसलिए भगवान् ने उस रूप को दिखाकर जल्दी ही छिपा लिया। यदि कहो कि भगवान् तो परम कृपालु है फिर उस रूप को क्यों छिपा लिया तो कहते हैं कि—'हरि:'। ब्रह्मा और प्राणियों के दु:ख दूर करने वाले भगवान् हैं, अर्थात् चिरकाल दीखता रख लेने से ब्रह्मा कदाचित् उसको रखने के लिए आग्रह करे तो उसे दु:ख होगा, इसलिए दिखाकर उसकी प्रार्थना के पहले ही छिपा लिया।। ३७ ।।

आभास—ततो यज्जातं तदाह—

आभासार्थ—इसके बाद जो हुआ सो कहते हैं—

श्लोक—**अन्तर्हितेन्द्रियार्थाय हरये विहिताञ्जलि:।**
सर्वभूतमयो विश्वं ससर्जेदं स पूर्ववत्।। ३८ ।।

श्लोकार्थ—जब भगवान् ने नेत्र गृहीत रूप को छिपा लिया तब सर्वभूतमय ब्रह्मा ने भी भगवान् को हाथ जोड़कर पूर्वकल्प की तरह इस जगत् को पैदा किया।। ३८ ।।

सुबोधिनी—**अन्तर्हितेन्द्रियार्थायेति**। इन्द्रियाणामर्थ इन्द्रियार्थ। अन्तर्हितश्चाऽसाविन्द्रियार्थश्च। भगवान् सर्वेन्द्रियातीतोऽपि स्वेच्छया भक्तेन्द्रियाणामर्थरूपो जात:। सर्वेषामपि भगवानर्थ इति सुतरां भक्ताश्रयाणामिन्द्रियाणां चेतनसृष्टिपक्षे तेषामेव मुक्त्यर्थं जडपक्षे तदधिष्ठातॄणां कृतार्थत्वाय भगवानर्थो भवति। एवं सति ब्रह्मण: समष्टित्वात् तस्य तदंशानां व्यष्टीनां च निरिन्द्रियत्वं स्यात्। अतस्तेषां दु:खनिवृत्तये पूर्वमिन्द्रियार्थोऽपि सन्निदानीमन्तर्हित: इन्द्रियाविषयो जात:। एवंभवनं ब्रह्मण उपकारायेति ज्ञापयति— **हरय इति**। अत एव विहितोऽञ्जलिर्येन। विशेषेण हितोऽञ्जलिर्वा यस्य। भगवांश्चेज्जीवेभ्य उपकरोति तदा जीवै: स उपकारोऽञ्जलिना ग्राह्य:। अयमेव जीवानां विहित:। नत्वन्य: कश्चनोपकार: सेवा वा भगवत: कर्तुं शक्या। भगवत्स्वरूपस्य दृष्टत्वात्। इदमेव तेषां बहु यद्भगवता क्रियमाणं न निषेधन्ति। शास्त्रतो विहितोऽपि ब्रह्मणा स्वयमप्यनुष्ठित इति विहित: कृत इत्यर्थ:। ततो भगवदुक्तार्थानुसन्धानेन स्वयं सर्वभूतमयो जात:। आत्मनोऽपि तथाभावस्य विहितत्वात्। भूतशब्देन प्रादुर्भूतमात्रमुच्यते। भगवदाज्ञया वा यावत्प्रादुर्भूतं तत्सर्वं ब्रह्मणि प्रविष्टमिति वा। तदनन्तरं विश्वं सृष्टवान्। तदा आत्मसृष्टेर्वैषम्यं न भविष्यति। अत एव ब्रह्मा स: पूर्ववदेव जात:। जगच्च पूर्ववदेव कृतवान्। यथा भगवता सृष्टं, यथा वा स्वेनैव सृष्टमिति।। ३८ ।।

व्याख्यार्थ—इन्द्रियों का जो अर्थ-गोचर, वह इन्द्रियार्थ । भगवान् ब्रह्मा की इन्द्रियों के विषय भी हुए और छिप गये। भगवान् किसी की इन्द्रियों से जाने नहीं जाते तथापि अपनी इच्छा से भक्तों की इन्द्रियों के विषय हो जाते हैं। वास्तव में तो भगवान् ही सबके परम पुरुषार्थ रूप है और सामान्यत: पदार्थरूप भी स्वयं है। अतएव चेतन पक्ष में अपने भक्तों की मुक्ति करने के लिए उनकी इन्द्रियों को साक्षाद्दर्शन देते हैं। विषय हो जाते हैं और जड़ इन्द्रियों के पक्ष में उनको भी कृतार्थ करने किंवा उनके अधिष्ठाताओं को कृतार्थ करने के लिए इन्द्रियगोचर हो जाते हैं। यदि भगवान् ब्रह्मा के इन्द्रियार्थ रूप ही रहे आते तो सर्व समष्टि रूप ब्रह्मा और उसके अंश रूप व्यष्टि देवगण निरिन्द्रिय रह जाते, इसलिए भगवान् उनके दु:ख की निवृत्ति के लिए इन्द्रियार्थ होकर अब छिप गये। उन्होंने अपना इन्द्रियार्थ रूप हटा लिया । यही भगवान् का 'हरित्व' है। हरि रूप हो जाने से ब्रह्मा का उपकार ही हुआ। अतएव ब्रह्मा ने भगवान् के हाथ जोड़े । अथवा हाथ जोड़ना ही जीव का विशेष हित है । भगवान् यदि जीवों का उपकार करे तो जीवों को उसे अपनी अञ्जलि में ग्रहण करना चाहिये। यही जीवों का कर्त्तव्य है। असमर्थ जीव भगवान् का प्रत्युपकार किंवा सेवा भी करता है। बस भगवान् का स्वरूप देख लिया यही बड़ा उपकार हुआ। अज्ञ जीवों पर भगवान् कृपा करें और वे, बेसमझी से निषेध न कर दें, यही उनका सत्कार्य बहुत है। शास्त्र से प्रमाण तो विहित है ही, सो ब्रह्मा ने स्वयं कर दिया। इससे स्पष्ट होता है कि ब्रह्मा को भगवान् का किया उपदेश स्मरण में था। भगवद्वचन का स्मरण रहने से ब्रह्मा अब सर्व जीव मय हो गया। देह और आत्मा दोनों सर्व भूत मय हो गये। क्योंकि भूत शब्द से प्रादुर्भाव मात्र लिया जाता है। जो-जो प्रादुर्भाव प्राप्त हो सकता है, तन्मय ब्रह्मा हो गया। अर्थात् विश्व जड़ चेतनमय हुआ। अथवा भगवान् की आज्ञा से जितना कुछ जड़ चेतन जगत् प्रकट हुआ, वह ब्रह्मा में प्रविष्ट हो गया। ब्रह्मा उस समय ब्रह्मरूप[1] ही हो गया और ब्रह्मरूप होकर उसने स्वरूप भूता विश्व सृष्टि का निर्माण किया । तब ही वैषम्य और निर्दयपन न हुआ, क्योंकि वह विश्व भगवत्स्वरूप हो था। कोई अन्य नहीं। भेद होने से ही वैषम्य, नैर्घृण्य दोष आते हैं। अतएव ब्रह्मा दर्शन के समय का हो गया और उसने जगत् भी दर्शन के समय का ही बनाया। अर्थात् पूर्व में जब भगवान् ने अपने दर्शन दिये थे, उस समय भगवान् ने ब्रह्मा को आधिदैविक रूप दिया था, सो अब जगत् बनाते समय भी वह पूर्ववत् हो गया और दर्शन में जैसा जगत् भगवान् ने रचा था, किंवा अपने स्वरूप से रचा था, ब्रह्मा ने भी उसके सदृश विश्व रचना की ।। ३८ ।।

आभास—एवमुपदेशं कार्यपर्यवसायिनं निरूप्य तस्योपदेशस्य प्रचारमाह—

आभासार्थ—इस तरह कार्य पर्यन्त पहुंचा देने वाले भगवान् के उपदेश का निरूपण करके उस उपदेश का प्रचार बताते हैं—

श्लोक—**प्रजापतिर्धर्मपतिरेकदा नियमान्यमान् ।**
भद्रं प्रजानामन्विच्छन्नाऽऽतिष्ठत्स्वार्थकाम्यया ।। ३९ ।।

---

१. ब्रह्म कल्प में आधिदैविक कारण से आधिदैविक कार्य ही प्रकाशित होता है, इसलिये इस प्राथमिक सृष्टि समय में ब्रह्मा आधिदैविक स्वरूप हो गया।

श्लोकार्थ—एक दिन सब धर्मों के स्वामी ब्रह्मा प्रजाओं का कल्याण करने की इच्छा से अपने भगवदुक्त पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए यम नियमों का आचरण करते थे ।। ३६ ।।

सुबोधिनी—प्रजापतिरिति । यथा स्वयं भगवदुपदेशेन कृतार्थः एवं सर्वे कृतार्था भवन्त्विति प्रजानां भद्रमन्विच्छन् तेषामधिकाराभावमाशङ्क्य, अधिकारसम्पादने अशक्तिमप्याशङ्क्य, पित्रा कृतं पुत्राणामर्थे भवतीति "**यस्मिन् जात एतामिष्टिं निर्वपती**"ति श्रुतौ तथा सिद्धत्वात् स्वयं तदर्थं नियमान् यमांश्चाऽऽतिष्ठत् कृतवान् । तत्र विहित एव धर्मः पुत्राणामर्थे भवतीति प्रकारान्तरमाह— **प्रजापतिरिति** । यथा पतिकृतं भार्यायै भवति तथा प्रजानामपि भविष्यतीति । नन्वेतदपि स्त्रीपरमेव न त्वन्यपरमित्याशङ्क्य धर्मनियामकत्वेन यथा धर्मं प्रेरयेत्तथा तत्र गच्छेदिति स्वयं कृत्वा प्रजाभ्यो दत्तवानिति ज्ञापयितुमाह—**धर्मपतिरिति । एकदेति** । निश्चिन्ततादशायां भावार्थज्ञाने प्रचरणकाले वा । नियमा अब्भक्षादयः । यमा अहिंसादयः । इन्द्रियान्तःकरणनियमनमेव यमनियमात्मकम् । यथेन्द्रियाणि लौकिकक्रियायां प्रवृत्तानि ततो नियम्य वैदिकक्रियापराणि क्रियन्ते । एवमन्तःकरणमपि लौकिकज्ञानान्नियम्य वैदिके ज्ञाने योज्यते । तदुभयमपि ब्रह्मा प्रजानामर्थे कृतवानित्यर्थः । नन्वेवं ब्रह्मणो निर्बन्धे को हेतुस्तत्राऽऽह—**स्वार्थकाम्ययेति** । स्वस्य अर्थः प्रयोजनमिति यावत् । "**एतन्मतं ममाऽऽतिष्ठे**"ति भगवदाज्ञया मतेऽवस्थितिः कर्त्तव्या । सा च प्रचारणादेव भवति । अतः प्रचारणार्थं तथा कृतवान् । किञ्च । "**न पतिश्च स स्यादि**"ति वाक्यात् प्रजानां कृतार्थत्वाभावे स्वस्य तत्पतित्वमनर्थायेति स्वार्थमेव तथा कृतवानित्यर्थः ३६

व्याख्यार्थ—भगवान् के उपदेश से जिस प्रकार से आप कृतार्थ हुआ है, उस तरह से सब ही कृतार्थ हो यह प्रजाओं का कल्याण चाहने वाला, किन्तु वैसा इन लोगों का अधिकार नहीं है और अधिकार प्राप्त कर सके । ऐसी उनकी शक्ति भी नहीं है । यह भी आशंका करके यह विचार किया कि—'यस्मिन्जाते एतामिष्टि निर्वपति' इस श्रुति में यह सिद्ध है कि पिता का किया कर्म पुत्रों को पहुँचता है, इसलिए पुत्रों को कल्याण के लिए स्वयं ब्रह्मा ने यम और नियम किये । किन्तु पितृ कृत शास्त्र विहित धर्म ही पुत्रों को मिलता है अन्य नहीं, इसलिए दूसरा प्रकार कहते हैं कि 'प्रजापतिः।' जैसे पति का किया पत्नी के लिये प्राप्त होता है उस तरह ब्रह्मा का यमनियमानुष्ठान प्रजाओं को मिलेगा । यों समझकर वे किये । अब एक प्रश्न यह होता है कि यह भी नियम स्त्री के लिये है,अन्य के लिये नहीं । तो उत्तर देते हैं कि ब्रह्मा धर्म का भी नियामक है, अतएव नियामक जिसके पास जाने के लिए प्रेरणा करेगा, धर्म उसके पास ही जायगा । इसलिये 'धर्मपतिः' कहा । 'एकदा' । एक दिन अर्थात् जिस दिन निश्चिन्त अवस्था थी उस दिन । किंवा भगवान् के आशय जानने के लिए जब ब्रह्मदेव प्रचार का विचार कर रहे थे । जल पीकर ही रह जाना इत्यादि यम है और अहिंसा आदि नियम कहे जाते हैं । इन्द्रिय अन्तःकरण आदि को नियम में रखना ही यम नियम का तात्पर्य है । जैसे लौकिक क्रियाओं में प्रवृत्त हो रहे इन्द्रियों को रोककर वैदिक क्रिया कर देना । वैसे ही अन्तःकरण को भी लौकिक ज्ञान से हटाकर वैदिक ज्ञान में लगा देना ही यम नियम का काम है । ये दोनों ब्रह्मा ने प्रजाओं के लिये किया । यदि कहो कि ब्रह्मा को इतना आग्रह क्यों हुआ तो कहते

हैं कि—'स्वार्थं काम्यया'। भगवदुक्त अपने प्रयोजन को इच्छा से। भगवान् ने आज्ञा की थी कि इस मेरे मत का अवस्थान करना, इस आज्ञा से भगवान् के मत की अवस्थिति चारों ओर करनी चाहिये। अवस्थिति प्रचार से ही हो सकती है और एक बात यह भी थी कि 'जो अपने आश्रित की रक्षा न कर सके वह पति ही नहीं' इस वाक्य के अनुसार प्रजाओं को कृतार्थ न करे उसका स्वामित्व ही निरर्थक है, यह समझकर अपने स्वार्थ के लिए ही ब्रह्मा ने यमादि का अनुष्ठान किया ॥ ३९ ॥

आभास—तस्य तथा करणं फलपर्यवसायि जातमित्याह—

आभासार्थ—ब्रह्मा का यमनियमानुष्ठान सफल हुआ सो कहते हैं—

श्लोक—**तं नारदः प्रियतमो रिक्थादानामनुव्रतः ।**
शुश्रूषमाणः शीलेन प्रश्रयेण दमेन च ॥ ४० ॥

श्लोकार्थ—दायादों में सबसे विशेष आज्ञाकारी और अति प्यारा पुत्र मायेश भगवान् की माया को जानने की इच्छा रखता, मनन करने वालों में प्रधान और महाभागवत नारद मुनि ने, हे राजन् अपनी नम्रता से इन्द्रियों के दमन से और अपने सुन्दर स्वभाव से सेवा करके पिता ब्रह्मा को प्रसन्न कर लिया ॥ ४० ॥

सुबोधिनी—तं नारद इति। तं पूर्वोक्तधर्मवन्तम्। नारं द्यति खण्डयतीति नारदः। ददातीति वा। नराणां जीवानां समूहो नारम्। नारदो हि सर्वेषां जीवानां जीवभाव दूरीकरोति। नारायणस्याऽऽधारभूतं हृदयं वा सम्पादयति। अतो नारदोऽत्राधिकारी। किञ्च। प्रियाय पुत्राय तद्देयमिति नारदो रिक्थादानां पुत्राणां मध्ये प्रियतमो भवति। रिक्थं धनमाददत इति रिक्थादाः। रिक्थं हि बहुविधम्। तत्रेदं मताख्यं परमं रिक्थम्। अतः प्रियतम एवाऽर्हति। यथाऽयं प्रियतमस्तथैव रिक्थमिति। किञ्च। न केवलं प्रीतिविषयः किन्त्वनुव्रतः अनु पश्चाद्व्रतं यस्येति। सेवक इत्यर्थः। सेवको हि स्वामी यत्करोति तदनुगुणं सर्वं करोति। अतो ब्रह्मणा यत्कर्त्तव्यं तत्र साधकोऽयम्। किञ्च। शुश्रूषमाणः सेवां कुर्वाणः। शुश्रूषाभिरताय देयम्। तस्यैव च फलति। शुश्रूषाऽपि न स्वेच्छया कर्त्तव्या किन्तु शीलेन। यथा स्वामिनः शीलं भवति स्वभावो भवति। तद्रोचकेन वा स्वस्यैव सुस्वभावेन विहितमपि तदेव भवति। तदपि न साहङ्कारेण कर्त्तव्यं किन्तु प्रश्रयेण विनयेन। विनीतस्यैव हि सेवा फलपर्यवसायिनी भवति। किञ्च। दमेन इन्द्रियदमनेन। इन्द्रियलोलुपेन कृतं शङ्कोत्पादनान्न प्रसादहेतुर्भवति। चकारादन्येऽपि स्तुत्यादयः प्रजापतितोषहेतवः परिगृह्यन्ते। सा सेवा न स्वतो धर्मरूपा नारदेन क्रियते। किन्त्वितरशेषा ॥ ४० ॥

व्याख्यार्थ—पूर्वोक्त धर्माचरण युक्त ब्रह्मा को नारद ने प्रसन्न किया। यहां दो श्लोकों का एक ही अन्वय है। 'पर्यतोषयत्' क्रिया दूसरे श्लोक में है इसलिए 'नारं द्यति सः नारदः'। नर समूह को अर्थात् जीवों के जीव भाव दूर करे, अथवा जीवों के हृदय को भगवान् के विराजने का स्थान

बना दे, वह नारद कहलाता है। इसलिए भगवन्मत का प्रचार करने में नारद ही अधिकारी है। शास्त्र में कहा है कि अपनी सम्पत्ति प्रिय पुत्र को देवे और दायादों में नारद ही ब्रह्मा को अति प्रिय पुत्र था। सम्पत्ति के अधिकारी पुत्रों को रिक्थाद कहते हैं। सम्पत्ति अनेक प्रकार की होती है। यहां तो यह भगवन्मत रूप सम्पत्ति सर्वोत्तम है। इसके देने का सर्वोत्तम अधिकारी प्रियतम पुत्र है। जैसा यह प्रियतम पुत्र है वैसा ही यह रिक्थ है।

एक बात और भी है। नारद केवल अति प्रिय ही नहीं था पर ब्रह्मा की आज्ञा पालन करने वाला सेवक भी था। स्वामी जो कहता है उसके अनुकूल सेवक करता है। इसलिए ब्रह्मा जो आगे करना चाहता है, उस कार्य का साधक नारद ही है और फिर सेवा करने वाला है। शास्त्र में कहा है कि सेवारत को ही ज्ञान देना उचित है। सेवा कर्त्ता को ही ज्ञान सफल होता है। सेवा भी स्वच्छन्द नहीं किन्तु शील के अनुसार। अर्थात् स्वामी का जैसा स्वभाव हो वैसी सेवा। उसको जैसी रुचै वैसी। अपने स्वभाव से की गई सेवा भी रोचक ही हो सकती है। यह सेवा अहंकार से की गई अच्छी नहीं कही जाती किन्तु विनय से। नम्र सेवक से की गई सेवा ही फलप्रद होती है। यह सेवा इन्द्रिय दमनपूर्वक। इन्द्रिय चपल सेवक को सेवा में शंका रहती है इसलिए स्वामी को प्रसन्नता नहीं होती। मूल में 'च' दिया है इसका तात्पर्य यह है कि ब्रह्मा को प्रसन्न करने के साधन और भी स्तुति प्रभृति नारद ने किये ॥ ४० ॥

आभास—तदाह—

आभासार्थ—यह कहा—

श्लोक—**मायां विविदिषुर्विष्णोर्मायेशस्य महामुनिः ।**
महाभागवतो राजन् पितरं पर्यतोषयत् ॥ ४१ ॥

श्लोकार्थ—हे राजन्! महाभाग महामुनि नारद ने मायेश भगवान् विष्णु की जानने की इच्छा रखने वाले पिता ब्रह्मा को सब प्रकार से सन्तुष्ट किया ॥ ४१ ॥

सुबोधिनी—मायां विविदिषुरिति। मायेशस्येति सम्बन्धिनिर्देशान्माया जगत्कारणभूता गृह्यते। न तु व्यामोहिका। स हि पूर्वं माययैव तथा भगवान् भवतीति ज्ञातवान्। पूर्वकल्पे तथैव जातत्वात्। एतावानेवाऽत्र विशेषः क्वचित्कदाचित्कारणत्वेन तां स्वीकरोति कदाचिन्नेति। उभयथाऽपि पदार्थे न कोऽपि विशेषः। बुद्धिगम्या च सा भवति प्रष्टुं च शक्यते। व्यवहारस्तु केवले ईश्वरे अयुक्तः अशक्यश्च। अतो विष्णोर्व्यापिकस्य त्रितयपरिच्छेदरहितस्य मायां त्रितयरूपां सर्वत्र करणभूतां स्वांशमायया मोहिकां दशप्रकारहेतुभूतां च। तदाह—**मायेशस्येति**। मायां नियमयतीति मायायाः करणता। **महामुनिरिति** अत्यन्तं मननशीलः। स हि द्वितीयां मायां जानाति अतस्तामपि निवर्त्तयितुं योग्यो भवतीति तथोक्तम्। मुनिरेव स्वहितं जानाति। महामुनिस्तु परमहितम्। किञ्च। **महाभागवत इति** दशविधलीलाश्रवणाधिकारी। अत्र **राजन्निति** सम्बोधनं भवानपि तादृश इति ज्ञापनार्थम्। **पितरमिति** विश्वासाय। परितस्तोषणं फलपर्यवसायि ॥ ४१ ॥

व्याख्यार्थ—यह सेवा नारद ने अपने आप पुत्र धर्म समझ कर नहीं की, किन्तु अन्य कार्य के लिये की सो कहते हैं—'मायां विविदिषु:' इति । मायेश भगवान् को माया को समझने के लिये सेवा की । 'मायेश' यह सम्बन्धिका का निर्देश किया है इसलिये यहां माया, जगत्कारणभूता सर्व भवन सामर्थ्य रूपा ली गई हैं मोहिनी माया नहीं । 'परास्य शक्ति विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च' इस वेद वाक्य के अनुसार भगवान् की विविध प्रकार की तीन प्रधान शक्तियां हैं, ज्ञान, बल, क्रिया । उनमें सृष्ट्युत्पत्ति के समय बलरूपा सर्वभवन सामर्थ्य का उपयोग करते हैं । और स्थिति संहार में मोहिनी ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति का उपयोग करते हैं । इसके किसी पूर्व कल्प में भगवान् माया के द्वारा ही विश्वरूप हुये थे । नारद को यह स्मरण था । अतएव वह जान रहा है कि सर्वदा भगवान् माया से ही विश्वरूप होता है । किन्तु इस विषय में इतना ही फरक है कि इसी कल्प में माया को कारणरूप से ग्रहण करते हैं और किसी समय ग्रहण नहीं करते । दोनों प्रकार में ही जगद्वर्ति पदार्थों में किसी तरह का फरक नहीं आता । यह माया समझ में आ सके ऐसी है, अतएव यदि इसे कोई पूछना चाहे तो पूछ सकता है । सृष्टि में माया का सहयोग इसलिये किया जाता है कि विश्व व्यवहार्य पदार्थ है, और केवल ईश्वर में व्यवहार होना अयोग्य और अशक्य होता है । क्योंकि भगवान् मन और वाणी से परे हैं । और देश काल वस्तु से नपे तुले नहीं हैं, देश काल वस्तुओं में भी समाये हुये हैं । इन भगवान् की सहयोगिनी ज्ञान, बल, क्रिया रूपा माया को, तथा निज अंश रूपा माया से मोह करने वाली और दश लीला विभेद कराने वाली माया को भी जानने की इच्छा नारद को थी । यह सब बात "मायेशस्य" । इस पद से कही । माया की व्यवस्था करने वाला भगवान् ही है । इसलिये माया को साधन बनाता है । महामुनि का तात्पर्य यह है कि नारद खूब ही मननशील हैं इसलिये मोहिनी माया के स्वरूप को जानता है । इससे यदि कभी उससे भी मुठभेड़ हो जावे, उसे भी दूर करने की शक्ति रखता है । मुनि तो अपने हित को ही जानता है और महामुनि तो परम हित को भी जानता है । और दूसरी बात यह है कि नारद महा भागवत है, इसलिये दशविधलीलाओं को सुनने का अधिकारी है । राजन ! सम्बोधन कहने का तात्पर्य यह है कि आप भी वैसे हो, विश्वास के लिये पितरं कहा । उसको 'पर्यतोषयत्' अच्छी तरह सन्तोष पहुँचाया ।।४१।।

आभास—**ततः किमत आह—**

आभासार्थ—फिर इसके आगे क्या हुआ सो कहते हैं :—

श्लोक—**तुष्टं निशम्य पितरं लोकानां प्रपितामहम् ।**
देवर्षिः परिपप्रच्छ भवान्यन्माऽनुपृच्छति ।।४२।।

श्लोकार्थ—लोकों के परम पितामह और अपने पिता ब्रह्मा को प्रसन्न हुआ जानकर देवर्षि नारद ने जो आप मुझे पूछते है वही ब्रह्मा से पूछा ।

सुबोधिनी—तुष्टं निशम्येति । निशम्य ज्ञात्वा । शमस्य ज्ञानपरत्वमुक्तम् । तस्योत्कृष्टत्वं सम्यग्ज्ञाने भवति । प्रश्नयोग्यतार्थमाह-**पितरमिति** । न केवलं स्वार्थम्, किन्तु सर्वार्थमित्याह-

लोकानां प्रपितामहमिति । "**अनुशिष्टेन हि भाव्यं पितुः पुत्रेण ।**" अतः पिता मां चेच्छिक्षयेन्मया पुत्रप्राया लोकाः शिक्षणीया इति वक्ष्यतीत्यपि ज्ञातवान् । देवऋषित्वाद्देवानामप्युपास्य मन्त्रं यः पश्यति स ब्रह्मणो हृदयं जानातीत्यविवादम् । परितः प्रश्नः ससाधनः । यथा त्वया पूर्वपक्षेण पृष्टं तथा तेनाऽपि पृष्टमित्याह—**भवान्यन्माऽनुपृच्छतीति** ।। ४२ ।।

व्याख्यार्थ—निशम्य पद में नि-शम्य दो पद हैं । शम्य का अर्थ है, जानना और नि का अर्थ अच्छी तरह । अर्थात् ब्रह्मा की प्रसन्नता अच्छी तरह जान ली तब । पितरं, (पिता से) पद में पूछने की योग्यता बताई है । माया का प्रश्न नारद ने केवल अपने लिये ही नहीं किया, किन्तु सब लोगों के लिये किया है । यह 'लोकानां प्रपितामहं' वाक्य से कहा है । 'अनुशिष्टेन हि भाव्यं पितुः पुत्रेण' । अर्थात् पुत्र को पिता से सब कुछ सीखना चाहिये । इस वाक्यानुसार जब पिता ब्रह्मा मुझे शिक्षा देंगे तो मेरा भी कर्तव्य है कि तदनुसार मैं भी पुत्र प्राय प्रजाओं को सिखाऊंगा । यह भी नारद ने समझ लिया । नारद को देवर्षि कहा, इसका यह तात्पर्य है कि देवों के उपास्य मन्त्र का भी जिसने दर्शन किया है, वह नारद ब्रह्मा के हृदय की बात को कहने पर न समझेगा, यह तो विचार भी न करना । परिपप्रच्छ अर्थात् साधन रहित का प्रश्न किया । हे राजन् ! जैसे तुमने मुझ से पूर्व पक्ष रूप से पूछा वैसे नारद ने भी ब्रह्मा से पूछा । भवान्यन्माऽनु पृच्छति । आप जो मुझ से पूछते हैं सो ।।४२।।

आभास—तदा तस्याऽर्थत्रयं पूर्वमेव ज्ञातमिति सर्वसन्देहनिवारकं तृतीयमेवोक्तवान् । तदाह—

आभासार्थ—इसके अनन्तर नारद ने ज्ञान वैराग्य और विचार तो पहले जान ही लिये थे । अब तो सर्व सन्देह दूर करने वाला भक्ति विषयक तीसरा प्रश्न ही पूछा । सो कहते हैं—

श्लोक—**तस्मा इदं भागवतं पुराणं दशलक्षणम् ।**
प्रोक्तं भगवता प्राह प्रीतः पुत्राय भूतकृत् ।।४३।।

श्लोकार्थ—जगत्कर्ता ब्रह्मा ने अपने पुत्र इस नारद को भगवान् के कहे गये दश लक्षण वाले भागवत नामक इस महापुराण को प्रसन्न हो कर कहा—

सुबोधिनी—**दशलक्षणमिति** । दश लक्षणान्यन्यानि पुराणान्तरे भवन्ति । तानि लोकप्रसिद्धानि । तद्व्यावृत्त्यर्थमाह **भागवतमिति** । भगवता प्रोक्तं भगवत्स्वरूपं प्रतिपाद्यमिति । अनेन प्रथमसिद्धान्तोऽपि कथितः । **पुराणमिति** लोकप्रतीतिसिद्धत्वात् द्वितीयोऽपि । **इदमिति** स्वप्रतीतिसिद्धमङ्गुल्या निर्दिशति । अनेन चतुर्थोऽपि कथितः । अनेन चतुःश्लोकोक्तं सिद्धान्तचतुष्टयमपि कथितवान् । प्रामाण्यार्थं परम्परामाह-**प्रोक्तं भगवतेति** । नन्वेतद्गूढं परमसमाधिगम्यं कथमुक्तवान् । अत आह-**प्रीत इति** । पुत्रत्वादावश्यकमपि । ननु मायाज्ञानार्थं स प्रवृत्तो मायिकीं भगवल्लीलां तस्मा अनुक्त्वा किमिति सिद्धान्तं कथयति । तत्राऽऽह-**पुत्रायेति** । अमार्गेणाऽपि गच्छन्पुत्रो निवार्यते । मार्ग एवोपदिश्यत इति । किञ्च । सर्वाण्येव भूतान्ययं करोति । अतः सर्वार्थमेतद्द्वारा प्रकाशितवानित्याह-**भूतकृदिति** ।।४३।।

व्याख्यार्थ—दश लक्षण वाले अन्य भी पुराण हैं। उनमें जगत् के दश प्रकार कहे हैं, किन्तु वे लौकिक हैं। वे यहां न समझे जावे, इसलिये कहा, भागवतम्। यह पुराण भगवान् ने कहा है और भगवान् का स्वरूप ही इसमें कहा गया है। भागवत शब्द से प्रथम सिद्धान्त कहा और पुराण शब्द से द्वितीय लौकिक सिद्धान्त भी कहा। सम्पूर्ण जगत् साक्षात् ब्रह्म है, यह वेदोक्त प्रथम सिद्धान्त है। ब्रह्म माया मिश्र है, यह अन्य पुराणोक्त द्वितीय सिद्धान्त है। मायिक है, यह तृतीय सिद्धान्त है। और केवल वाचनिक है यह चतुर्थ। 'इदं' कहकर तृतीय और चतुर्थ सिद्धान्त की भी सूचना कर दी है। 'इदं' (ये) से अपने हृदयस्थ सिद्धान्त का निर्देष है। इससे यह दिखाया है कि पूर्व चतुः-श्लोकी में जो चार सिद्धान्त कहे, प्रमाण, प्रमेय, विषय और उपपत्ति, इन्हें भी नारद से कह दिये। प्रमाण की सत्यता सिद्ध करने के लिये वक्तृ परंपरा कहते हैं-'प्राक्तं भगवतेति'। यह भागवत भगवान् ने मुझसे कही थी। यदि कहो कि यह तो परम समाधिगम्य ज्ञान है, आपसे भगवान् ने कैसे कह दिया? तो कहते हैं कि (वे) प्रति'। प्रसन्न हुये थे। इसलिये, और मैं पुत्र हूं इसलिये कहना आवश्यक भी था।

यहां एक यह प्रश्न होता है कि नारद ने तो माया के स्वरूप जानना चाहे थे, सो मायिकी लीला उसे न कहकर सिद्धान्त का कथन क्यों किया? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'पुत्राय' पुत्र यदि अमार्ग पर जाता हो, तो निवारण कर के सत्य मार्ग का उपदेश करना पिता का धर्म है और ब्रह्मा सर्व प्राणियों का कर्त्ता है, अतएव नारद के द्वारा उसने सब के उपयोगी अर्थ का भी प्रकाश किया। क्योंकि वह भूतकृत हे ॥४३॥

आभास—ब्रह्मणोऽभिप्रेतमपि कृतवानित्याह—

आभासार्थ—नारद ने ब्रह्मा की इच्छा के अनुसार कार्य किया यह भी कहते हैं-

श्लोक—**नारदः प्राह मुनये सरस्वत्यास्तटे नृप।**
ध्यायते ब्रह्म परमं व्यासायाऽमिततेजसे ॥४४॥

श्लोकार्थ—तेजस्वी श्री वेद व्यास मुनि जिस समय सरस्वती के तट पर पूर्ण पर ब्रह्म का ध्यान कर रहे थे, उस समय वहां जाकर नारद ने पर ब्रह्म का स्वरूप भागवत कहा।

सुबोधिनी—**नारदः प्राहेति**। व्यासस्य तादृशश्रवणयोग्यतायै चत्वारि विशेषणानि। तत्र प्रथमं चतुर्थयोग्यता। मुनिर्हि स्वस्वरूपं भगवत्त्वेन ध्यायति। दशलीलापरिज्ञानार्थं परब्रह्म ध्यायत इति। यस्तु पुरुषोत्तमं ध्यायति स हि तस्य दशविधां लीलां ज्ञातुं। शक्नोति। **व्यासायेति**। वेदविस्तारकर्तृत्वेन सर्वबुद्धयनुरोधित्वात् व्यामोहिकां मायां ज्ञातुं शक्तः। **अमिततेजस इति** भगवत्स्वरूपं ज्ञातुं शक्तः। अलौकिकं हि तेजो ब्रह्मज्ञाने प्रयोजकं भवति। ब्रह्मज्ञानसाध्यं हि तत्। तथाभूतमत्र भगवज्ज्ञाने उपयुज्यते ॥ ४४ ॥

व्याख्यार्थ—वेद व्यास की योग्यता, पर ब्रह्म रूप भागवत के श्रवण करने की थी। यह दिखाने के लिये चार विशेषण कहे हैं। उनमें 'मुनये' मननशील कह कर चौथी योग्यता प्रकट की है। मुनि ही अपने आपको भगवान् रूप से ध्यान करता है। 'मैं ही ब्रह्म हूँ'। यह चतुर्थ (कनिष्ठ) अधिकार है। 'अहं ब्रह्मास्मि'। अब प्रथम सर्वश्रेष्ठ योग्यता दिखाते हैं कि 'पर ब्रह्मध्यायते' पूर्ण ब्रह्म का ध्यान करते। दश लीलाओं का सब तरह ज्ञान होने की योग्यता के लिये यह विशेषण दिया है। जो महापुरुष पूर्ण पुरुषोत्तम का ध्यान करता है, वह उसको दशविध लीलाओं को जान सकता है। 'व्यासाय'। वेद विस्तार करने वाले। सबकी बुद्धियों में ज्ञान का विस्तार करने के लिये वेदों का निर्माण है। उसका विस्तार करने वाला ही व्यामोहिका माया को जानता है। यह तृतीयार्थ योग्यता है। 'अमित तेजसे'। अलौकिक तेजवाले। पर ब्रह्म ज्ञान में अलौकिक ज्ञान प्रकाश सहायक होता है। यह तेज ब्रह्मज्ञान साध्य है। जब ब्रह्मज्ञान सम्पन्न अलौकिक तेज भगवज्ज्ञान में उपयोगी होता है। यह द्वितीय योग्यता है ॥ ४४ ॥

आभास—एवं परम्परामुक्त्वा सामान्यतः सर्वदूषणानि परिहृत्य प्रश्नत्वेन पृष्टानर्थान्निरूपयितुमाह—

आभासार्थ—इस तरह परंपरा कथन के द्वारा साधारण रीति से सब दोषों का परिहार करके प्रश्न रूप से जो पदार्थ पूछे गये थे, उनका निरूपण करने के लिये कहते हैं-

श्लोक—**यदुताऽहं त्वया पृष्टो वैराजात्पुरुषादिदम् ।**
यथाऽऽसीत्तदुपाख्यास्ते प्रश्नानन्यांश्च कृत्स्नशः ॥४५॥

श्लोकार्थ—तुमने जो मुझ से पूछा कि उस विराट् पुरुष से यह जगत् किस प्रकार हुआ, तथा तुमने और भी जो जो प्रश्न किये, उन सबका मैं क्रमशः यथावत् उत्तर देता हूं। तुम सावधान होकर सुनो।

सुबोधिनी—**यदुताऽहमिति**। उतेति दूषणव्यतिरेकेण केवलं प्रश्नरूपेणाऽपि पृष्टम्। तदपि पृष्टे मया वक्तव्यमिति तदुपाख्यास्ये। तत्र प्रश्ने सामान्यविशेषभेदेन रूपद्वयम्। तत्र सामान्यं रूपं वैराजात्पुरुषात्कथमेतज्ज तमिति। विशेषस्तु तत्तद्भेदेन। तदाह—**प्रश्नानन्यांश्चेति**। **अन्यानित्यनेन** तदुपयोगिनोऽपि ये अन्येऽपृष्टाः। सर्वमेतच्चेति चकारेण तेऽप्युच्यन्ते। चकारेण ततोऽप्यन्ये अन्यैरपि कृताः। **कृत्स्नश इति** एकैकः प्रश्नो बहुधा निरूप्यत इत्युक्तम् ॥४५॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां द्वितीयस्कन्धे नवमोऽध्यायविवरणम्।

व्याख्यार्थ—'उत' जो भी कुछ, अर्थात् दूषण को छोड़कर केवल प्रश्न रूप से पूछी बात। सो भी यदि पूछा जाय तो भी मुझे कहना ही चाहिये, इसलिये मैं कहूँगा। इस प्रश्न में सामान्य और विशेष रूप से दो प्रकार भेद हैं। उनमें प्रश्न का सामान्य रूप यह है कि विराट् पुरुष से सब विश्व कैसे हुआ? और विशेष रूप से उसके सब भेदों के प्रश्न हैं। यही बात 'प्रश्नानन्यांश्च' वाक्य से कही है। अन्यान् कहने से उस मुख्य प्रश्न के उपयोगी और भी जो कुछ प्रश्न हैं, उन्हें भी कहूंगा। चकार से यह भी कहा है कि उनसे अन्य भी जो दूसरों ने भी किये होंगे, उन्हें भी कहूंगा। 'कृत्स्नशः'। अर्थात् एक एक प्रश्न का अनेक प्रकार से निरूपण किया जाता है ॥४५॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण के द्वितीय स्कन्ध के नवम अध्याय की श्री सुबोधिनी (संस्कृत) टीका सहित देवर्षि शास्त्री रमानाथ विरचित हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण।

॥ श्री कृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

• श्रीमद् भागवत महापुराण •

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित सुबोधिनी टीका

द्वितीय स्कन्ध

मनन-प्रकरण (श्रवणाङ्ग स्कन्ध)

अध्याय—१०

भागवत के दस लक्षण और प्राकृत सर्ग का क्रम

कारिका—**इत्याक्षेपसमाधाने निरूप्य हरिजीवयोः ।**
उपपत्त्या तयोरेव रूपदेहाविहोदितौ ॥ १ ॥
दशधा ज्ञायते रूपं हरेरन्यत्रिधा मतम् ।
आध्यात्मिकादिभेदेन गुणतः कर्मतोऽपि हि ॥ २ ॥

कारिकार्थ—इस तरह से पूर्वाध्यायों में हरि और जीव के स्वरूप और रूप के विषय में जो-जो आक्षेप हो सकते हैं, उनका समाधान करते हुये, उन दोनों के ही रूप देह का युक्ति के द्वारा निरूपण किया । 'यथा महान्ति' आदि श्लोकों में भगवान् का रूप दश प्रकार का और जीव का देह किंवा रूप आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक प्रकार से तीन प्रकार का है । यह स्पष्ट होता है । श्री हरि का देह गुणों से दश प्रकार का और जीव का देह कर्म से तीन प्रकार का है ॥ १ ॥ २ ॥

आभास—एवं पूर्वाध्याये उपदेशे पदार्थचतुष्टयं निरूप्य तृतीयव्यतिरिक्तानां पक्षाणां श्रुत्यादिषु प्रसिद्धत्वात्तद्विस्तारमनुक्त्वैकस्मिन्पदार्थे दश लीला अलौकिका इति ताः स्वरूपतो लक्षणतश्च निरूपयति । यद्यपि ते लौकिका दश पदार्था बहिर्मुखतया पुराणान्तरेषु सिद्धास्तथाप्यत्र भागवते ते न भवन्ति । किन्त्वेत इत्याह—

आभासार्थ— नवमाध्याय में ब्रह्मा के उपदेश में भगवान् ने चार पदार्थों का निरूपण किया। प्रमाण, प्रमेय, विषय और शिक्षा। उनमें तृतीय (विषय) को छोड़कर बाकी रहे तीन पक्षों का श्रुति आदि में निरूपण सिद्ध है। इसलिए उनका विस्तार न कहकर एक विषय (भगवद्रूप जगत्) में ही दश अलौकिक लीला विद्यमान हैं, इसलिए अब इस दशमाध्याय में उन लीलाओं का ही निरूपण स्वरूप और लक्षण से करते हैं। यद्यपि अन्य पुराणों में बहिर्मुखरूप से उन लीलाओं को ही लौकिक दश पदार्थों के रूप में सिद्ध कही है। तथापि यही श्रीमद्भागवत् में वे नहीं हैं, किन्तु भगवल्लीला रूप अलौकिक पदार्थ हैं, सो कहते हैं।

श्लोक—**श्रीशुक उवाच—अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः।**
मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः ॥ १ ॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि—श्री भागवत में सर्ग,विसर्ग,स्थान,पोषण, ऊति मन्वन्तर,ईशानुकथा,निरोध, मुक्ति और आश्रय ये दश भगवान् की लीलायें कही गई हैं ॥ १ ॥

सुबोधिनी—अत्रेति। अत्र भागवते। आश्रयान्ताः सर्गादयो दश पदार्था निरूप्यन्ते। अत्र सिद्धान्ते वा। एतेषां दशानामर्थस्तत्तत्स्कन्धे विस्तरेण कथयिष्यते। तथापि सामान्यतो निरूप्यन्ते। तत्राऽशरीरस्य विष्णोः पुरुषशरीरस्वीकारः सर्गः। पुरुषाद्ब्रह्मादीनामुत्पत्तिर्विसर्गः। उत्पन्नानां तत्तन्मर्यादया पालनं स्थानम्। स्थितानामभिवृद्धिः पोषणम्। पुष्टानामाचार ऊतिः। तत्रापि सदाचारो मन्वन्तरम्। तत्रापि विष्णुभक्तिरीशानुकथा। भक्तानां प्रपञ्चाभावो निरोधः। निष्प्रपञ्चानां स्वरूपलाभो मुक्तिः। मुक्तानां ब्रह्मस्वरूपेणाऽवस्थानमाश्रय इति। प्रत्येकपदार्थे तु सर्गः कारणत्वेन तत्र भगवत्स्थितिः। विसर्गः कार्यत्वेन पूर्वमेव तत्र विद्यमानत्वम्। पटे तन्तुषु सिद्धे हि तन्तवः पटे प्रतीयन्ते। स्थानं सर्ववस्तुषु वस्तुस्वरूपेण मूलरूपेण च तत्तन्मर्यादारूपम्। पुष्टिः कार्यसिद्धयर्थं सर्वसमर्थस्य तत्र प्रवेशः। ब्रह्मज्ञानिनः प्रतीतिसिद्धयर्थं तत्र तादृशलीलाप्रदर्शनमूतिः। एवं पञ्चधा भगवदन्वयेन सर्ववस्तुषु भगवल्लीला। व्यतिरेकेणाऽपि पञ्चधा। तत्र कारणाद्भिन्नरूपेण घटरूपभिन्नभावेन सतां धर्महेतुः प्रापञ्चिकोऽपि विधिविषयो भवतीति स्वरूपाद्व्यतिरिक्तो मन्वन्तराणि। स एव पुनर्भक्तिविषयत्वेन भगवत्सेवैकरूपेण धर्मेण लौकिकवैदिकव्यतिरिक्ततामापद्यत इतीशानुकथारूपो भवति। स एव पुनर्लौकिकवैदिकभक्तानां स्वरूपेच्छूनां परित्यागरूपेण पूर्वोक्तान्निरुणद्धीति निरोधरूपो भवति। तादृशोऽपि सन्नात्मानं परित्याजयित्वा तानपि तादृशस्वस्मात् परित्याजनरूपो भवतीति मुक्तिरूपो भवति। घटादिषु वा भगवतोऽसङ्गोदासीनरूपता मुक्तिः। आश्रयस्तु नव प्रकाराणामपि स्वरूपाणामाधारो भवतीति। एतदज्ञाने सर्वाण्येव शास्त्राणि व्याकुलानि भवन्ति। अतो भागवतशास्त्रं सर्वोद्धारकं सर्वनिर्वाहकं च ॥ १ ॥

व्याख्यार्थ—यहां श्री भागवत शास्त्र में किंवा श्री भागवत के सिद्धान्त में सर्ग को आदि लेकर आश्रय पर्यन्त दश पदार्थों का निरूपण है। इन दशों पदार्थों का अर्थ आगे तृतीयादि स्कन्धों के व्याख्यान समय में विस्तार से कहेंगे। तथापि यहां साधारण रीति से कहते हैं।

यही दश धर्म उद्देशाध्याय (द्वितीयाध्याय) में अदीनत्वादि रूप से कहे हैं जिनका व्याख्यान विस्तार से विवरणाध्याय (सातवां) में किया गया है ।

अदीनत्व और सर्ग लीला एक है । अपेक्षा से दीनत्व रहता है, किन्तु किसी की भी अपेक्षा न रहने से अदीनत्व होता है । अपनी लीलाओं का निर्वाह करने के लिए स्वयं ही भगवान् जगद्वर्ती पदार्थों का रूप धारण करते हैं । इसलिए यही अदीनत्व लीला है । यही सर्ग है । अशरीर व्यापक परब्रह्म का पुरुष शरीर स्वीकार करना सर्ग है । सर्ग में कार्यों के कारणों की उत्पत्ति होती है, जिससे कार्योत्पत्ति सुगम हो जाती है ।

दूसरी लीला विसर्ग है । यह भी लीला है । बिना परिश्रम कोई कर्म करना अर्थात् पुरुष रूप से ब्रह्मा आदि की उत्पत्ति होना विसर्ग है । किंवा लीला है । कारण विशिष्ट कार्यों की उत्पत्ति विसर्ग कहाता है । सर्ग एक तरह से भगवान् की शक्ति और धर्मों का अविकृत परिणाम है और यह परिणाम भगवत्स्वरूप स्वभाव का कार्य है और विसर्ग भगवत्स्वरूप जन्म और कर्म का कार्य है ।

विसर्ग में उत्पन्न पदार्थों की मर्यादाओं को नियत करके जहां का तहां उनका पालन करना स्थान लीला है और यही भगवान् का हसित है । राजा नाटक तैयार करके जैसा उसके द्वारा रंगमंच के लिए उन-उन पात्रों को उनकी मर्यादाओं में स्थापन करता है । इसी तरह भगवान् भी अपने स्वरूप में ही जगन्नाटक तैयार करके, उन पात्रों को मर्यादा में स्थापन करके आप हँसता है । प्रसन्न होता है । अन्यथा एक इस भगवत्स्वरूप में विभिन्न मर्यादायें कैसे हो सकती हैं ।

मर्यादास्थितों की अभिवृद्ध करना बढ़ाना ही पोषण है । स्वामी की दृष्टि होने से कार्यकर्त्ता लोक पुष्ट होते हैं, बढ़ते हैं । भगवान् भी अपने अनुचरों पर करुणावलोकन रखते हैं, जिससे वे बढ़ते हैं ।

पुष्टों का वासनानुसार आचरण ही ऊति है । यह ऊति भगवान् भ्रू (भौं) है । जैसे-जैसे भगवान् की भ्रू चलती है, वैसे-वैसे अन्तःकरण में वासनाओं का उद्भव होता है ।

उन ऊति आचरणों में भी सदाचार किंवा सद्धर्म मन्वन्तर है । यही भङ्ग स्वरूप है । सद्धर्म या सदाचार से सामान्य आचरण का किंवा आचरण कर्त्ता का भङ्ग रुकावट हो जाती है ।

उन सद्धर्म किंवा सदाचार में भी भगवान् की भक्ति ही ईशानुकथा है । भक्तों की वंशानुकथा से भगवान् का उल्लास होता है, इसलिये ईशानुकथा को उल्लसित कहा है ।

भक्तों के प्रपंच का न रहना ही निरोध है । यही संसूचन है । स्वरूप फल की जिससे सूचना मिलती है, वह कार्य संसूचन है ।

जिन भगवच्चरित्रों से भक्तों का हृदय प्रपञ्च से हट जाय, भगवान् में ही लग जाय, वह फल का संसूचन और वही निरोध है ।

निष्प्रपञ्च होने पर भगवत्स्वरूप का लाभ ही मुक्ति है। यही भूरित्व है। भगवत्प्रवेश होने से व्यापकत्व बहुत्व ही मुक्ति है। एक भगवान् ही मुक्त है, किन्तु अन्य जीव भी मुक्त हो, यह भूरित्व का भाव है।

मुक्तों का ब्रह्म रूप से स्थिर स्थित होना आश्रय है। यही अनुग्रह कहा जाता है। भगवान् जब अनुग्रह रूप होता है, तब ही किसी को अपने आप में स्थापन करता है। पोषण का भी अनुग्रह अर्थ किया है और आश्रय को भी अनुग्रह कहा है। इसका तात्पय इतना ही है कि चतुर्थ लीला रूप अनुग्रह रूढ़ शब्द है। इसका अर्थ कृपा, किंवा स्वीयत्वेन स्वीकार भी होता है। किन्तु दशम लीला किंवा आश्रय वाचक अनुग्रह शब्द यौगिक है अर्थात् अनु पश्चात् ग्रह स्वरूप करणं अनुग्रहः। मुक्ति हो जाने के अनन्तर जीव को भगवान् स्वस्वरूप बना लेते हैं, ब्रह्मरूप कर लेते हैं। यहां यह अनुग्रह का भिन्न ही अर्थ है।

यह व्यवस्था समष्टि रूप ब्रह्म की हुई। अब व्यष्टि रूप जगत् के प्रत्येक पदार्थों में भी यही सर्गादि नव लीला है और दशम आश्रय है। पट इस पदार्थ में कारण रूप से भगवान् की जो स्थिति वह सर्ग है। पट में तन्तुओं की स्थिति है किन्तु अव्यक्त (छिपा हुआ) और सद्रूप से है। इसी प्रकार प्रत्येक घटादि पदार्थों में कारण रूप भगवान् की जो अव्यक्त और सत् रूप से स्थिति है वह सर्ग है। सत्कार्यवाद का यह सिद्धान्त हैं कि कारण में पहले से ही कार्य विद्यमान रहता है। कर्तृ क्रिया से तो प्रकाशित होता है। तदनुसार कारणों में कार्य रूप से पहले ही विद्यमान रहना विसर्ग है। कार्यरूप भगवान् भी नित्य होने से कारणों में पहले से ही रहता है। तन्तुओं में पट सिद्ध होता है, किन्तु पट में तन्तुओं की प्रतीत होती रहती है और यदि तन्तुओं में पहले से ही पट न होता तो पट बनाने वाले तन्तुओं का हो ग्रहण न करते। सब वस्तुओं में वस्तु के स्वरूप से किंवा मूल रूप से उन-उन नियमों का होना स्थान है। जैसे कपास का वस्त्र, रेशम का पीताम्बर, मृत्तिका घट इत्यादि घट पटादि की मर्यादा, किंवा कपास, रेशम, मृत्तिका पतला, लम्बा, चौखूटा, गोल आदि का नियम। यह स्थान है। जल लाना आदि कार्यों की सिद्धि के लिए सर्व समर्थ भगवान् का जो उन वस्तुओं में प्रवेश करना ही पुष्टि या पोषण है। यही अभिवृद्धि भी है। जैसे तन्तुओं की किसी तरह की आनुपूर्वी से स्थिति ही पट की अभिवृद्धि हो जाती है। भगवान् का भी आनुपूर्वी द्वारा प्रवेश ही अभिवृद्धि या पोषण है। ब्रह्म ज्ञानी को 'घटो ब्रह्मरूपः' घट ब्रह्म है यह प्रतीति सिद्ध होने के लिए ब्रह्मरूप घट में जल आनयन रूप घटीय कार्य की समझ होते रहना ऊति है। यही वासना है। ब्रह्मज्ञान में ही घटीय कार्य का भी भास न रहना वासना है, इसलिए यह ऊति कहाती है।

इस तरह से सब पदार्थों में भगवान् के अन्वय से भगवान् की ये तीन लीलायें पांच प्रकार की हैं। व्यतिरेक से भी पांच प्रकार की है। सब में मिले रहना अन्वय और सबसे अलग रहना यह व्यतिरेक। नैयायिकों का व्यतिरेक पदार्थ यहां नहीं समझना, क्योंकि ब्रह्म का अभाव कभी होता ही नहीं। अतएव सबसे पृथक् या बढ़ते रहना ही व्यतिरेक कहा जाता है। अतएव वेद में भी 'अत्यतिष्ठद्दशांगुलम्' 'सजातोऽत्यरिच्यते' बढ़ जाने को ही अतिरेक कहा है। अनन्त रूप से पृथक् रहना या बढ़े रहना यह व्यतिरेक। भगवान् कारण से भी पृथक् रहता है और कार्य से भी। इसलिए वस्तु स्वरूप से व्यतिरिक्त भी है। ऐसी अवस्था में यह भगवान् मन्वन्तर सद्धर्म होता है।

सतां धर्मः सद्धर्मः सत्पुरुषों का जो नियत अवश्य कार्य, वह सद्धर्म है। यही भङ्ग है। स्वरूप से हटना भङ्ग है। कर्म मात्र या चेष्टा मात्र देह का स्वभाव है स्वरूप है। किन्तु वेद विधि के द्वारा प्राप्त कर्म उससे व्यतिरिक्त है। उससे कुछ हटा हुआ है। यद्यपि यह विधि विषयक कर्म भी प्रापञ्चिक है, तथापि उससे व्यतिरिक्त है। भगवान् अपने कारण रूप से व्यतिरिक्त घट भाव कार्य रूप से सत्पुरुषों के कर्म का साधन होता है। यह व्यतिरिक्त रूप सद्धर्म या मन्वन्तर कहा जाता है। अष्टमस्कंध में सद्धर्म या मन्वन्तर का निरूपण है।

यही प्रापंचिक पदार्थ रूप भगवान् जब पट् भक्ति का विषय और केवल भगवत्सेवा विषयक धर्म रूप से लौकिक और वैदिक धर्मों से व्यतिरिक्त पृथक् रूप को धारण करता है तब ईशानु कथा रूप होता है। यही भगवान् जब स्वरूप को ही चाहने वाले लौकिक किंवा वैदिक भक्तों को लौकिक वैदिक की आसक्ति छुड़ाकर, उनको अपने अतिरिक्त स्वरूप में रोक देता है, तब वह निरोध कहा जाता है। यह भी परित्याग रूप होने से व्यतिरिक्त रूप ही है। निरोध रूप होकर भी भक्तों के जीव भाव को छुड़वाकर और अपने भी वैसे लौकिक सदृश (जिसमें भक्त आसक्त हुये हैं) रूप से उन्हें हटाकर परित्याजन रूप जब हो जाता है, तब वह मुक्ति रूप कहा जाता है। परितः त्यागः परित्याजनम्। जीव भावादि सबका त्याग। यही मुक्ति है। यह भी भगवान् की व्यतिरेक रूप से लीला है, सो स्पष्ट ही है।

यदि घट आदि में देखें तो घट पट आदि में से जब भगवान् सहयोग आदि को छोड़ कर केवल अनुभव मात्र रहता है तब मुक्ति लीला कही जाती है। इन पूर्वोक्त नव प्रकार और नवों स्वरूपों का भी जो आधार रहता है और होता है वह आश्रय कहा जाता है। यहां यदि कोई यह प्रश्न करे कि इन सर्गादि के स्वरूप और प्रकारों का इस तरह निरूपण क्यों किया ? तो इसका उत्तर यही है कि श्रुति स्मृति और पुराणों में इन स्वरूप और प्रकारों के सूक्ष्म रीति के कहीं-कहीं वचन आते रहते हैं। उनका कोई अनजान अन्यथा अर्थ न कर दे। यदि ऐसा हो तो अर्थ का अनर्थ हो जाय। सो न होने पावे, इसलिये ऐसा व्याख्यान करना पड़ा और इससे यह भी स्पष्ट होता है, कि श्री भागवत् शास्त्र सर्वोद्धारक है सर्व निर्णायक है और सर्व निर्वाहक है ॥१॥

आभास—नन्वत्र दश पदार्थाः कथं निरूप्यन्ते? शास्त्रभेदप्रसङ्गात्। एकस्मिन् शास्त्रे ह्येकं प्रतिपाद्यं नतु समप्रधानतया बहूनि प्रतिपाद्यानि भवन्तीत्याह—

आभासार्थ—अब यहां एक प्रश्न होता है कि श्री भागवत शास्त्र में दश पदार्थों के निरूपण कैसे हो सकते हैं ? ऐसा होने से तो अनेक शास्त्र माने जावेंगे। एक शास्त्र में एक ही प्रतिपाद्य विषय हो सकता है। सम प्रधान रूप से बहुत से प्रतिपाद्य एक शास्त्र में नहीं हो सकते? उसका उत्तर देते हैं, कि—

श्लोक—**दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामिह लक्षणम्।**
वर्णयन्ति महात्मानः श्रुतेनार्थेन चाञ्जसा ॥ २ ॥

श्लोकार्थ—दशम आश्रय भगवान् को सब में से पहचान लेने के लिए ही इस भागवत शास्त्र में महात्मा लोगों ने श्रुति के आशयानुसार सरल रीति से सर्ग आदि नव पदार्थों का लक्षण कहा है ॥ २ ॥

सुबोधिनी—दशमस्य विशुद्ध्यर्थमिति । दशमोऽत्राऽऽश्रयः । तस्य विशेषेण शुद्धिः । सर्वत्रैव हि पदार्थे दश धर्माः सन्ति भगवद्रूपाः । तत्रैको ग्राह्योऽन्ये तु त्याज्याः । तत्र ते यदि न निरूपिता भवन्ति ग्राह्यत्याज्यविवेको न भवति । अतो यावद्दूरं गुणसम्बन्धः स त्याज्यः । भगवदाश्रये व्यभिचारापत्तेः । अनन्याश्रयभङ्गश्च । तत उत्तरोत्तरा एते धर्मा भवन्तीति यः पर्यवसानेऽवशिष्यते स ग्राह्य इति तुषादिवदाश्रयावरकत्वेनैते धर्माः प्रतिपाद्यन्ते । अत एतैर्निरूपितैराश्रयः पदार्थान्तरात्स्पष्टः शुद्धो निरूपितो भवति । अत एतेषामपि स्वरूपज्ञानार्थं लक्षणानि निरूपणीयानि । तदाह—**लक्षणमिति** । यथा गोः सास्ना असाधारणो धर्मस्तथा सर्गादीनां **लक्षण**मत्रोच्यते न तु स्वरूपम् । स्वरूपं त्वग्रे वक्ष्यामोऽग्रिमस्कन्धैः । तेषां लक्षणमेतदित्यत्र प्रमाणमाह—**वर्णयन्तीति** । तेषां भगवत्त्वात्तल्लक्षणमल्पेन वक्तुमशक्यमित्यत आह—**महात्मान इति** । महानात्मा अन्तःकरणं येषाम् । अन्तःकरणे भगवच्चरणारविन्दविक्रमो यदा तदा महत्त्वम् । तदैव हि भगवत्स्वरूपाणि ज्ञातानि भवन्ति । ननु भगवान् प्रमेयं तत्सामर्थ्येन ज्ञातं प्रमेयबलमेव भवति नतु प्रमाणस्येत्यत आह—**श्रुतेनाऽर्थेनेति** । यः सर्वत्र वेदादौ पदार्थः श्रुतः स सर्वोऽपि भगवदीय इति **"सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ती"**ति वाक्यात् । **"शतं शुक्राणि यत्रैकं भवन्ति । सर्वे होतारो यत्रैकं भवन्ती"**ति श्रुतेः । अनुग्राहकप्रमाणप्रमेयानामेकपर्यवसानविधानात् यत्र त्रयोऽप्येते पर्यवस्यन्ति स आश्रयः। एते त्रयोऽन्योन्यप्रवेशान्नव सर्गादीनां लक्षणरूपा भवन्ति । तत्र सर्गादिषु प्रमेयं लक्षणम् । कारणप्राधान्यात् । पुष्ट्यादिषु प्रमाणम् । ईशानुकथादिषु ज्योतींषीति । अर्थादेते उत्पत्तिस्थितिप्रलयात्मानो भवन्ति । उत्पत्तिर्हि कारणतः कार्यत आधारतश्च । स्थितिरपि पोषणतो विलासतो धर्मतश्च । प्रलयोऽपि अहन्ताममतारूपस्य ईशानुकथया लक्षणम् । सङ्घातस्य प्रलयो निरोधः । न मुक्तजीवानां ब्रह्मणि प्रवेशलक्षणाया । तस्माच्छ्रुतेनैवाऽर्थेन चकारात्तत्साधनयुक्त्या च वर्णयन्तीत्यर्थः । तत्राऽप्यञ्जसा सामस्त्येन । नतु क्लिष्टकल्पनया किन्त्वार्जवेनैव ॥ २ ॥

व्याख्यार्थ—दशम आश्रय को ढूंढ़कर निकाल लेने के लिये यहां श्री भागवत में दशम आश्रय है। उसको किसी किसी नियत विशेष के द्वारा शोधकर पहचान लेना विशुद्धि है। यह श्री भागवत् में होती है। जगत् के सब ही पदार्थ भगवद्रूप हैं, अतएव उनमें सब में ही भगवद्रूप दश धर्म रहते हैं यह सिद्ध हो चुका हैं। उन्हें विशेष भी कहते हैं। इन धर्म या विशेषों से ही पदार्थ की पहचान होती है, उनमें एक ग्राह्य बाकी के त्याज्य हैं। आश्रय को ही ग्रहण करना पहचानना है। ऐसी अवस्था में यदि इन बाकी के नव पदार्थों का निरूपण न किया जावे,तो किसको लेना और किसको छोड़ना यह शोध ही न हो सके। अतः आश्रय को पहचान लेने के लिये यह नियम करना पड़ता है, कि जहां तक प्राकृत गुणों का सम्बन्ध मालूम पड़े,वहां तक वह पदार्थ त्याज है। यदि ऐसा न करे अर्थात् गुण से भी सम्बन्ध रखें, तो भगवान् के आश्रय में व्यभिचार दोष होवे। अन्यथा सम्बन्ध न करना यह सिद्धान्त का भङ्ग भी हो जाय। तो अब ये सर्ग आदि नव उस आश्रय के ही एक के पीछे एक

धर्म है; इसलिये सब से पीछे जो बाकी रहता है, वह ग्रहण करने योग्य है। इसका यह तात्पर्य होता है, कि जैसे गेहूं प्रभृति पर तुष आदि वस्तु को ढंक देने वाले होते हैं, इसी तरह ये धर्म भी आश्रय को ढंक देने वाले हैं। यह दिखा देने के लिये ही भागवत् शास्त्र में इनका निरूपण है। जब इनका निरूपण हो जाता है, तब आश्रय दूसरे इन पदार्थों से स्पष्ट और शुद्ध निरूपित हो जाता है। पहचाना जाता है। इसलिये इन नव धर्मों के भी लक्षणों का निरूपण करना उचित है। यही मूत्र में कहा हैं—'लक्षणम्'। जैसे गल कम्वल (सास्ना) गाय का लक्षण (विशेष) होता हैं, इसी तरह से भागवत में सर्ग आदि के लक्षण कहे जाते हैं। स्वरूप नहीं। स्वरूप तो उन-उन स्कन्धार्थों के निरूपण के समय कहेंगे।

इनका यही लक्षण है। इसमें प्रमाण क्या है तो कहते हैं, कि 'वर्णयन्ति'। बड़े लोग वर्णन करते हैं, यही इसका प्रमाण (सत्यता) है। ये लक्षण भगवान् है। इसलिये इनका वर्णन कोई क्षुद्र नहीं कर सकता। इसलिये कहते हैं—'महात्मनः'। बड़े लोग। बड़ा है अन्तकरण जिनका, उनके अन्तःकरण में भगवच्चरणारविन्द (माहात्म्य) का विक्रम जब होता है, तब वे महात्मा कहे जाते हैं और तब ही ऐसे लोग भगवान् के स्वरूपों को जान लेते हैं।

यहां पर एक प्रश्न होता है, पहचाननेयोग्य भगवान् हैं, और उसके सामर्थ्य से ही जब अन्य पदार्थों को जानते हैं, यह बल तो प्रमेय का ही बल हुआ। प्रमाण का बल कहां रहा? तो शास्त्र ने वर्णन किया है। यह कैसे? तो इसका उत्तर देते हैं, कि 'श्रुतेन अर्थेन अञ्जसा'। वेदार्थ के अनुसार सहज में। वेदादि शास्त्रों में जो पदार्थ कहे गये हैं, वे सब भगवत्स्वरूप ही कहे गये हैं, क्योंकि वेद में कहा है, कि 'सब वेद (ज्ञान) उस भगवान् के स्वरूप का ही निरूपण करते हैं' 'सैकड़ों जीव जिस भगवान् में समा जाते हैं,' 'सब ही जीव जहां एक होते हैं', वह भगवान् आश्रय है। यहां अनुग्रह के प्रमाण और प्रमेय तीनों को एक आश्रय भगवान् में ही समाप्ति की गई है। इसलिये प्रमाण भी भगवद्बल से विरूपण में बलवान् होता है। अनुग्राहक जीव, प्रमाण-ज्ञान और प्रमेय-वस्तु जात जहां जाकर अन्त में एक हो जावें, वह आश्रय है। जैसे सत्व रज तम तीनों एक दूसरे में प्रवेश करने से नव हो जाते हैं, इसी प्रकार जीव, ज्ञान, और वस्तु तीनों आपस में मिलकर नव सर्गादि पदार्थ उस आश्रय के लक्षण हो जाते हैं। सर्ग, विसर्ग और स्थान प्रमेय रूप लक्षण हैं। कारण कि श्रुति में शुक्र शब्द से वस्तुजात का कारण कहा है, और सबका कारण तो प्रमेय रूप भगवान् ही प्रधान हैं। दूसरा पोषण, ऊति और मन्वन्तर ये तीन प्रमाण रूप लक्षण हैं, क्योंकि वेदोक्त ज्ञान ही इनमें प्रधान है, और ईशानुकथा, निरोध और मुक्ति में ज्योतिः जीव जात ही लक्षण हैं, क्योंकि भक्त निरुद्ध और मुक्त तीनों जीव जात हैं और ये नवों उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय स्वरूप भी हैं। सर्ग, विसर्ग और स्थान ये तीन उत्पति रूप हैं। पोषण, ऊति, मन्वन्तर तीनों स्थिति रूप हैं, और ईशानुकथा, निरोध और मुक्ति प्रलय रूप हैं।

इनमें महाभूत आदि कारणों से, उनके गुणरूप कार्य से और आधार रूप भगवान् से उत्पति होती है। अनुग्रह से विलास रूप भ्रचलन से और सद्धर्म से स्थिति होती है, और अहंता ममता रूप संसार का प्रलय भी भक्त और भगवत्कथा रूप भक्ति से होता है। जीव देह का प्रलय ही निरोध है और जीवत्व का प्रलय ही भक्ति है। इसलिये ईशानुकथा, निरोध और मुक्ति से प्रलय

होता है। इसलिये कहना होता है कि वेदार्थ के अनुसार और वेदोक्त साधन युक्ति से ही महात्मा लोग इन सर्गादि का वर्णन करते हैं। उसमें भी सम्पूर्ण रीति से और सरलता से क्लिष्ट कल्पना से नहीं ॥ २ ॥

आभास—तानि लक्षणान्याह—

आभासार्थ—उन लक्षणों को कहते हैं—

श्लोक—**भूतमात्रेन्द्रियधियां जन्मसर्ग उदाहृतः।**
ब्रह्मणो गुणवैषम्याद्विसर्गः पौरुषः स्मृतः ॥ ३ ॥
स्थितिर्वैकुण्ठविजयः पोषणं तदनुग्रहः।
मन्वन्तराणि सद्धर्म ऊतयः कर्मवासनाः ॥ ४ ॥

श्लोकार्थ—महाभूत मात्रा इन्द्रिय और बुद्धि का गुणों के फेर फार से जो ब्रह्म से जन्म, सर्ग कहा जाता है और विराट् पुरुष से जो सृष्टि होती है, वह विसर्ग कहलाता है। भगवान् का विजय ही स्थिति। भगवान् का अनुग्रह ही पोषण कहा जाता है। सद्धर्म का नाम मन्वन्तर है और कर्म वासना ही ऊति है ॥ ३ ॥ ४ ॥

सुबोधिनी—**भूतमात्रेन्द्रियधियामिति**। भूतानि महाभूतानि। पञ्च तन्मात्राणि च। शब्दादीनि पञ्च। इन्द्रियाणि दश। धीर्बुद्धिः अन्तःकरणात्मिका चतुर्द्धा। एवं चतुर्विंशतितत्त्वान्युक्तानि भवन्ति। तेषामपि कारणत्वेन त्रयो गुणाः। तेषां वैषम्यात् गुणत्वेनाऽऽविर्भावात्। तेषामपि कारणं ब्रह्म। अतः परम्परया अष्टाविंशतिभेदा भवन्ति। तेषां जन्म सर्गः। सर्गोऽपि द्विविधः। प्रत्येकं समुदायेन च। वैषम्यं च चतुर्विधं भवति। ते हि प्रत्येकं विषमाः समुदायेऽनापि विषमा भवन्ति। त्रिविध एव वा। एवं सर्गस्त्रयस्त्रिंशच्चतुस्त्रिंशद्भेदभिन्नो वा भवति। विसर्गस्य लक्षणमाह—**विसर्गः पौरुषः स्मृत इति**। पुरुषाद्ये जातास्ते विसर्गशब्देनोच्यन्ते। तत्र प्रमाणं स्मृतिर्महताम्। पुरुषाल्लोकत्रयभेदेन तद्भेदा एकत्रिंशद्भवन्ति। **"अष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशाऽऽदित्या"** इति। स्थितिं लक्षयति—वैकुण्ठस्य विशिष्टो जयो यत्रेति। प्राकृतेषु चतुर्विंशतिधा। जीवब्रह्मभेदेन आत्मनि द्विधेति षड्विंशतिभिन्ना। पुष्टिं लक्षयति— **तदनुग्रह इति**। तस्य वैकुण्ठस्य जितेषु स्वाधीनीकृतेषु योऽयमनुग्रहः तेषु मर्यादार्थं सप्त पृथक्कृत्य शिष्टेष्वनुग्रहः। महाभूतेष्वात्मद्वये च नानुग्रहः। तत्र मर्यादैव। ऊतिसद्धर्मयोर्वासनाधर्मरूपत्वात् धर्मजनिता वासनेति विपरीततया लक्षयति— **मन्वन्तराणि सद्धर्म इति**। सतां धर्मस्त्रिविधो भवति कायवाङ्मनोभिः कृतः। कायिको दशधा। वाचनिकश्च दशधा। इन्द्रियोपलक्षकत्वात्। मानसश्चतुर्द्धा। अन्तःकरणोपलक्षकत्वात्। इष्टं चिन्तयति, इष्टमावापोद्वापाभ्यां विचारयति, इष्टमाशंसते, इष्टं करिष्यामीत्यध्यवस्यति। एवमन्तःकरणे चतुर्द्धा सद्धर्मः। सर्वेन्द्रियैश्च सद्धर्मकरणम्। रेतोपाननिरोधेन धर्महेतुत्वं तयोः। आश्रयादानतृप्तिप्रजननजाड्यतापनिर्बन्धदूरीकरणैः शब्दादिदानेन च सद्धर्मः शरीरे दशधा। एवं चतुर्विंशतिभेदो

भवति । ऊतीर्लक्षयति—**कर्मवासना इति** । कर्मजनिता वासनाः कर्मवासनाः । तत्र शरीरस्य कर्मेन्द्रियाणां च सम्बन्धिनः सद्धर्मा वासना-जनकाः । ननु ज्ञानेन्द्रियान्तःकरणानाम् । अतः पञ्चदशधा भवन्ति । ३ ।। ४ ।।

व्याख्यार्थ—(१) पांच महाभूत पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश । रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द ये पांच तन्मात्रा । आंख, कान, नाक, रसना और त्वचा ये पांच ज्ञानेन्द्रिय । पाणि, पाद, गुदा, लिङ्ग और जिह्वा ये पांच कर्मेन्द्रिय, दश इन्द्रिय । चित्त अहंकार बुद्धि और मन ये चार अन्तःकरण, ये चौबीस तत्त्व कहे जाते हैं, और इन चौबीस तत्त्वों के कारण तीन प्राकृत गुण सत्त्व रजत् तमस् । जिनके विषम(कमबढ़)पन से सबका आविर्भाव होता है और इन सब का मूल कारण ब्रह्मरूप महतत्त्व । इन २८ तत्त्वों का जन्म ही सर्ग कहा जाता है । यह सर्ग दो प्रकार का है। प्रत्येक का और इकट्ठे सब का । गुणों की विषमता भी चार प्रकार की है । तीन गुणों की प्रत्येक की और इकट्ठे सब की । गुण अकेले अकेले भी घट-बढ़ होते हैं और इनके समुदाय की भी विषमता होती है । अथवा तीनों की विषमता ही ली गई है । इस तरह २८ तत्त्व, तीन गुण और तीन उनकी विषमता ये सब सर्ग के भेद ३३ या ३४ होते हैं । सर्ग निरूपक तृतीय स्कंध के अध्याय ३३ हैं ।

(२) अब विसर्ग का लक्षण कहते हैं—"विसर्गः पौरुषः स्मृतः" विराट् पुरुष से जो पैदा हुये वे सब विसर्ग कहे जाते हैं । इसमें महापुरुषों की स्मृति ही प्रमाण है । पुरुष से जो तीन लोक का भेद हुआ और फिर उन तीनों के भी जो भेद हुये वे सब ३१ होते हैं । "अष्टौ वसवः एकादश रुद्रा, द्वादश आदित्या" इति । वेद में कहा है कि आठ वसु लोक हैं । ग्यारह रुद्र लोक हैं और द्वादश आदित्य लोक हैं । 'भूः भुवः स्वः' तीन त्रिलोकी हैं । आठ वसु भेद भू लोक के हैं । ग्यारह रुद्रलोक भेद हैं, भुवर्लोक के हैं और स्वर्लोक के बारह आदित्य लोक भेद हैं । इस तरह ३१ भेद विसर्ग के हैं और विसर्ग निरूपक चतुर्थ स्कंध के ३१ अध्याय हैं ।

(३) वैकुण्ठ भगवान् के विशिष्ट जय मर्यादा पालन का नाम स्थिति है । प्राकृत तत्त्वों पर विजय मर्यादा पालन कराना चौबीस प्रकार का है । जीव और ब्रह्म के भेद से दो तरह का भी है । इसलिए स्थान २६ प्रकार है ।

(४) पुष्टि का लक्षण बताते हैं—वैकुण्ठ भगवान् ने जिनको जीता है, अपने अधीन किया है, उन पर जो अनुग्रह वह पोषण । उन २६ में भी मर्यादा के लिए सात को छोड़कर बाकी रहे उन्नीसों पर अनुग्रह करते हैं । पांच महाभूत और जीव और अन्तर्यामी पर अनुग्रह नहीं है । उन पर मर्यादा ही है ।

(५)(६) ऊति और सद्धर्म दोनों वासना रूप हैं और धर्म से वासना तैयार होती है, इसलिए यहां उलट फेर से कह रहे हैं कि 'मन्वन्तराणि सद्धर्मः ।'

सत्पुरुषों का धर्म तीन प्रकार से होता है । काय से, वाणी से और मन से । कायिक धर्म दश प्रकार का और वाचनिक भी दश प्रकार का । क्योंकि ये दोनों दशेन्द्रिय से होते हैं और मानस धर्म चार प्रकार का है, क्योंकि यह अन्तःकरण से होता है और अन्तःकरण चार प्रकार का है । 'इष्ट

की चिन्तना करता है । अपेक्षित को लाकर अधिकी को हटाकर इष्ट का विचार करता है । इष्ट को चाहना करता है और हित ही करूंगा यह निश्चय करता है' । इस तरह से अन्तःकरण में चार प्रकार सद्धर्म हैं । सद्धर्म सब इन्द्रियों से भी होता है । वीर्य और अपान को नियम में रखने से नीचे की इन्द्रिय भी धर्म में कारण होती है । ठहरना, लेना, तृप्ति, कुछ पैदा करना, जड़ता, ताप और हठ को दूर करना और शब्दादि के देने प्रभृति कर्म (सद्धर्म) दश प्रकार से देह में भी रहता है । इन्द्रिय देह और अन्तःकरणों के धर्मों को मिलाकर २४ प्रकार होते हैं । यही अष्टम स्कंध के अध्याय भी २४ हैं । कर्म वासनाओं को ऊति कहा है । सप्तम स्कंध ऊति स्कंध है । ज्ञानेन्द्रिय और अन्तःकरण को छोड़कर शरीर और कर्मेन्द्रियों सद्धर्म वासनाओं को पैदा करते हैं । अतएव शरीर दश और पांच कर्मेन्द्रिय जन्य यों १५ वासना होती हैं और यही सप्तम स्कंध के अध्याय भी हैं ॥ ३ ॥ ४ ॥

आभास—ईशानुकथां लक्षयति—

आभासार्थ—ईश्वर और उसके अनु (भक्त लोग) इनकी कथा का लक्षण कहते हैं—

श्लोक—**अवतारानुचरितं हरेश्चाऽस्यानुवर्त्तिनाम् ।**
पुंसामीशकथाः प्रोक्ता नानाख्यानोपबृंहिताः ॥ ५ ॥

श्लोकार्थ—भगवान् के अवतारों की चरित्र वार्ता और अनेक आख्यानों से भरी हुई भगवान् के भक्त लोगों की कथायें ईशकथा कही जाती है ॥ ५ ॥

सुबोधिनी—अवतारानुचरितमिति । ईशानुकथा द्विविधा । ईशस्य तदनुवर्तिनां च कथा । तदुभयं लक्षयति । तत्र ईशकथामाह—**अवतारानुचरितमिति** । सर्वभूतदुःखदूरीकरणार्थमाविर्भूतस्य भगवतश्चरित्रमीशानुकथा । अस्याऽनुवर्त्तिनामिति द्वितोयस्य लक्षणम् । यथा भगवान् सर्वदुःखनिवारकस्तथा ये दुःखनिवारकाः ते तदनुशब्देनोच्यन्ते । तत्रेशस्य हरेरिति विशेषणात् दुःखदूरोकरणं सुखप्रापणं चेति । अतो दुःखनिवारणे गुणभेदेन तदनुवर्त्तिनो नवधा भवन्ति । ईशस्याऽपि चरित्रं कर्मज्ञानभक्तिभेदैस्त्रिधा भवति । तथाऽनुवर्त्तिनोऽप्यविद्यालक्षणदुःखदूरीकर्त्तारो ज्ञानिन एक विधा भवन्ति । एवं दुःखदूरीकरणे त्रयोदश भेदाः । सुखप्रापणे दशधा सर्वेन्द्रियसुखप्रापकास्तदनुवर्त्तिन एकश्च भगवानित्येवमेकादश उभये चतुर्विंशतिः । तेषां प्रत्येकनिरूपणार्थं नानाख्यानोपबृंहिता इत्युक्तम् ॥ ५ ॥

व्याख्यार्थ—(७) ईशानुकथा दो प्रकार की है । भगवान् की और भगवान् के भक्तों की । उन दोनों के लक्षण कहते हैं । उनमें पहले ईश की कथा कहते हैं— 'अवतारानुचरितम्' । सब प्राणियों के दुःखों को दूर करने के लिए प्रकट हुये भगवान् के चरित्र ईश कथा हैं और भगवान् के अनुचरों की कथायें दूसरा लक्षण है । जैसे भगवान् सब प्राणियों के दुःखों को दूर करते हैं, वैसे ही उनके भक्त भी दीनों के दुःखों को दूर करते हैं । इसलिए वे 'तदनु'—अनुचर शब्द से कहे गये हैं । यहां ईश शब्द के साथ हरि शब्द विशेषण दिया है, इसलिये दुःख दूर करना और सुख पहुँचाना

दोनों भगवान् के कर्त्तव्य हैं और दोनों ही भगवदनुचरों के। भगवद्भक्तों के गुण भेद से नव प्रकार होने से दुःख निवारण भी सत्वादि भेद से नव प्रकार का हो जाता है। भगवान् का भी चरित्र कर्म ज्ञान भक्ति तीन भेद से तीन प्रकार का होता है। इसी प्रकार से भगवद्भक्त ज्ञानी लोग भी अज्ञानियों के अविद्या स्वरूप दुःखों को दूर करते हैं। वे एक तरह के हैं। इस तरह दुःख दूरीकरण के विषय में तेरह भेद होते हैं। सुख पहुंचाने के विषय में भी भगवदनुचर लोग दीनों के सर्वेन्द्रियों को सुख पहुँचाते हैं, इसलिए दश प्रकार के हैं और उनके भगवान् एक प्रकार के हैं, इसलिये दोनों पक्ष मिलकर २४ भेद होते हैं और २४ अध्याय नवम स्कंध के हैं। उनके प्रत्येक का वर्णन करने के लिए अनेक प्रकार के उपाख्यान कहे हैं॥ ५॥

आभास—निरोधं लक्षयति—

मुक्तिं लक्षयति—

आभासार्थ—निरोध का लक्षण कहते हैं—

अब मुक्ति का लक्षण कहते हैं—

श्लोक—**निरोधोऽस्याऽनुशयनमात्मनः सह शक्तिभिः।**
मुक्तिर्हित्वाऽन्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः॥ ६॥

श्लोकार्थ—अपनी सब शक्तियों को साथ में लेकर सर्वव्यापक भगवान् का यहां प्रपंच में प्रकट होकर क्रीड़ा के अनुकूल जो शयन-सावधान स्थिति-सो निरोध कहलाता है। बदले हुए अपने रूप को छोड़कर अपने निज स्वरूप में जाकर स्थित होना ही मुक्ति है॥ ६॥

सुबोधिनी—**अस्याऽनुशयनमिति**। अस्य भगवतः अनु पश्चाच्छयनं शक्तीः शाययित्वा तद्भोगार्थं स्वस्य शयनम्। अस्येति पुरोवर्त्ती आत्मत्वेन प्रकाशमानोऽङ्गुल्या निर्दिश्यते। आत्मनो देहस्य। सहेत्युभयत्र। देहशक्तयो द्वासप्तिभेदा नाडीरूपाः। स्वस्य श्रियादयो द्वादश। शयनं च त्रिविधं जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिभेदेन। अतः सप्ताशीति भेदा भवन्ति। मुक्तिं लक्षयति—**हित्वाऽन्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिरिति**। अन्यथारूपं तत्स्वरूपं तस्य परित्यागः स्वरूपमेकम्। अवस्था द्विविधा सामान्यविशेषभेदेन। उभयत्र लक्षणं मिलितम्। तत्रापि पूर्वं तत्त्वपरित्यागः। तत्त्वान्यष्टाविंशतिः। एवमेकत्रिंशद्भेदा भवन्ति॥ ६॥

व्याख्यार्थ—यह सर्वव्यापक भगवान् जब अपनी शक्तियों को प्रपंच में लीलानुकूल रीति से सुलाकर फिर पीछे उनका उपभोग करने के लिए आप भी आकर लीलानुकूल शयन करें यह निरोध कहा जाता है। 'अस्य' 'इसका' शब्द का तात्पर्य यह है कि अपने आत्मारूप से आगे ही प्रकाशमान परमात्मा को अंगुली से दिखा रहे हैं। 'आत्मनः' का यहां अपनापा लिया गया है। इस लिए देह सहित स्वरूप लिया गया है। अर्थात् भगवान् जब प्रपंच में क्रीड़ानुकूल स्थिति करते हैं तब

आनन्दमय किंवा सत्वमय देह सहित हो विराजते हैं। ऐसी अवस्था में जब अपनी शक्तियों के साथ ऐसा कहा जाय तो देह की और स्वरूप दोनों की ही शक्तियां ली जाती हैं। इसलिए मूल में 'अस्य' 'इसका' पद कहा है। इदं शब्द का प्रत्यक्ष में ही प्रयोग होता है। भगवान् के स्वरूप का कभी प्रत्यक्ष नहीं, किन्तु देह सहित का तो अनुग्रह से हो सकता है। इसलिए अस्य शब्द से यही देह और भगवत्स्वरूप दोनों लिये गये हैं। देह की ७२ नाड़ी रूप शक्तियां हैं और भगवत्स्वरूप की 'श्री' आदि द्वादश मुख्य शक्तियां हैं और शयन तीन प्रकार का है। जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति। जागृत, स्वप्न, दोनों, देह और आत्मा का मिलकर है और सुषुप्ति आत्मा का है। किंवा पक्षान्तर में तीनों शयन दोनों के हैं। इस तरह सब ८७ भेद होते हैं। यही ८७ अध्याय दशमस्कंध में हैं। अघासुर वध के ३ अध्याय प्रक्षिप्त हैं।

जीव का अन्यथा (बदला हुआ) रूप तत्त्वरूप है। यद्यपि २८ तत्त्व प्रकृति के मिलकर बने हैं, अतएव ये जीव का असली रूप नहीं है, तथापि अध्यास (भूल) से यह जीव अपने स्वस्वरूप को तत्त्वरूप समझ बैठा है। इसलिए यहां उसे 'अन्यथा रूप बदला रूप' कहा गया है। कहने का तात्पर्य यह है, जीव का रूप तो शुद्ध ज्ञानमय एक ही है, किन्तु उसकी अवस्था दो हो जाती हैं। सामान्य और विशेष। दैवी अवस्था सामान्या है, किन्तु उसमें भी मर्यादारूपा और पुष्टि रूपा अवस्था दो विशेषावस्था हैं। मुक्ति में तत्त्वों का परित्याग सबसे पहले अपेक्षित है। तदनंतर मर्यादा मुक्ति में ब्रह्म सायुज्य और ब्रह्म सहयोग दोनों मुक्ति हैं। तत्त्वरूप परित्याग भी मुक्ति है और यह लक्षण दोनों में समान होता है, यह इसलिए मुक्ति का लक्षण है। तत्त्व २८ हैं। रूप एक है और अवस्था दो हैं। इस प्रकार सब ३१ भेद हैं। एकादश के अध्याय भी ३१ हैं॥ ६॥

आभास— आश्रयं लक्षयति—

आभासार्थ— आश्रय का लक्षण कहते हैं—

श्लोक—**आभासश्च निरोधश्च यतश्चाऽध्यवसीयते।**
स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मेति शब्द्यते॥ ७॥

श्लोकार्थ—जगत् का आविर्भाव और तिरोभाव जहां से होता हो यह निश्चय है, कि वह आश्रय है। उसे परब्रह्म और परमात्मा आदि शब्दों से कहते हैं॥ ७॥

सुबोधिनी—आभासश्चेति। आश्रयो द्विविधः। शास्त्रमार्गेणाऽऽश्रीयत इति प्रपत्त्या, सायुज्येन वा, उत्पत्तिस्थितिप्रलयैर्वा। क्रियया आश्रयणं पञ्चधा। ज्ञानेनाऽऽश्रयणमष्टधा। मनसो द्विःस्वभावत्वात्तस्योभयत्र सम्बन्धः। अन्तःकरणानां मध्ये अहङ्कारस्य नाऽऽश्रयहेतुत्वम्। एवं त्रयोदशधा भवति। एवमपि राशिद्वयात्मको भवति क्रियाज्ञानभेदेन। तत्र प्रथमतः क्रियया आश्रयं प्रतिपादयति— **आभासश्चेति।** आभास उत्पत्तिः। चकारात्तमश्च। आभासशब्देन च उत्पत्त्यादयः सर्वे। वस्तुनो मायिकानामेव न स्वस्येति विषयताया आश्रयत्वं बोधयति निरोधस्तयोरेव। इदमाश्रयत्वं कर्तृत्वेन। तदैव क्रियया आश्रयत्वं भवति। आभासनिरोधावुत्पत्तिप्रलयौ। अन्ये विकारा एतदन्तर्भाविनः। **पूर्वरूपपरित्यागो द्वितीयस्याऽऽदिम-**

स्तथा । उभावेकीकृतौ लोके वृद्धादिभिरुदीरिता-विति । अध्यवसीयत इति । यतो भगवतः सकाशान्न केवलमेते विकारा जायन्ते किन्तु प्रकाश्यन्ते च भगवतैव । चकारात्तेषु स्वभावो-ऽपि सम्पाद्यते । अतोऽस्ति भाति प्रियमिति त्रयं भगवत्कार्यं तत्कारणत्वेनाऽऽश्रयः । एतदेव तस्याऽधिष्ठानत्वम् । तदाह—**स आश्रय इति ।** स भगवानाश्रय इत्यर्थः । यतः सच्चिदानन्दरूप-त्वात्पूर्वोक्ता धर्मा भवन्ति । अयमेव भगवान् शास्त्रान्तरे नामान्तरेण व्यपदिश्यत इति सर्व-समन्वयार्थं नामान्तरमाह । परं ब्रह्मेति वेदे । परमात्मेति स्मृतौ । शब्दत एव । शब्दमात्रं भिद्यते । अर्थस्त्वेक एव । वेदचतुर्मुखवर्णव्युदा-सार्थं परशब्दः । जीवव्युदासार्थं द्वितीयः ।। ७ ।।

व्याख्यार्थ—आश्रय का लक्षण दो प्रकार का है । भक्ति मार्ग के द्वारा भी आश्रय होता है और ज्ञान मार्ग के द्वारा भी आश्रय होता है । आश्रीयते असौ आश्रयः । जिसका सब आश्रय लें अथवा जो सबका आश्रय आधार हो, वह परब्रह्म आश्रय है । वेद में कहा है कि जैसे सब तरह के सब ही जलों का आधार एक स्थान समुद्र है । इसी तरह विविध विश्व का एक स्थान एक आधार परब्रह्म है । भक्ति मार्ग में शरणागति द्वारा आश्रय होता है और ज्ञान मार्ग में सायुज्य (ऐक्य) के द्वारा । इसलिए ही दो प्रकार से आश्रय का लक्षण कहा है । शास्त्र में भक्ति मार्ग और ज्ञान मार्ग दोनों ही हैं ।

यहां कदाचित किसी को यह आशंका हो कि प्रपत्ति और सायुज्य के कहने से चेतनों का ही भगवान् आश्रय है, जड़ पदार्थों का नहीं । तो इस आशंका को दूर करने के लिए कहते हैं कि 'उत्पत्तिस्थितिप्रलयैर्वा' । इस पक्ष में जड़ चेतन सबका ही भगवान् एक आधार होता है ।

उत्पत्ति में भी आश्रय है, स्थिति में भी और प्रलय अवस्था में सबका आधार रहता है । इन तीनों में क्रिया और ज्ञान का सम्बन्ध है, इसलिए दोनों के प्रकार से आश्रय कहते हैं । प्रथम क्रिया से पांच प्रकार आश्रय होता है और ज्ञान में आठ प्रकार से आधार है । कर्मेन्द्रिय पांच हैं इसलिए आश्रय के भी पांच प्रकार हैं । पांच ज्ञानेन्द्रिय चित्त, बुद्धि, मन ये तीन ज्ञान के साधन होते हैं । इसलिए आठ प्रकार से ज्ञानाश्रय हैं । मन क्रिया और ज्ञान दोनों से सम्बन्ध रखता है, इसलिए जब ज्ञानाश्रय में ग्रहण कर लिया तब कर्मेन्द्रिय में सम्मिलित करने की अपेक्षा नहीं है और अन्तःकरण के अहंकार को आश्रय का हेतु नहीं माना गया । इस प्रकार क्रिया ज्ञान के मिलकर १३ प्रकार होते हैं । यह आश्रय भगवान् ज्ञान क्रिया द्वारा दो राशि में बट जाता है । उनमें से पहले क्रिया के द्वारा आश्रय का निरूपण करते हैं—आभासश्चेति । यहां आभास शब्द से उत्पत्ति ली गई है । तम अन्धकार भी लिया है । अन्धकार भी उत्पन्न हुआ है । होना, पैदा होना, बढ़ना, बदलना,क्षीण होना, नष्ट हो जाना ये छहों विकार आभास शब्द से लिये गये हैं । आभास शब्द ही कह रहा है कि वास्तव में ये छहों विकार मायिक पदार्थों के ही होते हैं । ब्रह्मरूप जगद्विषय के नहीं और इनका आश्रय भी भगवान् मायिक और विषयता के हो हैं । जगत् तीन प्रकार का है । यह पहले कह चुके हैं । उनमें दो प्रकार का जगत् ब्रह्मरूप है । नित्य वर्तमान रहता है, उसकी उत्पत्तियां या छः भाव विकार कैसे हो सकते हैं? इसीलिए उत्पत्ति न कहकर आभास कहा । आभास ब्रह्मरूप रहते भी कुछ नहीं । ऐसी अवस्था में यह पदार्थ मायिक पदार्थ और विषयता का ही आश्रय आधार हो सकता है । सत्य नित्य ब्रह्मरूप विश्व का नहीं । निरोध अर्थात् नाशाश्रय भी मायिक और विषयता दो का ही । सत्य विश्व का नहीं । वास्तव में तो इन उत्पत्ति आदि का भी आधार विषयता ही है ।

यह आश्रयत्व कर्त्तृत्व को लेकर है और तब ही क्रिया के द्वारा आश्रय हो सकता है।[1] आभास और निरोध शब्द से उत्पत्ति और प्रलय लिये गये हैं। इन दोनों के अन्दर बाकी रहे भाव विकार आ जाते हैं। आविर्भाव तिरोभाव जहां कमी वेशी से एक होते हैं वहां दूसरे भाव की उत्पत्ति हो जाती है। अर्थात् आविर्भाव तिरोभाव में जब अपेक्षित न्यूनाधिक्य कर देने से ये ही वृद्धि विपरिणाम आदि भाव विकार हो जाते हैं। जैसे पूर्व रूप का तो परित्याग तिरोभाव और दूसरे किसी अन्य रूप का आविर्भाव उत्पत्ति यहीं लोक में वृद्धि आदि शब्द से कही जाती है और यही बदलना है। आविर्भाव की कुछ न्यूनता और वस्तु के तिरोभाव की मात्रा कुछ अधिक यही अपक्षय कहलाता है। इस तरह उत्पत्ति प्रलय में हो स्थिति वृद्धि आदि आ जाते हैं और यही सिद्धान्त निश्चित भी है। अर्थात् चतुर्मुख आदि ऐसे नहीं है। कारण कि भगवान् से ये भाव विकार केवल पैदा होते हैं। इतना ही नहीं है किन्तु भगवान् की सत्ता से ही इनका प्रकाशन-स्थिति दर्शन भी होता है। 'च' से यह भी ज्ञात होता है कि उनका स्वभाव भी भगवान् ही बनाते हैं। उनका प्रकाशन करने से और स्वभाव सम्पादन कर देने से अस्ति (है), भाति (जाना जाता है) प्रिय (अच्छा, प्यारा) ये तीनों विषयतागत होने से भगवत्कार्य हैं और उनका कारण होने से भगवान् आश्रय हैं, किन्तु अपने सच्चिदानन्दों का नहीं वे तो स्वरूप हैं। उनमें आधाराधेय द्वैत भाव हो नहीं सकता। किंवा कार्य कारण भाव नहीं हो सकता।

कहने का तात्पर्य यह है कि सृष्टि के पूर्व तो भगवान् 'सदेव' 'एकमेवा द्वितीयं' 'यतो वाचो निवर्तन्ते' 'यत्तद्द्रेश्य' थे। अतएव उस समय और सृष्टि प्रलय में भी उनका यही रूप रहता है। फिर यह 'आभासश्च निरोधश्च' क्या और यह कैसे? इसकी समञ्जसता करने के लिए ही मूल में 'आभास' शब्द दिया है और श्रीमद्वल्लभाचार्यजी ने भी 'आभास उत्पत्तिः', यहां से लेकर 'एतदेव-तस्याधिष्ठानत्वम्' पर्यन्त सुबोधिनी ग्रन्थ कहा है।

'आभासश्च' यह श्लोक भगवान् को क्रिया के द्वारा आश्रय कर रहा है। भगवान् क्रिया का कर्त्ता है इसलिए आधार है। जगत् की उत्पत्ति आदि कुल विकार इसके करने से ही होते हैं। इसलिए इस जगत् का और उत्पत्ति आदि का आश्रय आधार भगवान् ही है। इसलिए वास्तव में मायिक उत्पत्ति आदि का और मायिक[2] पदार्थों का ही आश्रय है। किन्तु स्वरूप का किंवा स्वरूपात्मक जगत् का आश्रय नहीं है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि विषयता का ही आश्रय है और निरोध

---

१. इदमाश्रयत्वं कर्त्तृत्वेन। तदैव क्रियया आश्रयत्वं भवति।

२. वस्तुतो मायिकानामेव, न स्वस्येति विषयताया आश्रयत्वं बोधयति। निरोधस्तयोरेव। अतो अस्ति भाति प्रियमिति त्रयं भगवत्कार्यं तत्कारणत्वेनाश्रयः। —सुबोधिनी भाग, २ स्कंध, १० अध्याय, श्लोक ७
आश्रयत्वं विषयताद्वयाऽऽधारत्वम्। तयोरेव, जगद्रूप तमोरूपयोः विषयतमोः। त्रयमिति, विषयता गतं त्रयम्। तथा च मूले 'यतः' इत्यनेन उत्पत्त्यादिकं प्रकाशकं हेतुमुद्दिश्य तस्मिन्नाश्रयत्व विधानात् विषयतो परञ्चक स्थित्या आश्रयत्वं विविक्षित मिति प्रकृति पुरुष जन्यायां जगद्रूपायां विषयता सञ्चायक रूपायां प्रविश्य तत्तदाकार रूपाया स्तस्या अस्त्यादि रूपत्वं यत्सम्पाद्यते तदेवाविष्टत्वमधिष्ठानत्वमित्यर्थः।
—प्रकाशे श्री पुरुषोत्तम चरणाः भाग, २ स्कंध, १० अध्याय, ७ श्लोक

तिरोभाव भी दोनों तरफ की विषयताओं का ही होता है। आधिदैविक सत्य जगत् का नहीं क्योंकि वह जगत् स्वरूपात्मक है। इसीलिए मूल में 'यत:' अव्यय दिया है। मायिक पदार्थों का भगवान् में लय नहीं है यह दिखा रहा है। मायिक जगत् में अस्ति, भाति और प्रिय जो दीख रहे हैं ये भी विषयता स्थित ही भास रहे हैं। भगवद्धर्म किंवा भगवत्स्वरूपात्मक नहीं। ये तीनों भगवत्कृति जन्य हैं और कृति के कर्त्ता स्वयं हैं। इतने मात्र से वैसे विश्व का आश्रय भगवान् हैं। अर्थात् दीखते हुए जगत् में जो सत्ता ज्ञान और आनन्द मालूम दे रहे हैं वे मायिक विषयताओं के ही है। भगवत्स्वरूपात्मक सच्चिदानन्द नहीं है।

'यतश्चाध्यवसीयते' इस मूल में 'यत:' ये अव्यय पद है। इसका तात्पर्य भी यही है कि भगवान् सम्पूर्ण जगत् का प्रकाशक है। अतएव उत्पत्ति आदि भाव-विकारों का भी प्रकाशक है। और इस प्रकाश कारण को ही लेकर भगवान् को आश्रय कहा है 'यत: आभास:'। तो इससे यही स्पष्ट होता है कि भगवान्, दोनों तरह की विषयताओं को प्रकाश पहुंचाता रहता है। यही उसका आश्रयपना या आधारत्व है। अर्थात् प्रकृति और पुरुष से पैदा हुई जगद्रूपा विषयता जो सांचे की तरह उपयोग में आती है, उसमें भगवान् प्रवेश करते हैं और इस विषयता के जो जगदाकार हैं, उनके अस्ति, भाति, प्रिय रूपों को बनाता रहता है। बस यह प्रवेश करके उसके रूपों को प्रवेशित करवाते रहना ही भगवान् का आधारत्व, आश्रयत्व और अधिष्ठानत्व है। यही कहते हैं कि 'स आश्रय इति' वह भगवान् इस जगत् का आश्रय है, प्रकाशक है। भगवान् सच्चिदानन्दरूप हैं, इसलिए इन्हीं के प्रवेश प्रकाश से पूर्वोक्त अस्ति, भाति, प्रिय रूप धर्म समझ में आ रहे हैं।

यही भगवान् श्रुति, स्मृति आदि शास्त्रों में अनेक नामों से कहा जाता है, यह दिखाने के लिए और सब शास्त्रों के साथ भागवत का समन्वय होने के लिए उन नामों का निर्देश करते हैं– वेद में परब्रह्म नाम से कहा जाता है। गीता में यही भगवान् परमात्मा कहा जाता है 'शब्दयते' इस पद का यह अर्थ है कि कहने मात्र के ये दोनों मोक्ष हैं। वास्तव में पदार्थ तो दोनों एक ही हैं। वेद ब्रह्मा और वर्णों को भी 'ब्रह्म' कहते हैं, सो कोई इन्हें न समझ ले इसलिए यहां 'पर' शब्द कहा है और पर शब्द से जीव को भी कहीं कह दिया है, सो कोई उसे न समझ ले इसलिए 'ब्रह्म' पद कहा है। इसलिए पर, ब्रह्म दोनों पद सार्थक हैं ॥ ७ ॥

आभास—एवं क्रियाश्रयं निरूप्य ज्ञानाश्रयं निरूपयति— **योऽध्यात्मिकोऽयमिति** द्वाभ्याम्।

आभासार्थ—इस तरह क्रिया के आश्रय भगवान् का निरूपण करके अब ज्ञानाश्रय का निरूपण करते हैं—

श्लोक—**योऽध्यात्मिकोऽयं पुरुषः सोऽसावेवाऽऽधिदैविकः।**
यस्तत्रोभयविच्छेदः स स्मृतो ह्याधिभौतिकः ॥ ८ ॥

श्लोकार्थ—जो आध्यात्मिक पुरुष है, वही आधिदैविक पुरुष है, किन्तु इन दोनों में विच्छेद-भेदभाव-कराने वाला (देह) है, वह आधिभौतिक पुरुष कहा जाता है ॥ ८ ॥

सुबोधिनी—ज्ञानमग्रे निरूपयितुं ज्ञेयमत्र निरूप्यते । ज्ञेयं त्रिविधमाध्यात्मिकादिभेदेन । आत्मानमध्यध्यात्मम् । आत्मा देहस्तमधिष्ठाय ये तिष्ठन्तीन्द्रियान्तःकरणानि प्राणाश्च तेऽध्यात्मानः । तानधिष्ठाय यस्तिष्ठति शारीर आत्मा स आध्यात्मिकः । सोऽयमेव पुरुषो यः श्रोतृवक्तृत्वेन व्यवह्रियते । यस्त्वेतदन्तर्यामी स आधिदैविकः। अधिदेवानामिन्द्रियाधिष्ठातृदेवानां नियामकत्वेन तानधिष्ठाय यः स्थितः स आधिदैविकः । सोऽप्ययमेव । एक एवेन्द्रियाणीन्द्रियाधिष्ठातृदेवांश्चाऽधितिष्ठन् शब्दद्वयेनोच्यते । अतएव देवाधिष्ठानसामर्थ्यमन्तर्यामिण इति स एतस्याऽपि पूज्यत्वेन निरूप्यते । एकस्यैव उभयविधविच्छेदकर्त्ता शब्दद्वयप्रवृत्तिनिमित्तभूत आधिभौतिकः । भूतान्यधिष्ठाय ये तिष्ठन्ति रूपादयस्तेऽधिभूतास्तत्समुदायोऽवयवी आधिभौतिको देहः । देहे विद्यमान एवेन्द्रियाभिमानित्वमिन्द्रियप्रेरकत्वं च । नोचेदेक एवाऽऽत्मा । अस्योभयविच्छेदकत्वे महतां स्मृतिः स्मरणं प्रमाणम् । तदाह—**स्मृत इति** ।। ८ ।।

व्याख्यार्थ—आगे के श्लोक में ज्ञानरूप भगवान् का निरूपण करना है । इसलिए जानने योग्य भगवान् का निरूपण करते हैं । ज्ञेय भगवान् आध्यात्मिक आधिदैविक और आधिभौतिक रूप से तीन प्रकार का है । 'आत्मानं अधि' अर्थात् आत्मा के भीतर वह अध्यात्म । यहां आत्मा देह को कहा है । देह का आश्रय लेकर ठहरने वाले इन्द्रिय अन्तःकरण और प्राण ये सब अध्यात्म पदार्थ कहे जाते हैं । इन अध्यात्मों को अधिकार में रखकर जो रहता है, वह शरीरस्थित आत्मा (जीव) आध्यात्मिक पदार्थ है । यह वह पुरुष है, जिसको हम श्रोता वक्ता आदि शब्दों से समझते हैं और कहते भी हैं और जो पुरुष, इस जीवात्मा के भी भीतर बैठकर इसका शासनकर्त्ता है उसे अन्तर्यामी किंवा आधिदैविक पुरुष कहा है । दश इन्द्रिय हैं और दश ही उनके अधिष्ठाता देव हैं । ये देव इन्द्रियों के अधिष्ठाता इन्द्रियों को कार्य में प्रवृत्त करते हैं किन्तु इन दशों देवगणों को स्वस्व कार्य में चलाना जीवात्मा आध्यात्मिक पुरुष का कार्य है और इस आध्यात्मिक पुरुष का और आधिदेव इन्द्रियाधिष्ठाता देवों का भी नियमन करने वाला यह आधिदैविक पुरुष है, जिसे वेदादिशास्त्रों में अन्तर्यामी शब्द से कहा है । यह आधिदैविक पुरुष ही आध्यात्मिक पुरुष है । एक ही आत्मा पदार्थ इन्द्रियों का भी नियामक है और वही इन्द्रियाधिष्ठाता देवगणों का भी नियामक है । यह नियामक पुरुष ही आध्यात्मिक (जीव) और आधिदैविक (अन्तर्यामी) दो शब्दों से कहा जाता है । इन्द्रियों का नियमन करते समय जीवात्मा पुरुष कहा जाता है और अधिष्ठाता देवों का नियमन करते समय अन्तर्यामी पुरुष शब्दों से कहा जाता है । देवगणों को नियम में रखने का सामर्थ्य अन्तर्यामी का है । इसलिये ही शास्त्रों में अन्तर्यामी जीवात्मा को भी पूज्य कहा गया है ।

एक ही नियामक जीव और अन्तर्यामी दो शब्दों से कैसे कहा जाता है? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं कि एक ही पदार्थ का दो तरह का विच्छेद करने वाला और दो नाम कराने का कारण आधिभौतिक पुरुष है, जिसे हम देह शब्द से कहते हैं । यह आधिभौतिक पुरुष है । पंच महाभूतों का आश्रय लेकर रह रहे हैं, जो रूप, रस, गंध, स्पर्श, गंध ये अधिभूत कहे जाते हैं । इन सब का समुदाय अवयवी यह देह ही आधिभौतिक है । देह के रहने से ही इन्द्रियाभिमानी देवता और इन्द्रियों का प्रेरणकर्त्ता भी रह सकता है । यदि थोड़ी देर के लिए महाभूत तन्मात्राओं का समूह देह न रहे तो न इन्द्रियप्रेरक रहे और न इन्दियाभिमानी रहे । क्योंकि दोनों आत्मा वास्तव में एक ही आत्मा है । यह देह ही दोनों आत्माओं का भेद कराने वाला है । इस सिद्धान्त में महापुरुषों की स्मृति गीता प्रभृति ही प्रमाण है । (स्मृतः) ।। ८ ।।

आभास—एवं ज्ञेयं निरूप्य तद्विषयकज्ञानाधारत्वेनाऽऽश्रयं निरूपयति—

आभासार्थ—इस तरह ज्ञेय पदार्थ का निरूपण करके अब ज्ञेय विषयक ज्ञान के आधार आश्रय का निरूपण करते हैं—

श्लोक—**एकमेकतराभावाद्यदा नोपलभामहे ।**
त्रितयं तत्र यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः ।। ६ ।।

श्लोकार्थ—ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता, इन तीनों में से एक के अभाव में एक भी नहीं पाया जाता, क्योंकि एक के बिना दूसरा हो नहीं सकता । ऐसी अवस्था में जो तीनों को जानता है, वह स्वाश्रय का भी आश्रय है ।। ६ ।।

सुबोधिनी—एकमेकतराभावादिति । त्रितयं तत्र यो वेद स आश्रय इति । ननु जोवोऽपि त्रितयं वेद । **अन्तर्याम्यपि** । अत आश्रयलक्षणमतिव्यापकमित्याशङ्क्याऽऽह । एकं त्रयाणां मध्ये एकतरस्य स्वातिरिक्तस्य अभावाद्धेतोः एकं नोपलभामहे किन्तु भावेनैवोपलभामहे । एकमप्यन्ययोर्भावेन उपलभ्यते नत्वभावेन । तदा **"सापेक्षमसमर्थं भवती"** ति न तेषामन्यतरस्त्रितयं ज्ञातुं शक्तः । अन्तर्याम्यपि स्वव्यापारे व्यापृतस्त्रितयमध्ये प्रविष्टो न त्रितयं जानाति । यथा देहजीवयोस्त्रितयाज्ञानं सर्वजनीनं तथाऽन्तर्यामिणोऽपि ज्ञेयम् । एवं सति यस्त्रितयं वेद स आश्रयः। तस्य नामान्तरमप्याह—**आत्मेति** । अतति व्याप्नोतीत्यात्मा । अत एवाऽस्य लीलात्वादात्मा विभूतित्वेन गणितः । **"अहमात्मा गुडाकेशे"** ति । इदमेकं भगवतो रूपम् । भगवानेव वा ज्ञानाश्रयत्वे य आत्मत्वेन निरूपितः । ननु तस्याऽपि स्वज्ञानाभावात् स्वधिष्ठातृज्ञानाभावाच्च तस्याऽप्यन्य आश्रयः स्यादत आह—**स्वाश्रय इति** । स तु स्वात्मानमेवाऽऽश्रित्य तिष्ठति न तस्याऽऽश्रयान्तरापेक्षा । अनेन स्वप्रकाशः स इत्युक्तं भवति ।। ६ ।।

व्याख्यार्थ—ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय तीनों को जो जाने वह आश्रय वास्तव है । यहां यह प्रश्न होता है, कि इन तीनों को तो जीव भी जानता है और अन्तर्यामी भो । इसलिए आश्रय का लक्षण अति व्याप्त हो जायगा । अर्थात् एक को छोड़कर दूसरे में भी चला जायगा, यह दोष है । तो कहते हैं कि चतुर्थ स्वश्रयाश्रय के रहने से यह दोष नहीं आता । सो इस तरह मैं घट को जानता हूं । इस वाक्य में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान तीन पदार्थ हैं । मैं ज्ञाता है, घट ज्ञेय है और इन दोनों का साधन करण ज्ञान है । इन तीनों में से अपने सिवाय किसी एक के भी अभाव में एक को भी सत्ता नहीं रहती । अर्थात् तीनों में से यदि एक भी हटा लिया जाय तो कोई भी नहीं रहता । ज्ञेय हटा लिया जाय तो ज्ञाता किसका और ज्ञान भी किसका कुछ भी न रहे । इस तरह एक के न रहने से एक भी कुछ नहीं रहता । तीनों बने रहें तभी तीनों रह सकते हैं । एक भी अन्य दो के भाव में ही रह सकता है । अभाव में नहीं । ऐसी अवस्था में 'सापेक्षमसमर्थं भवति' एक-दूसरे को अपेक्षा रखने से दोनों असमर्थ हो जाते हैं । इस न्याय के अनुसार तीनों एक-दूसरे को अपेक्षा रखते हैं, इसलिए ज्ञाता आदि तीनों असमर्थ हैं, यह शंका हो सकती है । इसके उत्तर में कहते हैं कि नहीं यहां तीनों

असमर्थ नहीं हैं। क्योंकि तीनों को सामर्थ्य पहुँचाने वाला एक तुरीय पदार्थ और भी है। वह चतुर्थ व्यापक ज्ञानात्मा त्रितय को जानता है।

कदाचित् कोई कहे कि अन्तर्यामी ही अपने-अपने तिगट्टे को जान सकता है फिर तुरीय स्वाश्रयाश्रय की अपेक्षा क्या है? तो उत्तर देते हैं कि अन्तर्यामी भी अपने नियमन रूप कार्य में लग रहा है इसलिए अपने तिगट्टे को नहीं जानता। जैसे देह और जीव तीनों को नहीं जानता यह सब को मालूम है, इसी तरह से अन्तर्यामी भी तीनों को नहीं जानता यह स्पष्ट है। ऐसी अवस्था में जो तुरीय ज्ञानात्मा सर्व व्यापक, सर्वाश्रय, भगवान् तीनों को जानता है, वह वास्तव में आश्रय है। उसका एक दूसरा भी नाम है। 'आत्मा' सब जगह जो पहुँचा रहे, सब में भरा हुआ रहे वह आत्मा। इसलिए इस आत्मा का ही एक लीला स्वरूप आत्मा भी आत्मा कहा गया है। वह सर्व देह व्यापक होने से 'आत्मा' है और यह सर्व विश्व व्यापक होने से आत्मा है। गीता में कहा है कि 'अहमात्मा गुडाकेश सर्व भूताशय स्थितः'। अर्थात् हे अर्जुन! सर्व प्राणियों के हृदयाकाश में स्थित मैं हो आत्मा कहा जाता हूँ। यह आश्रय रूप भी भगवान् का एक पृथक् रूप ही है अथवा ज्ञान को आश्रय देने में जो आत्मा रूप से माना जाता है, वह यह भगवान् ही है इसीसे इसे तुरीय किंवा ज्ञानाश्रय कहते हैं।

यहां एक यह प्रश्न भी होता है कि जब ज्ञात्रादि को भी त्रितय ज्ञान नहीं है, इसलिए चतुर्थ को ज्ञानाश्रय मानते हो, फिर इसको अपना ज्ञान नहीं है। अथवा अपने अधिष्ठाता का ज्ञान नहीं है, इसलिए इसका भी एक पंचम आश्रय और मानना पड़ेगा। इसका उत्तर देते हैं कि वह स्वाश्रय है। अपने स्वरूप का ही आश्रय लेकर ठहरा हुआ है। इसको अन्य आश्रय की अपेक्षा नहीं है। स्वाश्रयाश्चासौ आश्रयश्च स्वाश्रयाश्चयः। अर्थात् सर्वाधार यह तुरीय आत्मा अपना भी आश्रय है और अन्य पदार्थों का भो आश्रय है। इससे यह स्पष्ट होता है कि यह स्वाश्रयाश्रय आत्मा अन्यान पेक्ष स्वयं प्रकाश रूप है॥ ९॥

आभास—एवं दश लक्षणानि निरूप्य त्रितयनिरूपणार्थं पूर्वोक्तं विराजमुपपत्त्या सह निरूपयति—

आभासार्थ—इस तरह दश लक्षणों का निरूपण करके अब तीन का (ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाता) निरूपण करने के लिए विराट् पुरुष का उपपत्ति सहित निरूपण करते हैं—

श्लोक—**पुरुषोऽण्डं विनिर्भिद्य यदादौ स विनिर्गतः।**
आत्मनोऽयनमन्विच्छन्नपोऽस्राक्षीच्छुचिः शुचीः॥ १०॥
तास्ववात्सीत्स्वसृष्टासु सहस्रं परिवत्सरान्।
तेन नारायणो नाम यदापः पुरुषोद्भवाः॥ ११॥

श्लोकार्थ—सृष्टि के आरम्भ में जब यह पुरुष अण्ड का भेदन करके बाहर निकला, तब अपने रहने के लिए उसने स्थान की इच्छा की। स्वयं पवित्र था। इस-

लिए अपने रहने के जल को भी पवित्र किया। अपने ही पैदा किये, उन जलों में यह भगवान् हजारों परिवत्सर पर्यन्त निवास करता रहा। इसीलिए भगवान् को 'नारायण' कहते हैं। नर पुरुष से उत्पन्न हुये जलों को 'नार' कहते हैं। यहां पुरुष से जल पैदा हुये हैं और उन जलों में भगवान् ने निवास किया है, इसलिये ये भगवान् 'नारायण' कहे गये हैं ॥ १० ॥ ११ ॥

सुबोधिनी—पुरुषोऽण्डमिति। "यावानयं वै पुरुष" इत्यत्र नामरूपे तस्याऽऽक्षिप्ते जीवतुल्यतया तत्र जीववैलक्षण्यं निरूपयितुं स्वेच्छयैव तस्य नाम इन्द्रियाणि चेति जीवसाम्यं निराकरोति। तत्र प्रथमं नामनिरुक्तिमाह— **पुरुषोऽण्डमिति** द्वाभ्याम्। पुरुषो विराट्। ब्रह्माण्डं विनिर्भिद्य कटाहात्पृथक्कृत्य नारिकेलगोलकवत् यदा विनिर्गतः स्वसर्वकार्ये समर्थो जातः। अथवा। अण्डमेव वा भित्त्वा निर्गतः। तदा अण्डे न जलाद्यावरणव्यवस्था। पुराणान्तरानुरोधेन परमण्डे स्थित इति व्याख्यायते। वस्तुतस्तु कटाहं विनिर्भिद्यैव निर्गतः। अत एवाऽऽत्मन आश्रयापेक्षा। पूर्वमण्डमेवाऽऽश्रयत्वेन स्थितम्। तस्मिन् भग्ने आश्रयान्तरमन्विच्छन् अपोऽस्राक्षीत्। स्वयं शुद्धो ज्ञानपूर्णो भगवदवतारः स्वाश्रयं शुद्धमेव सृष्टवान्। सर्वस्याऽपि शुद्धिर्जलेनेति जलं सृष्टवान्। अपामपि शुद्धिः फेनतरङ्गादिराहित्येन। ततस्तास्वेवाऽप्सु स्वसृष्टास्ववात्सीत्। न ह्यन्य एवमपः स्रष्टुं तत्र स्थातुं वा शक्नोति। स्वसृष्टास्वित्यनेनाऽपां महत्त्वेन स्वमहत्त्वं बोधयन् जीवाद्यन्तराभावेन च तत्कृतं भयमशुद्धिं च निवारयति। अत्र वासस्तूष्णींभावेन। **सहस्रपरिवत्सरानिति।** स नारायणावतारो ब्रह्ममानेन सहस्रपरिवत्सरमात्रं तिष्ठतीति ज्ञायते। शयनार्थं वा। सहस्रपरिवत्सरं शयनं कृत्वा पश्चात् सृष्टिं करोति। एतावान् कालः स्वदेहे निष्पाद्यमानानां सर्वेषां जीवानां सर्वनिर्वाहार्थं। एवं सति तस्य नारायणेति नाम जातमित्याह— **तेन नारायणो नामेति।** नारमयनं यस्येति नारायणः। नन्वस्य जलमयनं तत्कथं नारायण इति। तत्राऽऽह—**यदापः पुरुषोद्भवा इति।** यद्यस्मादापः पुरुषशब्दवाच्यान्नरादेवोत्पन्नाः। पूर्वं हि पुरुषः। स एव नारायणपूर्वभावित्वान्नर इत्युच्यते। भगवदावेशात्। तस्माज्जाता आपः तेन नाराः। ता अयनं यस्येति भवत्येव नारायणः। एवं स्वनिर्मितेनैव कार्येण स्वस्य नामानि भवन्तीति न प्राकृततुल्यता ॥ १० ॥ ११ ॥

व्याख्यार्थ—'यावानयं वै पुरुषः' इस वाक्य में नाम और रूप दोनों जीव के समान हैं और ऐसा भगवान् के लिए उचित नहीं है। यह आक्षेप किया है। दोष दिया है। यहां उसका समाधान करते हैं कि जीव के और भगवान् के शरीर और नाम में विलक्षणता विभेद है। क्योंकि भगवान् के रूप और नाम अपनी स्वतन्त्र इच्छा से होते हैं, कर्म परवश होकर नहीं। इसलिए पुरुष में और जीव में समानता नहीं हो सकती, यह दिखाते हैं। उसमें पहले नाम का निर्वचन करते हैं, 'पुरुषोऽण्डं' इत्यादि दो श्लोकों से—

विराट् पुरुष ने ब्रह्माण्ड को कटाह से पृथक् करके नारियल के गोला की तरह जब अपने आपको प्रकाशित किया। अर्थात् अपने सब कार्य करने में वह समर्थ हो गया अथवा विश्व के एक देश अण्ड को ही भेदन करके जब बाहर निकला, उस समय जलादि के आवरण की व्यवस्था नहीं

थी । 'दशोत्तराधिकैर्यत्र' इत्यादि वाक्य के अनुरोध से विराट् भगवान् की स्थिति अण्ड में कही है । वास्तव में तो कटाह से अण्ड को अलग करके भगवान् विराट् पुरुष बाहर आया यही ठीक है । इसीसे अपने लिए उसे आश्रय की अपेक्षा हुई । पहले अण्ड ही आश्रय रूप से था । जब उसका भङ्ग हो गया, तब आश्रय की अपेक्षा हुई, इसलिए जल पैदा किये । स्वयं ज्ञान पूर्ण शुद्ध अवतार है । इसलिए उसने अपना आश्रय भी शुद्ध ही तैयार किया । सब को जल से शुद्धि होती है, इसलिए जल को पैदा किया । जल भी जब झाग, तरंग आदि रहित रहता है, तब शुद्ध कहा जाता है । तरंग फेनादि से रहित अपने पैदा किये जलों में विराट् ने निवास किया । भगवान् के सिवाय जीव आदि इस तरह जल को पैदा करने में और उसमें ठहरने में शक्तिमान नहीं है ।

'स्वसृष्टासु' कहने से जल का महत्व दिखाया और अपना भी महत्व दिखाया है । जीव आदि का कोई अन्तर न होने से जीवगतमय अशुद्धि का निवारण किया । यह जल का निवास निश्चल, चेष्टा रहित भाव से हुआ ।

'सहस्र परिवत्सरान्' यह भगवान् नारायण दिव्य ब्राह्म मान (नाप) से एक सहस्र वर्ष पर्यंत स्थित रहता है अथवा शयन करता है । एक सहस्र वर्ष शयन करके निश्चल विचार स्थित होकर फिर पीछे सृष्टि रचना करता है । यह इतने काल निश्चल स्थिति किसके लिए? तो कहते हैं कि अपने भीतर ही भीतर सब जीवों के व्यवहार निर्वाहार्थ तैयारी करने में इतना समय देना उचित ही था । इसीसे इस पुरुष का नाम नारायण हुआ । 'तेन नारायणोनाम' । नर-समूह नार, यह नर समूह ही है अयन घर-जिसका वह 'नारायण' । यदि कोई कहे कि पुरुष की तो जल ही में स्थिति कह आये हैं फिर नार-अयन कैसे कहते हैं तो उत्तर देते हैं कि 'यदापः पुरुषोद्भवाः' । ये जल पुरुष से ही पैदा हुये हैं । ये जल पुरुष शब्द से कहने योग्य नर से ही पैदा हुये हैं । पहले पुरुष ही था और यह नारायण से पूर्व था इसलिए 'नर' कहा गया, क्योंकि इसमें पुरुषोत्तम का आवेश हुआ था । इस नर से जो उत्पन्न हुये वे जल नारा कहे गये और वे जल ही जिसके अयन वह नारायण हुआ । इस तरह भगवान् का स्वरूप और नाम दोनों अपने स्वरूप में से बनाये कार्य से ही है, इसलिए यह प्राकृत तुल्य भी नहीं है और न जीव तुल्य है ।। १० ।। ११ ।।

आभास—किञ्च । अस्मादपि हेतोर्न प्राकृततुल्यतेत्याह—

आभासार्थ—एक और भी कारण से भगवच्छरीर और नाम प्राकृत शरीरादि के समान हैं—

श्लोक—**द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च ।**
यदनुग्रहतः सन्ति न सन्ति यदुपेक्षया ।। १२ ।।

श्लोकार्थ—द्रव्य पृथिव्यादि, कर्म उत्पत्त्यादि, काल भूतादि, स्वभाव और जीव ये सब जिस भगवान् के अनुग्रह से तो रहते हैं और जिनकी थोड़ी भी उपेक्षा से नहीं रहते हैं ।। १२ ।।

सुबोधिनी—**द्रव्यं कर्म च कालश्चेति** । द्रव्यमधिभूतं महाभूतादि । कर्माऽध्यात्ममदृष्टादि । काल आधिदैविको नियन्ता सर्वनिमित्तभूतः । स्वभावः परिणामहेतुः । जीवो भोक्ता । **उपादानं निमित्तं च क्षोभको हेतुरेव च । भोक्ता चेति समस्तार्थे समर्थाः कृपया हरेः** । तदाह—**यदनुग्रहत इति** । एवकारेण जीवानां विशेषाकारेण भगवत्कृपाधीनत्वं बोधितम् । चकारादन्यान्यपि साधनानि दण्डादीनि भगवत्कृपयैव । सन्ति आविर्भूतानि तिष्ठन्ति । कार्यक्षमाणि च भवन्ति । अन्यथाऽव्यक्तमेतानपकर्षति । यथा व्याघ्रः पशुम् । तदाह—**न सन्तीति** । नाऽत्र भगवतः क्रोधोऽप्यपेक्ष्यते । किन्तूपेक्षामात्रेणाऽव्यक्तस्तानुपसंहरति । अनेन **"यावान् कल्प"** इत्यादिषु ये कालादय आक्षिप्तास्ते सर्वे समाहिता ज्ञेयाः ।। १२ ।।

व्याख्यार्थ—कर्म जो अन्तःकरण पर संस्कार रूप से जमा रहता है,वह अध्यात्म अदृष्ट आदि, पंचमहाभूतादि द्रव्य अधिभूत, आधिदैविक पदार्थ काल जो सब को वश में रखता है और सब कार्य में निमित्त है, सबको बदल देने का कारण स्वभाव और भोक्ता जीव । इनमें कोई भगवत्कृपा से अवान्तर उपादान है । कोई निमित्त कारण है । कोई चेष्टा कराने वाला है । कोई हेतु है,और कोई सुख-दुःखादि का भोक्ता है । यही बात कहते हैं कि 'यदनुग्रहतः' । यह सब भगवान् विराट् पुरुष के अनुग्रह से होता है । 'एव' शब्द से यह कहते हैं कि जीवगण विशेष करके भगवत्कृपा के अधीन हैं । 'च' कहकर यह भी दिखाया है कि अन्य-अन्य साधन दण्डदानादि भी भगवत्कृपा से ही हैं अर्थात् आविर्भूत रहते हैं, कार्य करने में सफल होते हैं । जो भगवान् का अनुग्रह इन पर न हो तो अव्यक्त पुरुष इन पदार्थों को अपनी तरफ खींच ले, अव्यक्त बना दे । जैसे व्याघ्र पशु को अपना रूप दे देता है । खा जाता है । यही कहते हैं कि 'न सन्तीति'। भगवान् की उपेक्षा से ये सब कुछ भी नहीं रहने पाते । इस विषय में भगवान् को क्रोध की अपेक्षा नहीं है किन्तु भगवान् की दृष्टि हट जाने से ही अव्यक्त इनका उपसंसार कर लेता है । इससे 'यावान् कल्पविकल्पेषु' इत्यादि को जो कालादि के आक्षेप किये थे, उन सबका समाधान यहां कर दिया, यह समझ लेना चाहिये ।। १२ ।।

आभास—किञ्च । भगवाननन्तः कथं सृष्टयादि करोतीति न शङ्कनीयम् । यतस्तस्य सृष्टिप्रकार एवमित्याह—**एको नानात्वमन्विच्छन्नि**त्यादिभिः ।

आभासार्थ—और भी भगवान् अनन्त हैं, यह सृष्टि आदि कार्य कैसे करता है । यह शंका यहां न करनी चाहिये सो कहते हैं ।

श्लोक—**एको नानात्वमन्विच्छन् योगतल्पात्समुत्थितः ।**
वीर्यं हिरण्मयं देवो मायया व्यसृजत्त्रिधा ।। १३ ।।

श्लोकार्थ—स्वप्रकाशरूप यह भगवान् को जब एक से नाना होने की इच्छा हुई, तब यह योग शय्या से उठा और अपने आनन्दमय हिरण्मय पराक्रम को उसने अपनी सर्व भवन शक्ति से सत्, चित्, आनन्द रूप में तीन प्रकार से प्रकाशित किया ।। १३ ।।

सुबोधिनी—भगवानेक एव जले शयानोऽनेकरूपो भविष्यामीतीच्छां कृतवान् । ततः शयानस्तल्पादुत्थितो यथा पुरुषः शय्यात उत्तिष्ठति । ततस्तस्य स्वात्मनो बहुधेच्छायां तस्य वासुदेवस्य मायारूपा या भार्या तया हेतुभूतया तस्याः सन्निधिमात्रेणैव स्वस्मिन्नेव विद्यमानं बीजात्मकं वीर्यं सच्चिदानन्दरूपं त्रिधा सद्रूपचिद्रूपानन्दरूपभेदेन त्रिधा असृजत् ।। १३ ।।

व्याख्यार्थ—जल रूप शय्या में सोते हुए भगवान् ने 'मैं एक ही अनेक रूप होऊंगा', यह इच्छा की, तब जैसे पुरुष पलंग से उठता है, इस तरह उस जल तल्प से उठे । अर्थात् उनके वीर्य में कई क्षोभ हुये । तब उनके अपने स्वरूप को ही अनेक रूप में प्रकट करने की इच्छा हुई । यह वास्तव में वासुदेव भगवान् हैं और इनकी माया शक्ति स्त्री है । उसको उस समय साधन बनाकर इसके पास में रहने मात्र से अपने आप में विद्यमान् सबका बीज रूप सच्चिदानन्द पराक्रम को उन्होंने सत् चित् और आनन्द रूप में तीन तरह से प्रकट किया । अर्थात् सद्रूप, चिद्रूप और आनन्द रूप तीन पदार्थ पैदा किये ।। १३ ।।

आभास—भेदत्रयमपि गणयति—

आभासार्थ—इन तीन भेदों को ही गिनते हैं—

श्लोक—**अधिदैवमथाऽध्यात्ममधिभूतमिति प्रभुः ।**
यथैकं पौरुषं वीर्यं त्रिधाऽभिद्यत तच्छृणु ।। १४ ।।

श्लोकार्थ—सर्व समर्थ प्रभु ने एक अपने पौरुष वीर्य को ही अधिदैव, अध्यात्म और अधिभूत रूप से तीन तरह पृथक्-पृथक् जैसे किया सो सुनो ।। १४ ।।

सुबोधिनी—प्रथमतः अधिदैवं आनन्दांशभूतम् । अथ तदनन्तरं अध्यात्मं चिद्रूपम् । ततः अधिभूतं सद्रूपम् । कथं कृतवानित्यपेक्षायामाह—**प्रभुरिति** । सर्वसमर्थः । इतिशब्दः प्रकारे । यथैतत्त्रयं निर्मितं तथाऽन्येऽपि प्रकारा निर्मिता इति । अनेन सर्वे त्रिविधा उत्तरिताः । प्रकारविशेषेणाऽपि त्रैविध्यं जातं निरूपयति—**यथैकमिति** । प्रकारव्यतिरेकेणेच्छयैव त्रैविध्यं भवति तथापि प्रकारेणाऽपि निरूप्यते । यथा एकमभिद्यत । अखण्डस्य यथा भेदस्तथा शृण्वित्यर्थः ।। १४ ।।

व्याख्यार्थ— सबसे पहला आनन्द का अंश अधिदैव पदार्थ है । इसके अनन्तर चित् रूप अध्यात्म पदार्थ है और इसके अनन्तर अधिभूत सद्रूप पदार्थ है । सद्रूप जड़ पदार्थ है । चिद्रूप जीव आदि पदार्थ है और आधिदैव आनन्दरूप अन्तर्यामी-स्वर्गादि पदार्थ हैं । इन पदार्थों को कैसे बना सके सो कहते हैं-'प्रभुः' वह सर्व समर्थ है, इसलिए बना सके । इति शब्द का प्रकार अर्थ है । अर्थात् जिस प्रकार से इन तीन का निर्माण किया ऐसे-ऐसे अन्य भी प्रकारों का निर्माण किया । इससे यह भी स्पष्ट होता है कि सब ही प्रकार के पदार्थ आधिदैविक,आध्यात्मिक और आधिभौतिक तीन भेदों से भिन्न-भिन्न ही बनाये । प्रकार के भेद से भी त्रिविधता होती है, सो कहते हैं—

'यथा एकं' अर्थात् यद्यपि भगवान् को अपने त्रिविध होने में प्रकार विशेष की अपेक्षा नहीं है। इच्छा मात्र से ही त्रिविध हो सकते हैं तथापि किसी समय प्रकार विशेष के द्वारा भी त्रिविध होते हैं। सो कहते हैं—'एकं अभिद्यत' भगवान् अखण्ड व्यापक था, किन्तु जैसे उसके अनेक प्रकार भिन्न-भिन्न हो गये, सो सुनो ।। १४ ।।

आभास—तदेवाऽऽह—

आभासार्थ—सो ही कहते हैं कि—

श्लोक—**अन्तःशरीर आकाशात्पुरुषस्य विचेष्टतः ।**
ओजः सहो बलं जज्ञे ततः प्राणो महानसुः ।। १५ ।।

श्लोकार्थ—शरीर के भीतर अवकाश-आकाश के होने से जब विराट् भगवान् चेष्टा करने लगे तब इन्द्रिय अन्तःकरण और देहादि पदार्थों को क्रम से ओजस् सहस् और बल मिलने लगे, तब फिर महत्तत्व का एक अंश लौकिक वायु से भिन्न प्राण पैदा हुआ ।। १५ ।।

सुबोधिनी—**अन्तः शरीर इति** । शरीरमध्ये हृदयस्थाने य आकाशस्तस्मादाकाशाद्धेतोः पुरुषश्चेष्टां कृतवान् । निरवकाशश्चेष्टितुं न समर्थ इत्यधिकरणेऽप्याकाशस्य हेतुत्वम् । पुरुषस्य नारायणस्य । विचेष्टतः शरीरमध्य एव चेष्टां कुर्वतः । इदं तु तस्यैव शक्यम् । तदा तस्य चेष्टात इन्द्रियान्तःकरणदेहानां सामर्थ्यानि जातानीत्याह—**ओजः सहो बलं जज्ञ इति** । ततः तदनन्तरं प्राणो जातः । तस्य प्राणस्य वायुत्वं निराकरोति—**महानिति** । महत्तत्वांशभूतः सूत्रात्मा । न तु भौतिको वायुः। अन्येऽपि प्राणाः सन्तीति विशेषणमाह—**असुरिति** । सुरित्यनुकरणशब्दः श्वासवायुः । स न भवतीत्यसुः । भौतिकादतिरिक्त इति यावत् ।। १५ ।।

व्याख्यार्थ—शरीर के मध्य हृदय के स्थान में जो आकाश है, उस अवकाश के ही कारण से ही पुरुष ने विविध चेष्टा करनी प्रारम्भ की। यद्यपि पुरुष के लिए देह रूप स्थान मिल गया था, तथापि अवकाश न होने से विविध क्रियायें नहीं हो सकती थी, किन्तु हृदयाकाश में पूर्ण अवकाश मिल जाने से विचेष्टा होने लगी। नारायण पुरुष जब शरीर के भीतर ही चेष्टा करते थे, तब यह शक्ति उनकी ही थी। अर्थात् देहेन्द्रियान्तःकरण प्राणों की यह शक्ति नहीं थी। इनकी ही विविध चेष्टाओं से फिर इन्द्रिय अन्तःकरण और देह में सामर्थ्य आई। भगवान् की चेष्टा से इन्द्रियों को ओजस नाम की शक्ति मिली। अन्तःकरण को सहस् नामक सामर्थ्य मिली और देह को बल नाम की शक्ति मिली। तब फिर सर्वत्र प्राण नामक भगवान् प्रकाशित हुआ। कोई इसे लौकिक वायु न समझ ले, इसलिए कहते हैं—'महान्'। यह प्राण महत्तत्व का ही अंश था, किन्तु महाभूत में गिना जाता वायु पदार्थ नहीं। इन्द्रियान्तःकरण देहादि में अन्य भी प्राणांश प्राण हैं, इसलिए प्राण को विशेषण दिया है—'असुः'। 'सुः' यह श्वास वायु का अनुकरण (शब्द की नकल 'सुः') है। जो 'सु' न हो वह 'असुः' कहा जाता है। अर्थात् भौतिक वायु से प्राण जुदा ही पदार्थ है ।। १५ ।।

आभास—भगवच्चेष्टामात्रेणैवेन्द्रियादिशक्तयः प्राणाश्च जाताः। तस्य प्राणस्य माहात्म्यमाह—

आभासार्थ—भगवान् की चेष्टा से ही देहेन्द्रियान्तःकरणों को शक्ति मिलती है और प्राण भी उसी से प्रकाशित होता है, यह कह दिया। अब उस प्राण का माहात्म्य कहते हैं—

श्लोक—**अनु प्राणन्ति यं प्राणाः प्राणन्तं सर्वजन्तुषु।**
अपानन्तमपानन्ति नरदेवमिवाऽनुगाः ॥ १६ ॥

श्लोकार्थ—जिस प्रकार राजा के ही सहारे से उसके नौकर लोग जीवित रहते हैं, उसी तरह सब प्राणियों के अन्य प्राण इन्द्रियस्थ इस मुख्य प्राण के चलते रहने पर चलते रहते हैं और मुख्य प्राण के निकलने से ही निकलते हैं ॥ १६ ॥

सुबोधिनी—**अनु प्राणन्तीति**। पूर्वं राजसाहङ्कारात्प्राणादीनामुत्पत्तिरुक्ता। ते आधिदैविकरूपाः। एते त्वाध्यात्मिकरूपाः। यं प्राणन्तमनु प्राणन्ति कार्यं कुर्वन्ति। प्राणाः इन्द्रियाणि। तत्रापि न स्वरूपस्थमनु किन्तु प्राणन्तमनु। क्रियाया अपि क्रियापेक्षा सूचिता। तदा तस्य सर्वत्रैव तथात्वं जातमित्याह—**सर्वजन्तुष्विति**। आब्रह्मतृणस्तम्बेषु। अपानन्तमपगच्छन्तमनु इन्द्रियाण्यप्यपगच्छन्ति। तस्योपलक्षकत्वं वारयति दृष्टान्तेन—**नरदेवमिवाऽनुगा इति**। राजानमनु सेवका इव ॥ १६ ॥

व्याख्यार्थ—पहले अध्यायों में राजसाहङ्कार से प्राण आदि उत्पत्ति कही है। वे आधिदैविक रूप थे और ये आध्यात्मिक रूप हैं। यह मुख्य प्राण जब आता जाता रहता है, तब इन्द्रियस्थ अन्य प्राण अपना-अपना कार्य करते रहते हैं। अन्य प्राण शब्द से यहां इन्द्रियस्थ प्राण लिये गये हैं। इसमें भी जब यह प्राण केवल स्वरूपस्थ रहे, तब नहीं, किन्तु जब यह अपना प्राण न कार्य करता रहता है, तब अन्य प्राण उसका उपजीवन करते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि इन्द्रियादि की क्रिया मुख्य क्रिया की अपेक्षा रखती है। तब यह व्यवस्था इसके सब ही शरीरों में हो गई सो कहते हैं—'सर्वजन्तुषु'। ब्रह्मा से लेकर तृण गुल्मादि पर्यन्त जब ये प्राण चले जाते हैं, तब इन्द्रियादि स्थित प्राण भी नष्ट हो जाते हैं। यह उपलक्षण नहीं है। यह दृष्टान्त से कहते हैं–'नरदेवमिवाऽनुगा'। जैसे राजा के नौकर राजा के पीछे ही जीते हैं ॥ १६ ॥

आभास—एवं तस्य माहात्म्यमुक्त्वा ततोऽग्रे सृष्टिमाह—

आभासार्थ—इस तरह प्राण का माहात्म्य कहकर आगे की सृष्टि को कहते हैं—

श्लोक—**प्राणेन क्षिपता क्षुत्तृडन्तरा जायते प्रभोः।**
पिपासतो जक्षतश्च प्राङ्मुखं निरभिद्यत ॥ १७ ॥
मुखतस्तालु निर्भिन्नं जिह्वा तत्रोपजायत।
ततो नानारसो जज्ञे जिह्वया योऽधिगम्यते ॥ १८ ॥

श्लोकार्थ— मुख्य प्राण ने जब इधर-उधर हलचल मचाई तब इस पुरुष को देह के भीतर भूख और प्यास लगने लगी और जब प्यास भूख की वृत्ति हुई तब पूर्व दिशा में मुख का छिद्र हुआ। मुख में तालुआ निकला। उस तालु में जीभ निकल आई, फिर उस मुख में स्वाद लेने के लिए नाना रस पैदा हुए, जिनका स्वाद जीभ से जाना जाता है ।। १७ ।। १८ ।।

सुबोधिनी—प्राणेन क्षिपता क्षुत्तृडिति। प्राणः करणम्। क्षिपता क्षेपयुक्तेन। अन्तःस्थितानि वस्तूनि मलादीनि क्षिपता इतस्ततो विक्षिपता। क्षुत्तृट् अग्निविशेषावित्येके। मृत्युरित्यपरे। ऊष्माविशेष इत्येके। भगवानेव वैश्वानररूपः क्षुत्तृड्वृत्तिद्वयात्मकः। अन्तरा उदरमध्ये। ततस्तद्वशात् पिपासा जिघृक्षा च जाता। ततो बहिःस्थितपदार्थान् जलान्नरूपान्। पिपासतो जक्षतश्च पातुमिच्छोर्भोक्तुमिच्छोश्च। प्राक् पूर्वभागे। पुरुषेणैव हि विभज्यन्ते दिशः। मुखं विवरात्मकम्। निरभिद्यत भिन्नं जातम्। तथापि न स्फुटितमिव किन्तु द्वारमिव। तत्रैव मुखे विवरात्मके। तस्मादेव मुखाद्धेतुभूतात्। तालु लोके जिह्वेति प्रसिद्धं तन्मध्ये निर्गतम्। उपर्यधो देवा अंशत एकीभूताः पदार्थादानार्थे तालुरूपेण निर्गता इत्यर्थः। तत्र जिह्वेन्द्रियं उपजायत आविर्भूतमित्यर्थः। तत इन्द्रियान्निमित्तभूतात्तदनन्तरं वा। नानारसो जज्ञे मधुरादिः। **सर्वोऽपि विषयस्तत्र जायते कारणत्वतः। बहिःस्थितो वा तस्येच्छावशतो जायते रसः।** अनेनाऽन्नादीनामप्येषैव व्यवस्था ज्ञापिता। अन्तःस्थितिपक्षेऽपि तालुव्यापारेणैव तालुद्वारा क्षुत्तृट्शामकं भवतीति मुखादिनिर्माणम्। उपदीका (?) गजादिवत्। बहिर्विषयपक्षे तु न सन्देहः। रसाः शृङ्गारादयोऽपि भवन्तीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह—**जिह्वया योऽधिगम्यत इति।** अधिगम्यते ज्ञायते, विषयतया स्वीक्रियत इति वा ।। १७ ।। १८ ।।

व्याख्यार्थ— वात पित्त कफ आदि मल पदार्थों को इधर-उधर ले जाने में ही प्राण साधन है। वस्तुओं को इधर-उधर फेंक देने की शक्ति प्राण की है। इसलिए अन्तःस्थित वस्तुओं को जब प्राण ने इधर-उधर फैलाना प्रारम्भ किया तब भूख और प्यास पैदा हुई। कितने ही कहते हैं कि भूख प्यास एक प्रकार की अग्नि है। बहुतों का मत है कि मृत्यु ही भूख प्यास है। कितनों का यह मत है कि भूख प्यास एक तरह की गर्मी है। वास्तव में तो वैश्वानर भगवान् ही भूख और प्यास की दो वृत्ति हो जाता है। प्राण भगवान् के आवागमन का जो हृदय पर संघर्ष होता है, उससे वैश्वानर अग्नि प्रकट होता है। उसकी ही ये दो वृत्तियां हैं। ये उदर में रहती हैं। इन वृत्तियों से ही पिपासा और अन्न ग्रहण की इच्छा होती है और बहिःस्थित अन्न जलादि रूप पदार्थों को भूख प्यास की इच्छा होने पर ग्रहण करता है। इसलिए इसके पूर्व भाग में मुख निकला। पुरुष ही अपने चारों तरफ दिशाओं की सृष्टि कर लेता है। पूर्व दिशा में इसके मुख छिद्र निकल आया। फूटा नहीं किन्तु दरवाजे की तरह छिद्र हो गया। इस छिद्रात्मक मुख में मुख के ही कारण तालु निकल आया। जिह्वा के और मुख के ऊपरी भाग में। अर्थात् ऊपर और नीचे के भाग में इन्द्रियाधिष्ठाता देव पदार्थों को ग्रहण करने के लिए तालुरूप स्थित हुए। उसी तालु में जिह्वा नाम इन्द्रिय प्रकाशित हुई। उस जिह्वा में ही रसना इन्द्रिय भी रहने से मधुर अम्ल आदि नाना रस स्वाद आने लगे। यद्यपि कारण होने से सब ही रस और विषय जिह्वा में विद्यमान हैं और पैदा होते हैं, तथापि

भगवदिच्छा से सब रस बहि: स्थित होकर ही प्रकाशित होते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि अन्न आदि की यही व्यवस्था होती है। अर्थात् उनका भी रसास्वाद बहि:स्थित होकर ही होता है। अन्त: स्थिति पक्ष मानें तो भी तालु की क्रिया से तालु के द्वारा क्षुत् तृषा आदि की शान्ति की जाती है। इसलिए सपरिवार मुख का निर्माण किया गया। उदई जन्तु जैसे काष्ठादि को बाहर से यथास्थित रखकर अन्त: भाग में खा जाती है और जैसे हाथी कपित्थ जैसे को तैसा रखकर अन्दर से खा लेता है, उसी तरह। बाहर से रसास्वाद के विषय में तो सन्देह ही नहीं है।

शृंगार आदि को भी रस कहते हैं। सो यहां वे रस न समझ लिये जावे, इसलिए 'जिह्वयाऽधिगम्यते' कहा। जिन रसों को यह विराट् जिह्वा के द्वारा विषय रूप से ग्रहण करता है ॥ १७ ॥ १८ ॥

आभास—ततस्तस्मिन्नेव स्थान इन्द्रियान्तरं जातमित्याह—

आभासार्थ—इसके अनन्तर इस मुख स्थान में ही एक दूसरी इन्द्रिय और भी पैदा हुई सो कहते हैं—

श्लोक—**विवक्षोर्मुखतो भूम्नो वह्निर्वाग्व्याहृतं तयोः।**
जले वै तस्य सुचिरं निरोधः समजायत ॥ १९ ॥
नासिके निरभिद्येतां दोधूयति नभस्वति।
तत्र वायुर्गन्धवहो घ्राणो नसि जिघृक्षतः ॥ २० ॥

श्लोकार्थ—इस भूमा विराट् पुरुष मुखस्थ आकाश की तरह व्यापक भगवान् को जब बोलने की इच्छा हुई, तब वहां अग्नि देवता और वाक् इन्द्रिय स्थित हुई और उन दोनों के हेतु से विराट् पुरुष की बोलचाल प्रारम्भ हुई। कारण कि जल में इस वाक् का बहुत समय पर्यन्त निरोध ही रहा था। हवा के जब चिर समय पर्यन्त फटकारे लगे तब उस मुख के पास ही नासिका के गोलक अथवा नासिका के छिद्र निकल आये। नाक के द्वारा गन्धादि का ग्रहण करने की इच्छा से उस नासिका में गन्ध को वहन करने वाला वायु और घ्राण इन्द्रिय स्थित हुए ॥ १९ ॥ २० ॥

सुबोधिनी—**विवक्षोरिति**। वेदरूपां वाणीं वक्तुमिच्छोः। मुखतः विवरात्मकाद्धेतुभूतात्। भूम्नो व्यापकस्य आकाशरूपस्य। मुखत इत्येतस्य विशेषणम्। आकाश एव यतः शब्दो भवति। यथा तालुरूपे जिह्वा तिष्ठति तथा मुखमध्ये य आकाशस्तस्मिन्वागिन्द्रियं तिष्ठतीत्यर्थः। तत्र प्रथमं वह्निर्देवता वाक् स्त्रीरूपा न भर्तारं विना निर्गच्छतीति ततोऽत्र देवता प्रथमं निरूपिता। ततो वाक् इन्द्रियम्। ततोऽन्यत्रापि प्रथमं देवता पश्चादिन्द्रियमिति ज्ञापितम्। **व्याहृतं तयोरिति**। तयोः सम्बन्धि व्याहृतं वाग्व्यापारो देवताधिष्ठितेन्द्रियसाध्यो न केवलसाध्यः। एवमन्यत्रापि। ततश्चालनेनाऽन्तर्वायुरुद्गतः। स चाऽन्तःपूर्णः क्षोभं जनयतीति

तन्निवृत्त्यर्थं नासिके नासापुटे निरभिद्येताम् । तस्य बहिःपदार्थग्रहणावश्यकत्वाभावेऽप्यन्तः-स्थितवायोरेव निमित्तत्वमाह—**दोधूयति नभस्वतीति** । नभस्वान्वायुस्तस्मिन्नत्यन्तं कम्पमाने सति । अथवा नासिकायां चलनात्मको वायुरेव गोलकरूपः । तत्र वायुर्देवता । गन्धं वहतीति गन्धवहो वायुर्घ्राणो वा । उभयोर्मध्ये विशेषणं गन्धस्य विषयत्वबोधकम् । घ्राण इन्द्रियम् । **नसि जिघृक्षत इति** । नासिका गोलकस्थानीया । गोलकाधाररूपा वा । गन्धं जिघृक्षतः अघ्रातु-मिच्छतो भगवतः । निरभिद्यत उद्गतं जातं गृहीतुमिति यथायोग्यं क्रिया अनु-सन्धेयाः ।। १६ ।। २० ।।

व्याख्यार्थ—वेद रूपा वाणी किंवा ज्ञान सहित वाणी बोलने की इच्छा वाले,व्यापक आकाश रूप भगवान् के विवरात्मक मुख के हेतु से-कारण कि आकाश में ही शब्द उत्पन्न होता है-वाणी पैदा हुई । जैसे तालुरूप में जिह्वा रहती है, इसी प्रकार मुख के मध्य में आकाश होता है और उस आकाश में वाक् इन्द्रिय रहती है । इसमें पहले अग्नि देवता का निवास कहा । क्योंकि वाक् स्त्री है, वह अपने पति वन्हि के बिना बाहर नहीं आ सकती, इसलिए पहले देवता का निरूपण किया । इससे अन्यत्र भी पहले देवता पीछे इन्द्रिय का निरूपण समझ लेना चाहिये । 'व्याहृतं तयोः' । बोली उन दोनों से सम्बन्ध रखती है । इसलिए वाणी का व्यापार देवता के शासन में इन्द्रिय से किया जाता है । केवल इन्द्रिय से नहीं यह सिद्ध किया गया । यह बात सब ही जगह नियत है ।

इसी तरह जब विराट् पुरुष का संचालन हुआ तब भीतर ही वायु प्रकट हुआ । जब यह वायु भीतर भर गया तब इसने व्याकुलता पैदा कर दी । इसकी निवृत्ति के लिए नासिका के गोलक फूट निकले । यद्यपि यहां बहिःस्थित पदार्थों को ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है, तथापि अन्तःस्थित वायु ही गन्ध ग्रहण में निमित्त है । सो कहते हैं—'दोधूयति नभस्वति' । नभस्वान् वायु जब एकदम फटकार देने लगा । यह व्यवस्था वायु को देवता माने तब रहती है और जब अश्विनी को देवता मानते हैं, तब वायु भी गोलक स्थान है और अश्विनीकुमार देव हैं । अथवा वायु ही देवता है। गंध को ले जाने वाला वायु है, किंवा घ्राण इन्द्रिय है। दोनों के मध्य में विशेषण देने का तात्पर्य यह है, गन्ध ही दोनों का विषय है । घ्राण नामक इन्द्रिय है । नासिका ही गोलक है । अथवा गोलक का आधार है । गन्ध को ग्रहण करने की जब भगवान् की इच्छा हुई नाक में घ्राण इन्द्रिय उत्पन्न हो गई । 'निरभिद्यत' अर्थात् बाहर प्रकाशित हुआ । इस तरह सर्वत्र यथा योग्य क्रियाओं का निवेश कर लेना चाहिये ।। १६ ।। २० ।।

आभास—एवं मुखनासिके उपपाद्य अक्षिणी निरूपयितुमाह—

आभासार्थ—इस प्रकार मुख और नासिका का उपपादन करके नेत्रों का निरूपण करते हैं—

श्लोक—**यदात्मनि निरालोकमात्मानं च दिदृक्षतः ।**
निर्भिन्ने अक्षिणी तस्य ज्योतिश्चक्षुर्गुणग्रहः ।। २१ ।।
बोध्यमानस्य ऋषिभिरात्मनस्तज्जिघृक्षतः ।
कर्णौ च निरभिद्येतां दिशः श्रोत्रं गुणग्रहः ।। २२ ।।

श्लोकार्थ—जब इस विराट् पुरुष ने अपने आप को प्रकाश रहित देखा और उसे देखने की इच्छा हुई, तब उसके आंख के गोलक (स्थान) निकले और उनमें सूर्य देवता और चक्षु इन्द्रिय स्थित हुये। जिससे रूप, गुण का ग्रहण होने लगा। ऋषि लोग जब इस विराट् भगवान् की स्तुति करने लगे, तब अपने स्वरूप को जानने के लिए जब सुनने की इच्छा हुई, तब उसके कान के गोलक बन गये और उनमें दिग, देवता और श्रोत्र इन्द्रिय स्थित हुये, जिससे शब्द का ग्रहण होने लगा ॥ २१ ॥ २२ ॥

सुबोधिनी—यदात्मनि निरालोकमिति। आसीदित्यर्थः। आत्मा देहः। तत्र कीदृशोऽहमिति यदा न ज्ञातवान्। कीदृशे च स्थाने तिष्ठामि। अन्यच्च स्वसम्बन्धिनं दिदृक्षतः। अक्षिणी निर्भिन्ने। चक्षुरादीनामालोकापेक्षा नाऽस्तीति पूर्वमेवोक्तम्। तस्य तु मायामोहो नाऽस्तीति न मायाऽकृतप्रतिबन्धः। निरालोकस्त्वदर्शनकृतः। तत्र देवता ज्योतिः। सूर्य इति यावत्। सूर्यस्य ज्योतीरूपं आधिदैविकम्। आध्यात्मिकं तु मण्डलं सूर्यशब्दवाच्यम्। किरणास्त्वाधिभौतिकाः। अतोऽत्र आधिदैविकमेवेति ज्योतिःशब्दप्रयोगः। चक्षुरिन्द्रियम्। गुणो रूपम्। पञ्चानां मध्ये रूपस्यैव प्रसिद्धत्वाद्देवतेन्द्रियाभ्यां गुणज्ञानं भवतीत्यर्थः। तदनन्तरं भगवन्तं महापुरुषं ऋषयो मन्त्राः स्तोतुमारब्धवन्तस्तदा। ऋषिभिः स्तूयमानस्य साक्षात्त्वं परब्रह्मेति बोध्यमानस्य। आत्मनः पूर्वोक्तस्य। देहव्यावृत्त्यर्थं वा। तज्जिघृक्षतः तैरुच्यमानं स्वरूपं गृहीतुमिच्छतः। कर्णौ निरभिद्येतां गोलकरूपे। दिशो देवताः। श्रोत्रमिन्द्रियम्। गुणग्रहः शब्दग्रहणम्। शब्दस्य पूर्वसिद्धत्वात् ॥ २१ ॥ २२ ॥

व्याख्यार्थ—जब विराट् के देह में अप्रकाश था अर्थात् 'मैं कैसा हूँ' यह जब उसे न दीखने लगा, 'मैं किस प्रकार के स्थान में रह रहा हूं' किंवा अपने सम्बन्धी सब कुछ को देखने की जब उसको इच्छा हुई, तब आंखें बनी। भगवान् को चक्षु आदि इन्द्रिय को भौतिक आलोक की अपेक्षा नहीं है, यह कह दिया है। सो न तो भगवान् की मायाकृत भूल है और न विषयता जन्य अन्धकार की रुकावट ही है। अप्रकाश तो अदर्शन से ही होता है। सो भगवान् को असम्भव है।

यहां देवता सूर्य की किरणें हैं, किंवा सूर्य ही है। सूर्य का आधिदैविक रूप ज्योति है और सूर्य शब्द से कहा जाता आध्यात्मिक रूप मण्डल है और किरण या प्रकाश आधिभौतिक है। वहां आधिदैविक ही अभीष्ट है, इसलिए ज्योतिः शब्द का प्रयोग है। यहां चक्षु इन्द्रिय है और गुण रूप है। पांच गुणों में रूप ही प्रसिद्ध है। इसलिये देवता और इन्द्रिय दोनों से रूप गुण का ग्रहण होता है, यह कहा। इसके बाद महापुरुष भगवान् की मन्त्ररूप ऋषियों ने स्तुति की, तब परब्रह्म रूप से कहाते अपने आप को किंवा अपने आत्मा को सुनने की इच्छा से उनके कहे अर्थ को समझने की इच्छा से गोलक रूप कान निकले। यहां दिशा ही देवता है। श्रोत्र इन्द्रिय है और शब्द का सुनना ही गुण ग्रहण है। शब्द तो नित्य है। इसलिये पहले ही वर्तमान था, वह केवल पीछे से सुना गया ॥ २१ ॥ २२ ॥

आभास—एवं त्रीणीन्द्रियाणि द्विगोलकानि निरूपितानि । व्यापकमिन्द्रियमाह—

आभासार्थ—इस प्रकार से द्विगोलक तीन इन्द्रियों (नासिका, नेत्र और कर्ण) का निरूपण किया । अब व्यापक इन्द्रिय कहते हैं—

श्लोक—**वस्तुनो मृदुकाठिन्यं लघुगुर्वुष्णशीतताम् ।**
जिघृक्षतस्त्वङ् निर्भिन्ना तस्यां लोम महीरुहाः ।। २३ ।।

श्लोकार्थ— पदार्थ की नरमाई, कठिनता, लघुता, भारीपन, गरमी, ठंडक, प्रभृति के समझने की जब पुरुष को इच्छा हुई, तब इसके शरीर पर त्वचा नामक गोलक प्रकट हुई । इस त्वचा में औषधि वृक्षादि देवता हैं और उसी में रोम इन्द्रिय भी प्रकट हुये ।। २३ ।।

सुबोधिनी—वस्तुन इति । वस्तुनो घटपटादेर्लघ्वादीन् जिघृक्षतः त्वक् निर्भिन्ना । तस्यां लोम इन्द्रियम् । महीरुहा देवाः । लघु सूक्ष्मम् । लघुशब्दो धर्मवाची धर्मिणमपि प्रचुरप्रयोगाद्बोधयति । तदभिप्रायेण लाघवादिशब्दाः । अत एव चातुर्यादौ लाघवशब्दः । अत्र लघुशब्दः स्पर्शविशेषवाची । यथा सूक्ष्मवायुस्पर्शः । मृदुत्वं तु गाढस्पर्शे नाऽवगम्यते । सर्वत्र स्पर्शविधाने लघुस्पर्श एव विधीयते । कर्णादिषु । काठिन्यं कठिनस्पर्शः पाषाणादिषु । मृदुस्तु कोमलः । पिच्छिलताऽपि तस्यैव भेदः पट्टवस्त्रादिषु । गुरुत्वमपि स्पर्शः । यद्यपि शास्त्रान्तरे भिन्नो धर्म उत्तोलनादिनाऽवगम्यते । तथापि सोऽस्मिन् शास्त्रे स्पर्श एव । स्पर्शसहितेनैव तोलनादिनाऽवगमात् । स्पर्शरहितं तोलनमनुमानम् । अन्यथा कारणे गुरुत्वस्याऽभावात् कार्ये कथं भवेत् । बहुत्वं तु महत्त्वबोधकमेव । न गुरुत्वबोधकम् । केचित्तु शिथिलावयवयोगेन लघुत्वं श्लिष्टावयवयोगेन गुरुत्वमाहुः । तदप्यसङ्गतम् । स्पर्शातिरिक्तस्य संयोगस्य निरूपयितुमशक्यत्वात् । स्पष्टमेव संयुक्तमुच्यते लोके । अन्यथा स्पर्शातिरेकेण चाण्डालादिसंयोगे प्रायश्चित्तमन्यत्स्यात् । तस्मात्प्रशिथिलावयवसंयोगादिनिरूपणेऽपि लघुत्वं गुरुत्वं स्पर्श एव । श्लेषस्तु विभागाभाव एव । अनेनाऽपि संयोगो नाऽतिरिच्यते । संयुक्ता अप्यङ्गुलयश्चतस्रो भवन्ति । संश्लेषे तु न तथा यथा मिलिताङ्गुलेः । तस्मान्न स्पर्शातिरिक्तः संयोगः । न च गुरुत्वादयः । उष्णं ईषदुष्णस्पर्शः । अत्युष्णस्य स्पर्शायोग्यत्वात् । त्वचो दाहसम्भवात् । शीतता शीतस्पर्शः । अथवा । लघुकाठिन्यं लघुकठिनयोर्भावः । लाघवं काठिन्यं च । मृद्वाद्यन्ते तल्प्रत्ययः सर्वत्रैव सम्बध्यते । द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणत्वात् । ततो मृदुत्वं गुरुत्वमुष्णत्वं शीतत्वमिति । यः शब्दो यद्धर्मपुरःसरेण धर्मिणि प्रवर्त्तते तस्य भावः स एव धर्मः । अतः शब्दप्रवृत्तिनिमित्तमेव भाव इति केचित् । सर्वत्राऽनुस्यूतः सत्तापरपर्यायः । तदंशा एव सर्वैः शब्दैरुच्यन्त इति सर्वशब्दवाच्यो भाव इति शास्त्रार्थः । अभावशब्देऽपि निषेधपूर्वको भावः प्रतीयते । अन्यथा अभावो निःस्वभावः स्यात् । अत्र त्वगिन्द्रिये भेदद्वयमस्ति । कण्डूः स्पर्शश्च तयोर्विषयः । बहिःस्पर्श एव कण्डूः । अन्तस्तु स्पर्शोऽपि । स च लोमशब्दवाच्यः कण्डूग्राहकः । तत्र महीरुहा देवाः । अधिष्ठानं तूभयोरेकम् ।। २३ ।।

व्याख्यार्थ—घट पटादि वस्तु के हलका भारीपन के जानने को जब विराट की इच्छा हुई, तब इसके शरीर पर खाल निकल आई। उसमें लोम (रोम) ही इन्द्रिय और औषधियां ही देव हैं।

लघु शब्द यहां सूक्ष्मवाची है। लघु शब्द वस्तु के धर्म को कहता है, तथापि धर्मी (उस वस्तु को) को भी कहता है, क्योंकि ऐसा लोक में बहुत प्रयोग आता है। इसी अभिप्राय को लेकर ही लाघव आदि शब्द कहे जाते हैं। इसीलिए चातुर्य के लिए भी लाघव शब्द आता है, किन्तु यहां तो लघु शब्द स्पर्श विशेष को कह रहा है। जैसे सूक्ष्म वायु का स्पर्श। जोर के स्पर्श में नरमाई अनुभव में नहीं आती। कर्ण आदि को वायु के स्पर्श करने में सब जगह लघु स्पर्श ही किया जाता है। कठिनता भी कठिन स्पर्श ही है। पाषाण आदि का स्पर्श करने में इसका अनुभव होता है। कोमल स्पर्श को मृदु कहते हैं। फिसलना स्पर्श भी कोमल का भेद है। रेशमी वस्त्र में फिसलने स्पर्श का अनुभव होता है। भारीपन भी स्पर्श ही है। यद्यपि तौल को लेकर दूसरे शास्त्रों में इस भारीपन को दूसरा धर्म माना है तथा भागवत शास्त्र में इसको स्पर्श ही माना है। स्पर्श सहित तौलने से ही इसका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। स्पर्श रहित तौलना तो अनुमान है। जो ऐसा न हो तो कारण में गुरुत्व न होने से कार्य में यह गुरुत्व कहां से आवे। बहुत्व तो महत्व का बोधक है, गुरुत्व का बोधक नहीं है।

कितने ही तो कहते हैं कि शिथिल अवयवों का संयोग होने से पदार्थ लघु हो जाता है और मिले अवयवों का योग होने से गुरु भारी कहा जाता है, किन्तु यह ठीक नहीं है। स्पर्श को छोड़ कर संयोग कोई पदार्थ नहीं है। स्पर्श ही संयोग कहा जाता है। दो वस्तुओं का आपस में स्पर्श होने से लोक में संयोग कहा जाता है। जो ऐसा न हो तो चाण्डाल आदि का स्पर्श हो जाने पर स्पर्श से जुदा संयोग और मानना पड़ेगा और इसका प्रायश्चित्त दूसरा और करना पड़ेगा। इसलिए अशिथिल अवय वाले पदार्थों के संयोग का निरूपण करने में भी लघुत्व या गुरुत्व भी स्पर्श ही है। श्लेष तो विभाग न होना ही है। श्लेष के नाम से भी संयोग पदार्थ स्पर्श से जुदा नहीं हो सकता। चारों अंगुलियों को यदि संयुक्त भी कर ली जावे, तो वे चार ही कही जाती है और अब किसी के जुड़ी हुई ही अंगुली होती है, तो मिली हुई की तरह चार नहीं होती, एक ही रहती है, इसलिए स्पर्श से जुदा, संयोग नहीं है और न गुरुत्व, लघुत्व आदि भी स्पर्श से पृथक् है। उष्ण अर्थात् थोड़ा गरम। एकदम गरम का तो स्पर्श हो नहीं सकता। क्योंकि इसमें त्वचा के जल जाने की सम्भावना है। शीत स्पर्श का ही नाम शीतलता है।

अथवा लघु और कठिन का जो भाव, वही लाघव और काठिन्य कहा जाता है। 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणः' इस व्याकरण के अनुसार मृदुकाठिन्य लघु' आदि के द्वन्द्व समास में जो तल् प्रत्यय है, वह प्रत्येक शब्द के साथ लग जाता है। तब मृदुता, गुरुता, लघुता शीतत्व होते हैं। जो शब्द जिस धर्म को लेकर धर्मी का वाचक होता वह उस धर्मी का भाव होता है और वही धर्म है। अतः शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त ही भाव कहा जाता है। कितनों के मत में यही सत्ता कहा जाता है। जो सब पदार्थों के साथ लगा रहता है। इस भाव या सत्ता के अंश ही सब शब्दों से कहे जाते हैं। यह मीमांसकों का मत है। घट पट मनुष्य आदि शब्दों का वास्तविक अर्थ सत्ता या भाव ही है। अभाव शब्द में भी निषेध को आगे रखकर भाव या सत्ता ही समझी जाती है। यदि उसमें भी भाव न रहे तो अभाव कोई पदार्थ ही न रहे। वह निःस्वभाव हो जावे।

यहां त्वचा इन्द्रिय में दो भाग हैं। उनमें से एक भाग का एक कण्डू विषय है और दूसरे भाग का विषय स्पर्श है। बाहर से स्पर्श ही खुजली है और भीतर से स्पर्श है। वह भाग कण्डू को ग्रहण कराने वाला लोम है। उसमें देवता महीरुह है। स्थान तो दोनों का एक है। और भी कहते हैं; कि इस त्वचा में भीतर और बाहर वायु है, और 'च कार' से यह भी सूचित किया है कि त्वचा में रोम के सिवाय अन्य भी स्थान है। उसमें वायु देवता रहता है। औषधि रूप देवता से वायु में यह विशेष है, कि यह भीतर और बाहर दोनों तरफ है। त्वक् इन्द्रिय से स्पर्श का ज्ञान होता है। इसमें देवता की प्रधानता है। यदि यह न हो तो वायु के ग्रहण में स्पर्श का ग्रहण न हो। भीतर बाहर फिरता हुआ वायु रहता है। इसलिए बाह्य वायु इसका देवता नहीं हो सकता ॥ २३ ॥

आभास—द्वितीयमाह—

आभासार्थ—इस तरह त्वचा का निरूपण कर ज्ञानेन्द्रियों के निरूपण की समाप्ति कर दी। अब कर्मेन्द्रियों का निरूपण करते हैं।

श्लोक—**तत्र चाऽन्तर्बहिर्वायुस्त्वचाऽऽलब्धगुणो वृतः।**
हस्तौ रुरुहतुस्तस्य नानाकर्मचिकीर्षया।
तयोस्तु बलवानिन्द्र आदानमुभयाश्रयम् ॥ २४ ॥
गतिं जिगीषतः पादौ रुरुहातेऽभिकामिकाम्।
पद्भ्यां यज्ञः स्वयं हव्यं कर्मभिः क्रियते नृभिः ॥ २५ ॥

श्लोकार्थ—जब पुरुष को नाना प्रकार के कार्य करने की इच्छा हुई तब उसके दो हाथ पैदा हो गये। उनमें बलवान् देव इन्द्र स्थित हुआ। और इन दोनों में वस्तु का ग्रहण करना यह विषय हुआ। यथेच्छ गमन करने की इच्छा से पुरुष के दो चरण ऊगे। इन दोनों के देवता विष्णु भगवान् हैं। पैरों से मनुष्य यज्ञीय द्रव्य तैयार करने की क्रिया करते हैं ॥ २४ ॥ २५ ॥

सुबोधिनी—**तत्र चाऽन्तर्बहिर्वायुरिति।** चकारेण त्वचो लोमव्यतिरिक्तस्थानमप्यस्त्यन्तरिति सूचितम्। तत्र वायुर्देवता। **अन्तर्बहिरिति** पूर्वदेवताया अधिकविषयत्वं सूचितम्। **त्वचाऽऽलब्धगुण इति** त्वगिन्द्रियेण स्पर्शग्रहणम्। अत्र देवतायाः प्राधान्यम्। अन्यथायोगे वायुग्रहणेन गृहीतं न स्यात्। **वृत इति।** अन्तर्बहिरावृतो वायुरित्यर्थः। अनेन बहिर्वायुर्न देवतेत्युक्तम्। एवं त्वचं निरूप्य ज्ञानेन्द्रियाणि समाप्य कर्मेन्द्रियाणि निरूपयति— **हस्तौ रुरुहतुरिति।** नानाकर्माणि कर्तव्यानीतीच्छया। अत्र प्ररोहात्मकावेताविति शाखारूपत्वं सूचितम्। एतयोरुभयोर्गोलकद्वयम्। ततोस्तु बलवानिन्द्रः। तयोर्हस्तयोर्बलमिन्द्रियम्। इन्द्रो देवता। आदानं कर्म उभयाश्रयं देवतेन्द्रियाश्रयम्। पूर्ववन्न देवताप्राधान्यम्। अभिकामिकां गतिं जिगीषतः पादौ रुरुहाते। पद्भ्यामितीन्द्रियम्। यज्ञो देवता स्वयमिति विष्णुः। अभिकामिका

अभीष्टा नानादेशगमनेच्छाविषया॰। तादृशस्य पादौ हस्ताविव शाखारूपेण रुरुहाते। अपदानामपि गतिरस्ति। चतुष्पदामपि। तथापि द्विपदां यथा सर्वत्र गमनं न तथाऽन्येषामिति पादद्वयकामना। ननु विराट्पुरुषस्य स्थिरत्वात् किं पद्भ्यां कार्यम्। अस्थिरत्वे वा लोकेषु व्याकोपः स्यात्। रूपान्तरकल्पनायां च प्रक्रमविरोध इत्याशङ्क्याऽऽह—**स्वयं हव्यं कर्मभिः क्रियते नृभिरिति**। हव्यस्य पुरोडाशादेर्भगवत्त्वं निरूप्यते—**स्वयं हव्यमिति**। तथा सति तस्याऽवश्यं फलसाधकत्वं वक्तव्यम्। यतः कारणान्नृभिः कर्मभिस्तद्धव्यं क्रियते। तदेव पुरोडाशादिकं देवतोद्देशेनाऽग्नौ प्रक्षिप्तं सत् यागरूपतामापद्य तं जीवं गृहीत्वा लोकान्तरे गच्छति। तत्रावश्यं गत्यर्थं पादावपेक्ष्येते। अन्यथा जीवगतौ कर्मरूपतया वा गमनसाधकत्वे यत्र क्वचिद्गमनं स्यात्। न च तद्रूपान्तरम्। अस्यैव तत्राऽऽविष्टत्वात्। न वा एतदधिष्ठातृदेवता। तस्या अभावात्। भावे वा तस्या एतदेकनिष्ठत्वात्। यज्ञस्यैव हि स्वर्गबोधकत्वात्। "**सृती विचक्रमे विष्वङ्**"ति वाक्याच्च। किञ्च। भूमावेव यागो हविश्च क्रियते। पादौ चेन्न भवेतां तद्रूपा भूमिरेव न भवेत्। स्वर्गादिगतिश्च। अतः स्वयमेव यज्ञः स्वयमेव हव्यं चेत्यभीष्टगतिसिद्ध्यर्थं पशुपुत्रस्वर्गादिभावापत्त्यर्थं पादावपेक्ष्येते। किञ्च। यज्ञो हि पादयोरधिष्ठात्री देवता। तदभावे सोऽपि न भवेत्। स च लोके प्रसिद्धः। तस्यालौकिकत्वेऽपि तदर्थं क्रियमाणपुरोडाशादेः प्रत्यक्षसिद्धस्याऽपलापाशक्तेः। अतो लोक नृभिर्द्रव्यात्मकयागकरणात् तदन्यथानुपपत्त्या भगवतः पादौ वर्त्तेते इति सिद्धम्॥ २४॥ २५॥

व्याख्यार्थ—नाना प्रकार के कार्य करने हैं, इस इच्छा से हाथ ऊगे। ऊगने वाले होने से हाथ शाखा रूप हैं, यह सूचना की। इन दोनों में दो गोलक हैं। इन दोनों गोलकों में बलवान् इन्द्र देवता स्थित होते हैं। इन हाथों का इन्द्रिय बल है। इन्द्र देवता और ग्रहण करना ही कर्म है। उभयाश्रय कहने से स्पष्ट होता है, यह आदान कर्म इन्द्रिय और देवता के आश्रय से होता है। पहले की तरह यहां देवता की प्रधानता नहीं है। यथेच्छ गमन करने की इच्छा से पैर पैदा हुये। दो पद ही इन्द्रिय हैं। यज्ञ ही देवता, 'स्वयं' शब्द कहने से विष्णु लेना अपनी स्वतन्त्रेच्छा से नाना देश गमन करने की क्रिया ही विषय है। ऐसे पुरुष के हस्त की तरह पैर भी शाखारूप से निकल आये। यद्यपि ऐसे पद रहित पशुओं में भी गति तो होती है, तथापि उनका द्विपद मनुष्यों का सा सर्वत्र गमन नहीं होता, इसलिए पुरुष को दो पैर की कामना हुई।

यहां यह प्रश्न हो सकता है, कि विराट् तो स्थिर है, फिर उसे पैरों की कामना से क्या प्रयोजन? और जो विराट् चलित हो जाय तो लोक में हलचल मच जाये, सब कुपित हो जाय। रूपान्तर की कल्पना करो तो क्रम का विरोध आवे। इसका उत्तर देते हैं कि—'स्वयं हव्यं' इत्यादि। अर्थात् मनुष्य सृष्टि स्वयं कर्म करके हव्य (होम करने का द्रव्य) तैयार करती हैं। हव्य अर्थात् पुरोडाश आदि हवनोय पदार्थ। यह भगवद्रूप है सो कहते हैं। 'स्वयं हव्यं' भगवान् विष्णु ही हव्य हैं और भगवान् ही यज्ञ हैं। हवि भगवान् हैं, इसलिए उससे फल-सिद्धि अवश्य होती है, यह कहना उचित है। कारण कि उस हव्य को मनुष्य लोक अपने कर्मों से तैयार करते हैं। उसी पुरोडाश द्रव्य को जब देवता को पहुंचाने के लिए अग्नि में डालते हैं, तब वही याग रूप को प्राप्त हो जाता है और हवनकर्त्ता जीव को लेकर लोकान्तर (देहान्तर) में जाता है। ऐसी अवस्था में गमन के लिए पैरों की अपेक्षा है, सो ये हव्य और यज्ञ ही विराट् (समष्टि) पुरुष के दो पाद हैं।

यदि ऐसा न हो तो अर्थात् जीव ही गमन करे या कर्मरूप गमन का साधन होने पर भी कहीं का कहीं गमन हो जावे। यथा स्थान गमन न हो सके। यज्ञ से दूसरा रूप भी यहां नहीं है क्योंकि यज्ञ का ही आवेश पैर में हुआ है। पैरों का कोई अधिष्ठाता देव भी अन्य नहीं है, क्योंकि यज्ञ के सिवाय अन्य देवता नहीं कहा गया। हो भी तो वह भी इस यज्ञ भगवान् से ही अधिष्ठित है और यह यज्ञ ही स्वर्ग का साक्षात्कार कराने वाला है। 'सृती विचक्रमे विश्वङ् साशना'(२-६-२०) इस श्लोक में भगवान् देवयान और धूमयान दो मार्ग से गमन करता है।

और भी बात है, कि पृथ्वी पर ही याग और हविष्यान्न तैयार होता है। यदि भगवत्पद न हो तो भूमि भी न हो। स्वर्गादि गति भी न हो, इसलिये स्वयं यज्ञ भी भगवान् है और हविष भी भगवान् है और इच्छित गति की सिद्धि के लिए पशु पुत्र स्वर्ग आदि रूप धारणा के लिये पैरों की अपेक्षा है और यज्ञ ही पद की अधिष्टाता देवता है। यज्ञ न हो तो देव भी न हों। तो यज्ञ तो लोक में प्रसिद्ध है। यद्यपि यज्ञ पदार्थ वास्तव में अलौकिक है, तथापि यज्ञ के लिये किये जाते पुरोडाश आदि साधन तो प्रत्यक्ष सिद्ध हैं। छिपाये नहीं जा सकते। इसलिए लोक में द्रव्यात्मक यज्ञ किये जाते हैं। उनकी और तरह से संगति नहीं बैठती। अतएव मानना पड़ता है, कि गत्यर्थ भगवान् के चरण हैं ही ॥ २४ ॥ २५ ॥

आभास—आदौ वाग्लक्षणमेकं कर्मेन्द्रियं निरूपितम्। हस्तपादाविदानीं निरूपितौ। अवशिष्टे निरूपयति—**निरभिद्यतेति** द्वाभ्याम्।

आभासार्थ—पहले वाणी रूप एक कर्मेन्द्रिय का निरूपण हो चुका। फिर अभी हस्त और चरण कह दिये। अब बाकी रहे दो कर्मेन्द्रियों का निरूपण करते हैं, 'निरभिद्यत' दो श्लोकों से।

श्लोक—**निरभिद्यत शिश्नो वै प्रजानन्दामृतार्थिनः।**
उपस्थ आसीत् कामानां प्रियं तदुभयाश्रयम् ॥ २६ ॥

श्लोकार्थ—विराट् पुरुष को जब सन्तान, आनन्द और मोक्ष की इच्छा हुई, तब उसके लिङ्ग इन्द्रिय निकल आई। उस इन्द्रिय का नाम उपस्थ हुआ। इसका देवता काम है। ये स्त्री, पुरुष दोनों को प्रिय है। इस सुख का आश्रय इन्द्रिय और देवता दोनों हैं ॥ २६ ॥

सुबोधिनी—शिश्नो गोलकं तस्य रूपान्तराभावात्तदभावमाशङ्क्य वै इति निश्चयमाह। कारणे चेत्तन्न स्यात् तद्बीजे कार्ये पुरुषादिषु तत्कथं भवेत्। अतस्तत्र सन्देहो न कर्त्तव्य इत्यर्थः। प्रजारूपो योऽयमानन्दः सम्भोगसुखं प्रजाजनको वा। प्रजा च आनन्दश्चेति अमृतं च वा। **"प्रजामनु प्रजायन्ते तदु ते मर्त्याऽमृतमि"**ति श्रुतेः। अमृतं मोक्षो वा। ऋणत्रयापाकरणसाध्यः। **"नाऽपुत्रस्य लोकोऽस्ती"**ति च। **"अष्टाशीतिसहस्राणी"**त्यादिवाक्यान्यूर्ध्वरेतसां प्रशंसापराणि। त्रैविधवृद्धानां तु वेद एव प्रमाणम्। अतो मोक्षो वा अमृतम्। त्रितयप्रेप्सोरिन्द्रियं निर्गतमित्यर्थः। उपस्थ इन्द्रियम्। कामानां प्रियं स्त्रीसम्भोगानां सम्बन्धि यत्सुखं

तदुभयाश्रयं देवतेन्द्रियाश्रयम् । अथवा । कामानां स्थानं पूर्वोक्तमासीदित्यर्थः । कामो देवता । तदभिमानी इत्येके । काम एव देवतेति मुख्यः सिद्धान्तः । तदभावे केवलेन्द्रियेण सुखाजननं प्रत्यक्षसिद्धम् ।। २६ ।।

व्याख्यार्थ—शिश्न गोलक का नाम है । यदि कोई कहे कि विराट् के स्त्री नहीं है, इसलिए शिश्न की अपेक्षा नहीं है, तो 'वै' कहते हैं । अर्थात् विराट् के लिङ्ग इन्द्रिय है, यह निश्चय है । विराट् पुरुष सब ही मनुष्य आदि का कारण है । यदि उसमें ही लिंगेन्द्रिय न हो तो फिर इसके कार्य पुरुषों में कहां से आवे । इसलिए इसमें सन्देह करना उचित नहीं है । प्रजा रूप जो आनन्द सम्भोग सुख अथवा पुत्रादि पैदा करने वाला सुख । अथवा प्रजा आनन्द और मोक्ष की इच्छा जब हुई । प्रजा के प्रजा होना ही मनुष्यों ने सुख माना है । यह वेद में भी अनुवाद किया है । अथवा अमृत शब्द से मोक्ष ही लेना, यह मोक्ष देव ऋण, ऋषि ऋण और पितृ ऋण के दूर होने पर मिलता है, क्योंकि शास्त्र में कहा है, कि अपुत्र को उत्तम लोक नहीं मिलते । 'अष्टाशीति सहस्राणि' आदि जो वाक्य ब्रह्मचर्य की प्रशंसा करते हैं, यह तो स्तुति ही है । इनका तात्पर्य इतना ही है, कि ब्रह्मचर्य अवश्य रखना उचित है । वेद विद्या में परिनिष्ठितों को तो वेद हो प्रमाण है, इस लिये यहां अमृत शब्द से मोक्ष ही लिया गया है । जब विराट् पुरुष को प्रजा आनन्द और अमृत की इच्छा हुई, तब उपस्थ इन्द्रिय निकला यह यहां तात्पर्य है । उपस्थ इन्द्रिय का नाम है । स्त्री सम्भोग सम्बन्धी जो सुख है, वह इन्द्रिय और देवता के आश्रय में है । दोनों में से एक के न होने से सुख भी न रहेगा । अथवा सुखों के ये दोनों स्थान थे, यह अर्थ करना । काम ही देवता का नाम है । कितने ही कहते कि काम का अभिमानी ही देवता है । काम ही देवता है, यह ही मुख्य पक्ष है । काम के न रहने से केवल इन्द्रिय से सुख नहीं होता, यह प्रत्यक्ष सिद्ध बात है ।। २६ ।।

आभास—अवशिष्टमाह—

आभासार्थ—बाकी रहे कर्मेन्द्रिय का निरूपण करते हैं—

श्लोक—**उत्सिसृक्षोर्धातुमलं निरभिद्यत वै गुदम् ।**
ततः पायुस्ततो मित्र उत्सर्ग उभयाश्रयः ।। २७ ।।

श्लोकार्थ—जिस समय विराट् पुरुष को धातुओं के मल को बाहर निकाल देने की इच्छा हुई, तब इसके गुदा पैदा हुई । तदनन्तर उसमें पायु, इन्द्रिय और मित्र देवता हुआ । मल का निकालना कर्म देवता और इन्द्रिय दोनों के आश्रय में है ।। २७ ।।

सुबोधिनी—उत्सिसृक्षोरिति । धातूनां मलम् । धातवो हि त्वगादयो मज्जान्ताः । ते कालादिना निरन्तर पच्यन्ते । अन्नादीनां तु पोषकत्वम् । अतस्तत्पोषणेऽन्नादिभिः क्रियमाणे रसस्य तत्र प्रवेशे योऽसारो भागोऽवशिष्यते तन्मलं न त्वन्नस्य । तस्य स्वकार्यकरणात् । अतो धातोरेव मलम् । गुदमिति पायुस्थाने मांसविशेषः । स रोगादिना निर्गतः प्रत्यक्षो

भवति । तदनन्तरं पायुस्तत्रेन्द्रियम् । मित्रो देवता । न हि सर्वमित्रव्यतिरेकेण तादृशे कश्चिद्देवो भवेत् । उत्सर्गः कर्म । उभयाश्रयः पूर्ववत् ।। २७ ।।

व्याख्यार्थ—धातुओं के मल । रस, रक्त, मांस, भेद और मज्जा इत्यादि धातु हैं । ये काल आदि साधनों से पकाये जाते हैं । अन्न, जल आदि तो इन धातुओं को पोषण पहुंचाने वाले हैं । अन्नादि के द्वारा जब वे मूल धातु पोषण को प्राप्त होते हैं, तब देह में इसका प्रवेश होता है, किन्तु उसमें जो सार रहित पदार्थ बाकी रहता है, वह मल कहा जाता है । यह मल उन धातुओं का है, अन्न का नहीं । अन्नादि तो अपना कार्य करके अलग होते हैं, अन्नादि तो हव्य कव्य हैं, इसलिए इसमें असार होता ही नहीं । इसलिये यहां धातुओं का ही मल समझना । गुदा के स्थान में जो मांस होता (कांच) है उसका नाम यहां गुद कहा है । कभी-कभी यह मांस रोगादि से बाहर भी निकल आता है । इस गुदस्थान में पायु नाम का इन्द्रिय और मित्र नाम का देवता स्थित होता है। सबका हित करने वाले के सिवाय अन्य कोई ऐसे स्थान में देवता रूप से स्थित नहीं हो सकता । उत्सर्ग (छोड़ना) यही कर्म है । यह पहले की तरह देवेन्द्रिय दोनों के आश्रित है ।। २७ ।।

आभास—एवं नवद्वाराणि निरूपितानि । दशेन्द्रियाणां मध्ये त्रयाणां न द्वाराणि । उभयं त्वेकत्र । त्रयाणां द्वयं द्वयम् । एवमिन्द्रियाणां द्वाराणां च न समसङ्ख्या । अतो द्वारान्तरमाह प्राणादीनां नियामकत्वाय—

आभासार्थ—इस तरह विराट् देह के नव द्वार कहे । दश इन्द्रियों में से त्वचा हाथ और पाद में दरवाजे नहीं हैं । आंख, नाक, कानों के दो दो दरवाजे हैं और गुदा और लिङ्ग के एक-एक दरवाजा है । इस तरह इन्द्रिय और दरवाजों की संख्या समान नहीं है । इसीलिए अब और भी द्वार कहते हैं, प्राणादि को नियम में रखने के लिये—

श्लोक—**आसिसृक्षोः पुरः पुर्या नाभिद्वारमपानतः ।**
तत्राऽपानस्ततो मृत्युः पृथक्त्वमुभयाश्रयम् ।। २८ ।।
आदित्सोरन्नपानानामासन् कुक्ष्यन्त्रनाडयः ।
नद्यः समुद्राश्च तयोस्तुष्टिः पुष्टिस्तदाश्रये ।। २९ ।।
निदिध्यासोरात्ममायां हृदयं निरभिद्यत ।
ततो मनश्चन्द्र इति सङ्कल्पः काम एव च ।। ३० ।।

श्लोकार्थ—इस देह को छोड़ देने की इच्छा से नाभि का द्वार हुआ । उसमें भी जब प्राण और अपान दोनों जुदे होते हैं, तब अपान और मृत्यु देवता दोनों स्थित होते हैं । यह जुदा होना कार्य इन्द्रिय देवता दोनों के अधीन हैं । अन्न और पान का ग्रहण करने की इच्छा से विराट् के पेट और आंतें पैदा हो गई । नदी और समुद्र इनके देवता हुये । इन दोनों के आश्रय से तुष्टि और पुष्टि होती है और जब आत्म-

माया का विचार करने की इच्छा हुई, तब इसके हृदय हुआ। इसका मन इन्द्रिय और चन्द्रमा देव हुआ और संकल्प और अनेक तरह की कामना इसका कर्म हुआ ॥ २८ ॥ २९ ॥ ३० ॥

सुबोधिनी—आसिसृक्षोरिति। मलं हि द्विविधम्। प्रत्यहं जायमानं प्रतिजन्मनि जायमानं च। तत्र प्रत्यहं जायमानस्य मलस्य परित्यागार्थं पायुः। सम्पूर्णजन्मनि जायमानस्य देहरूपस्य मलस्य परित्यागार्थे नाभिद्वारम्। पुरः शरीराणि। पुर्याः शरीरात् उत्सिसृक्षोः नाभिर्द्वारं जातमिति सम्बन्धः। यथा आमरणं धातवोऽनुवर्त्तन्ते। तस्य पोषकमन्नं। मलं तु प्रसिद्धम्। एवं "**बहु स्यामि**" ति भगवदिच्छामारभ्य भगवत्प्रवेशपर्यन्तं भगवच्चिदंशस्य जीवस्य एकमेव शरीरमनुवर्त्तते। तस्य पोषकान्यन्यानि शरीराण्यन्नवत् अन्नमयानि। तानि भोजनवदुत्पत्तौ गृह्यन्ते। मलपरित्यागवन्मरणे त्यज्यन्ते। प्राणो ह्युत्पादकः। अपानो मारकः। अतस्तद्द्वारमपानादुत्पन्नम्। तत्राऽपान इन्द्रियं मृत्युर्देवता। पृथक्त्वं प्राणापानयोर्विश्लेषो मरणात्मकः। तदुभयाश्रयमिति पूर्ववत्। नाभिद्वारेण तच्छरीरं निर्गच्छति। तस्य नाभिद्वारेण वा प्रयत्नेन मलवदिदं शरीरं त्यजति। यथेदं शरीरं बहुकालं तिष्ठति तस्य पोषादिकं जनयति। तथाऽन्नपानादिकमपि कियत्कालं स्थितमेव धातुपोषं जनयतीति अन्नपानानामादित्सुः स्थापनेच्छुर्भगवान् जातः। ततस्तस्य कुक्ष्यन्त्रनाडय आसन्। तत्र कुक्षिर्गोलकमुदराभ्यन्तराकाशः। अन्त्राण्यन्नस्थापनार्थमिन्द्रियाणि। नाड्यः पानार्थम्। नद्यः समुद्राश्च तयोर्देवते। नद्यो नाडीनाम्। अन्त्राणामुदरस्य च समुद्राः। अत एव चकार उभयार्थः "**नाडीर्नद्यो लोहितेने**" ति वाक्यात्। "**क्षुत्तृड्भ्यामुदरं सिन्धुरि**" ति च। तुष्टिराप्यायनम्। पुष्टिर्देहवृद्धिरन्नस्य। तुष्टिपुष्टी तदाश्रये इन्द्रियदेवताश्रये। आत्मनो मायां जगत्कर्त्रीम्। कीदृश्येषा कथमहमेतत्प्रतिकृतिरूपो भविष्यामीत्यात्ममायया निदिध्यासनम्। तदा हृदयं गोलकं निरभिद्यत। ततो मनइन्द्रियम्। चन्द्रो देवता। सङ्कल्पो ज्ञानरूपः। कामः क्रियारूपः। मनस्तूभयात्मकमित्युभयं कार्यं निर्दिष्टम्। सङ्कल्पस्य कार्यं काम इति तु ज्ञानस्य क्रियां प्रति कारणत्वेन। अत एवेत्यवधारणे। चकारेणेन्द्रियानुरोधः ॥ २८ ॥ ॥ २९ ॥ ३० ॥

व्याख्यार्थ—मल दो प्रकार का है। एक प्रतिदिन पैदा होने वाला और दूसरा प्रत्येक जन्म में इकट्ठा होने वाला। इसमें प्रतिदिन पैदा होने वाले मल का त्याग करने के लिए गुदा ही द्वार है, और सम्पूर्ण जन्म में इकट्ठे होने वाले देहरूप मल का परित्याग करने के लिए नाभि (टूंडि) ही द्वार है। इस शरीर को पुर कहते हैं। पुरी से सम्पूर्ण मल को छोड़ने के लिये नाभि द्वार पैदा हुआ। मरण पर्यन्त ही इस देह के साथ जैसे धातुओं का अनुवर्तन चला जाता है। इन धातुओं का पोषण अन्नादि के द्वारा होता रहता है और मल भी निकलता ही रहता है, यह प्रसिद्ध ही है। इसी तरह 'एको हं बहुस्यां' 'मैं एक ही बहुत हो जाऊं' इस भगवदिच्छा से आरम्भ कर भगवान् में प्रवेश करने पर्यन्त भगवान् के चिदंश जीव को एक शरीर ही बदलता हुआ प्रति जन्म में मिलता रहता है। इस अनेक जन्म सह वर्तमान शरीर के पोषक अन्य अनेक शरीर हो जाते हैं, वे सब अन्नमय हैं। उत्पत्ति के समय उनका सूक्ष्म स्वरूप ग्रहण किया जाता है और मरण की तरह त्याग के समय इनका भी त्याग हो जाता है। शरीर को जन्म देने वाला प्राण है और शरीर को मारने वाला

अपान है, इसलिए मृत्यु का द्वार अपान से उत्पन्न हुआ है। यहां अपान इन्द्रिय है और मृत्यु ही देवता हैं। प्राण और अपान का सहयोग ही जीवन है। किन्तु प्राण और अपान की जुदाई हो जाना मरण है। यह मरण किंवा जीवन भी इन्द्रिय और देवता के अधीन है। पूर्ववत्, नाभिद्वार से वह शरीर निकल जाता है। मल त्याग करते समय जैसे कुछ प्रयत्न करना पड़ता है, इसी तरह थोड़े प्रयत्न से वह शरीर नाभिद्वार से छोड़ा जाता है। जिस तरह से यह स्थूल शरीर बहुकाल पर्यन्त रहकर उस सूक्ष्म शरीर का पोषण आदि करता रहता है।

इसी तरह अन्न पान आदि भी कुछ काल पर्यन्त शरीर में रहकर ही धातुओं का पोषण करता है, इसलिए अन्न पान आदि को कुछ समय पर्यन्त शरीर में ही रखने की इच्छा जब भगवान् को हुई, तब उस विराट् भगवान् के कुक्षि आंत और नाड़ियें पैदा हुई। इनमें कुक्षि गोलक है। इन्द्रियों के स्थान। भीतर का खाली आकाश ही उदर है। अन्न के जमा होने का स्थान आंत है। और नाड़ियां पिये हुये जल के स्थापन करने का स्थान है। नदी और समुद्र इनके देवता हैं। नाड़ियों का देवता नदी है और आंत तथा उदर का देवता समुद्र हैं। दोनों का संग्रह करने के लिए मूल में चकार दिया है। 'नाडि नद्यो लोहितेन' और 'क्षुत्तृङ्भ्यामुदरं सिन्धुः' इन वाक्यों में यह बात कही गई है। तृप्ति को तुष्टि कहते हैं और देह वृद्धि को पुष्टि कहते हैं। तुष्टि और पुष्टि दोनों इन्द्रिय और देह के अधीन हैं। जगत् का निर्माण करने वाली भगवान् की शक्ति को आत्ममाया कहा है। आत्ममाया का जब भगवान् विचार करने लगे। अर्थात् यह कैसी है, मैं भी किस तरह इसकी छवि हो सकूंगा, यह जब विराट् भगवान् ने विचारना चाहा तब हृदय तैयार हुआ। विचार करने के लिए हृदय बना, तब उसमें मन, इन्द्रिय और चन्द्रमा देवता स्थित हुआ। इसका कार्य, ज्ञानरूप संकल्प और क्रियारूप काम। ये दोनों कार्य मन के हैं। इसलिये मन उभयात्म द्विविध है। यदि काम को संकल्प का ही कार्य मान लें तो मन के ज्ञान को क्रिया में कारण मानना उचित है। इस निश्चय को ही 'एव' कह रहा है। ये दोनों कार्य इन्द्रिय के अनुरोध से होते हैं। यह दिखाने को मूल में चकार कहा है ॥ २८ ॥ २९ ॥ ३० ॥

आभास—एवं सर्वस्य त्रैविध्यं निरूप्य गोलकानामाधिभौतिकत्वमिन्द्रियाणामाध्यात्मिकत्वं देवतानामाधिदैविकत्वमिति समुदितस्य त्रिरूपत्वम्। त्वगादीनां केवलान्नमयत्वेनाऽत्रैविध्यमाशङ्क्य त्रैविध्यमाह—

आभासार्थ—इस तरह से सब ही पदार्थों को तीन तरह का कहा। गोलक आधिभौतिक है। इन्द्रिय आध्यात्मिक है और देवता आधिदैविक है और सब मिलकर जगत् तीन प्रकार का है। इनमें त्वचा आदि पदार्थ केवल अन्नमय हैं इसलिये ये तीन प्रकार के न होंगे, यह आशंका करके ये भी तीन प्रकार के ही हैं यह उत्तर देते हैं—

श्लोक—**त्वक्चर्ममांसरुधिरमेदोमज्जास्थिधातवः।**
भूम्यप्तेजोमयाः सप्त प्राणो व्योमाम्बुवायुभिः ॥३१॥

श्लोकार्थ—त्वचा, चमड़ी, मांस, रुधिर, भेदस, मज्जा और अस्थि ये सात धातुऐ हैं। ये सातों भूमि जल और तेज से बनते हैं। और प्राण भी आकाश, जल, वायु से तैयार होते हैं ॥३१॥

सुबोधिनी—त्वक्चर्ममांसेति । त्वगुपरितना । चर्म स्थूलम् । रुधिरस्य पूर्वभावेऽपि मांसभावात्प्रथमतो मांसनिरूपणम् । मेदो वृद्ध्यादिषु प्रसिद्धम् । मज्जाऽस्थ्यन्तर्गता । अस्थि प्रसिद्धम् । स्नाय्वप्रसिद्धं तस्य मेदोमध्येऽन्तर्भावः । तदस्थ्नामावरणरूपम् । एते सप्ताऽपि तेजोबन्नमयाः । तदाह—**भूम्यप्तेजोमया इति** । भूमिरन्नस्थानीया । पाञ्चभौतिकत्वेऽपि त्रिरूपत्वं क्रमात् । त्रिरूपा एव वा । प्राणस्य त्रैविध्यमाह—**व्योमाम्बुवायुभिरिति** । सर्वदेहव्यापकत्वेनाऽऽप्यायकत्वेन वायुस्वरूपत्वेन च प्राणोऽपि त्रिविधो व्योमाम्बुवायुभिः ॥ ३१ ॥

व्याख्यार्थ—ऊपर की पतली चमड़ी त्वचा । मोटी त्वचा ही चमड़ी । यद्यपि मांस से पूर्व रुधिर होता है तथापि रुधिर ही मांस हो जाता है इसलिए यहां रुधिर से पहले मांस कहा है । मांस की ही अतिशय वृद्धि होने पर मेद हो जाती है । अस्थि के भीतर पोचा भाग मज्जा । यद्यपि एक अप्रसिद्ध स्नायु भी होता है किन्तु वह मेद में ही गिन लिया जाता है । यह हड्डी का आवरण है । ये सातों धातु तेज अप् अन्नमय हैं सो मूल में कहा है—'भूम्यप्तेजोमयाः' । यद्यपि ये सब पंचमहाभूत से बने हुये हैं तथापि वैदिक प्रक्रिया में त्रिवृत् ही है । भूमि, तेज, जल कहो चाहे तेज, अप्, अन्न कहो, एक ही पदार्थ हैं । प्राण भी त्रिविधि हैं । 'व्योमाम्बुवायुभिः ।' प्राण, सब देह में भरे हुए हैं और सब देह को तृप्त करते रहते हैं और इनका बाह्यरूप वायु है इसलिए इनको व्योम, जल और वायु रूप कहा है ॥ ३१ ॥

आभास—इन्द्रियाणामपि त्रैविध्यमाह—

आभासार्थ—इन्द्रिय भी तीन प्रकार के हैं, सो कहते हैं—

श्लोक—**गुणात्मकानीन्द्रियाणि भूतादिप्रभवा गुणाः ।**
मनः सर्वविकारात्मा बुद्धिर्विज्ञानरूपिणी ॥३२॥

श्लोकार्थ— इन्द्रिय सत्वादि गुणों से बने हैं । गुण अहंकारादि को उत्पन्न करने वाले हैं । मन सर्व विकारों का मूल हैं, और बुद्धि भी विविध ज्ञान को प्रकाशित करती है ॥३२॥

सुबोधिनी—**गुणात्मकानीन्द्रियाणीति** । त्रिगुणमयानीन्द्रियाणि सर्वाण्येव । अत एव लौकिकीं प्रवृत्तिं धर्मं भक्तिज्ञाने च जनयन्ति । अहङ्कारस्याऽपि त्रैविध्यमाह— **भूतादिप्रभवा गुणा इति** । भूतादिरहङ्कारः । भूतादीनां प्रभवो यत्र । भूतादेर्वा प्रभवो येषाम् । अहङ्कारस्य त्रैविध्यं स्पष्टमेव भूताद्यादिभेदात् । भूतादिशब्देनाऽहङ्कार एव वा । तस्माद्गुणत्रयोत्पत्तिः स्पष्टैव । तेन गुणजनकत्वेन त्रिगुणत्वं स्पष्टम् । मनसोऽपि त्रैविध्यमाह—**मनः सर्वविकारात्मेति** । सर्वे हि विकारास्त्रिविधाः । तन्मयत्वान्मनोऽपि त्रिविधम् । बुद्धिरपि त्रिविधेत्याह—**बुद्धिर्विज्ञानरूपिणीति** । विविधं ज्ञानं विज्ञानम् । तत्त्रिविधमिति तद्रूपिणी बुद्धिरपि त्रिविधा ॥ ३२ ॥

व्याख्यार्थ—सब ही इन्द्रिय सत्त्व, रजस्, तमस् गुणों से भरे हुये हैं। इसीलिए इन्द्रियों से लौकिक व्यवहार, सनातन धर्म, भक्ति और ब्रह्मज्ञान पैदा होते हैं। अहंकार भी तीन प्रकार का है सो कहते हैं—'भूतादिप्रभवा गुणाः।' गुण भूतादि को पैदा करते हैं। अहंकार को भूतादि कहते हैं क्योंकि अहंकार से ही पंच महाभूतादि पैदा होते हैं। जिस अहंकार में भूतादि पदार्थों की उत्पत्ति है अथवा जिन पर अहंकार का प्रभाव है। भूतादि का भेद होने से अहंकार त्रिविध है यह स्पष्ट ही है। भूतादि शब्द से अहंकार ही लेना और अहंकार से तीन गुणों की उत्पत्ति पुराणादि में स्पष्ट है। अतः गुणत्रय को पैदा करने वाला होने से अहंकार भी त्रिविध है ही। मन भी त्रिविध है—'मनः सर्वविकारात्मा'। सब ही विकार, मन की लहर तीन प्रकार की है और मन भी सर्व विकारमय है, इसलिए यह भी तीन प्रकार का है। बुद्धि भी तीन प्रकार की है, सो कहते हैं—'बुद्धि विज्ञानरूपणी'। विविध प्रकार का ज्ञान ही विज्ञान है। यह विज्ञान सात्त्विक, राजस, तामस तीन प्रकार का है, इसलिये तद्रूपा बुद्धि भी तीन प्रकार की है ॥ ३२ ॥

आभास—एवं सर्वस्य त्रैविध्यमुपपाद्य उपसंहरति—

आभासार्थ—इस तरह सब पदार्थों को तीन प्रकार के कहकर अब सबका सार कहते हैं—

श्लोक—**एतद्भगवतो रूपं स्थूलं ते व्याहृतं मया।**
मह्यादिभिश्चाऽऽवरणैरष्टभिर्बहिरावृतम् ॥३३॥

श्लोकार्थ—हे राजन्! मैंने तेरे आगे यह भगवान् का स्थूल रूप कह दिया। यह भगवान् का स्थूल रूप बाहर से पृथ्वी आदि आठ आवरणों से ढ़का हुआ है ॥३३॥

सुबोधिनी—**एतद्भगवतो रूपमिति**। एतत्पूर्वनिर्दिष्टं सर्वमेव त्रिविधं भगवतो रूपं स्थूलो देहः। ते तुभ्यं त्वदर्थं मया व्याहृतमित्यर्थः। त्रिगुणत्वेन यन्निरूपणं तत्त्वाऽधिकारेण निरूपितम्। भगवतो हि रूपं सर्वेषामधिकारानुसारेण सर्वरूपत्वेन भासते। **"तं यथायथोपासत"** इति श्रुतेः ॥ ३३ ॥

व्याख्यार्थ—यह पहले बताया गया तीन प्रकार का भगवान् का स्वरूप, भगवान् की स्थूल देह है, सो मैंने तेरे आगे कह दिया। यह भगवान् का रूप जो तीन प्रकार से कहा गया, यह तो तुम्हारे अधिकार से कहा है। भगवान् का स्वरूप तो एक ही है, किन्तु सबके अधिकार के अनुसार सब रूप वाला सब तरह का दीखता है, क्योंकि 'तं यथा यथोपासते'। भगवान् जो अधिकारी जिस रूप का ध्यान करता है, विचारता है, भगवान् भी वैसा ही रूप धारण करते हैं। इस श्रुति में ऐसा ही कहा है ॥ ३३ ॥

आभास—एवं राज्ञे त्रैविध्यं निरूप्य सूक्ष्मं रूपं ततोऽप्युत्तमाधिकार्यर्थे अव्यक्तरूपं निरूपयति—

आभासार्थ—इस तरह राजा के आगे स्थूल रूप त्रिविध है यह कहकर इससे भी उत्तम अधिकारी के लिए सूक्ष्म रूप है, वह अव्यक्त है। सो कहते हैं—

श्लोक— **अतः परं सूक्ष्मतममव्यक्तं निर्विशेषणम्।**
अनादिमध्यनिधनं नित्यं वाङ्मनसः परम् ॥३४॥

श्लोकार्थ—इससे भगवान् का अति सूक्ष्म रूप है। जो अव्यक्त है वह किसी की समझ में स्पष्ट नहीं आता। उसमें कोई फरक या भेद भाव नहीं है। उसका आदि-मध्य और अन्त नहीं है। वह नित्य है और वाणी तथा मन से परे है। छिपा हुआ है ॥३४॥

सुबोधिनी—**अतः परमिति**। मह्यादिसप्तावरणसहितात्स्थूलरूपात्परं व्यतिरिक्तमुत्कृष्टमेतन्नियामकम्। सूक्ष्मतमं आकाशाद्यपेक्षयाऽप्यतिसूक्ष्मम्। तस्य रूपविशेषनिरूपणं न कर्त्तव्यम्। यतस्तदव्यक्तं केनाऽपि धर्मेण न प्रकटम्। ततस्तस्य विशेषाः प्रकटा भविष्यन्तीत्याशङ्क्याऽऽह—**निर्विशेषणमिति**। सर्वविशेषणरहितम्। सर्वव्यावर्त्तकधर्मरहितमित्यर्थः। तस्योत्पत्त्यादिकं नाऽस्तीत्याह—**अनादिमध्यनिधनमिति**। आदिमध्यावसानरहितम्। नित्यं सदैकरूपम्। वाङ्मनसः परं सर्वव्यवहारातीतम् ॥ ३४ ॥

व्याख्यार्थ—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, प्रकृति और पुरुष इन सात आवरणों से युक्त स्थूल रूप से अन्य जुदा और श्रेष्ठ रूप और भी है, जो इस स्थूल रूप को नियम में रखता है। आकाशादि से भी सूक्ष्म है। उसका रूप विशेष कहा नहीं जा सकता। इसीलिए वह अव्यक्त है, किसी धर्म के द्वारा भी वह प्रकाशित नहीं किया जा सकता। सो कदाचित् उसके विशेष प्रकट किये जा सकते होंगे। यह भी आशंका न करनी चाहिये, क्योंकि वह सब ही विशेषणों से रहित है। सबसे जुदा मन दिखाने वाले धर्मों से रहित है, उसकी उत्पत्ति आदि भी नहीं होती सो कहते हैं—'अनादि'। वह आदि, मध्य, अन्त रहित है। सदा एक रूप ही रहता है और उसमें किसी तरह का व्यवहार नहीं होता ॥ ३४ ॥

आभास—एवं स्थूलसदृशं सर्वप्रकारेण सूक्ष्ममिति निरूपितम्। उभयमप्युपसंहरति—

आभासार्थ—इस प्रकार स्थूल की तरह सर्व प्रकार से सूक्ष्म रूप भी भगवान् का है। यह कहा। अब दोनों रूप का सिद्धान्त कहते हैं कि—

श्लोक—**अमुनी भगवद्रूपे मया ते ह्यनुवर्णिते।**
उभे अपि न गृह्णन्ति मायासृष्टे विपश्चितः ॥३५॥

श्लोकार्थ—हे राजन! मैंने तेरे आगे भगवान् के ये स्थूल और सूक्ष्म रूप कह दिये हैं। स्वरूप ज्ञानी तो इन दोनों को खास भगवत्स्वरूप नहीं मानते, क्योंकि माया से बनाये गये हैं ॥३५॥

सुबोधिनी—अमुनी भगवद्रूपे इति । मया ते त्वदर्थमेवाऽनुवर्णिते पूर्ववत् । अस्माकं तु नाऽनेनोपयोगः । तदाह—**उभे अपि न गृह्णन्तीति** । तत्र हेतुः—**मायासृष्टे इति** । मायायाः कार्यकारणरूपायाः सम्बन्धेनैवंरूपो जात इति । यतस्ते विपश्चितः साक्षात्स्वरूपज्ञातारः ।।३५।।

व्याख्यार्थ— ये भगवान् के स्थूल सूक्ष्म देह दोनों तुम्हारे लिये ही मैंने कहे हैं । हमें तो इन दोनों रूपों से किसी तरह का भी प्रयोजन नहीं है । यही बात कहते हैं कि 'मायासृष्टे' । कार्य कारण रूपा माया के साथ सम्बन्ध[1] करके भगवान् इन त्रिविध रूप वाला हुआ है । इसलिए ये जो साक्षात्स्वरूप का अनुभव करने वाले हैं, वे इन रूपों को ग्रहण नहीं करते ।। ३५ ।।

आभास—ननु तर्हि भगवान् कथमेवंरूपं करोतीत्याशङ्क्याऽऽह—

आभासार्थ—यहां यह प्रश्न होता है, कि तो फिर भगवान् इस प्रकार के रूपों को किस प्रकार से धारण करते हैं । इस प्रश्न का उत्तर देते हैं कि—

श्लोक—**स वाच्यवाचकतया भगवान् ब्रह्मरूपधृक् ।**
नामरूपक्रिया धत्ते सकर्माऽकर्मकः परः ।।३६।।

श्लोकार्थ—वाच्य (अर्थ) और वाचक (शब्द) रूप होकर ब्रह्म (व्यापक) रूप धारण करने वाला वह पुरुषोत्तम जगद्वर्ती नाम और रूपों को धारण करता है । वही सकर्मक है । और यही अकर्मक परब्रह्म है । कर्म करता भी है और नहीं भी ।।३६।।

सुबोधिनी—स वाच्यवाचकतयेति । स भगवान् ! वाच्यवाचकत्वं अनामरूपात्मनि नामरूपे विधाय तादृशो भूत्वा जगतः पालनादिकं करोतीति वाच्यवाचकतया स्वरूपाप्रच्युत एव ब्रह्मरूपं सच्चिदानन्दं बिभ्रत् सर्वेषामपि जीवानां नामरूपक्रिया धत्ते । नामानि रूपाणि क्रियाश्च स्वसदृशान्करोतीत्यर्थः । स्वयं च सकर्मा । न च पुनरेतादृश एव । यतो वस्तुतोऽकर्मकः सर्वकर्मरहितः । सर्वेषां नियामकश्च । एतादृशोऽपि सर्वानुत्पादयितुं त्रिगुणात्मकं अव्यक्तं च रूपं करोतीत्यर्थः ।। ३६ ।।

---

१. यहां किसी को जगत् मायिक है या शांकर मत की तरह जगत् का स्वरूप है यह भ्रम हो सकता है, किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है । जगत् तीन प्रकार का है । केवल ब्रह्मरूप आधिदैविक जो द्वितीय स्कंध अध्याय में कहा गया हैं और दूसरा माया के साथ प्रतिकृतिवत् सम्बन्ध करके भगवान् से पैदा हुआ, आध्यात्मिक जगत् जिसका वर्णन तृतीय स्कंध में है । यह पदार्थ सृष्टि का प्रकार है और तीसरा आधिभौतिक मायिक जगत् जिसका वर्णन २-९-३३ में है । 'अमुनी भगवद्रूपे' श्लोक में जो भगवान् के रूपों का वर्णन है, वह आध्यात्मिक जगत् का है । क्योंकि इसके प्रारम्भ में 'एको नानात्वमन्विच्छन्' 'मायया व्यसृज त्रिधा' माया सम्बन्ध सृष्टि कही है और इस २-१०-३५ में भी 'माया सृष्टे' कहा है और सुबोधिनी में भी 'मायया:' ……… 'सम्बन्धेनैवंवं रूपोजातः' यह कहा है, इसलिए किन्तु विषामित् ग्राह्य जगत् तो केवल ब्रह्मरूप है और वह स्वार्थ सृष्टि प्रकार है । भावान्तरकर्ता—देवर्षि रमानाथ

व्याख्यार्थ—वह पुरुषोत्तम भगवान् अनाम रूप अपने स्वरूप में ही नामरूप को प्रकाशित न करके। अर्थात् वाच्य पदार्थ रूप और उनके वाचक नाम भी आप ही हो जाता है और जगत् का पालन आदि भी आप ही करता है। वाच्य और वाचक भी आप ही हैं, इसलिये स्वरूप से अलग न रहकर ही ब्रह्म, सत्, चित्, आनन्द रूपों को धारण करते हुए, जीवों के नाम रूप और क्रियाओं को धारण करते हैं। नाम रूप रहित अपने अक्षर ब्रह्मात्मक स्वरूप में ही सर्व भवन सामर्थ्य माया के सम्बन्ध से गुणावतार ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि के रूप और नामों को ग्रहण और फिर जीवों के भी नामरूप और क्रिया आदि को भी आप ही धारण करता है। स्वयं ही सब कार्यों को करता है, किन्तु वास्तव में वैसा ही अर्थात् सकर्मा ही नहीं है। वास्तव में अकर्मा सब कर्मों से रहित ही है। सब जगत् नियामक भी आप ही है। इस तरह अकर्मा सर्व नियामक रहते भी सर्व प्राणियों को पैदा करने के लिए अपने वैसे रूप को ही त्रिगुणात्मक और अव्यक्त रूप बनाता है ॥ ३६ ॥

आभास—ननु के ते येषामर्थे स्वयं त्रिविधो जात इति। तत्राऽऽह—**प्रजापतीनि-त्यादिभिस्त्रिभिः**—

आभासार्थ—यहां यह प्रश्न होता है, कि वे कौनसे प्राणी हैं, जिनके लिए भगवान् इस तरह सात्त्विक, राजस्, तामस् रूपों को धारण करते हैं। इसका उत्तर देते हैं—

श्लोक—**प्रजापतीन् मनून् देवान् ऋषीन् पितृगणान् पृथक्।**
सिद्धचारणगन्धर्वविद्याध्रसुरगुह्यकान् ॥३७॥
किन्नराप्सरसो नागान् सर्पान् किम्पुरुषानपि।
मातृरक्षःपिशाचांश्च प्रेतभूतविनायकान् ॥३८॥
कूष्माण्डोन्मादवेतालान् यातुधानान् ग्रहानपि।
खगान् मृगान् पशून् वृक्षान् गिरीन्नृप सरीसृपान्।
द्विविधाश्चतुर्विधा येऽन्ये जलस्थलनभौकसः ॥३९॥

श्लोकार्थ—प्रजापति, मनु, देव गण ऋषि पितृगण, सिद्ध, चारण, गन्धर्व, विद्याधर, असुर गुह्यक, किन्नर अप्सरा, नाग, सर्प, किंपुरुष, मातर, राक्षस, पिशाच, प्रेत, भूत, विनायक कूष्माण्ड, उन्माद, वेताल, यातुधान, गुह, खग, मृग, पशु, वृक्ष, गिरि, सरीसृप, इन सब को पृथक् पृथक् पैदा किये। और भी जो जल आकाश और पृथ्वी पर रहने वाले प्राणी हैं, उन्हें भी पैदा किये। इनमें कितने ही दो दो तरह के हैं। और कितने ही चार चार प्रकार के भी हैं ॥३७, ३८, ३९॥

सुबोधिनी—एके प्रत्येकगुणप्रधानाः। एके मिश्राः। तत्र प्रत्येकान् श्लोकत्रयेण गणयति। तत्राप्युत्तरोत्तरहीनता। प्रथमं प्रजापतयो मरीच्यादयो गुह्यकान्ताः सत्त्वापकर्षरूपाः। किन्न-

रादयो विनायकान्ता राजसाः । कूष्माण्डादयः सरीसृपान्तास्तामसाः । अन्ये तत्तद्भेदेषु मिश्रा इति तानेकेन गणयति—**द्विविधा इति** स्थावर-जङ्गमभेदेन । चतुर्विधा जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जाः । ये पूर्वोक्तादन्ये ते सर्वे सङ्करजाता इति ज्ञेयाः । तथापि स्थानतस्त्रैगुण्यं तदाह—**जलस्थलनभौकस इति** । जलादयः स्थानानि येषाम् । तत्र जलस्था राजसाः । स्थलस्थाः सात्त्विकाः । नभस्थास्तामसाः ।। ३७ ।। ।। ३८ ।। ३९ ।।

व्याख्यार्थ—इन प्राणियों में कितने ही तो एक-एक गुण प्रधान हैं । अर्थात् सत्वगुण प्रधान, रजोगुण प्रधान, तमोगुण प्रधान । और कितने ही एक-एक दो-दो तीन-तीन गुणों से मिले हुए भी हैं । इनको तीन श्लोकों में प्रत्येक को गिनाते हैं । इनमें भी उत्तरोत्तर हीन सर्ग है । यह भी दिखाया है । सबसे पहले प्रजापति मरीचि आदि गुह्यक पर्यन्त । सत्व प्रधान से लेकर सत्वापकर्षरूप हैं । किन्नरों को आदि लेकर विनायक पर्यन्त राजस हैं । कूष्माण्डों को आदि ले सरीसृप पर्यन्त तामस प्राणी हैं । इनसे उन उन प्रकार के प्राणियों में जो गुणमिश्र हैं, उन्हें एक श्लोक में गिन लिये हैं । कितने ही स्थावर जङ्गम प्रकार के हैं और कितने ही जरायुज अंडज स्वेदज और उद्भिज हैं । स्थावर पर्वत वृक्षादि । जरायुज मनुष्य पशु आदि । अण्डज पक्षी आदि । स्वेदज जुआ, खटमल आदि । उद्भिज्ज वृक्ष आदि । पूर्वोक्त प्रजापति आदि से अन्य खग मृगादि हैं, ये सब सांकर्य (मेल) से पैदा हुए हैं । इन सबको स्थान से भी त्रिविधता है । कितने ही जल में रहते हैं । कितने ही पृथ्वी पर और कितने ही आकाश में भी रहते हैं । जलादि जिनके स्थान हैं वे जलस्थ राजस हैं । स्थल पर रहने वाले सात्त्विक हैं और नभस्थ तामस हैं ।। ३७ ।। ३८ ।। ३९ ।।

आभास—एवं स्वरूपतः स्थानतश्च सर्वेषां त्रैविध्यमुपपाद्य फलतोऽपि त्रैविध्यमाह—

आभासार्थ—इस तरह सब प्राणियों का स्थान और स्वरूप से त्रिविध निरूपण करके अब फल से भी उनका त्रैविध्य निरूपण करते हैं—

श्लोक—**कुशलाकुशला मिश्राः कर्मणां गतयस्त्विमाः ।**
सत्त्वं रजस्तम इति तिस्रः सुर-नृ-नारकाः ।।४०।।

श्लोकार्थ—सत्व रजस् और तमस् ये तीन प्रकृति के गुण हैं । इनके अनुरोध से देवता मनुष्य और नीचे प्राणी होते हैं । और उन गुणों के अनुरोध से ही प्राणियों के कर्मों की गति (परिणाम) भी अच्छी बुरी और मध्यम तीन प्रकार की होती है ।।४०।।

सुबोधिनी—**कुशलाकुशला मिश्रा इति** । कर्मणां त्रिविधा गतिः सात्त्विकादिविभेदेन । सात्त्विकं कर्म शुभफलं कुशलशब्देनोच्यते । तामसं कर्माऽऽशुभफलमकुशलशब्देनोच्यते । राजसं कर्मोभयफलं मिश्रशब्देनोच्यते . एवं कर्मगतयः कर्मसाधनफलप्रकारास्त्रिविधाः । कुशलाश्चाऽकुशलाश्च कुशलाकुशलाः । मिश्रा अभिन्नाः । कर्मणामिमा एव गतयो न त्वन्याः । तासां मूलनामान्याह—**सत्त्वं रजस्तम इति** । कुशलाकुशलमिश्राणामेतानि मूलनामानि । सत्त्वं

कुशलनाम । तमोऽकुशलनाम । रजो मिश्रनाम । तत्कृतदेहा अपि त्रिविधा इत्याह । सुरनृनारकाः। सत्त्वं रजस्तम इति तिस्र इत्युभयत्र सम्बध्यते । सुराः सत्त्वम् । नरा रजः । नारकास्तम इति तिस्र एव । पश्चादयो नारकमध्य एव ।।४०।।

व्याख्यार्थ—प्राणियों के किये कर्मों का परिणाम (फल) सात्त्विक, राजस, तामस भेदों से तीन तरह का होता है । सात्त्विक कर्म का फल शुभ होता है और कुशल शब्दों से कहा जाता है । तामस कर्म का फल अशुभ बुरा होता है और उसे अकुशल कहते हैं । और राजस कर्म का फल शुभ अशुभ अच्छा बुरा दोनों तरह का होता है और वह मिश्र कहलाता है । इस तरह कर्म की तरह ही कर्म रूप साधन के फलों के प्रकार भी तीन तरह के होते हैं । कुशल अकुशल और कुशलाकुशल । मिश्र शब्द से मिला हुआ फल, अलग-अलग नहीं । कर्मों की ये तीन ही गति होती हैं । अन्य नहीं । सत्त्व कुशल, तम अकुशल और रज मिश्र है ।

सत्त्वादि गुण से बने देह भी त्रिविध हैं, सुर नर और नारकी । सत्त्व, रज, तमस और तिस्र ये शब्द गति और देह दोनों में लगते हैं । सुर सत्त्वगुणी है । नर रजो है और तमोगुणी नारक जीव हैं । पशु आदि अज्ञानी जीव नारकी है ।। ४० ।।

आभास—ननु त्रिविधा एव गतय उच्यन्ते । प्रकारास्तु कोटिशो भवन्ति । तत्राऽऽह—

आभासार्थ— यद्यपि यहां त्रिविध ही गतियां कही हैं, पर इनके प्रकार तो करोड़ों होंगे, सो कहते हैं—

श्लोक—**तत्राप्येकैकशो राजन् भिद्यन्ते गतयस्त्रिधा ।**
यदैवैकतरोऽन्याभ्यां स्वभाव उपहन्यते ।।४१।।

श्लोकार्थ—हे राजन ! इन त्रिविध गतियों में भी एक एक गति की अनेक ही गतियां हो जाती हैं । क्योंकि एक तरह का स्वभाव दो अन्य तरह के स्वभाव से मिलता है, तब सहस्रशः गतियां हो जाती हैं ।।४१।।

सुबोधिनी—**तत्राप्येकैकशो राजन्निति** । बहवो मया त्रिविधा गणिताः । तेष्वेकैकशस्त्रिविधा ये प्रजापतयो गणितास्तेऽपि त्रिविधाः । ये वा सरीसृपास्तेऽपि । **राजन्निति** सम्बोधनं पुरुषाणां नानाविधत्वज्ञापनार्थम् । ननु कथमेकमनेकधा भवति ? तत्राऽऽह— **यदैवैकतर इति ।** यदा एकतरः स्वभावः सात्त्विकादिः अन्याभ्यां स्वव्यतिरिक्ताभ्यां उपहन्यते बलवद्भ्यामभिभूयते । तत्र बलाभिभवतारतम्येनैकस्याऽनेकरूपाणि भवन्ति ।। ४१ ।।

व्याख्यार्थ— प्रजापति प्रभृति देहों में मैंने बहुत से त्रिविध बनाये हैं । उनमें भी एक-एक में त्रिविध-त्रिविध प्रजापति प्रभृति फिर और हो जाते हैं और जो सरीसृपादि त्रिविध गिनाये उनमें भी एक-एक में फिर सरीसृपादि भी त्रिविध-त्रिविध होते चले जाते हैं । राजन् सम्बोधन से पुरुषों

में भी नाना प्रकार के भेद हो जाते हैं, यह दिखाया है। यह एक का अनेक भेद कैसे हो जाता है, इसका उत्तर कहते हैं कि 'यदैवैकतर:'। जब एक तरह का सात्त्विक आदि स्वभाव ही अपने से पृथक् राजसादि बलवान् स्वभावों से दबाया जाता है, तब बलवान् के मिश्रण से एक के अनेक भेद अनेक रूप हो जाते हैं ।। ४१ ।।

आभास—एवं कार्यत्रैविध्यमुपपाद्योपसंहरन् भगवतः सात्त्विकीं लीलां पालनाख्यामुपपादयति—

आभासार्थ—इस तरह जगत् रूप भगवान् का कार्य तीन तरह का है, यह कहकर उपसंहार करते हुए भगवान् की पालन नाम की लीला का उपपादन करते हैं—

श्लोक—**स एवेदं जगद्धाता भगवान्धर्मरूपधृक् ।**
पुष्णाति स्थापयन्नित्यं तिर्यङ्नरसुरात्मभिः ।।४२।।

श्लोकार्थ—यह जगत् को धारण करने वाला भगवान् ही विभिन्न धर्म रूपों को लेकर पशु, मनुष्य और देव देहों के द्वारा जगत् का नित्य स्थापन करता हुआ पालन करता है ।।४२।।

सुबोधिनी—**स एवेदमिति**। स एव त्रिविधजगत्कर्त्ता तदर्थं त्रिविधश्च । सृष्टमिदं जगत् भगवान् भगशब्दवाच्यैः स्वगुणैः पालनसमर्थैर्धर्मरूपधृक् । धर्मेण च स्थापयन् तत्तन्मर्यादायां पुष्णाति अभिवृद्धं करोति । नित्यमित्युत्पत्तिक्षणमारभ्य अन्तपर्यन्तं प्रतिक्षणं पुष्णाति । तदुपघातकासुराविर्भावे तिर्यङ्नरसुरात्मभिः त्रिविधैर्मत्स्यादिरूपै रामादिरूपैर्वामनादिरूपैश्च सर्वं जगत् परिपालयतीत्यर्थः ।। ४२ ।।

व्याख्यार्थ—त्रिविध जगत् का निर्माणकर्त्ता वह त्रिविध रूप धारण करने वाला भगवान् ही 'भग' शब्द से कहे जाते। पालन करने में समर्थ अपने ऐश्वर्य आदि गुणों से अपने पैदा किये जगत् का पालन करता है। इसको बढ़ाता रहता है। नित्य का तात्पर्य यह है, कि उत्पत्ति के क्षण से लेकर प्रलय पर्यन्त प्रतिक्षण इसकी वृद्धि और पालन करता ही रहता है। इस जगत् को हानि पहुंचाने वाले असुर लोग जब-जब इस विश्व का नाश करने का प्रयत्न करते हैं, तब भगवान् भी सात्त्विक, राजस, तामस, वामन, राम, मत्स्य आदि तिर्यक नर, सुर अवतारों को धारण करके असुरों का हनन करके विश्व का पालन करते हैं ।। ४२ ।।

आभास– तृतीयां लीलामाह—

आभासार्थ—अब तीसरा लीला प्रलय कहते हैं—

श्लोक—**ततः कालाग्निरुद्रात्मा यत्सृष्टमिदमात्मनः ।**
संनियच्छति कालेन घनानीकमिवाऽनिलः ।।४३।।

श्लोकार्थ—इसके अनन्तर यही भगवान् कालाग्निरूप रुद्र रूप धारण करके जैसे जोर की आंधी, वरसने वाले बादलों की पंक्ति को उड़ा ले जाती है। इसी तरह समय पर इस अपने बनाये जगत् को भी अपने आप में छिपा लेता है ।।४३।।

सुबोधिनी-कालाग्निरुद्रात्मेति। कालः प्रलयकालः। तत्साधकोऽग्निः सङ्कर्षणमुखानलः। तत्राऽनले यो रुद्रस्त्र्यक्षस्त्रिशिखं शूलमुत्तम्भयन्नुदतिष्ठत् तद्रूपो भूत्वा आत्मनः सकाशादेव यत्सृष्टमूर्णातन्तुवत् सन्नियच्छति उपसंहरति। कालेन करणेन। यथोत्पादने माया करणं पालने चाऽवतारास्तथा संहरणे कालः करणम्। उत्पत्त्यादिभिः संहारान्तैः कृतैरप्याधारे न किञ्चिद्विकृतता जायत इत्यत्र दृष्टान्तमाह—**घनानीकमिवाऽनिल इति।** मेघानां समूहं यथा वायुरपकर्षति। वायुनाऽपकृष्टा मेघा यथा न ज्ञायन्ते क्व गता इति तथा संस्कारं सर्वमेव नाशयतीत्यर्थः ।। ४३ ।।

व्याख्यार्थ—प्रलयकाल का साधक संकर्षण के मुख से निकला अग्नि। इस अग्नि में वर्तमान रुद्र त्रिनेत्र अपने त्रिशूल को उठाकर अर्थात् भगवान् ही रुद्ररूप को धारण करके मकड़ी जैसे अपने मुख से निकले तन्तुओं को ग्रस जाती है इसी तरह जगत् को खा जाता है। प्रलयकाल ही इसका साधन है। जैसे जगत् को पैदा करने में माया सर्व भवन सामर्थ्य साधन है। इसके पालन में विविध अवतार साधन हैं। इसी तरह संहार करने में काल ही कारण है। उत्पत्ति पालन और संहार आदि कार्य करने से भी मूल आधार रूप भगवान् के स्वरूप में किसी तरह का भी विकार या फेरफार नहीं होने पाता। यह बात दृष्टान्त से दिखाते है—'घनानीकमिवाऽनिलः'। मेघों के समूह को जैसे वायु खींच ले जाती है। वायु के उड़ा ले जाने पर जैसे मेघ मालूम नहीं होते कि कहां गये, इसी तरह सब जगत् को संस्कार सहित नष्ट कर देता है ।। ४३ ।।

आभास—एवं भगवत्कृतानुत्पत्तिस्थितिप्रलयान्निरूप्येदं भगवत्कर्तृकं जगदुत्पत्त्यादि ब्रह्मवादिसम्मतमित्याह—

आभासार्थ—इस तरह भगवत्कृत जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, संहृति को कहकर अब यह दिखाते हैं, कि यह भगवत्कृत उत्पत्ति आदि ब्रह्मवेता ज्ञानियों को भी संमत है—

श्लोक—**इत्थम्भावेन कथितो भगवान् भगवत्तमाः।**
नेत्थम्भावेन हि परं द्रष्टुमर्हन्ति सूरयः ।। ४४ ।।

श्लोकार्थ—हे भागवत सज्जनो! ब्रह्मवेताओं ने भगवान् को इस प्रकार से कहा है, किन्तु जो भगवान् को साक्षात् देखने वाले विद्वान् हैं, वे केवल इसी भाव से नहीं देखना चाहते। क्योंकि यह भगवान् तो दोनों तरह का है। जिन विरुद्ध धर्मों का आश्रय है ।। ४४ ।।

सुबोधिनी—इत्थम्भावेन कथित इति । हे भगवत्तमाः । राजानं बोधयितुमेवंप्रकारेणाऽस्माभिर्जगदुत्पत्तिस्थितिकर्त्ता भगवानुक्तस्तदाह—**इत्थम्भावेन कथित इति ।** पूर्वोक्तप्रकार एवेत्थम्भावः **भगवानिति** तथा कथनेऽप्यदोषाय । स हि सर्वैः स्वाधिकारेण बुध्यते बोध्यते च । **भगवत्तमा इति** अत्यन्तमधिकारिणः । भवदर्थं त्वग्रे निरूप्यते । तदाह—**नेत्थम्भावेनेति ।** परं मायातीतं भगवन्त स्वत एव सर्वं पूर्वोक्तप्रकारेण सूरयो ब्रह्मविदो द्रष्टु नाऽर्हन्ति ।।४४।।

व्याख्यार्थ—अन्त्यश्रोताओं के प्रति उन्मुख होते हुए श्री शुक कहते हैं कि—हे भगवद्भक्तो! राजा के अधिकार के अनुसार भगवत्स्वरूप समझाने के लिए हमने यह जगदुत्पत्ति स्थिति संहार कर्त्ता भगवान् का वर्णन किया है । सो ही कहते हैं—'इत्थंभावेन' । पहले कह आये वही प्रकार इत्थंभाव है । भगवान् कहने का तात्पर्य यह है कि इस प्रकार से कहने में भी इसमें कोई दोष नहीं आता । सब ही अपने-अपने अधिकार के अनुसार समझते हैं और समझाते है । भगवत्तमाः कहने से सर्वश्रेष्ठ अधिकारी कहे है । भगवान् के स्वरूप के लिए तो आगे कहेंगे । सो कहते हैं 'नेत्थभावेन'। भगवान् पर है अर्थात् सबके ज्ञान से परे है और सर्वश्रेष्ठ भी है । भगवान् माया से परे हैं । अतः एव स्वरूप से ही वह पूर्वोक्त प्रकार का ही केवल नहीं हो सकता । यह पूर्ण ज्ञानी लोग मानते है ।। ४४ ।।

आभास—तत्र हेतुमाह—

आभासार्थ—इस कथन में हेतु बनाते हैं—

श्लोक—**नाऽस्य कर्माणि जन्मादौ परस्याऽनुविधीयते ।**
कर्त्तृत्वप्रतिषेधार्थं माययाऽऽरोपितं हि तत् ।। ४५ ।।

श्लोकार्थ—पर भगवान् के द्वारा जगत् के जन्म आदि में पर के ही कर्म नहीं है और न उनका अनुविधान ही है । ये कर्म तो कर्त्तृत्व के निषेध के लिए कहे गये हैं, क्योंकि भगवान् का कर्त्तृत्व माया से आरोपित है ।। ४५ ।।

सुबोधिनी—नाऽस्य कर्माणीति । अस्य जन्मादौ कर्माणि । मायानियन्तुः परस्य । नाऽनुविधीयते अनुविधानं न क्रियते । परःसम्बन्धिरूपेण नाऽनुविधानं करोतीत्यर्थः । कुत इत्यपेक्षायामाह—**माययाऽऽरोपितं हि तदिति ।** जगद्भावादयः सर्वे व्यामोहिकमायाकार्यविषयतारूपाः । ते न भगवत्कार्या इति तत्र कर्त्तृत्वादिना भगवदनुसन्धानं नास्तीत्यर्थः । तर्हि किमिति निरूप्यते जगत्कर्त्तृत्वं भगवति ? तत्राऽऽह—**कर्त्तृत्वप्रतिषेधार्थमिति ।** प्रतीतं हि कर्त्तृत्वं प्रतिषेध्यं भगवांस्तु स्वरूपं पश्चादहमित्येवोक्तवान् । न तु मया कृतमिति । अहं वा जातमिति । बुद्धिसौकर्यार्थमेव तथा निरूपितं मायया करोतीति स्वयमेव जायत इति । तज्जत्वादित्यपि तदेव जः नतु तस्माज्जात इति । तस्मादुत्पत्त्यादिकल्पनाहीन सर्वं ब्रह्मत्येव ब्रह्मविद्भिर्ज्ञातव्यं न तु कल्पनायुक्तम् । **यतो माययाऽऽरोपितं तत् ।।४५।।**

व्याख्यार्थ—इस जगत् के जन्म स्थिति और संहार होने में पर भगवान् के कर्म नहीं कहे गये हैं। क्योंकि भगवान् माया के भी परे हैं और माया के भी शासक हैं। यह क्यों, इसका उत्तर देते हैं कि 'मायया आरोपितं हि तत्'। भगवान् जगत् को करते हैं, इत्यादि भगवान् के कर्म तो मोहिनी माया से आरोपित[1] हैं। भगवान् में स्वतः नहीं है। जगत् का होना स्थिति संहारादि पदार्थ सब भगवान् की ही व्यामोहिका माया के विषयता रूप हैं। ये सब भगवान् के कार्य नहीं हैं। इस विषय में भगवान् का कर्त्तापन साथ लगाने योग्य नहीं। तो फिर भगवान् जगत् को पैदा करता है, ऐसा शास्त्रों में क्यों कहा गया है? तो कहते हैं कि 'कर्तृत्व प्रतिषेधार्थं'। भगवान् जगत् का कर्त्ता है, यह जो प्रतीत हो रहा है इसका निषेध करना है। क्योंकि पश्चादहं' इस पद से भगवान् स्वयं कह चुके हैं कि सबके पीछे मैं रहता हूँ। बस यह भगवान् का स्वरूप है। यही भगवान् ने कहा है। मैंने किया है। किंवा मैं ही जगत् हो गया हूँ, यह बात वहां नहीं कही गई है। भगवान् के स्वरूप को समझने में बुद्धि को सुगमता हो जाय इसीलिए माया से जगत् बनाता है किंवा आप ही जगत् हो जाता है यह कहा गया है। 'तज्जलान्' श्रुति में जो जगत् को 'तज्ज' कहा है वह भी ऐसा ही है। अर्थात् जगत् पैदा होता है, दीखता है किन्तु भगवान् से पैदा होता है यह अर्थ नहीं है।

इसलिए उत्पत्ति, स्थिति, संहार आदि की कल्पनाओं से रहित ही सम्पूर्ण ब्रह्म, ब्रह्मवेताओं को जानने योग्य हैं। पूर्वोक्त कल्पना युक्त नहीं कारण कि यह सब तरह की कल्पनाएं तो ब्रह्म में आरोपित की गई हैं॥ ४५॥

आभास—एवं ब्रह्मवादं कर्तृवादं च निरूप्य एतादृशं रूपं भगवतः कस्मिन्कल्प इत्याकाङ्क्षायां ब्रह्मकल्प इत्युत्तरमाह—

आभसार्थ—इस प्रकार ब्रह्मवाद और कर्तृवाद दोनों का निरूपण करके इस प्रकार का भगवान् का किस कल्प में था, तो ब्रह्मकल्प में ऐसा रूप था यह उत्तर देते हैं—

श्लोक—**अयं तु ब्रह्मणः कल्पः सविकल्प उदाहृतः।**
विधिः साधारणो यत्र सर्गाः प्राकृतवैकृताः॥ ४६॥

श्लोकार्थ—यह मैंने विकल्प सहित ब्रह्मकल्प का निरूपण किया। जहां जगत् की उत्पत्ति का प्रकार साधारण समान रीति से कहा गया है और सर्ग भी प्राकृत और वैकृत दोनों हैं॥ ४६॥

---

१. 'इत्थंभावेन' और 'नास्य कर्माणि' इन दो श्लोकों में व्यासजी ने एक देशी का मत कहा है। अखंड पूर्ण ब्रह्मज्ञान ही वेदशास्त्रोक्त है। खण्ड ज्ञान नहीं। साधारण जन समाज किंवा साधारण अल्पज्ञ विद्वान् अखड सम्पूर्ण ब्रह्म को नहीं जानते इसलिए वेद और पुराणादि शास्त्र वैसे ब्रह्म का निरूपण करते हैं। वैसे ब्रह्म को समझाने को सरल युक्ति ज्ञान विज्ञान है।

सुबोधिनी—अयं तु ब्रह्मणः कल्प इति । कदाचित्सर्वमात्मैव भवतीह जनार्दन इति । ब्रह्मकल्पे । विकल्पे तु ब्रह्मकल्पावान्तरकल्पे मायया सर्वरूपो भवतीत्युभयमप्यत्र निरूपितमिति ब्रह्मणः कल्पः सविकल्प उदाहृत इत्युक्तम् । तुशब्देनाऽन्ये कल्पाः प्राकृता व्यावर्त्तिताः । अत एवाऽत्र दशविधा लीलास्तुल्याः कल्पान्तरे तु विषमास्तदाह—**विधिः साधारणो यत्रेति ।** यत्र ब्रह्मकल्पे प्राकृतानां वैकृतानां च कल्पानां विधिरुत्पत्तिप्रकारः साधारणः । प्राकृते वा कल्पे वैकृते वा ये उत्पद्यन्ते ते तुल्याः । नतु कल्पान्तरवत्प्राकृतास्त्रय एव । वैकृता अन्ये । उभयात्मकस्तु कौमार इत्यादिविशेषाः । तेऽत्र न सन्ति । विधिः साधारणो यत्रेत्येकं वाक्यम् । यत्र सर्गाः प्राकृतवैकृता इत्यपरम् । प्राकृता एव वैकृता न त्वतिरिक्ता इत्यर्थः ।।४६।।

व्याख्यार्थ—किसी समय स्वरूप से ही सब कुछ भगवान् जगत् रूप हो जाता है । यह बात ब्रह्मकल्प में ही होती है । अर्थात् ब्रह्मकल्प में भगवान् ही सर्व जगत् हो जाता है और ब्रह्मकल्प के अवान्तर(मध्य) कल्प में भगवान् माया के द्वारा जगत् रूप होता है । ये दोनों सिद्धान्त इस प्रकरण में कह दिये हैं । यही मूल में कहा है कि विकल्प सहित ब्रह्मकल्प का निरूपण किया है । 'तु' शब्द से दूसरे प्राकृत कल्पों का यहां निषेध किया है, इसलिए इस ब्रह्मकल्प में भगवान् की दश लीलाओं का स्वरूप समान ही है और दूसरे कल्पों में तो विषम है । इसीलिए इस ब्रह्म कल्प में प्राकृत और वैकृत कल्पों की जो विश्वोत्पत्ति का प्रकार है, वह समान है । अर्थात् प्राकृत कल्प में किंवा वैकृत कल्प में जो भी पदार्थ पैदा होते हैं, वे सब तुल्य ही हैं । किन्तु दूसरे कल्पों में उत्पत्ति प्रकार दूसरा ही है । वह इस तरह है । कल्पान्तर में प्राकृत कल्प तीन ही हैं और वैकृत कल्प इनसे भिन्न है और कौमार सर्ग तो प्राकृत वैकृत मिलित है । ये सब विशेष अन्य कल्पों में हैं । ये विशेष इस ब्रह्मकल्प में नहीं है । मूल श्लोक में दो वाक्य हैं, 'विधिः सारणः यत्र' यह एक, और दूसरा 'यत्र सर्गाः प्राकृत वैकृताः' । अर्थात् इस ब्रह्मकल्प में विश्वोत्पत्ति का प्रकार समान ही है विषम नहीं और इसमें सर्ग भी प्राकृत ही वैकृत है । पृथक्-पृथक् नहीं ।। ४६ ।।

आभास—एतावता सर्वेषां प्रश्नानामुत्तरमुक्तम् । उभयोर्नोक्तं कालकल्पयोः । तदग्रे वक्ष्यामीत्याह—

आभासार्थ—इतने पर्यन्त सब प्रश्नों का उत्तर दे दिया । केवल काल और कल्पों का उत्तर नहीं दिया । सो आगे तृतीयादि सर्गों में देंगे यह कहते हैं—

श्लोक—**परिमाणं च कालस्य कल्पलक्षणविग्रहम् ।**
यथा पुरस्ताद्व्याख्यास्ये पाद्मं कल्पमथो शृणु ।। ४७ ।।

श्लोकार्थ—काल का परिमाण और कल्प का लक्षण तथा उसका शरीर जिस तरह है वह आगे कहूंगा, सो तुम इसके लिए अब पाद्म कल्प का श्रवण करो ।।४७।।

सुबोधिनी—परिमाणं च कालस्येति । परमाण्वादिद्विपरार्द्धावसानस्य कालस्य परिमाणं परिमाणहेतुः सूर्यगत्यादिः । सोऽग्रे वक्तव्यः । चकारात्स्वरूपं कार्यं च । **कल्पलक्षणविग्रहमिति** । कल्पानां लक्षणं धर्मव्यवस्था । कृते एतादृशो धर्मः एतादृशी प्रवृत्तिरिति लक्षणम् । विग्रहः शरीरं एतावद्युगमिति । सहस्रचतुष्टयात्मकं कृतमिति यथा । एतद्वयम् । **यथा पुरस्ताद्वयाख्यास्ये** । यथा यथावत् । यथा पुरस्ताद्वा पूर्वकल्पे यथैतयो रूपं तथा व्याख्यास्ये । एवं विस्तरेण सर्वं वक्तुं कल्पान्तरमुपक्षिपति—**पाद्मं कल्पमथो शृण्विति** । सर्गादीनां विशेषाः पाद्मकल्पे भवन्ति । अतो भगवद्दशलीलाविस्तारार्थं अथो भिन्नप्रक्रमेण शृणु । सावधानतया श्रवणार्थमुपदेशः । अनेनैकस्य दिवसस्य विरतिर्ज्ञायते । यतो भिन्नप्रक्रमेण श्रवणं बोधयति ।।४७।।

व्याख्यार्थ— परमाणु से लेकर द्विपरार्ध पर्यन्त काल का नाप और नाप का हेतु सूर्य की गति आदि है । सो इनका निरूपण मैं आगे करूंगा । चकार से उनका स्वरूप और कार्य भी करूंगा । कल्पों का लक्षण अर्थात् धर्म व्यवस्था । अर्थात् सतयुग आदि में इस प्रकार धर्म आदि की व्यवस्था थी और इस प्रकार लोगों की प्रवृत्ति थी, यह लक्षण कहलाता है । विग्रह युग का शरीर । अर्थात् इतने नाप का युग होता है, यह शरीर है । जैसे चार हजार वर्ष का सत्ययुग होता है इत्यादि । ये लक्षण और विग्रह दोनों कहूंगा । 'यथा पुरस्ता द्वयाख्यास्ये' । वास्तविक विस्तार के प्रकार से पूर्व कल्प में भी जिस प्रकार इन दोनों का रूप था वह भी व्याख्यान रूप से कहूंगा । इस प्रकार विस्तार से सब कुछ कहने के लिए पाद्मकल्प की सूचना देते हैं, कि 'पाद्मं कल्पमथो श्रृणु' । अथो कहने से क्रम का भेद बताया है, अर्थात् ब्राह्मकल्प में सृष्टि प्रभृति स्वरूप क्रम दूसरा था और पाद्मकल्प में दूसरा क्रम होगा । सर्गादि पदार्थों के विशेष पाद्मकल्प में होते हैं । इसलिए भगवान् की दशलीलाओं को विशेष विस्तार प्रकार सहित कहने के लिए 'अथ' कहकर भिन्न ही प्रक्रम करते है । अर्थात् अब तुम पद्मकल्प की बात सुनो । सावधान होकर सुनने के लिए 'श्रृणु' यह उपदेश दिया है ।

ऐसा मालूम होता है कि एक दिन का कथा विराम यहां हुआ है । कारण कि यहां श्रवण का भिन्न ही क्रम बताया है ।। ४७ ।।

आभास—एवं शुकपरीक्षित्संवादे विरते शौनको भगवत्कथाश्रवणे व्यग्रस्तादृशीं कथां पूर्वनिरूपितां पृच्छति । यस्यां कथायां कतिपयप्रश्नार्थज्ञानेऽपि परमा रतिर्भवति तादृशमेव हि श्रोतव्यम् । तदाह सूतः—**"विदुरस्तीर्थयात्रायामि"** त्यत्र **"यावतः कृतवान् प्रश्नान् क्षत्ता कौषरवाग्रतः । जातैकभक्तिर्गोविन्दे तेभ्यश्चोपरराम हे"** ति । भागवतं श्रावयिष्यामीति यद्यपि सूतेन प्रतिज्ञातं तथापि विदुरमैत्रेयसंवादलक्षणस्य भागवतस्य शीघ्रफलत्वात् तदेव त्वया कथनीयमिति प्रोत्साहयति शौनकः—**यदाह भगवानिति** त्रिभिः ।

आभासार्थ—इस प्रकार से जब श्री शुक और परीक्षित का संवाद कुछ देर के लिए ठहर गया तब भगवत्कथा श्रवण करने के लिए व्याकुल श्री शौनक ने पूर्व निरूपित कथा का प्रश्न

सूतजी से किया। जिस कथा के कुछ थोड़े प्रश्नों के उत्तरों का ज्ञान हो जाने पर ही विदुर की भगवान् में परमा प्रीति हो गई, वह कथा ही मुझे तो सुननी है। यह शौनक को व्याकुलता थी। यह बात सूतजी भी कहते हैं— 'विदुरस्तीर्थयात्रायां' यहां 'यावतः कृतवान्' इत्यादि। अर्थात् विदुरजी ने तीर्थयात्रा करते समय मैत्रेयजी से जितने प्रश्न किये और उनका जो उत्तर श्री मैत्रेय जी ने दिया, बस उतने से ही विदुरजी की भगवान् में अनन्य भक्ति हो गई। अतएव बस फिर प्रश्न करना बन्द कर दिया और तीर्थयात्रा करने के लिए चले गये। यद्यपि सूतजी ने शौनक के आगे यह प्रतिज्ञा की थी कि मैं आपको सम्पूर्ण श्रीभागवत् सुनाऊंगा। तथापि विदुर मैत्रेय का संवाद शीघ्र ही भगवद्भक्ति रूप फल का देने वाला है, यह जानकर शौनक ऋषि सूतजी को उसके कहने का उत्साह दिलाते हैं, कि आप तो विदुर मैत्रेय का संवाद ही पहले हमें सुनाइये। इस तरह तीन श्लोकों से पूछते हैं—

श्लोक—शौनक उवाच—**यदाह भगवान् सूत क्षत्ता भागवतोत्तमः।**
चचार तीर्थानि भुवस्त्यक्त्वा बन्धून् सुदुस्त्यजान् ।।४८।।

कुत्र कौषारवेस्तस्य संवादोऽध्यात्मसंज्ञितः।
यद्वा सभगवांस्तस्मै पृष्टस्तत्त्वमुवाच ह ।।४९।।

ब्रूहि नस्तदिदं सौम्य विदुरस्य विचेष्टितम्।
बन्धुत्यागनिमित्तं च तथैवाऽऽगतवान् पुनः ।।५०।।

श्लोकार्थ—शौनक ने कहा कि हे सूत! भगवान् मैत्रेय ने जो कथा विदुर से कही (सो कहो)। ये विदुर दुस्त्यज अपने बान्धवों को छोड़कर पृथ्वी के तीर्थों को करते करते किस जगह मैत्रेय से मिले? मैत्रेय और विदुर का आध्यात्मिक यह संवाद कहां हुआ? विदुर ने जब प्रश्न किया तब उसके उत्तर में भगवान् मैत्रेय ने जो कुछ तत्व कहा सो सब हे सौम्य! हमसे आप कहो, और इससे सम्बन्ध रखने वाला विदुर का चरित्र बांधवों के त्याग का प्रयोजन तथा जिस तीर्थ पर मैत्रेयजी से आकर मिले सो सब कहिये ।।४८-५०।।

सुबोधिनी—भगवानिति मैत्रेयस्य सर्वज्ञता सूचिता। यदाह भगवानिति भिन्नं वाक्यम्। भगवान्मैत्रेय इत्यर्थः। अथवा। क्षत्तृमैत्रेयसंवादे भगवान् यदाह। यत् भगवतो वाक्यं ताभ्यां निरूपितमित्यर्थः। **यदाह नो भवानिति** पाठः स्पष्टः। **सूतेति** सम्बोधनम्। कुत्राऽऽह किमाहेत्याकाङ्क्षायामाह। क्षत्ता भागवतोत्तमो बन्धूंस्त्यक्त्वा भुवस्तीर्थानि चचार। तादृशश्च कौषारवेश्च संवादः कुत्र विषये। यत्र भगवद्वाक्ये तदर्थे वा विचारात्मकः संवादस्तत्कथयेति वक्तव्ये भगवद्वाक्यस्यैव मुख्यत्वात्तत्रैव भगवद्वाक्यविशेषे संवादो भविष्यतीति ज्ञात्वाऽपि विशेषज्ञानार्थं कुत्रेति पृच्छति। देशप्रश्ने तु कुत्र देशे स संवादो जात इति। त्वया कथितेऽपि

स्वयं वा तत्र गत्वा श्रोतव्यमित्यभिप्रायः। पाठान्तरे इतिशब्दोऽध्याहर्त्तव्यः। **सुदुस्त्यजानिति** तदादेशोपदेशचरितानि विदुरस्य पृच्छति। भागवतेभ्य उत्तमः। यस्त्वापद्दशायामपि न विभ्रान्तः। भुवस्तीर्थानीति गन्तुं ज्ञातुं च शक्यानि। तान्यपि वक्तव्यानीत्यभिप्रायः। यैः सम्यक् शुद्धो भक्तिं प्राप्तवानिति। ततोऽपि पूर्वमेव तस्य चित्तशुद्धिरुत्कृष्टा जातेति ज्ञापयति— **त्यक्त्वा बन्धूनिति। सुदुस्त्यजानिति** अन्तःकरणेनाऽपि त्यक्त्वा इति ज्ञायते। एतावता परीक्षिदपेक्षयाऽपि स मुख्यश्रोता निरूपितः। कुषारोः पुत्रः कौषारविः। कौषारवस्य वा। प्रथमपक्षे बाह्वादित्वादिञ्। तस्य पूर्वोक्तस्य विदुरस्य। उभयोस्तुल्यत्वाय षष्ठ्यौ। अर्थात्संवादोऽपि पृष्टः। अन्यथा केवलस्थानं श्रुतमप्यप्रयोजकं स्यात्। **अध्यात्मसंज्ञित इति।** स संवादः श्रोतुः कार्यसाधक इत्यध्यात्मशब्देनोक्तः। अन्यथा तदज्ञानाद्विशेषणमयुक्तं स्यात्। अध्यात्मेति संज्ञापित.। अनेन संवादेनैवाऽन्योन्यकथारूपेणैव तस्य भक्तिर्जातेति संवादस्यैव माहात्म्यमुक्तम्। यद्वेति पक्षान्तरम्। वाशब्दः पूर्वपक्षं व्यावर्त्तयति। न स्थानविशेषे संवादात्तस्य भक्तिः किन्तूपदेशादित्यपि पक्षे तमुपदेशं वदेत्याह—**यद्वेति। सभगवानिति।** भगवत्सहितः। केवलेनोपदिष्टं कथं हृदयारूढं भवेत्। तस्मा इति केवलं तदर्थमेव। पृष्ट इति नहि तादृशः स्वार्थं यादृशं तादृशं पृच्छति। वक्ताऽपि यत्तत्त्वमुक्तवान्। तद्ब्रूहीति सम्बन्धः। हेत्याश्चर्ये। विदुरस्य विचेष्टितं वक्तव्यम्। तत्त्वोपदेशो विदुरस्याऽनुचित इत्याश्चर्यम्। तथाप्युपदेशो जात इति तस्य विशिष्टं किञ्चिच्चेष्टितमस्ति येन तादृशोऽप्युपदेशमर्हति। किञ्च। बन्धुत्यागेऽपि निमित्तं वक्तव्यम्। अन्यथा शूद्रयोनावुत्पन्नस्य प्रव्राजोऽनुचितः स्यात्। चकाराज्ज्ञानहेतावपि निमित्तं वक्तव्यम्। किञ्च। तज्ज्ञानं सर्वथोत्तमम्। यज्ज्ञानप्राप्तौ पूर्वजातवैमनस्यादिकं परित्यज्य दैहिकीं व्रीडां परित्यज्य तथैवाऽसंस्कृतरूपेणैव पुनरागतवान्। अतः साक्षात्सर्वमोहनिवर्त्तकमुत्तमाधिकारनिरूपकं यज्ज्ञानं तत्संवादे सम्पन्नं तदपि भगवदुक्तमेव भविष्यतीति तत्कथयेत्यर्थः। ४८-४९-५०।

व्याख्यार्थ—भगवान् कहकर मैत्रेय ऋषि की सर्वज्ञता सूचित की है। 'यदाह भगवान्' इतना वाक्य जुदा ही है। भगवान् अर्थात् मैत्रेय ऋषि। क्षत्ताविदुर और मैत्रेय के संवाद में जो कुछ भगवान् ने कहा। अर्थात् उन दोनों ने जो भगवान् के वाक्य कहे सो हमसे कहो। 'यदाह नोभवान्' ये पाठ स्पष्ट है। सूत, यह सम्बोधन है। कहां, क्या कहा इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि 'चचार' इत्यादि। भागवतों में श्रेष्ठ विदुर अपने बान्धवों को छोड़कर पृथ्वी के तीर्थों में जब फिरते थे। ऐसे विदुर का और मैत्रेय ऋषि का संवाद किस विषय पर हुआ? जिस भगवद्वाक्य पर किंवा जिस सिद्धान्त पर विचारात्मक यह संवाद हुआ हो सो मुझसे आप कहो। यद्यपि यहां वाक्य ही मुख्य हो सकता है तो उस वाक्य पर ही या वाक्य विशेष पर ही संवाद हुआ होगा, यह जान लिया है, तथापि कुछ विशेष जानने के लिए 'कुत्र-कहां' यह प्रश्न करते हैं। देश का प्रश्न यदि माना जाय तो कौनसे स्थान में यह संवाद हुआ यह अर्थ करना। इसका तात्पर्य यह है कि आप कह देंगे तो भी हमारे मन में यह लालसा रहेगी कि उस स्थान पर जाकर श्रवण करना चाहिये। यदि 'यदाह नो भवान्' ऐसा पाठ है तब 'इति' शब्द का अध्याहार करना चाहिये। 'सुदुस्त्यजान्' बान्धव छोड़े नहीं जा सकते। ऐसी अवस्था में विदुर को किसी ने आज्ञा दी अथवा किसी ने उपदेश दिया या कैसे? और उनका तत्सम्बन्धी चरित्र भी कहो। विदुरजी भगवद्भक्तों में उत्तम हैं। जो आपत्तिकाल में भी भूल नहीं करते। जहां जा सके और जिन्हें जानते हों ऐसे पृथ्वी के तीर्थ उनका भी वर्णन आप करिये। जिनमें जाकर विदुरजी शुद्ध हुये और भक्ति को प्राप्त कर सके। इससे पूर्व भी उनकी

चित्त शुद्धि उत्कृष्ट थी ही, सो कहते हैं—'त्यक्त्वा बन्धून' । बान्धवों का त्याग चित्त की निर्मलता बिना नहीं हो सकता । 'सुजुस्त्यजान्' कहने से मालूम होता है, कि अन्तःकरण से उनका त्याग किया था । इतना कहने से स्पष्ट होता है, कि परीक्षित राजा की अपेक्षा भी विदुरजी भगवच्चरित्र श्रवण करने में श्रेष्ठ थे । वे किषारु के पुत्र किंवा कौषारव के पुत्र कौषारवि थे । शब्द सिद्धि के पहले पक्ष में वाह्वादि होने से इञ् प्रत्यय हुआ । इन ऋषि का और वैसे विदुर का संवाद कहो । वही माहात्म्य में दोनों तुल्य हैं । इसलिए दोनों षष्ठी विभक्ति दी हैं । इससे ज्ञात होता है कि संवाद का भी प्रश्न किया है । अन्यथा केवल स्थान का ही प्रश्नोत्तर सुनना भी निरर्थक हो जाता ।

'आध्यात्म संज्ञितः' । यह संवाद श्रोता के कार्य की सिद्धि करने वाला है, इसलिये आध्यात्म शब्द कहा । यदि आध्यात्म का ज्ञान इससे न हो तो विशेषण देना अयुक्त है । आध्यात्म संज्ञा को प्राप्त किया गया । इससे अन्योन्य कथा रूप संवाद से ही विदुर की भगवान् में भक्ति हुई यह संवाद का ही महत्व कहा है ।

'यद्वा' यह दूसरा पक्ष है । 'वा' शब्द पहले पक्ष को दूर करता है । किसी स्थान विशेष में संवाद होने से विदुर की भक्ति हुई, यह नहीं है, किन्तु मैत्रेय का उपदेश ही ऐसा था । यदि यह पक्ष माना जाय तो भी उस उपदेश को आप हमसे कहो, यह कहते हैं—'यद्वा' । 'सभगवान्'। मैत्रेयजी भगवान् सहित थे । अन्यथा केवल मैत्रेय के उपदेश से विदुर के हृदय में भगवान् कैसे प्रवेश कर जाते । 'तस्मै' केवल विदुर के लिए, 'पृष्टः' अर्थात् विदुर जैसे श्रेष्ठ अधिकारी जैसे-तैसे से पूछ नहीं सकते और वक्ता भी ऐसे वैसे को तत्त्व नहीं कह सकता । इसलिये सो सब हमें कहिये । 'ह' अव्यय आश्चर्य में है । विदुर का विचेष्टित कहना है । किन्तु उपदेश देना अनुचित है और दिया तो है, इसलिए आश्चर्य है । तथापि जो उपदेश दिया गया है, इससे स्पष्ट होता है कि विदुर का कोई विशिष्ट आचरण है जिससे शूद्र रहने पर भी उन्होंने आध्यात्म का उपदेश प्राप्त किया ।

विदुर ने जो बन्धुओं का त्याग किया, इसमें भी कारण बताना चाहिये । अन्यथा शूद्र जन्म मे सन्यास लेना अनुचित था । चकार से यह भी ज्ञातव्य है कि यह उपदेश विदुर को ज्ञान देने वाला हो गया, उसका कोई निमित्त अवश्य होगा और यह ज्ञान सर्वथा उत्तम था । जिस ज्ञान की प्राप्ति होने पर पहले राग द्वेष वैमनस्य आदि को छोड़कर दैहिक लज्जा को भी त्यागकर तीर्थयात्रा करते-करते ही वैसे के वैसे दैहिक संस्कार किये बिना ही फिर हस्तिनापुर में चले आये । इसलिए मालूम होता है कि सर्व प्रकार के मोहों को दूर करने वाला उत्तमाधिकार का सूचन करने वाला अध्यात्मज्ञान विदुर को प्राप्त हो गया था । यह ज्ञान जिस संवाद में सम्पन्न हुआ तो यह ज्ञान अवश्य ही भगवान् ने कहा होगा, इसलिये यह संवाद हमें सुनाइये ।। ४८ ।। ४९ ।। ५० ।।

आभास—एवं ऋषिभिः पृष्टस्तदुत्तरं वदन् शुकोक्तमेव तदिति सरस्वतीसंवादात् यथा विदुरादीनां भक्तिस्तथा भवतामपि भविष्यतीति बोधयन् भवतां वाक्यं संवादिजातमित्याह—

आभासार्थ—इस प्रकार जब ऋषियों ने प्रश्न किया तब सूतजी ने देखा कि इनकी सरस्वती के ही संवाद से यह स्पष्ट होता है कि जो श्री शुकदेवजी ने उत्तर दिया सो ही इसका भी उत्तर है

और जिस तरह विदुरादि की भगवान् में भक्ति हुई, इसी प्रकार आप लोगों को भी होगी । यह समझाते हुये, हे शौनक! आप लोगों का वचन शुक परीक्षित के संवाद से मिलता हुआ है यह कहते हैं—

श्लोक—**राज्ञा परीक्षिता पृष्टो यदवोचन्महामुनिः ।**
तद्वोऽभिधास्ये शृणुत राज्ञः प्रश्नानुसारतः ।। ५१ ।।

श्लोकार्थ—राजा परीक्षित ने जो पूछा और उसका उत्तर जो श्री शुक ने दिया, वह मैं आप लोगों से कहूंगा । राजा के प्रश्नों के अनुसार ।। ५१ ।।

सुबोधिनी—राज्ञा परीक्षिता पृष्ट इति । अयमेवाऽर्थः परीक्षिताऽपि पृष्टः शुकेन यदा कथाक्षेपः कृतः एवमेतत्पुरा पृष्ट इति । तदा महामुनिः । तत्स्वरूपतः पर्यवसानतश्च जानन्नवोचत् । तदेव वो युष्मभ्यमभिधास्ये कथयिष्यामि । एवं सति पूर्वं यद्भूपर्द्भिः पृष्टं यदाह भगवान् शुक इति, यच्चेदानीं यदपि मयोक्तं सोऽहं वः श्रावयिष्यामीति तदप्यविरुद्धं भवति । अतः शुकोक्तिमेव कथयिष्यामि पर सावधानतया शृणुत । शुकस्तु तत्र सभायामृषिभिर्बहुधा पृष्टं बह्वोक्तवांस्तन्मुख्यश्रोतृबुद्ध्यनुसारि न भवतीति प्रकृतत्वाभावात् तद्व्यावृत्यर्थमाह—**राज्ञः प्रश्नानुसारत इति ।** राज्ञः प्रश्नमनुसृत्य तदुत्तरत्वेनैव यदुक्तं तत्कथयिष्यामीत्यर्थः ।५१।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां
द्वितीयस्कन्धे दशमोऽध्यायविवरणम् ।

व्याख्यार्थ—यही सब प्रश्न राजा परीक्षित ने भी पूछे । क्योंकि श्री शुकदेवजी ने तृतीय (स्कंध) के प्रारम्भ में जब कथा का उपक्षेप किया, तब यही कहा कि 'एवमेतत्पुरापृष्ठः' अर्थात् इसी प्रकार पहले विदुरजी ने मैत्रेयजी से भी पूछा था तब महामुनि श्री मैत्रेय ने भगवच्चरित्र को और स्वरूप को स्वरूप से और फल से पूरा समझकर निरूपण किया । मैं भी आपको वही कहूंगा । ऐसी अवस्था में पहले जो आपने पूछा कि 'जो भगवान् शुक ने कहा सो कहो और अभी जो मैंने भी कहा कि वही मैं भी आपको सुनाऊंगा, सो सब अविरुद्ध ही है । मैं शुकोक्त भागवत ही कहूंगा, पर आप सावधान होकर श्रवण करें ।

यहां यह विचार होता है कि श्री शुकदेवजी सभा में बैठकर कथा कह रहे थे । वहां बहुत से पूछने वालों ने बहुत ही कुछ पूछा होगा । अतएव उनका उत्तर मुख्य श्रोता की बुद्धि के अनुसार नहीं हो सकता, इसलिए हम जो पूछ रहे हैं, वह नहीं हो सकता । इसका उत्तर देते हैं, कि 'राज्ञः प्रश्नानुसारतः' । अर्थात् बहुतों के नहीं किन्तु राजा के प्रश्नों के उत्तर में जो कहा वही मैं आपसे कहूंगा ।। ५१ ।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण के द्वितीय स्कन्ध के दशम अध्याय की श्री सुबोधिनी
(संस्कृत) टीका सहित देवर्षि शास्त्री रमानाथ विरचित हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण ।

द्वितीयस्कन्धविवृतिः श्रीकृष्णचरणाम्बुजे ।
निवेदिताऽतियत्नेन युक्तिपुष्पाञ्जलिः स्फुटा ।। १ ।।

भक्तेषु शास्त्रहृदयेषु निवेदयामि शास्त्रार्थतो यदि हरिर्भवतामभीष्टः ।
तत्पश्यताऽऽत्र विवृतिं भगवद्गुणानां सन्देहवारणविचारणतः प्रसन्नाम् ।। २ ।।

इस प्रकार से यह द्वितीय स्कंध की विवृति ही युक्ति पुष्पाञ्जलि है । यह मैंने (श्री वल्लभाचार्य ने) श्री कृष्णचरण में बड़ी सुधरता के साथ निवेदन की है । अब मैं शास्त्र जिन्होंके हृदय में है ऐसे भगवद्भक्तों से निवेदन करता हूं, कि यदि आपको शास्त्र तत्व के द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण प्रिय लगता है तो फिर भगवद्गुणों के सब सन्देहों को दूर करने वाली अतएव स्पष्ट अर्थ से आनन्द देने वाली इस सुबोधिनी विवृति को देखिये ।

सम्पूर्णोऽयं द्वितीयस्कन्धः ।

दशम अध्याय समाप्त

श्रीकृष्णार्पणमस्तु ।

इस प्रकरण में भगवान् की विविध लीलाओं का वर्णन निम्न पदों में है—

श्री शुकदेव के प्रति परीक्षित वचन

नमो नमो हे कृपा निधान ।
चितवत कृपा-कटाच्छ तुम्हारैं, मिटि गयौ तम अज्ञान ।
मोह-निसा कौ लेस रह्यौ नहिं, भयौ बिवेक-बिहान ।
आतम रूप सकल धट दरस्यौ, उदय कियौ रवि-ज्ञान ।
मैं-मेरी अब रहो न मेरैं, छुटयौ देह-अभिमान ।
भावै परौ आजुही यह तन, भावै रहौ अमान ।
मेरैं जिय अब यहै लालसा, लीला श्री भगवान ।
श्रवन करौं निसि-बासर हित सौं, सूर तुम्हारी आन ।

श्री शुकदेव वचन

कह्यौ सुक, सुनो परीच्छित राव ।
ब्रह्म अगोचर मन-बानी तैं, अगम, अनन्त प्रभाव ।
भक्तनि हित अवतार धारि जो करी लीला संसार ।
कहौं ताहि जो सुन चित्त दै, सूर तरै सो पार ।

चतुर्विंशति अवतार-वर्णन

(ब्रह्मा-वचन नारद के प्रति)

जो हरि करै सो होइ, करता राम हरी ।
ज्यौं दरपन-प्रतिबिम्ब, त्यौं सब सृष्टि करी ।
आदि निरंजन, निराकार, कोउ हुतौ न दूसर ।
रचौं सृष्टि-बिस्तार, भई इच्छा इक औसर ।
त्रिगुन प्रकृति तैं महत्तत्व, महत्तत्व तैं अहंकार ।
मन इन्द्री-सब्दादि-पंच, तातैं कियो बिस्तार ।
सब्दादिक तैं पंचभूत सुन्दर प्रगटाए ।
पुनि सबकौ रचि अंड, आपु मैं आपु समाए ।
तीनि लोक निज देह मैं, राखे करि बिस्तार ।
आदि पुरुष सोई भयौ, जो प्रभु अगम अपार ।
नाभि-कमल तैं आदि पुरुष मोकौं प्रगटायौ ।
खोजत जुग गए बीति, नाल कौ अन्त न पायौ ।
तिन मोकौं आज्ञा करो, रचि सब सृष्टि बनाइ ।
थावर-जंगम, सुर-असुर, रचे सबै मैं आइ ।
मच्छ, कच्छ, बाराह, बहुरि नरसिंह रूप धरि ।
बामन, बहुरौ परसुराम, पुनि राम रूप करि ।
बासुदेव सोई भयौ, बुद्ध भयौ पुनि सोइ ।
सोई कल्की होइ है, और न द्वितिया कोइ ।
ये दस हरि-अवतार, कहे पुनि और चतुरदस ।
भक्तवछल भगवान्, धरे तन भक्तनि कैं बस ।
अज, अबिनासी, अमर प्रभु, जनमै-मरै न सोइ ।
नटवत करत कला सकल, बूझै बिरला कोइ ।
सनकादिक, पुनि ब्यास, बहुरि भए हंस रूप हरि ।
पुनि नारायन, ऋषभदेव, नारद, धनवंतरि ।
दत्तात्रेयऽरु पृथु बहुरि, जज्ञपुरुष-बपु धार ।
कपिल, मनू, हयग्रीव, पुनि, कीन्हौ ध्रुव अवतार ।
भूमिरेनु कोउ गनै, नछत्रनि गनि समुझावे ।
कह्यौ चहै अवतार, अंत सौऊ नहिं पावै ।
सूर कहौ क्यों कहि सकै, जन्म-कर्म-अवतार ।
कहे कछुक गुरु-कृपा तै श्री भागवतऽनुसार ।

श्रीमद्भागवतद्वितीयस्कन्धश्लोकानामकारादिवर्णानुक्रमः

		पृष्ठम्.
अ.		
अतः परं सूक्ष्मतमं	....	४०४
अत्र प्रमाणं भगवान्	....	२६४
अत्र सर्गो विसर्गश्च	....	३६६
अत्रेरपत्यमभिकाङ्क्षत	....	११७
अधिदैवमथाऽध्यात्मं	....	३८६
अध्यर्हणीयासनमा	....	३१०
अनु प्राणन्ति यं प्राणाः	....	३८८
अन्तर्हितेन्द्रियार्थाय	....	३५६
अन्तःशरीर आकाशात्	....	३८७
अन्तःसरस्युरुबलेन	....	१३९
अन्ये च विविधा जीवाः	....	६१
अपां वीर्यस्य सर्गस्य	....	५८
अमुनी भगवद्रूपे	....	४०४
अयं तु ब्रह्मणः कल्पः	....	४१२
अवतारानुचरितं	....	२५८
अवतारानुचरितं	....	३७४
अव्यक्तरससिन्धूनां	....	६०
अस्मत्प्रसादसुमुखः	....	१६२
अहं भवान् भवश्चैव	....	६१
अहं भवो यज्ञ इमे	....	१०४
अहमेवाऽऽसमेवाऽग्रे	....	३३६
आ.		
आत्मतत्त्वविशुद्ध्यर्थं	....	२८४
आत्मन् भावयसे तान्ये	....	८
आत्ममायामृते राजन्	....	२७५
आदित्सोरन्नपानानां	....	३९९
आद्योऽवतारः पुरुषः	....	१०३
आभासश्च निरोधश्च	....	३७६
आसिसृक्षोः पुरः पुर्या	....	३९९
आसीद्यदुदरात्पद्मं	....	२५१
इ.		
इति तेऽभिहितं तात	....	८६
इति संभृतसंभारः	....	८०
इत्थम्भावेन कथितो	....	४१०
इदं भागवतं नाम	....	२३५
इदं भागवतं नाम	....	२३५
उ.		
उत्सिसृक्षोर्धातुमलं	....	३९८
ऋ.		
ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत	....	३४२
ऋषे विदन्ति मुनयः	....	१००
ए.		
एकमेकतराभावात्	....	३८१
एको नानात्वमन्विच्छन्	....	३८५
एतद्वेदितुमिच्छामि	....	२४२
एतद्भगवतो रूपम्	....	४०३
एतन्मतं समातिष्ठ	....	३५४
एतन्मे पृच्छतः सर्वं		११
एतावदेव जिज्ञास्यं	....	३५१
क.		
कथयस्व महाभाग	....	२४२
कामं दहन्ति कृतिनो	....	१२५
कार्यकारणकर्तृत्वे	....	२८
कालं कर्म स्वभावं च	....	३२
कालाद्गुणव्यतिकरः	....	३३
कालेन मीलितदृशां	....	२००
किन्नरानप्सरो नागान्	....	४०६
क्रीडन् वने निशि निशा	....	१९०
क्रीडस्यमोघसङ्कल्प	....	३२६
कुत्र कौषारवेस्तस्य	....	४१५
कुशलाकुशला मिश्राः	....	४०७
कूष्माण्डोन्मादवेतालान्	....	४०६
क्षत्रं क्षयाय विधिनो	....	१६०
क्षीरोदधावमरदानव	....	१३६
ग.		
गतयो मतयश्चैव	....	७८

	पृष्ठम्
गतिं जिगीषतः पादौ …………	३९५
गन्धर्वविद्याधरचारणे …………	१०४
गन्धर्वाप्सरसो यक्षा …………	६१
गुणात्मकानीन्द्रियाणि …………	४०२
गृह्णीत यद्यदुपबन्धन …………	१८०
गोपैर्मखे प्रतिहते …………	१८७
ग्रीवायां जनलोकश्च …………	४७
च.	
चक्रं च दिक्ष्वविहतं …………	१५६
ज.	
जज्ञे च कर्दमगृहे …………	११५
जातो रुचेरजनयत् …………	११३
ज्यायान् गुणैरवरजो …………	१४१
ज्ञानं परमगुह्यं मे …………	३३५
त.	
ततः कालाग्निरुद्रात्मा …………	४०६
ततश्च मनवः काल …………	८३
ततस्ते भ्रातर इमे …………	८३
तत्कट्यां चातलं क्लृप्तं …………	४८
तत्कर्म दिव्यमिव यत् …………	१७९
तत्र चान्तर्बहिर्वायुः …………	३९५
तत्राप्येकैकशो राजन् …………	४०८
तत्त्वानां परिसङ्ख्यानं …………	२५८
तथापि नाथमानस्य …………	३२५
तदा संहृत्य चान्योन्य …………	४३
तद्गात्रं वस्तुसाराणां …………	५५
तद्दर्शनाह्लादपरि …………	३१२
तद्वै पदं भगवतः …………	२२३
तप्तं तपो विविधलोक …………	१२०
तस्मा इदं भागवतं …………	३६२
तस्मादण्डं विराट् जज्ञे …………	७५
तस्मै नमो भगवते …………	१५
तस्मै स्वलोकं भगवान् …………	२९२
तस्यापि द्रष्टुरीशस्य …………	२५
तामसादपि भूतादेः …………	३६
तास्ववात्सीत्स्वसृष्टासु …………	३८२
तुभ्यं च नारद भृशं …………	१५२
तुष्टं निशम्य पितरं …………	३६१
तेजसस्तु विकुर्वाणात् …………	३९
ते वै विदन्त्यतितरन्ति …………	२२१
तेषु यज्ञस्य पशवः …………	७८
तैजसात्तु विकुर्वाणात् …………	४१
तोकेन जीवहरणं …………	१७३
तं नारदः प्रियतमो …………	३५९
तं प्रीयमाणं समव …………	३१४
त्रैविष्टपोरुभयहास …………	१३७
त्वक्चर्ममांसरुधिर …………	४०१
त्वयाहं तोषितः सम्यक् …………	३१७
द.	
ददर्श तत्राखिलसात्वतां …………	३०५
ददृशे येन तद्रूपं …………	२५३
दशमस्य विशुद्ध्यर्थं …………	३६९
दिव्यं सहस्राब्दममोघ …………	२९१
देवदेव नमस्तेऽस्तु …………	४
देवद्विषां निगमवर्त्म …………	२०१
द्रव्यं कर्म च कालश्च …………	१७
द्रव्यं कर्म च कालश्च …………	३८४
ध.	
धन्वन्तरिश्च भगवान् …………	१५९
धर्मस्य मम तुभ्यं च …………	६०
धर्मस्य दक्षदुहितर्यज …………	१२३
धौतात्मा पुरुषः कृष्ण …………	२४६
न.	
नतोऽस्म्यहं तच्चरणं …………	६१
नन्दं च मोक्ष्यति भयात् …………	१८५
नभसोऽथ विकुर्वाणात् …………	३८
न भारती मेऽङ्ग मृषा …………	८८
न मेऽसवः परायान्ति …………	२६६
नाऽनृतं तव तच्चापि …………	१३
नान्त विदाम्यहममी …………	२१३
नाभेरसावृषभ आस …………	१३१
नामधेयानि मन्त्राश्च …………	७८

पृष्ठम्

नारायणपरा योगा १६
नारायणपरा वेदा १६
नारायणे भगवति ८५
नार्थो बलेरयमुरु १४८
नासिके निरभिद्येताम् ३६०
नाऽस्य कर्मणि जन्मादौ ४११
नाहं न यूयं यद्दतां ६२
नाहं वेद परं त्वस्मिन् १०
निदिध्यासोरात्ममायां ३६६
निरभिद्यत शिश्नो वै ३६७
निरोधोऽस्याऽनुशयनं ३७५
निशम्य तद्वक्तृदिदृक्षया २८८
नृणां साधारणो धर्मः २५८

प.

पराभूतेरधर्मस्य ५६
परिमाणं च कालस्य ४१३
पादास्त्रयो बहिश्चासन् ७३
पादेषु सर्वभूतानि ७१
पायुर्यमस्य मित्रस्य ५६
पुरुषोऽण्डं विनिर्भिद्य ३८२
पुरुषस्य मुखं ब्रह्म ४६
प्रजापतिर्धर्मदांतः ३५७
प्रजापतीन्मनून्देवान् ४०६
प्रत्यादिष्टं मया तत्र ३२३
प्रमाणमण्डकोशस्य २५७
प्रवर्तते यत्र रजस्तमः २६४
प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण २४५
प्राणेन क्षिपता क्षुत्तृट् ३८८
प्राधान्यतो यानृष १०६
प्राह भागवतं नाम २७२

ब.

बहुरूप इवाभाति २८२
बोध्यमानस्य ऋषिभिः ३६१
ब्रह्मणा चोदितो ब्रह्मन् २४१
ब्रूहि नस्तदिदं सौम्य ४१५

भ.

भगवच्छिक्षितमहं ३२६
भगवन् सर्वभूतानां ३२५
भूतभव्यभवच्छब्द २५३
भूतमात्रेन्द्रियधियां ३७२
भूपातालककुब्व्योम २५७
भूमेः सुरेतरवरूथ १६६
भूर्लोकः कल्पितः पद्भ्यां ४७
भूर्लोकः कल्पितः पद्भ्यां ४६
भ्राजिष्णुभिर्यः परितो ३०१

म.

मत्स्यो युगान्तसमये १३५
मनीषितानुभावोऽयं ३२१
महतस्तु विकुर्वाणात् ३४
महातलं तु गुल्फाभ्यां ४८
मायां वर्णयतोऽमुष्य २३८
मायां विविदिषुर्विष्णोः ३६०
मुक्त्वात्ममायां मायेशः २५३
मुखतस्तालु निर्भिन्नं ३८८

य.

यत्किञ्च लोके भगवत् १०४
यत्रोद्यतः क्षितितलो ११०
यथोत्मतन्त्रो भगवान् २५८
यथाऽऽत्ममायायोगेन ३२५
यथा महान्ति भूतानि ३४७
यथा हरौ भगवति २३६
यदधातुमतो ब्रह्मन् २४६
यदात्मनि निरालोकं ३६१
यदाऽस्य नाभ्यान्नलिनात् ७६
यदाह भगवान्सूत ४१५
यदुताऽहं त्वया पृष्टो ३६४
यदैतेऽसंहता भावाः ४३
यद्यत्परीक्षिदृषभः २७३
यद्रूपं यदधिष्ठानं ६
यद्विज्ञानो यदाधारो ८
यद्वेनमुत्पथगतं १२६
यद्वै व्रजे व्रजपशून् १७६
यस्मा अदादुदधिरूढ १६४
यस्मिन्कर्मसमावायः २५७

	पृष्ठम्
यस्याऽवतारकर्माणि …………	९४
यस्येहाऽवयवैर्लोकान् …………	४६
यर्हि वाव महिम्नि स्वे …………	२८४
यर्ह्यालयेष्वपि सतां …………	२०४
यावत्सखा सख्युरिवेश …………	३३२
यावानहं यथाभावो …………	३३६
ये च प्रलम्बखरदर्दुर …………	१९४
येन स्वरोचिषा विश्वं …………	१४
ये वा मृधे समिति …………	१९८
येषां स एव भगवान् …………	२१५
योगेश्वरैश्वर्यगतिः …………	२५८
योऽध्यात्मिकोऽयं पुरुषः …………	३७९
यो वाऽनुशायिनां सर्गः …………	२५८
र.	
राज्ञा परीक्षिता पृष्ठः …………	४१८
रूपाणां तेजसां चक्षुः …………	५५
ल.	
लोकैरमुष्यावयवाः …………	२५३
लोमान्युद्भिज्जजातीनां …………	५७
व.	
वक्षस्थलस्पर्शरुग्ण …………	१९६
वरं वरय भद्रं ते …………	३२०
वर्षपूगसहस्रान्ते …………	४४
वस्तुनो मृदुकाठिन्यं …………	३९३
वस्तून्योषधयः स्नेहा …………	७८
वाचां वह्नेर्मुखं क्षत्रं …………	५३
वायोरपि विकुर्वाणात् …………	३९
विक्रमो भूर्भुवः स्वश्च …………	५८
विद्धः सपत्नयुदित …………	१२७
विलज्जमानया यस्य …………	१७
विवक्षोर्मुखतो भूम्नो …………	३९०
विशुद्धं केवलं ज्ञानं …………	९६
विशेषस्तु विकुर्वाणात् …………	३९
विष्णोर्नु वीर्यगणनां …………	२१०
वेदाहमङ्ग परमस्य …………	२१८
वैकारिकान्मनो जज्ञे …………	४१

	पृष्ठम्
श.	
शश्वत्प्रशान्तमभयं …………	२२२
शृण्वतः श्रद्धया नित्यं …………	२४५
श्यामावदाताः शतपत्र …………	२९८
श्रीर्यत्र रूपिण्युरुगाय …………	३०३
श्रुत्वा हरिस्तमरणा …………	१३९
स.	
स आदिदेवो जगतां …………	२८५
स उपामन्त्रितो राज्ञा …………	२७१
स एव पुरुषस्तस्मात् …………	४४
स एवेदं जगद्धाता …………	४०९
स एष आद्यः पुरुषः …………	९५
स एष भगवाँल्लिङ्गैः …………	३०
स चिन्तयन् व्यक्षर …………	२८८
सत्रे समास भगवान् …………	१३३
सत्त्वं रजस्तम इति …………	२८
स भवानचरद्धोरं …………	१०
सम्यक् कारुणिकस्येदं …………	१२
सर्गे तपोऽहमृषयो …………	२०६
सर्वमेतच्च भगवन् …………	२९३
सर्वं पुरुष एवेदं …………	६२
सर्वं ह्येतद्भवान्वेद …………	७
सर्वासूनां च वायोश्च …………	५५
स वाच्यवाचकतया …………	४०५
स श्रेयसामपि विभुः …………	२३१
संप्रदृश्यैवमजनो …………	३५५
सप्लवः सर्वभूताना …………	२५८
सृती विचक्रमे विष्वङ् …………	७३
सृजामि तन्नियुक्तोऽहं …………	८६
सृजामि तपसैवेदं …………	३२४
सोऽमृतस्याभयस्येशो …………	६६
सोऽयं तेऽभिहितस्तात …………	२३४
सोऽहङ्कार इति प्रोक्तो …………	३५
सोऽहं समाम्नायमयः …………	८९
स्वधिष्ण्यं प्रतपन्प्राणो …………	६५
स्थितिर्वैकुण्ठविजयः …………	३७२